



भारतीय उपन्यासों में  
वर्णनकला का  
तुलनात्मक मूल्यांकन



आगरा विश्वविद्यालय द्वारा, डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबंध  
तथा

[आगरा विश्वविद्यालय के व० मा० मुशी हिन्दी विद्यापीठ की]  
सर्वोत्कृष्ट शोधकृति के रूप में, सन १९७० ई० के  
सी० धी० अग्रवाल स्वर्णपदक द्वारा, पुरस्कृत



भारतीय उपन्यासों में वर्णन-कला  
का  
तुलनात्मक मूल्याङ्कन

[ विशेषतः हिन्दी उपन्यासों के सन्दर्भ में ]

डॉ० इन्दिरा जोशी,  
एम० ए०, पी० एच० डी०, डी० लिट०  
रीडर, हिन्दी विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय  
जोधपुर (राजस्थान)

प्रकाशक

विनोद पुस्तक मन्दिर

कार्यालय रामेय राघव भाग, आगरा-२

द्वितीय क्षेत्र हास्पिटल रोड, आगरा-३

© डा० इंदिरा जोशी

प्रथम संस्करण १९७३

मुद्रक राष्ट्रभाषा प्रेस, आगरा-२

१०/४/७३

## निवेदन

उपयासा म वणनकला-परक मूल्याङ्कन हिन्दी शोध क्षेत्र मे, एक अभिनव अध्ययन विधा है। साथ ही, इस महान देश मे प्रचलित, विविध प्राशिक भाषाओं म रचित, विशाल उपयास साहित्य के परिप्रेक्ष्य म हिन्दी उपयास की वणन कला परक विशिष्टताओं का अध्ययन, राष्ट्र को परम्परागत साहित्यिक एकात्मकता की दृष्टि से, अपना विशेष महत्त्व रखता है। प्रस्तुत शोध प्रबंध, इस दृष्टि से एक विनम्र अभिनव प्रयास है।

‘भारतीय उपयासों में वणनकला का तुलनात्मक मूल्याङ्कन [विशेषतः हिन्दी उपयासों के सन्दर्भ में], नामक यह शोध प्रबंध, मन् १९६६ ई० म, आगरा विश्व विद्यालय द्वारा, डॉ० लिट० उपाधि के लिये, स्वीकृत हुआ था। साथ ही इस, सन १९७० ई० के ‘सी० वी० अग्रवाल स्वर्णपदक’ द्वारा पुरस्कृत भी किया गया है। यह स्वर्णपदक, आगरा विश्वविद्यालय के शोध सस्थान—बहेयालाल भाणिकलाल मुशी हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ म, वर्ष भर म सम्पन्न, समग्र शोधकार्य की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि पर, प्रतिवर्ष प्रदान किया जाता है।

आज से लगभग दस वर्ष पहले (सन् १९६२ ई० म), प्रस्तुत शोध प्रबंध का विषय, आगरा विश्वविद्यालयीन शोध-समिति द्वारा स्वीकृत हुआ था। शोध विषय का सम्पूर्ण औपचारिक शीपक, निम्नाङ्कित रूप म, स्वीकार किया गया था —

भारतीय उपयासों में वणनकला का साम्य और उसका मूल्याङ्कन—भारत की विविध भाषाओं व उपयासों के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा—हिन्दी उपयासों की वणनकला का मूल्याङ्कन।



शोध समिति की दृष्टि में, भारत की समस्त प्रादेशिक भाषाओं का अध्ययन क्षेत्र अतिव्यापक था, अतः उसने इस तुलनात्मक अध्ययन को, छः भाषाओं तक परि सीमित कर दिया था। इसीलिए इस तुलनात्मक मूल्याङ्कन को, हिन्दी के अतिरिक्त, बँगला, मराठी, गुजराती कन्नड तथा उडिया व उपयास साहित्या तक ही परिमिति रखा गया है यद्यपि भारत की अन्य अनेक प्रादेशिक भाषाओं यथा, तमिल, तेलुगु मलयालम तथा असमिया आदि में भी, उपयास-साहित्य समृद्ध है तथा अपनी-अपनी निजी वणनात्मक भङ्गमात्रा द्वारा विभूषित भी है।

उपयास विधा के पुनर्मात्रीकरण एवं पुनर्मूल्याङ्कन के लिये, यह शोध प्रबंध, एक अभिनव वचानिक त्वसम्मत एवं मौलिक आधार की प्रस्थापना करता है। इस दृष्टि से इस प्रतिपादित वणनकला निर्धारित नव समीक्षा पद्धति पर, उपयास विधा के अध्ययन तथा जालोचन के क्षेत्रों में नवीन विचार विश्लेषण तथा अनुसंधान की, पर्याप्त सम्भावनाएँ विद्यमान हैं।

इस शोध प्रबंध के परीक्षक महानुभावों ने (जो साहित्य एवं समीक्षा के क्षेत्र में शोध स्थान रखते हैं) इसकी कतिपय विशिष्टताओं का इन शब्दों में उल्लेख किया है —

‘ इसमें कोई सन्देह नहीं कि यह शोध प्रबंध हिन्दी में एक अछूत विषय पर अनुसंधान प्रस्तुत करता है। इस प्रबंध से उपयासों में वणन कला का महत्त्व प्रतिपादित होता है और इस, अन्य भारतीय भाषाओं के परिप्रेक्ष्य में ही नहीं विश्वभर के प्रसिद्ध उपयासों की भूमिका पर प्रतिष्ठित करने का श्लाघ्य प्रयत्न किया गया है।

यही नहीं इस शोध प्रबंध में पहली बार हिन्दी के लिये अनुसंधान की एक नई प्रक्रिया प्रणाली की भी स्थापना की गई है। इस प्रणाली से अनुसंधान की प्रक्रिया बहुत अधिक वचानिक हो गई है। प्रतीकाक्षरों में वणन के समीकरण द्वारा तुलना और मूल्याङ्कन में बहुत सुविधा ही नहीं होती, साक्ष्य निष्पत्ति में भी वही हा जाता है।

×

×

×

×

शोध ग्रन्थ का विषय अत्यन्त अनुसंधान के एक विशाल क्षेत्र को आवृत्त करता है। साथ ही वह लक्षित के व्यापक अध्ययन का परिचायक भी है।

भारतीय उपयास साहित्य के विविध क्षेत्रों के व्यापक अध्ययन के पश्चात् प्राचीन तथा नवीन साहित्य से प्रभूत एवं नूतन अध्ययन-सामग्री प्रकाश में लाई गई है।

' भारतीय उप-यास साहित्य की एकता की, तत्सिद्ध आधार पर, प्रस्थापना की गई है, और उसके समान भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तत्वों का, सम्यक् विश्लेषण भी किया गया है ।'

उप-यास विधा की, उपयुक्त, अनुसंधान तथा भूतयाङ्कन सम्बन्धी, वज्ञानिक, मौलिक एवं नई प्रशिया प्रणाली' का, प्रस्तुत ग्रंथ के तृतीय अध्याय में, साङ्गोपाङ्ग निरूपण किया गया है । अतः इस ग्रंथ में, वह, सर्वाधिक महत्त्व रखता है ।

“ भारतीय उप-यास साहित्य के समान भौगोलिक एवं ऐतिहासिक तत्वों का ' ग्रंथ के उत्तरार्द्ध [अर्थात् अंतिम चार अध्यायों] में, विशद विश्लेषण किया गया है, तथा तत्सिद्ध आधार पर, भारतीय उप-यास साहित्य की राष्ट्रव्यापी एकता की प्रस्थापना भी की गई है ।

हिन्दी भाषा में पहली बार, भारतीय उप-यास के उद्भव एवं विकास की, एक त्रयवद्ध ऐतिहासिक रूपरेखा, ग्रंथ के चतुर्थ अध्याय में, प्रस्तुत की गई है ।

आचार्य राजशेखर द्वारा प्रतिपादित 'देश एवं काल' सिद्धान्त को, भारतीय उप-यास की वणन कलापरक समीक्षा में, किस भाँति अपनाया जा सकता है इस तथ्य की भी, मौलिक विवचना की गई है, तथा उसके सम्यक् विश्लेषण के हेतु, दो उपादेय तालिकाएँ, वणन विटपा के रूप में दी गई हैं ।

ग्रंथ के अन्त में, दो महत्त्वपूर्ण परिशिष्ट भी दिये गये हैं, प्रथम में आद्य एवं दुष्प्राप्य हिन्दी उप-यासों के सनात्मक एवं कलात्मक वणन, सप्रहीत है । दूसरे परिशिष्ट में 'हिन्दी का पहला उप-यास कौन-सा है ? हिन्दी उप-यास-समीक्षा की इस बहू विवादित समस्या का, तत्सिद्ध एवं प्रामाणिक समाधान किया गया है ।

तत्पश्चात् अध्ययन की सुविधा के लिये, तीन अनुसन्धानों भी दी गई हैं, जिनके अंतर्गत, प्रस्तुत ग्रंथ में उल्लिखित, ग्रंथकारों, ग्रंथों तथा पत्र पत्रिकाओं का अकारांत क्रम से, पृष्ठवार, सन्दर्भ प्राप्य है ।

उप-यास विधा के विशेष अध्ययन तथा अनुसंधान में प्रवृत्त हुए लेखिका का अद्यावधि, पत्रों से अधिक ग्रंथ ही हुआ है । इस अवधि में, उप-यास विधा के तीन पक्ष विशेषों पर शोधकाय करने के सन्दर्भ में, उसे हिन्दी साहित्य के शीघ्र आचार्यों का आशीर्वाद एवं निर्देशन प्राप्त हुआ है जिनके सत्रिय सहयोग तथा सतत स्नेह सद्भावना में जाशीर्वाद के बिना, प्रस्तुत दुष्कर कार्य, सम्पूर्ण हो पाना सम्भव नहीं था । अतः उन सभी का, यहाँ साभार स्मरण नितांत आवश्यक है ।

सबप्रथम काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में, स्नातकोत्तर अध्ययन-काल में, लेखिका को, उप-यास विधा के आञ्चलिक पक्ष पर शोधकाय करते हुए, विश्वविद्यालयीन

हिंदी विभाग के अनेक ग्यातनामा साहित्याचार्यों का वास्तव्य, स्नेह एव आशीर्वाद प्राप्त हुआ था, जिनमें गुरुवर आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, प० जगन्नाथप्रसाद शर्मा, तथा स्वर्गीय डा० श्रीकृष्णलाल का यहाँ श्रद्धायुत स्मरण अनिवाय है।

तत्पश्चात् आगरा विश्वविद्यालय के सुप्रसिद्ध हिंदी शोध-संस्थान—क० मा० मुंशी हिंदी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ के तत्त्वावधान में, पी० एच०डी० तथा डी० लिट० उपाधियों के लिए प्रस्तुत, शोध प्रबंधों के सम्बन्ध में अनुसंधान-कार्य करते हुए, लेखिका को, विद्यापीठ के प्रथम निर्देशक, स्वर्गीय डॉ० विश्वनाथप्रसाद का अवर्णनीय साहाय्य प्राप्त हुआ था। उनका यहाँ साभार श्रद्धायुत स्मरण है।

क० मा० मुंशी हिंदी विद्यापीठ के ही प्रख्यात अनुसंधान निर्देशक, हिंदी साहित्य के शीघ्र आचार्य तथा लोकवार्ता-तत्त्व के आधिकारिक विद्वान् डा० सत्येन्द्र का तो लेखिका को आद्योपात् आत्मीयवत् स्नेहभाव एव सतत आशीर्वाद प्राप्त रहा ही है। उमका शब्दों द्वारा व्यक्त किया जाना सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त अपने अनुसंधान-कार्य में रत रहते हुए, समय समय पर, लेखिका को अनेकानेक अखिल भारतीय ग्याति प्राप्त शीघ्र उप-यासकारों, उप-यास विधा के समीक्षका एव भ्रमणा तथा सुप्रसिद्ध विद्वज्जना का भी हार्दिक एव स्नेह सौजन्य परामर्श प्राप्त होता रहा है। उनमें भी शीघ्र हिंदी उप-यासकार, स्व० श्री कृष्णदावनलाल वर्मा, प्रख्यात गुजराती उप-यासकार, स्व० श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुंशी, हिंदी साहित्य एव समीक्षा के शीघ्र आचार्य—डा० नगेंद्र बंगला भाषा के आचार्य एव इतिवृत्तकार तथा प्रख्यात भाषाविद् डा० मुकुमार सन मराठी भाषा के आधिकारिक विद्वान एव समालोचक महामहोपाध्याय श्री दत्तो वामन पातदार, ग्यातनामा हिंदी आलोचक डा० रामविलास शर्मा तथा साहित्याचार्य, डा० दशरथ ओझा के प्रति, लेखिका अत्यन्त आभारी है।

अतः मैं लेखिका उन सभी सुप्रसिद्ध उप-यासकारों, समीक्षका तथा विद्वानों के प्रति भी हृदय से कृतज्ञ है जिनकी बहुमूल्य कृतियाँ का, इस ग्रन्थ में उपयोग किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य जुटान में, एक बड़ी व्यावहारिक कठिनाई आद्य एव दुष्प्राय, उप-यासों के उपलब्ध न होने की थी। विविध शोध संस्थाओं काव जनिक एव निजी प्रयोगशाला के सहयोग एव सौजन्य से ही यह दुस्साध्य शोधकार्य सम्पन्न हो पाया है। इस सन्दर्भ में आगरा स्थित आगरा विश्वविद्यालय क० मा० मुंशी हिंदी विद्यापीठ तथा नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालया, काशी स्थित

नागरी प्रचारिणी समा, काशी हिंदू विश्वविद्यालय तथा काशी विद्यापीठ के पुस्तकालय, दिल्ली विश्वविद्यालय पुस्तकालय कोल्हापुर (महाराष्ट्र) स्थित, शिवाजी विश्वविद्यालय, ताराराणी विद्यापीठ के कीर्ति कॉलेज, तथा राजाराम कालेज के पुस्तकालयो, इंदौर (मध्यभारत) स्थित, इंदौर विश्वविद्यालय तथा मध्यभारत हिंदी साहित्य-समिति के पुस्तकालयो तथा (निजी संग्रहालयो मे, सबसे अधिक उल्लेख्य) आगरा क वेलनगज स्थित, चिरजीव पुस्तकालय (जहाँ पुराने हिंदी उपन्यासो के दुलभ आद्य संस्करण सुरक्षित हैं), के सभी अधिकारियो के सौजन्य तथा सहयोग के लिए, लेखिका विशेषतया आभारी है।

अतः म, विनोद पुस्तक मंदिर आगरा के संचालक तथा उनके सभी सहयोगियो के प्रति भी कृतज्ञता नापन, यहाँ आवश्यक है, जिहान धैर्य एक अध्यवसाय के साथ, इस शोध ग्रन्थ के प्रकाशन क जटिल काम को, सुचारु रूप से सम्पन्न किया है।

शोध ग्रन्थ, विद्वज्जनो का ध्यान आकर्षित करे और उन्हें रुचे, यही कामना है।

जोधपुर विश्वविद्यालय,  
जोधपुर (राजस्थान)  
श्री रामनवमी,  
चतु शुक्ला ६, सवत २०३० वि०

}

इन्दिरा जोशी



## अनुक्रम

		पृष्ठ-संख्या
		[क]
निवेदन		
अध्याय १	साहित्य में वणनात्मकता का स्वरूप एवं मूल्य	१-५७
अध्याय २	साहित्य की उप-यास विधा में वणनात्मकता का स्थान	५८-१७२
अध्याय ३	वणनात्मकता में कला और उसके उपादान—कला की दृष्टि में, वणनात्मकता की सफलता की कसौटी	१७३-२६८
	परिशिष्ट (अध्याय ३ से सम्बद्ध)	२६९-३१६
अध्याय ४	भारतीय साहित्य में उप-यास-साहित्य का सर्वेक्षण	३१७-४६५
	प्रथम प्रकरण—भारतीय उप-यास साहित्य का आदिकाल	३१७-३२७
	द्वितीय प्रकरण—संस्कृत उप-यास-साहित्य का स्वर्णकाल	३२७-३५७
	तृतीय प्रकरण—प्राकृत उप-यास-साहित्य का अभ्युदय और ह्रास	३५७-३६१
	चतुर्थ प्रकरण—आधुनिक संस्कृत उप-यास साहित्य की रूप रेखा	३६१-३६६
	पञ्चम प्रकरण—हिन्दी उप-यास का उद्भव एवं विकास (प्रेमचंद पूर्व काल—सन १८०१ ई०-१९०३ ई०)	३६६-४१३
	षष्ठम प्रकरण—(प्रेमचंद-काल—सन १९०४ ई०-१९३६ ई०)	४१३-४३४
	सप्तम प्रकरण—(प्रेमचंद उत्तर काल—सन १९३७ ई०-१९७२ ई०)	४३५-४४२
	अष्टम प्रकरण—हिन्दी उप-यास-साहित्य का शैलोगत वर्ग विभाजन और उसकी वणनात्मक विवेचना	४४२-४५३
	नवम प्रकरण—बँगला उप-यास-साहित्य की रूपरेखा	४५३-४६२
	दशम प्रकरण—मराठी उप-यास साहित्य की रूपरेखा	४६३-४७२

	पृष्ठ-संख्या
एकादश प्रकरण—गुजराती उप-यास साहित्य की रूपरेखा	४७२-४७६
द्वादश प्रकरण—बंगल उप-यास साहित्य की रूपरेखा	४७६-४८६
त्रयोदश प्रकरण—उडिया उप-यास-साहित्य की रूपरेखा	४८६-४९५
अध्याय ५ भारतीय उप-यासों में घणन के अवसर	४९६-५१६
अध्याय ६ भारतीय तथा हिंदी उप-यासों में स्थान घणन, प्रकृति घणन, एवं यात्रा-घणन का तुलनात्मक पद्यवेक्षण	५१७-५४५
अध्याय ७ भारतीय तथा हिंदी उप-यासों में पात्र योजना	५४६-५७३
अध्याय ८ भारतीय उप-यासों में, घणन-कला की सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं जीवन विषयक पृष्ठभूमि	५७४-५८७
परिशिष्ट १	
आद्य एवं दुष्प्राप्य श्रेयचंद सूचनालीन (१८०१ ई०—१९०३ ई० तक के) हिंदी उप-यासों के कुछ सारमय एवं कलात्मक घणन	५८८-६०६
परिशिष्ट २	
हिंदी का पहला उप-यास कौन सा है ?— अद्यावधि प्रचलित, विविध अभिमतता की तुलनात्मक एवं निष्पातमय समीक्षा	६१०-६२८
लेखक-अनुक्रमणिका	६२९-३३६
पाठ्य-अनुक्रमणिका	६४०-६५३
पत्र-परिचय	६५४-६५५
त्रुटि-साम्प्रदाय	६५६

भारतीय उपन्यासों में  
वर्णनकला का  
सुलनात्मक मूल्यांकन





## साहित्य में वर्णनात्मकता का स्वरूप एव मूल्य

जगनिर्माता की सर्वोत्कृष्ट वृत्ति—मानवकी सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि, साहित्य है। इसका कारण यह है कि साहित्य ने ही मानव को अमरत्व के निकटतम पहुँचाने में समय बनाया है। ज्ञान विज्ञान की एक से बढ़ कर एक चमत्कारी सिद्धियों में, मानव प्रायः पराकाष्ठा तक पहुँच चुका है किन्तु उनमें माग पर अग्रसर होते हुए सहसा यह सहार की क्षमताओं की, चरम सीमा तक पहुँच कर, स्तम्भित रह गया है।

पुरातन पुराणों एव लोकगाथाओं में इस बात के पमाप्त इंगित मिलते हैं कि निरवधि ज्ञान के आद्यामो में, मानव सम्भना और सस्कृति ने, इस माति के अनेक चमत्कारी प्रयोग किये हैं, और आज भी वह उनमें मग्न है। अनेक बार सस्कृतियों आकाश की छूने के लिये उठी हैं और फिर वे पाताल के गत में खो गई हैं। पौराणिक शब्दावली में इस पट-परिवर्तन अथवा युगान्तर की समृति और प्रलय के प्रतीकों द्वारा व्यञ्जित किया गया है। पर एव बार जो मानव अमरत्व के पथ में विचलित हुआ, सो हुआ।

मानव ने अनेक बार इस समृति और प्रलय के प्रवर्तन के बीच, जो कल्पनातीत महत् प्रयोग किये हैं, उनके मूल में उसकी आद्याशक्ति रूपिणी महत्वाकांक्षा, सतत आवुल एव सक्रिय रही है। पौराणिक आस्याना में इसकी पक्षी के प्रतीक द्वारा, इंगित कराया गया है। इस प्रसंग में सपानि की कथा बड़ी अयगूढ है। उसने मूय को छूने के हठ में, अपने पख जला लिये और मरणासन्न दशा में, वह औंवे मुह्र घरती पर आ गिरा। चद्रमा नामक मुनि ने उसे, पानामृत द्वारा जहकार-व्याधि से मुक्त किया।

मूय और चद्र—ये ज्याति-भुज-द्वय विज्ञान और ज्ञान के प्रतीक हैं। दाशनिक् अर्थों में वे कालकूट एव अमृतत्व के प्रतीक हैं। कालकूट का कण्ठ में धारण करने के कारण शिव ने देवाधिष्ठेव अथवा महादेव की उपाधि पाई। किन्तु उहाने चद्रमा की मस्तक पर धारण करके चद्रमौलि पद भी पाया। यह विज्ञान पर ज्ञान की प्रतिष्ठा का स्पष्ट ही ता है।

ज्ञान विज्ञान की चिरन्तन साधना का प्रतीक पौराणिक सागरमंथन आख्यान है, जिसके परिणामतः कालकूट और अमृत घट दोनों ही उपलब्ध हुए थे। मानव को अक्षय अस्तित्व प्रदान करने वाला अमृतत्व क्या है? हमारे ऋषि मुनिया अथवा मनीषिया ने, इस सम्बन्ध में बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त किया है और उन्होंने जो सूत्र रूप से, उपनिषद् की इस उक्ति द्वारा इंगित किया है वह मृदुमृदु स्मरणीय है —

मुझे तुच्छता के परिवेश से उबार कर शाश्वत माना के साक में ले चलो !  
अंधकार की दुनिया में से निकाल कर, मुझे उजाले में ले चलो ! और मरण से मुझे उबार कर, अमरत्व तक पहुँचा दो ।

आज के युग में, ज्ञान विज्ञान की सर्वव्यापी महिमा के तिरस्कार करने का दुःसाहस कौन करेगा? किन्तु ज्ञान की गरिमा को भी आँसु से आभन करके, क्या काम चल पाएगा? ज्ञान के समुज्ज्वल सौम्य और मिनघ प्रकाश का ही अर्थ नाम है 'साहित्य' ।

साहित्य शब्द के उद्भव एवं उसके व्यावहारिक अर्थ की उचित व्याख्या के निमित्त, हम उसके व्युत्पत्ति मूलक पक्ष की ओर भी दृष्टिन्वेष करना होगा ।

साहित्य का अर्थ है शान्ति और अर्थ का यथावत महभाव—अर्थात् सायहाना । साहित्य—सहित + यत् प्रत्यय । इस प्रकार सायक शान्ति मात्र का नाम, साहित्य है । साहित्य की यह परिभाषा अत्यन्त व्यापक है और इसमें मनुष्य की मारी बाधन और भावन चेष्टा समाविष्ट हो जाती है तथा समस्त ग्रन्थ-समूह साहित्य के अन्तर्गत आ जाते हैं । साहित्य मनुष्य के भावाँ और विचाराँ की समष्टि है ।<sup>१</sup>

साहित्य शब्द की इतिवृत्तात्मक छानबीन करने से ज्ञात होता है कि साहित्य शब्द का प्रचलन पर्याप्त प्राचीन काल से समस्त ग्रन्थ-समूह अथवा ज्ञानामिव्यञ्जना के लिये पाया जाता था । रसात्मक रचनाओं की सामूहिक सत्ता के रूप में उसका प्रयोग मनुहरि के काल (ईस्वी शती सातवीं) से माना जाता है ।

बहुत काल तक साहित्य काय का पर्याय रहा । किन्तु जब साहित्यिक मृष्टि पर से काव्य की एकल प्रभुता वीत चली तथा नव-नव साहित्यरूपों ने अपनी निजी मता स्थापित कर ली तब साहित्य एवं काव्य का पर्यायत्व समाप्त हुआ और काव्य समस्त पद्यात्मक छन्दोबद्ध कृतियों के समुच्चय के रूप में पृथक् माना जाने लगा । यह प्रकट है कि यह अलग-अलग पद्यों के साहित्य सजना का ही सीधा परिणाम था जिसमें क्या साहित्य एवं उपन्यास विधा का भवितव्य योगदान रहा है ।

मनुहरि के पश्चात् अनेक काव्यशास्त्रियों ने साहित्य शब्द की परिभाषाएँ दी हैं जो वस्तुतः काव्य की परिभाषाएँ भी मानी जाती हैं । नामहीन अपने ग्रन्थ

१ 'हिन्दी साहित्य कोश', खण्ड १ पृष्ठ ६४६ साहित्य (प्रथम प्रकाशन, सन् १९४८ ई०, ज्ञानमण्डल, काशी ।)

‘काव्यालंकार’ में ‘शब्दार्थो सहितौ काव्यम्’<sup>१</sup> कह कर साहित्यिक वृत्ति में शब्द एवं अर्थ के, उपर्युक्त प्रयोग, पर बल दिया।

शब्द और अर्थ के सहभाव वाली बात राजशेखर ने कहा है जिनका समय, मामह से लगभग तीन शती पश्चात् दसवीं शती ईसवी माना जाता है। ‘शब्दाथयो यथावत् सहभावेन विद्या साहित्य विद्या। अथात् शब्द और अर्थ के यथावत् सहभाव अथवा उनके परस्पर अनुकूल (या उचित) सहयोग से उद्भूत भावाभिर्व्यजना की विद्या को साहित्य विद्या कहने है।’

राजशेखर ने इस भाँति ‘साहित्य और ‘साहित्यतर वाङ्मय के बीच के तात्त्विक अन्तर को स्पष्ट किया, और साहित्य की मूलभूत विशेषता के रूप में, शब्द और अर्थ के परस्पर सहभाव पर बल दिया।

शब्द और अर्थ के समुक्त चमत्कार की बात उक्त शास्त्रकारों ने बहुत पहले भी मनीषियों के मन में आई थी। इनमें विचक्षण प्रतिभा वाले महाकवि कालिदास भी थे। उन्होंने अपने महाकाव्य ‘रघुवश के मंगलाचरण में, इस जगत् के जननी-जनक, पावती-परमेश्वर की वाक् और अर्थ के रूप में, ‘मूलतः समुक्त किन्तु दृश्यमान रूप में पृथक्, अद्वितीय छवि की—अभ्ययना की थी।’

आचार्यप्रवर श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने अभिनव ग्रंथ ‘कालिदास की साहित्य-योजना में इसी प्रसंग को लेकर— वाक् और अर्थ का साहित्य, नाम से एक पृथक् अध्याय दिया है और कालिदास-सम्बन्धी इस उद्भावना की अनूठी व्याख्या दी की है—

‘कालिदास ने रघुवश के प्रारम्भ में शिव और पावती के समुक्त या मिलित रूप को वाक् और अर्थ के साथ-साथ रहने के भाव (साहित्य) के साथ तुलनीय माना है। उन्होंने स्वयं ‘साहित्य’ शब्द का प्रयोग तो नहीं किया पर ‘समुक्त या सम्पक्युक्त’ कह कर उसी भाव की आर सकेत किया है जिसे बाद में साहित्य कहा जाने लगा।’

१ ‘काव्यालंकार’ (आचार्य भामह) सातवीं शती ई०, १/२६।

२ ‘हिंदी काव्य भीमासा—स० डॉ० गंगासागर राय (प्र०—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी, प्रथम संस्करण—सन् २०२१ वि०, सन् १९६४ ई०, विद्याभवन संस्कृत ग्रंथ माला १२१) द्वितीय अध्याय शास्त्र निर्देश पृष्ठ १३

३ वाग्यमिव संपृती वाग्य प्रतिपत्तय।

जगत् पित्रो बन्धे पावती-परमेश्वरी ॥’

—रघुवश—महाकवि कालिदास, आद्यवन्दना शतक।

४ ‘कालिदास की साहित्य-योजना—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी (प्रथम स०, सन् १९६५ ई०, नवम निवेदन, रवीन्द्रपुरी, वाराणसी ५) अध्याय ८—‘वाक् और अर्थ का साहित्य’ (८७ ६१) पृष्ठ ८७

स्वर्गीय श्री जानद के० कुमारस्वामी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति क कलाविद थे एव कला की गहराइया म जवगाहन करके उहोने भारत के पुरातन शास्त्रा एव साहित्यिक कृतिया का व्यापक अनुसंधान किया था । तभी उहाने साहित्य तथा काव्य शब्द के अर्थों की भी छानबीन की थी । यही नही उहाने अपने ग्रंथ द ट्रान्सफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट के अन्तगत एक पारिभाषिक शब्द कोश भी किया है जिसम भारतीय शब्दा के पश्चात्य पर्याय लिए गए हैं ।

श्री जानद कुमारस्वामी न साहित्य तथा काव्य दोना शब्दा के लक्षणो पर पृथक-पृथक विचार किया है । साहित्य को वे ध्वनि एव ध्वन्याथ शब्द एव शब्दाय का सहज ध्वनन एव सहभाव मानते हैं । काव्य शब्द के अर्थों पर विचार करते हुए उहाने यह स्पष्ट किया है कि उसका अभिप्राय गद्य अथवा पद्य-साहित्य माना जाता रहा है जा उसके श्रुति इतिहास शास्त्र आदि से बशिष्टय का सूचक है ।<sup>१</sup>

श्री जानद कुमारस्वामी ने यहाँ स्पष्ट शब्दो म इस तथ्य को विश्लेषित किया है कि 'साहित्य' शब्द के अतिव्यापक तथा अविन वाङ्मय सूचक अभिप्राय के कारण ही भारतीय साहित्य शास्त्र म काव्य शब्द का (साहित्य शब्द के आधुनिक अर्थ म) प्रचलन हुआ था ।

श्री जानद कुमारस्वामी न जब काव्य शब्द की श्रुति इतिहास शास्त्र से पृथक्ता-सूचक बात कही तो उहोने काव्य शब्द के व्यवहार क उस सुदीर्घ अवान्तर का स्मरण कराया जिसमे कि यह शब्द गद्य एव पद्य मे रचित विविध साहित्यिक कृतियो के लिय प्रयुक्त हाता रहा । किन्तु इस विविध साहित्यिक रचना-समुच्चय म भी दा प्रकार की कृतिया पाई जाती थी—मृजनात्मक साहित्य व्याख्यात्मक साहित्य । मृजनात्मक साहित्य अथवा निगटिव लिटरेचर के लिये हमारे मनीषियो ने सारस्वत शब्द का प्रयोग किया है । इसकी व्याख्या श्री कुमारस्वामी न सारस्वती द्वारा प्रेरित अथवा सारस्वती की अचना के उपयुक्त इन्प्रायड वाच जा र वदीं आफ सारस्वती) कह कर की है ।

राजशेखर न भी सारस्वत शब्द का अर्थ यही मुमहारहस्यमय प्रतिभा माना है । अपने काव्य मीमासा ग्रंथ के अन्तगत उहोने कहा है— सारस्वत-तत्त्व महारहस्यमय है । वह केवल विद्वाना द्वारा ही गोचर है और केवल कुशल कविया द्वारा ही सेय है ।<sup>२</sup>

१ 'ट्रान्सफार्मेशन आफ नेचर इन आर्ट—जानद के० कुमारस्वामी (प्रथम सं० मिन १९३४ ई० प्रस्तुत मस्करण मिन १९५६ ई० डोवर बुक्स 'यूपाक १०) संस्कृत ग्लासरी (पारिभाषिक कोश) पृष्ठ २१७-२२६

२ सारस्वतम् किमपि तत् मुमहारहस्यम् ।  
यद् गोचरम् च विदुषाम् निपुणक सेव्यम् ॥

—हिंदी काव्य मीमासा (व्याख्याकार डा० गगामगर राय)  
(प्र० चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी) अध्यायचतुर्थ—शिष्यप्रतिभे पृष्ठ २६

‘साहित्य’ के उक्त मृजनात्मक रूप से ही प्रस्तुत अध्ययन अनुसंधान का विशेष-तया सम्बन्ध है। यह मृजनात्मक साहित्य न केवल शब्द एवं अर्थ के परस्पर सहमात्र पर आधारित है बरन उसमें शब्द और अर्थ की, जयोनान्तरिक (जो एक दूसरे से कमावेश न हो) परस्पर स्पर्धा पाई जाती है। यह स्पर्धा शोभाशालिना एवं मनोहारिता दोनों में ही श्रावणीय होती है। अर्थात् साहित्यिक कृति में पाई जाने वाली अपूर्व शोभा एवं मनोहारिता, न केवल शब्द में बरन अर्थ में भी, जीर न केवल अर्थ में ही बरन शब्द में भी कुछ ऐसी मात्रा में प्रतिभासित हानी है कि यह बताना कठिन हाता है कि वह उन दाना में किसमें अधिक है और किसमें कम।<sup>१</sup>

उक्त उक्ति दसवीं शती के प्रख्यात काव्यशास्त्री कुन्तल की है। आचार्य कुन्तल को ‘साहित्य’ शब्द का एक विशिष्ट अर्थ का आविष्कार बताने हुए श्री हजारी प्रसाद द्विवेदी ने, इस भाँति अपने विचार व्यक्त किए हैं—

“कदाचित् आज से एक सहस्राब्दी या उससे भी अधिक पुरान आचार्य कुन्तल या कुन्तल ने दस शब्द (साहित्य) को एक निश्चित अर्थ में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया था। प्रयास इसलिये बह रहा है कि उन्होंने इस शब्द का काव्य का समझाने के लिये गौण रूप में ही व्यवहार किया था। वे कहना चाहते थे, कि शब्द और अर्थ की परस्परस्पर्धा चारुता का साथ-साथ रहने का जा भाव है—साहित्य है—वही काव्य है क्योंकि केवल शब्द, काव्य नहीं हो सकता, वह कितना भी सुन्दर क्यों न हो। वीणा या वंशो का ध्वनि का हम काव्य नहीं कहते। इसी प्रकार केवल अर्थ बह चाहे कितना भी सुन्दर क्यों न हो काव्य नहीं कहा जा सकता। शृंगार रस का मनोहर से मनोहर मूक अभिनय काव्य नहीं कहा जाता। अतएव शब्द और अर्थ दाना का साहित्य आवश्यक है और उनका सुन्दर हाना भी जरूरी है।

“जहाँ शब्द और अर्थ में ‘पद’ और ‘पदार्थ’ में, हाड लग जाती है कि कान कितना सुन्दर है—शब्द सुन्दरता में अर्थ का मात द रहा है और अर्थ शब्द का मात द रहा है ऐसे ही, परस्पर स्पर्धी चारुता के साहित्य का कुन्तल काव्य’ कहना चाहते थे। बाद में ‘साहित्य’ शब्द रचनात्मक शब्द कृतियों का नाम हो गया और जाग बलकर ता वह काव्य से अधिक व्यापक अर्थों का सूचक हो गया।”<sup>२</sup>

तरहवी से मध्यवी शती ई० के प्रसिद्ध साहित्य शास्त्रिया न भी मृजनात्मक साहित्य अथवा काव्य के लक्षण बताने हुए उगकी रमणीय अवबत्ता तथा रसात्मकता पर बल दिया है। प्रथम अर्थात् रमणीयता विशेष्य के प्रतिपादक, पटितराज जगन्नाथ

१ साहित्य मनया शोभाशालिनाम् प्रतीकाप्यसी।

अयूनान्तरिकत त्वमनाहारिण्यवस्थिति ॥१/१७

— बन्नीक्ति-जीवित’ (कुन्तल) दसवीं शती ई०

२ कालिदास की ‘साहित्य योजना’ (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय ८, (शब्द और अर्थ का साहित्य—८७ ६१), पृष्ठ ८७ ८८

हुए जिनकी वृत्ति रसगगाधर (रचनाकाल १६५० ई०) परवर्ती वाच्यशास्त्रा में प्रमुख स्थान रखती है। इससे तीन शती पूर्व आचार्य विश्वनाथ ने अपने 'साहित्य दपण' (रचनाकाल १३०० ई० से १४५० ई०) में रसात्मकता-सम्बन्धी विशिष्टता का प्रधान माना था।

साहित्य विद्या मानव की युगो की साधना का प्रसाद है। आत्मानुभूति के उपयुक्त माध्यम की खोज ने ही उसे साहित्यसज्जनकी ओर प्रवृत्त किया। हृद्गत भावों की सूक्ष्मता एवं चित्रविचित्रता का वाणी द्वारा व्यक्त करना एक ऐसा निगूढ एवं कठोरतम साधना थी जिसमें सिद्धि प्राप्त करने के लिए मानव का न जान कितन दीर्घकाल तक जाबरत वाक्यतप में प्रवृत्त रहना पड़ा। वाणीगत विशिष्टता की सिद्धि द्वारा मानव अपनी सस्कार-यात्रा की श्रेष्ठतम उपलब्धि तक पहुँच गया। यह नहीं कहा जा सकता कि कितने सुदीर्घ युगों के अवान्तर के पश्चात् मानव की सारस्वत प्रतिभा ने यह वाणीगत अथवत्ता, रसात्मकता तथा चारुता प्राप्त की। किन्तु वाणी का इस पुण्यश्लाकता का ही समयान्तर में साहित्य की सबसे बड़ा विशिष्टता स्वीकार किया गया।

वाणी ही रसात्मक स्वानुभूति की सूक्ष्मतम स्फुरणा का वाक्यविशेषता, (विवरण) प्रदान करना चाहती है—व्याख्या देना चाहती है—वह किसी ऐसे माध्यम द्वारा अभिव्यक्त होना चाहती है जो व्यष्टि एवं समष्टि के बीच रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करने में समर्थ हो।

वाणी रसात्मक प्रवृत्ति का मूलभूत एवं व्यक्त रूप है। अथ विविध ललित कलाएँ (फाव्न आर्ट्स) सभी वाणी का अनुवर्तिनी हैं। नसीलिय वाङ्मय का गौरव, शीघ्र एवं सावनीम है तथा उसका क्षमता एवं सामर्थ्य अनन्त अपार है।

शब्द वाणी की रसात्मक प्रवृत्ति के इंगित घनत है तथा भाषा उसका बाह्य परिवेष प्रदान करती है। वस्तुतः शब्द एवं भाषा वाणी के उन्मुख विलास में कोई स्वतंत्र अथवा पृथक् महत्व नहीं रखते। उन्हें लयात्मिका एवं अन्तर्वेग प्रेरित प्रवाहमयी अभिव्यक्ति के लिये, कठोर अनुशासन स्वीकार करना पड़ता है, जिसके कारण शब्द एवं भाषा इतनी मात्रा में रूपान्तरित हो जाते हैं कि उनका लौकिक व्यापार में व्यवहृत होना वाला रूप, बहुधा पहिचाना भी नहीं जाता।

ऐसा अवस्था में शब्द समास वाक्यांश तथा वाक्य अपनी अपनी निजी वाग् विवेकता के कारण स्वतंत्र एवं विशिष्ट अस्तित्व (इकाई) के रूप में अवतरित होते हैं तथा उनकी अपनी निजी जीव स्वतंत्र सत्ता हा जाती है। दूसरे शब्दों में शब्दादि वाणी-संकेत शक्ति रूप हा जात ह और उसमें श्रुता अथवा पाठक की मन स्थिति में युगान्तर प्रवर्तित करने का सामर्थ्य निहित हो जाता है। भाषा के इस जलौकिक चमत्कारपूर्ण व्यापार के मूल में, जो अभिव्यजना-समाकुलता, प्रच्छन्न रूप में प्रवाहित रहती है उस हम साहित्यगत वणनो मुखी वृत्ति के नाम से अभिहित कर सकते हैं।

— २ —  
 'वणनात्मक' साहित्य का एक बहुत बड़ा अंग वणनात्मक है। हृद्गत सूक्ष्म, सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतर भाव वीजरूप में प्रस्फुटित होता है—व बाणी का माध्यम पान के लिये अकुरित प्रस्फुटित प्रवाहित, फल्लवित होना चाहते हैं। यह प्रतिया यहाँ भी रचना नहीं चाहता और जब तक वह पुष्पित एवं प्रतिफलित होकर वाक-वैभव विटप का जपनी अनुपम, रमणीय शोभा से आच्छादित नहीं कर लेती, वह उत्तरोत्तर वणना की जपना रखती ही रहती है।

यह वणना प्रतिया बड़ी ही मनोरम एवं रहस्यात्तेजः है। सुदृती कवि जयवा साहित्य-मृष्टा से वह बहुधा, आख मिचौनी भी खेलती रहती है जोर उस तारम्बार अपनी उक्ति का, फिर फिर नूतन परिवेश में उद्घाटित करने के लिये, उन्मत्ती रहती है। यह क्रिया, उन्मत्त-आनन्द प्रदायिनी है—लेखक के लिये भी—जिसे भावन एवं विवेचन दोनों का रम अनुभूत होता है तथा पाठन के लिये भी, जिस ठमकी अनुभेयता एवं प्रतीयमानता की रसानुभूति में आकण्ठ निमग्न होकर जनिवचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। इस मुहुमुहु मनन का 'वाक्यान्वय' भी कहा जाता है।

'वणनात्मक' कृति कहलान की अधिकारिणी रचना के नियम में भी, मतभेद हो सकता है। एक नजर में देखने से यह वणनात्मकता का गुण साहित्य में, सबके व्यापक जान पड़ता है। अतः यदा-कदा कोशकारों का भी इस ओर ध्यान देना पड़ा है। मानविकी पारिभाषिक कोश में, 'वणनात्मक' शब्द की परिभाषा इस भाँति की गई है—

वह रचना जिसमें वणन प्रधान है। इस प्रकार की रचनाओं की रचकता, पूरा रूप से वणन-कौशल और वणन विस्तार द्वारा नियंत्रित होती है। ऐसा रचनाओं में प्रायः पात्रा एवं घटनाओं की संख्या सीमित होती है। यही कारण है कि साहित्यकार का वणन का सटारा लेना पड़ता है। उदाहरण के लिये हरिजीव रचित 'प्रिय प्रवाम वणनात्मक महाकाव्य' है। किन्तु उसमें वणन-बहुलता एवं विस्तार के कारण, रचना की रचकता की बहुत कुछ हानि हुई है।<sup>१</sup>

यथातथ्यता का दृष्टि से यह परिभाषा, पर्याप्त रूप में समाधानकारी एवं तलम्पर्शी है। इसमें वणनात्मक रचनाओं की तीन विशेषताओं पर बल दिया गया है—

- (क) वणन प्रधान रचनाओं की रचकता, रचयिता के वणनकौशल एवं वणन विस्तार द्वारा, नियंत्रित होती है।
- (ख) ऐसा रचनाओं में प्रायः पात्रा एवं घटनाओं का संख्या सीमित होना है।
- (ग) वणन-बहुलता एवं वणन विस्तार के कारण, रचना की रचकता में हानि होने की भी सम्भावना रहती है।

१ डिडिक्रिटिव वणनात्मक [मानविकी पारिभाषिक कोश (एनसाइक्लोपीडिया ऑफ ह्यूमनिटीज)] साहित्य खण्ड (राजकमल १९६५) सम्पादन डा० नगेंद्र गुप्त ७७ (बालम २)।



उक्त परिलक्षित तत्वा पर यथावमर विवेचन किया जा सकेगा किन्तु जिस केन्द्रीय भाव पर उक्त परिभाषा पर मनन करने के पश्चात् अनुशीलन-कर्त्ता की दृष्टि टिकती है वह यह है कि साहित्य में वर्णनात्मकता, साहित्य-मञ्जन-कला का पर्याप्त जटिल एवं सुकामल व्यापार है और उससे द्वारा, समथ मुहूर्त्तों की रचना के लिये, निरूपण का काम भी लिया जाता है।

अथ वर्णन सम्बन्धी अन्य शब्द-वली पर भी विचार किया जाना उचित होगा। उदाहरणार्थ— शब्द-कल्पद्रुम में वर्णन शब्द की व्याख्या इस भाँति पाई जाती है—

‘वर्णनम्—(वर्णस्तुतौ विस्तार रजनादौ+ल्युट्)—स्तवनम् यथा ‘भागवते १०/७४/३० विस्तरणम्—शुक्लादित्रयमाजनम् दीपनम्। इति वर्णधातोर्भावे नट्प्रत्ययेन निष्पन्नम्।’ अर्थात् वर्णन शब्द का प्रयोग विस्तार स्तुति प्रशस्ति रगा की याचना तथा जस्पष्ट स्थला का दीपन अथवा उन पर प्रकाश डालना—इन अर्थों में, होता आया है।

उक्त विभिन्न अर्थों पर ध्यानपूर्वक विचार करने से पता चला कि साहित्यगत वर्णनकला में उक्त चारों ही प्रक्रियाएँ सक्रिय रहती हैं।

उक्त वाक्य में ही वर्णनीय शब्द की भी व्याख्या की गई है—

वर्णनीयम्—त्रि (वर्ण+कम्मणि+अनीयम्) वर्णनम्, वर्णितव्यम् (यथा साहित्य दृष्टौ ६ परिच्छेद<sup>१</sup>) वर्णनाय यथायागम सागापागा जमीरिह। वण्य पत्न्या—

अथ वर्णानि कथ्यन्ते, तानि यानि कथाचर।

महाकाय प्रभतिषु, प्रबन्धे बर्वाधरे ॥

राजा, राजबन्धु, पुरोहित, कुमाराभात्यसेनाधिप।

देव, ग्राम, पुरी, सर, अटवि, सरित उद्यानारण्या अमा ॥

मन्त्री दूत रणप्रयाण, मगधान्धेर्मन्दिनेहृत्वा।

विहारो, विरह, स्वयंवर, सुरायुष्याम्बु-खेला रतम् ॥

(इति कविकरपलतायाम् १ स्तवके २ कुमुद) स्तवाः ॥ वर्णधात्वर्थ दशनात् यथा भागवत ३/२२/३७

एतरो आदिराजस्य, मनोश्चरितमद्भुतम्।

वर्णित वर्णनीयस्य तदपत्यो द्वय शृणु ॥

वर्णनाय शब्द का उपरान्त व्याख्या से पता चलता है कि वर्णन के वाक्य वस्तु एवं प्रसंगा का तीन मनाआ में अभिव्यक्ति किया जाता है—वर्णनीय, वण्य, और वर्णितव्य। तथा वर्णनाय शब्द का प्रयोग यथा वाक्य सागापाग प्रसंगों के लिये प्रयुक्त होता था।

१ ‘शब्द-कल्पद्रुम’ पृष्ठ २८६

२ वही, पृष्ठ २८७

‘वण्य’ शब्द महाकाव्यों में काव्यशास्त्रीय पद्धति के अनुसार वणन किये जाने वाले अवसरा के लिये प्रयुक्त होता था। प्रवचन के सम्बन्ध में भी विशेष उल्लेख होने के कारण ऐसा ध्वनित होता है कि गद्यात्मक कथाओं के लिये भी निर्दिष्ट अवसरा के समावेश की अपेक्षा की जाती थी। तथा वर्णितव्य शब्द प्रशस्ति अथवा स्तुति के अधिकारी देवी देवता और धार्मिक तीर्थस्थानों आदि के उपाख्यान आदि के लिये प्रयुक्त होता था।

हलायुध कोशकार ने भी ‘वणन’ शब्द की व्याख्या के साथ ही साथ ‘वणना’ शब्द की भी पृथक् व्याख्या दी है। वणन शब्द की व्याख्या निम्न भाति है—

वणनम्—बली० (वण स्तुती विस्तारे रजनादौ—ल्युट) वणना, स्तवनम् यथा—

इत्यम्	निश्चय	दमघोषसुत	स्वपीठगत,
उत्थाय	कृष्ण	गुरुवणन	जातमयु।
उत्क्षिप्य	बाहुमिदमाह	सदस्यमर्षी,	
सश्रावयन्	भगवते	पश्यायभीत ॥	

इति भागवत १०/७४/३० विस्तरम्, शुक्लादिवणयोजनम्, दीपनम् ।<sup>१</sup>

‘शब्द-कल्पद्रुम’ के अतिरिक्त हलायुधकोश की परिभाषा में ‘वणन’ शब्द के पर्याय में, वणना का भी समावेश हुआ है। किन्तु ‘वणना’ शब्द की पृथक् व्याख्या भी उसने दी है जिससे जान पड़ता है कि समयान्तर में ‘वणना’ शब्द का जय वणन से किंचित भिन्न भावाय में हान लगा था।

जहाँ तक कि वणन शब्द की व्युत्पत्ति एवं व्याख्या का प्रश्न है, हलायुधकाश एवं ‘शब्द-कल्पद्रुम’ में कोई विशेष अन्तर नहीं जान पड़ता। किन्तु उदाहरणद्वारा ‘हलायुध-काश’-कार ने यह इंगित किया है कि मात्र प्रशंसा के ही अर्थ में ही नहीं वरन् उससे इतर सविस्तार कथन के लिये भी इस शब्द का प्रयोग होता था। अब ‘वणना’ शब्द की व्याख्या भी प्रेक्षणीय है—

वणना—स्त्री० (वण + णिच् + युच् + टाप्) गुणकथनम्, इडा, स्तव स्तोत्रम् स्तुति, नुति, श्लाघा, प्रशंसा अथवा—यथा—विदग्धा अपि वण्यन् विटवणनया स्त्रिय । इति कथासरित् सागर’ ३२/१६६<sup>१</sup>

उक्त परिभाषा से यह प्रकट है कि गुणकथन स्तुति, प्रशंसा, श्लाघा आदि के

१ हलायुध-कोश (अभिधान रत्नमाला) स० जयशंकर जोशी (प्र० सरस्वती भवन वाराणसी) कृते-सरस्वती भवन प्रकाशन माला १२ प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश द्वारा प्रकाशित। प्रथम प्रकाशन २०१४ वि०, पृष्ठ ५६१

२ हलायुध-कोश (अभिधान रत्नमाला), पृष्ठ ५६१

विशिष्ट प्रसंगा के लिये ही वणन शब्द का प्रयोग उचित माना जाता था तथा साधारण अर्थों में वणन शब्द का ही प्रयोग किया जाता था।

'मानक हिन्दी काश हिन्दी भाषा का अधुनातम (सन् १९६६ ई०) प्रामाणिक प्रकाशन है। पाच खण्डों में प्रकाशित इस महाग्रन्थ का प्रकाशन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन जमी प्रामाणिक सस्था की ओर से किया गया है। कोश में वणन, वणना' एव वणनात्मक तीनों ही पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या इस भाँति की गई है—

वणन—प्र० (स० वण वणन करना, रगना जानि + णिच् + ल्युट् + अन) अर्थात् (क) वर्णों जयात रगा का प्रयोग करना रगना। (ख) किसी विशिष्ट अनुभूति घटना दृश्य वस्तु शक्ति आदि के सम्बन्ध में हाने वाला विस्तारपूर्ण कथन जो उसका ठीक ठीक बोध दूसरा को कराने के लिये किया जाता है। (ग) गुण-कथन प्रशंसा स्तुति।

वणना—स्त्री० (स० वण + णिच् + युच् + अन टाप) अर्थात् (क) वणन। (ख) गुण कीर्तन।

वणनात्मक—वि० (म० वणन—आत्मन् बहुव्रीहि समास कप्) (कथन लेख आदि) जिसमें किसी अनुभव अनुभूति दृश्य आदि का वणन हा या किया जाय।<sup>१</sup>

उक्त व्याख्या प्रस्तुत अध्ययन-अनुसंधान से इसलिए सीधे तौर पर सम्बन्धित है कि यहाँ वणन शब्द की उन सभी विशिष्टताओं का सबसे प्रथम समावेश किया गया है जो सभी आधुनिक साहित्य रूपा में पाए जाने वाले वणनात्मक प्रसंगा में हमें दिखाई पड़ती है। व्याख्या अपनी स्पष्टता एवं यथातथ्यता दोनों ही के कारण प्रायः सम्पूर्ण कहा जा सकती है।

प्रो० मानियर विलियम्स ने अपने सुप्रसिद्ध संस्कृत अंग्रेजी काश में वणन शब्द की परिभाषा दी है। उससे उसकी साहित्यिक प्रवृत्ति पर अधिक प्रकाश पड़ता है—

वणन जालेख (चित्रकला) रगना (रगा की आयोजना) रखावन वणन व्याख्या अलंकरण तथा शृंगार स्तुति गुणवणन।<sup>२</sup>

साहित्य में वणनात्मक कला के प्रस्तुत विवचन को दृष्टि में रखते हुए प्रो० विलियम्स की परिभाषा अधिक साहित्यिक है तथा उसमें वणन की साहित्यगत सूक्ष्मता एवं कलात्मकता को अग्रभूमि में प्रतिष्ठित किया गया है।

प्रो० मानियर विलियम्स द्वारा संस्कृत अंग्रेजी काश का एक अभिनव संस्करण सन १९५६ में प्रकाशित हुआ है क्योंकि उक्त प्राचीन काश का प्रकाशित हुए उस

१ 'मानक हिन्दी कोश'—पाचवा खण्ड (क—ह) स० रामचन्द्र वर्मा, मोहनलाल भट्ट हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग (सन् १९६६) पृष्ठ १७

२ 'वणन' शब्दों काट जाफ पॉटिंग कलरिंग डिक्शनरी, डिक्शनरी एक्स्प्लेन एम्प्लिशमेंट एण्ड डेक्लोरेशन प्रोजेक्ट कमेन्टेशन।

डिक्शनरी—संस्कृत श्लोक टिप्पणरी (प्रो० मानियर विलियम्स) आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९५६ ई०, पृ० ६२५

समय तक लगभग सड़मठ वष वीत चुके थे। इस नये संस्करण में कुछ अथगत सूक्ष्म अन्तर भी है अर्थात् 'वणन' का एक अथ विशेष, 'कथा कहना तथा 'कथा लेखन' भी माना गया है।<sup>१</sup>

आगे चलकर कतिपय आधुनिक पाश्चात्य समीक्षका ने भी साहित्य के गुण-विशेष के रूप में 'डेस्क्रिप्शन' या वणन की जाय ध्यान देना प्रारम्भ किया। ज्या-ज्या वणनात्मकता को साहित्य विशिष्टता के रूप में लक्षित किया जाने लगा त्या-त्या समीक्षा क्षेत्रों में वणन शब्द की परिधि का लेकर वाद विवाद भी बढ़ता गया। 'एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' की सातवीं जिल्द में इस सम्बन्ध में ए० वुल्फ के ग्रन्थ 'एन शल्स आफ साइंटिफिक मेथड' से जा टिप्पणी उद्धृत की गई है वह इस प्रसंग में पठनीय है—

"डेस्क्रिप्शन या 'वणन' का यथानर्थ अथ होता है 'पदार्थों' अथवा घटनाओं के प्रेक्षणीय गुणा अथवा विशिष्टताओं का व्योरा देना। इस अर्थ में 'डेस्क्रिप्शन' या वणन एकमप्लेनशन अथवा व्याख्या शब्द से, बहुधा भिन्न कहा जाता है क्योंकि एकमप्लेनशन (या व्याख्या) दृश्यमान व्योरे के लिये उत्तरदायी, उन मूलभूत तथ्यों एवं प्रक्रियाओं का भा उल्लस करता है जा कि साधारणतया पाठक की दृष्टि में नहीं आते।

'कटटरपथी विज्ञानशास्त्रियों का जाग्रह है कि वैज्ञानिक विवचन में, वणनकत्ता को, मात्र-वणन तक ही सीमित रहना चाहिये तथा उसे व्याख्या के प्रत्येक प्रयास से दूर रहना चाहिये। किन्तु वे भूल जाते हैं कि तथाकथित वणन में उस अर्थ के लिए, जो वस्तुतः व्याख्या है चारी दृष्टि अथवा अनजान में, विशद वणन अथवा व्याख्या का समन्वित हा जाना बहुत ही महत्व व्यापार है। इसलिये जहाँ तक कि 'वणन' शब्द के प्रचलित व्यवहार का प्रश्न है, यह स्पष्ट है कि किसी भी पन्थ या घटना का ऐसा मात्र-वणन सम्भव ही नहीं है जिसमें कि व्याख्या का समावेश न हा गया हा।"<sup>२</sup>

उपयुक्त उद्धरण में वणन की परिधि अथवा सीमा निर्धारण का जो प्रश्न खड़ा किया गया है, उसे वणन की साहित्यिक कर्नात्मरता की दृष्टि से भुलाया नहीं जा सकता। वणन एक व्याख्या का मिलाजुला हाना ता साहित्यिक कृति के लिये कोई भा अग्रभाविन वात नहीं है किन्तु उन दोनों के परस्परनिर्वाजन की मूमवृक्ष एवं

१ 'वणन' (डेस्क्रिप्शन)—एकट आफ पेंटिंग, कलरिंग एण्ड सी कथाज एण्ड सी राइटिंग एम डब्ल्यू एम्बेनिंगमट, डेकारेशन प्रेज कमडसन 1—ए सशून-इतिहास टिक्कारा विद स्पगल एपरन्स टु इण्डो-यूरोपीयन लेंग्वेजज (सर मानिखर विलियम्स) प्रथम प्रकाशन १८८६ ई०, गार्गाटे द्वारा पुन संपादिन (१९५६ ई०) पृष्ठ १२७

२ एन्शल्स आफ साइंटिफिक मेथड (ए० वुल्फ) (प्र० १९२८ ई०)।

३ एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका—जिल्द सातवीं (१९४६ ई०) (एडिशन ब्रिटानिका ऑफ रिवागो), पृष्ठ २८३

य शश्वत मूल्यो वाले महाकाव्य इतनी प्रौढ़ एवं परिष्कृत साहित्यिक शली में अद्यावधि भी उपलब्ध है कि हम स्वयं ही उनकी साहित्य-गरिमा में अभिभूत हैं। य आद्य महाकाव्य (जिसे इतिहास ग्रन्थ भी कहा गया है) आज भी भारतीय लोकमानस में समाये हुए हैं और उताने युग से भारतीय चिंतन एवं जीवन-दर्शन को सतत अनुप्राणित किया है। अनकानेक पाश्चात्य मनीषिया ने उनकी अलौकिक छवि के दर्शन करके उनके रचनाकाल के बारे में तरह-तरह की जटिलें लगाई हैं। वल्लि वाङ्मय एवं पौराणिक वाङ्मय का परिशीलन करके अब अधिकांश विद्वज्जन इस बारे में सहमत हो गए हैं कि आदि महाकाव्य—महाकवि वाल्मीकि वृत्त 'रामायण' की रचना ईस्वी शती के प्रवर्तन में कम से कम चार सौ वर्ष पूर्व हुई चुकी थी। अतः अखिल भारतीय ललित वाङ्मय के आधार ग्रन्थ के रूप में उसमें दृश्यमान वणनात्मकता तथा उसमें प्रभासित वणनात्मक कला पर ही भवप्रथम दृष्टिक्षेप करना समीचीन होगा।

वाल्मीकि रामायण की वणनात्मक विशिष्टता तो आदिकवि द्वारा, प्रकृति निरीक्षण में अपनी अन्तर्दृष्टि एवं उनकी ऋतुओं के परिवर्तन से समुपस्थित क्षण-क्षण में वेप बदलने वाली विशाल प्राकृतिक शोभा की चित्रात्मक शली में अनुपम एवं सरल वणना द्वारा ही प्रकट हो पाई है। नर्सगिक शोभा के सहज-सरल चित्रण द्वारा महाकवि ने अपने विश्वविश्रुत महाकाव्य में वणनात्मकता का दोहरा उपयोग किया है—एक ओर तो वे अपने कथानायक श्रीराम के हृदय विषाद तथा लज्जित आशा निराशा से उद्भूत विभिन्न मानसिक उथल-पुथल के साथ उनके प्राकृतिक परिवेश का तारतम्य स्थापित करते हैं तथा दूसरी ओर वे अपने पाठकों को—प्रकृति की विशाल एवं भयद मोहक गुण-गभीर शोभा की चित्र-पटिया दिखा कर उनके मना-भावों के उदात्तीकरण में वास्तविक स्मोद्रेण द्वारा उदात्त आध्यात्मिक धरातल पर ले जाना भी चाहते हैं। प्रकृति शोभा का यह श्रेयस्कर एवं उदात्त चित्रण आन्विकि की वणनात्मकता की अपनी निजी एवं मूलभूत विशिष्टता है।

गोदावरी के तीर पर जब श्री राम लक्ष्मण-सीता बनवास में सुखपूर्वक प्राकृतिक वातावरण में समय-यापन कर रहे थे उस समय हेमन्त ऋतु के आगमन पर कवि ने एक से बढ़ कर एक मनारम वणनात्मक भावियाँ प्रस्तुत की हैं—

काहरे से ढके हुए जंगल जिनमें गेहूँ और जौ के मेत हैं मूय के उन्नि होने पर बोलते हुए श्रौच और मारग पक्षियों से शोभित हो रहे हैं।<sup>१</sup>

१ 'श्रीमद् वाल्मीकि रामायण' (ऋतु वणन समुच्चय भाग प्रथम) हेमन्त शोभा वणनम्, शीपक अध्याय श्लोक १६ (श्री विश्वनाथ गौड़ द्वारा संपादित वानपुर १९५२ ई०) तथा (मूत्र-गाठ को प्रामाणिकता के लिए—) श्रीमद् वाल्मीकि वृत्त रामायण (प्र० निषय मगर यथावयम् २२६)।

'बर्फ और पाले में बढती हुई किरणों वाला सूर्य, पर्याप्त ऊँचा चढ़ जाने पर भी चंद्रमा की तरह दिखाई दे रहा है।'

'अत्यन्त प्यासा जगली हाथी बहुत ठण्डे पानी का पश करता है और फिर बल्दी से अपनी सूड का वापिस खेंच लेता है।'

हेमन्त ऋतु सम्बन्धी उक्त तीनों उद्धृत वणनों द्वारा वाल्मीकि की वणनात्मक-कला के निम्न तीन पक्षों पर प्रकाश पड़ता है। सबसे प्रथम वणन, वनांतर तथा उसके बीच लहलहाते हुए गेहूँ और जौ के नेतों पर सूर्योदय का दृश्य है। रात्रि का अवशिष्ट कोहरा अभी भी सेतों पर अपना आवरण फलाए हुए बने पवतों तक, इस प्रकार प्रसरित है कि पूरा प्रदेश एकमेक हो रहा है। शस्य श्यामल सेता भ शौच और सारम पक्षिया की ध्वनिया उठ रही है। दृश्य-भट को समुपस्थित करने वाला देशकाल एवं मुहूर्त का व्यञ्जक यह वणन अपन म सरल एवं सम्पूर्ण है।

दूसरे दृश्य में चढ़ते हुए सूर्य के गाले का यथातथ्य चित्र खींचा गया है जिसमें तापहीन एवं किरणों के प्रसार से रहित मध्याह्न में भी सूर्य के गालाकार को इसी भाँति सरलता से देखा जा सकता है जैसे कि चंद्रमा को। यह क्षितिज पर शीत के व्यापक प्रभाव के कारण, स्थल वातावरण के व्याज से, ही सम्भाव्य था।

तीसरा दृश्य, गहन वन की एक सजातमक भाँकी है। जगली हाथी द्वारा प्यासा होने पर भी, जल की शीतता के कारण हठात सूड हटा लेने का, बड़ा ही स्वामाधिक चित्र खींचा गया है। ऐसा चित्रण प्रकृति में सूक्ष्म निरीक्षण-दृष्टि द्वारा ही सम्भाव्य है।

बालि के वध और सुग्रीव के अभिषेक के पश्चात्, माल्यवान पवत पर रहते हुए राम और लक्ष्मण, वर्षा ऋतु के आगमन पर परस्पर वार्तालाप कर रहे हैं। इसी प्रसंग के अन्तर्गत, श्री वाल्मीकि ७ वर्षा ऋतु के सम्बन्ध में एक सुदीर्घ वणन प्रस्तुत किया है जिससे कुछ विशिष्ट अवतरण ही यहाँ उद्धृत किये जाते हैं। उनमें से प्रत्येक श्लोक, वणनात्मक कला के किसी न किसी पक्ष पर, अभिनव उद्भावना का साकार करने में सफल हुआ है—

'कुटज और अजुन वृक्षा की पत्तियाँ, मेघ-रूपी सीढियाँ पर होकर, आकाश में चढ़ कर, सूर्य को अलङ्कृत करने में समर्थ सिद्ध हो सकती हैं।'

१ २ श्रीमद् वाल्मीकि रामायण ('ऋतु वणन समुच्चय', भाग प्रथम) 'हेमन्त शोभा वणनम् शीघ्रक अध्याय, श्लोक १८ १७ २१ (श्री विश्वनाथ गौड द्वारा मपा-दित, वानपुर १९५३ ई०) तथा (मूल-पाठ की प्रामाणिकता के लिए)— श्रीमद् वाल्मीकि कृत रामायण' (प्र० निणयमागर यन्त्रानय, बम्बई)

३ शक्यम् अम्बर माहृह्य मेघ सोपान पत्तिभिः ।

कुटजाजुन मालाभिः अलङ्कृतुम त्वाकर ॥

—'श्रीमद् वाल्मीकि रामायण', तृतीय विभाग वर्षा वणनम् श्लोक ४

‘ विजलिया की पताका धारण करने वाले जीर बगुला की माला पहनने वाले पवत के शिखर के समान आवृत्ति वाले मघ, नाद करते हुए युद्धमयल में म्विन, महा हाथियों की तरह, गजगा कर रहे हैं ।’

मघा म मिल जाने की इच्छा से उठते हुए प्रसन्न बगुलो की यह पक्ति, रचिर आकाश की लटकती हुई पवन द्वारा हिलाई जाती हुई, कमला की श्रेष्ठ माना के समान सुशामित हो रही है ।’

बीच-बीच में छोटी छोटी वीर बहटिया से चित्रित नई धाम से आरुत हरे भरे प्रदेशों से पृथ्वी शरीर में लिपटे हुए शुभ के समान हरे रंग वाले तथा बीच-बीच में लाल से लाल रंग हुए परिधान से शृंगारयुक्त धरणी श्रीशृंगारयुता महिला के समान शामित हो रही है ।’

जल से धुले हुए पवता के बड़े बड़े शिखर, जिन पर बड़े भारी ऋत्ने, भी मोतिया की लटिया की तरह लटक रहे थे अधिक शोभित हो रहे हैं ।’

उक्त वणन-चक्र में सबप्रथम बृटज और जजुन वृथा की तरफ राजि, अपने गहर हरे रंग वाली धरेदार आवृत्तिया के कारण सुदूर क्षितिज तक एक के पीछे एक उपत्यका पर चन्ती हुई सी माना मेघों तक चली जाती हुई मोतिया के समान आकाश मण्डल को छूती हुई सी जान पड़ती है । इस दृश्य के चित्रण करने में महा कवि दृश्यावलि चित्रातेखक (लेण्डस्केप पेंटर) की भाँति उन्ने माक्षात करने में समर्थ हुए हैं ।

तदुपरांत मेघमाला का मनोरम दृश्यपट महाकवि की वणनात्मक प्रतिभा का मानो साक्षात् चमत्कार है । मतवाले हाथियों की भाँति काले-काले मघों का गजन तथा विजलिया की पताकाओं जैसे गजन-तजन करने वाले पवत शिखरों के समान, महाकाय मेघ, बगुला की पत्तिया की माला धारण किये हुए, युद्ध प्रयाण में प्रवृत्त समर वाहिनी के रूप में चित्रित किये गए हैं । इस वणन में रूप ध्वनि एवं गति तीनों ही तत्वा का सफ़्त समावेश किया गया है ।

इससे आगे के श्लोक में, शुभ्र मेघों में लहराती हुई बगुला की पक्ति को, कवि ने कमला की एक ऐसी श्रेष्ठ माना के रूप में वर्णित किया है जो आकाश में

१ विद्युत्पताका सबलोकमाला शलद्रवूटावृत्ति सन्निकाशा ।  
गर्जान मघा समुदीर्घनादा मत्तागजद्राइव सयुगस्था ॥२०॥

२ मेघामिकाया परिसपतति सम्मादिता मानि बलाक पक्ति ।  
वातावधूता धरपोण्डरीकी प्रलम्बमाला रचिराम्बरस्थ ॥२३॥

३ बाले द्रगोपातरचित्रितान विभातिभूमि नवशाद्वलेन ।  
मात्रानुपृक्तेन शुक्लमेण नारीबलाक्षीक्षित कम्बलेन ॥२४॥

४ महान्तिकृटानि महीधराणा धारावि धीतायधिक विभाति ।  
महा प्रमाण विपुन प्रपाने मुक्ताकानपरिव नम्बमान ॥४८॥

सटक रही हो और रह रहकर सहसा प्रमजन पवाह में चबल हा उठती हो। इस वणन में मेघ-मानाभा में विहार करने वाली बग-पत्ति की गति भी साक्षात् हो उठी है।

इसी वणनावलि के अंतिम श्लोक में, सुआपली भाई वाली, हरे रग की सारी पहन हुए वर्षाकालीन धरित्री की, जनपद-बधू के रूप में उद्भावना की गई है। नए घास के मदानो पर लाल-लाल बीर बहूटिया मानो उसकी हरी सारी पर, लाग्य के रग से चित्रित, लाल-लाल बुदकिया बताई गई है। यहीं रग की अनुयोजना एवं विशाल परिवर्तना, वणनकौशल द्वारा चिरस्मरणीय बन गई है।

आदिकवि वाल्मीकि के इस आदि महाकाव्य 'रामायण' से उद्धृत, उक्त कतिपय वणना के अनुशीलन से यह प्रकट है कि उनमें प्रकृत निरोधन की सभी उद्भावनाएँ सवथा ब्रह्मूनी हैं तथा उनमें परवर्ती रीतिबद्धता का आभास तक नहीं पाया जाता। कवि, एक बार वर्णित दृश्य की कभी पुनरावृत्ति नहीं करता। उसके वणन चित्र, सरल और स्वाभाविक हैं और 'सप्रयास अलकरण' से सवथा मुक्त हैं। इस दृष्टि से उनका 'रामायण' महाकाव्य सभी परवर्ती प्रतिभाशाली कवियों के लिये, वणनात्मक वृत्त प्रधान रचनाशली के लिये, मुदीघ-बाल तक चिरतर प्रेरणा का उत्स रहा है। साथ ही वह उनका वणनात्मकता के क्षेत्र में मागदशक भी सिद्ध हुआ है।

श्रीमद्वाल्मीकि द्वारा प्रवर्तित, भारतीय काव्य-परम्परा का निर्वाह करने वाले, एक से एक अनुपम प्रतिभा-सम्पन्न महाकवियों ने अपनी-अपनी उच्चस्तरीय शाश्वत साहित्य-सजना में उन्हीं की महज एक कलानुवर्ती वणनात्मकता को अपनाया है। भारतीय काव्य-साहित्य के शरत् प्रसन्न जाकाश मण्डल में अनेकानेक जगमगाती नक्षत्र मालाओं के बीच, कालिदास की यश ज्योत्स्ना ने, माना हमारे जन्मित साहित्य जगत् को जाब्धादित कर दिया है। वाल्मीकि के समान कालिदास की वणनात्मक प्रतिभा भी अपनी निरुपम अभिव्यञ्जना के कारण अविस्मरणीय है।

आचार्य हजाराप्रसाद द्विवेदी ने कालिदास को 'राष्ट्रीय कवि' की उपाधि प्रदान करते हुए उनकी कृतियों को, भारतीय साहित्य-याजना (एस्टेटिक्स) की स्फुरेखा के रूप में, एक अभिनव प्रकाश में आलाकित किया है। कालिदास की रचनाओं के सवध में एक पृथक अध्याय के प्रारम्भ में ही वे लिखते हैं—

कालिदास कब इस देश में उत्पन्न हुए, इस विषय में पश्चिम में मतभेद है। परम्पराक्रम से उन्हें सन ईसवी के पूर्व की प्रथम शताब्दी का कवि माना जाता है। परन्तु आधुनिक विद्वान उक्त गुप्त काल का कवि मानने लग हैं। यद्यपि उनके समय जन्मस्थान कुल-यात्रा आदि के बारे में विद्वानों में बहुत मतभेद है परन्तु बात से किनी का मतभेद नहीं है कि वे हमारे देश के शीघ्रस्थानीय कवियों में हैं। वाल्मीकि और व्यास के बाद, जासेतु हिमाचल, जो कवि, सबसे अधिक सम्मान का भाजन है वह



कालिदास ही है बहुत प्राचीन काल से ही उन्हें 'राष्ट्रीय कवि' की मर्यादा मानी हुई है। सबको बच तक कालिदास ने भारतीय मनीषा को प्रेरणा दी है और आज भी दे रहे हैं।"

कालिदास के कलापूर्ण वणन, मानो किसी कुशल चित्रकार की रम्य एवं सुदुलभ कला प्रदर्शनी के समान हैं। स्वभावतः उनके कलात्मक वणन में, उनके युग का उच्च स्तरीय सस्कार एवं कानुनुराग भी प्रतिबिम्बित है। वाल्मीकि की वाक्यात्मक वणन शैली से कालिदास की वणन-कला की तुलना कुछ सम एवं विषम वणनात्मक तथ्यांशों पर प्रकाश डालती है। रामायण की तुलना उस गहन गम्भीर वन प्रदर्शनी की जा सकती है जो भक्तिभाव एवं आतंक मिश्रित, हृद्य विस्मय उपजाता है। उसके नागरिक भी सरल जटिल, प्रकृति-पुनः है। कालिदास के काव्यों में वाल्मीकि के उक्त गुणों का समावेश भी प्रभूत माना जा रहा है। किन्तु साथ ही साथ उनकी वणन-कला का परिधि में तपावनो से लेकर राजमहला तक के, प्रायः सभी कल्पनीय दृश्यांश एवं वणनो का समावेश भी हो गया है।

कालिदास की वणन प्रतिभा के मूल में आदिकवि जसी ही सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण दृष्टि तो है ही, साथ ही मानव शरीर एवं जाकृति निदान वेप भूषा एवं चेष्टाओं का भी उनमें ज्येष्ठ सूक्ष्म एवं अन्तः वणन मिलता है। पयटन प्रिय हाने के कारण उनके काव्यों में श्रीलका से लेकर कलाश शिखर तक की प्रादेशिक रूपान्ता, छलछला रही है तथा उत्सवप्रिया मानवा सूक्ति के प्रवक्तव्य तो कालिदास हैं ही। अतएव साहित्य में वणनात्मक स्वरूप के अवेषण में कालिदास-काव्य का अनुशीलन तो अनिवार्य ही है।

कालिदास साहित्य विशाल वाग्बल से जाप्यमान है। उनके तीनों महाकाव्यों, तीन विविध वणनात्मक विधाओं के प्रतिनिधि काव्य माने जाते हैं। रघुवश की परिष्कारणा एक विशाल एवं भाव्य महाकाव्य की पृष्ठभूमि पर की गई है। उसकी अवतारणा पावती परमेश्वर की परयात वागधमयी वदना के साथ की गई है। तत्पश्चात् एक कवि शिष्टाचार युक्त प्रस्तावना के बाद उहाने काव्य का प्रारम्भ राजा दिलीप एवं उनकी पत्नी सुलक्षिणा द्वारा पुत्रपिष्टियात्रा द्वारा किया है। राजा दिलीप रथ पर आरूढ़ होकर महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे तो उस जवसर का तपोवन वणन पाठक को वर्चस्व ही माह लेता है। तपोवन वणन तो कालिदास का प्रिय वण्य विषय रहा है तथा वह प्रायः उनके सभी काव्यों एवं नाटकों में पाया जाता है।

रघुवश महाकाव्य के त्रयांश मग में लका विनाय करने के पश्चात् जब श्री राम पुष्पक विमान में अयोध्या को लौट रहे थे तो लका से लेकर अथा या तक के

भाग का वणन, 'गघुवश की एक वणनात्मक विशिष्टता का परिचायक है। सबप्रथम श्रीराम ने सीता को सम्बाधित करते हुए बहू सेतु दिखाया जो उन्होंने लका विजय के लिये, समुद्र में बाधा था —

हू वदेही ! इस फेन से भरे हुए समुद्र का तो दखो जिसे मेरे बनाए हुए पुल ने, मलय पर्वत तक इस भाति दो भागों में बाट दिया है, जैसे कि सुन्दर तारों से भरे हुए शरद ऋतु के खिले हुए आकाश को, आकाश-गंगा दो भागों में बाट देती है।<sup>१</sup>

'देखो ! दूर होने से पहिले की हात (लाहे की पट्टी) के समान बटुत पतला, और टाड तमालादि वृक्षा के कारण नीला दिखाई देने वाला समुद्रतट, ऐसा जान पड़ रहा है जैसे चक्र की धार पर मोर्चा (जग) जम गया हो।'<sup>२</sup>

'यह देखो हम लोग विमानके तीव्र चलने के कारण क्षण भर में ही समुद्र के उम तट पर पहुँच गए जहाँ बालू पर सीपा के फल जान से मानी बिखरे पड़े हैं और फला के मार से सुपागी के पेड़ झुके खड़े हैं।'<sup>३</sup>

इस चिरस्मृत एवं चिररमरणीय वणनावली के श्लोक २, १५, १७ में वणित फेनिल सागर, उसको दो भागों में विभक्त करने वाला रामसेतु तथा तमालताली-वनराजि से श्यामल सागर बट रखा से अर्थात् यह विहगम वणन, अपने में अनुपम बन पड़ा है।

त्रयोदश सग में ही, जिस समय पुष्पक विमान अयोध्या के चरणा में दीख पड़ने वाले गंगा-यमुना के संगम पर होकर उड़ रहा था तो उससे संगम का विहगम दृश्य बसा जान पड़ता था इसका वणन भी अपनी अनेक निजी विशिष्टताओं के कारण बड़ा ही कलापूर्ण बन पड़ा है—

यह काला-नागा वही बड़ का पेड़ है जिसकी तुमने मनीषी मानी थी। इसमें जा लान लाल बड़-भीपलियाँ फनी हैं, उनसे यह पड़ ऐसा लग रहा है जैसे नीलम के ढेर में बहुत से लाल भरे हैं।'<sup>४</sup>

१ वदहि ! पश्यामनयाद्विमक्तं, मत्पेतुनाफेनिलमम्बुराशिम् ।

छायापथर्नव शरत प्रसन्न, आकाशमाविष्टुत चारुतारम् ॥ २ ॥

२ दूरादवशचक्रनिमस्यत-वो, तमालतालीवनराजिनोत्रा ।

आभातिवल्लवधाम्बुराशे, धारानिवद्धवक्त्रकण्ठ्या ॥ १५ ॥

३ अतवय मन्त्रमिन्त्राणि पयस्त मुक्तापत्तम् पयोधे ।

प्राप्तामुत्तरेविमानवगात्, ब्रूल फलावजितपूगमाल ॥ १७ ॥

—कालिदास 'रघुवणम्' त्रयोदश सग ( कालिदास त्रयोदशी ) पृष्ठ १३६-३८ ( स० श्री सीताराम चतुर्वेदी ) ।

४ त्वया पुरस्तात् उपपाचिनोय माय बट श्याम इति प्रनीत ।

रागिमणीनाम् इव गाण्डानाम्, मपन्नराग फलित विमानि ॥५३॥

‘ देखो यमुना की सावली लहरों से मिली हुई, उजली लहरा वाली गंगा कैसी सुंदर लग रही है। कहीं तो यह चमकने वाली इन्द्रनीलमणि या से गुथी हुई माला जैसी लगती है। कहीं नीले और श्वेत कमलों की मिला जुली माला जैसी दिखाई पड़ रही है।’

वहाँ सावले रंग के हसा से मिले हुए उजले रंग के राजहंस की पात के समान यह शामिल हो रही है वहीं श्वेत चांदन से चीती हुई पृथ्वी पर बीच-बीच में काले अणु से वह, चीती हुई सी लग रही है।<sup>१</sup>

कहीं-कहीं यह वृक्ष के नीचे की उस चांदनी के समान लगती है, जिसके बीच-बीच में पत्ता की छाया पड़ी है और कहीं पर वह शरद ऋतु के उन उजले बापतों के समान जान पड़ती है जिनके बीच-बीच में नीला आकाश झलक रहा है।<sup>२</sup>

उपरान्त गंगा-यमुना-संगम का वणन आद्यापान्त विहंगम चित्रानेखन पद्धति<sup>३</sup> द्वारा स्थापित किया गया है। वटवृक्ष (अक्षयवट) की गहरी हरी शोभा के बीच, लाल लाल फलों का मणि या के समान चमकना, यमुना एवं गंगा की सितसित धाराओं को कहीं इन्द्रनील मुक्ताओं के मयाग सा दिखायी देना कहीं श्वेत एवं नीलकमलों का मालाओं के परस्पर उलभन से तुलना करना, तथा कहीं पृथ्वी एवं आकाश दाना के प्रमश श्याम एवं श्वेत वर्णों को चित्रानेख द्वारा व्यंजित किया जाना वणनकला की दृष्टि से अत्यंत विलक्षण एवं अनुपम बन पड़े हैं। विशिष्टतया श्लोक ५/ कलाकाटि की दृष्टि से उत्कृष्ट है क्योंकि उसकी प्रथम पंक्ति में नभोमण्डल को श्वेत श्याम हसा द्वारा तथा भूमंडल को सफेद व न तथा जगर की शलाकाओं द्वारा चित्रित बताया गया है। उक्त कलात्मक वणन की विशिष्टता उसमें निहित कला सदन-वाचन उपयुक्त शब्द भयन में निहित है जिनमें द्वारा उपमित वस्तु-सामग्री माना साक्षात् हा उठी है। पड़ा में से छन कर जान वाली चांदनी और छाया की कड़ा के द्वारा गंगा-यमुना का सितामिन धाराओं को छायालक्षन अथवा सिनहूट प्रणाली द्वारा प्रत्यक्ष करने में कवि ने अपनी वणनात्मक मौनिक प्रतिभा का परिचय दिया है।

जमा नि रघुवश नानवणनात्मक श्रीशामा के प्रमगव प्रारम्भ में ही सबत किया गया है तथा वन-वणना का कानिनाम की समग्र काव्य वृत्तियां में वन महत्त्व रहा है।

- १ वचंचिन् प्रमानेपिभिरिन्नीने मुक्तामपीयटिरिवानुविद्धा ।  
अथत्र माला मिन पकजानाम इतीवर उरचिनात्तरव ॥४४॥
- २ वचंचिन् स्वगानाम् प्रियमानमानाम् कान्त्वगसगवतीवपक्ति ।  
अथत्र कालागस्तपत्रा, मक्तिभुवश्चत्तनर्हि पतव ॥४५॥
- ३ वचंचित्प्रभा चाद्रममीतय मि छाया विलीन शक्तीवृतेव ।  
अथत्रगुध्रा शरदधनेत्वा रघ्रापिवालयमम प्रशा ॥४६॥

—कानिनाम— रघुवणम् यथादश सग (कानिनाम प्रयावती)

हमारे अपने युग के विश्व-कवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 'तपोवन' नामक अपने निबंध में 'रघुवश' काव्य पर एक विहंगम पद्यवेक्षण किया है जो मूल में ही आद्योपान पठनीय है—

रघुवश का प्रारम्भ है सयम और तपस्या में और उसका उपसंहार है जामाद-प्रमाद में सुगगान और भोग में । इस अन्तिम सग में जो चित्र है उसमें काफी चमक-दमक है, लेकिन जो जगिन, नगर को जला कर सबनाश पाती है, वह भी कम उज्ज्वल नहीं है । एक पत्नी के साथ दिल्लीपका तपोवन निवास, सौम्य और हल्के रंगों से चित्रित है । ('रघुवश के उपसंहार में) अनेक नायिकाओं के साथ अग्निवण का, आत्मविनाश में प्रवृत्त जीवन अत्यन्त स्पष्ट रूप से, विविध रंगों से और ज्वलन्त रंगाओं से चित्रित किया गया है ।

"प्रभात शान्तिपूण होता है—पिंगल जटाधारी ऋषि—बालका की तरह पवित्र होता है । भोती की तरह स्वच्छ सौम्य आलाक लेकर, वह शिशिर स्निग्धा पृथ्वी पर, धीरे धीरे उतरता है और नवजीवन की अभ्युदय-वार्ता से, वसुधा को उद्वोधित करता है । उसी तरह कवि के काव्य में, तपस्या द्वारा स्थापित राजमाहात्म्य ने स्निग्ध, तज और सयत वाणी से, महान रघुवश के उदय की सूचना दी ।

'विचित्र वर्णों के मधुजाल से आविष्ट सध्या अपनी जद्भुत रश्मियां से पश्चिमी आकाश का क्षण भर के लिये ज्योतिमय बना देती है लेकिन दखते ही अग्नि, विनाश का दूत आकर, उसकी सारी महिमा का अपहरण करता है और अन्त में शब्दहीन कमहान अभेतन अधकार में सब कुछ विलान हो जाता है । उसी तरह काव्य के अन्तिम सग में भाग विचित्र के भीषण समाराह में, रघुवश का नक्षत्र ज्योतिहीन हो जाता है ।'

वालिनगम कृत दूसरा महाकाव्य कुमार-सम्भवम् हिमालय-वणन में ही प्रारम्भ होता है । हिमानय शान्ता का ऐसा मध्य चित्रण अथवा कोई भी कवि अद्यावधि नहीं कर पाया । वणन में हिमालय का गुग्गामीय एवं अलौकिक प्राकृतिक मौदय माना वणन प्रतिभा द्वारा मदक के लिए शब्दबद्ध हो गया है—

भारत की उत्तर दिशा में, देवनागा के समान ब्रह्मीय हिमालय नामक पर्वत का राजा है । पूव और पश्चिम के समुद्रों तक फला हुआ, वह ऐसा लगता है, माना वह पृथ्वी का नाभ का मानदण्ड हो ।'

'हिमालय का कुछ चान्दियां पर गरुड जाति धातुओं की अनेक रंग विरगी घट्टानें हैं । इमलिय कभी-कभी उन घट्टानों के पाग पक्षों हुए बादलों के टुकड़े उनके रण के क्षया पन्न से सध्या के बादलों जन्म रंग-विरणों दिशाई पडन लगन हैं ।'

१ 'प्राचीन काव्य' (श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर) 'तपोवन' नामक निबंध ।

२ 'रघुवश' नामक कवि, हिमालयानाम नगाधिराज ।

पूर्वापरौतायनिधावगाह्य, म्यिन पृथिव्या द्वय मानदण्ड ॥ १ ॥

—'कुमार सम्भवम्' [श्लोक १ तथा २] वालिनगम प्रथम सग पृष्ठ २०३

“जब चमरी मृग अपनी चन्द्रमा की बिरणी व समान धीला पूँछा का, इधर उधर घुमाते हुए चलने में तब ऐसा प्रतीत होता है मानो व इस पवतराज पर चक्कर डुला कर उसका ‘गिरिराज’ नाम सावक कर रहे हो।”

भागीरथी व भरता की पुहारों से उदा हुआ बार-बार दृक्कृत वृक्षा को केंपाने वाला जीर किराता की कमर में बंधे हुए मारफला का परफरान वाला, यहाँ का शीतल में द मुग्ध-शवक उन किराता की शक्ति मिटाता चलता है जो मृगों का राज, हिमालय पर इधर उधर घूमते रहते हैं।

इसकी ऊँचा चाटिया पर की भीला में विलन वाले कमला को स्वयं सप्तपि गण पूजा के लिये अपने सप्तपि मण्डल से जाकर ताड़ ल जाया करत है। उनके चुनन से जो कमल बच रहेते हैं उन्हें नीचे उदय हान वाला मूय अपनी किरणें ऊँचा करके खिलाया करता है।<sup>१</sup>

हिमालय की उक्त चित्रावली में एक से एक अनूठा छविर्वा अंकित का गइ है। श्लोक ४ में विविध धातुओं से मण्डित पवत शिखरा एवं मघा के सयाग से समय से पूर्व ही, सध्याराग का उद्भावना कवि की वणरजनप्रियता को सूचन करती है। श्लोक १३ तथा १५ में हिमालय प्रदेश की प्रादेशिक विशिष्टताओं को चमरीमृग की पूछा तथा किराता द्वारा पढ़ने गए मयूर पखा आदि चित्र विचित्र पदार्थों के उल्लेख द्वारा रग बिरगी छवि में वर्णित किया गया है। १६ वें श्लोक में सप्तपि मण्डल एवं मूय आदि ग्रह ताराओं के प्रसंग से हिमालय के शिखरा की एकान्त उत्सुग पवित्रता की उदात्त परिकल्पना का गइ है।

पचम सग में जगत कवि ने पावती की तपस्या के प्रसंग को लेकर एक से एक अनूठी छत्र-वर्णना का है जो अपना स्वाभाविकता एवं कलायुक्ता दोनों ही के कारण—श्लोक ८ से लेकर श्लोक २६ तक—मूल में ही पठनाय है। इन श्लोकों में, पावता के तापसे बप एवं तपसे अजित दिव्य सौन्दर्य तथा उसका सूक्ष्म किंतु कमनीय शरीर्यष्टि पर, बड़ी ही चिरस्मरणाय उद्भावनाए का गइ है। य कवि का वणनात्मक प्रतिभा के रूपयष्टि चित्रण-मनु कलापक्ष पर प्रकाश डालती है। इस समग्र दृश्यावली एवं चित्रावली का चरमस्थान वषा की अँदरी रात्रि का भयापादक एवं भाव-गभीर प्रयक्षीकरण है—

जिन दिना घनघार वर्षा के साथ रात रात भर गधिया चला करती थी उन दिना भी व (पावती) खुल मगन में पत्थर की पटिया पर ही पड़ी रहा

१ 'कुमारसम्भवम्' कानिदास प्रथम सग श्लोक १३ १५ १६ (कालिदास चित्रावली प्रथम खण्ड पृष्ठ २०३ २०५)।

रती थी। वे अंधेरी रातों, अपनी विजली की आँखें खोल खोलकर, उन्हें इस प्रकार नहारा करती थी, मानो वे उनके कठोर तप की साक्षी हों।<sup>१</sup>

उपरोक्त वणन में पावती की कठोर तपस्या का चित्र खींचा गया है। तपस्या रत पावती भीषणतम शीत से भी, तनिक भी विचलित नहीं हती। विजयिणी का आँखें खोल-खोलकर देखने का उल्लेख भी सोद्देश्य है। कवि उस समय के घोर एकाकीपन को चित्रित करना चाहता है। इस प्रकार कालिदास ने 'कुमार-सम्भवम्' में एक से एक अनाखी कलात्मक चित्रपटियाँ आलेखित की हैं।

'मेघदूत', कवि का, गय पदावली से युक्त, वषा-काव्य है जो 'पूर्वमघ' एवं 'उत्तर मघ' दो भागों में विभक्त है। शाप द्वारा विरहित यश, आपाढ़ व प्रथम मघ से अनुरोध करता है कि वह उसका सदेश हिमालय में स्थित अलकापुरी में रतन वाली यक्षिणी के पास ले जाए। इस बहाने से, रामगिरि से लेकर, ध्रुव उत्तर तट के भारत की, प्राकृतिक शान्ति की, एक से एक अनुपम चित्रपटियाँ, प्रस्तुत की गई हैं। समस्त मेघ-सदश-काव्य ही, दृश्यावली चित्रावन का, माना सागापाय सग्रह है। 'पूर्व मघ' में मालव-क्षेत्र का एक 'उत्तर मघ' में अलकापुरी की यक्षिणी-काव्याज्ञा का प्रसाधन प्रणाली एवं वषभूषा का, बड़ा ही अनुपमेय चित्रण किया गया है —

'दखा ह मघ ! फल का होना या न होना, यह सब तुम्हारा ही मराम है, यह जान कर, व सरल जनपद-वधुएँ, जो नागरिक व्यवहार एवं कृत्रिमता से अज्ञान हैं, तुम्हें बड़े प्रेम और आदर भरे नेत्रों से, माना पी लेना चाहेंगी। वनी तुम मन्त्र के उन खेतों पर वरमत हुए जाना जिनसे कि अनाज ज्ञान के अन्न, मानो साधो सुगन्ध, निकल रहेगा।'<sup>२</sup>

यह चित्रपटो भारतीय कृषक ग्रामीण-समृद्धि का माना प्रतीकान्त कला-चित्रण है। आपाढ़ की प्रथम वषा व प्रति उत्सवमया वृत्ति, मघ माताका, अनाजना जाते हुए खेतों जादि प्रतीका व द्वारा एक विशाल दृश्यावन, कानामक मूल्य व

१ शिलाशयाम ताम अनिक्त-वासिनीम् निरलगा मन्त्रवाञ्छित्यु ।  
व्यलोकयन्, उमिपित तडिमयो, महानप माग्ना-व्यिना मरा ॥२५॥  
—'कुमार सम्भवम्', कालिदास, पंचम मघ, प्रथम मघ, कृष्ट २३८  
(कालिदास ग्रन्थावली) ।

२ 'त्वय्यात्तद्वृषिफलमिति, भ्रूविलासानमिन, प्रीतिस्निग्ध जनपदवधु लौचन पीयमान ।  
सद्य सारात्कपणसुरमि धानमारुह्यमालम्,  
किञ्चित् पश्चात् भ्रज, लघुगति भूय एवोत्तम् ॥३६॥

—'मेघदूत', कालिदास, 'पूर्व मघ', पृ० ३८६

सह्याग म त्रिनन महज-स्वामाविक रूप म प्रस्तुत की गई है। उत्तर भघ के प्रारम्भ म अलनापुरा की वनानुरागिनी ससृति का रग बिरगा चित्रग भी ल्गनीय है—

देखो वहा की कुलवधुएँ हाथा म कमल के आभूषण पहनती हैं, अपनी चाटिया म नए ग्विले टूट कुट के पल गूथती हैं अपने मुखा का लाध्र के पला क पराग मल कर शुभ्रता प्रान्न करती हैं अपने जूडे म नए कुखक के पल खामती हैं अपने काना पर मिरस क पल धारण करती हैं और वपा म एन उठन वाने कदम्ब के पला स अपनी माग सवारा करती है।<sup>1</sup>

मघदूत के उक्त वणना द्वारा भारत भूमि की चित्र विचित्र नसर्गिक शाभा का मनारम चित्रण तो सम्पन्न हुआ ही है किन्तु साथ ही उनसे काव्य की निर्मिति म भी पर्याप्त याग मिल पाया है। पूर्वमेघ म वर्पा-काव्य की त्रिविध विशिष्टताआ का समावेश वणना के माध्यम द्वारा बड़े महज रूप म किया गया है। इसक भी दो अंश है। प्रथम जापाठ के जागमन पर मेघा के उमडने से जा अभूतपूर्व समा बँध जाता है उसे रामगिरि के शिखर पर मघ द्वारा वपु श्रीडा वणन-माला द्वारा, साकार किया गया है। तत्पश्चात दक्षिण भारत से लेकर हिमालय क शिखरा तक की भारत दशन की अनुपम भाकिया दिखाई गई हैं जा अनक होत हुए भी एक शृम्बला म—मघपथ के द्वारा—सजा दी गई है।

उत्तर मघ म कवि ने वणना द्वारा हिमालय की एकान्त उपत्यकाआ म फलने पलने वाल (जलकापुरी क) पावत्य जनजीवन का समग्र चित्रण प्रस्तुत किया गया है जा कलात्मिक होता हुआ भी वहा की सामाजिक एव प्राणशिक विशिष्टताआ को भी दर्शाता चलता है। इस भाति मेघदूत काव्य म कवि न वणन प्रणालिया के विविध एव सफल प्रयाग किय है।

साहित्यगत वणनात्मकता की गरिमा का मूक्तस्वरूप प्रान्न करने वाले भार तीय वाडमय के उक्त विभूतिद्वय-आदिकवि महर्षि वाल्मीकि तथा राष्ट्रकवि कवि कुलगुरु कालिदास का महाकाव्य-गत श्री एव चारता की परिचायिका, कतिपय जति विशिष्ट, अविनश्वर, चिरम्मरणीय चित्रपटिया का यहा उल्लेख करन का अभिप्राय यही है कि जिससे इस ल्ग की जाड एव सर्वात्कृष्ट साहित्य तिधि म वणनात्मकता की सतत परि-याप्ति का समुचित अनुमान किया जा सक।

१ हस्त लीलाकमलमलकबाल कुदानुविद्ध नीतालाध्रप्रसवरजसा पाण्डुता माननथी।

पूटा-याग नवकुबक—चाग्वर्ण शिरीष,  
सीमते च त्वदुपगमजम् यत्र नीपम बधूनाम ॥२॥

—मेघदूत' कालिदास (कालिदास-ग्रथावली) खण्ड १ उत्तर मेघ, पृष्ठ ३५६

कविकुलगुरु कालिदास क नाम क माघ बहुभुत शक्ति द्वारा घनिष्ठ रूप से सहस्रमृत महाकवि माघ, ससृजत के वणन-ममृद्ध काव्य साहित्य म, अविस्मरणीय एव अनूठे वणना क घनी हान क नाते, श्यातनामा रहे है ।<sup>१</sup> बहुधा ससृजत महाकाव्या क रसिक कालिदास भाग्वि एव माघ, सरस्वती के इन तीना वरद पुत्रा का सहस्रमृत करते रहे हैं । किन्तु जहाँ तक वणना की अद्वितीय मूक मूक तथा गुम्भ काव्य-वल्पना के वाकवशिष्टय का प्रश्न है यदि कभी कालिदास के नाम के पश्चात् गणना करने वाले का अगुष्ठाग्र सहमा अनामिका' की सीमा का उल्लंघन करके, किसी दूसरे नाम पर जा पडता है, तो वह नाम है, विलक्षण वणना प्रतिभा के घनी, महाकवि माघ का ।

माघ का समय इसकी सातवी शती का अन्तिम चरण अथवा आठवी शती का प्रथम चरण माना गया है । यदि कालिदास गुप्त युग में भी हुए हा तो भी माघ उनसे, लगभग ढाई सौ वर्ष पश्चात् हुए थ । इस बीच म ससृजत काव्या म रीतिवद्ध वणना की परम्परा चल पडी थी । यद्यपि शिशुपाल-वध म भी महाकाव्या म निर्देशित सभी वणना का समावेश पाया जाता है फिर भी अन्व ' एमे उत्कृष्ट वणनात्मक प्रसंग मिलते हैं जिनसे कि माघ के काव्य म उत्त गुणप्रयी की छटा, अपने सम्पूर्ण वभव के साथ प्रस्फुटित हुई है । वस तो समस्त 'शिशुपाल-वध' महाकाव्य, वणना से ओत प्राप्त है, किन्तु तुताय सगगत, द्वारिकापुरी तथा समुद्र-वणन, चतुय सगगत, रवतक-भवत का वणन, नवम् सगगत, गूर्धारित सध्या, अ घकार तथा चन्द्रादय के वणन, एकादश सग गत, प्रभात-वणन, एव द्वादश सगगत यमुना वणन क प्रसंग वणनात्मक कला के श्रेष्ठ उदाहरणा म गणनीय है ।

माघ, प्रकृति की रम विरगी छटा का चित्रित करन क अनुरागी थे और शान्त क माध्यम द्वारा, रगा की प्रेवणीयता म, उहोन विलक्षण पटुता प्राप्त की थी (जा हमार अधुनातम छायावाणी प्रकृति चित्रण की भी एक प्रमुख विशिष्टता रही है ।) उदाहरणाय, श्रय के प्रारम्भिक भाग के, तीसर सग म, काव्य क प्रधान नायक श्रीकृष्ण की राजधानी द्वारिकापुरी की समृद्धि, उसकी कलात्मक भवन निर्माणकला तथा अनुपम द्वीपोपम सागरादत्त चट्टाना पर स्थित, नगर शाना क वणन, साहित्य के अन्व कलात्मक पक्षी पर प्रकाश डालने है । उदाहरणाय, काचनवर्णी अधवा स्वण निर्मित द्वारिकापुरी के उदधिजल म प्रतिबिम्बित हाने की छवि क वणन का ही से लें —

समुद्र क मय मे दिशाओ का पिगल-वणा बनाती हुई हमप्रभा क समान,  
स्वर्णिम प्रकाश का विकीर्ण करती हुई (द्वारिकापुरी की) प्रतिच्छवि, तुरगवाता अर्थात्

१ उपमा कालिदासस्य, भारतव जयगौरवम ।

दण्डिन पदलालित्यम माघे सन्ति प्रयागुणा ॥



बाडवाम्नि की ज्याति माला के मुग्ध म, हृष्य-ज्वाला सी डालनी हुई, समुद्र व जन का उल्लसित कर रही थी ।<sup>१</sup>

द्वारिकापुरी का यह सविवरण एवं विलक्षण वणन, तृतीय सग व तीस श्लोक में चित्रित है तथा वे सभी एक स बद्ध कर एवं अपनी मौलिक चित्र विचित्रता में अनूठे हैं यथा —

‘द्वारिकापुरी का चक्रवत् धरे हुए उत्तुम प्राचीर (परधाटे) का देख कर, जिन पर कि जहर्निश चञ्चल सागर की लहरें उछल उछल कर उज्वल शश-समूहा की वर्षा करती रहती हैं—उस देवगिरि सुमेरु-पर्वत व स्वर्ण शृंगा का आगम मिलता है जिनके चारो जोर नक्षत्र मंडल (उडचक्र) विकीर्ण हाता हुआ सा, जानपडता है ।’

द्वारिकापुरी जपन रत्ना के व्यापार के कारण देश विदेशा म प्रख्यात् थी । द्वारिका की रत्न हाट म रत्ना के ढेर व ढेर लग रहते थे । कवि ने समुद्र की लहरा व तल स रग विरगी छवि स चमकते हुए सृम के प्रकाश स जगमग रत्नो का, आलंकारिक ढंग स अनूठा वणन किया है —

द्वारिकापुरी के रत्नहाट म अगति वान्ति वात रत्ना व ढेरा पर सुन्वती चली आती हुई सागर की चञ्चल लहरा की सगति, धुति विचित्र छटा उत्पन्न करती है । वे लहरें लौटती हुई अपने साथ कुछ रत्ना का भी बहा ले जाती हैं । इस भाँति द्वारिका की रत्न-हाट स चुरा चुरा कर रत्नो की राशि-सग्रह करके, सागर ने रत्ना करता प्राप्त करली ।<sup>१</sup>

तृतीय सग के श्लोक ७० स लेकर अंत (श्लोक ८२) तक समुद्रतट का वणन, बड़ी ही अनुपम शली म हुआ है । श्रीकृष्ण जपन सयदल व साथ जब समुद्रतट के सहार-सहारे रवतक पर्वत की जार जाग बढ रह थे तो इस प्रसंग म आए हुए समुद्र तट पर लहलहात हुए ताज केतकी इलायची, लाग नारियल तथा सुपारी व सता द्रुमा स परिपूण वना की शाभा के वणन (७६ स ८१ श्लोक) विशेष आकर्षक बन पडे है ।

बसे ता माघ का यह समस्त महाकाय वणन प्रधान शैली म ही रचा गया है किन्तु चतुथ सग म रवतक पर्वत का सुदीघ वणन नसर्गिक शोभा विचित्र म

१ मध्य समुद्र कतुभ पिशाची या कुवती काचनवत्प्रभासा ।  
सुरगवातामुष्ण हयवाह ज्वातव मित्वा जलमुल्ललास ॥३३॥

२ ‘यस्या इक्षलद्वारिधिवारिकाचि, छत्राच्छलच्छ यक्रानुलन ।  
वप्रेण पयन्तचरोडुचन सुमरुवप्रावयमयकारि ॥३७॥

३ वणिकपथ पूगटतानि यत्र भमाग्ने अम्बुमिरम्बुराणि ।  
लाले अलालश्रुतिमाजिमुष्णन रत्नानि रत्नानरताम् अवाप ॥३८॥

— शिशुपालवधम्’ (महाकवि माघ) सग ३ पृष्ठ १३४ १२७  
[विद्याभवन संस्कृत ग्रथमाला ८, चौखम्बा विद्याभवन बनारस-१ (१६५५)]

वाल्मीकि एक कालिदास व प्रकृति वणन से भी हाड लगाने मे समथ ह । यह वणन नयनग सम्पूर्ण चतुथ सग म होकर फला हुआ है जोर इसी म महाकवि माघ न अपनी प्रख्यात् रमणीयता की परिभाषा भी दी है, जो मूल रूप म ही पठनीय एव मननीय है —

‘श्रीवृष्ण उस अनुपम नसर्गिक शोभा स सम्पन्न रवतक पवत की शोभा को बारम्बार निहारने पर भी सन्तुष्ट नहीं होते थे क्यार्कि प्रत्येक क्षण म उसकी छवि बुद्ध और ही दिखाई पडती थी । सच है जो प्रतिक्षण नवता को प्राप्त करता है, वही रमणीयता का वास्तविक रूप है ।’

उक्त श्लोक मे माघ न ‘अपूर्ववत विस्मय’ फलाने वाले रवतक का शोभा बताते हुए यह कहना चाहा है कि चाहे किसी लालित्यमय रमणीय पदार्थ को हम पहले देख भी चुके हा फिर भी उसके हर बार देखने पर एसा जान पडता है, माना हम उस पहली बार ही देख रू हाने । क्षण-क्षण म नई शोभा धारण करने वाले रमणायता-तत्व की, यही मूलभूत विशेषता है ।

रवतक पवतमाला पश्चिमी समुद्र-तट के महारे-सहारे पली हुई है और जब कि उसके पूव दिशा म उदय हान वाले वालसूय की स्वर्णिम छटा, उसके वाम पक्ष का, मुनहरी कान्ति स रजिा कर रही है तथा उसके दक्षिण पक्ष को, समुद्र के जल म डूबता हुआ चन्द्रमा, अपना स्पहरी किरणो से रग रहा हा तब उस देख कर कवि का एक एस महावाय गजराज का शोभा का आभाम मिला, जिनके कण्ठ म एक भार मुनहरी डोरी म स्वण घण्टा लटक रहा हो और दूसरी जोर स्पहली डोरी म रौप्य घण्टा लटक रहा हा । चन्द्र जोर सूय की त्रमश स्पहरी एक मुनहली किरणा की घण्टा म बंधी हुई स्पहली और मुनहरी डोरियो से तुलना की गई है । यहा पर कवि की महकल्पना की उडान चिरम्भरणीय है ।’

रवतक पवत पर सध्या-वणन का दृश्य भी बडी ही कलात्मक शली म चित्रित किया गया है । इसम रवतक पवत की तलहरी के, सागर के जल म डूबत हुए सुथ की मुनहरी किरणा से, एक प्रकार के चम्कीले मुनहर रक्तिम रग म रगे जान, तथा उसके शिखरा व, नीपवान्त-मणि से निर्मित मेघा द्वारा धारण की हुई विद्युल्लता का, इनकी मुनहरी कान्ति स रग जाने का अपूर्व दृश्य चित्रित किया गया है । सागर व तट पर ता प्राय नित्य ही, सध्या के समय, समुद्र से उठ कर वाप्ला के

१ दृष्टार्जि शल स मुहुमुरार, अपूर्ववत् विस्मयमाततान ।

क्षण-क्षणे यन नवनाम उपति तत्त्वे रूपम रमणीयताया ॥२७॥

२ उन्त्यति वितताध्न रश्मिरजाव हिमरजौ, हिमधाम्नि याति चास्तम् ।

वहति गिरिरयम् विलम्बिघण्टाद्वय परिवारित वारणाद्र लीलाम् ॥२०॥

दुकड़े तटवर्ती पहाडिया क शिखरा पर आ बठन हैं । तिनु कवि की उद्भावना यह है कि चातक की आत्त पुकार मुन बर मध धिर जाए । इसीलिय नसर्गिक एव सहज रूप मे प्रकृति चित्रण करने म महाकवि माघ न एक से एक अनूठी युक्तिया अपनाई है ।<sup>१</sup>

यहाँ महाकवि माघ न केवल एक आर विशिष्ट रजन-बला विषयक वणन का दख कर यह प्रसंग यही छोडना हागा । माघ रजन-बला (बलर पेंटिंग) के भी पठित जान पडत है क्यानि उनक द्वारा वर्णों का उपयुक्त चुनाव, स्वय अपन म, एक कौशल विरोप है ।

पहाडा पर पीन क पानी की बमी क कारण जहा-नहाँ तालाब और बावडियाँ बना गी जाती हैं । माघ लिखत है कि खतक पवत पर स्थिन य वापी मोनियो जस चमक वाले (मुक्तागौर वण के) निमल जल म आपूयमान हैं जो इन्द्रनील मणि क टुकडा के शिलापटटा स चारा जोर स बधी हुई है ।

ऐसी बावडियाँ इन्द्रनील मघा स बरसन वाली मुक्तामणिया क समान, बपा क जल स भरी जाती रहती है । उन वापिया का जल मोनिया क समान शुध्र हात हुए भी दूध के समान श्वेत वण और उनके इन्द्रनीलमणि क बन नीले घाटा क शस्त्री श्याम वण (चमकने वाले लाह की कान्ति) न मानो उहे, नील के रग से रग दिया है (अर्थात माना किसी ने उनम नील धोल दिया हो) । कवि का अग्निप्राय एक ऐसे शुध्र श्वत कान्ति वाले चित्रफलक (केनवम) स है जिसक चारो ओर असिश्याम आभा वाला चौमटा जडा हुआ है ।<sup>१</sup>

शिशुपालवध महाकाय के नवम् मग म सूयास्न निवण सध्या, तथा धनीभूत जघकार के तीनो वणना म, साध्यकालान जाकाश क एक क वाए एक बदलने वाले तीन रुपा का चित्रण बडा ही सूक्ष्म वण रजन-बला के साथ किया गया है ।

सागर क जल म जाधे डूब हुए सूर्यबिम्ब की जब कवि न उस हिरण्मय ब्रह्माड स तुलना की त्रिमको विधाता न सृष्टि क प्रारम्भ म द्विधा विन्ण किया था और इस भाति इम चराचर सृष्टि का प्रवतन किया था (मनुस्मृति अध्याय १/८/१६) ता इसक लिय उसन निम्न शब्दा म विलक्षण वणनयुक्त उद्भावना की है —

१ स्थगय यम् शमित चातक जातस्वरा  
जलदा तटित्तुलितकान्त कात्तस्वरा ।  
जगतारिह स्फुरित चारु चामाकरा  
सविनु क्वचित्त कपिशयन्ति चामीकरा ॥२४॥

२ मुक्तम मुक्तागौरम् इह क्षामिवाध्र वापीषु जन्तर्लीन महानील जलासु ।  
शस्त्रीश्याम अशुभिराशु द्रुतमम्म छायामच्छामृच्छति नीलीसलिलस्य ॥४४॥

'सुरत विधनाए हुए सुवर्ण में भरे हुए कुम्भ के समान, सागर जल में आधा हुआ हुआ सूर्य, ऐसी शोभा को प्राप्त हो रहा था, माना, विजाता ने अपने नखों से ब्रह्मांड को अमी-अमी दो भागों में विभाजित कर दिया है।'

ऐसा सूर्यास्त का दृश्य केवल पश्चिम समुद्र में ही देखा जा सकता है जिसमें जलमग्न अधबिम्ब से सागर का जन, पिघले हुए स्वर्ण जमा, भिन्नमिलाने लगता है तथा ऊपर के अधबिम्ब से सारा सायं निर्गत, स्वर्ण-लाजिमा से रजित हो उठता है।

कवि ने निवर्णा सध्या का वणन जिस प्रकार किया है वसा समस्त काव्य साहित्य में अलभ्य है। वणहीनता भी एक गुण है, यह कह कर कवि ने आकाश की निवर्णता एवं निस्तब्धता को, बड़ी ही सूक्ष्म व्यञ्जना द्वारा परिलक्षित किया है। चित्र कला का कुशल पंडित ही, माघ की निम्न सूक्ष्म उद्भावना के रहस्य को समझ सकता है—

जिमम तारिकाएँ अद्यत्त (अदृश्य) हैं चन्द्रबिम्ब भी जमी आकाश से ओझल है, मूय अस्तगत हा चुका है, दिन का सतार शा त हा चला है और अमी अधकार भी नहीं उतर पाया है, ऐसा अवसन्न जतमिस (सुरमई धुधलका) नितान्तगुणहीन होना भी एक गुण विशेष होता है और नितान्त वणहीनता भी एक वणता विशेष हाती है। (चित्रकला का ममन ही माघ की इस सूक्ष्म उक्ति के रहस्य को भली भाँति समझ सकता है।)

रवनक पवत की नैसर्गिक शोभा के अनूठे वणना के प्रसंग द्वारा, माघ ने अपने महाकाव्य में एक ओर बसतोत्मक के उत्साह तथा श्रोतृत्वन एवं उनके सय द्वारा बन विहार जादि प्रसंगों का समावेश किया तथा दूसरी ओर उहोने, प्रकृति सौंदर्य के उदात्त एवं नालित्यपूर्ण वणना द्वारा अपने पाठकों का उत्कृष्ट कायानंद भी प्रदान किया है।

महाकवि माघ के उक्त वणन शोभा-सम्बन्धित काव्यांशों पर, एक विह्वल दृष्टि डालने पर पात होता है कि उनका मुख्य अभिप्राय, महाकाव्य में आए हुए प्रमुख कथा प्रसंगों को उनकी स्वाभाविक एवं सद्गृह्य पृष्ठभूमि प्रदान करना रहा है। महाकाव्य के प्रारम्भ में आए हुए काव्य की प्रमुख केन्द्रीय राजधानी द्वारिकापुरी के मनोहारी एवं सुदीर्घ वणना का ही लक्ष्य है। इन वणना से समग्र काव्यगत रचि-रचिष्टय पर प्रकाश पड़ता है। सुराज्य एवं स्वराज्य में सुयोग्य एवं प्रतापी अधिपति के अधीन,

१ द्रुतशानकुम्भनिभम् अनुमती वपु जधमग्नवपुशा पयसि ।

एतच्च विरचिनत्वमिन्द्र वृहत् जगदण्डककतरखण्डमिव ॥६॥

२ अविभाष्य तारकम् अदृष्ट टिमद्युनि विम्बम् अस्नमितमानु नम ।

अवसन्नतपिमतम् अतमिस्रमाभाद् अपनीयतव विगुणेश्य गुण ॥१२॥

—'विश्वपालवध' (महाकवि माघ) नवम् सर्ग ।

नागरिक जीवन के मुग्य समृद्धि मुग्धि, एव साहित्य जादि सभी पक्षा पर प्रकाश डाला गया है। श्रीवृष्ण जैसे सुयोग्य शासक के काल में यह सहज एव स्वभाविक ही था।

संस्कृत महाकवित्रयी वाली उक्त सुप्रचलित सूक्ति में मयाग से महाकवि भारवि का नाम कविबुलगुरु कालिदास के ठीक पश्चात् तथा महाकवि माघ से ठीक पहले आया है। इस मयाग द्वारा यह अनुश्रुति पर्याप्त काल तक प्रचलित रही कि समवतया महाकवि भारवि का समय कालिदास एव माघ के बीच एक काली की भाँति अवस्थित है। इस अनुमान से 'विराताजुनीय' महाकाव्य के यशस्वी प्रणता महाकवि भारवि छठी शती ई० के कवि माने जाने लग। हरमन जकोबी नामक पाश्चात्य प्राच्यविद् ने भी जान पड़ता है कि उक्त सूक्ति में आए हुए कवित्रयी श्रम का ही स्वीकार कर लिया और इस भाँति तत्वानीन प्रचलित मतानुगति (यूरापियन् वाक्यम् प्रमाणम्) के अनुसार जनक भारतीय विद्वानों ने भी महाकवि भारवि का छठी शती ई० का ही कवि मान लिया।

वस्तुतः महाकवि भारवि का महाकाव्य 'विराताजुनीयम्' महाकवि माघ के पश्चात् की काव्यवृत्ति ही है। यह तथ्य काव्य की शलीगत रीतिबद्ध प्रवृत्ति एव काव्यलक्षणा से अनुशासित वणना पद्धति द्वारा प्रकट है। 'विराताजुनीय' एक उत्कृष्ट कोटि का वीररस प्रधान महाकाव्य था है ही साथ ही महानायगत वणनात्मकता की दृष्टि से भी उसकी गरिमा उपेक्षणीय नहीं है।

'विराताजुनीय' का कथानक महाभारत के अन्तगत आए हुए पाण्डवों के वनवास से सम्बन्धित एक सुप्रसिद्ध आख्यान पर आधारित है जिसमें कि यह बताया गया है कि अजुन विद्यास्त्र की प्राप्ति के लिए हिमालय में तपस्या करने जाते हैं। वहाँ शिव उनका विरातवेप में परीक्षा देने है और अंत में उनकी धनुर्विद्या पटुता से प्रसन्न होकर, उन्हें विद्यास्त्र प्रदान करत है। वणनात्मकता की दृष्टि से कुछ विवेक प्रसंग अधिक स्मरणीय—यथा चतुर्थ सग के अन्तगत शरदो शोभा एव ग्रामशोभा का चित्रण तथा पंचम सग में हिमालय की नसर्गिक छटा का चित्रण मय चित्रण। कुछ वणनात्मक कवि ने वणनात्मक शली के अभिनव प्रयोग भी किए हैं जब कि अनेक स्थानों पर उनमें वणनात्मक परंपरागत रीति को ही अपनाया गया है। महाकवि भारवि की वणनात्मक शली की, नवीनता एव मौनिकता के परिचायक कुछ स्मरणीय वणनों का ही यहाँ उल्लेख किया जा रहा है।

'विराताजुनीय' महाकाव्य के चतुर्थ सग में वर्णित शरद ऋतु में ग्राम शोभा के कुछ अविस्मरणीय वणन अपनी शली एव वस्तु दोनों ही की दृष्टि से अनूठे हैं—

गाव की सीमा के समीप के कुछ भूषण्ड शक हुए धानों की बाला से मनोहर जान पड़ते थे। नीचड का कटी नामानिधान तक नहीं रू गया था। कहीं-कहीं अभी

तब वर्षाकालीन जल से भरी हुई बुद्ध तलया दीख पड़ती थी। वे कमला के दला से ढकी हुई जान पड़ती थी। शारदी शोमालक्ष्मी के दशन करके पाथ का मन प्रसन्न हो गया।<sup>१</sup>

‘श्रम क्रम से जिमरा बटिदेश क्षीण होता जा रहा था, जो बेगरहित जल से निर्मित तरंगलेलाभा से अंकित थी, लहरानी हुई रेशमी सारी की तरंगों से जिसका प्रवाह शुभ्र एवं किञ्चित् चंचल था, ऐसी शरत्कालीन समुद्र-योपिता (नदी) के मृदु बालुकामय तट-देश पर पहुँच कर, अर्जुन का चित्त बड़ा प्रफुल्लित हुआ।’<sup>२</sup>

महाकवि भारवि की चमत्कारी लेखनी से चित्रित ये दोनों ही वणन शारदी शोभा की शब्द चित्र शाली की दो वणन चित्रपटियाँ हैं। कविकुलगुरु कालिदास के पश्चात् भारवि ही सम्भवतया पहले संस्कृत महाकवि हैं, जिन्होंने जनपदवधुआ की श्रमविदुआ से रजिन श्रीशोभा का भी रूपवणन किया है —

‘अहीर टोला में मयनदण्डा (रई अथवा मयानी) के सवेग घूमने से, वे दधिवुभ (दही के भर हुए मटके) मृदग जसी मयन ध्वनि में गूँज रहे थे। उनकी गभीर मधुर ध्वनि का सुनकर मयूरियाँ उमात् मयूमन और नाचने में प्रवृत्त हो जाती थी, क्योंकि उन दधिमाडा का रणन मया की मद्रगजन ध्वनि सा जान पड़ता था।’<sup>३</sup>

यह ती हूंगा अजुन एवं यक्ष का गाँव की गलियों में पहुँचने पर प्रथम अनुभव, किन्तु शारदी शोभा में मनारम, जिस बाह्य ग्रामीण अंचल की शोभा आरम्भ के दो पलोंको में भारवि ने वर्णित की है उसी के पश्चात् अर्जुन और उनका सहपात्री यक्ष, धान के सेतों की मँड पर बैठ कर सुस्तान लगे। वहाँ उन्होंने तीन ग्रामवधुआ को शालि की रक्षा करते हुए देखा —

धान की बाना की रक्षा में लगी हुई उन ग्रामवधुओं ने सूक्ष्म बेशर विजल्क (पराग) के जपापुष्पा का विभूषित करके, मीहा के मध्य में धारण कर लिया था—वे बड़े ही नयनाभिराम जान पड़ते थे। उन्होंने आलते से उन्हें अनुरजित कर रखा था—मागो वधुजीव के पुष्प ही उन्हें हान धारण कर लिए थे।<sup>४</sup>

हिमालय की शोभा के वणन के निमित्त ही कवि ने पूरा पाँचवाँ सग रचा है। इनमें कितना ही वणन ऐसे मनोरम शब्द चित्र प्रस्तुत करते हैं कि मूँद में ही पठनीय एवं मननीय है—

- १ विनम्र शालिप्रसवाधशान्तिने जपतपका मसरारहाभ्रमत् ।  
ननद पशमन्नुपसीम् स स्थली उपायनीभूतशरद् गुणाश्रिय ।।

—किरातापुनीयम् (महाकवि भारवि) श्लोक सं०२ चतुर्थ सग ।

- २ वही श्लोक ६, सग ४  
३ वही, (महाकवि भारवि) श्लोक १६ चतुर्थ सग ।  
४ वही, श्लोक ६, चतुर्थ सग ।

'हिमगिरि के उत्तुग शिखर अने अनेक चित्रविचित्र वनों वाली मणिया की प्रभा म रजित रहते हैं । उन पर बर्फ के जावर पड़े रहते हैं—इसीलिए व देगो म बड़े गुध्र (उजले) दिखाई देते हैं । उन पर जत्र मोट रग के बादल और उनम झनकन वाला इन्द्रधनुष दिखाई पडने हैं तब—इम अपूव शोभा म यह पना नही चलता कि कौन-सौ तो मणिया की प्रभा है और कौन-सा इन्द्रधनुष है । यह तमी उद्घाग्नि हाता है जब कि मेघ मद-मत् स्वर म गरजना प्रारम्भ कर देते हैं ।'

यस न अजुन के प्रति अत म या कहा—हे अजुन ! यह नगाधिराज हिमाद्रप अपने हिमधवल शिखरा स भय माग अर्थात् आवाशमण्डल को मानो दा भागो म विभाजित कर रहा है । यह हिमालय दशन मात्र से ही दशको के पापपूजका विनाश करन म समय है ।'

किराताजुनीय महाकाव्य के समग्र सविधान म वणन का याग महनीय है । चतुथ एव पचम सग तो क्रमश नसर्गिक शारदी शोभा वणन ग्रामीण जीवन की पाकियो के चित्रण तथा हिमालय वणन क शर चित्रा की चित्रावलियां ही हैं । पठम एव सप्तम सग इन्द्र द्वारा प्ररित अप्सराआ के नृत्य-सगीत अभिनयादि के विस्तृत वणन से पूण है तथा उसम वन बिहार जल शीडा आदि के मनाविनादा को भी विस्तार से वर्णित किया गया है । अन्तिम तीन सगों (अथात् सोनहवें मन्त्रहवें अठारहवें सगों) म किरात-वेषधारी महादेव तथा अजुन के बीच भीषण सग्राम के ओजस्वी वणन हैं । इनम विविध प्रकारके युद्धो का विवरण-महित वणन मिलता है । युद्ध-वणन की दृष्टि से ऐसा सागोपाग वणन-कौशल बहुत कम सस्मृत कविया के काव्य म मिलता है । साराशत किराताजुनीयम् महाकाय की आयाजना अधिकशन उसकी वणनात्मक वणन-मालाआ के आधार पर ही की गई है ।

श्रीहृप-कृत नपथ चरित की रचना महाकवि भारवि के काल स, लगभग चार शती के पश्चात् की मानी जाती है । य कायकुब्ज के प्रसिद्ध प्रतापी अधिपति जयन्तचन्द्र के राजकवि रहे थे । जयन्तचन्द्र का राज्यकाल सन ११६४ ई० तक रहा था जो कि कायकुब्ज एव काशी के साम्राज्य के विध्वंस की तिथि है । नपथ चरित की रचना बारहवी शती के तृतीय चरणम हुई हागी ऐसा अनुमान किया जाता है । श्रीहृप ने अपन नपथ चरित म जयन्तचन्द्र के पिता विजयचन्द्र के परानम का उल्लेख किया है । श्रीहृप को कलासवन और नरभारती उपनाम स विद्वज्जन सम्मानित करते थे । कहा जाता है कि उनके नपथ चरित नामक काय को देवी सरस्वती न अपने कर-कमलो म ग्रहण किया था और उसकी प्रशसा की थी ।

१ स मुरचापमनेक मणिप्रभ जपपया विशदम् हिमपाण्डुमि ।

अविचलम् शिखर उपविभ्रतम ध्वनि सूचितम् अम्बुमुचाम् चयम ॥ १२ ॥

—किराताजुनीयम् पचम सग ।

२ वही श्लोक १७ पचम सग ।

'नपथ चरित्', शिशुपाल-वध के समान व्यापक अर्थों मे वणन प्रधान काव्य तो नहीं माना जाएगा, किन्तु जहा कही भी कवि ने, वणनात्मक शब्द चित्र निरूपित किये हैं वही उनका वणन प्रतिभा, काव्यरसिक पाठको को आह्लादित कर देती है यथा— प्रथम सग में, जब राजा नल ने सरोवर मे सर्वाणम राजहस का विश्राम करते हुए देखा उस समय का शब्द चित्र बड़ा रमणीय बन पडा है—

'जब राजा नल ने सरोवर मे सोए हुए हस को एक चरण पर बठे रहने के कारण लज्जा से नीचे मुख किये हुए देखा ता उसे नाल-सहित सुवणमय कमल समझ लिया। उस समय वह राजहस मूंगे की डडी पर स्थित हिरण्मय पीतवण वरुण देवता का चामर (चँवर) जान पडता था।'

तृतीय सग के प्रारम्भ मे राजा नल का प्रणय सन्देश लेकर दमयन्ती के राज-उद्यान मे उतरते हुए राजहस का वणन जीर भी सरल, स्वाभाविक किन्तु सूक्ष्म निरीक्षणयुता शली मे चित्रित किया गया है।

'वह राजहस आकाश मे मडलाकार चक्कर लगाने के बाद, अपने दोना सकुचित पखा से, जबिलम्ब नीचे उतर कर अपने घठने के स्थान पर पखो को फलाए हुए, उहे कँपाता और फडफडाता हुआ, दमयन्ती के निकट, भूमि पर आ उतरा।'

नपथ महाकाव्य की लोकप्रियता तथा रयाति (प्रगटत उसके वणनेतर काव्य गुणा के कारण) अभूतपूर्व रही है। एक लोकोक्ति मे तो यहा तक कह डाला गया है कि —

“तवत् भा भारव भाति, यावमाघस्य नोदय ।

उदित नपथे काथ्ये, थव माघ, वव च भारवि ॥

(भारवि की आभा तमी तक मासित रही जब तक माघ का उदय नहीं हुआ, किन्तु 'नपथ-काव्य' के उदित होने पर, कहा माघ रहे और कहाँ भारवि ?) किन्तु वणनात्मकता की दृष्टि से भी इस महाकाव्य का पयवक्षण करने पर, जो तत्व उभर कर आते हैं, उनको सार रूप मे यो रखा जा सकता है।

माघ की तुलना मे, श्रीहप की इस वृति को देखने पर, दाना की वणन शली

१ सनालमात्मानन निर्जितप्रभम् ह्लिया नतम काचनमम्बुजम् किम ।

अबुद्धतम् विद्रुमदण्डमण्डितम् सपीतमम्म, प्रभु चामर च किम् ? ॥१२२॥

—महाकवि हप प्रणीतम्, नपथ-चरित्, पूव खण्डम्, प्रथम सग, पृ० ६८ (प्र० चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, प्रथम संस्करण, १९५४) ।

२ आकुचिताभ्याम् अथ पक्षतिभ्याम् नभाविभागात् तरसावर्तीय ।

— निवशदेशा तत् धृनपथ, पपात भूमौ उपममि हस ॥१॥



के बीच का अन्तर, स्पष्टतया दिखाई देता है। माघ नसर्गिक शोभा के महाकवि हैं तो श्रीहृष, पदाथगत अथवा वस्तुपरक कवि हैं। वाण के समान उनका साधारण ज्ञान व्यापक है और उनकी निरीक्षण प्रतिभा भी प्रखरतर है। उदाहरणार्थ, प्रथम सर्ग म श्लोक सरया ५७ से लेकर ७३ तक १६ श्लोको मे व उत्तम अथवा के लक्षणा के, कलापूण चित्रण मे प्रवृत्त हो गए। यह तो उनकी कला-सबजता का एक लघुत्तम पक्ष है। सारे महाकाय म ही श्रीहृष जब भी किसी वस्तु का वणन करन लग जाते है, ता बस किये ही चले जाते हैं। अपने देशकाल के प्रभाव के अनुसार उनकी वणनात्मक कला मे, आलकारिता तथा रीतिपरकता का समावेश अनायास ही हा गया है। फिर भी उनकी उद्भावनाआ म, पुनरावृत्ति और पिष्टपेपण कही भी नहीं मिलते। वरन प्रत्येक स्थल पर पाठक उनके नव-नव वणन-कौशल से चमत्कृत सा रह जाता है।

इस भाति भारतीय वाङ्मय मे वणनात्मक-कला की सबप्रथम भव्य साहित्य सम्पदा, हमे अपन समृद्ध महाकाव्या की गौरवपूण परम्परा म उपलब्ध है। वाल्मीकि स लेकर श्रीहृष तक (ई० पू० पांचवी शती से १२वी शती ई० तक) लगभग १७ सौ वर्ष की यह सुनीघ वणन ध्रुव-परम्परा हमे आज भी, अधुण्य जातीय घरोहर के रूप म प्राप्य है। महाकाया व अतिरिक्त अनेक रससिद्ध साहित्यकाग ने इस सुनीघ अन्तराय मे, साहित्य सजन म वणनात्मक-कला का नाटकादि विधाआ म भी मुदर समावेश किया है। उनम हम अनेक स्थला पर, उच्चकोटि के वणनात्मक प्रसंग मिलत है।

भारतीय साहित्य के आधुनिक नवजागरण म अनेक भारतीय भाषाआ के महाकवियो पर उपरोक्त समृद्ध सस्कृत महाकाय-वणन परम्परा का गहन प्रभाव पडना ही था। प्राय सभी आधुनिक भारतीय भाषाआ म पल्लवित एवं पुष्पित समय कायगत वणनात्मक विशिष्टताआ पर उनकी गहरी छाप सहज एवं स्वाभाविक है। इसका कारण यही है कि भारतीय महाकाव्या म, भारत की दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं जीवन विषयक पृष्ठभूमि के सभी मूलभूत एवं महत्वपूण पक्षा का वणनात्मक-कला की समान सरम विशिष्टताओ के माध्यम से, सम्यक समावेश किया गया है।

उक्त मूलभूत तथ्या को इस भाति सारीकृत किया जा सकता है —

(क) भारतीय मस्कृति की आदि जन्मभूमि गहन गम्भीर वनो हिमाच्छादित पर्वत शिखरा एवं गिरि गह्वरा म निनापित नन्-नदिया की उपत्यकाओ म जटित तपावनो म रही है।

(ख) हमारी साहित्यिक एवं कलात्मक साधना की मौलिक अन्तर्चेतना, प्रकृति की गुरु-गम्भीर एवं ललित शोभा से प्रतिभासित एवं अनुप्राणित है।

(ग) भारतीय कायमानस कलात्मकता की विभिन्न एवं सबतोमुखी सूक्ष्म तम अभिव्यजनाआ स, रमावित एवं स्पन्नि रहा है। साथ ही रस, रूप, गन्ध स्पश,

ध्वनि की व्यञ्जक, मूढमातिमूर्धम विभिन्नताओं के अनुसन्धान में भी उसे विशेष अनुराग रहा है।

(घ) भारतीय साहित्य साधना, जीवन के उदात्त, शाश्वत, लालित्यगन तथा आनन्दमय मानों में सुदृढ़ जास्या रचनी रही है।

(ङ) वणन प्रदान काव्य-पक्ष में रससिद्ध महाकवियों की कला-मवज्जता तथा उनकी साहित्यतर आय ललित कलाओं की विशेषणता रह-रह कर पाठकों को विस्मय, हृष्य एवं आह्लाद प्रदान कर जाती हैं।

आधुनिक युग में भारत की विविध प्रादेशिक भाषाओं में, जिन अनेकानेक समानगुणधर्मों, वणनात्मकता बहुल, विशिष्ट महाकाव्यों की रचना हुई है, उनका परिचय मात्र भी प्रस्तुत किए जाने का यहाँ अवसर नहीं है। जत केवल (समग्र भारतीय महाकाव्यों का प्रतिनिधित्व करने वाले) हिंदी भाषा में ही विरचित, कतिपय ऐसे अतिविशिष्ट महाकाव्यों का विहंगम उल्लेख तथा उनका वणनात्मक परिचय ही यहाँ दिया जा सकता है जिनमें उपयुक्त सहस्रा वर्षों से चली आती हुई महान वणनात्मक परम्परा, सबसे अधिक मुखर एवं दृश्यमान हो पायी है।

जाज से प्रायः ५५ वर्ष पूर्व (सन १९१४ ई० में) महाकवि हरिऔध ने अपने प्रथम महान वणनात्मक हिंदी महाराज प्रियप्रवास की रचना की थी। तदुपरान्त प्रायः एक पीढ़ी के अन्तर में (२१ वर्ष पश्चात्) महाकवि जयशंकर 'प्रमाद' ने 'कामायनी' महाकाव्य की रचना (सन १९३५ ई० में) की। कामायनी की रचना के भी लगभग एक पीढ़ी बाद तक हिन्दी काव्य साहित्य में किसी ऐसे विशिष्ट महाकाव्य का प्रणयन नहीं हो पाया जिसमें उपयुक्त भारतीय महाकाव्यों की परम्परागत प्रवृत्ति श्रीशोभा-समृद्ध वणनात्मक गरिमा से समन्वित साहित्यिक छटा का पुनर्जनन हो पाया हो। किन्तु यह हमारा साहित्य के लिये एक विशिष्ट गौरवास्पद सुसंवाय है कि 'कामायनी' की रचना के १९ वर्ष उपरान्त हमारा वर्तमान महाकवि श्री सुमित्रानन्दन पन्ने ने 'लोकलयतन' नामक महाकाव्य की (सन १९६४ ई० में) अद्भुत सृष्टि की है।

जसा कि कहा ही जा चुका है आधुनिक हिन्दी (खड़ी बोली) साहित्य में महाकाव्य शैली के प्रथम एवं रससिद्ध प्रवर्तक श्री जयाध्यामिह उपाध्याय हरिऔध रचित प्रियप्रवास महाकाव्य का वणनात्मक महाकाव्य सना स अभिहित किया गया है —

श्री जयाध्यामिह उपाध्याय 'हरिऔध' अपनी इस कृति की वणन-बहुलता में स्वयं अबगत थे। मानविकी का शंकार का प्रियप्रवास के सम्बन्ध में यह मत है कि—'उत्तम वणन बहुलता एवं विस्तार के कारण रचना की राचकता की बहुत कुछ हानि हुई है।' किन्तु 'म सम्बन्ध में स्वयं हरिऔध ही, अपने प्रथम की भूमिका में, बहुत पहले ही अपनी शार में इस प्रकार समाधान प्रस्तुत कर चुके हैं —

‘रचि-वचिन्य स्वामाविन है । काई सक्षेप वणन का प्यार करता है कोई विस्तृत वणन को । सक्षेप वणन से हृदय पर जो गणिव गहरा प्रभाव पड़ता है कोई उसको आनर देता है । कोई उस विस्तृत वणन से मुग्ध होता है जिसमें किसी तौर पर, रस का परिपाक हुआ हो । निदान किसी ग्रन्थ की वणन शली का प्रभाव, किसी मनुष्य पर उसकी रचि के अनुसार पड़ता है । जो विस्तृत वणन को नहीं प्यार करता, वह अवश्य किसी ग्रन्थ के विस्तृत वणन का पढ़ कर, उब जावेगा । इसी प्रकार जिसको किसी रस का सक्षेप वणन प्रिय नहीं, वह अवश्य एक ग्रन्थ के सक्षेप-वणन को पढ़ कर अतृप्त रह जावेगा । मैं अपने ग्रन्थ में वणन के विषय में मध्यमय ग्रहण किया है ।’

महाकवि हरिऔध में, रूप एवं ध्वनि को, रमणीय प्रतीकों की सहायता से, शब्दों में व्यक्त करने की क्लृप्त प्रतिभा थी । वे रगा और नाट्य के सूक्ष्मतम कलात्मक लालित्य को अपने वणनों में उतारने में अपूर्व क्षमता रखते थे । प्रकृति के पट-परिवर्तन को, व जैसे सुकुमार श्रम में क्षण-क्षण नवता की विविध-वर्णना के साथ, अंकित करते हैं वह रंगों ही कविया के काया में पाई जाती है । इस दृष्टि से उनका प्रिय प्रवास महाकाव्य, अनुर स्थला पर बड़ा ही मनोहारी वणनात्मक कला से चमत्कृत हो उठा है । उदाहरणार्थ काव्य के प्रारम्भ अथवा प्रथम सग में यह वणनात्मक छवि अवलोकनीय है —

‘दिवस का अवसान समीप था, गगन था कुछ लोहित हो चला ।  
तरु-गिष्ठा पर थी अब राजती, कमलिनी-कुल वत्सल की प्रभा ॥१॥  
विपिन बीच विहगम वृन्द था, कलनिनाद विवदित था हुआ ।  
ध्वनिमयी विधिधा विहगायली, उड़ रही नभमण्डल मध्य थी ॥२॥  
अधिक और हुई नभ लालिमा, दश दिशा अनुरजित हो गई ।  
सकल पादप पुज हरीतिमा, अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई ॥३॥  
भलकने पुत्तियों पर भी लगी, गगन के तल की यह लालिमा ।  
सरि सरोवर के जल में पड़ी, अरुणिता, अति ही रमणीय थी ॥४॥  
अचल के गिखरों पर जा चढ़ी, किरण, पादप शीश विहारिणी ।  
तरणि बिम्ब, तिरोहित हो चला, गगनमण्डल-मध्य, गगन गत ॥५॥’

प्रिय प्रवास महाकाव्य का प्रारम्भ ही इस भाँति दिवस के अवसान में बड़े शान्त स्वर में आरम्भ होता है । प्रकृति के केवल एक भावपूर्ण श्रृंगार

१ ‘प्रिय प्रवास’ की अया-यासिह उपाध्याय हरिऔध भूमिका पृ० ३१ प्रथम प्रकाशन, १९१४ (प्रस्तुत संस्करण १९५६ ई०, प्र० हिन्दी साहित्य कुटीर वाराणसी) ।

नेचर) को व्यक्त करने के लिये कवि ने जिस सूक्ष्म अभिन्नजना-कौशल से काम लिया है, यह एक चित्रकार के द्वारा चित्रित, साध्य दृश्या के विविध चित्रपटा के सूक्ष्म बन्धन के समान, कला-पारखी की दृष्टि से ही पहचाना जा सकता है।

पहले दृश्यपट चित्र में, साध्य-आकाश की हल्की लाली के साथ साथ, ऊँचे पेडा की पुनर्गिया पर अस्तगत सूर्य की विरणा का मुकुमल प्रकाश, अविन किया गया है।

दूसरे दृश्य पट में, केवल आकाशमण्डल का घूमिल, विचित्र 'नालिमा' लिय हुए शून्यता प्रधान चित्रण है जिसके बीच में, जहा-तहा अपने नीडा को लौटने वाली, विहंगमडलिया दिखाई गई हैं। किन्तु कवि ने 'ध्वनिमयी विहंगवली' पद द्वारा उस चित्र को सजीवता दे दी है तथा 'विहंगम' शब्द द्वारा उसे चञ्चलता भी प्रदान कर दी है।

तीसरे चित्र में, जलधल के एक समान लाल रंग में रग जाने का, चित्रण मिलता है। यहाँ तक वृक्षा की घनी हरियाली भी, उस लाली में डूब सी गई जान पडती है।

चौथे दृश्य-पट में, सरावर और सरिताआ के शान्त स्निग्ध जल की सतह का प्राधाय है, जिसमें रक्तिम आकाश की लाली प्रतिबिम्बित हान से, उसमें और भी चटक लाल प्रकाश, झलक आया है।

और इसी दृश्य पटमाला का पाचवा जीर अन्तिम चित्रपट है, पहानिया की पृष्ठभूमि वाले गहन वनान्तर का। इसमें एक बार अस्तप्राय सूर्य की अन्तिम विरणा की हल्की-हल्की लाली पवत शिखरा से प्रखर रूप से, ऊपर से प्रारम्भ होकर नीचे का आर घाटिया, उपत्यकाआ तथा पडा के घने समूहा की आर, नीचे जाती हुई क्रम क्रम से मन्दी लाली तथा गहनता श्यामता ग्रहण करती हुई उतरती है और चित्र के दूसरी ओर के अभावाण में, डूबन हुए सूर्य का, घाडा सा विम्ब चित्रित किया गया है।

हरिऔध की यह दृश्यपट चित्रण-कला 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य में, प्राय प्रत्येक सग में ही, पहचानी जा सकती है। किन्तु उनके वर्णन कौशल की एक अन्य विशिष्टता, वर्णनों में ध्वनि (स्वन) तत्व का सूक्ष्मानिमूक्ष्म समावेश भी है जो केवल अत्यन्त वर्णन-पट्टु महाकविया द्वारा ही साध्य है। निम्न पदा में, इस अनुभव-क्रिया जा सकता है —

“ध्वनिमयी करके गिरि-चन्द्ररा, कलित कानन केलि निकुञ्ज की।

बज उठी मुरली इस काल ही, तरणिजा-तट राजित-कुञ्ज में ॥६॥

ध्वनित मञ्जु विषाण हुए बई, रणित शृंग हुए बहु साथ ही।

किर समाहित प्रातर भाग में, सुन पडा, स्वर धावित पेनु का ॥७॥”

इन दो पदों में कवि ने श्रीकृष्ण व मुरली-वादन को बड़े ही भावतन्त्र ढंग से व्यक्त करते हुए उसकी प्रतिध्वनि के गिरिकानन-सरिता-तट समग्र वातावरण में, श्रम श्रम से ध्वनित होने का शब्द चित्र प्रस्तुत किया है तथा दूसरे पद में विषाण और शृंग के नाट्यस्वरो की मित्रता व साथ-साथ बहुत सारी गायों के एक साथ लौडने से उत्पन्न पद चापा की ध्वनि विशेष को भी शान्तापमान कर दिया है।

प्रथम सग के जत में पद-संख्या ३२ से लेकर ४२ तक श्रीकृष्ण द्वारा वेणु वादन तथा उससे मुग्ध हान वाले गानुल-वासिया का वणन करते हुए कवि ने स्वर माधुरी के उपकरण के द्वारा घन जयकार की निस्त-घना को और भी गहन बनाते हुए कुछ ऐसे वणनों की सृष्टि की है जो श्री हरिजीध की वणनकला के विशिष्ट अध्ययन की दृष्टि से बड़े अनूठे हैं। इसी प्रसंग में सध्या के रात्रि में परिवर्तित होने के विविध रूपा का पृथक् पृथक् वणन भी अवलोकनीय है —

‘बज रहे बहु शृंग विषाण थे, क्वणित हो उठता दर वेणु था ।  
सरस राग समूह अलाप से, रसवती बनती मुदिता दिगा ॥३५॥  
विविध भाव विमुग्ध बनी हुई, मुदित थी बहुवशक मडली ।  
अति मनोहर थी बनती कभी, बज किसी कटि की कल किंकिणी ॥३६॥  
उधर था इस भाति समा बंधा उधर व्योम हुआ कुछ जोर ही ।  
अब न था उसमें रवि राजता, किरण भी न सुगोभित थी कहीं ॥३७॥  
अरुणिमा जगती-तल रजिनी, वहन थी करती अब कालिमा ।  
मलिन थी नवरागमयी दिशा, अवनि थी तमसावृत हो रही ॥३८॥  
तिमिर की वह भूतल-भ्यापिनी तरल धार विकाश विरोधिनी ।  
जनसमूह विलोचन के लिये, बन गई प्रतिमूर्ति विराम की ॥३९॥  
खग समूह न था अब बोलता, विटप थे बहु नीरव हो गये ।  
मधुर मजुल मत्त अलाप के, अब न यत्र बने तह वृत्त थे ॥४०॥’

उक्त पदों में अरुणिमा से कालिमा में तथा नवरागमयी से तमसावृत में परिवर्तित हान वाली धरित्री के पट परिवर्तन के पश्चात् अंधर की प्रगाढ़ता का वणन भी अत्यन्त सार्थक है। अंधकार की निस्त-घना का अन्तिम पद में विराम तथा पदों के मौन द्वारा, बना ही बना मंत्र शची द्वारा तीव्रतर बनाया गया है। ऐसे वातावरण में कवल वशा की ध्वनि ही उस मौन की भाषा बन गयी थी।

‘विहंग औ धिटपी कुल मौनन प्रकट थी करती इस मम को ।

ध्वज की वह नीरव था बना, करुण अंश में वारन यणु का ॥४१॥’

१ ‘प्रिय प्रवास’— हरिजीध प्रथम सग, पृष्ठ ७-८

२ वही, पृष्ठ ८

विह्वल नीरवता उपरान्त ही, दृक गया स्वर शृंग विषाण का ।  
कल अलाप समापित हो गया, पर रही बजती वर वशिका ॥४२॥

विविध ममभरी बहणामयी, ध्वनि वियोग विराग विबोधिनी ।

कुछ घड़ी रह ध्याप्त दिगन्त मे, फिर समोरण में यह भी मिली ॥४३॥ '

उक्त पदा में 'पर रही बजती वर वशिका' पंक्ति द्वारा, कवि ने सम्पूर्ण महाकाव्य के पारायण के पश्चात् भी, जो समन्वित प्रभाव, पाठक पर छोड़ा है, उसकी यहाँ संकेतात्मक प्राक्ध्वनि को तथा, निस्तम्भता में वशी के एकाकी स्वर की ममभरी रागिनी के धीरे धीरे दिगन्त का परिध्याप्त करके नश वायु में खो जाने की बात को अनुपम कलापूर्ण ढंग से व्यक्त किया है ।

प्रिय प्रवास महाकाव्य से उल्लिखित वणनकलाभिराम, एवं सूक्ष्म संवेदना को शब्दरूप प्रदान करने वाले, चिरस्मरणीय वणना की वणनात्मक विशिष्टताओं के पीछे, उक्त सध्या वणन का वाध्यगत अभिप्राय भी, हृदयगम किया जाने योग्य है । 'प्रिय प्रवास' महाकाव्य के नामकरण से, उसके दुःख विषाद में पर्यवसित होने का आभास पाठक को नहीं मिलता क्योंकि उस ब्रजभूमि के जीवन में साध्य अवसाद को छिन्न मित्र करने वाले श्रीकृष्णचंद्र का उदय एक ऐसी अभूतपूर्व घटना थी जिसने अखिल ब्रजवासियों को अपन बीते हुए अत्याचारी शासन से सभी त्रास एवं आतंक के दुर्दिनों को, सबथा विस्मृत करा डाला था ।

श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व ही ब्रज की नई चेतना एवं नवनिर्माण में प्रवृत्त करने वाली प्रेरणा का अधय शक्ति स्रोत बन गया था, जिसके मूल में उनकी सगीत नृत्यगत वशीवादन की विलक्षण कला साधना, सतत् श्रियाशील रहा करती थी । किन्तु किस पना या कि जिस मनोरम सध्या का कवि ने इतने चाव से इतना आमोद प्रमोद भरा वणन किया है, वह अपनी तरह की अंतिम सध्या होगी । वशी की धुन के धीरे धीरे नश वायु में खो जाने के बाद ब्रज की कायापनट हो गयी । कवि ने उसी हृदय विदारक अन्त का माना उम ममभरी रागिनी के धीरे धीरे विलीन हो जान के द्वारा संकेतित किया है जिससे रसिक पाठक के मन का, सहसा आघात न लगे, और काव्य की रमात्मकता का भी आँध न आन पाए ।

'प्रिय प्रवास' महाकाव्य की वणन वटूलता ही उसकी सर्वाधिक निजी विशिष्टता है—चाहे आलोचक-वग का एक पक्ष उसे उसकी मुख्य काव्यश्रुति भी मान सकता है । वस्तुतः 'प्रिय प्रवास' जैसे विलक्षण तथा अभूतपूर्व काव्यग्रथों पर, समीक्षा करने से पूर्व, इस उत्कृष्ट महाकाव्य का आद्यापान्त एवं बारम्बार पढ़ जान की अपेक्षा रहती है । वस्तुतः 'प्रिय प्रवास' की शली काव्यगूढ है और इसीलिए सभी पाठकों को वह समान रूप से, रसिकर नहीं हो सकती ।

‘प्रिय प्रवास का प्रत्यक सग, एक चमत्कारपूर्ण एवं उत्कृष्ट वणन-कौशल से युक्त, चतुष्पदी से प्रारम्भ होता है। वह अपने में स्वयं भी एक मनोरम प्राकृतिक चित्रपट्टी है तथा उसकी विशिष्ट व्यञ्जकता इस वान में है कि वह उस सग विशेष में आए हुए कथा प्रसंग पर, एक सांकेतिक तथ्य भी कर जाती है। इस दृष्टि से हरिऔध वणनकला के ऊँचे आचाय है और इस वार में प्रिय प्रवास के प्रकाशन के युग में, काव्यममनों ने पर्याप्त विस्तार से उसकी समीक्षा की ही है।

श्री अया-यासिंह उपाध्याय हरिऔध रचित उक्त उत्कृष्ट वणनात्मक महाकाव्य के प्रकाशन के २१ वर्षों के पश्चात् श्री जयशंकर प्रसाद कृत कामायनी महाकाव्य प्रकाश में आया। प्रसाद जी ने अपने इस विलक्षण महाकाव्य का आयाजना में फिर वाल्मीकि एवं कालिदास की गौरवपूर्ण वणन प्रधान शली अपनाई। यहाँ नहीं उन्होंने उसमें आधुनिक दशकाल के अनुरूप—अभिनव परिवेश के अनुकूल—एक विशिष्ट वणन-कलागत लातित्य योजना का भी समावेश किया। इसालिय कामायनी का प्रकाशन, अपने समय के हिन्दी काव्य जगत में एक बड़ी आतिकारी घटना मानी गई जिसने हिन्दी महाकाव्य की वृत्तात्मक प्रवृत्ति को लगभग एक पीढ़ी के अन्तराय के पश्चात् पुनः आद्य भारतीय महाकाव्य की, जातीय धारा की ओर मोड़ दिया। इस वणनकलात्मक युक्त महाकाव्य की अधुनातम अभिव्यञ्जना हम महाकवि मुमित्रानन्दन पन्त के ‘लोकायतन’ में मिलती है (जा ‘प्रसाद के महाकाव्य का रचना तिथि के एक पीढ़ी के अन्तराय, १९ वष के पश्चात् स्थापित हुआ है)। वह भी इस वान का सुस्पष्ट प्रमाण है कि ‘कामायनी के उपरान्त हिन्दी महाकाव्य शली में उत्तरात्तर वणन प्राधाय और नव-नव विद्यास-याजना का अपनाये का प्रयास, निरन्तर ही, विकसित होता चला जा रहा है।

‘कामायनी महाकाव्य की वस्तु आयाजना प्रातिहासिक मानव सस्कृति के नव प्रमात में नियोजित की गई है। किन्तु उसकी प्रकृतिगत पृष्ठभूमि वहाँ गुरु गम्भीर वन-पर्वत-हृद-सकुल, विजन हिमाच्छादित दृश्यपट्टी है जिसका स्तुति के साथ, गहन अनुरक्ति एवं श्रद्धा-सहित कालिदास ने अपने ‘कुमारसम्भव महाकाव्य की अवतारणा की थी—

हिमगिरि के उत्तु ग गिखर पर, बठ गिला की गतल छाह।

एक पुरुष भीगे नयनो से, देख रहा था प्रलय प्रवाह ॥’

इस स्थल पर प्रसाद ने अपना अनुपम वणनात्मक-कला का परिचय दत्त हुए प्रागतिहासिक जल प्रलय अनुभूति को प्रतीयमान वणन सकेना एवं रूप-वण आयाजना द्वारा साक्षात् करने में, अपूर्व सफलता पाई है। ऊपर हिम वार नीचे जल के बीच स्तब्ध तरुण तपस्वी अवस्थित था—

१ ‘कामायनी’—श्री जयशंकर ‘प्रसाद, प्रथम सग चिन्ता’, पृष्ठ ३ (प्रथम प्रकाशन, १९३५ भारतीय मण्डार, लीडर प्रेस, प्रयाग।)

'उत्तो तपस्वी से लम्बे थे, देवदाह दो चार लडे ।

हुए हिम घवल जैसे पत्थर, बन कर, ठिठुरे रहे अडे ॥''

हिम प्रदेश वनस्पति तथा जलयन म परिव्याप्त, कठोर शीत का व्यक्त करने के लिये, ठिठुर हुए हिमघवल दक्कान्ता क व्यापन म, स्वयं प्रकृति का चित्रण, मननीय है । कोण गिरर (कोनिफरम) वनस्पति की पत्रावली सूक्ष्म से सूक्ष्म, वायु के झोको से, मतत कपित रहती है फिर भी उस समय हिममन्द्य होन के कारण, उनका सुस्थिर रूप, बडा ही असाधारण सा लगता है । यह तत्वामीन मृष्टि के उस असाधारण अवान्तर का प्रतीक है । चित्रकला की भाषा म इस सितामिन जालेखन की सरल चित्र वणना' कहा जा सकता है ।

'प्रमाद जो क उन्न महाकाव्यगत 'चिता, जाशा' आदि प्रारम्भिक सर्गों म कलात्मक चित्र वणना, वणनात्मक मूल वृत्त तथा व्यजनात्मक अनुभूति-सकेत, बडे ही अनुपम बन पडे है । उनम स बुद्ध चिरस्मरणीय श्राकिया ही महा उद्घुन की जा सकती है यथा —

'उषा सुनहले तीर बरसती, जपलदमी-सी उदित हुई ।

उपर पराजित कातरात्रि भी, जल मे अतनिहित हुई ॥

वह विवण मुख, प्रस्त प्रकृति का, आज लगा हुसने फिर से ।

वर्षा धोती, हुआ मृष्टि मे, गरद विदास नए सिर से ॥

नव-बोमल आलोक बिलरता, हिम-ससृति पर, भर अनुराग—

सित सरोज पर श्रीडा करता, जैसे मधुमप पिण पराग ॥

धीरे धीरे हिम जाच्छादन, हटने लगा धरातल स ।

जर्गो वनस्पतिया अलसाइ, मुख धोती शीतल जल से ॥

नेत्र निमोलन करती मानो, प्रकृति, प्रबुद्ध लगी होने ।

जलधि-स्तहरिया की अगडाई, बार बार जाती सोने ॥

इन्द्र-नील-मणि महाचपक था, सोम रहित उलटा तटका ।

आज पवन, मडु सास ले रहा, जैसे बीत गया लटका ॥''

उपयुक्त अवनरण म जलधि 'हरिया स लेकर, इन्द्रनील मणि वध आकाश' तक प्रकृति पट परिवर्तन का, भय एव मटल विम्मयोत्पादक वणना, एव ही स्थल पर, 'इन्द्रायुध-वण-याजना म अनुरजित की गइ है । कवि की उक्त वणयोजना की विशिष्टता इम मान म है कि उसा उत्तमात्तम छायावादी शला क रग बिरग प्रतीका क साहाय्य स, प्रकृति क प्रतयापरान्त नवजागरण का मानवीकरण कर्ता म बिलक्षण सिद्धि पाई है । प्रथमतःक वाचक है, सुनहले तीर, बालरात्रि का जल म अतनिहित (हानां),

१ कामायनी—श्री जयशंकर प्रमाद', मग ६, चिता, पृष्ठ ३

२ वही, सर्ग २, 'जाशा, पृष्ठ २३ २४



पीत वण रेशमी हिमातप, जगो की आभा सा कोमल,  
 सासो मे रजगध-समीरण जिसका अचल धन छायाचल ।  
 भरते पाण्डुर तरुल ममर धूलि धूसरित रिक्त दिगतर,  
 ताम्र कलण सा, रश्मि हीन रवि धनगधो से आकुल अतर ।  
 रजत कुहासे पट में सोया जात्र लोघ्र किशुक, शिरीष वन,  
 स्वप्न देखता स्वर्णिम मधु के भूदे तद्रिल किसलय लोचन ।  
 गगा-तट कप उठता थर थर ठिठुरा सा श्लथ ब्रीचि पल जल,  
 उडने को छटपटा क्रीच-सा सटा मूक रेती पर घायल ।  
 लोक चेतना सो ही छोई श्रान वलात ठिठकी जलधारा—  
 सुदरपुर के ग्रामराज्य का जीवन यात्री हो पथ हारा ।”

उक्त पंक्तियाँ म पत्र का वही चिरपरिचित रूप छबिबणन छल छल छलकता है । केवत्र कवि की वणन प्रतिभा और भी अधिक साकेतिक तथा और भी अधिक यजक हाती जाती है ।

ग्राम शिविर नामक द्वितीय अध्याय के उपविभाग के प्रारम्भ में ही, ग्रामवधू की छवि वणन छटा भी अविस्मरणीय है । अनूठे कलायुञ्जक पदों द्वारा कवि ने, माना सारे ग्रामीण ज्वल की नसर्गिक एक लौकिकशामा को ही साक्षात् रूप दे डाला है—

नवल वधू वडो खेले में या हिम ऋतु अब छाई घर घर ।  
 किसने हलने मलदी उसके अध खिले कोमल जगो पर ?  
 लहराती पीली सरसो से स्नेह गध उडती रस भीनी  
 फहराती उड हलकी जाबो कुहरे की चूनर कप भीनी ।  
 ग्रामवधू वह विस्मय-स्फारित जल में डूबे नभ सी वितवन  
 या वह तीतो खिली छरहरो खोले नोले निरलस लोचन ।  
 हिमजल के मुक्ताभरणो से गोभित कपता फूलो का तन  
 स्वप्न मौन स्मृति मन को भाते माघ मास केहेम गौर क्षण ।  
 हंगे मखमली हरियाली का झूल रहा लहगा भू झूकर,  
 अठखेली खेलता पवन शठ लचकीले तन में उभार भर ।  
 रोमाचित हस उठने भू-अग जी गेहूँ में जाई बाली  
 छोटी सो गलिया मटर की आखा में छाई मद लाली ।  
 अध गदराये वन तरुओं पर गधमत्त मडलाते अलिदल,  
 सूय आत्र मजरियों का मुल जगा रहे गा गा नर कोयल ।”

१ लोकायतन—मुमिदान पन्त अध्याय २ जीवनद्वार उपविभाग १ युगम’,  
 पृष्ठ ४०-४१

२ वही, अध्याय २ ‘जीवन-द्वार उपविभाग २, ग्राम शिविर, पृष्ठ ६१ ६२

टेसू निज रक्तिम शुक्रनासा, अभी छिपाए छुट पुट भीतर,  
 पीपल की चिनगी से कोपल कभी फूट बढ आए बाहर ।  
 क्षितिज नील नयना गाँवों की हरीभरी भू हरती जन मन,  
 हसती रज, हसती हरीतिमा, हसती दिशि हसते अनिमिष क्षण ।  
 मूर्तिमती ऋतु की शोभा सी, तुहिनों की तनिमा में 'हाई  
 सुघर सिरी की खड़ी द्वार पर, शुभ्र उषा सी सहज सजाई ।"<sup>१</sup>

लाकायतन' म चित्रित ग्राम शिविर प्रसंग मे, जिस ग्रामशोभा का कलापूर्ण चित्रालेखन किया गया है वह उनके बीस-पच्चीस वष पहले लिखी गई मुक्तक वृत्ति ग्राम श्री' से तुलनीय है ।<sup>१</sup> इन दोनों वणना का एक के बाद एक पन्ने पर यह स्पष्ट हो जाएगा कि पन्त की कायगत वणनात्मक कला को जब स्फुट कविता के सीमित दायरे को लाघ कर, महाकाव्य की उदार भूमि मिली, तो वह किस सहज उल्लास और विलास के साथ विकसित एक पल्लवित हो उठी । वस्तुतः 'लोकायतन' काव्य म ही, कवि की नसगिक छटा के चित्रण की पूरा पूरा विकास प्राप्त हुआ है । उपयुक्त वणन उसका एक रमणीय उदाहरण है ।

इस अनुपम इन्द्रधनुषी छविभूत वणन म कवि के पुराने वण प्रतीका के प्रयोग की छटा के साथ ही साथ कितने ही अभिनव रंग त्रिरों, रंग प्रतीक भी पाठक के मन का, अनुरजित कर जाते हैं, यथा शिशिर ऋतु का हल्दी से अमिपेक और उसकी सूचक लहराती पीली सरसा की रसभीनी रने गंध, हल्की आबी कपभीनी कुहरे की धूनर, छरहरी गिली तीमी के निरलस नीले चोचन हिमजल के मुक्ताभरण माघ माम के हम गौर क्षण, हरी मन्मली हरियाली का झूलता हुआ लहगा, टेसू द्वारा अपनी रक्तिम शुक्रनासा का लुपाया जाना पीपल की चिनगी से कोपल, क्षितिज-नील नयना हरी-भरी भू हँसती रज, हँसती हरीतिमा, हँसती दिशि हसत अनिमिष क्षण, आदि आदि ।

लोकनृत्या का वणन, छटा मे, वणनात्मक काव्य प्रतिमा द्वारा कसे साकार होता है इस कला मे भी कविवर पत माहिर हैं—

सष्टि मुद्रा रच, सुंदर पद्म, लोकप्रिय भावपूर्ण कर सास,  
 मुकुल रच भ्रमर हम प्रिय शल, ध्वजा मुद्रित कर शक्ति विकास ।  
 युवक युवती जन रचने रास, भृग कलिका से, लघु-पद भार,  
 तरंगित कर भावों का सिंधु, खोल गोपन अतस रस द्वार ।<sup>२</sup>

१ 'लोकायतन' मुमित्रानन्दन पन्त, अध्याय २, उप विभाग २, 'ग्राम शिविर', पृष्ठ ६१-६२

२ 'ग्राम श्री' मुमित्रानन्दन पन्त आधुनिक कवि माना—२, पृष्ठ ६३-६७ (हिन्दीसाहित्य सम्मेलन प्रयाग १९५४ ई०) ।

३ 'लोकायतन', वणन २, उप विभाग मन्थान, अध्याय ३, कलाद्वार, पृष्ठ १८२

धरा ही जन अगो का पव, देह में हो आत्मा चरिताथ,  
रूप में पूण प्रस्फुटित भाव, मत्य जी तन में स्वग कृताथ !  
अप्सराओ सी जिनमे नित्य, मुग्ध पडःनुएँ करतीं नृत्य,  
सृष्टि के उसी छद मे बद्ध, जगत् जनजीया हो कृपकृत्य !

लोक-नृत्यो से ले पद-यास वेशभूषा, स्वर लय वि-यास,  
छात्र रचते मोहक सहनृत्य, हृद मन मे भर भाव हृलास !  
सीखती ग्राम स्त्रियाँ ज्ञात, रग मत्री सज्जा शृंगार,  
अग सौष्ठव जीवन उल्लास, कलारचिगील सुधरआचार !

वाद्यछन्दो की ध्वनि गभीर, जचेतन भूतम देती चीर,  
मद्र गुरु सुन मृदग की थाप, काप उठता दिड-मीन अधीर !  
वाद्य मत्री की तरल तरंग, मिटाती जनमन का औदास्य,  
गूजता गगन भावस्वर मत्त, ग्राम भू रचनी जब रस लास्य !

मधुर वीणा करती झकार, झूम मधुवन भरता गुजार,  
बासुरी की गुन स्वर्णम डेर, फाल का हटता मन से भार !  
खनक उठते मजीर जमर, ताल देते तमग तृणपत्र  
ठनकते कास्य गमकते डोल, नाद का खुलता नभ मे छत्र !

सुधिर तम के सग धन-आनन्द, फूवते जनमन मे नव प्राण !  
सिहर उठता भूगुहा विपाद, जाग उठती जन भू म्रियमाण !  
दिशाओ से आप्रतिध्वनि गूढ, क्षितिज श्रवणों मे बहती भेद  
नाद ही जीवन का उभेध, नाद ही सृष्टि नाद ही वेद !

भाभ, डफ चग मुरज बज सग, हृदयमे भरते मुक्त उमग,  
थिरकते लतिका से लच अग, ठुमुकते पन् धन नृत्य तरंग !  
लोल लहरो का हो लयु लास, भलकते धूपछाँह के रग,  
सास्कृतिक पव मनाती भूमि, श्रात समरसता करते भग !

मधुर सारंगी मुगर सितार, शृंग भेरी, जल षाष्ठ तरंग,  
दिलरुवा बजता प्रिय इसराज, मुग्ध रक जाता काल कुरंग !  
चिकारा शहनाई मधु बीन, मन्स्वर मित्र स्वरोकाजाल,  
गरद बन सा भरता कलना, कु भ पात्रो सग बज कठताल !<sup>१</sup>

थेष्ठ गंधर्व कला संगीत, जगन जीवन को दे नव जय,  
बिना स्वर पक्षों में उड़ गन्ध, भाव नन छूने में असमय ।  
बताते गुरु-समृति त्रिदृष्टि छाप, बंधे जो स्वर्णिम लय में लोक,  
स्वग शोभा मुक्ति हो विश्व, परा जीवन हो पूण अशोक ।”

नृत्य वाद्य संगीतोत्सव का उक्त कलामहिम वणन, अनेक समीपशास्त्रीय तत्त्वों से, इस भाँति अनुविद्ध है, कि उसका अनुशीलन करने पर यह प्रतीति हानी है कि मानो अखिल कला लोक अथवा रस विश्व, एक ही सृष्टि छन्द में जाबद्ध है । इस वणन में हमें अनेकानेक गभीर दार्शनिक अभिव्यञ्जनाएँ भी मिलती हैं, यथा—

‘नाद ही जीवन का उन्मेष नाद ही सृष्टि नाद ही वेद ।’  
‘वाद्य-मंत्रों की तरल तरंग मिटाती जन मन का औदास्य  
‘बिना स्वर पक्षों के उड़ शून्य, भाव तन छूने में असमय’  
बंधे जो स्वर्णिम लय में लोक’—आदि

नृत्य कला की साक्षात् अभिव्यञ्जना, काव्यगत वणन की बड़ी ही सुकुमार कला है । किन्तु कवि न पदम मुकुल भ्रमर, हंस शख, ध्वजा, आदि मुद्राआ के लाम द्वारा, जब नृत्य का देहगत आत्मा का चरितार्थ रूप एवं ‘रूप में पूण प्ररफुटित भाव’ बताया तथा जब उसे ‘लोकनृत्य के पदयास, वेशभूषा, स्वर, लय विभाग की सहनृत्य कला से, समवितन्त्रिया तो अनिवचनीय नृत्य-कला भी माना साक्षात् शून्य रूप धारण कर लेती है । यही नहीं उपयुक्त वणन में महाकवि ने, विभिन्न वाद्या की ध्वनिया को, शब्द रूप दत्त हुए (आरकस्ट्रा) समवेत वाद्यसंगीत को भी, अपने वणना में अभिव्यक्त कर लिया है ।

लोकायतन महाकाव्य हिन्दी के काव्य साहित्य में ही नहीं प्रत्युत विश्वभर के काव्य साहित्य में, एकमात्र ऐसा महाकाव्य है, जिसने भावी युग में भी अपनी काव्य गरिमा के प्रतिष्ठित किए जान योग्य सफलता पाई है । उसमें जित्त नसर्गिक पृष्ठभूमि और उसमें फलने फूलने वाली श्रम सीकर में सित्त मानवता, दाना ही जजर और अमर शाश्वत तत्व हैं । काव्यगत साकजीवनपरक पक्ष तथा उगना प्रवृत्ति स्नेह में स्निग्ध परिवर्ण, इन दोनों ही तत्त्वों के, उत्तम एवं कलात्मक समावेश के कारण, कविवर पत को, अपने महाकाव्य की महती तथा मनोरम याजना में स्थापनीय सिद्धि प्राप्त हुई है ।

आन्विकवि महर्षि वाल्मीकि के युग (आनुमानिक काल ई० पू० ४०० से ई० पू० २००) से लेकर कविवर श्री मुमिदानन्दन पन्त के मन्ताय लोकायतन के प्रकाशन तक का गुनीष एवं व्यापक लक्षणानुगत अवातर, किसी भी ‘साहित्य-समीक्षा की सामर्थ्य से, प्रायः अलक्ष्य एवं अज्ञात ही है । लगभग २६०० वर्षों में, हमारे देश साहित्यप्राण राष्ट्र में, हमारे महाकाव्या ने, एक अत्यन्त विम्बयकारी

१ ‘लोकायतन’, खण्ड २, उपविभाग मन्थान’ अध्याय ३, कलाद्वार’, पृष्ठ २८४

मानव-समृद्धि की रंग विरगी चित्रशाला प्रस्तुत की है जिस हम सच्च अर्थों में अपना राष्ट्रिय अथवा जातीय इतिहास भी मान सकते हैं। वस्तुतः ये वपनात्मक महाकाव्य हमारे जातीय अथवा राष्ट्रिय साहित्य का सच्चा प्रतिनिधित्व करत हैं। उपर्युक्त साहित्य विहंगम-समीक्षण द्वारा ही उनकी वपनात्मक विशिष्टता एक चलचित्र (फ़िल्म) की भाँति गतिमान सामान्य हो उठती है। ये सभी विशिष्ट महाकाव्यगत कथान अथवा अनुठी रूप एक ध्वनि-दोना की ही मधुर रूप प्रदान करने वाली अनुपम रमणीय मधुर थी स जगमग हैं। अतः हम इसी वपनात्मक विशिष्टता का भारतीय साहित्य की सर्वोपरि निम्नी प्रकृति के रूप में स्वीकार कर सकते हैं।

भारतीय महाकाव्यों की वपन परम्परागत विशिष्टता इस वपनात्मक पद्य रूप में ही महत्त्व प्राप्त करती है। इन सभी में नमस्त्वित् शान्ति के वपनों का प्रवेश महाकवि ने शीघ्र गरिमा प्रदान की है। अतः महाकवियों ने सामान्य जीवन और सामान्यता का अपना वपन की प्रिय वपन-वस्तु बनाई है। महाकवि काव्यगत न ही तत्र का बड़ा सुकुमार एवं मनोरम रूप प्रदान किया है। भारवि ने भी इसी पद्य पर अपने महाकाव्य का एक पूरा मग रचा है। किन्तु उन पद्य रचना महाकवियों की उत्कृष्ट वपन मालाओं की तुलना में भी सामान्यता का एक अनुपम साहित्यिक रूप ही हमारे आधुनिक महाकाव्य (पारायन) में कविवर पद्य न ही प्रदान की है।

केवल आपतकालीन दृश्या के रूप में, मात्र अपवाद ही ता, रहे हैं। चाहे वीरकाय एवं चारण काव्य के प्रतिमा सम्पन्न वणनात्मक चित्तरे महाकविया ने मानव-जीवन के इन भीम भयवर पक्ष पर, पूरे महाकाव्य ही क्या न रच डाले हा, फिर भी वे मानव की आध्यात्मिक विफलता एवं नतिक जस्थिरता के चिर प्रतीक बन कर ही तो रह गए हैं।

फिर भी अय राष्ट्र के महाकाव्या की तुलना में, भारतीय महाकाव्या में युद्ध, रक्तपात, हत्या और विनाश के वणना को बहुत कम स्थान दिया गया है। जय भी कभी ऐसे प्रसंग आ उपस्थित हुए तो उन्हें अनिवाय 'धमयुद्ध का ही नतिक आधार बनाया गया। इन महाकाव्या के पयवजन से प्रकट है कि इस देश के निवासी, शांतिप्रिय अघ्यवसायी और साहित्य-सगीत बला के सतत उपासक, रहे हैं। इसीलिये हमारे महाकाव्या में, एक समृद्ध उच्च ससृष्टि, अनुपम वणन शृंगला द्वारा जाघोपाल प्रतिबिम्बित हुई है।

हमारे महान महाकाव्या में वर्णित, हमारा राष्ट्रीय एवं सासृष्टिक इतिवत्त, न केवल हमारे अपन आधुनिक साहित्य स्रष्टाओं के लिए एक जागवलयमान प्रेरणा स्रोत है, वरन् वह मसार भर के साहित्यकारों को—शाश्वत साहित्य की चिरमगलकारी विशिष्टता की ओर, मात्र देश की क्षमता भी रगता है। महाकवि कालिदास ने अपन 'रघुवश महाकाव्य में मानव की सृजनात्मक जिजीविषा और उमकी महारात्मक जिगीषा—दाना का ही प्रभावशाली एवं विशद वणन किया है। वे अपने पूर्ववर्ती आन्विकि (महर्षि वाल्मीकि) से इस बात में एकमत हैं कि प्रकृति की स्निग्ध शांत गाद ही, मानव को, श्रेयस्वरी ज्ञान उद्बुद्ध जिजीविषा की ओर, प्रेरित कर सकती है। उम बाल में भी क्षत्रिय (अमिजीवी वग) अपने धनुर्बाण का सधान करते थे, किन्तु केवल साधुओं के परित्राण, और दुष्टता के विनाश के लिए ही। चाहे वे वाल्मीकि के कथानायक श्रीराम हा अथवा कालिदास के रघुवशी सम्राट तिलीप, रघु, अज आन् श्रीराम के यशस्वी पूवज हा सभी के मन में, यही लारहितकारी मगन भावना, मदव सक्रिय रही थी।

मानव जिज्ञासा की सहागात्मक नकारात्मक प्रवृत्ति की रक्तिम गाथाएँ हमारे महाकाव्या में गिनी चुनी ही हैं और उनका हमार महत्या वर्षों के राष्ट्रीय जीवन के महाध्यापी अवान्तर में, नगण्य अंश ही रहा है। यही नहीं, वरन हर विनाश के पटले हमार पूवजान, शानि के प्रत्यक्ष सप्रव माग का परिशोधन किया है और हर विनाशकारी सम्राट के पश्चात्त व फिर से आरधार लारमगनकागे सृजनात्मक पुर्ननिमाण में थम एवं अघ्यवगायपूवक जुट गए हैं। उठाने एक जार शांतिप्रिय कृपक को अपने निर्णय उलाग व्यवगाया में सुरक्षा का आश्वामन किया है और दूसरी ओर उठाने तपावना के विचारका गुच्छनों और गुच्छुला का, अपना पान-भाघना में निर्मित लम रहने के लिए सतत आश्वामन प्रथय एवं सरक्षण प्रदान किया है।

विनाश के ध्वस्त गच्छरा की राख पर, हर बार उठान, वामिनराम मन्वुनिया के

रम्य प्रासाद खडे किए है जोर उन मय भवना का परम शाभाशाली शिखर रहा है शाश्वत लोकोत्तर चेतना एव प्रेरणा की प्रभा से जगमगाने वाला, साहित्य विरोध ।

हमारी सुप्राचीन एव गरिमामयी सस्कृत महाकाव्य-परम्परा की पृष्ठभूमि पर आधुनिक हिंदी महाकाव्य परम्परा के इस सक्षिप्त तुलनात्मक एव वणनात्मक सर्वेक्षण व पश्चात आधुनिक हिंदी महाकाव्या की अपनी निजी नवविकसित परम्परा के सम्बन्ध में भी, कुछ उल्लेख्य तथ्या पर विचार किया जाना आवश्यक होगा । आधुनिक हिंदी महाकाव्या की परम्परा न अभी कुछ वय पूर्व ही, ( लोकायतन के प्रकाशन के द्वारा ) अपनी अद्यतनी ही पूरी की है । इन पचास वर्षों की प्रगति में आज वह एक सुस्थिर साहित्य गत प्रौढता प्राप्त कर चुका है । जिन महाकाव्या का इस पयवेक्षण में उल्लेख किया गया है वे किसी भी राष्ट्र की साहित्यिक गरिमा के गौरव माने जाने के अधिकारी हैं ।

हिंदी भाषा में आधुनिक महाकाव्य परम्परा से सदिया पहले भी अनेकानेक गौरवशाली महाकाव्या की रचना हुई है किन्तु उन सभी का समीक्षात्मक अनुसंधान यहा समीचीन भी नहीं था और सभाय भी नहीं था । कारण यह है कि प्रस्तुत अध्ययन की विशिष्ट शोध भूमि, आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य तक ही परिमित है ।

सभी आधुनिक भारतीय भाषा साहित्या की मूल भाषा हान के गाने, विनी भी आधुनिक भारतीय भाषा के साहित्य की तुलनात्मक समीक्षा में सस्कृत बाडमय की प्रकृतिया का मूलाधार बनाया जाना न बंदल सहज एव त्नाभाविर है वरन वह अनिवार्य भी है । सस्कृत महाकाव्य परम्परा के क्रमिक हास काल तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं में महाकाव्य-परम्परा के क्रमिक जाद विकास के बीच में सदियों सम्य अंतराय में—हिंदी की डिगल पिंगल जबरी मथिनी एव ब्रजभाषा शलिया में भी जनकाव्य उत्तम महाकाव्या की रचना की गई थी यह एक सबविलिनि इति वृत्तात्मक तथ्य है ही । वीरगाथाओं की डिगल शनी में रचित रातो' महाकाव्य परम्परा पिंगल (राजस्थानी गली) में रचित बनि क्रिमन रमणीरी मथिली गली में रचित वीतिलता जबधी शला में रचिन पद्मावत एव रामचरितमानस जम गौरव ग्रथ एव ब्रजभाषा शनी में रचिन महानदि केशव एव दव आनि के महा काव्या के प्रम्यान नामा में कौन परिचित नहीं ह ? हिन्दी भाषा के उक्त पूर्ववर्ती महाकाव्या की नाति ही सगी प्रगतिगीत आधुनिक भारतीय भाषा-साहित्या में भी जनवानव महाकाव्या की रचना हानी गरी है । फिर भी इस बात में सभी विन साहित्य ममत् समन हाग कि दशकाल का अधुनातम आवश्यकताओं एव परिस्थितिया को ध्यान में रखते हुए आधुनिक भारतीय भाषाओं में विगत अद्य शताब्दी में जिस अभिनव महाकाव्य परम्परा का विकास हुआ है वह भारत के समग्र वाग्मय के इति हाम में भी, एक युगान्तरकारी साहित्यिक नवप्रवृत्ति मानी जाएगी ।

वणनात्मक साहित्य विधा का एक विशिष्ट एवं प्रतिष्ठित साहित्य रूप के नात, उप-यासेनर वाङ्मय का समुचित प्रतिनिधित्व करने वाले महाकाव्य का, प्रस्तुत साहित्य में, वणनात्मकता के स्थान एवं मूल्य के परिभाषण का मूलाधार बनाया गया है। वैसे तो दृश्यकाव्य एवं श्रव्य-काव्य प्रबंध या य एवं मुक्तक-काव्य, गभीर, यूनानाधिक मात्रा में, वणनाप्रिय साहित्यकार, वणनात्मकता का समावेश करते चले ही आए हैं किन्तु अनुसंधान के आधार को, एक निर्धारित सरणी देने के नियम—उनमें से किसी एक विशिष्ट उप-यासेनर साहित्य रूप का ही वणनात्मक साहित्य का प्रतीकात्मक मूलाधार बनाया जा सकता था।

वस्तुतः साहित्य सृजन प्रक्रिया में किसी भी साहित्य रूप का, प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार, अपना माध्यम बना सकता है। किसी भी वणनात्मक कृति की, (पारिभाषिक व्याख्या के अनुसार)—वणन प्रधान रचनाओं की रचकता, रचयिता के वणन कौशल एवं वणन विस्तार द्वारा नियोजित होती है।

जहाँ तक वणन कौशल का प्रश्न है, इसका परिचय, मुक्तक कविताओं तथा नाट्य रचनाओं तक में, यदाकदा, बड़ी विलक्षण एवं कलाभिराम शली में दृष्टिगोचर होता है। किन्तु इन जगहों की कानि के साहित्य रूपों में, वणन विस्तार के लिए प्रकटन, बहुत ही कम गुंजायमान रहती है।

साहित्यिक कृतियों में कौन सी सही अर्थों में वणनात्मक कृति कहलान की अधिकारिणी है तथा कौन सी नहीं इस बारे में अधिक तात्त्विक स्पष्टता मानकर काश' गत 'वणन शब्द की इस परिभाषा में पाई जाती है— 'किसी विशिष्ट अनुभूत, घटना दृश्य, वस्तु व्यक्ति आदि के सम्बन्ध में हान वाला विस्तारपूर्ण कथन, जो उसका ठीक ठीक बाध, दूसरा का करान के लिए किया जाता है।'<sup>१</sup>

महाकाव्यों तथा उप-यासों के अनिश्चित जय साहित्यिक विधाओं में, विशिष्ट अनुभूतियाँ, घटनाओं द्वारा वस्तुओं एवं व्यक्तियों के मन्वय में एम विस्तारपूर्ण कथनों का समावेश (जिसे कि उनका ठीक ठीक बाध दूसरा को हो सक) एक पर्याप्त परिसीमित एवं दुष्कर साहित्यिक प्रयोग है। सृजनात्मक मौलिक साहित्यिक उपलब्धियों की दृष्टि से जय श्रव्य-काव्यगत साहित्य रूपों में कहलानियाँ सस्मरण एवं निबंध आदि बहुत प्रचलित हैं। निबंध का विशुद्ध सृजनात्मक साहित्य रूप माना जाय या नहीं इस बारे में जालोचना में मनभेद भी सम्भाव्य है क्योंकि निबंध मौलिक रचना में हाकर मात्र व्याख्यात्मक भी हो सकता है। उसमें रसात्मक साहित्य के अनिश्चित ज्ञान विज्ञान के प्रत्यय विषय पर भी विवचन किया जा सकता है। फिर भी जब जब कुछ कविता उप-यासकारों जादि भावुक साहित्य सृष्टाओं ने निबंध रचना पर अपनी लेखनी उठाई है तो उनमें भी हम मौलिक सृजनात्मक साहित्य का रस धनकता सा ज्ञान पडता है।



कहानियाँ तो उपन्यास की विरादरी की ही जान पड़ती हैं किन्तु उनका क्याविन्यास एवं सविधान उपन्यास से ठीक विपरीत गतिचक्र में प्रवर्तित रहता है। उपन्यास वणनकौशल के साथ वणन विस्तार की आर गतिमान रहता है—केन्द्र से परिधि की ओर—कहानी अपने वणन कौशल के मोह में वणन विस्तार से बड़ी सावधानीपूर्वक बंध निकलने में यत्नमान रहती है। वैसे कहानियाँ में आगे हुए कितने ही मनोरम दृश्यपट एवं वगनात्मक शिल्प अपनी वणनात्मक-कला की दृष्टि से अनूठे भी रहते हैं यथा श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी की प्रख्यात कहानी 'उसने कहा था' में जमूनसर के बाजार का वणन जयबा फ़ारम जमन सीमावर्ती मोर्चे पर खार्या में लटन वाले सनिकों के जीवन का विवरण। किन्तु वे सभी द्रुतगति से सूत्रधारनी के गाँव की ओर ही प्रत्यावर्तित होत हैं। यदि ऐसा न किया जाता तो सारी कहानी ही सत्सा भरी कर डल जाती। श्री जयशंकर प्रसाद' द्वारा रचित कहानियाँ में भी कहीं कहीं सुन्दर वणन आए हैं। उदाहरणार्थ आकाशदीप में सागर-यात्रा एवं प्राचीन भारत के जलपाता के जीवन का कुछ अविस्मरणीय वणनात्मक प्रसंग मिलते हैं। फिर भी उन सभी का केन्द्र बिन्दु है अंधेरे आकाश में सागर जल में लहराते लघु प्रतिबिम्ब वाला एकमात्र आकाशदीप।

संस्मरण शली की कहानियाँ भी वणन प्रधान रचनाएँ कही जा सकती हैं क्योंकि उनमें अपेक्षाकृत तेलक का अपने वणन कौशल का व्यक्त करने का अधिक अवसर होता है। किन्तु उसकी वणना की पथरवा भी बड़ी सखरी रहती है और स्वयं श्रामती महादेवी बर्मा की संस्मरणात्मक लम्बी कहानियाँ कहानी कला की दृष्टि से दापहान नहीं मानी जा सकती। उक्त संस्मरणात्मक कहानियाँ की लोक प्रियता में भी उनका यह आग्रह ही प्रधान रूप से बाधक रहा है कि वे अपने संस्मरणा में प्रत्येक क्षणवस्तु के प्रत्येक विवरण का उतार डालना चाहती हैं।

साहित्यिक निबंधों में वणनात्मकता का परीक्षण में सहमा प्रख्यात बंगला उपन्यासकार स्व० था बन्दिचंद्र चट्टोपाध्याय के व्यंग्यात्मक निबंधों का संस्मरण ही जाना स्वाभाविक है। उन्होंने अपने बंगलाकांतर दफ्तर निबंध संग्रह में श्यामा श्वालिन का 'याज से जा मनोरम काय रसामक प्रसंग वर्णित किए हैं उन्होंने इस प्रकार के निबंधों का प्रचलन में बड़ा योग दिया। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का निबंध संग्रह प्राचीन साहित्य में महाकाव्यों का पाठ जसा वणनात्मक रस मिलता है। आधुनिक हिन्दी निबंधकारों में इस सम्बन्ध में शायद उपलब्धि है आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के वणनात्मक निबंध। आम फ़िर बौरा गए! इस प्रकार की वणनात्मक रचना कही जा सकती है। फिर भी ऐसी निबंधों में मग्न निबंध साहित्य में, मात्रा का दृष्टि से 'यूनाण ही है। उनकी विशिष्टता वस्तुतः उनका वाग विदग्धता में है वणनात्मकता में नहीं—यह पहचानने में भी बिल पाठन का प्रिलय नहीं होता।

अथवा महाकव्य की आधुनिक एवं लोकप्रिय साहित्य विधाओं में से इस भाँति हम मुक्तक पद्य रचनाओं, कहानियों, सस्मरणा एवं निबंधों में भी, जहाँ-तहाँ, यत्किञ्चित् वणन कौशल के चमत्कार पाते हैं, किन्तु उन सभी का वणन कौशल, किस भाँति वणन विस्तार से बच के निकलता है, यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है।

अनेक महाकवियों ने नाट्य रचना भी की है, जिनमें कालिदास से लेकर रवीन्द्र और 'प्रसाद' तक सम्मिलित हैं। यह स्वभाविक ही है कि ऐसे वणनात्मक कला के धनी, सुकृतियों के नाटकों में भी, वणनात्मक कला के कुछ स्मरणीय प्रसंगों का समावेश हो जाय। किन्तु इन्हें नाट्य रचना कला के स्मरणीय अपवादों के रूप में ही धिरेस्मृत रखा जायगा। वस्तुतः, नाट्य रचना कला की कलात्मक सूक्ष्मता उनके सवादों की अथवा गौरवमयी, रूढ़ व्यंजना समुक्त सांकेतिक समुत्तमता पर ही आधारित है, और इस दृष्टि से नाट्य रचना कला के अनेक विज्ञ कला विवेचक, भास की कृतियों को कालिदास की कृतियों से भी श्रेष्ठतर मानते हैं। वणन-बहुलता, जिस व्याख्यात्मक प्रणाली से, महाकव्य अथवा उपन्यास में समाविष्ट रहती है, नाटक में उसका रूप, अधिकांश सांकेतिक रखा जाना ही, समुचित माना जाता है।

प्राचीन शली व लम्बे नाटकों की शली, आधुनिक देशकाल की परिस्थितियों में, एकाकी नाटक अथवा चित्रपट शलियाँ द्वारा पराभूत होती जाती हैं और दिन प्रति दिन, नाटककला की सूक्ष्मता एवं सांकेतिक कलात्मकता का, उत्तरोत्तर परिष्कार एवं संस्कार होता जाता है। अतः सम्पूर्ण लम्बाई वाले प्राचीन शली के नाटक, आज अपनी जीवन होड़ में पीछे पड़ते जाते हैं।

रससिद्ध महाकवियों का स्वप्रणीत स्मरणीय नाटकों में, वणना के समावेश के लिए एक कौशल विशेष का आविष्कार करना पड़ा और वह था, गद्य कथापकथन के बीच, पद्य शलाका का ग्रथन। वस्तुतः ये वणन नाटक का मुख्य शरीर से पृथक्, अपना निजी स्वतंत्र व्यक्तित्व रखते हैं और हम काव्यरस से सक्त, सुगन्धित पुष्पाकारों से उनकी तुलना कर सकते हैं। वे दशकों को रिभान की अपेक्षा बस काव्यरसिक पाठकों की भाव प्रवणता का ही मुख्यतया, समुत्पन्न करत हैं।

महाकवि नाटककारों की प्रख्यात कृतियों के प्रसंगों द्वारा उक्त अन्विष्टों की समझाया जा सकता है यथा महाकवि कालिदास द्वारा 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में आण्ड्रुए दो एक स्मरणीय वणनों का ही ले लें। नाटक का प्रथम अंक के प्रस्तावना भाग में, रघुसिंह आसट प्रिय राजा दुष्यन्त द्वारा पीछा किये जाने पर हरिण का, बड़ा ही यथाथ एवं चित्रकला की सूक्ष्मताओं से अन्वित, गतिमान वणन, पद्य श्लोक के रूप में ही प्रस्तुत है। इस शब्द चित्र में भयानुर हरिण द्वारा, मुड़ मुड़ कर देखने और बाणाघात भय से पीछे आये शरीरको सिकोड़ने, आदि भाव प्रगियाओं सहित चौकड़ी

मरने के कारण पृथ्वी को स्पश न करन का अकन वणन-कौशन स किया गया है ।<sup>१</sup> किन्तु यहा यह भी स्मरणीय है कि दस वणन का एक अभिप्राय विरोप है जीर वह है नायक को जाग जान वाले प्रसगा म एक कुशल चित्रकार के रूप म प्रस्तुत करना ।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने अपनी काय नाटिका चित्रागटा म जनक स्थलों पर अपनी अनूठी वणन प्रतिभा द्वारा बडे वणनात्मक प्रसग चित्रित किय है यथा मान सरावर का वह लम्बा और चिरस्मरणीय प्रसग जिसमे कवि ने मानम हृदय की जल गहराइ का प्रनीक रूप म लक्षित किया है—किस भाति कोटयावधि याजना की दूरी का लाघ कर जब अत्यन्त सत्पत् सूप की किरणें, मानसरोवर क जल की सतह का छूती है और जब व उसके अतल तल की शीतलता म चिरमधुर विश्राम पाती है तो कवि उस पर एक दाशनिक के रूप म प्रश्नसूचक उद्भावना करता है— क्या मृत्यु भी ऐसी ही चिरमधुर विश्रान्ति का जय नाम तो नहीं है ?<sup>२</sup> प्रकट है कि यह वणन निश्चय हा उत्कृष्ट एव अद्भुत कल्पना उद्रकी है किन्तु नाटक के कलेवर म तो वह भी एक क्षण ही माना जायगा ।

हमार जाधुनिक हिन्दी महाकवि नाटककार श्री जयशकर प्रसाद क नाटको म भी अनेक स्थलो पर गद्य एव पद्य अवतरणा म वणनात्मक प्रतिभा का चमत्कार दखा जा सकता है किन्तु नाटकीयता की दृष्टि से व अतिरिक्त प्रसग ही कह जायग । उन्हेन अपन गीता द्वारा नाटका म ऐसी वणनात्मक उद्भावनाएँ जनक स्थला पर की हैं—यथा च द्रगुप्त क प्रसिद्ध गीत— हिमालय क आगन म तथा— अरण यह मधुमय देश हमार । आदि । गद्य-सधानो म, कर्नीनिया द्वारा भारतभूमिका महिमा वणन<sup>३</sup> तथा च द्रगुप्त द्वारा किया गया प्रात वणन<sup>४</sup> आदि भा अपन वणनात्मक सौन्दर्य के कारण चिरस्मरणीय ह । इह अनक नाटय साहित्य क समीक्षक नाटयकृति क सुगठन क लिए शास्त्रीय अथवा शिल्पविधान का दृष्टि से, बहुत उत्तम मानने म, हिचकिचायेंगे ।

- १ श्रीवामगाभिरामम मृतु अनुपतति स्यदनेबद्धदृष्टि ।  
 पश्चार्धेन प्रविष्ट शरपतनभयान भूयसा पूवकायम् ॥  
 दग्धैवावतीहै श्रम विवृत मुख मृशि विकीणवर्त्मी ।  
 पश्योन्म्रच्छुतत्पान विधति वदुतरम स्तोत्रम उर्या प्रयाति ॥ ७ ॥

— अभिज्ञान शाकुन्तलम्, कालिदास प्रथम अंक

२ चित्रागदा' श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर प्रथम प्रकाशन सन १८९२ ई० ।

३ च द्रगुप्त श्री जयशकर प्रसाद, अक तृतीय पृष्ठ १४५

४ वही, अक चतुथ, पृष्ठ १८७

साहित्य के विविध रूपा में, वणनात्मकता की व्यापकता, नया साहित्य मूठि के निर्माण में उसकी अनिवायता, उपगत सक्षिप्त विवेचना द्वारा स्पष्ट हा जाती है । उसके आधारपर यह भी सिद्ध होता है कि वणनात्मकता साहित्य-सजन का एक अति महत्वपूर्ण पक्ष है । साहित्य में वणनात्मकता साहित्यिक मानीकरण अथवा मूल्यांकन के लिये भी एक महत्तम समापवत्त सिद्ध हो सकती है । यही नहीं साहित्यगत रससिद्धि के निरूपण के रूप में भी वह विविध साहित्य रूपा के बीच समान मानदण्ड बन सकती है । साहित्य में वणनात्मकता की परिब्याप्ति तथा उसकी साहित्य निर्माण प्रतिमा में मूलभूत विशिष्टता, वस्तुतः साहित्य के आधुनिक मानीकरण के अवर्षण में, एक अभिनव दिशा-शाध का संकेत भी बन सकती है । प्रस्तुत पर्यवक्षण एवं पर्यावलोकन इसी दिशा में कुंछ अभिनव विचार-सामग्री प्रस्तुत करता है ।

जाज विश्व की सर्वोत्कृष्ट एवं शाश्वत निधि के रूप में, जिन गौरव-ग्रथा को, सबसे अधिक आदर एवं प्रतिष्ठा प्राप्त है, उनमें मुख्यतया काव्य, नाटक एवं उपन्यास, इन तीनों साहित्य रूपा की, सर्वोत्कृष्ट कृतियां वणनात्मक प्रतिमा के ही चमत्कार हैं । संक्षेप में, साहित्य में वणनात्मक कला का सर्वप्रथम विकास, महाकाव्या में सम्पन्न हुआ । कतिपय नाटका में भी उनके प्रसंगवश कलापूर्ण अवतरण समाविष्ट हुए । किन्तु आधुनिक युग में, उक्त तीनों ही विधाओं में, औपन्यासिक कृतियों ने जाश्रेष्ठत्व प्राप्त किया है । यह विश्व-साहित्य व इतिहास में मात्र संयोग नहीं माना जाना चाहिए । उपन्यास की जसाधारण लाकप्रियता का मूलभूत रहस्य, वस्तुतः यही है कि साहित्यगत वणनात्मकता को केवल इसी विधा (उपन्यास) में, अपने उमुक्त एवं अबाध विकास का अवसर प्राप्त हा सका है ।

साहित्य की विभिन्न मृजनात्मक विधाओं व जन्तगत कलात्मक वणनात्मकता का व्याप्ति, तथा उनकी साहित्यिक गरिमा का वृद्धि में, उसके यागदान को, यह सक्षिप्त एवं विहंगम विवचना, इसी अभिप्राय से प्रस्तुत की गई है कि उपन्यास विधा में, उसके सविवरण परिशाधन से पूर्व एक उपयुक्त आधार भूमि बन पाए । साथ ही उपन्यास के वणनात्मक मूल्यांकन का, किमा एक विधा विशेष तक ही परिसीमित न माना जा उसे अखिल वाग्मय के, एक समान गुणधर्म के रूप में भी स्वीकृत किया जाए । वस्तुतः अखिल साहित्यगत रसात्मकता तथा लोकरजकता का मुख्य अवगुणित रहस्य, उनकी वणनात्मक सुधडता ही है ।

## साहित्य की उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता का स्थान

शरीर में प्राणा व स्पन्दन की भाँति वर्णनात्मकता वाङ्मय की नस-नम में अतः प्रवाहित एवं स्पष्टित रहती है। एक सतत आग्रह की भाँति यह वर्णनात्मकता, साहित्य की हर विधा में माना गठबद्ध बनी ही रही है। किन्तु पूर्व अध्याय में जिन विविध उपन्यासों में साहित्यरूपा का वर्णनात्मक विवेचन किया गया है, जान पड़ता है कि उनमें से किसी में भी वह अपनी ठीक-ठाक और सहज अभिव्यक्ति, नहीं पा सकती। कहीं वह एक परिचित-सत्व की भाँति प्रस्तुत दिखाई पड़ती है, तो कहीं वह अजनबी की भाँति जान पड़ती है। माना सहस्रावधि वर्षों का अपना इस सुदीर्घ यात्रा में वह कोई ऐसा उपयुक्त आवाम सदा ही खोजती रही है जहाँ कि वह अपना सहज और स्वतंत्र विकास पा सके और जहाँ उसका निजी व्यक्तित्व को, अबाध अभिव्यक्ति मिल पाए। उपन्यास विधा में, माना वर्णनात्मकता का अपना ऐसा ही मनचाहा आवाम मिल गया है।

उपन्यास का वर्णनात्मकता का विग्रह मात्र कह अथवा वर्णनात्मकता के सम्पूर्ण साहित्यिक व्यक्तिकरण व अन्य नाम का ही हम उपन्यास कह इसका युक्तियुक्त निर्धारण भा कहीं सरल आलाचनात्मक जायाम न होगा। फिर भी यदि किन्ना साहित्य रूप का सब से सुन्दर विशिष्टता उमका सर्वाधिक प्रतिनिधित्व कर सकती है तो उपन्यास विधा में परिब्याप्त वर्णनात्मकता ही एक ऐसी विशिष्टता है। वर्णनात्मकता ही उपन्यास का अत्यन्त साहित्यिक विधाया व साथ सम्बन्धित रहने वाली एक मात्र सर्वाधिक समान यात्रक कथी है। यन्ने नहीं उपन्यास विधा को अपनी सावभौम सत्ता द्वारा अत्यन्त साहित्य रूपा से पृथक् व्यक्तित्व प्रदान कराने वाली विशिष्टता भा बरती है। उपन्यास विधा में वर्णनात्मकता का महत्व एवं मूल्य, इसीलिए अग्रिम है।

वर्णनात्मकता ही उपन्यास विधा का मूल प्रधान सृजक प्रवृत्ति एवं उमका गुण जान है — यन्ने यान बहू-मुनन में नई गा ज्ञान पड़ेगा — यन्ने उपन्यास ममीभा में अन्तो तक वर्णनात्मक पद्धति द्वारा मानात्मक ही नहीं हुआ है। इन तथ्य का भी

मुलाया नहीं जा सकता कि उपन्यास-समीक्षा एक उपन्यास शास्त्र, आज तक भी, अपने प्रयोगात्मक निरूपण के स्तर में होकर ही चल रहे है। उपन्यास की सामयिक समीक्षा का पढ़ जाने पर प्रायः ऐसा जान पड़ता है कि स्वयं जालोचक महानुभाव, अपनी आलोच्य यन्तु को, भती भानि, पकड़ नहीं पा रहे हैं। बहुधा समग्र उपन्यास समीक्षा ही एक प्रयोगात्मक जायाम बन कर रह जाती है। यह बात केवल भारतीय समीक्षा-जगत में ही पायी जानी है। ऐसा नहीं है। तथाकथित पाश्चात्य 'उपन्यास-जायाम' के वावजूद भी उपन्यास-समीक्षा के क्षण में, वहाँ भी पर्याप्त अराजकता का बालबाला है।

एक बार तो उपन्यास-समीक्षा की यह प्रयोगात्मक अवस्था और दूसरी बार उपन्यास विधा के नित्य बढ़ते हुए चरण में दोना ही साहित्यिक तथ्य साहित्य क्षेत्र में, एक विचित्र विषय समुत्थित कर देते हैं। इसीलिए इस असंगति का समाधान, हमारे समीक्षा शास्त्र की एक नात्कालिक आवश्यकता प्रतीत होती है। यह समाधान तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि हम नए सिर से और मुक्त हृदय से बिना पूर्वाग्रहों के, उपन्यास विधा की अभिनव समीक्षा में प्रवृत्त हों। यह भी कुछ कम विस्मयकारी बात नहीं है कि उपन्यास के द्वारा सम्यक विकास के स्तर को प्राप्त किए जाने के पश्चात् भी, अधिकांश विन साहित्य शास्त्रियों ने उपन्यास विधा का कोई विशिष्ट, शास्त्रीय एक सर्वसम्मत तात्त्विक आधार निर्धारित नहीं किया है।

जत इस असाधारण परिस्थिति के कारण की जोर जिनासा भी स्वाभाविक ही है। किन्तु कचन कारणों का राज निकालने में ही व्याधि या दोष का शमन नहीं हो जाता। बंधा, परम्परागत अथवा पुरातन शास्त्राय विधान के अभाव में, हमारे अनेक आधुनिक साहित्य शास्त्रियों ने पाश्चात्य समीक्षा के उपन्यास-विधान का, प्रायः जया का त्याग ही अपना लिया। इसके मूल में वही पुरानी अधविश्वासापम धारणा प्रियाशील रहा है कि उपन्यास विधा भारतीय साहित्य के लिए, एक पाश्चात्य उपहार है। सब तो यह है कि इस भाँति के 'सहसा निष्कर्षों' का कोई तात्त्विक अथवा बान्धनिक आधार नहीं है। न तो भारतीय उपन्यास विधा ही भारतभूमि में कोई परदसी तथ्य है और न उसकी समाक्षा ही, हमारे साहित्य शास्त्र में, कोई अनहानी बात है। आवश्यकता है कबन अपने घर में प्रचलन निधिया की बार घ्यान देने की, जोर बात वान में विदेशी का मुह ताज की नेत्रजक परावर्तनता का निताजलि न का।

यह अकारण तथ्या के साथ कितना करन के समान ही होगा यदि हम, एक साहित्यिक अधविश्वासा का अपनी समीक्षा भूमि में पनपने दें कि उपन्यास भी, विधान की नई समृद्धि के शतावधि नवान आविष्कारों की भाँति, कोई अभिनव 'साहित्यिक-आविष्कार' है। साहित्य के इतिवृत्त की प्रवृत्तियाँ स जा अवगत हैं वे वना इस स्वप्रमाणित तथ्य का गतीभाँति जानते और समझते हैं कि कोई भी साहित्य

रूप अथवा साहित्यिक विधा महत्ता उद्भूत नहीं हुआ करती। यह एक बहद सीधा सादा तथ्य है कि विकास की सभी सामान्य स्वामाविक क्रिया प्रक्रियाओं में होकर उप-यास विधा का भी गुजरना पड़ा है।

उप-यास विधा के उद्भव एवं विकास का अनुसंधान करने से यह बात सात है कि साहित्य की अन्य विधाओं के समान ही उप-यास विधा का प्रचलन भी, आज से लगभग दो सट्टह वर्ष पूर्व या इससे भी पहले ही हुआ था। इस दो हजार वर्षों की सुनीध एवं घटनापूण यात्रा के पश्चात् ही आज के युग में, उसे विश्वकाव्य की 'तीसरी महासृष्टि' कहलाने का गौरव मिल पाया है और आज साहित्य के कलात्मक परीक्षण की दृष्टि से वह महाकाव्य एवं नाटक (दृश्य काव्य) की काटि में, समान स्थान पाने की अधिकारिणी मानी जाने लगी है। इस दृष्टि से आज के युग की, वह सर्वोत्कृष्ट साहित्यिक विशिष्टता अथवा उपलब्धि भी नहीं जा सकती है। विश्व साहित्य के इतिहास में आज का युग उप-यास युग के नाम से भी अनुसृष्ट रहगा, इसमें सन्देह नहीं।

वर्तमान युग में अनुकूल दशकाल परिस्थिति-परक ऋतु की सहायता पाकर, उप-यास की समृद्धि एवं अभिवृद्धि अनुपम हो उठी है। काव्यगत अथगौरव तथा रगमचीय श्रेष्ठता एवं इन विधाओं का सदवर्धन, सावजन्य अभिरचि से किंचित दूरी पर ही बनाए रखते चले जाए ह। उप-यास विधा न केवल अपने कथा प्राधान्य के कारण निरंतर एवं अबाध गति से प्रवाहित रही है बरन उमम लोकमनोरजन की अनुपमय क्षमता भी विद्यमान रही है। सामाजिक जीवन में ज्या-ज्या लोक' की महिमा बढती गई लाककाव्य हान के नाते उप-यास का भी जादर बढता गया।<sup>१</sup>

उप-यास विधा के इस अभ्युदय-युग में औप-यासिक कृतिया की जो प्रभूत सजना हुई है उसक मूल में मुद्रण-यंत्र के चरम विकास तथा यानायात एवं जादान प्रदान के साधना का विश्वव्यापी प्रसार दाना का ही महान योग रहा है। इसीलिए आज उप-यास विधा दशगत सीमाएं लाध कर एक अंतर्राष्ट्रीय साहित्यरूप बन चुकी है। काव्य एवं नाटक अपने चरम वभव के युग में भी उप-यास के समान (अपने लिखित रूप में) घर घर में नहीं पहुँच पाए थे किन्तु उप-यास आज, जन-जीवन की हर स्ति की जालाचना एवं चर्चा का विषय बन चुका है।

१ उप-यास न मनोरजन के लिये लिखा जाने वाली कविताओं की ही नहीं नाटकों की भी कसर ताड दी है। बरकि पांच मील दौड कर रगखाला में जाने की जगह पांच सौ मील से किताब मगा लेना आज के जमाने में अधिक सहज है। अतः न केवल प्रसृत साहित्य को अन्य किसी भी साहित्यिक विधा की अपेक्षा नजदीक ला लिया है। — साहित्य सहचर (जाबाय हजारीप्रसाद द्विवेदी) अन्वय १२ पृ० १८८ ७९ (प्रथम प्रकाशन १९६५, नवेद्य निकेतन, वाराणसी)

उपयाम विधा के इस अबाध प्रचार प्रसार के मूल में, एक मुख्य कारण यह भी रहा है कि साहित्य-समीक्षा का ध्यान, उमकी ओर बहुत बिलम्ब से जा पाया। काव्य शास्त्र एवं नाट्य शास्त्र की गति (प्रायः बीसवीं सदी तक) 'उपयाम-शास्त्र' का स्वतन्त्र अस्तित्व ही नहीं पाया जाना था। काव्य एवं नाट्य शास्त्र की सर्वमाय मर्यादाएँ, उन विधाओं के लेखन एवं प्रचार प्रसार पर अकुशल लगाए रखती हैं। उनसे उपन्यास विधा जशावधि प्रायः मुक्त एवं उन्मुक्त है। निमदेह उसने इस शास्त्रीय प्रकुश के न रहने का पूरा पूरा नाम भी उठाया है।

उपयाम की इस सर्वतामुखी एवं विविधता अनुरजित प्रभूत सृष्टि के दो प्रत्यक्ष परिणाम दृष्टिगोचर होते हैं। एक ओर तो उपयाम विधा के नाम पर, 'तथा कथित उपयाम-साहित्य' का (समग्र लौकिकीय जीवन का अभिभूत कर देने वाला) अपरिमेय सजन, तथा दूसरी ओर, उसका नियंत्रित करने की दिशा में, साहित्य समीक्षकों की धीरे धीरे किन्तु निरन्तर बद्धमान प्रवृत्ति। कहना न होगा कि यदि उपयाम रचना की गति भी काव्य एवं नाट्य के समान, परिस्तीमित ही बनी रहती, तो न जान कब तक उमकी जाय समीक्षकों का यह उपेक्षा भाव बना ही रहता। बीसवीं शती के प्रारम्भ तक प्राच्य एवं पाश्चात्य (दाना ही) समीक्षा क्षेत्रों में उपयाम की ओर से उपेक्षा का भाव समाप्त १५ से ही दृष्टिगोचर होता है।

प्राच्य एवं पाश्चात्य समीक्षा क्षेत्रों में उपयाम विधा के विधिवत एवं स्वतन्त्र शास्त्र निर्माण में इस असाधारण बिलम्ब के कारणों की ओर ध्यान देने से अनेक समाजगत एवं जयगत, समान रात्रर तत्व, प्रकाश में आने हैं। सदियाँ तक साहित्य एवं साहित्यकारों की गतिविधि, सामंती एवं राजकीय प्रथम प्राप्त बनी रही। इसी-लिए अखिल वाङ्मय पर बस विरोधा का एकाधिकार सा ही बना रहा। परिणाम स्वरूप उसमें, लोक एवं लोक काव्य, दाना ही के प्रति उपेक्षा की भावना, प्रकट अथवा प्रच्छन्न रूप में, बनी ही रही।

उपयाम लोक काव्य होने के नाते वस्तु विन्यास एवं भाषा माध्यम, दोनों ही दृष्टि से अपने लोकपरक बन रहने के जाग्रह पर दृढ़ रहा और उसी दृढ़ता तथा निरन्तरता के अनुपात से, उसे बग विनाशों की उपेक्षा, एवं तिरस्कार का पात्र भी, बनना पड़ा। उपयाम विधा की ओर से समीक्षा शास्त्रीय उपेक्षा एवं प्रमाद के मूल में बदलती हुई समाजगत एवं जयगत परिस्थितियाँ भी सतत त्रियमाण रही हैं। किन्तु उन सब का भी उपयाम विधा की उत्तरोत्तर प्रगति पर, कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह अपने भावना विकान पथ पर दृढ़तापूर्वक अग्रसर हानी रही। साहित्य शास्त्रियों की उपेक्षा एवं पक्षपात के बावजूद भी जब उपयाम विधा ने आज विश्व के पाठक समुदाय के बहुमत का समर्थन एवं प्रेम प्राप्त कर लिया तो पाश्चात्य अथवा प्राच्य दोनों ही साहित्य समीक्षा-क्षेत्रों में अचिन्त उपयाम विधान बनाए जाने की ओर भी, काव्य प्रारम्भ हुआ।



उपन्यास के विकास का इतिहास ध्यान देने की आवश्यकता है। अतः यहाँ मात्र तीसरे चरण के उपन्यासों की समीक्षा के लिए मुझे का विचार, कर दिया गया है। यह कामचलाऊ मुद्रा का अभिप्राय है। अतः उपन्यास साहित्य का सांस्कृतिक एवं जातीय विनिश्चयात्मकता का दर्शन करना तथा इसका विकास और आगे बढ़ना कर आगे बढ़ना। उपन्यास ही के माध्यम से भारतीय जनता को उदात्तता के मुक्त उपन्यास समीक्षा का इतिहास ही करना है। अतः साहित्यिक उपन्यास के उपन्यास-मन्थन प्रयत्न ही करना है।

विशुद्ध प्रायः उपन्यास की समीक्षाएँ प्राप्त नहीं की गईं जितनी और करने की हैं। इस प्रकार यहाँ का उद्योग भी अधिक गुणों का है। हमारे देश में उपन्यास केवल एक ही नहीं था बल्कि उदात्त साहित्यिक मन्थन का प्रारम्भ कर ही था। ज्ञानम, आर्य समाज के मन्थन की शक्ति थी और भीत में सम्भव है। अभी पहले साहित्यिक स्तर पर उपन्यास रचना का विचार ही चलाया था। फिर मात्र प्रायः साहित्यिक स्तर के, साहित्यिकी अवधारणा के बिना प्रायः उपन्यास विधा का शास्त्र निरूपण नहीं तक समीक्षा की जा सकती है? हमारे देश में १९वीं शती के अन्त में तथा उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में जब ही उपन्यास आरम्भ हुआ तब ही भारत में उपन्यास विधा ने जन्म लेना शुरू किया था। उसके अभिन्न साहित्यिक मानकों का भी गौरव ही शुरू हुई।

उत्तम समय भारतीय भाषाओं के जन्म के अवधि में प्रायः सभी जाधुनित्र अथवा पाश्चात्य प्रणाली में शिक्षा प्राप्त हुए व्यक्ति ही थे और देश में पाश्चात्य प्रभाव अपने चरम उत्तम पर था। एतद् में हमारे आत्म-निर्यात में शिक्षा प्राप्त भारतीय साहित्यिक साहित्यिकों ने यह पाश्चात्य का स्वीकार करना कि उपन्यास परिचय का ही जन्म आविष्कार है और उक्त चरण में उन्नीसवीं शती के माध्यम से प्राप्त है—योजना बहुत सामान्य का अन्त करने—भारतीय भाषाओं में रचित उपन्यासों के मानीकरण के लिए भी पाश्चात्य समीक्षा पद्धति को ही प्रयुक्त करना आरम्भ कर दिया। इस मन्थन उपन्यास-समीक्षा की वह पटवृत्ती समीक्षा हिन्दी एवं भारतीय भाषाओं की समीक्षा पद्धति में समाविष्ट हो गईं जा एक प्रकार से आत्म-साहित्य साहित्यिकों की भाषाओं की प्रायः सत्य प्रतिलिपि ही कही जा सकती है।

भारतीय भाषाओं में उपन्यास विधा के विकास का प्रादुर्भाव अठारहवीं शती के अन्त में एवं उन्नीसवीं शती में प्रवृत्त में हुआ। १९वीं शती के अन्त में हिन्दी भाषा तथा १९वीं शती के मध्य में धीरे-धीरे अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्यिकों में, उपन्यास विधा के अभिन्न विकास प्रथम का आरम्भ हुआ। हिन्दी के साहित्यिक क्षेत्रों में, उपन्यास विधा के साहित्यिक स्तर पर व्यापक स्तर तक सर्वप्रथम साहित्यिकार हुए प्रथम उपन्यास प्रणाली स्वर्गीय श्री किशोरीदास गोस्वामी।

अपने प्रणयिनी परिणय नामक उपन्यास ने उपोदघात में उन्होंने हृदयापूर्वक और निश्चयात्मक स्वर में हिन्दी उपन्यास के उद्भव एवं उसके भूत-सौना के सम्बन्ध

इस मिथ्या प्रवाद का खण्डन किया कि हिन्दी उपन्यास, जैजैजी 'नावेल' के प्रभाव से प्रवर्तित हुआ है—

“जिस प्रकार साहित्य के प्रधान अंगों में नाटक का प्रचार प्रसार प्रथम यहाँ ही हुआ था उसी तरह उपन्यास की सृष्टि भी, प्रथम प्रथम, यहाँ ही हुई थी। यह अत्युक्ति नहीं है। किन्तु किसी किसी महाशय का यह कथन है कि 'उपन्यास' पूर्व समय से यहाँ प्रचलित नहीं था, वरन् अंग्रेजों की देखादेखी, लोगो ने 'नावेल' के स्थान में, 'उपन्यास' की कल्पना कर ली है, (इत्यादि)।”

श्री किशोरीलाल गोस्वामी की समीक्षात्मक सूत्ररूप, मुहुमुहु प्रशसनीय है। उन्होंने ही सबप्रथम साहित्य प्रेमियों का ध्यान 'उपन्यास' शब्द की व्युत्पत्ति की ओर भी आकर्षित किया—

परन्तु उन महात्माओं को प्रथम इसकी मीमांसा कर लेनी चाहिये—क्या कि उपन्यास—उप-नी' उपसर्ग पूर्वक आस घातु—इन शब्दों से बना है। यथा उप (समीप) नी (यास), आस (रखना)। अर्थात् इसकी रचना उत्तरोत्तर आश्चर्यजनक एवं कुछ छिपी हुई कथा की, क्रमशः समाप्ति में, प्रस्फुटित हो। और अमरकार (अमरकोष के रचयिता अमरसिंह) द्वारा भी उपन्यासस्तु वाङ्मुखम् अर्थात् 'वाङ्मुखी वाचा यह अथ, उपन्यास' के तात्पर्य से ही घटता है। इत्यादि प्रमाणा से उपन्यास भी प्राचीन काल से भारतवर्ष में प्रचलित है और दशबुजार चरित वासवदत्ता, 'हृष चरित', कादम्बरी' आदि उपन्यास, इसकी प्राचीनता के प्रमाण हैं।”

हिन्दी साहित्य का सबप्रथम व्यवस्थित समीक्षात्मक ग्रन्थ मिश्रब धुविनोद माना जाता है जिसका प्रथम प्रकाशन सन् १९१३ ई० में हुआ था। यह महत्वपूर्ण साहित्यिक घटना श्री रामचन्द्र शुक्ल द्वारा हिन्दी साहित्य का इतिहास' के प्रकाशन में, सोलह वर्ष पूर्व की है। इस ग्रन्थ के विद्वान्वाचक से ज्ञात होगा कि मिश्रब धुओं की दृष्टि में, उपन्यास विधा का कोई विशेष महत्व नहीं था। उदाहरणार्थ 'मिश्रब धु विनोद' के तीसरे भाग के अन्तगत, निम्न टिप्पणी (सख्या २१७४) अवलोकनीय है —

श्रीनिवासदास लाला—इन्होंने परीक्षागुरु नामक एक उपन्यास भी बनाया, पर वह ऐसा अच्छा नहीं है जैसे कि इनका अन्य ग्रन्थ है। हम इनकी गणना, तोप कवि की श्रेणी में करेंगे। इनकी अकाल मृत्यु शब्द १९४४ में हो गई जिससे हिन्दी के नाटक विभाग को बड़ी क्षति पहुँची।”

१ प्रणयिनी परिणम (श्री किशोरीलाल गोस्वामी) उपादधात शीघ्र से, प्रथारम्भ में (प्रथम प्रकाशा १८९० ई०, प्रभाकरी यशालय, काशी)।

२ यही

३ 'मिश्रब धुविनोद' भाग ३ पृष्ठ ११९७-९८ (प्रथम प्रकाशन १९१३ ई०)

४ प्रसन्न मन्वरण, द्वितीयावृत्ति (सन १९२८) (प्र० गंगा पुस्तकमाला, बनारस)।

श्री श्यामसुन्दरदास के रसकथनपर कि उप-यास की कोई शास्त्रीय मर्यादा नहीं है, अब पुन विचार करना उचित होगा। प्रत्येक साहित्यिक विधा की शास्त्रीय मर्यादाएँ हो भी सकती हैं और नहीं भी। फिर भी लोक-काव्य, शास्त्रीय मर्यादाएँ नहीं मानता—चाह वह दृश्यकाव्य होव जयवा श्रव्यकाव्य—पद्यकाव्य होवे या गद्यकाव्य। इसीलिए उप-यासेतर अन्य विधाओं ने तो पहले या बाद में, शास्त्रीय मर्यादाओं में बंधे रहना और उसी के अंतर्गत, अपना नव नव विकास करना किन्ही अंश में स्वीकार कर भी लिया, किन्तु उप-यास की उन्मुक्तता एवं उच्च गलता आज भी ज्यों की त्यों बनी हुई है।

इसका कारण यह नहीं है कि उप-यास सामान्य रूप से 'श्रव्यकाव्य' के अंतर्गत मान्य है। बरन् या कहना अधिक समुचित होगा कि उप-यास यद्यपि मुख्यतया, अन्य काव्य है, तथापि लोककाव्य होने के नाते उसको शास्त्रीय मर्यादाओं में बाधे जाने के सभी प्रयत्न भूतकाल में भी विफल रहे हैं तथा भविष्य में भी—जब-जब ऐसे प्रयत्न किए जायें—विफल ही होंगे।

श्री श्यामसुन्दरदास द्वारा प्रतिपादित यह अभिमत कि 'पश्चिम की प्रणाली पर भारतीय देश भाषाओं में भी इसका इतना अधिक प्रसार हो गया है कि अब यह काव्य साहित्य में, स्वतंत्र रूप से अपनी एक अलग कोटि बना चुका है सत्य का माधा विषय है। यह हो सकता है कि भारतीय दश भाषाओं में कुछ उप-यास ऐसे भी लिखे गए हों जिनमें पश्चिम की प्रणाली अपनाई गई है किन्तु वस्तुतः वे भारतीय ण भाषाओं के उप-यास के प्रतिनिधि ग्रन्थ नहीं हैं और कलाकोटि की दृष्टि से, वे अत्यंत साधारण कृतियाँ हैं (उदाहरणार्थ—परीक्षागुरु)। इस सम्बन्ध में इतना और भी स्मरणीय है कि भारतीय उप-यास का उद्भव एवं विकास पाश्चात्य प्रभाव से नवथा मुक्त एवं स्वतंत्र रहा है।

श्री श्यामसुन्दरदास की उक्त अभिमत तालिका की सत्या (ग) और (घ) का अनुकरण करने हुए विगत २० वर्ष के सुदीर्घ कालांतर में उप-यास की समीक्षा करणी में जिस रीतिबद्ध परम्परा का प्रचलन दिखाई देता है उसका मूलाधार माहित्यालाचन ग्रन्थ का यही कोटि विभाजन एवं पन्सूनी विवेचन ही है। इस विवेचना करणी से उप-यास विधा की समीक्षा में पाठकों की रुचि में चाहे वृद्धि हुई हो तथा उपयुक्त पटसूत्री विवेचना से उप-यास सम्बन्धी जालाचना साहित्य का चाहे सुविस्तार हुआ है किन्तु जसा कि सदा ही होता जाया है समीक्षा-सम्बन्धी रीतिबद्धता के कारण साहित्य विधाओं के मौलिक तत्व प्रायः अनुद्घाटित ही रह जाते हैं। यहाँ नहीं प्रायः उनकी ओर साहित्य रसिकों का ध्यान भी नहीं जान पाता।

उप-यास में जीवन की 'साक्षात्' जीवन के साथ जीवन की वास्तविकता तथा जीवन-नीति की निदर्शना आदि विशिष्टताओं का ही यदि उप-यास की कसौटी मान लिया जाय तो उक्त, मान्य एवं सामान्य कान्ति के उप-यासों का भेद ही मिट

जायगा, और ऐसी वृत्तियाँ भी उपयासवादि में गिनी जाने लगेंगी, जिनमें उपयासगत रसात्मकता एवं कथा-सारस्य का, प्रायः अभाव ही पाया जाता है। नीति के साथ उपयास के महत्व एवं श्रेष्ठत्व को जोड़ने में, उपयाम की समीक्षा, उसमें मौलिक तत्वा से ही विरहित हो जाएगी। इस समीक्षा-पद्धति को अपनाने से उपयाम विधा में, कलात्मक अनूठेपन, एवं स्वच्छन्द विकास की अपरिमेय हानि ही होगी।

यद्यपि स्वर्गीय श्री श्यामसुन्दरदास का, संपूर्ण समीक्षा जगत को ऋणी होना चाहिए कि उन्होंने सर्वप्रथम उपयास विधा का, साहित्यालोचन के क्षेत्र में स्थान दिया तथा उस पर विशद विवेचना के सम्बन्ध में, आन वाले अथ समीक्षा का, किन्हीं अंशों में मागप्रदर्शन भी किया तथापि उनके मन्त्रणा एवं धारणाओं के अभावानुवर्ण द्वारा हिन्दी उपयास समीक्षा की आग चन कर बनी हानि हुई।

सन १९२२ ई० में श्री श्यामसुन्दरदास के चिरस्मरणीय आलोचना-ग्रन्थ के प्रकाशन के पश्चात् अधिराश परवर्ती हिन्दी समीक्षावा न उनके द्वारा जारी गई उपयुक्त समीक्षा परम्परा को ही, अधिनाश रूप में अपना लिया, और गतानुगति की सहाज प्रवृत्ति से प्रेरित होकर, समग्र उपयास आलोचना न ही प्रमत्त बनी बल्कि रूप ग्रहण कर लिया। उधर तीव्र बग में बदलन वाले लोकजीवन एवं देशराज्य गत वलन वर्ण ने नय-नय क्षितिजा का उद्घाटन किया, और इसीलिए उपयाम साहित्य की समीक्षा को भी अनिवार्य एक शाश्वत एवं सुदृढ आधार पर प्रतिष्ठित करने की आवश्यकता, अधिकाधिक अनुभव होने लगी।

आज भी 'उपयास विधा का परीक्षण एवं समीक्षण' या तो उक्त 'पटसूत्री तत्व' निरूपण के आधार पर किया जाता है अर्थात्—कथावस्तु चरित्र चित्रण, कथोपकथन देशकाल, शली एवं उद्देश्य—का ही आधारवना कर, प्रत्येक उपयासकी आलोचना की जाती है, अथवा 'उपन्यास विधा' को, एक समूची इकाई न मान कर उसे, श्री श्यामसुन्दरदास द्वारा निर्देशित—घटनाप्रधान, सामाजिक, अंतरंग जीवन परक (अथवा मनाविश्लेषणात्मक), देशकाल मापक, देशकाल निरपेक्ष (अथवा सामाजिक) आदि विविध कोटियों में विभाजित किया जाता है। साथ ही उपयास विधा को उक्त कथावस्तु परक सात्विक विशिष्टताओं के अनुसार जाँचा भी जाता है।

किन्तु जब तक 'उपयास विधा' का, हम स्वयं अभिनव प्रणाली द्वारा आज पुनः परीक्षण करना प्रारम्भ न करें उसकी लोकप्रियता मूलक गरिमा को, साहित्यिक मायता दिनवाने में हम सदा ही असमर्थ रहेंगे। इसीलिए हम उपयाम विधा की व्युत्पत्ति एवं उसके शब्दतिहास का भी, एक बार नय निरर से पुनः परीक्षण कर लेना चाहिए। इसमें भी सर्वप्रथम यह विचारणीय है कि 'उपयास' शब्द की व्युत्पत्ति द्वारा, उपयास विधा की विशिष्टताओं पर, कोई उपयोगी प्रकाश पड़ता है या नहीं ?

उपयास—पद 'उप' (उपसर्ग) तथा 'नि' (उपसर्ग) तथा 'अस' (धातु), तथा 'अच्' (प्रत्यय) इन चार पदखण्डों के सम्बन्ध में, वना है। नि + अस + अच् का योग

होता है 'यास' । 'यास' शब्द के जनक अर्थों में एक है, 'घाती' या 'घरोहर' । 'उप' (उपसर्ग) का अर्थ है निवृत्तस्थ, समीप । इन दोनों के योग से 'उप-यास'-पद में द्वयथकता का समावेश होता है—अथात् समीपस्थता, तथा घरोहर में प्राप्ति—इन दोनों तथ्या की समन्वित द्वारा, 'उप-यास' पद की मौलिक प्रकृति का आभास मिल सकता है ।

कथा साहित्य के एक विशिष्ट साहित्य रूप में व्यवहृत होने पर 'उपन्यास' पद का अर्थ होता है—एक ऐसी साहित्य विधा जो हमारे निकटतम हो—जो हमारे मनोभावा की सहज एवं आत्मोपमा युक्त अभिव्यजना हो अथवा जिसमें हमारा आस पास की समुपस्थित परिस्थितियों का प्रतिबिम्ब पाया जाए । यही नहीं घरोहर के रूप में चले जाने वाले प्रभूत लोककथा साहित्य का भी, जो प्रतिनिधि रूप होवे । इतिवृत्तात्मक वृत्तान्तों एवं ऐतिहासिक लोकोत्तर चरितों की, पीढ़ी दर पीढ़ी की अन्वय निधि की गरिमा से, जो मंडित हो ।

यह व्याख्या उपन्यास के आधुनिकतम रूप से पर्याप्त मिलती जुलती है । हिन्दी साहित्य काश में उक्त अभिप्राय की ही अभिव्यजना के लिये निम्न शब्दावली का प्रयोग किया गया है—

'वह वस्तु या वृत्ति जिसको पढ़ कर ऐसा लग कि यह हमारी ही है । इसमें हमारे ही जीवन का प्रतिबिम्ब है । इसमें हमारी ही कथा हमारी ही भाषा में कही गई है ।

आधुनिक युग में जिस साहित्य विशेष के लिए इस (उप-यास) शब्द का प्रयोग किया जाता है उसकी प्रकृति को स्पष्ट करने में यह शब्द, सर्वथा समर्थ है ।'

उपयुक्त परिभाषा स्वीकार्य एवं मान्य है तथापि उसमें, समस्त 'उप-यास' पद के परवर्ती खण्ड अर्थात् 'यास' को महत्व नहीं मिल पाया केवल उसके समीपता तत्व पर ही प्रकाश डाला गया है । अतः यदि उक्त परिभाषा के साथ ही साथ हम 'यास' पदखण्ड के घरोहर वाले अर्थ का भी समन्वित करें तो उससे आधुनिक साहित्य विधा के रूप में उप-यास पद की अभिव्यजना में—अथ-प्राप्ति एवं अथ-मपूणता दोनों का ही दृष्टि से अभिवृद्धि होगी । इस समन्वित परिभाषा का एक प्रारूप यह भी हो सकता है—

वह साहित्यिक कृति जिसको पढ़ कर ऐसा लग कि वह हमारी अपनी ही है—इसलिए कि उसमें न केवल हमारे अपने जीवन का प्रतिबिम्ब है, बल्कि उसमें हमारे पूर्वजों के जीवन को पुनरुज्जना भी है जो उप-यास के माध्यम द्वारा हमारे लिए पुनः साकार हो उठती है और साथ ही वह उसमें, हमारे वर्तमान एवं अतीत जातीय

जीवन दाना के बीच, परस्पर परंपरागत तारनम्य की स्थापना करने वाली भी, सिद्ध होती है। यही नहीं, जिसमें निजी मनोभावा की, इतनी सहज एवं आत्मीयतायुक्त अभिव्यक्ति निहित रहती है, कि हम जान पड़ता है, कि माना हमारी ही क्या, हमें, हमारी चिरपरिचित एवं सहज वाद्यगम्य भाषा में, सुनाई जा रही है।

उपमास में हम, अपने आसपास के परिवेश, तथा अपने परंपरागत जातीय जीवन का अद्भुत सामंजस्य एवं समावेश उपलब्ध होता है। इसीलिए 'उपमास' पद, आधुनिक जन्मिल साहित्य मृष्टि में, सवप्रिय एवं, 'लोकवाच्य सत्ता की अधि-कारिणी, साहित्य विधा का, परिचायक है।

इस प्रकार की नई परिभाषा उपमास विधा की मौलिक सहज प्रवृत्ति एवं विशिष्टता को पर्याप्त संपूर्णता के साथ प्रतिबिम्बित करने में समर्थ है किन्तु उपमास विधा का ज्ञानमु एवं समीक्षक यही सतुष्ट होकर नहीं बठ पायेगा। परिभाषाओं की केवल तकमूलता ही वास्तविक अध्ययन-अनुसंधान की, प्रशस्त एवं सहज, सत्यशाधक सरणी को, जगसर करने में समर्थ नहीं हो पाएगी। व्याकरण सिद्ध व्युत्पत्तिमूलक जय के साथ ही साथ, जब हम किसी शब्द विशेष के परंपरागत परिवर्तन गत व विभिन्न प्रयोग गत अर्थभेद की ओर, ध्यान देते हैं, तो कभी-कभी उससे, बड़ी चमत्कारपूर्ण उपलब्धियाँ भी, हमारे समक्ष आ जाती हैं। विभिन्न साहित्यशास्त्री आचार्य तो समय समय पर शब्दों के बदलन हुए अर्थों को उद्घाटित करते ही रहते हैं किन्तु उनकी मूलाधार अनुसंधान-सामग्री हाती है—तदावधि प्राप्त, साहित्य-मृष्टि। प्रकट रूप से वह साहित्य-मृष्टि, अधिकांशतः, साहित्य की परिनिष्ठित 'उच्च' भाषा से युक्त रहता है, और हमारे वाच्य एवं महावाच्य ही, बहुधा, उसका प्रतिनिधित्व करत है। किन्तु 'उपमास' की भाँति, नाटक में भी रगमधीय विशिष्टता के कारण, लोकभाषा का भा कभी कभी अनिवाय एवं सहज व्यवहार मिल जाता है। विशेषतया जब पात्रगण, अपने हृदयगत वगवान भावा की अनायास अभिव्यक्ति करने के लिए आतुर हो उठते हैं।

ऐसा ही एक स्थल, हम कविकुलगुरु कालिदास को युगयुगीन चिरस्मृत कला कृति अभिमान शकुन्तलम में, दिखाई देता है। प्रसंग है महर्षि कण्व द्वारा शकुन्तला का अपन पतिगृह, जहाँ राजा दुष्यन्त का राजतुल्य में, भेजे जान के ठीक बाद का। जब आश्रम के अधिव्यासगण, शकुन्तला का लेकर, राजा दुष्यन्त का राजदरवार में पहुँचे, तो प्रारम्भिक शिष्टाचार के चार्त्तलाप के पश्चात्, आया गौतमी न, राजा दुष्यन्त को, महर्षि कण्व का संदेश सुनाया और कहा कि तुम अपनी, स्वपत्न्य की हुई धर्मपत्नी, शकुन्तला को, विधिवत् स्वीकार करा। तो इस पर राजा न विरमय प्रकट करते हुए उससे पूछा— किमिन् उपयस्तम् ?<sup>१</sup> (अर्थान् यह क्या, मन-गडन्त क्या, गड ली गई है ?)

१ अभिज्ञान शकुन्तलम् (महाकविकालिदास), अंक ५, [श्लोक १६ के ठीक पश्चात्]।

यहाँ 'उप-यस्तम' त्रियापद का अर्थ है 'मन से गड़ी हुई बात'। 'उपन्यास' त्रिया का अर्थ है मन की कल्पना से गढ़ डालन की प्रथिया। उसको व्युत्पत्ति होती है 'उप + नि + अस्'। 'उप-यस' त्रिया से ही 'उप-यस्त' त्रियापद प्रचलित हुआ। तदुपरांत न जाने कब 'उप-यस्त' कहानी या वार्ता के लिए 'उप-याम' सना प्रचलन में आई और फिर आगे चल कर, वह मात्र मनगढ़न्न वाता न रह कर, उस विशिष्ट साहित्य विधा की वाचक, रूढ़ सना के रूप में प्रवर्तित हो चली, जिसे हम आज 'उप-यास' के रूप में जानते हैं।

उपयुक्त प्रसंग से उप-यास शब्द के इतिवृत्त की इस विशिष्टता पर भी प्रमाण पड़ता है कि महाकवि बालिनास के काल तक यानो आज से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले तक उप-यास विधा की एक प्रमुख विशिष्टता मानी जाती थी उसकी कल्पना-बहुलता अथवा उमम प्रयुक्त स्वच्छन्दता कल्पना की उ मुक्त लीला। जीवन दर्शन वाली बात, जिसे हम आजकल उप-याम के छ तत्वा में से 'उद्देश्य' के अन्तर्गत खोजते हैं समवन्तया उप-यास विधा के मौलिक उद्भव एवं विकास के स्तर में, गौण अथवा नगण्य थी। कल्पना जगत में पख लगा कर उड़ चलन की उसकी उ मुक्त स्वच्छन्दता ही अधिक अंशों में युक्ति-युक्त मानी जाती था।

उप-याम शब्द का उक्त विशिष्ट मौलिक प्रकृति अथवा उसकी मनाहागिता, मनोरजन प्रधानता कल्पना-बहुलता तथा स्वच्छन्द प्रवृत्तमानता की भार रह रह कर आज भी हमारा ध्यान लौटता है। वह हम बारम्बार याद दिला जाती है कि उप-यास विधा का मुख्य उद्देश्य है—लाकरजन। जिस उप-याम में उक्त विशिष्टता गौण बन जाती है वह तात्विक दृष्टि से उच्चतम जाप-यासिक कृति कहलान की अधि कारिणा नहीं मानी जा सकती। जब जब इस प्रयाग किण्वण जिनमें उक्त विशिष्टता के प्रति उत्साहनता बन्ती गई—व कुछ सक्षिप्त अवधि तक ही ख्यातसम चमक कर, फिर सदा के लिए अधकार रूपी विस्मृति के गम में विलीन हो गए। उनका मूल्य केवल इतिवृत्तात्मक एवं पुरातत्वगत ही रह गया, और पाठकों के विशाल लाकमत न उह ठुकरा दिया।

उपन्यास विधा का व्युत्पत्तिमूलक प्रकृति एवं उसने प्राचीन प्रयागार्थों पर प्रारम्भिक विचार विमर्श के पश्चात् अपन माय एवं विचक्षण प्राचीन साहित्य शास्त्रियों के कल्पित मतों पर भी ध्यान देना उपयागी होगा। ईसवी शती के प्रवन्त से पहले जीर सप्तम शती के अन्त तक संस्कृत भाषा में साहित्य समीक्षा में प्रवृत्त इन प्रतिष्ठित आचार्यों ने, प्राय एक सप्तम वर्ष तक विभिन्न प्रसंगा एवं प्रयागार्थों में उप-यास शब्द का व्यवहृत किया है। उसमें ईसवी मन से प्राय दश शता पूर्व आचार्य प्रवर भरतमुनि सर्वांग्रगण्य माने जाते हैं। प्राय विद्वज्जन उह भारतीय साहित्य शास्त्र का आद्य आचार्य भी मानते हैं। उनकी प्रख्यात समालोचना

त्मक कृति 'नाट्य शास्त्र' में दृश्य-वाच्य का समक्ष रूप कर साहित्य के विविध कलात्मक एवं रमात्मक पक्षा पर गम्भीर विचार विवेचन किया गया है।

श्री भरतमुनि एवं उनके नाट्य शास्त्र की तिथियाँ व सम्बन्ध में अभी तक विद्वज्जना में सम्पूर्ण मतभेद नहीं पाया जाता किन्तु महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री ने, आज सत्राय चार दशक पूर्व रायल एशियाटिक सोसायटी के तत्वावधान में प्रकाशित जरनल (शाघ पत्रिका) में नाट्य शास्त्र की रचनातिथि, ईसवी-पूर्व दूसरी शती सिद्ध की थी।<sup>१</sup> इसी अभिमत को पीटरसन नामक एक सुम्यात् पाश्चात्य प्राच्यविद् ने भी युक्ति-युक्त माना था।<sup>२</sup> भरतमुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में 'उपन्यास' शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग, 'दृश्य काव्य' सम्बन्धी विशद विवेचन में किया है। नाट्य शास्त्र के उनीसवें अध्याय में, दृश्यकाव्य में व्यवहृत विभिन्न प्रासंगिक कथाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में, 'पताका स्थानक' नामक विभेद के एक उपभेद विशेष को वे 'उपन्यास सना प्रदान करत हैं।'<sup>३</sup>

भरतमुनि कृत 'नाट्य शास्त्र' की अनेकानेक प्राचीन साहित्य शास्त्रियाँ न विशद टीकाएँ की हैं। उनमें सर्वाधिक भाग्य एवं सागापाग विवेचन ईसवी शती दसवीं के उत्तरार्ध में होने वाले आचार्य धनजय का 'दशरूपक' माना जाता है।

उन्होंने 'दृश्य-वाच्य' गत शास्त्रीय विशिष्टताओं का मविस्तर विवेचन करत हुए दृश्य-वाच्य का २८ भेदा में विभाजित किया है। उनमें से दस 'रूपक तथा १८ उपरूपक मान गए हैं। उक्त वर्गीकरण का मुख्य आधार उहान (१) कथावस्तु (२) नायक तथा (३) मुख्य रस को दृष्टि में रखत हुए किया है। जागे चतुर्क-रन्धान 'कथावस्तु' या कथानक को भी दो प्रकार का माना है—(१) जाधिकारक कथानक, (२) प्रासंगिक कथानक। फिर 'प्रासंगिक कथानक' के भी उहाने दो विभेद किए हैं—(अ) पताका, (आ) प्रकरी (जो प्रासंगिक कथाएँ या कथावस्तुगत प्रसंग सहसा प्रस्तुत हो जाते हैं और फिर विलीन हो जाते हैं जर्थात् जिनका प्रसंग फिर बार बार नहीं आता उह प्रकरी सना दा गई है। किन्तु कुछ ऐसी प्रासंगिक कथाएँ भी दृश्यकाव्य गत कथानक में आ जाती हैं, जो मुख्य-कथा के साथ ही साथ बहुत दूरी तक जयवा कभी-कभी आद्यापात भी चलती रहती हैं। उह 'पताका सना दी गई है।

१ जरनल आफ रायल एशियाटिक सोसायटी में महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री का शाघ निवेद्य (प्र० कलकत्ता, सन् १९३० ई०)।

२ शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत, भाग १, श्री गणविद त्रिगुणायत पी-एच० डी०, डी० लिट० (भारती साहित्य मंदिर दिल्ली १९६२ ई०) पृष्ठ ३६७

३ 'नाट्य शास्त्र (आचार्य भरतमुनि) अध्याय १६ श्लोक ३५

४ दशरूपक (धनजय), रचनाकाल ९७५ ई० [हिन्दी व्याख्याकार डॉ० मानाशकर व्यास] चौदहवा विद्या भवन बनारस प्र० २०११ वि०।



पताका नामक प्रासंगिक कथाओं की ही एक प्रशंसा का 'पताका स्थानक' कहा गया है। फिर पताका स्थानक को भी चार उपभेदां में विभाजित किया गया। चौथे उपभेद का नामकरण किया गया है 'उपयाम'। भरतमुनि ने अपना उक्त नाट्य शास्त्र-गत उल्लेख इसी प्रसंग में किया है। किंतु जाग चल कर स्वयं भरतमुनि ने अपने आशय को इस भांति स्पष्ट किया है— 'उपपत्तिकृतत्वयम उपयास तु सम्मृत।' (अर्थात् युक्तिपूर्वक किसी अभिप्राय विषय का व्यक्त करने वाले कथा प्रसंग को 'उपयास' नाम से संमरण किया जाता है।)

दशरूपकार आचार्य धनजय ने पताका स्थानक की परिभाषा निम्न शब्दों में की है—

प्रस्तुतागतुभाषस्य वस्तुनोऽप्योक्ति सूक्तकम् ।

पताकास्थानकम् तुल्यम् सविधानविशेषणम् ॥<sup>१</sup>

(अर्थात् प्रस्तुत से आगे जान वाले भाव के वार में जहां कथावस्तु में अयोक्ति द्वारा भली भांति कह दिया जाय वहां उस पताका-स्थानक नाम से विशेष सना प्रदान की जाती है।)

आज से प्रायः दो सहस्र वर्ष पूर्व से उपयास शब्द का प्रयोग जनक साहित्य शास्त्री दृश्य काव्य के प्रसंग में उपयुक्त अर्थों में करत आए हैं। फिर भी ये पुरातन अथवा आज की 'उपयाम' विधा की मूलभूत प्रकृति एवं प्रवृत्ति से पर्याप्त घनिष्ठ सम्बन्ध रखत हैं। यह बात सुनने में कुछ जटपटा जान पड़ेगी अतः इसकी कुछ 'यारया', अपभ्रंशित है। वस्तुतः अखिल परिनिष्ठित वाङ्मय का जाद्य रूप एवं जाद्य उद्गम, लोक-साहित्य ही रहा है। यह एक सर्वमाय तथ्य है। समयान्तर में लोककथा न ही उपन्यास-कहानी अथवा कथा साहित्य का रूप ग्रहण किया। लोकगीत न ही जाग चल कर काव्य में परिणति पाई तथा लोकनाट्य ही समयान्तर में दृश्य काव्य में प्रतिफलित हुआ। काव्य एवं दृश्य काव्य न ता बहुत अंश में अपने जाद्यरूप से पर्याप्त भिन्न सरणियां एवं पद्धतियां अपना लीं किंतु कथा साहित्य न—(उसमें भी विशेषतया उपयास न) अभी तक अपनी लोककथामक प्रकृति एवं प्राविधान को पर्याप्त अंश में अपनाए रखा है।<sup>१</sup>

१ भरतमुनि—नाट्य शास्त्र' अध्याय १६ श्लोक ७६

२ धनजय—दशरूपक अध्याय १ श्लोक १४

३ विशेष विवरण एवं व्याख्या के लिए दृष्टव्य—हिं. उपयासों में लोकत्व' (डा० इंदिरा जोशी) (आगरा विश्वविद्यालय का पा-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध) पृष्ठ १ अध्याय २ (लोककथा का विकास एवं उसका उपयास रूप में परिणति) पृष्ठ १६-४७ (प्रथम प्रकाशन १९५५ ई०) (सरस्वती प्रकाशन मंदिर प्रयाग)।

पताका नामक प्रासंगिक कथा भेद, दृश्य काय में वस्तुतः उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि कथा-साहित्य में। विवेकपतया जब लाव-कथा-साहित्य में, अपना 'उप-न्यास' नामरूपधारी पचीटा परिवेण घागण किया, तो उसकी एक मूलभूत विशेषता फिर भी (उप-यास में) ज्या की त्या बनी रही। यह मूलभूत विशेषता यह थी कि मुख्य कथा की, एक समानमूत्र में पिरोई गई सुगुम्भित कथामाला में वित्तनी ही जय सहायक कथाएँ उपकथाएँ तथा प्रासंगिक कथाएँ समाई जाती रही। यह विशिष्टता उप-यास में अपने पुरुरूप 'लोवकथा' से ज्या की त्या अवस्थित रह गई।

उप-यास साहित्य रूप को, उसके महजाति कहानी साहित्य रूप से पृथक करने वाली उपयुक्त समान कथामाला शली की विशिष्टता, ही है। जय कि 'कहानी' में एक सीधी और प्रशस्त कथा रहा करती है 'उप-यास' में न जाने कितने विभिन्न कथासूत्रों का ताना बाना सा बुना हुआ जान पड़ता है। जत यदि सुदीघकालीन अवान्तर के पश्चात् अपनी इसी एक विशिष्ट मूलभूत विशिष्टता के बल पर—दृश्य काव्य गत 'पताका'—विभे' के दोतक 'उप-यास' शब्द न, अपनी जाज की अभिनव एक स्वतंत्र, कथा साहित्यात्मक सजा (उप-यास) को ग्रहण कर लिया, तो इसे सवथा अयुक्तियुक्त एक सहसा घटित नहीं कहा जा सकता। यदाकदा विश आलोचक-गण भी इस शाश्वत सत्य का विस्मृत कर जान है कि कोई भी साहित्यिक घटना मात्र-सयाम अथवा सहसा घटित नहीं हुआ करती तथा उसके मूल में, कोई न कोई विस्मृत पुर प्रवृत्ति, अवश्य त्रियमाण रहा करता है।

सभी जानते हैं कि 'उप-यास' में प्रासंगिक कथा-आ का समावेश करना, स्वयं में एक बड़ी ही सूक्ष्म साहित्य निव घन कला है। सभी प्रासंगिक कथाएँ मिदहस्त उप-यासकार द्वारा बड़े ही व्यजनापूर्ण कौशल क साथ मुग्य कथा में निमज्जित कर दा जाना है तथा उनमें से प्रत्येक ('पताका स्थानक' के समान ही) अपने एक विशिष्ट अभिप्राय को सकतित भी करती है। वस्तुतः बिना प्रासंगिक कथा-आ के इस कथा-सक निमज्जन क, हम 'उप-यास' की, कल्पना भा नहीं कर सकत।

इस भाति यद्यपि कभी उप-यास पद का जाज एक शास्त्रीय प्रयाग प्रासंगिक कथात्व के रूप में प्रवृत्ति हुआ था किंतु सयागवश कालांतर में, उसी न कथा साहित्य की इस विधा विशेष का व्यजक नामरूप ग्रहण कर लिया। इस भाति वह आज भी हमें उप-यास विधा के, एक विशिष्ट मूलभूत तत्व का याद दिला जाता है, जिसका कि उसके रूप विधान में एक प्रमुख याग रहा है।

उपयुक्त विवेचन द्वारा 'उप-यास' शा-के युत्पत्ति-गत एक उभके शास्त्र-गत तथा प्रयोग गत अथ विचारस उप-यास विधा की जिन मुख्य विशिष्टताओं का उद्घाटन हो पाया है व है—

(क) 'उप-यास'—हमारे जास-याम फल हुए परिवेश की अकृत्रिम, जा-मीय कथात्मक अभिव्यजना है।

(ख) वह परम्परागत एव इतिवृत्तात्मक मानव अनुभूति एव चिरस्मरणीय घटनावली का भी अपने मे ममावश करता चलता है, जो हमें 'घरोहर' या विरासत के रूप में, अपने पूर्वजों से पीढ़ी दर पीढ़ी प्राप्त होती रही है।

(ग) उप-यास मुख्यतः लोक मनोरंजन उ-मुख साहित्य है, इसीलिए उसमें हमें मानव मन की जवाब कल्पना (उडाना) के दर्शन मिलते हैं। सब मिला कर वह एक ऐसे ससार का सृजन करता है जो सचमुच ही मायावी मनभावन और मनाहारा है।

(घ) उप-यास जनमानस प्रासंगिक उल्लेखा एव उप-कथाओं के पेचीदा ताने बान से रूपायित होता है और ये सभी प्रासंगिक तत्व उसके विशिष्ट अभिप्राय में, किसी न किसी रूप में सहायक सिद्ध होते हैं।

हमारे प्रभूत जालोचना साहित्य में उप-यास शब्द का प्रयोग बारम्बार पाया जाता है। ई० सन् १३००-१४०० के बीच आचार्य विश्वनाथ ने 'उप-यास शब्द की व्याख्या करते हुए अपने प्रसिद्ध काव्य शास्त्र ग्रन्थ साहित्य दपण में यों लिखा है— उप-यास प्रसादनम् प्रसन्नता संपादनम् वा<sup>१</sup> अथात् उप-यास का मुख्य अभिप्राय है 'प्रसादन' अथवा प्रसन्नता का सम्पादन नियोजन करना।)

उक्त व्याख्या उप-यास विधा के मुख्य अभिप्राय प्रसादन अथवा प्रसन्नता संपादन के अनुकूल पड़ती है। इस दृष्टि से उप-यास विधा की उसकी वर्तमान 'उप-यास' सना केवल रुढ़ न होकर साधक एव साभिप्राय भी है। इस भाँति 'उप-यास' पद का प्रयोग भरत मुनि से लेकर आचार्य विश्वनाथ तक के सुदीर्घ कालान्तर में (प्रायः डेढ़ सहस्र वर्ष तक) संस्कृत वाङ्मय के साहित्य एव काव्यशास्त्र दोनों में ही प्रायः निरन्तर ही पाया जाता रहा है। यथा—आचार्य धनिक न भी अपने काव्यालोचन ग्रन्थ—अवलाक (रचनाकाल १००० ई०) में उप-यास शब्द का इस भाँति प्रयोग किया है—

प्रसादाप-यासन बीजादभदात् उप-यास इति<sup>१</sup> अथात् जिस भाँति बीज के उदभेद अथात् अक्षुरूप में फूटने से उसके मुख्य अभिप्राय अर्थात् विकसन प्ररोहण की प्रक्रिया, सम्पन्न होती है उसी भाँति प्रसाद अर्थात् प्रसन्नता के खिला देन का काव्य उप-यास द्वारा संपादित जाना है। सूक्ष्मतया जवरोवन से नात हागा कि धनिक की उक्त व्याख्या उनके लगभग तीन सौ वर्ष पश्चात् होने वाले आचार्य विश्वनाथ द्वारा प्रतिपादित याग्या के पयापन समीपवर्ती है।

आचार्य भामह न भी जा आचार्य धनिक से लगभग तीन शती पहले (ई० सन् ५००-७०० के आस पास) हुए थे अपने प्रख्यात काव्य विद्वान ग्रन्थ काव्यालंकार में उप-यास क्रिया पद का प्रयोग विशद एव सविस्तर व्याख्या के पयापन के रूप में

१ विश्वनाथ—साहित्य दपण परिच्छेद ६ श्लोक सग्या ३६७ (स० जीवानन्द विद्यासागर मट्टाचार्य) प्र० १६३६ इ० कलकत्ता।

किया है—'नायकम् प्राक् उपयस्य, वशवीयश्रुतादिभिः ।' (अर्थात् 'नायक' के लक्षणों का निर्देश करते हुए, आचार्य भामह के अनुसार पहले ही, विशद व्याख्यापूर्वक एवं विस्तार से वर्णित 'वश, वीय श्रुत' आदि गुणों से, नायक का समवित्त होना आवश्यक है ।)

'उपयस्य' पद की, 'विशद' विवचना, जयवा विस्तारपूर्वक 'व्याख्या' के अर्थों में किया गया यही प्रयोग, वस्तुतः उपयाम की (चरित् + आत्मकता) चरितात्मकता का बीज माना जाना चाहिए । 'उपयाम' की एक प्रमुख विशेषता, नायक के जयवा उसके प्रसंग से जय पात्र पात्राभा के विशद रूप में चरितात्मक वार्ता वणना की विस्तारपूर्वक एवं विशद वणनात्मक व्याख्या भी है ।

'उपयाम' शब्द का प्रयोग 'विशद एवं सविस्तर व्याख्या' के अर्थों के रूप में इस मूर्तिवत् प्रथम आज से प्रायः चारह शती पहले आचार्य भामह द्वारा किया गया था । वस्तुतः यही प्रयोग, उपयाम की एक मूलभूत विशेषता अर्थात् नायक (अथवा उसके प्रसंग से, जय पात्र पात्राभा) के विशद रूप से चरितात्मक वार्ता वणना के लिए भी किया जाना रहा जो आगे चल कर उपयाम विधा की चरित सभा का भी आदि-कारण बना । [उदाहरणार्थ दशकुमार चरित (दण्डी), 'उदमन चरित अथवा 'रानी कतकी की कहानी (इशाजल्लाह खाँ) आदि जनकानक औपयामिक मुक्तियाँ ।]

आचार्य भामह ने ही एक अर्थ स्थान पर, 'उपयाम' पद का भी प्रयोग या किया है—'उपयमनम् अन्यस्य यदथम्य उच्यते' । (अथवा पाठक के मन में अभिप्राय जयवा उद्देश्य का उदय हो पाए इस दृष्टि से विविध प्रसंगों का 'उपयाम' अर्थात् उनकी विशद विवरण व्याख्या की जानी आवश्यक है । उक्त अर्थों में ही 'उपयाम' क्रियापद का प्रयोग भामह के परवर्ती अनक जय प्राचीन साहित्य शास्त्री भी करते रहे हैं । यथा महाकवि दण्डी ने भी (जो कि मस्कृत वाङ्मय में 'उपयाम विधा' का प्रथम प्रवर्तक भी माना जाता है, तथा जिनका दशकुमार चरित 'उपयाम' उपयाम विधा की अनक आधुनिक विशेषताओं से समवित्त हान के कारण पर्याप्त विस्मय एवं जनक है) अपने 'वा-प्रादग्' (रचनावाली सन ६०० ७०० ई०) नामक प्रसिद्ध वाच्य-ममीक्षाशास्त्र में 'उपयाम' पद का इस मूर्ति प्रयोग किया है—

नायिक्य च प्रत्युत महामन तनापि सौक्येणम् हनु तदापयस्तम् । (अर्थात् यद्यपि इससे पूर्व भी इन प्रसंगों का, उपयुक्त विषय के साथ विवेचित विधा जा चुका है फिर भी सौक्य या सुविधा के लिये, उसका पुनः विशद विवचन कर दिया गया है ।)

१ 'वाच्यशास्त्र' (आचार्य भामह) परिच्छद प्रथम अंशक २२

२ वही परिच्छद द्वितीय श्लोक ७१

३ 'वाच्यशास्त्र' (आचार्य दण्डी) परिच्छद दशमम् ।

'दशरूपक'-कार आचार्य घनजय न भी एक स्थल पर 'उपन्यास' शब्द का प्रयोग — उपन्यास तु सापादम् '—या किया है। (अर्थात् उपन्यास उपादाना-सहित विवचना अथवा विवरण का पर्याय है।) उन्होंने ही जाग चल कर अपन अभिप्राय का और भी स्पष्ट किया है— प्रसादनम् उपन्यास ' अर्थात् 'उपन्यास' का अभिप्राय यही है कि पाठक के मन को वह प्रसादन अथवा आह्लात् प्रदान कर।)

उपन्यास शब्द के विविध प्राचीन प्रयोगों की उक्त संक्षिप्त विवेचना करने का उद्देश्य केवल यही है कि साहित्य का इस विशिष्ट विधा की आद्य प्रेरक अन्तर्चेतना को हम आधुनिक परिप्रेक्ष्य में संतुलित एवं समन्वित कर पाएँ। बिना उमके, उपन्यास के क्षेत्र में आलोचनात्मक मत विमिय एवं मनमाना विवचन बढ़ता ही जाएगा और उससे 'उपन्यास-सत्त्व' के सम्बन्ध में अस्पष्टता या अनुसंधित्यु की कठिनाईयाँ और भी बढ़ती ही जायेंगी।

हमारे प्राचीन वाङ्मय एवं उमके विवेचक कायशास्त्र में, 'उपन्यास' पद की मूलभूत प्रवृत्ति एवं विशेष्य पर हमें जो निर्देश प्राप्त होने हैं उन्हें निम्न प्रकार से सारीकृत किया जा सकता है—

(क) उपन्यास एक जोर तो हमारे आसपास फल हुए वर्तमान जगत की, अदृशित आत्मीय एवं कलात्मिकी अभिव्यक्ति है—जोर दूसरी ओर वह, पीढ़ी दर पीढ़ी परम्परा में प्राप्त मानव-अनुभूति की इतिवृत्तात्मक एवं वृत्तात्मक धराहर है। इस भाँति उपन्यास में अतीत एवं वर्तमान दोनों के ही देशकाल का, अपूर्व सामञ्जस्य पाया जाता है।

(ख) उपन्यास का एक प्रमुख अभिप्राय है—'जन मन रजन। उसमें उपयुक्त, अशा में लोक मनोरंजन के लक्ष्य विम्वय घटना-वर्चिन्त्य एवं विवरण-कला की अनुपम छटा दिग्वाइ देता है।

(ग) उपन्यास मनोप्रेष का उ मुक्त विहार है—अर्थात् उसमें हम कल्पना शीलता की उ मुक्त उडान का सम्पूर्ण विकास दृष्टिगोचर होना है। उपन्यासकार की वणन प्रतिभा इस भाँति सत्य तथा के उद्घाटन तथा उनसे मानसिक उद्भावनाओं की, अनिवायत समन्वित अभिव्यक्ति में निहित रहती है।

(घ) उपन्यास मूलतः एक कथात्मक साहित्य है। उमकी कथावस्तु एवं कथानक का ताना-बाना प्रत्यक्ष रूप में जितना ही सरल एवं सहज जान पड़ता है— उतना ही वह जटिल विविधतायुक्त एवं भूलभुलया के समान उलभना सुलभता चल्ता है। इसलिए एक जोर उपन्यास में मुख्य कथा का महत्व भी बना रहना है और दूसरी ओर उसके अभिप्राय का साकार एवं साक्षात् करने वाली,

विविध प्रासंगिक कथाओं का वितान भी, (उपयास विधा में) कम महत्वशाली नहीं माना जाता ।

(क) 'उपयास' किसी याजनाद्वय 'शीघ्र' अथवा 'वारोगर' का परिणाम, नहीं है । इसके विपरीत वह तो एक सहज रूप में अकुरित, प्रवर्धित, पुष्पित एवं पल्लवित होने वाली आह्लादकारा मृष्टि है जो कि साहित्य की मौलिक एवं चरम विशिष्टता है और जो 'उपयास विधा' में सर्वाधिक पाई जाती है ।

(ख) 'उपयास' का एक पक्ष विशेष 'चरितात्मक' (अथवा चरित्र चित्रण-विषयक) भी है किन्तु उसमें, अथ साहित्य विधाओं के समान, लेखक पात्रों के कुल शोलादि का साधारण अथवा परम्परागत विवरण दान मात्र से ही सतुष्ट नहीं होता — बरन् वह अपनी कृति में, अखिल विश्व की अविध्यपूर्ण मानवता की विलक्षण प्रदर्शनी को प्रत्यक्ष प्रस्तुत करके अपने पाठक को सूक्ष्म निरीक्षण तथा दार्शनिक पर्यवेक्षण में प्रवृत्त करके उसे अपूर्व कथा रम्य में निमज्जित भी करा देना चाहता है ।

उपयास विधा की उपयुक्त मूलभूत विशिष्टताओं की परिचायिका, उक्त पटम्त्री रूपरेखा, समीक्षा के आधुनिक युग में भी अप्राह्य अथवा अस्वीकार्य नहीं होगी । सहस्राब्दि बरों में परिव्याप्त, भारतीय समीक्षात्मक चिन्तन के उपयास सम्बन्धी विवेचन की, वरसाहित्यी भी मानी जा सकती है । चाहे वह 'उपयास विधा व्याख्या' की स्थायी तात्पर्य न भी मानी जाए फिर भी उसमें, परम्परागत भारतीय समीक्षा के 'उपयास'-सम्बन्धी दृष्टिकोण का अनेक अंश में, प्रतिनिधित्व है जाता है ।

अतः, उपयास पद का विविध कोशकारा द्वारा दी गई व्युत्पत्तियाँ, व्याख्याओं तथा परिभाषाओं का भी, पुनर्निरीक्षण परीक्षण कर लेना भी, समीचीन होगा । 'उपयास' की मूलभूत वणनात्मक प्रकृति के सम्बन्ध में उनमें भी हमें अनेक उपयासी निरीक्षण एवं इंगित मिल जाते हैं । यथा 'मानक हिन्दी कोश' के प्रथम खण्ड में हम 'उपयास तथा 'उपयन्त' पदों की निम्न 'व्युत्पत्तियाँ एवं परिभाषाएँ मिलती हैं—

उपयन्त—भू० वृ० (स० उप—नि अस (क्षेपण) + क्त) (१) पास रखा या लाया हुआ । (२) जमानत या धरोहर के रूप में, किसी के पास रखा हुआ । (३) उल्लिखित या कथित । (४) उपयास के रूप में लाया या लिखा हुआ ।'

उपन्यास—पु० (स० उप—नि अस + धा) (१) वाक्य का उपक्रम । प्रधान । (२) जमानत, धरोहर । (३) प्रमाण । (४) वह बड़ी और लम्बी आख्यायिका, जिसमें किसी व्यक्ति के काल्पनिक या वास्तविक जीवन चरित्र का चित्र, अंकित या उपन्यन्त किया जाता है । (नावेल) ।'

१-२ 'मानक हिन्दी कोश'—पहला खण्ड (संपादक रामचन्द्र वर्मा) पृष्ठ ३६३, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रकाश, २०१६ वि०, १९६३ ई०) ।

तदनुसार—‘उपयस्त पत्र क जाद्य जय यास अथवा धराहर या अमानत के अतिरिक्त भी एक अय दिया गया है— उपन्यास के रूप में लाया या लिखा हुआ।’ यह उल्लेख उपयस्त शब्द के चतुर्थ अर्थ के रूप में मिलता है। इसमें प्रगत उपयस्त शब्द की आधुनिक समीक्षा पदावली में व्यवहृत किए जाने की स्वीकृति भी निहित है।

‘उपयस्त’ की उक्त पद व्याख्या के पश्चात् ही ‘उपन्यास’ पद के चतुर्थ अर्थ, इस भाँति दिए गए हैं— वह बड़ी और लम्बी आख्यायिका जिसमें किसी व्यक्ति के काल्पनिक या वास्तविक जीवन चरित्र का चित्र, अर्थात् या उपस्थित किया जाता है (नावेल)। इस व्याख्या द्वारा उपन्यास की वणनात्मक प्रकृति पर भी ध्यान दिया गया है।

प्रकट है कि ‘किसी व्यक्ति के काल्पनिक या वास्तविक जीवन चरित्र का चित्र (अथवा शब्द चित्र) अर्थात् या साक्षात् चरित्र में उपन्यास कला की वणनात्मक प्रतिमा सतत ही कसौटी पर रहती है। उपन्यास नामक साहित्य रूप में सबसे अधिक विशिष्ट गुण है काल्पनिक अथवा वास्तविक जगत से लिये गये शब्दों में अर्थात् अथवा चित्रित वणनात्मक प्रसंगा की सुघट्ट ममृद्धि जिस पर कि बहुत अशा में इस साहित्याग का मूलाधार ही अवस्थित है।

‘मानक कोश की उक्त (चतुर्थ) व्याख्या के प्रथम चरण की ओर भी बरबस ही जिज्ञासु का ध्यान जाता है। अर्थात् उपन्यास एक बड़ी और लम्बी ‘आख्यायिका’ है। कोशकार ने यहाँ भारतीय साहित्य शास्त्र में व्यवहृत, एक पुराने पारिभाषिक पद की नूतन जावति की है। यह आख्यायिका क्या है ?

अग्निपुराण में जो महर्षि व्यास प्रणीत भारतीय साहित्य शास्त्र का आद्य ग्रन्थ भी माना जाता है (रचनाकाल ई० पू० १०० अथवा उससे भी पूर्व) गद्यकाव्य के पाँच प्रकार विवेचित किए गए हैं— आख्यायिका कथा खण्डकथा पर्विषा और कथनिका। उसी के अनुसार आख्यायिका नामक गद्यकाव्य विभेद विशेष की व्याख्या इस भाँति की गई है—

आख्यायिका वह है जिसमें कुछ विस्तारपूर्वक लेखक द्वारा, निज वश की प्रशंसा आदि का समावेश किया जाय। साथ ही जिसमें कथाहरण सप्राम, विप्रलम्भ शृंगार के अन्तगत आने वाली अनेक विपत्तियाँ के वणन आदि का सविस्तार वणन पाया जाये। आख्यायिका में आए हुए वणन की रीति और वृत्ति अति प्रदीप्त श्लोकों में होंगे। उसमें परिच्छेद होंगे जिन्हें उच्छ्वासात् नाम दिया जाता है। उसमें ध्रुवक श्लोक का बाहुल्य होवे और उसमें वक्त्र तथा अपर वक्त्र नामक श्लोकों का भी यथावसर समावेश किया जाय।

अग्निपुराण में जिस 'ध्रुवक' शब्दी का आख्यायिका में वाटुल्य वाञ्छित है उसमें बदर्मी रीति के अोज, प्रसाद, माधुम, सौकुमाय आदि सभी गुणा का समावेश रहा करता है। अति प्रतीप्त शब्दी से अभिप्राय है आकषक सजीव एवं चटकदार भाषा एवं भावामिव्यञ्जना से।

साहित्य दणकार आचार्य विश्वनाथ ने भी अपने शास्त्रीय सिद्धान्त-ग्रन्थ 'साहित्य रक्षण' में आख्यायिका की व्याख्या इस प्रकार की है—

आख्यायिका भी अपनी मूलभूत प्रवृत्ति में, कथा के समान ही होती है। इसमें कवि, अपने अथवा अन्य कवियों के वशादि का सिलसिलेवार अनुकीर्तन करके काव्य रचना में प्रवृत्त होता है। 'आख्यायिका के विविध कथाशा को अलग अलग करके, उन्हें 'आश्वास' सजा दी जाती है। साथ ही उमम, किसी वाक् विशेषता अथवा सवेत या सुभाव के द्वारा पद्यावद्ध आर्या वक्त्र आदि किन्हीं भी छन्दों में—आश्वास मुख (या नवीन परिच्छेद की प्रस्तावना) के रूप में पूरे परिच्छेद के भावी अभिप्राय को सार रूप में प्रस्तुत किया जाता है।'

आचार्य विश्वनाथ ने वाणमट्ट कृत 'हृष्यचरित' का 'आख्यायिका' के उदाहरण के रूप में उल्लेख किया है। उन्होंने 'आख्यायिका' को कथावत् बताया है—अतः 'आख्यायिका' सम्बन्धी उनके अभिमत को समझने के लिए उनकी 'कथा' सम्बन्धी परिभाषा की जरूर भी ध्यान देना होगा। उनकी राय—

'कथा में सरसकथावस्तु अथवा वक्त्र वस्तु का गद्य ही में निमाण किया जाता है। वही नहीं उसमें आर्या, वक्त्र अथवा अववक्त्र आदि पद्य छन्दों का भी प्रयोग किया जाता है और यह प्रयोग, कथा के प्रारम्भ में, मगलाचरण, नमस्कार, के लिए किया जाता है। कथा में खल आदि दुष्ट पात्रों का भी वणन, कथावत् में किया जाता है।'

यदि मानक कोश की आधुनिक परिभाषा के साथ हम, प्राचीन आचार्यों द्वारा अपने काव्य शास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित तथा पुराणा आदि में पाई जाने वाली कथा आख्यायिका नामधारी उपयोग विधा की परिभाषाओं की तुलना करके देखें, तो

- १ 'आख्यायिका कथावत् स्यात् कवि वशानुकीर्तनम् ।  
अस्याम् अयं कवीनाम् च वक्तुं पद्यं क्वचित्-क्वचित् ॥ ३३४ ॥  
आर्या वक्त्रापवक्त्राणाम् छन्दसा येन केन चित् ।  
अथापदेशेन आश्वासं मुखे भाव्यथ-सूचनम् ॥ ३३५ ॥

—आचार्य विश्वनाथ ( साहित्य रक्षण ) अध्याय ६

- २ 'कथायाम् सरस्य वस्तु गद्य एव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥  
क्वचित् अनं भवेत् आर्या, क्वचित् वक्त्रापवक्त्रम् ।  
आर्यो पद्यं नमस्कारं मगलादि वक्तव्योक्तनम् ॥ ३३३ ॥  
—वही अध्याय ६



तथा एक स अधिक जिल्दा में प्रकाशित हाने वाले महा उपन्यासों (यथा चन्द्रबान्ता एव चन्द्रबान्ता-सतति तथा जाधुगिक उपन्यास में इन्दुमती जाति) का भी 'बहत्वथा' ही कहा जाया।

प्राचीन काव्य शास्त्रों में जीपयासिक रचनाओं के लिए 'गाथा' पद का प्रयोग बहुत प्राचीन काल से चला आता है। इस शब्द की व्युत्पत्ति है— ग + धृ + टाप् (स्त्री प्रत्यय) इसका साधारण अर्थ जाना है—'गान या गीत' किन्तु उसका विशिष्ट अर्थ है— ब्राह्मण एवं जारण्यसंघों में आय हुए गद्यात्मक आख्याना के बीच आने वाले, गद्य अंश।<sup>१</sup>

आगे चलकर मात्र गद्यात्मक आख्याना के लिए प्रयुक्त होतें-गाथा शब्द का अर्थ हिन्दी साहित्य में भी निम्न प्रकार प्रवर्तित हुआ इसको हिन्दी साहित्यकोश में इस प्रकार समझाया गया है—

गाथा शब्द वतान्त या जीवनी के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। गाथाओं में आख्याना का सूक्ष्म उल्लेख या संकेत होने के कारण कालांतर में यह शब्द, आख्यान कहानी या जीवन वृत्त के ही अर्थ में प्रयुक्त होने लगा।<sup>२</sup>

'गाथा शब्द का प्रयोग काव्य शास्त्रियों ने संस्कृत भाषा में लिखी गई पौराणिक अथवा ऐतिहासिक में प्रचलित कथा-वार्ताओं पर आधारित औपन्यासिक कृतियों के लिए भी किया है। हिन्दी भाषा में भी हम प्रायः उसी अर्थ में 'गाथा' शब्द का व्यवहार करते हैं।

प्राचीन काव्यशास्त्रों में उपन्यास शब्द का प्रयोग लघु उपन्यास या उपन्यासिका के रूप में किया गया है। हिन्दी की आद्य औपन्यासिक कृतियों में नासिकेतापन्यास भी इसी शब्द की कृति है। वगैरह में उपन्यास का पर्याय उपकथा है।

उपरोक्त संक्षिप्त विवरण द्वारा प्रकट है कि प्राचीन भारतीय वाङ्मय में न केवल उपन्यास-साहित्य का प्रभूत मात्रा में प्रचलन पाया जाता था वरन् उसमें तत्सम्वर्धी आखाचन्यात्मक शब्दावली का भी अभाव नहीं था।

संस्कृत काव्य शास्त्रों के आचार्यों की कृतियों में हम औपन्यासिक कृतियों तथा अर्थ कथात्मक साहित्य रूपों का वणनवस्तु एवं वणन शब्दों पर आधारित विशद विवेचन प्रायः निरन्तर ही मिलता है। इसके अतिरिक्त हम प्राकृत कथा साहित्य तथा प्राकृत के काव्य शास्त्रों दोनों ही में कथात्मक साहित्य मन्त्र था जन्म राचक एक उपादेय उल्लेख उपलब्ध होते हैं। उदाहरणार्थ प्राकृत गद्य महाकाव्य समराइच्छकहा<sup>३</sup>

१ = हिन्दी साहित्यकोश (भाग १) उपशीपक गाथा १ पृष्ठ २५८

२ = समराइच्छकहा (हरिभद्र मूरि) (मपात्रक डा० हरमन जकोवी) (प्र० रायल एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, प्रथम प्रकाशन सन् १९२६ ई०)।

‘समरादित्य-कथा’ के रचयिता हरिमद्र सूरि ने अपने उक्त ग्रन्थ महाकाव्य की प्रस्तावना में कथाओं के विविध भेद एवं उपभेदों की भी विवेचना की है।<sup>१</sup>

प्राकृत साहित्य शास्त्री एवं उपयामकार हरिमद्र सूरि का समय, ईस्वी शती सातवी के जाम नाम का माना जाता है। वे राजस्थान के प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर, चित्तौड़ के निवासी थे। श्री हरिमद्र सूरि ने समग्र कथा साहित्य को, चार विभागों में विभक्त किया है—अथकथा, कामकथा, धमकथा, एवं सक्कीण कथा। इन कथा भेदों के नामों में ही उनका अभिप्राय स्पष्ट नहीं हो पाता, अतः उनकी सन्निहित व्याख्याएँ भी उतारने दी हैं। अर्थोपाजन का चार प्रवृत्त करने वाली कथा को ‘अथ कथा’ नाम दिया गया है। यह नाम व्यावहारिक नीति व्यवहार सम्बन्धी कथा साहित्य के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसके अनुशीलन द्वारा पाठकों की व्यावहारिक बुद्धि का विकास होना है और वे अपने दैनिक व्यावसायिक जीवन एवं अर्थोपाजन में, सफलता प्राप्त हैं।

‘कामकथा’ से हरिमद्र का अभिप्राय है रामादित्य कथाओं से। इन कथाओं में रोमानी कल्पना एवं प्रणय प्रसंगा का वादुल्य होने के कारण जन दशन ने उन्हें ‘कामकथा’ जैसे ‘काम प्रतिपिठित’ नाम द्वारा स्मरण किया है। माधुय रम एवं शृंगारिक वणना के कारण, कथाओं की यह शक्ती, विशेष लोकप्रिय थी।

‘धमकथा’ नामक कथा शक्ती को हरिमद्र सूरि ने क्षमा, मादक, जाजब आदि सद्धम की ओर ले जान वाली बताया है। प्रकटा ऐसी कथाओं में, चरित्र के औत्साह्य एवं दातशील पक्ष के न्दिदेशक, एवं बराग्य द्वारा धमानुराग में प्रवृत्त कराने वाल, दाशनिक जाग्याना का समावेश रहता था।

यदि हम हरिमद्र सूरि द्वारा प्रतिपान्ति कथा साहित्य विभाजन का स्वीकार करें तो वस्तुतः जाधुनिक उपयास विधा का पर्याय रूप उनकी ‘सक्कीण कथा’ ही थी। हरिमद्र ने उमें धम अथ, और काम का प्रतिपादन करने वाली, काव्य, कथा और प्रय के अथ का विस्तार करने वाली, लौकिक और धार्मिक रूप में प्रसिद्ध, तथा उपाहरण, इतु और कारण से युक्त कथा बताया है।<sup>२</sup>

हरिमद्र सूरि के अतिरिक्त कुछ अन्य प्राकृत कवियों एवं जाचार्यों ने भी, औपयामिक साहित्य के विभेदों पर विवचन किया है। कुवलयमाला नामक प्रसिद्ध कथाश्रयक रचयिता उद्यालन सूरि भी उनमें स एक है। उह शशिण्य चिह्न

१ हिी साहित्य की भूमिका (जाचाय श्जारीप्रसाद द्विवेदी) पृ० १७८ परिशिष्ट सण्या ६ ‘जन साहित्य (प्र० हिी ग्रंथ रत्नाकर कायालय बम्बई) (प्रथम प्रकाशन, फरवरी १९४० ई०)।

२ हरिमद्र सूरि (७वी शक्ती ई०) — समरादित्यकथा (समरादित्य कथा—प्राकृतग्रन्थ महाकाव्य) पृष्ठ २ (प्रस्तावना भाग)।

उपाधि द्वारा सम्मानित किया गया था। इन्होंने मारवाड के जालोर नामक नगर में, अपनी औपन्यासिक कृति 'कुवलयमाला' का, सन ७७६ ई० में सम्पूर्ण किया था।

दाक्षिण्य चिह्न उद्योतन सूरि ने अपने उक्त प्राकृत ग्रंथ के प्रस्तावना भाग में ममत्र कथा-साहित्य को तीव्रमुख्य विभेदात्त विभक्त किया है— धमकथा, जयकथा, और 'कामकथा'। इनकी परिभाषाएँ भी हरिभद्र सूरि कृत व्याख्याओं से मिलती जुलती ही हैं। किन्तु उद्योतन सूरि ने धमकथा नामक कथा साहित्य विभाग को चार उपविभक्तियों में जोर बाँटा है— आश्लेषिणी विभेदिणी जीर निर्वेदिणी। इन विभेदों की व्याख्या करने हुए उद्योतन सूरि ने धमकथा नामक कथात्मक साहित्य रूप का अपेक्षाकृत अधिक उदार दृष्टिकोण से देखा है। वे नौवें शतक के रजनपक्ष से भी परिचित थे। उनका मत था कि धमकथा साहित्य में रोचक एवं रमण्य वृत्तों का समावेश करने हम उक्त अधिक लोकप्राप्य बना सकते हैं। आश्लेषिणी तथा सवेदिणी धमकथाएँ इसी शतक की औपन्यासिक कृतियाँ हैं। विक्षेपिणी तथा जीर अपेक्षा सवेदिणी कथाएँ अधिक ऊँचे साहित्यिक स्तर वाली हुआ करती हैं।

सुदसणा चरित्र (सुदक्षिणा चरित्र) के रचयिता देवद्वय सूरि भी (जो उद्योतन सूरि के समय के पास ही आठवीं शती के अन्त में हुए थे) दाक्षिण्य चिह्न उद्योतन सूरि वाले कथा साहित्य विभाजन को ही मान्य समझते हैं। उन्होंने उक्त विभेदों की तमिः अधिक विशद व्याख्या की है। विक्षेपिणी कथा को उन्होंने कुशास्त्रा की ओर से उदासीन करने वाली मन के प्रतिकूल कथा बताया है और आश्लेषिणी कथा को मनानुकूल विचित्र और अपूर्व अर्थवाली कथा कहा है। स्पष्ट है कि औपन्यासिक कृति का वे आश्लेषिणी कथा नाम से सम्बोधित करते हैं। ज्ञान का उदित करने वाली और मन को मोक्ष की ओर प्रवृत्त करने वाली कथा को वे सवेदिणी कहते हैं और वरगण्य उत्पन्न करने वाली कथा को 'निर्वेदिनी' बताते हैं।

देवद्वय सूरि ने कथा साहित्य जयवा औपन्यासिक कृतियों के चार अन्य विभक्तियाँ बताएँ हैं वे भी रोचक हैं। उन्होंने सुदसणा चरित्र (सुदक्षिणा चरित्र) के प्रस्तावना भाग में रात्रिकथा स्त्री कथा भक्त कथा जीर जनपद कथा नाम को चार विख्याओं का त्याग करके धमकथा के श्रवण को हितकारी बताया है।

रात्रिकथा उन औपन्यासिक कृतियों का पर्याय है जो रोमानी एवं अति मानवीय तथा सजानपात कथना की मुक्त उड़ान से उद्भूत होती हैं। सहस्र राजनी

१ कुवलयमाला (दाक्षिण्यचिह्न उद्योतन सूरि) (रचनाकाल ७७६ ई०) (प्रस्तावना भाग) स० पृ० ४० ने० उपाध्य (सिद्धी ग्रंथ माला, वस्त्रई)।

२ प्राकृत साहित्य का इतिहास (डा० जगन्नीशचन्द्र जैन) अयाय ६ पृ० २६० ६२ (प्र० चौपत्रा विद्याभवन वाराणसी १) १८६१ ई०।

चरित्र' जथवा 'आख्योपयास' की शली की ये कथा मालाएँ बड़ी लाकप्रिय रही हानी। स्त्रीकथा से अभिप्राय सामाजिक या पारिवारिक औपयासिक कृतिया से था। 'जनपद-कथा' में लाक गाथाआ एव लाककथाआ के आधारपर रचित औपयासिक कृतियों से तात्पर्य था। तथा भक्तकथा से अभिप्राय था लोकान्तर चरित वाले, उदात्त एव धमपरायण महापुरुषा के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले जीवन चरितात्मक औपन्यासिक साहित्य से। इस भाति यह तथ्य भी स्मरणीय है कि सातवीं आठवीं एव नवीं शती ई० के कालान्तर में प्राकृत औपयासिक कृतिया में भी, हम, उपयोग विधा के विविध रूपा का प्रचलन पाते हैं। विशेषतया उन कथा रूपा की उक्त पारिभाषिक शब्दावली, औपयासिक साहित्य के प्रस्तुत वणनात्मक विवेचन की दृष्टि से भी स्मरणीय है।

आचार्य हमचन्द्र सूरि, बारहवीं शती के, प्रसिद्ध कथाकरणी एव दाशनिक हुए हैं। उन्होंने अपने सुप्रसिद्ध व्याकरण शास्त्र 'काव्यानुशासन' में 'आख्यायिका' एव 'कथा' का जन्म समझते हुए कहा है कि 'आख्यायिका' में 'उच्छवास' होते हैं और वह सस्कृत गद्य में ही लिखी जाती है, किन्तु कथा कभी गद्य में, कभी पद्य में, कभी सस्कृत में कभी प्राकृत में, कभी मागधी में, कभी शौरसनी में, कभी पशाची में और कभी अपभ्रंश भाषाओं में भी लिखी जाती है। उन्होंने औपयासिक कृतिया के जो विभेद बताए हैं, उनमें 'उपाख्यान (लघु उपयास), आख्यान (चरितात्मक उपयास), निष्णना (दृष्टांत कथा), प्रसङ्गिका (रोचक रोमानी कथा साहित्य) मयल्लिका (नान एव दशन के प्रसंगा से युक्त उपदेशात्मक कथासाहित्य), मणिकुट्या' (साहित्यिक स्तर की काव्यमयी शली की कथा-कृतिया) परिकथा (संस्मरणात्मक औपयासिक कृतिया), सण्टकथा (लघु उपयास का एक विभेद), सफल कथा (सामिप्राय जथवा रूपनात्मक औपयासिक कृतियाँ) तथा 'बहकथा (अनेक जिल्दा में समाप्य बृहद उपयास) भी हैं।

उपयुक्त प्राकृत औपयासिक कृतिया की पारिभाषिक शब्दावली से उपयास विधा के वणनात्मक पक्ष पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उपयोग विधा में वणनात्मकता की दृष्टि से भी इन प्राकृत औपयासिक कृतिया का वणन बविध्य एव वणनात्मक उपयास विशेष अध्ययनीय है। दसवीं शती ई० के पश्चात् अनेक प्रयात जन साहित्यकारान, प्राकृत भाषा का माध्यम छोड़ कर, पुनः सस्कृत भाषा का माध्यम अपना लिया था। उनमें से एक उपनिनिभावप्रपंच कथा नामक प्रसिद्ध आत्मकथात्मक उपयास के रचयिता सिद्धपि (रचनाकाल ६०५ ई०) ने भी दक्क सूरि द्वारा प्रतिपादित, कथानाहित्य के कोटि बिभाजन का ही अपने उक्त आत्मकथात्मक उपयास में, प्रायः ज्या का त्या ही दोहराया है।<sup>१</sup>

१ उपनिनिभावप्रपंच कथा' (सिद्धपि) (संपादक हरमन जैकीवी) अध्याय १, (शलाक संख्या ५१-५२)।

समग्र जाधुनिक भारतीय भाषाओं में, उपन्यास विधा की रचनात्मक एवं विवचनात्मक, दाना ही पक्षा में प्रथम प्रवृत्तन का श्रेय हिन्दी वाङ्मय को ही है। जब सन १८०१ ई० में सयद इशाअत्ता खाँ ने हिन्दी का सबसे प्रथम उपन्यास ठेठ हिन्दी भाषा (भासा) में लिख कर प्रस्तुत किया तो उन्होंने उसका नामकरण 'उदयमान चरित' किया जो कि समुद्रतट एवं प्राकृत परम्पराओं के अनुसार ही था। उसका एक उपनाम उन्होंने 'राना केतकी की कहानी' भी रखा था। जान पड़ता है कि उस समय तक हिन्दी में 'उपन्यास' शब्द का बतमान अर्थों में प्रयोग होना प्रारम्भ नहीं हुआ था। उस समय तक साहित्य की इस विधा विनय का कइ अर्थ अभिधानों के द्वारा भी व्यक्त किया जाता था यथा चरित उपन्यास तथा कहानी आदि। सम्भवतया इसीलिए कतिपय विद्वानों एवं कोशकारों का यह मत है कि सम्भवतः सबसे प्रथम उपन्यास शब्द का बतमान अर्थों में प्रयोग बंगला भाषा में हुआ था। यथा— मानविकी पारिभाषिक काश में इस प्रसंग में यह उल्लेख मिलता है—

उपन्यास—शब्द, संस्कृत का प्राचीन शब्द है किन्तु जाधुनिक युग में इसका प्रयोग, सबथा नवान साहित्य विधा की अभिव्यक्ति करने के लिए, एकदम भिन्न अर्थ में किया जाने लगा है।

उपन्यास शब्द उप तथा नि उपसर्ग तथा अम धातु से बना है जिसका अर्थ है—पँकना या होना। व्युत्पत्ति का दृष्टि से 'उपन्यास' सम्मुख प्रस्तुत करना या होना ही है। मूलतः इस अर्थ में 'उपन्यास' का प्रयोग सबसे पहले बंगला में हुआ। सम्भव है उपन्यास के कथात्मक में निहित प्रमादन का अपूर्व गति तथा उस यथाथता एवं युक्तियुक्तता की भूमि पर प्रतिष्ठित करने का अनिवायता प्रस्तुत अभिधान में प्रेरणा-स्वरूप रही हो।

संक्षेप में उपन्यास वह कथनात्मक गद्य साहित्यरूप है जिसमें वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्रों एवं व्यापारों का काथकारण शृंखलाबद्ध एवं अपेक्षाकृत विस्तृत कथानक के द्वारा निरूपित किया जाय और मानव जीवन के सत्य की रसात्मक अभिव्यक्ति का प्रयत्न किया जाए।<sup>१</sup>

किन्तु बस्तुतः बंगला भाषा में उपन्यास शब्द का प्रयोग पत्रों में पहले उपन्यास के लिए नहीं करने कहानी अथवा कल्पक रूप में किया जाता था। तत्पश्चात् उसका प्रयोग उपन्यासिता अथवा लघु उपन्यास के लिए किया जाने लगा। बतमान अर्थों में तो इस पद का प्रयोग हिन्दी तथा बंगला दाना ही भाषाओं में उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में ही स्थिर हो पाया था। सम्भवतया मानविकी पारिभाषिक

१ 'मानविकी पारिभाषिक कोश' (एनआइआपीडिया ऑफ इंडियन लैंग्वेज) साहित्य मण्डल (निडररर) (ग० डा० गगन) (राजसमन् प्रकाशन दिल्ली) १९६१ ई० पृष्ठ १७६

कोश' के उक्त मत का आधार डॉ० जयन्तकुमार दासगुप्ता की अंग्रेजी भाषा में लिखित पुस्तक 'ए क्रिटिकल स्टडी आफ बकिमचंद्र रही हागी, जिमम इस सम्बन्ध में निम्न उल्लेख पाया जाता है—

बगला भाषा में सबसे प्रथम उपयास शब्द का प्रयोग शक सवत १७७३ ७२ तदनुसार सन १८२१ २३ ई० में सवलित विविधाथ संग्रह' में दा कहानिया के शीपका के रूप में प्राप्त है—'सरलेर उपयास तथा 'पादुकाकार गणनेर उपयास'।<sup>१</sup>

इसी तथ्य का समर्थन हम बगला भाषा में अभिधान नामक काश में भी मिलता है। जिसमें इस प्रकार लिखा गया है—

गद्य चरित ये काल्पनिक कहिनीते वा गल्प, प्रवृत्त जीवनर चित्र अस्ति ह्य<sup>२</sup> (अर्थात् गद्य में रचित, काल्पनिक कहानी वा गल्प के रूप में, वास्तविक जीवन का अंकित करने वाला चित्र है।) उपरोक्त कथन के अनुसार भी 'उपयाम' बगला भाषा में कहानी या गल्प का पर्याय रहा है।

'बगला साहित्य का इतिहास' के प्रणेता डा० सुकुमार सेन के अनुसार श्री भूदेव मुखर्जी कृत ऐतिहासिक उपयास (सन १८६२ ई०) ही बगला की ऐसी सबसे प्रथम औपयासिक कृति है जिसमें 'उपयास' शब्द का आधुनिक अर्थों में प्रयोग पाया जाता है। एक प्रकार से यह भी एक इतिवृत्तात्मक कथासंग्रह है जिसमें एक लघुकथा और एक लघु उपयास या उपयासिका, साथ साथ सवलित हैं।<sup>३</sup>

अतः सत्य तो यह है कि 'उपयास' शब्द का प्रचलन उमरे वर्तमान अर्थों में, बगला भाषा में भी उन्नीसवीं शती के तृतीय चरण तक भा सुम्बिर रूप में नहीं हो पाया था जबकि हिन्दी में इस शब्द का प्रयोग, वर्तमान अर्थों में कम से कम सन् १८७१ ई० से सुस्वर रूप में होना लगा था। यह तथ्य है, हिन्दी भाषा में रचित एक जाय-उपयास, मनोहर उपयास के प्रकाशन की।<sup>४</sup> जाग चल कर तो श्री विशारीलाल गास्वामी, इसी शब्द का प्रयोग अपने प्रत्येक उपयाम के मुख पृष्ठ पर आदश वाक्य के रूप में किया ही करते थे। (उपयासस्तु वाङ्मुखम्)

कहने का तात्पर्य यह है कि कहानी के लिये प्रयुक्त होने वाले उपयास शब्द, बगला भाषा में आधुनिक उपयास विधा के लिए भी प्रयुक्त होने लगा था। उपयास शब्द पहले बगला भाषा में सामान्यतः कथात्मक साहित्य के लिए प्रयुक्त हुआ

१ 'ए क्रिटिकल स्टडी आफ दि लाइफ एण्ड नावेल्स् आफ बकिमचंद्र'—डॉ० जयन्त कुमार दासगुप्ता, पृष्ठ ५

२ 'बगला भाषा में अभिधान', भाग १, पृष्ठ ३३१ (स० राजेन्द्रमोहन दास)।

३ 'ए हिस्ट्री आफ बंगाली लिटरेचर' (डा० सुकुमार सेन) अध्याय १६

४ 'मनोहर उपयास' (सदानन्द मिश्र) प्रथम प्रकाशन सन १८७१ ई०, (प्रकाशक 'सार सुधानिधि कार्यालय कलकत्ता)।

करता था और कथात्मक माहित्य' का पर्याय ही था। सन १८०५ ई० में प्रकाशित श्री भुवनचन्द्र का इतिवत्त आधारित जीप-यामिक कृति का नाम रखा गया था— 'ऐतिहासिक नव-यास'। यह नव-याम शब्द नाविक नव तथा रम-यास जववा 'रोमान' के योग से बना हुआ एक अभिनव शब्द है।<sup>१</sup> वगना भाषा में 'उप-यास' शब्द विधा के लिये, वना रम-यास (रोमान) एवं यमी नव-यास (नाविक) और कभी उप-यास शब्द का बहुत बाल तन प्रयोग होता रहा।

म नविकी काश में यह तथ्य ता निर्विवाद रूप में स्वीकार किया ही गया है कि 'उप-यास' शब्द संस्कृत का प्राचीन शब्द है। वह कल्पनात्मक गद्य माहित्य रूप है जिसमें वास्तविक जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले चरित्रों एवं 'यापारा' की रसात्मक अभिव्यक्ति पाई जाती है। प्रगट है कि उक्त अभिप्राय की गिद्धि केवल वणनात्मकता के माध्यम से ही उपलब्ध हो सकती है। 'रसात्मक' अनुभूति ता एवमात्र कलात्मक वणना के सफल चित्रण द्वारा ही संभव है।

संस्कृत एवं हिंदी का कतिपय भाग्य शब्द काशा में 'उप-याम' पद की परिभाषा पर सम्यक अनुशासन के पश्चात् जय कुछ जय जाधुनिक भारतीय भाषाओं के काशा में पाई जान वाली परिभाषा पर भी दृष्टिक्षप किया जाय। यथा—वगता भाषा के काशा में 'उप-याम' शब्द की कुछ परिभाषाएँ इस प्रकार दी गई हैं। सग्त वागला अभिधान तथा नूतनवागला अभिधान दोनों काश ग्रंथों में 'उप-याम' शब्द के प्राचीन अर्थ बताए गए हैं—वाक्यारम्भ उत्तरक उपस्थापन तथा दान। इनमें उल्लेख पद का अर्थ वणन से साभि य रगता है और वह उप-यास विधा की वणनात्मक विशिष्टता का संकतिन करता है। नवान जर्वा में उप-यास का 'याख्या' है—'समत्कारजनक सासारिक घटना मूलक गद्यग्रंथ जग्याभाविक कल्पित उपाध्यान उपकथा गल्प आदि।'<sup>२</sup>

यहाँ केवल इतना ही दृष्टय है कि सामत्कारिक सासारिक घटनाओं से जोतप्रोत साहित्य विधा की मृजन किया तथा उसका जागतिक—कल्पित उपाध्यान का परिवर्तना—गना में ही वणनात्मकता एक अनिवार्य अभिव्यजना माध्यम बनती है।

नूतन वागला अभिधान नामक शब्दकोश में भी उप-यास विधा की परिभाषा यो दी गई है—'थोता व पाठकटिगर चित्त विनादाथ कपित टत्तात्। थोता अथवा पाठक के चित्तविनाश के लिङ् तथा कल्पना प्रसूत तथादिनाम के तान वान का वुन कर उप-यास नियोजन के विनाल पाठम्वर का सटा करन के अनुष्ठान में

१ वगला साहित्यर इतिहास (डा० सुकुमार सन) भाग २ परिच्छेद ५ पृ० १७५

२ बगीच शब्दकोश' भाग १ खण्ड २ 'उप-यास' शीषक।

एकमात्र वणनात्मक कला ही, समग्र एवं प्रभावशाली अभिव्यजना माध्यम बन सकती है।

मराठी भाषा में रचित उपयोग साहित्य एवं उसकी परिभाषा के बारे में मराठी शब्दकोशों में जाए हुए विवरणों पर विचार करने पर, जाना जाता है कि मराठी भाषा में चिरबाल से ही उपयोग के पर्याय रूप में, 'कादवरी' शब्द का व्यवहार होना चला आया है। 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश' के संपादक डॉ० श्रीवर व्यन्टेश केतकर ने कादवरी की परिभाषा यों दी है—

कादवरी —हा शब्द, आपल्या बडे वाणमट्टाच्या 'कादवरी' या अद्भुत कथयन्त रूढ झाला। तथापि याची मूळता जलीवटील जाह। गाण्ठी, कथा इत्यादि शब्द पूर्वापामुन हाते च। मराठीनील कथावाडमय, हे नवीन नमून। त्याची परंपरा जत्यन्त प्राचीन आह। जणे मराठीनाल पहिल कथावाडमयाच्या रूपान्तराणि निर्माण होउन, पुडे त्यावर पाश्चात्य संस्कार झाल। त्यामुने प्रथम संस्कृत व प्राचीन प्राकृत वाडमय, त्यानंतर पाश्चात्य कथावाडमय व शेवटी मराठी कथावाडमय जशी निवदन परंपरा लावली, तर ही जिक स्वभाविक हाइत।<sup>१</sup>

(अर्थात् कादवरी —यह शब्द हमारी भाषा में, वाणमट्ट की 'कादवरी' अथवा अद्भुत कथा से आया, जो रूढ हो गया। फिर भा (मराठी भाषा में) इसकी परंपरा एवं मायता, जाधुनिव ही है। मराठी भाषा में पहले 'गाण्ठी' कथा इत्यादि शब्द भी 'उपयोग विधा' के लिए प्रचलित थे और, मराठी भाषा में, पहले कथा वाडमय का प्रारम्भ संस्कृत कथा वाडमय के रूपान्तर द्वारा होने लगा। जाग चल कर मराठी उपयोग का पाश्चात्य शरी पर संस्कार होता गया। सर्वप्रथम, संस्कृत व प्राचीन प्राकृत वाडमय, तदनंतर, पाश्चात्य वाडमय, तथा अंत में मराठी कथा वाडमय, इस परंपरा में हुए, मराठी उपयोग साहित्य का स्वभाविक विकास हुआ।)

बसल मराठी भाषा में ही नही बल्कि अन्य जनक दाक्षिणात्य भाषाओं में भी उपयोग विधा का पर्याय नाम 'कादवरी' का, आवांवि प्रयोग चला ही जा रहा है। कम से कम भारतीय भाषाओं में एक पर्याप्त विस्तृत क्षेत्र में उपयोग विधा के लिए प्रयुक्त इस पर्याय कादवरी में ही भारतीय उपयोग के मूलतः वणनात्मक एवं वणन प्रधान होने का तथ्यस्यत सिद्ध हो जाता है क्योंकि वाणमट्ट की 'कादवरी' अपनी चित्र विचित्र एवं जाबजब वणन प्रतिभा के कारण ही भारतीय उपयोग

१ 'महाराष्ट्रीय ज्ञानकोश' (क) (वाज्य) मण्ड १०, पृष्ठ २६६ (संपादन— डॉ० श्रीवर व्यन्टेश केतकर तथा उनकी सहायक मण्डली) प्रथम प्रकाशन १९२४ ई० (प्र० महाराष्ट्रीय पाठशाळा मण्डल विभिन्न जाणपूर तरफ ८४१ मन्गलिक पठ पुणे)।



साहित्य के अनिहाम में सर्वाधिक ख्यातनामा कृति के रूप में, चिरम्भूत हा पाई है। केवल उसकी वणनात्मक 'यापकता' एवं विश्वकाशात्मक सावभौमिकता के कारण ही उसकी लोकप्रियता प्रायः डेढ़ हजार वर्षों से अप्रतिद्विदितापूर्वक आज भी अक्षुण्ण रूप से अवस्थित है।

कहा ही जा चुका है कि 'उप-यास' का यह कादम्बरी पर्याय, बन्द भाषा में भी अद्यावधि प्रयुक्त होता चला जा रहा है व अत्यन्त द्रविड़ भाषाओं में भी लागू 'कादम्बरी' शब्द से परिचित है और उसके कहे जाने पर व 'उप-यास' का भाव तुरन्त समझ लेते हैं। किन्तु यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि दक्षिणात्य भाषाई क्षेत्र के अतिरिक्त समग्र उत्तर भारत में, 'कादम्बरी' शब्द से उप-यास का भाव कोई नहीं समझता। जपन जपन भाषाई क्षेत्रों की सीमा में यद्यपि साय नवलकथा नव-यास उपकथा इतिवृत्त आदि शब्दों का व्यवहार करते आते हैं किन्तु उप-यास नामक समान शब्द से सभी परिचित है तथा व सभी उप-यास शब्द के वर्तमान अर्थ में उस पहचानते भी हैं और प्रयुक्त भी करते हैं।

अनेक पाश्चात्य काशकारों ने भी उप-यास (नावल) की बहुविध परिभाषाएँ दी हैं किन्तु यहाँ केवल एक बहुमाय विश्वकाश 'एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका' से, एक परिभाषा उद्धृत की जा रही है जो प्रस्तुत शाब्दिक दृष्टि से अवलोकनीय है —

नावल (अर्थात् उप-यास) साहित्य की एक ऐसा विधा का नाम है जिसमें एक सतत निवाह की गई कहानी बनी रहता है जो ऐतिहासिक दृष्टि से अनिवायत सत्य नहीं होती किन्तु सरलता से भयभीत हो सकती है। इसका सीधा-सादा अभिप्राय है पाठकों का मनोरंजन करना—'नी प्रकृति से चित्रित दृश्यात्मक वणनों के निरन्तर प्रेम के द्वारा तथा कभी भावुकतापूर्ण कथावस्तु के एक समान मूत्र द्वारा'।<sup>१</sup>

उक्त परिभाषा में उप-यास विधा की वणनात्मकता एवं उसमें समन्वित नैसर्गिक शांति के चित्रण व वणना की विशिष्टता के महत्व का स्पष्टतया स्वीकार किया गया है। उप-यास विधा की उन्मुक्त काशगन विविध परिभाषाओं की समान प्रवृत्ति वणनात्मकता का जोर ही अभिमुख है।

संस्कृत भाषा के काशा में सम्भवतया सबसे अधिक प्रसिद्ध एवं प्रचलित कोश अमरकोश है। उसमें दी गई परिभाषा द्वारा भी उप-यास शब्द की प्रकृति पर बहुमूल्य प्रकाश पड़ता है। अमरकोश में उप-यास के सम्बन्ध में निम्न उल्लेख बड़ा ही 'यापक'

१ नावेल टिन्म गिवन इन रिटर्चर टु ए मस्टर्ड स्टोरी बिच इज नाट हिस्टारि केली टू धट मास्ट बेरी इजिली बी सा इटस प्लेन एण्ट डाइरक्ट परपज टू टु एम्ब्यूज वाड ए सरसगन जाफ् मीन्स पनेड फ्राम नेचर एण्ट वाइ ए थ्रु ड आफ् द्माशनेल नरनिवम — ए साइक्लोपेडिया ब्रिटैनिका जिल्द २६ पृष्ठ ५७२ (१९४६ ई०)।

एव अधगौरव से युक्त है — उपन्यासस्तु वाङ्मुखम्'। 'अर्थात् उपन्यास अखिलवाणी या वाङ्मय का प्रमुख प्रवक्ता या विवेचक है। जाद्युनिन युग में तो सचमुच ही ऐसा जान पड़ता है मानो उपन्यास विधा ने अखिल वाङ्मय का प्रतिनिधित्व करने का उत्तरदायित्व ही अपने कंधों पर ले लिया है।

उपन्यास्तु वाङ्मुखम् कह कर 'अमर कोशकार' ने वाङ्मय अथवा साहित्य की सबसे बड़ी विशिष्टता उपन्यास की विवरण-वर्णन-प्रमुखता की ओर सहज ही हमारा ध्यान आकर्षित किया है। प्राचीन आचार्यों ने अखिल वाङ्मय का जो काव्य-सनायी थी, वह भी उक्त व्याख्या द्वारा युक्ति-युक्त सिद्ध हो जाती है। कवयति का अर्थ है अतच्छक्षु अथवा मन चक्षु द्वारा, भाव कल्पना करना। इसी में कवि, 'स्वप्न दृष्टा माना गया—(मात्र स्वप्न दृष्टा ही नहीं निवासस्वप्न दृष्टा भी) कथानि कवि चाक्षुष जगत के अनिरिक्त एक दूसरे जगत की जाँकी भी देखता रहता है। इस भाँति काव्य शब्द एव 'उपन्यास' शब्द, दाना मिल कर, वाङ्मय की प्रमुखता-विशिष्टताओं को प्रतिबिम्बित करते हैं।

वाङ्मयीन-वाणमट्ट ने भी 'कवयति' शब्द का प्रयोग वण्यवस्तु के वर्णन, अथवा चित्रण-व्यापार से पूर्व, लयक द्वारा अपने मनाश में, उसकी प्रथम मानसिक परिवर्तना के रूप में किया है —

'स्वय उत्पान्तिान् अन्व चिन्ताशानामुला कवयति इव, तरलता न किञ्चित् स न उत्प्रेषत ।' [अर्थात् कवि (या लयक) का तरंगित मन जब मनिये जानता है तो वह अपने आन्तरिक मनोदश में जनकानक परिवर्तनार्थे कर्ता है। ऐसा कुछ नहीं है जो उसकी पत्रिक-पना जगत में जा रहा जाता है।]

प्रख्यात प्राच्यविद पुरातत्त्व-तथा वाणमट्ट का कृतियाँ अधिकारा व्याख्याकार स्व० श्री वामुच्यशरण अग्रवाल ने वाणमट्ट की उक्त उदभावना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है —

कविके (उक्त) सक्तता का गम्भीर चिन्तन-और विमृत्त-अभिज्ञता से पहचानन की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए उज्जयिनी के वर्णन में अनेक शब्दों के श्लेषात्मक अर्थों में, उस युग की मास्त्रुतिक शब्दावली अन्तर्निहित है। जब कवि, उज्जयिनी के नागरिक जन का, वास्तुसार और 'प्रदटित-कनक' राशि कहता है, तो ऊपरों अर्थ के अनिरिक्त उसका सक्त बर्णन के वाटपति और पदमपति धनिवा से है। जब वह नगर के वर्णन में शब्द सुक्ति-मुक्ता प्रवाल-मखन-मणि सुरण से भर हुए में विषयि-मया के चित्र-भावना है तो उसका अभिप्राय, उम युग के चौरासा (नागरिक) हाटा में न नमून के लिए, बेचने एवं स्वपहट्टी, या सराफा बाजार से पाठका

१ 'वाङ्मयीन (वाणमट्ट) अनुच्छेद १६८, पृष्ठ १६१ (प्र० चौधरी विद्याभरण वाराणसी प्रथम प्रकाश, १९१८ ई०)।

उसका सुधी वणनात्मक रचनात्मक, व्योपनयन तत्व से भिन्न वस्तु वणन की एक शली का ही रूप धारण कर लेता है ।

जहाँ तक 'शली' एवं 'उद्देश्य' शीपर विवेचनात्मक तत्वा का प्रश्न है उनका भी उपयाम विधा म कोई विंगण जालोचनात्मक महत्व नहीं जान पड़ता शली तो, समग्र रचना के कनात्मक वशिष्टय की ही पर्याय मभा है । वस्तुन वह अनुभव गम्य ता है किन्तु विवेचना मुनम नहीं । यदि उपयाम विधा म कोई शलीगत विवेपता पाई भी जाती है ता वह है एममात्र उमकी वणनात्मक (शनीगत) विशिष्टता । 'उद्देश्य' वस्तुन दाशनिक अभिप्राय का ही एक जय नाम है । उपयामकार जीवन का, एक दृष्टा अथवा तटस्थ प्रक्षक क रूप मे प्रेक्षण करता रत्ता है और उसी को अपनी लेसना द्वारा अपनी जीपयामिक मृष्टि म वह पुनरुज्जीवित करता रहता है । उपयामकार के जीवन-रशन का ही उद्देश्य नाम रिया जाता है । उपयाम विधा म दशन वस्तुत उतना ही अपक्षित रहता है जितना कि वह परीक्ष रूप म वणनात्मक शली म, इस भांति मिला गुना रह कि उसका प्रकट रूप जहाँ तक बने, रियाई ही न द । उपयामकार का इस बात का साम तौर पर ध्यान रखना पड़ता है कि उपदेशात्मक या शिशात्मक अभिप्राय मात्र दाशनिक उदभावनाभा का उदगार न होकर केवल कांता सम्मित उपपेशके रूप म विशुद्ध मनारजनात्मक अभिव्यजना तक ही सीमित रह । अर्थात् उसका दाशनिक मत्तय प्रच्छेदन अथवा विणद यारुया के बिना ही अनुभवगम्य एव सवेत्नात्मक रह । जहा कहा भी उपयामकार अपनी उपयाम रचना क अभिप्राय की व्याख्या विवेचना के चक्कर मे पडा वही उसकी कलात्मक प्रभावात्पात्कता म जनराय या विक्षप उत्पन्न हुआ ।

साराशयही है कि क्या पद्य महाकाय और क्या गद्य महाकाय—समग्र वणनात्मक अथवा उपयाम अभिमुख धात्मक म केवलता ही तत्वा का प्राधाय पाया जाता है—कथावस्तु (या वस्तु वणन) तथा पात्रा का यक्तिगत विशिष्टता एव अनुपमेयता का रियजन । इस दृष्टि से उपयाम विधा का परीक्षण भी उसके उक्त दोनो प्रमुख तत्वा के आधार पर हा रिया जाना समीचीन होगा क्योंकि य दोनो तत्व ही वस्तुत उसकी वणनात्मक कला (अथवा उपयाम अभिमुखता) की उत्कृष्ट अभिव्यजना म सर्वाधिक योग प्रदान करते है । उपयाम विधा का वणनात्मकता वशिष्टय दर या सबर अखिल वाडमय गत साहित्य समीक्षा म अपना समुचित महत्व प्राप्त कर लेगा ऐसा विश्वास रिया जा सकता है ।

जाधुनिक हिंदी वाडमय की उत्तरात्तर वलता हुई प्रवृत्तियो क अनुसार हमारे कतिपय शीप समीक्षा शास्त्री एवं साहित्याचार्यो न साहित्य के माना की अभिनव आलोचना की ार भा ध्यान देना प्रारम्भ कर दिया है य एक जाशाजनक सकेत है । कोई दो वष हुए कविवर श्वा सुमित्रानन्दन पंत के (तत्कालीन सद्य प्रकाशित) महाकाय लाकायतन के प्रकाशन क उपरान्त इस समीक्षात्मक नवस्फूर्ति के दशन

हुए थे। आकाशवाणी ने दूरी महाकाव्य पर समीक्षणा विचार विनिमय<sup>१</sup> के लिए कुछ शीघ्र समीक्षाएँ एक विद्वाना का आमंत्रित किया था जिनमें डॉ० नगेन्द्र जैसे भाव साहित्य ममता भाँधे। इस विचार विनिमय में कतिपय विशिष्ट तथ्या पर उद्युक्त चर्चा हुई। उदाहरणार्थ परिमवाद में भाग लेने वाले डॉ० नामवर सिंह ने 'लोकायतन' महाकाव्य का 'पद्योद्भव उपग्रह' की संज्ञा देना पसंद किया। अपने उक्त अभिप्राय की व्याख्या करते हुए उन्होंने यह भी कहा कि कविवर श्री पंत ने अपने इस महाकाव्य में, अपनी ऊँचमुखी काव्य कल्पना का लक्ष्मी पर उतारने का एक सफल एवं समय बहात्मक प्रयोग किया है। यही नहीं उन्होंने अपने इस 'लोकायतन' काव्य में, एक से एक अनूठे वणना के माध्यम द्वारा स्वल्पना की मूल एवं मासल स्वरूप प्रदान करने में भी सफलता पाई है। इसीलिए उनकी सम्मति में 'लोकायतन' एवं 'पद्योद्भव उपग्रह' है।

उपयुक्त वचन पर डॉ० नगेन्द्र ने सफल एवं सरल स्वर में प्रयुक्त देते हुए कहा—मैं उपयोग और महाकाव्य में कोई मूलभूत भेद नहीं मानता। उन्हें हम क्रमशः गद्य महाकाव्य एवं 'पद्य महाकाव्य' का संज्ञा दे सकते हैं। दोनों में एक ही प्रकार का 'महत्त्व'—एक ही प्रकार का 'जीवन' निहित रहता है। उदाहरणार्थ श्री प्रेमचंद द्वारा 'गोदान' का ही ले लें। वह गद्य महाकाव्य ही है—ग्रामीण जीवन का गद्य महाकाव्य। उसकी तुलना में हम 'लोकायतन' का भी पद्य महाकाव्य कह सकते हैं। दोनों में ही कुछ शाश्वत तत्वा के कारण हम, समाज अनुभूति की अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।

निश्चय ही उक्त विचार विमर्श द्वारा सह्या ही, साहित्यगत वणनात्मकता की अति वाङ्मय रूपा की ओर विद्वज्जना का ध्यान जाता है। साथ ही वह हम जाधुनि समीक्षा की एक नवीन आयामात्मक सरणी का अन्वयन के लिए भी उदबोधित करता है। तनुसार हम, वाङ्मय का ऐतिहासिक विभाजन, गद्य एवं पद्य, महाकाव्य एवं उपग्रह, आदि परम्परागत साहित्य रूपा में, करने की परम्परा को त्याग कर अति तलित वाङ्मय की, महत्त्व तथा जीवित सारम्भ एवं सौकर्य आदि गुणा पर आधारित एक अभिनव समीक्षा सरणी का स्थापन कर सकते हैं। ऐसा हान पर हम वाङ्मय के मुक्त विकास एवं विलास द्वारा विश्व के वर्तमान श्रेयम, प्रमाण एक जाह्लादा का (जो मानव जाति के लिए सार्वभौम महान वरदान है) अभिव्यक्ति एवं विशद अनुभूति कर पाएँगे।

यदि हम उपयोग का 'गद्य लक्ष्य महाकाव्य' की संज्ञा प्रदान करते हैं तो हम यह भी स्पष्ट रूप में निराश्रित कर लना होगा कि वह कौन-सा सीमा रेखा है जो उस अपने अन्तर्गत ('पद्य महाकाव्य') से प्रथम अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इस सम्बन्ध

मे भी जाचाय श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने, अपने 'साहित्य का मम' नामक ग्रन्थ में विचार किया है—

उप-याम जोर काय म यह मौलिक अंतर है कि उप-याम मौजूदा परिस्थिति को भूल कर भविष्यकी कल्पना नहीं कर सकता जब कि काव्य वतमान परिस्थिति की या नान तथ्य की—सवाधिक नवीन परिणति की—संपूर्ण उपस्था करके भी अपने जादश गढ़ सखता है।

यही कारण है कि उप-यासकार तथ्य का नहीं छाड़ सकता—वह वतमान से जाग नहीं मूठ सकता—यहा तक कि पुरान एतिहासिक तथानक का जाश्रय करने पर भी वह आधुनिकतम ऐतिहासिक अनुसंधान की बात मन म बराबर बनाए रह कर ही आगे बढ सकता है। वह कवि की भांति त्रमान के जाग रहने का दावा नहीं करता। काय दुनिया की छोटी स छोटी तुच्छता को भी महिमा मण्डित कर सकता है पर उप-यामकारतुच्छता का तुच्छता मान कर ही कारवार करता रहता है।

इस युग के सम्पूर्ण गुण दोषा ना लेकर ही इसका जमट्टा है। नये युग की कला ने त्रमकी भाग बढ़ाई है और उन्ही ने त्रमकी पूति का साधन भी जुटाया है।<sup>१</sup>

जाचाय श्री द्विवेदीजी की उप-याम विधा विषयक उक्त उद्भावनाया का तीक्ष्ण एव मौलिक तकरवता स कौन इकार कर सकता है? एर प्रकार से वे पुरानी एव परपरागत उद्भावनाओ को अपनी उक्त विवचना सरगी द्वारा बिखेरते से चलते हैं। किन्तु उनकी अमि प्रजना प्रगाली गूढ एव व्यजनामयी होने क कारण उनकी सुनभ ग्राह्य नहीं है। उसकी दूमरे शङ्का म यो व्याख्या की जा सकती है कि उप-यासकार अपने निजी त्रशकाल से त्रिगत रह कर काम नहीं चला सकता। इसके विररीत उम तो जना साधारण तान और सभी साहित्य-सजको का अपेक्षा कही अधिक अधुनातम रचना होगा।

यदि उप-यासकार का अपनी लोकप्रियता को बनाए रखना है ता उसे अपने आस पास के जीवन की ही नहीं अपने युग के समस्त विश्व की जानकारी रखनी हागी और विश्वतान की अबुनानम उपनािया से भी उसे परिचित होना पडेगा। उप-याम के वणन का क्षेत्र जाज के युग म जना तीर अथाह हो चला है अतएव उप-यामकार को भी अपनी बाह्य दृष्टि एव अन्तदृष्टि दोनों म ही उदार विस्तार करना होगा। इस भांति पद्य महाकाव्य काग के काम म गद्य लोक महाकाय-कार का काम कही अधिक जोखिम भग और सावधानी म युक्त हो चला है।

आधुनिक उप-यासकार जीवन की तुच्छताया का तुच्छता मान कर ही अपना कारावार करता है। वह धरती का घूल का घून मान कर ही उम म्बग स अधिक

१ साहित्य का मम (जाचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी) (लपनऊ विश्वविद्यालय व्याख्यान माना-१ भागण प्रबन्ध-३) पृष्ठ ६३

गौरवशाली सिद्ध करने में प्रवृत्त होता है। अतः उस लोक महिमा को भी अपने 'धर्म' अथवा 'आस्था' के रूप में ग्रहण करना होगा। इसीलिए उपयास विधा के विधायक की रचनात्मकप्रतिभा एवं अभिव्यजनात्मक कलात्मकता की कसौटी, उसकी लाकजीवन सम्बन्धी तलस्पर्शी एवं व्यापक जानकारी तथा इस आजीवन अर्जित अनुभव-सम्पत्ति को एक कलात्मक एवं रागात्मक वणन-माध्यम द्वारा पुनर्मृष्ट करने में ही निहित है।

अपने उक्त समापण में ही आचार्य द्विवेदीजी ने उपयास विधा की कुछ अर्थ विशिष्टताओं पर भी प्रकाश डालते हुए कहा है कि 'उपयास और कहानियाँ, आज के मन्त्रों में मजदूर साहित्यांग हैं। इसका कारण यह है कि उपयासकार नाय की भाँति, भावावेग द्वारा, अतजगत की अनुभूति को उतना नहीं जगाता—वल्कि बाह्य जगत् के तथ्यावपण के कारण, उत्पन्न समस्याओं के बारे में, अपना निश्चित मत व्यक्त करता है।'

अपने उक्त वक्तव्य को और अधिक स्पष्ट करने हुए आचार्य द्विवेदीजी ने यह भी कहा है—'इसकी नींव उन वस्तुओं पर रखी हुई है जो गभीर भाव से, निरंतर ही, हमारी सामान्य मनुष्यता की कठिनाइयों और द्वन्द्वा को प्रभावित करती रहती हैं। उपयासकार के रचनाकौशल घटना-विधास का चातुर्य और तथ्यात्मक जगत् की समस्याओं में सीधी घुसने वाली भेदक निजी दृष्टि—इन तीनों गुणों के कारण, उपयास आज इतना लोकप्रिय साहित्यांग बन गया है।'

आचार्य द्विवेदीजी ने 'उपयास विधा' के तीन मौलिक उपकरणों को हमारे दृष्टिपथ के सम्मुख उभार कर रख दिया है अर्थात्—रचना-कौशल, घटना-विधास, तथ्यात्मक जगत् का समझनाओं में, निजी पारदर्शी सूक्ष्म निरीक्षण प्रतिभा। कहना न होगा कि ये तीनों ही तत्व, उपयासकार की अपनी निजी वणनात्मक कला परक सृष्टिबुद्धि एवं उसकी सम्यक् अभिव्यजना-क्षमता पर ही, आधारित हैं।

आचार्य द्विवेदीजी ने अपनी उक्त उद्भावनाओं में यह भी निरूपित किया है कि केवल काव्य ही (चाहे वह पद्यकाव्य हो या गद्यकाव्य), किन्तु साहित्यरूप है—नाटक विशुद्ध साहित्य नहीं होता अर्थात् वह शब्द और अर्थ की सिर्फ परस्पर स्पर्धी चाम्ता तक ही रह कर रसमृष्टि नहीं कर सकता—उमड़े लिए रसमन्त्र की जरूरत होती है।'

उपयास विधा के गद्य महाकाव्यत्व एवं उसके देशकाल प्रतिबिम्ब व आदि कतिपय महत्वपूर्ण पक्षों पर विचार विवेचन करने के पश्चात् हम उसकी वणनात्मक क्षमता तथा वणनगत समृद्धि के महत्त्व को, एक तकसिद्ध मापता प्रदान कर सकते हैं। किन्तु 'गद्य महाकाव्य' अथवा 'लोक महाकाव्य' सजा की अधिकारिणी कोई भी

उत्कृष्ट औप-यासिक कृति बिना स्वकीय रसात्मक सिद्धि के उत्तम नहीं मानी जाएगी। पद्य-महाकाव्या एव दृश्य महाकाव्यों की रसात्मक समीक्षाओं में अपनायी गई विभावा-नुभाव-मन्चारी 'सूत्र की परिणति देखने के तो हम अभ्यासी हा गए हैं किन्तु क्या उस पर उप-यास अथवा गद्यमहाकाव्य का परखा जाना भी संभव है? इस प्रश्न के समक्ष आते ही समीक्षक सदिग्ध हो उठता है। किन्तु यदि हम उप-यास विधा के अन्तर्गत सब उप-यासक वणनात्मक तत्व पर उसके रसात्मक पक्ष से विचार करें तो समस्त प्राकृतिक शोभा को हमें उद्दीपन विभाव के अन्तर्गत स्वीकार करना होगा। यही उद्दीपन विभाव, उप-यास विधा के बहु भाग में परिव्याप्त रहता है। शेष में उप-यासकार पात्रों की आकृति एवं चरित्रत्व की विशिष्टताओं का वणन प्रस्तुत करता है जिसे कि रसात्मक विवेचना में 'जालवन विभाव के अन्तर्गत माना गया है।

किन्तु आचार्यों द्वारा उक्त विभाजन में स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को एक बड़ी खामी दिखाई दी और उसकी आर उहोंने अपने पाठका का ध्यान भी आकर्षित किया था। प्रकृति को 'उद्दीपन विभाव ही मान लेने पर उप-यास विधा में अनेक स्मरणीय स्थान पर जाए हुए ऐसे प्राकृतिक वणना का क्या होगा जितकी अपनी निजी साहित्यिक विशिष्टता है? प्रकृति की भी उप-यास विधा में अपनी निजी स्वतन्त्र स्थिति है। वह न केवल एक चरित्र के सुखदुःखमय जीवन से संबद्ध है वरन् वह अखिल लोकजीवन के सुखदुःख की भागी भी है—इस उदार एवं विशाल भूमि पर प्रकृति शोभा एवं प्रकृति विशिष्टय-वणन का कार्य, उप-यास विधा ने ही सम्पन्न किया है। प्रादेशिक रूपाभा से सम्बन्धित उप-यास की एक विशिष्ट परम्परा ने, प्रकृति को मान उद्दीपन विभाव न मान कर उसमें शली की भी प्रतिष्ठा की है।

आचार्य शुक्ल को इस सम्प्र-य में यह श्रेय प्राप्त है कि उहोंने काव्यशास्त्र की दृष्ट मायताओं के अनुसार प्रकृति के शोभा पक्ष के मान उद्दीपन विभाव गत महत्त्व की सीमा साध कर उसको विशाल और उदार भूमि की आर उ मुख किया। आचार्य शुक्ल ने, बड़े कड़े ान में प्रकृति वणन के ऋद्ध एवं चिरपरम्परावादी मत को जारी रखे जाने का विरोध किया है। यही नहीं वरन् उनका यह भी विचार था कि आधुनिक साहित्य-समीक्षा की बचानिक पद्धति पर व एक समग्र एवं अभिन्न समीक्षा शास्त्र की रचना कर डालें जिसकी कसौटी पर आधुनिक शली में रचे गए सभी साहित्य रूपा की बविध्य मयी मृष्टि की सम्यक समीक्षा की जा सके। उस आधुनिक पद्धति पर रचे जाने वाले अभिन्न साहित्य शास्त्र का अघूरी एवं विकीर्ण पाण्डुलिपि आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने सवार कर तथा पुन सम्पादन करके प्रकाशित कराई है जिसका नामकरण उहोंने 'रस मीमांसा किया है। उसका सबसे प्रथम प्रकाशन आज से लगभग दो दशक पहले उहान करामा था किन्तु मूल पाण्डुलिपि तो आचार्य शुक्लजी लगभग तीन दशक पहले ही लिख कर छाड़ गए थे। वे परम्परागत प्रकृति

वणन के मूढ समीक्षात्मक दृष्टिकोण की कड़े शब्दा में मत्सना करते हैं, और वे अपनी प्रकृति विमोह-रूप विस्मयानुभूति की निम्न काव्यमयी शृंगवली में अभिव्यजना करते हैं—

‘जो, प्राकृतिक दृश्या को केवल कामोद्दीप्त की सामग्री समझते हैं, उनकी रचि भ्रष्ट हो गई है और वह मस्कार-मापक है। लहराते हुए हरे भरे जगलो, म्वच्छ शिनाया पर चानी के डलन हुए भरना चौकड़ी भरने हुए हिरणो और जल को चुक कर घूमती हुई डालिया पर कलरव कर रह बिहगा का देख कर काले मेघ जब अपनी छाया डाल कर चित्रकूट के पवता का नीलवण कर देते हैं, तब नाचने हुए नीलकण्ठा (मोरो) का दख कर (सभ्यतामिमान के कारण) शरीर, चाह न चाहे, पर मन अवश्य नाचने लगता है। ककरीले टींगे ऊसर पटपरा पहाड़ के ऊबड़ खाबड़ किनारा या बबूल करीने की झाड़ियों में क्या जाकपित करने वाली बाई बात नहीं हाती ?’

स्व० आचार्य शुक्ल ने हम कायगत प्रकृति वणन सम्बन्धी जिन विलक्षण विशिष्टताओं की ओर जाकपित किया है वस्तुतः वे ही, आधुनिक उपन्यास विधा की, सबसे बड़ी विभूति हैं। हमारे प्राचीन पद्य महाकाव्य प्रकृति-वणन की स्वता के कारण, जहाँ आज बामी से हो चले हैं—आज का हमारा गद्य-नाकमहाकाव्य ‘उपन्यास’, दिन प्रति दिन नये प्रकृति उल्लास लास से लीलामय एव पल पल बेप पलटन वाली प्रकृति नदी के चरणा की नूपुर ध्वनि से सनन स्पन्नि अनुप्राणित रहता है। आचार्य शुक्ल ने प्रकृति शोभा के अनकानन निराले एव अप्रत्याशित पभा की ओर भी दृष्टिपान किया है यथा—

‘वरसात के िना में जब सुरंगी घून की कडाई की परवाह न करके, हरी घास पुरानी छत पर निकल पन्ती है तब मुझे उससे प्रेम का अनुभव होता है। वह माना हम दूँढनी हुई आती है, और कहती है कि तुम मुझमें क्या दूर-दूर भागे फिरते हो ? बना, पबना, तदी नाला बठारा पटपरो, खेता, खेतो की नालिया, घास के बाच स गई हुई धरिया हल-बला, झापडा और श्रम में लग हुए किसान इत्यादि में जा आकपण हमारे लिए है वह हमारे अन्त करण में निहित वामना के कारण है—अमाधारण चमत्कार या अपुव शोभा के कारण नहीं।’

आचार्य शुक्ल की उपयुक्त प्रकृति शोभा विषयक अन्तदृष्टि एव उसकी ओर अभिमुख लाकगत रागात्मिका वृत्ति की विवेचना, कितन ही ज्यों में, हिन्नी की आलाचना पास्तन परम्परा में सबका बन्डो एव अभिनव मानो जायेगी। एव प्रकार

१ रसमीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) अध्याय ४, निनाव, पृ० १११ ११२

२ यही अध्याय ४, निनाव पृष्ठ ११४



से वे अपन समय म प्रचलित, जालाचना-परम्परा की भीमाआ का साट कर, बलात् आगे बढ़ निवलना चाहत थे, विन्तु समय से पहले ही मृत्यु ने उनके महान् ऐतिहासिक काय को बीच में ही अवरुद्ध कर दिया ।

शुबन्जी ने प्रवृत्ति पक्ष की उस चिरन्तना की जोर भी हमारा ध्यान आकर्षित किया है जो हमारे इतिवृत्त म स्मृत, अधम्मृत जयवा विस्मृत पूवजों की स्मृतियों एव उनकी छोटी हुई प्राचीन साहित्यगत सम्मरणात्मक अनुभूतिया म हम आज भी ज्या की त्या प्रतिच्छासित मिलती हैं । इस सबध म पहले स्प० आचार्य शुबलजी न मर्हणियाल्मीरि द्वारा रामायण म सुरगित तथा फिर आग चल कर महाकवि कालिदास द्वारा मेघदूत म जालेपित बुध्द अविस्मरणीय प्रवृत्ति-वणना को गद्यात्मक परिवेश प्रदान करते हुए हम एक नूतन रहस्य की बात बताई है—

जिन वस्तुआ जीर व्यापारा के प्रति हमारे प्राचीन पूवज, अपने भाव धकित कर गए है उनसे आमो सामने अपने का पाकर माना हम उन पूव पुराणा के निकट जा पहुँचते है और उसो प्रकार के भाया को अनुभव करके उनके हृदय से अपना हृदय मिलाने ह्या उनके सगे बन जाते है—वतमान सम्यता ने जहाँ अपना दखल नहीं जमाया है उन जगला पहाडा गाँवा जीर मदानो म हम अपने का वाल्मीकि कालिदास या भवभूति के समय म सडा कल्पित कर सक्ते है । कोई बाधक दृश्य सामने नहा जाता । पवता की दरो-बन्धराआ म प्रभात के प्रफुल्ल पदम जाल म छिन्की चादनी म खिन्की बुमुन्नी म हमारी जानि कालिदास भवभूति जानि की आँखा से जा मिलती हैं ।

इस भाति के प्रवृत्ति वणन ही वस्तुन इतिवृत्तात्मक अथवा ऐतिहासिक उप-यास अथवा हिस्टारिकल रोमास का मुख्य प्रेरणा ही नहीं वरन उसकी मुख्य आधार भूमि भी बनते है । इस जबाध प्रेरणा एव अक्षय वणन-सपत्ति को जिनके सगारे ऐतिहासिक उप-यासकार वस्तुतः अपने कल्पनालोच का धीरे धीरे ह्पायित कर पाता है आचार्य शुबल न बन्ना हा हृदयप्राहिणी तथा भावमयी शक्ती म या प्रतिच्छासित किया है—

पलाश इगुदी अकोट बना म जब भी सडे हैं । सरोवरा म कमल अब भी मिलते है । तारावा म कुमुदिना अब भी हँसती है । बानीर शाखाएँ अब भी भुक भुक कर तीर का तीर घूमती हैं । जग्निमित्र विज्रमानिय जादि का जब हम, देख नहीं सकत । पर ऐसी वस्तुएँ जब भी हम देख सकते हैं जिह उहाने देखा हागा ।

सिप्रा के विचार दूर तक के समय खडे हा जाय—इधर

—-नी तो पर, सूर्यास्त के दशन

को जाते हुए, कालिदासजी हम, दर तब देखा करते थे। उस समय भी सिप्रा-वात उनके उत्तरीय को फहराता था। काली शिलाओ पर से बहती बेगवती की स्वच्छ धारा के तट पर विदिशा के खडहरो में, वे इट पत्थर, अब भी पड़े हुए हैं, जिन पर अगाराग लिप्त शरीर और सुगंध धूप में बसे बेश-बलाप वाली रमणिया के हाथ पड़े हांग।<sup>१</sup>

इन भाति हम 'उपयास विधा की उस विशेषता की ओर उन्मुख होते हैं जिसके एक पक्ष का लेखक आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने रोमानी महाकाव्य शली पर रचित अपने 'चार चंद्रलेख एव 'बाणभट्ट की आत्मकथा' की रचना की है तथा दूसरे पक्ष को लेकर स्व० श्री व.दावनलाल वर्मा ने अपने, बुदेलखण्डी प्रकृति शाभा से बभ्रवशाली, ऐतिहासिक उपयासों की सजना की है।

स्वयं स्व० आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी उपयास विधा के इतिवत्तात्मक पक्ष में, गहरी रचि रखने के और उसी से प्रेरित होकर उहान बगला के सुप्रसिद्ध उपयास कार और पुरातत्ववत्ता श्री रासालदास बन्धोपाध्याय के बरुणा और 'शशाक' नामक उपयासों का हिन्दी रूपांतर भी किया था। 'शशाक' के उनके अनुवाद के सम्बन्ध में, बुद्ध समीक्षकों ने यह आपत्ति उठाई है कि उहान मूल बगला उपयास के दुःखमय अन्त को मुखमय परिसमाप्ति में परिणत कर दिया। आचार्य शुक्ल काव्य-सम्बन्धी भारतीय दार्शनिक भावनाओं की श्रेष्ठता में विश्वास रखते थे अतएव उहाने दुःखमय कथान्त वाले यूनानियन (यूनानी) सिद्धांत को भारतीय साहित्य के लिये श्रेयस्कर न मान कर उपयास का सुखान्त में परिणत कर दिया। उक्त परिवर्तन का एक प्रच्युत पक्ष यह भी है कि शुक्लजी ने उपयास रचना प्रतिभा भी थी और उसकी क्रियात्मक परिणति में भी वे समर्थ थे। स्पष्टतया रासाल दास जैसे समर्थ उपयासकार की कृति में कलात्मक परिवर्तन सहज-सुलभ नहीं था और उसके लिय किसी कुशल कलाकार की सखती की ही आवश्यकता था, जिसके कि स्वर्गीय श्री शुक्लजी, निश्चय ही, धनी थे।

'रस मीमांसा' के अन्तर्गत आचार्य शुक्ल ने वर्णनात्मकता-तत्त्व की महत्ता एवं उसकी साहित्यगत क्रियात्मक अभिव्यजना के निरूपण पर जो मौलिक चिन्तन एवं विवेचन प्रस्तुत किया है, उसे केवल काव्य क्षेत्र जयवा पद्यात्मक साहित्य की समीक्षा के प्रसंग में देखा जाना उचित न होगा। यदि उपन्यास में वर्णनात्मकता किस भाति, क्या के ताने-बाने में, प्रथित हाकर, एक विलक्षण एवं मनोरम रूप धारण कर लेती

१ रस मीमांसा (आचार्य रामचंद्र शुक्ल) अध्याय ४, पृष्ठ ११६-१२० (शुक्ल जी ने अवतरण सख्या २ एवं ३ में इन प्राकृतिक दृश्यों का उल्लेख किया है व ही 'मपद्रुत के 'पुवमय' में क्रमशः श्लोक ३२ एवं २६ में ज्यों के त्या मिल जाते हैं।)

है इसके परिप्रेक्ष्य में उक्त विचार विमर्श का मूल्य, कई गुना बढ़ जाता है। वस्तुतः उप-यास के उक्त प्रागण में ता उसकी सृजनात्मक संभावनाएँ जवाब ही जाती हैं, जिनके कारण उप-यास विधा लोकमानस में रम जाने की विशिष्टता प्राप्त कर लेती है। आचार्य शुक्ल ने वणनात्मकता के रमणीय पक्ष पर भी जो अनूठी एवं मौलिक उद्भावनाएँ की हैं वे भी रीतिबद्धता एवं रूढ़ काव्य विवेचना का पद पद पर निराकरण करती चलती है।

आचार्य शुक्ल के इस वणनात्मक एवं रमणीय तत्त्व सम्बन्धी विवेचन को प्रस्तुत उप-यास विधा-परक प्रसंग के साथ जलित करना साभिप्राय है। महाकवि श्री सुमित्रानन्दन पन्त वृत्त लाभायतन महाकाव्य को समीक्षकों ने 'पद्यावद्ध उप-यास' मंगा भी प्रदान की है क्योंकि उसका सारा विशिष्ट चमक उसकी वणनात्मकता की कलात्मक गरिमा तथा समृद्ध एवं रगीन प्राकृतिक शोभा-अंकन पर ही आधारित है। मूलतः वणनात्मकता की जाद्य एवं सहज भूमि उप-यास ही है। अतः जहाँ कहीं भी हम उप-यासात्मकता की शोभा जय साहित्य रूपा में पाते हैं वही हम उसका निजी विशिष्टता—वणनात्मकता के भी दर्शन हात है। इस वणनात्मक चारता की उक्त एवं पूर्ण विवर्धित छवि, हम उप-यास विधा (गद्य महाकाव्य) में ही मिलती है। आचार्य शुक्ल की उक्त समीक्षा पद्धति का इसा दृष्टि से अनुशीलन करना चाहिए।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के पश्चात् स्वर्गीय श्री गुलाबराय जी का, अनेक विद्वाना एवं साहित्य ममता न सर्वाधिक समाशात्मक गूढगूढ वाला विचारशील आलोचक माना है। उनका परवर्ती श्रेष्ठ काव्य के रूप (१९४७ ई०) इस सम्बन्ध में पर्याप्त माय हुआ। श्री गुलाबरायजी ने अपने उक्त ग्रंथ में, पुरातन शला जपनात हुए जलित वाडमय को दृश्य-काव्य एवं श्रय-काव्य में त्रिभाजित किया है तथा तत्पश्चात् उहाने श्रयकाव्य के एक विशिष्ट जग के रूप में कथामाहित्य उप-यास को भी एक उपविभाग विनोप माना है। इसी विभाग के अंतगत यद्यपि श्री गुलाबराय जी की उप-यास सम्बन्धी परिभाषात्मक उद्भावनाएँ हैं, कुछ प्रगट-असंगतियाँ अवश्य दिखाई देती हैं फिर भी उहाने अपने उप-यास आलोचन प्रसंग में रसविष्पत्ति विषयक, सुस्पष्ट विवेचना की है। उहाने उद्देश्य तत्त्व की अयुक्तिपुक्तता बताते हुए हिंदी उप-यास समीक्षा में रस निरूपण के सिद्धांत का ही प्रतिपादन किया है।

पश्चात् देश में उद्देश्य को अधिक महत्व दिया गया है किंतु हमारे देश में, रस को ही प्रधानता दी गई है। हमारे उप-यास में काव्य ही की कौटि में आते हैं। इसलिए उनमें भी काव्य के रस और भाव होना चाहिए। रस और भाव को स्वीकार करने से विचार का निररकार नहीं होता है।<sup>१</sup>

१ काव्य के रूप (स्व० बाबू गुलाबराय, डी० लिट०) अध्याय ६ श्रयसाहित्य' कथामाहित्य उप-यास [आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९४७ ई० (वर्तमान संस्करण, चतुर्थ) १९५६ ई०।]

'हमारे विचार भी, हमारे जीवन के प्रति, रागात्मक या विरागात्मक दृष्टिकोण के ही, फल फूल होते हैं। विचारा के मूल में, भाव ही रहने हैं। 'वाव्या' में, चाहे व महाकाव्य की भाँति पद्यात्मक हो, या उपन्यास की भाँति गद्यात्मक हो, विचार सिक्ता के कण रस के सहारे ग्राह्य बनाए जा सकते हैं। उपयासा में भी महाकाव्यो का सा शृंगार, वार, हास्य वरुण का समावेश होता है। प्रारम्भिक काल के, कौतूहलवधक जासूसी और तिलस्मी उपयासा में, 'अद्भुत रस' का प्राधान्य था। आजकल के राजनीतिक उपयासा में 'वरुणा' के साथ 'वीर' का सम्मिश्रण रहता है। कभी कभी उपयासो में पूर्वावादा और साम्राज्यवाद के प्रति घृणा भी उत्पन्न की जाती है।

'उपयासा में मनोभावा का चित्रण रहता ही है। 'रगभूमि' में, सुरदास का वीरोत्साह सराहनीय है। थोड़ी बहुत भावुकता के बिना, वाणी में बल नहीं आता किन्तु समय और नियंत्रण, कला का जीवनप्राण है। 'उपयास' का उस समय से वचित रहना चाहिए।'

स्व० श्री गुलाबरायजी ने उपयास विधा की परिभाषा दते समय भी उसकी रसात्मकता एवं मानव-जीवन की प्रतिबिम्ब-परकता का 'उपयास' की मुख्यविशिष्टताएँ मानी हैं—

उपयास काय-वारण शृङ्खला से बँधा हुआ वह गद्यात्मक कथानक है जिसमें अपेक्षाकृत अधिक विस्तार तथा पेचीदमी के साथ, जीवन का प्रतिनिधित्व करने वाले व्यक्तियों से सम्बन्धित, वास्तविक या काल्पनिक घटनाओं द्वारा, मानव-जीवन के सत्य का, रसात्मक रूप से उद्घाटन किया जाता है।'

अतः, श्री गुलाबराय ने उपयासा में वर्णनात्मक तथ्या के समावेश के बारे में जो यत्नचित धारणाएँ व्यक्त की हैं वे भी ध्यान देने योग्य हैं। वे यह मानते हैं कि उपयासा का वास्तविकता जयवा प्रतीयमानता प्रदान करने के उद्देश्य से उनमें देशकाल का निरूपण भी एक प्रधान तथ्य है—

'कथानक का वास्तविकता का आभास देने में साधना में, वातावरण मुख्य है। कथानक के पात्र भी वास्तविक पात्रों की भाँति, दशकाल के बंधन में रहने हैं इसलिए दशकाल का वर्णन भी आवश्यक होता है। व्यक्ति के निमाण में वातावरण का हाथ बहुत कुछ होता है। जिस प्रकार बिना अँगूठी के नगीना शान्त नहीं बना, उसी प्रकार बिना दशकाल के पात्रों का व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं होता है और घटनाक्रम का समझने में भी उमरी आवश्यकता होती है।'

स्वर्गीय श्री गुलाबराय जी व पश्चात् हिंदी व साहित्य क्षेत्र म जिस जाधुनिक प्रणाली के समीक्षा-युग का प्रवृत्तन हुआ, उसमें हम मापक्षत अधिकाधिक जागरूकता एवं निश्चयात्मकता दृष्टिगोचर होती है। स्वतन्त्र्य प्राप्ति के पश्चात् हिंदी भाषा और साहित्य के कषों पर जाए हुए गुरुर उत्तरदायित्वा को दृष्टि म रखते हुए बह्र हमार साहित्यिक इतिवृत्त की एक अनिवाय मांग भी थी। इस काल म जहाँ एक ओर, 'उप-यास विधा के बहुसजन बहुजन प्रियत्व एवं बहुविध विकास म अभूतपूर्व अभिवृद्धि देखी गई ता दूसरी ओर हिंदी साहित्य के ममत्त एवं विचक्षण विद्वाना का ध्यान भी, उसके जालोचना-पक्ष की ओर अधिवाधिक प्रवृत्त हुआ।

डा० दशरथ आभा ने अपने समीक्षा शास्त्रीय ग्रंथ समीक्षा शास्त्र (भारतीय और पाश्चात्य) म उप-यास विधा व 'युत्पत्तिमूलक' एवं परम्परागत रूप की अधिक निश्चयात्मक परिभाषा-व्याख्या की है। हिंदी उप-यास के उद्भव एवं विकास की सरणी पर दृष्टिपान करन हुए जाचाय ओभाजी ने लिखा है कि—

यह (हिंदी) उप-यास अपन वर्तमान स्वरूप म, यद्यपि नया है—परन्तु इसकी परम्परा अत्यंत रूप म—भारतीय साहित्य म अखण्ड और अजल रूप स बहना हुई चली आई है। यदि अधिक मीनमेप' न किया जाए तो उप-यास के स्रोत को छूँढत हुए हम वेदो तक पहुँच सकत है। उप-यास के ढङ्ग पर बड़ी कहानिया व ग्रंथ कादम्बरी दशकुमार चरित वासवदत्ता आदि है। उप-यास की श्रेणी म केवण बाण की कादम्बरी और दण्डी का दशकुमार चरित ही आ सकते है।

जाचाय ओभाजी ने प्राचीन काव्यग्रंथा म पाइ जान वाली 'उप-यास शब्द की परिभाषा-जा का सज्जम उल्लेख भी किया है। उन्होंने उन पर अपना निजी 'यात्या भी निम्न शब्दो म दी है— जिस कथामक साहित्य म प्रसादन का गुण न हो बह्र उप-यास की काटि म नहीं जा सकता। प्रशसनीय नहीं बन सकता। उसकी जीवनावधि क्षणिक हागा।

किसी अर्थ का युक्तियुक्त रूप मे उपस्थित करना, उप-यास कहलाता है। इस विश्लेषण का तात्व्य यह है कि उप-यास, दो सयुक्त शब्दा से बना है— उप उपसर्ग है जो 'यास' शब्द स जुडा हुआ है। उसका (उप-यास का) अर्थ है उप पत्तिवृत्त। उपपत्ति का अर्थ है— हतु द्वारा किसी वस्तु की स्थिति का निश्चय चरितायता सगति युक्ति। 'यास' के अर्थ— 'स्थापना'। अत हतु द्वारा स्थितिया

१ समीक्षा शास्त्र 'भारतीय और पाश्चात्य'—(डा० दशरथ आभा, एम० ए० पी० एच० डा०) अध्याय ६ हिंदी उप-यास पृष्ठ १४८ १४९ (राजपाल एण्ड सस निल्ली प्रथम संस्करण १९५५।)

का निश्चय करना उपयास का धर्म है। इस व्युत्पत्ति के आधार पर, 'उपयास' जीवन के अत्यन्त निकट जाकर, इसका खाका खींचता है।<sup>१</sup>

कहना न हागा, उक्त विचार विमर्श 'उपयास विधा' गत वणनात्मकता के व्यापक एवं निर्णायक वैशिष्ट्य की ओर उन्मुख है जिसके बिना 'उपयास' अपनी उक्त निजी विशिष्टताओं में युक्त हो ही नहीं सकता। यही नहीं श्री ओझाजी ने वातावरण अथवा उपयास विधा की देशकाल प्रतीयमानता को भी अपने विवेचन में बहुत महत्व पूरा माना है—

वातावरण को समस्त परिस्थितियों का मकुन नाम है जिनमें पात्रा को 'सघष' करना पड़ता है ('सघष' शब्द यहाँ सीमित अर्थ वाला हो गया है—वस्तुतः जिनसे पात्रा को पद पद पर काम पड़ता है। या कहना, अधिक उचित हागा)। वास्तविकता का आभास देने की कसौटिया में वातावरण मुख्य आवरण है। कथानक के पात्र भी देशकाल की जजारों में जकड़े रहते हैं। देशकालगत वास्तविक पृष्ठभूमि के बिना, पात्रा का व्यक्तित्व स्पष्ट नहीं होता। स्थानीय तान अत्यंत आवश्यक है। ऐतिहासिक उपयासों में उसकी महिमा बढ़ जाती है। प्रकृति एवं पाठक की मानसिक स्थिति में सामंजस्य हाग चाहिए।<sup>२</sup>

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव के प्रसिद्ध यथे हिंदी उपयास का प्रकाशन प्रारम्भिक रूप में आज से लगभग चौदाई बर्षों पूर्व हो चुका था किन्तु सन् १९५६ ई० में उसका एक संशोधित एवं पुनर्निर्मित संस्करण प्रकाशित हुआ, जिसके अंत में— (परिशिष्ट भाग में) 'उपयास के उपकरण' नामक एक छोटा अध्याय भी जोड़ दिया गया है। यद्यपि उसमें भी उपयास विधा की समीक्षा सरणी को परम्परागत छत्रत्व द्वारा ही समझाया है फिर भी उसके दशभाल विवेचन के कुछ प्रसंग, प्रस्तुत 'उपयास विधा में वणनात्मकता के आलाच्य विषय से सम्बन्ध रखते हैं और मननीय भी हैं—

मातिक या प्राकृतिक संविधान कहना का अर्थ सामंजस्य तथा पात्रा को अधिक स्पष्टता देना एवं जगत और जीवन की विशालता का परिचय कराने के लिए किया जाता है। इस पीठिका का प्रयोग, कलाकार भिन्न भिन्न भाँति से कर सकता है। कहीं तो वह एक मनामय चित्र दिखाने की भाँति से ही प्रेरित हाता है जिसका जीवन से कोई लगाव नहीं होता, कहीं किसी स्थिति विशेष को अधिक स्पष्ट करने के लिए, आवश्यक आधार तथ्य के रूप में ही वह, बाह्य दृश्या का विधान करता है, और कहीं भावना क्षेत्र में और आगे बढ़ कर मानव रागा आदि का बाह्य प्रकृति से

१ समीक्षा-शास्त्र भारतीय और पाश्चात्य — (डा० दशरथ ओझा) अध्याय ६, पृष्ठ १५१

२ यही पृष्ठ १६०-१६१

सम्बन्ध स्थापित करता है। परन्तु उप-यासकार को सदैव इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि यह बाह्य चित्रण उसी कला का एक अंग हो।

उचित स्थान पर उचित रीति से वणनो की भी पेशा होनी है।

छोटे-ट्रोट्टे चमत्कार द्वारा ही इतनी शोघना और पुणता के साथ वास्तविक जीवन का भ्रम उत्पन्न कराया जा सकता है। वातावरण के सफल तथा मनोरम चित्रण का कहानी के लिए बहुत मूल्य होता है। कभी-कभी सामान्य सड़को गलिया तथा बरसात में टपकने वाले घरों के वणन से भी कहानी में विलक्षण मनोमाहकता आ जाती है। बाह्य दृश्यविधान, कई प्रकार से कहानी में विशालता, विस्तार, गामीय, शक्ति तथा सौन्दर्य उपस्थित कर सकता है। ”

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव मुन्यतया हिंदी उप-यास के इतिवृत्तकार हैं तथा यद्यपि उपन्यासगत जालोचनात्मक सिद्धान्त चर्चा, उनके ग्रंथ का मुख्य विषय नहीं था फिर भी उन्होंने उप-यास के कथात्मक संविधान में वणनात्मकता के योगदान के सम्बन्ध में जो संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी हैं, उनसे उप-यास विधा में वणनात्मकता के महत्त्व का सम्यक् मिलता है। वणन ही उप-यास को विशाल भूमि पर प्रतिष्ठित करते हैं और उह शाश्वत साहित्य की गरिमा प्रदान कराते हैं। वणनात्मकता की यह मूलभूत विशिष्टता उप-यास का, विविध भाँति से कलात्मक सौष्ठव से ज्वित करती है और उसे एक अनुपम चित्र विचित्र एक बहुविध रमणीयता से युक्त भी करती है।

श्री श्रीवास्तव वणनात्मकता की सफल आयोजना के रहस्य से भला भाँति अवगत हैं एक उचित अवसर पर, उचित प्रकार के वणन के समावेश को वे उप-यास के कलापथ की, एक बहुत बड़ी सिद्धि के रूप में मानते हैं। सुकृती उप-यासकार विनम्र से विनम्र पदार्थों का भी किस भाँति अनुपम छवि एक चारुता प्रदान करता चलता है यह तथ्य भी वे भली भाँति अनुभव कर चुके हैं। जब विन लेखक बाह्य दृश्यविधान अर्थात् सफल वणन प्रणाली द्वारा प्रकृत गत महान् छविमानता विशाल गरिमा अथाह गभीरता तथा शक्ति एवं सौन्दर्य तत्वादि का समावेश करने की बात कहता है तो वह उप-यास विधा में वणनात्मकता का पर्याप्त ऊँचे दर्जे की प्रतिष्ठा भी प्रदान करता है।

प्रख्यात एवं विचक्षण समीक्षक डा० रामजवध द्विवेदी ने भी उप-यास के मूल्यांकन शीपक से अपन ग्रंथ साहित्य रूप में विचार विमर्श किया है। उनके

१ हिन्दी उप-यास — श्री शिवनारायण श्रीवास्तव (ऐतिहासिक अध्ययन) परिशिष्ट भाग पंचम प्रकरण उपशीपक— दशकाल पृ० ४५३-४५४ (उप-यास के उपकरण) (प्रथम प्रकाशन १९५६ ई० पुनर्लिखित एवं संप्रोधित संस्करण १९५६ ई०) (प्र० सरस्वती मंदिर, वाराणसी)।

विचार, इसलिए भी अधिक ध्यान देने योग्य हैं क्याकि वे (श्री रामअवध द्विवेदी) सुदीर्घ काल से अंग्रेजी साहित्य के प्राध्यापक एवं हिन्दी साहित्य के सक्रिय समीक्षक दोनों ही रहें हैं। स्वभावतः उनके मन में सहज ही यह प्रश्न उदित होता है— उपन्यास की समीक्षा का क्या आधार है? अच्छे उपन्यासों और बुरे उपन्यासों में विभेद किस प्रकार किया जाए? वे आगे चल कर कहते हैं—

‘उपन्यास रचना के बस सवमाय नियम और सिद्धांत नहीं हैं, जैसे नाटको और महाकाव्य के सवध में मिलते हैं। आचार्यों ने, उपन्यास के क्षेत्र में सवग्राह्य नियमों की कोई संहिता नहीं तैयार की है। ऐसी अवस्था में अंतिम निणय, बहुत कुछ सुबोध और सहृदय आलोचक की अभिरचि पर निर्भर रहता है।’

उपन्यासों का मूल्यांकन कभी-कभी वास्तविक जीवन से तुलना द्वारा किया जाता है। लोग यह मान लेते हैं कि उपन्यास में जीवन का जितना ही यथातथ्य चित्रण होगा, वह उतना ही सफल माना जाएगा। कहना न होगा कि यह धारणा, अत्यन्त भ्रामक है।’

‘उपन्यास लेखक फाटोग्राफर का भाति, जीवन का वास्तविक चित्र नहीं खींचता बल्कि एक कुशल चित्रकार की भाति वह जीवन की कलात्मक अभिव्यक्ति करता है। इस प्रकार का अभिव्यक्ति में यथाथ के साथ मानसिक प्रत्यया का मेल रहता है। इतिहास और सामाजिक जीवन के तथ्या का साधारणीकरण होता है एवं स्थान और काल में बिखर हुए यथाथ जीवन के तथ्य, एक आकषक व्यवस्था के अंतर्गत, नियोजित किए जाते हैं।’

डॉ० रामअवध द्विवेदी व उपरोक्त समीक्षात्मक विचार, पर्याप्त विचारोत्तेजक मानसिक उद्भावनायुक्त एवं आधुनिक कलात्मक समीक्षा प्रणाली के निवृत्तनम आ पहुँच है। उन्होंने यह स्वीकार किया है कि उपन्यास की समीक्षा के लिए अभी बहुत कुछ संहिता शासन की अपेक्षा है। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि उपन्यास एक कलाकृति है अतएव उसका मूल्यांकन सहृदय आलोचक की कला संसृष्ट अभिरचि पर निर्भर रहना है। एक उदृष्ट चित्रकला के कुशल एवं प्रतिभाशाली चित्रकार की भाति, उपन्यासकार, जिस सूक्ष्म एवं कलात्मक प्रणाली से, इतिवृत्त एवं अर्वाचीन जीवन के तथ्या का समचित साधारणीकरण करने में समर्थ होता है वह एक ऐसी निपात्रन-कला एवं अभिव्यक्ति कला की परिचायक है, जिसने मूल में समाज (देश) और काल के अपरिमय विस्तार में बिखरे हुए यथाथ जीवन के तथ्या को एक आकषक एवं मनोहारी व्यवस्था के अंतर्गत नियोजित किया जाता है।

१ 'साहित्य रूप (डॉ० रामअवध द्विवेदी) उपन्यास का मूल्यांकन उपशोषक (पृष्ठ ६०-६१) रचनाकाल १९६० काशी (प्र० भारती मण्डल लीडर प्रेस इलाहाबाद, प्रथम संस्करण)।



उप-यास द्वारा पाठक को किस कोटि का मनाविनाट हाता है एव उसे किस भांति के विशिष्ट आनन्द की उपलब्धि हाती है उसे आचार्यद्विवेदी न काव्यविनाट बताया है जिसकी अपनी पृथक गता रहती है। उनका कहना है कि उप-यास पढना, खेल-तमाशा दखना या जातिगवाजी जसा कौनुक नही है। यह तथ्य, व्याख्या चाहता है। अनेक उत्तम उप-यामकारा न पाठका क समक्ष नाटकीय कौनुक एव दृश्य प्रस्तुत किए हैं। केवल उनके प्रस्तुनीकरण म उहान विशिष्ट वणन प्रतिभा अथवा चित्रण प्रतिभा का प्रयोग किया है जिमके कारण उनका आनन्द लोकोत्तर हा गया है। इते ही काव्यानन्द भी कहा जा सकता है।

आचार्य श्री रामजबध द्विवेदी क उपयुक्त मन्तव्या म हमे उप-यास की समीक्षा एव उसके मानोकरण क वार मे कुछ मूल्यवान तथ्या की आर इगित मिलता है—यथा उप-यास-गत मनाविनोद के मूल म जीवन का वह आकषक चित्रण है, जो हमार अनुभव के अनुरूप हाता हुआ भी, अपन म एक विशिष्ट चमकारपूण नवीनता रखता है। हमार मन उप-यास मे इसीलिए रमता है कयाकि उत्तम जीवन से प्राप्त सामग्री को एक एसा आकार दिया जाता है जिसम कलात्मक सौष्ठव रहता है। यह कलात्मक सौष्ठव ही वस्तुत उप-यास रचना की वणनात्मक प्रतिभा की पर्याय सचा है।

आचार्य श्री रामजबध द्विवेदी न पाश्चात्य आलाचना शास्त्र मे बहुचर्चित अरस्तू क सूत्र की परिभाषा भी की है जा उनकी गहरी साहित्यिक सूझबूझ की छातक है। अरस्तू ने जब काय का जीवन की अनुकृति बताया ता उनका अमिप्राय यही था कि साहित्यकार जीवन का पुन कलात्मक निरूपण करता है—मात्र अनुकरण अथवा चित्र प्रस्तुत नही करता। वसी जय म उप-यास का भा जीवन की अनुकृति कहा जा सकता है। अपनी रचनात्मक प्रतिभा द्वारा उप-यासकार जीवन को अमिनव कलात्मक अमिव्यजना प्रदान करता है।

श्री रामजबध द्विवेदी की उप-यास विधा-सबधी कुछ अय उद्भावनाए एव टिप्पणिया मा उप-यास नत्व पर प्रकाश डालने वाली हैं। उहोने उप-यास विधा क प्राय सभी तात्विक प्रसगा पर अपन निजी विचार व्यक्त किय हैं और उनकी विवेचना के द्वारा पाठका की उप-यास सबधा जानकारी म पयाप्त वृद्धि होती है। यहाँ पर उनम से कतिपय उल्लेख्य प्रमग प्रस्तुत किय जाते ह जिनका कि प्रस्तुत शोध की दृष्टि स महत्व है। उहान अपने उप-यास शीषक (पंचम) प्रकरण के प्रारम्भ म ही कुछ विचारणीय उदभावनाएँ की ह यथा—

(क) उप-यास अपक्षावृत्त नवीन साहित्य रूप है। फलत इस साहित्य रूप के स्वभाव और गुणा के वारे म पयाप्त विचार भी नही हा पाया है। नाटक और कविता के आधारभूत नियम बहुत कुछ निश्चित हैं किन्तु उप-याम को नियन्त्रित करने वाले सबमाय मिढान्नों का अभाव है। एक बात यह भी है कि उप-यास,



(घ) 'सामग्री प्राचीन इतिहास ग्रथा से आत्मन्याजा से, यात्रा वगनो से भी प्राप्त की जा सक्ती है।'

(ज) उपन्यास लघन में, कथानक की मौलिकता का उतना महत्व नहीं है, जितना उसकी सफल प्रेणोयता का और कभी-कभी कथा का सूत्रपात किसी नगण्य घटना अथवा साधारण अनुभव से होता है।'

(झ) 'वास्तविक अनुभव से प्राप्त सामग्री का यथातथ्य निरूपण करने वाले— यथाथवादी एवं प्रवृत्तिवादी उपन्यासकार, निरन्तर यह प्रयत्न करते आए हैं कि वे जीवन का चित्र, बिना परिवर्तन और हेरेरे के अंकित करें। यथाथ जीवन की कुस्पताओं की जोर उनका विशेष ध्यान गया है जत उनके वणन अनेक स्थला पर भड़े और नराश्यपूर्ण हा गए हैं।'

(ञ) आन्शरानी उपन्यासकार जीवन का जाकपक चित्र प्रस्तुत करना चाहते हैं अतएव उनकी कृतियां में उन्नात्त पात्रो उच्च जान्शों, और उद्देश्या, तथा मन पर मोम्य प्रभाव डालने वाले वणनो की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के उपन्यासो में परिस्थितियां और घटनाआ में परिवर्तन की अधिक समावना रहती है और जीवन को राचक और जाकपक रीति से व्यक्त करने का उद्देश्य प्रमुस रहता है।'

उपन्यास की सवमाय सहिता का समाव डा० रामब्रवध द्विवेदी को ही नहीं प्राय सभी आधुनिकसमीक्षका को खटना होगा। किन्तु केवल डा० द्विवेदी ने उसे जत्यत स्पष्ट रूप में स्वीकारा है। साथ ही उनके मन में, ऐसी किसी सहिता की उतनी अनिवाय अपक्षा भी नहीं है—कारण कि उपन्यास मूलत एक उन्मुक्त साहित्य रूप ही है। उपन्यास की उत्तमता अथवा साहित्यिक गरिमा के निर्धारण के लिए चाहे वे सिद्धान्त सहिता अथवा यधी हुई परिमापा को अनिवाय न समझते हा किन्तु उन अमिप्राय को दृष्टि में रखन हुए व उनकी कतिपय अनिवाय विशेषताओं का निरूपण अवश्य कर डालना चाहते हैं। यह बहुत अशो में स्वीकार करना होगा कि उपन्यास कोटि निर्धारण में सिद्धान्त सहिता अथवा परिमापा निरूपण का अवेभा उसकी मौलिक विशिष्टताओं एवं अनिवाय विन्यासगत प्रवृत्तियां की जोर ही अधिक तल स्पर्शी विवेचन एवं अनुसंधान की आवश्यकता है।

अपने उपयुक्त विचार विमश में डा० द्विवेदी ने उपन्यास का सवप्रथम एवं अनिवाय गुण जीवन का प्रभावोत्पादक एवं रोचक निरूपण बताया है। निश्चय ही यह काय रिना उत्कृष्ट वणनात्मक प्रतिभा के समाव्य नहीं है तथा बिना एक सुसंस्कृत

कलात्मक वणन सौष्ठव के, जीवन निरूपण जथवा जीवन पुन निरूपण में प्रभावोत्पादकता तथा रोचकता का समावेश नहीं किया जा सकता।

डा० द्विवेदी की उक्त उदमावनाओं में ऐसे अनेकानेक सनेत हैं जो सब मिला कर उपयोगगत वणनात्मक कला की अनिवाय महत्ता की आरङ्गित करते चलते हैं फिर भी वे अपने कुछ अभिप्रायों को निश्चयात्मकता प्रदान नहीं कर पाये हैं। उपयोग में लेखक और पाठक के बीच सीधे सागात्मक सम्बन्ध को तो स्वीकार किया गया है किन्तु उस सम्बन्ध स्थापन का माध्यम क्या है? क्या वह वणनात्मकता की कलागत विशिष्टता नहीं है?

जीवन का विराट चित्र प्रस्तुत करने के लिए मुख्य साधन है, वणन की कलात्मक प्रतिभा। यही कलात्मक प्रतिभा, लेखन की अपनी, वह निजी निरीक्षण प्रणाली है जिसकी पुनसंज्ञा करके, वह अपने पाठकों को अभिभूत एवं चमत्कृत कर देता है। उसी को साहित्यकार की निरीक्षण गत असाधारण क्षमता की संज्ञा दी गई है।

डा० द्विवेदी ने यह बात बना कर भी अपनी विवचन प्रतिभा का परिचय दिया है कि उपयोग लेखन में कथानक की मौलिकता ही बड़ी बात नहीं मानी जानी चाहिए। मुख्य बात तो है कथानक की प्रेक्षणीयता। अनेक विद्वानों ने उस प्रेक्षणीयता को प्रतीयमानता या लाइफ लाइकनेस (जीवन सादृश्य) भी बताया है। यह सूक्ष्म कलात्मक संज्ञा केवल सजीव एवं संप्राण, रता संस्कृत वणन विशिष्टता द्वारा ही, साध्य है।

अधिकांश तथाकथित यथाथवादी कृतियाँ, इसलिए प्रभावहीन रहती हैं, क्योंकि उनमें जीवन की कलात्मक पुनसंज्ञा की अवहेलना करके, भ्रष्ट वणना का समावेश भी आ जाता है। नाराध्यपूर्ण उपयोग भी उत्तम या नहीं मान जा सकता क्योंकि वे सर्वसाध्य 'शतय, शिव गंध सुन्दर' के गिढाता का हान करने में ही यागदान करते हैं।

उच्चादर्शों से प्रेरित उत्तम पात्रों की संज्ञा, वने ही कलात्मक वणन विशिष्टय की अपेक्षा रखती है। यही बात मन पर सौम्य प्रभाव छोड़ने वाले वणना के बारे में कही जा सकती है। डा० द्विवेदी का यह अभिमत बहुत अशा में सर्वसाध्य ढागा कि आदर्शोन्मुख यथाथवादी उपयोग ही बहुधा विरल उपयोग कहाने की क्षमता रखते हैं, क्योंकि उन्हीं में, लेखक का अपने वणन-वशिष्टय के उत्तमोत्तम नमून प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है। अधिकांश तथा रचित यथाथवादी उपयोग का साहित्य-वाटि में रचना, इमोलिण समाय नहीं है कि उनमें वणनात्मक कला के मूलभूत सिद्धान्त—सौन्दर्योद्भावना (एस्थेटिक एलिमेंट) की ही जानबूझ कर उपेक्षा की जाती है।

उपयोग विधा में इस भाँति 'जाण-उन्मुख उपयोग' कम महत्वपूर्ण नहीं समझे जाने चाहिए। किन्तु जा भी औपचारिक कृतियाँ विश्वसाहित्य में स्थान पाने योग्य मानी गई हैं उनमें, प्रथमतः जथवा पराक्षर्य से (कलात्मक सूक्ष्म-व्यंजना

है। चरित्र चित्रण के ऐसे बहुत से पक्ष हाने हैं, जिनका स्पष्टीकरण वणना के द्वारा ही समभव होता है।<sup>१</sup>

शिल्प की दृष्टि से, उपयास म वणना का महत्वपूर्ण योग, कथानक से उन तत्वा को हटाना या कथानक मे उन तत्वा को जोड़ना है जिनकी आवश्यकता समय समय पर समाप्त होती रहती है या जिनकी आवश्यकता, अनुभव हाती है। कथानक के ऐसे बहुतसे सूत्र होत हैं, जो पूरे उपयास म केवल कथानक को मोड़ या गतिदेन म सहायक होने हैं। एस सूत्रा को बहुधा वणना द्वारा ही उपयास के बहुतर जाकार म समट दिया जाता है। कथानक को आयाम तेन मे वणना का प्रमुख योग होता है। वणनो क बिना कथानक म वह वास्तविकता जीर विश्वसनीयता नही जा सकती, जिसके बिना कि उपयास सफल नही कहा जा सकता।<sup>१</sup>

हिंदी साहित्य की उपयास विधा की समीक्षा, जे चार दशका को पार करके पाचवें दशन मे जग्रसर हो चुकी है। इस अतराय म जनेक समीक्षको एव साहित्य शास्त्रिया ने उपयास विधा म, वणनात्मकता के समावेश के द्वारा रसोद्रेक सम्बन्धी विशिष्टता का समय समय पर अनुभवतो किया है किन्तु कभी तो व उपयास की वणनगत विशिष्टता को दशकाल नत्व के अन्तगत जधवा कभी उसे शली तत्व के जगतगत ही बहुधा समाविष्ट करत चले आए हैं। किन्तु अद्यावधि किसी भी मान्य समीक्षक ने उस निश्चयपूर्वक उपयास विधा की उत्कृष्ट विशिष्टता के रूप म मान्यता नही दी है।

जहा तक कि वणना की उत्तमता जीर उनके द्वारा उपयास के देश और काल के निरूपण म योगदान का प्रश्न है स्वयं जाचाय श्यामसुन्दरदास भी वणन के इस पक्ष से भली भांति अवगत थे। उन्होंने ऐतिहासिक उपयास म वणना की यथा तथ्यता एव प्रभावणात्मिता पर जात से ५० वर पहले इसीनिय ध्यान दिया था और माना भी था कि उसने बिना उपन्यास म आए हुए तात्कालिक जीवन का समुचित चित्रण सम्भव नही है—

ऐतिहासिक उपयास का महत्व तो केवल इसी म है कि उसम प्राचीनकाल के जीवन का पूण और विस्तृत वणन किया जाय। ऐतिहासिक उपयासके पाठक तो उभी लेखक का सबसे अधिक जादर करत हैं जो किसी विशिष्ट जतीत काल का, विलकुल सच्चा जीता जागता और साथ ही मनोरजन वणन कर सके। इससे उसके

पांडित्य और पुरातनत्व ज्ञान का भी जादर होता है, पर उनना अधिक नहीं जितना उसकी वणन शक्ति का ।<sup>१</sup>

श्री श्यामसुन्दरदास उपयाम विधा के वणन-पक्ष की प्रभावोत्पादकता में विश्वास रखते थे अतः इतिवृत्तात्मक उपयाम सम्बन्धी, उपयुक्त प्रसंग के अतिरिक्त भी उन्होंने इस बारे में अपने कुछ और निजी मन्तव्य इस भाँति प्रकट किये हैं—

देश और काल के अतिरिक्त किसी उपयाम का सम्बन्ध कुछ दूसरी ऐहिक बातों से भी होता है। कुछ लेखक तो बड़े जोर अर्थात् दृश्या का वणन भी, बहुत ही संक्षेप में करके छुट्टी पा जाते हैं और कुछ लेखक छोटी से छोटी बातों का भी बहुत ही विस्तारपूर्वक वणन करने बैठ जाते हैं। कुछ लेखक तो पवतो नष्टियों, और जगली की प्राण कालीन शोभा का वणन दो चार पंक्तियों में ही कर देना पर्याप्त समझते हैं। और कुछ लेखकों को खिडकियों में लगे हुए जगला, उनके आगे पड़े हुए पर्दों में बने धूल-बूटों तक का वणन किए बिना, सन्तोष नहीं होता। हमारी समझ में लेखक को किसी प्राकृतिक दृश्य का वणन करना चाहिये, जसा कि कोई अच्छा चित्रकार उस दृश्य का चित्र मीचता है वह अपनी रचना में केवल सौंदर्य वृद्धि के लिये भी ऐसे दृश्यों का वणन कर सकता है। और अपने सृजित पात्रों के साथ पाठकों की सहानुभूति बढ़ाने अथवा दुष्ट पात्रों की दुष्टता अधिक प्रत्यक्ष करने के लिए भी कर सकता है। जैसे नवजात वृष्ण को गोद में लेकर यमुना पार करने वाले बसुदेव के साथ सहानुभूति बढ़ाने के लिए भीषण अघकार घोर वर्षा, प्रचण्ड वायु और प्रबल बाढ़ का बहुत अच्छा वणन हो सकता है। प्रायः लेखक प्राकृतिक दृश्या या घटनाओं आदि का उपयोग अपने पात्रों के साथ, सहानुभूति बढ़ाने में ही करते हैं। किले के बुज में बंद किसी कर्मी का वणन करते हुए साथ में आधी और तूफान का उल्लस होना है और अट्टालिका में पड़ी हुई विरहिणी के वणन के साथ, बादल की गरज, और बिजली की चमक का उल्लेख होता है। साधारणतः लेखक, अपने पात्रों की अवस्था, और प्राकृतिक घटनाओं में सामञ्जस्य ही स्थापित करने का उद्योग करते हैं ।<sup>१</sup>

उपयामकार की उक्त वणन सामर्थ्य का परिज्ञान तो श्री श्यामसुन्दरदास को भी था क्योंकि उन्होंने उपयाम विधा के एक पक्ष विशेष में, प्रभावशाली वणनों का महत्व रसोद्भेक की दृष्टि से, आवश्यक समझा था। अतः उनके इस समीक्षा विवेक

१ 'साहित्यालोचन' (डॉ० श्यामसुन्दरदास) (पाचवा अध्याय—'गद्यकाव्य का विवेचन', पृष्ठ २६२०१) (ख) श्रव्य-काव्य—उपयाम देशकाल-सम्बन्धी प्रसंग पृष्ठ १७३। (प्रथम सम्करण १९२२ ई० प्रस्तुत बारहवाँ संस्करण १९५७ ई०) (परिवर्तित और सशोधित, प्र० इंडियन प्रेस प्रा० लि०) ।

२ वही—पृष्ठ १७४ १७५

की सराहना की जानी चाहिए, कि उन्होंने उप-याग विधा में अंग्रेजी आलोचकों का अधानुकरण न करते हुए उप-यास में शली' जस किसी स्वतंत्र तत्व को अपनी स्वीकृति नहीं प्रदान की थी। इसके विपरीत उन्होंने 'उप-यास और रस' तत्व का निरूपण करके, वणन जादि भारतीय काव्य की विशिष्टताओं की रसोद्रेक कारिणी महत्ता का, उप-यास विधा में, स्वीकृति भी प्रदान की थी।

खेद का विषय तो यह माना जाएगा कि इसके विपरीत, श्री श्यामसुन्दरदास के परवर्ती समीक्षकों ने, उनके निर्धारित किए हुए उप-यास विधा के तत्त्वों में से चतुर्थ तत्व—अर्थात् 'उप-यास और रस' के स्थान में जगल समीक्षकों द्वारा निर्धारित उप-यास तत्वों में से एक—'स्टाइल' अथवा शली' को ही अपने तत्व विधान में समाविष्ट कर लिया। इन भांति हमारे आद्य उप-यास विधा सम्बन्धी तत्व निरूपण में, जो एक मात्र तत्व 'उप-यास और रस' भारतीय चिन्तनधारा का प्रतीक रूप अवशिष्ट रह गया था उसे भी परवर्ती समीक्षकों ने निकाल बाहर किया और इस भांति अब हमारी उप-यास विधा सम्बन्धी सभी मायनाओं की मूल्यांकन प्रणाली प्रायः सम्पूर्ण रूप से, अंग्रेजी ढंग में ढाल दी गई है।

उप-यास विधा तथा तत्संगत वणन-तत्व के सम्बन्ध में हिन्दी-समीक्षा-जगत की विविध विचार-भरणिया पर हम भांति पर्यवेक्षण कर लेने के पश्चात् उप-यास में वणनात्मकता के महत्त्व का निरूपण पर्याप्त अंश में सुनिवारित हो जाता है। पर समय-समय पर उप-यास विधा की विविध तथा नव-नव वणन शलिया का लेकर आलोचनात्मक विचारधारा में ऐसी शक़ाएँ भी दृष्टिगोचर होती हैं कि अमुक शली के उप-यासों की नियोजना में तो वणन अधिक महत्त्व रखते हैं तथा अमुक शली में उनका महत्त्व नगण्य हो जाता है। अतः इस दृष्टि से भी वणनात्मक विचार विमर्श आवश्यक हो जाता है। जसा कि डॉ० टण्डन का मत है वणन-तत्व के रूपों में परिवर्तन के साथ ही साथ, उनकी तथाकथित 'विविध शलिया भी बदलती जाती हैं। वस्तुतः उप-याग विधा की इगनीति एव सावभौम विशिष्टता—वणनात्मकता के ही, वे विविध रूप अथवा परिधान मानें हैं। यदि अद्यावधि प्रचलित सभी नई-पुरानी औप-यासिक शलिया पर एक तुलनात्मक दृष्टिक्षेप किया जाय तो पात होगा कि उन सभी में मन्नाधित प्रमुग एव मुगल तत्व उनका वणनात्मक नियोजन ही होता है।

ऐतिहासिक उप-यागो म उमदेश औरबात का—ग्य सरसृति एव सामाजिक परिवेश का—जो कि कभी का विशिष्ट वणन प्रस्तुत किया जाता है जिससे कि उनकी वण्य महानी पाठक का प्रतीयमान एव अद्भुत जान पड़े। इनमें भी जा ऐतिहासिक उप-यास मासृतिर पृष्ठभूमि के गहरे रंग का लहर रूपायित होने हैं उनमें वर्णित शैशवाव की धार्मिक सामाजिक तथा नतिक परिस्थितियाँ को साक्षान् करन वाले विवरणयुक्त विशिष्ट वणना का समावेश किया जाता है। यह काय साधारण ऐतिहा

सिक् उपयोग रचना की अपक्षा, उच्चस्तरीय एव कलात्मिकता हाता है तथा उसमें लेखक को, अपने गहन अध्ययन एव प्रतिभा के बल पर, और भी सूक्ष्म वर्णन नियोजना करनी पडती है। इसी वर्णनात्मक समृद्धि द्वारा ये सांस्कृतिक ऐतिहासिक उपयोग 'गद्य-महाकाव्या' की सना के अधिकारी हो जाते हैं और उनका साहित्यिक स्तर और स्वर भी अधिक ऊँचाई की आर अभिमुख रहता है। कभी ऐम उपयोग को ऐतिहासिक' और कभी 'सामृति' कहा जाता है। वस्तुतः य दोनों ही 'गद्य महाकाव्य' शली के उपयोग कह जान योग्य है।

सामाजिक' उपयोग, 'नीतिपरक' उपयोग तथा 'आदर्शवादी' उपयोग में तात्विक अन्तर अधिक नहीं रहा करता। इन उपयोग का मृष्टात्रा का अपन आसपास के लोकजीवन का गहरा और दार्शनिक अध्ययन करना हाता है और अपनी उपयोग रचना को प्रभावत्पादक बनाने के लिए उन्हें, ग्रास तीर पर ऐस वर्णन-स्थला एव वर्ण्यविषया की खोज करनी पडती है, जो पाठक के देशकाल के अनुरूप हों हुए भी, अपन में विशिष्ट व्यञ्जनात्मक, प्रतीकात्मक एव विम्वय जिज्ञासा जगान वाले, हावें। उपयोगकारकी सूक्ष्मज्ञ तथा उसका वर्णन विवक जितन ही तीव्र एव तलस्पर्शी होंगे—उपयोग भी उतना ही लानप्रिय सिद्ध होगा।

लेखक के अपन निजी लाकजीवन से सम्बन्धित अथवा 'सामाजिक' उपयोग में भी एक प्रकार के उपयोगकार, समाज के चित्र को ('फोटोग्राफी' की भाषा में) रिटच' या सँवार कर अंकित करना, अपना धम समझत है क्योंकि दूरदूर चित्रण महा आभ्य तथा साहित्यिक श्रीशामा से हीन हो जाता है। इसीलिए वे ग्व सुमसृष्ट जगत का, अपनी वृत्तिया में पुनर्निरूपण करते हैं, जिस कि उसका देश और काल का समुज्ज्वल तथा आशावादी छविचित्र भी कहा जा सकता है। इसके लिए लेखक अपन कथानक में उही चुन हुए स्थली एव प्रतीकात्मक पदार्थों के वर्णन प्रस्तुत करता है, जो उसे अतिसामाय एव प्रभावहीन नहीं जान पडते।

किन्तु इसके विपरीत यथाथवादी अथवा प्रवृत्तवादी उपयोगकार कृष्ट एव रुग्ण समाज का, जसा का तसा चित्र, ईमानदारी से उताग्ने में प्रवृत्त हो जाते हैं। वस्तुतः ये लोग अपने समाज और उसकी नतिक, सामाजिक, राजनतिक एव आध्यात्मिक अवस्था-का स, असतुष्ट रहते हैं तथा उनके विरुद्ध विद्रोह का वण्टा उठाते हैं। इसके लिए उन्हें 'सबहारा बग तथा दीनहीन सामाजिक पक्ष का ही अपन वर्णना के लिए चुनना हाता है। उन्हें प्रायः उस अभाग समाज के कुछ ऐस स्थला का अना वरण करना पडता है, जा शिष्टता एव सांस्कृतिकता के नाते यदि छुप ही पडे रहते तो ही बहतर हाता।

कभी-कभी ऐस यथाथवादी उपयोगकार अपने युगधम के धार्मिक आवेश में मग्न रहते हैं और अपन निजी आग्रहा एव मतव्या में भी वे वण्टा अनुदार और



कठोर पाये जाते हैं। इसी वग म हम समी तथाकथित 'प्रगतिशील' उप-यास साहित्य का समावेश कर सकते हैं। सूक्ष्मतया दखे जाने पर ये लोग भी वस्तुतः, 'दिवास्वप्न' दृष्टा ही होते हैं और व अपने सम-सामयिक समाज से ऐसे चित्र चुन चुन कर, जा उसकी निरर्थकता एव निष्प्राणता के चानक हों हैं—एक ऐसे भावी समाज के 'समुज्ज्वल दिवास्वप्न' को समक्ष दखते ह तथा उसे अपनी वणन प्रतिभा स साकार करते चलते हैं जिसम सभी कुट्ट रगडग बदला हुआ हाना चाहिए। य लोग अपनी सुधारवादी योजना-जा के भावी भयचित्र दिखता कर अपने पाठक का उसकी रचना मे जुट जान तथा उसम सत्रिय भाग लेने का भी प्रोत्साहित करते ह।

वणनात्मक विशिष्टता के आधार पर ही कल्पना प्रधान' एव भावात्मक (भावनात्मक) उप-यास शलिया का भी उद्भव एव विकास हुआ है। कल्पना प्रधान उप-यासा मे कल्पित जगत की चित्र विचित्र विस्मयकारी दृश्यावलिया का कुशल वणन किया जाता है। यहा नवा रमा म वस्तुतः 'जदभुत रस' ही प्रधान रहता है और उप-यासकार अपने वणना मे, वास्तविक जगत स अधिकाधिक मित्र चित्र अकित करन म ही अपनी वणन प्रतिभा का उपधाग करता है। तिलिस्मी, ऐयारा जीर जतिमानवीष उप-यास शलिया म उपयुक्त वणन प्रतिभा का हा चमत्कार प्रभाव रहता है। यही बात विनानपरक उप-यासा म पाई जाती है। नय स नया वैज्ञानिक आविष्कार, लेखक का आन वाले आविष्कारा का पूव नियोजक बनने की प्रेरणा देता है। जदभुत रस ही एस उप-यासा के वणना म सबप्रमुख रहता है।

आधुनिक उप-यास शलियो म एक ऐसी विशिष्ट शला भी जिसे भावनात्मक या कायात्मक शला भी कहत है यत्कदा दिखाई दे जाती है। स्व० चण्डीप्रसाद हृदयेश' का वृहद् उप-यास 'मगल प्रभात', हरिऔध' की प्रसिद्ध जीप-यासिक कृतियों, श्री ब्रजन-दनसहायके 'सौन्दर्योपासक' आदि उप-यास तथा निकटतरयुगम स्व० उपा देवी मिश्रा कृत जीवन की मुस्कान' जस उप-यास दस शली के प्रतीक माने जाते हैं। इनम, वणन शली प्राचीन कायापम हाने हुए भी द्यावावादी कविया की भाँति नव-नव उदभावना-जा से काम लेना हाना है जिह केवल विशिष्ट प्रतिभा-सपन्न उप-यासकार ही साकार कर सकते हैं।

यात्रा सस्मरण तथा दनदिना (डायरी) नाम से अभिहित शलिया, मूलतः वणन प्रधान शलिया ही होता हैं। इम प्रमश, वणनो के 'स्थान-वचिन्म', पात्र वचिन्म' एव घटना-वचिन्म तत्वा का समावेश हाता चलता है। स्व० राहुल साहृत्यायन के जनवानक एतिहासिक उप-यासा की पृष्ठभूमि यात्रा वृत्तान्त पर ही आधारित रही है। उनम, विशिष्टतया विस्मृत यात्री इस सबब म विशेष उदाहरणीय है।

सस्मरणात्मक उप-यासा का हम आत्मकथात्मक' एव उत्तम पुष्प एकवचन शला म रचित उप-यासा की एव मित्र सना-मान भी बता सकते हैं। अन्ये कृत

'शैलर एक जीवनी' इसका सनात्मक उदाहरण है। डायरी शली सभी घटना वचिन्म की ओर मुडती है तथा सभी यात्रा-वणन जादि अय वणनात्मा वयावस्तु सत्वा की ओर मुडती है। डा० देवराज शृत 'अजय की डायरी' यद्यपि 'दनन्नी' के रूप में लिखी गई है फिर भी वह मुख्यतया (अपना मनोरमता के लिए) अपने अविस्मरणीय यात्रा-वणना पर ही आधारित है।

आजकल कुछ नव-नव वणन प्राधान्य युक्त उपयासा की हिन्नी एष अय प्रादेशिक उपयास-साहित्य में धूम है उह 'आचलिन' उपयास की साता दी जाती है। 'प्रादेशिक रूपाना' तथा 'स्थानीय रग' ही इनकी चारता के विशिष्ट सबल बनत हैं। अधिक सफल आचलिक उपयास उह माना जाना चाहिए जिनमें कि कोई विशिष्ट प्रदेश जयवा भौगोलिक इकाई, निजी चित्र विचित्र प्राकृतिक श्रीशोभा तथा रगत्रिरग लोकजीवन के सशक्त एव प्रतिभाशाली वणना के माध्यम द्वारा, 'दृश्यमान' हो उठ। इनमें अधिकांश, प्रवृत्ति की मोद में बसे, ग्रामीण अचल को ही अपनी पृष्ठभूमि बना कर चलत हैं। श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' के उपयास-द्वय 'मला आचल' एव 'परनी परिकथा' उत्तम आचलिन उपयास हैं। 'नदीपुराण' एव 'वरुण-पुराण' (सागर-तट वणन) की शला के अनेकानेक अय उत्तम आचलिक उपन्यास भी रूपायित हुए हैं जिनमें श्री देवेन्द्र सत्यार्थी-वृत्त 'ब्रह्मपुराण' तथा स्व० श्री उदयशंकर भट्ट शृत 'सागर, लहरें और मनुष्य' अविस्मरणीय हैं।

नागरिक जीवन की विषमताओं का लेकर श्री इलाचंद्र जोशी ने अनेक वर्षों पूव अपना 'जहाज का पछी' रचा था। तुलनात्मक दृष्टि से इस शली का अधुनातर उपयास है 'अधेर बाद कमरे' (श्री माहन राकश)। इस वृहत उपयास में लेखक ने चेतना निर्रिणी शली' (स्ट्रीम आफ कांशसनस) की 'पलेशयक प्रणाली' का भी समावेश कर दिया है जो एक नवीनता है। चित्रपटा जयवा फिल्मा में दृश्या के कालक्रम में, जिस भाति, उत्सुकता बनाए रखन के लिए 'उपट कर' किया जाता है उसी भाति, ऐसे उपयासकार, घटनाक्रम में कालक्रम का अपनाना जरूरी नहीं समझते। रही 'चेतना निर्रिणी शली' को मनावनानिक कोटि में रखे जाने वाला बात, सा उमे केवल लेखक द्वारा नियोजित 'वणन-द्वल' से उत्पन्न, आति ही कही जायगा। उक्त शली क सभी सफल उपयास पनशयक' प्रणाली पर आधारित, प्रधानतया वणनात्मक उपयास ही हाते हैं और इनकी सफलता या सिद्धि, लेखक की निजी वणनात्मक प्रतिभा पर ही अवलंबित रहती है।

पाश्चाय मनोविधान विशारद दाशानिका जुग तथा फ्रायड के विचार-दशन से प्रभावित हाकर जो उपयासकार 'तयाकथित' मनोविश्लेषणात्मक उपयासा की रचना करते हैं, वे वस्तुतः उपयास विधा की उदार वैधानिक स्वतंत्रता का दुस्प्रयोग हा करते हैं। ज्ञान एव उपयास, मूलतः 'ज्ञानशोध' तथा 'रजकत्व' नामक परस्पर विरोधी चिन्तनों के परिणाम हैं। यदि वे एक दूसरे के क्षेत्र में अनधिकार

अतिश्रमण करेंगे तो अपनी निजी चास भूल कर उपहासास्पद बनने का खतरा ही मोल लेंगे। समयान्तर म, पाश्चात्य उप-यास की एक ह्रासमान शली का, यह भागनाय जनमानस पर वृथा आरोप प्रयास ही माना जायगा।

उप-यास विधा म वणनात्मकता के स्थान निधारण के सम्बन्ध म, हमारे समीक्षा जगत के कतिपय माय एव विशिष्ट विवेचकों के अभिमता की रूपरेखा प्रस्तुत की ही जा चुकी है। इसके अतिरिक्त कुछ उप-यास-खण्डा समीक्षक महोदय भी समय-समय पर निजी रचनात्मक उपलक्ष्या पर दृष्टिपात करते रहे ह। वे, मूलतः ता रचनात्मक प्रतिभा से ही सम्पन्न हान है। जनएव व उप-यास रचना के क्षेत्र म, उप-यासकार की उपाधि से ही सन्मत रहत है। किन्तु अपनी वृत्ति विशेष पर या अपने उप-यास कर्म के साधारण दृष्टिकोण पर अपने निजी विचार व्यक्त करते समय उनमें से अधिकांश प्रतिभाशाली कलाकार उप-यास विधा म वणनात्मकता की निजा सूक्ष्मतम प्रवृत्तिया का भी निर्देश कर जाते हैं। य स्वातः सुखाय समीक्षात्मक उद्भावनायें उप-यास विधा म वणनात्मकता के स्थान एव महत्व के अवधारण म, विशय मूल्यवान सिद्ध हा सकती है।

ऐसे महान एव रससिद्ध कलाकार-समीक्षका म सवाग्रगण्य ह स्व० श्री प्रेमचन्द। श्री प्रेमचन्द जितनी ऊँची सृजनात्मक प्रतिभा म ममवित थ उतना ही ऊँची और मौलिक उनकी समीक्षात्मक सूझ-बूझ भी थी। उन्होंने उप-यास विधा के विविध पक्षा पर विचार करत हुए समय-समय पर अनेक आलाचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। उन्हीं से उनका कतिपय चिरस्मरणीय उद्भावनाजा का (वर्तमान प्रसंग के सदर्भ म) उल्लेख किया जा रहा है। क्या उप-यास विधा की काइ शास्त्रीय परिभाषा संभव है? इन जिनासा के प्रत्युत्तर के रूप म उन्होंने कहा था —

उप-यास की परिभाषा विद्वाना ने कई प्रकार से का है लेकिन यह कायदा है कि जो चाज जितनी सरल होनी है उसका परिभाषा उतनी ही मुश्किल हाती है। उप-यास के सम्बन्ध म भी यही बात कही जा सकता है। ऐसा काई परिभाषा नहीं है जिस पर सभा लाग सहमत हा। मैं उप-यास का मानव चरित्र का चित्र-भाज समझता हूँ। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना और उसका रहस्या को खालना ही उप-यास का मूल तत्व है।<sup>१</sup>

श्री प्रेमचन्द मानव जीवन के सूक्ष्मतम निरीक्षण एव चित्रण के महत्व को तो स्वाकार करत है किन्तु ये जीवन की फोटोग्राफिक अथात शत प्रतिशत यथातथ्यता

१ 'कुछ विचार' (भाग १ साहित्य और भाषा सम्बन्धी)—श्री प्रेमचन्द अध्याय २ 'उप-यास' पृष्ठ ३८ (प्र० सरस्वती प्रेस, काशी प्रथम प्रकाशन १९३९ ई०) वर्तमान संस्करण चतुर्थ (१९४९ ई०)।

में आस्था नहीं रखते। उनकी राय में पात्रों के निजी व्यक्तित्व एवं उनके वाय व्यापार तथा परिवेश-सम्बन्धी विवरणों में उपयोगकार को निजी विवेक से उपयुक्त चयन एवं विलयन करना जरूरी होता है। इसका अतिरिक्त व साहित्यमज्ज के शिक्षक और सौंदर्यवादात्मक पक्षों की ओर से कमी उदात्त नहीं हात। उन्होंने उपयोग-सृजन के उस मगरवारी पक्ष पर बड़ी गहराई से विचार किया है —

जोरी भण बोठरी में काम करत-करत जय हम धव जान हैं तत्र इच्छा होती है कि किसी वाग में निकल कर निमत स्वच्छ वायु का आनन्द उठाएँ। वही कमी का आदर्शवाद पूरी करता है।<sup>१</sup>

उपयोग के जनमन रजक पक्ष से श्री प्रमचंद कभी भा विरत नहीं हुए। यह बात उनके उपयोग-साहित्य के मन्नामन पाठक मनामानि जानने और समझते हैं। किन्तु चरित्र निरूपण एवं वणन प्रक्रिया में वनात्मक परिष्कार एवं सौंदर्य-वादात्मक सूक्ष्म-युक्त के भा व पवन हामा है —

साहित्यकार का काम बचन पाठना का मन बहलाना तथा है। यह ता नाटा मगरिया विदूषका जोर मसगरा का काम है। साहित्यकार का पद इससे कहीं ऊंचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक हाता है—वह हमारा मनुष्यत्व का जमाना है हम में सद्भाव का संचार करता है हमारा दृष्टि को फलाता है।<sup>१</sup>

श्री प्रमचंद की उपयोग-गत समीक्षात्मक पठ बटो गहन थी और उहात उपयोग विधा के सभी पक्षा पर एक विचक्षण समीक्षक का दृष्टि में सूक्ष्मावनावन किया था। साहित्य के प्रकारात्मक पक्ष का व भा हीन मानत है किन्तु तीव्रतम परिवर्तन के युग में साहित्यकार का अपन आमपास का परिस्थितिया से सवधा तटस्थ रहना भी बितना कठिन है यन् भी उलान जान किया था। पूणत तटस्थ चित्रण ही पद्यपि कला का ध्यय एवं जाण है यह मानत हुए भी व अनुभव करत ह कि—

आजकल परिस्थितिया इतनी तीव्र गति से बन्त रहा हैं—इतन नयन-नये विचार पैदा हो रहत हैं कि कथाचित्त जब कोई लयक साहित्य के जाण का ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहूत मुशिकर है कि नयन पर एत परिस्थितिया का असर न पड़े मगर यह ब्यापार मान लिया जाय कि जो उपयोग किसी विचार के प्रचार के लिए किया जाता है उसका मट-वक्षणिक हाता है। विकटर ह्यूगा का लामिज-ल टामिटाय के अन्तक ग्रन्थ 'लिकेस की अन्तक रचनाएँ' विचार प्रदान होने हुए भी उच्च वाग्नी की साहित्यिक है और जब तन उनका आकषण कम नहीं हुआ हमारा स्थान है कि क्या न कृशन साहित्यकार का<sup>२</sup> विचार प्रधान रचना भी इतना मु दरता स कर कि मनुष्य की मौरिक प्रवृत्तिया का सधय निभता रहे।<sup>१</sup>

१२ 'कुछ विचार' (भाग ४ साहित्य और भाषा सम्बन्धी) — श्री प्रेमचंद अध्याय १, उपयोग (प्र० सरस्वती प्रस काशी प्रथम प्रकाशन १९३६ ई०) पाना १ मस्वरण चतुस (१९४६ ई०) पृष्ठ ८० तथा ८१

अतिप्रमग करेंग तो अपनी निजी चाल भूल कर, उपहासास्पद बनने का खतरा ही मोल लेंग। समयान्तर म पाश्चात्य उप-यासकी एक ह्याममान शली का यह भागनीय जनमानस पर दृधा आरोप प्रयास ही माना जायगा।

उप-यास विधा म वणनात्मकता क स्थान निधारण क सम्बन्ध म, हमारे समीक्षा-जगत के कतिपय माय एउ विशिष्ट विवचका के अभिमता का रूपरेखा प्रस्तुत की ही जा चुकी है। इसक अतिरिक्त कुछ उप-यास-अष्टा समीक्षक महोत्प्य भी समय-समय पर निजी रचनात्मक उपलब्धिया पर दृष्टिपात करते रहे ह। वे, मूलत तो रचनात्मक प्रतिभा से ही सम्पन्न होने है। अतएव व उप-यास रचना के क्षेत्र म उप-यासकार का उपाधि स ही सस्मत रहत हैं। किन्तु अपनी कृति विनोप पर या अपन उप-यास कम के साधारण दृष्टिकोण पर अपने निजी विचार यक्त करते समय उनम से अधिकांश प्रतिभाशाला कलाकार उप-यास विधा मे वणनात्मकता की निजी सूक्ष्मतम प्रवृत्तिया का भी निर्देश कर जात है। य स्वान्त सुखाय समीक्षात्मक उद्भावनायें उप-यास विधा म वणनात्मकता क स्थान एव महत्व क अवधारण म, विशेष मूल्यवान सिद्ध हा सकती है।

ऐस महान एव रससिद्ध कलाकार-समीक्षका म सवाप्रगण्य हं स्व० श्री प्रेमचंद। था प्रेमचंद जितनी उची सृजनात्मक प्रतिभा स समन्वित थ उतना ही ऊँधी जीर मौलिक उनकी समीक्षात्मक सूक्ष्म-बुध भी था। उहाने उप-यास विधा के विविध पक्षा पर विचार करत हुण समय-समय पर अनक जालाचनात्मक निबन्ध लिखे हैं। उही स उनकी कतिपय चिरस्मरणाय उद्भावनाआ का। वतमान प्रसंग के सदभ म) उल्लेख किया जा रहा है। क्या उप-यास विधा की काइ शास्त्रीय परिभाषा समव है? इस जिनासा के प्रत्युत्तर क रूप म उहाने कहा था —

‘उप-यास की परिभाषा विद्वाना ने कइ प्रकार से की है लकिन यह कायदा है कि जो चीज जितना सरल होनी है उमकी परिभाषा उनकी ही मुश्किल हाता है। उप-यास के सम्बन्ध म भी यही बात कही जा सकता ह। एसा काई परिभाषा नहा है जिस पर सभी लाग सहमत हा। मैं उप-यास का मानव चरित्र का चित्र मान समझता हू। मानव चरित्र पर प्रकाश डालना जीर उसके रहस्या को खोलना ही उप-यास का मून तत्व है।’

श्री प्रेमचंद मानव जीवन क मू मनम निरीक्षण एव चित्रण क महत्व का तो स्वीकार करत है किन्तु व जीवन की फाटाफाफिक अथान शक्त प्रतिशक्त यथास्तथ्यता

१ कुछ विचार’ (भाग १ साहित्य जीर भाषा सम्बन्धी)—श्री प्रेमचंद अध्याय १ उप-यास पृष्ठ ३८ (प्र० सरस्वती प्रेम, काशी प्रथम प्रकाशन १९३६ ई०) वतमान संस्करण चतुथ (१९४६ ई०)।

म आस्था नहीं रखते। उनकी राय में पात्रों की निजी व्यक्तित्व एवं उनके वाय-व्यापार तथा परिवेश-सम्बन्धी विवरणों में उपयोगकार को निजी विवेक से, उपयुक्त चयन एवं विलयन करना जरूरी होता है। इसके अतिरिक्त वे साहित्यसज्जन के शिवङ्कर एवं मी-दयबोधोद्योग-पक्षा को धार से कभी उदासीन नहीं होते। उन्होंने उपयोग-सृजन के इस मंगलकारी पक्ष पर बड़ी गहराई से विचार किया है —

‘अबेरी गम कोठरी में काम करते करते, जब हम थक जाते हैं तब इच्छा होती है कि किसी बाग में निकल कर निमग्न स्वच्छ वायु का आनंद उठाएँ। इसी कभी का जादुवादी पुरी करता है।’

उपयोग के जनमन रजक पक्ष से श्री प्रेमचंद कभी भी विरत नहीं हुए। यह बात उनके उपयोग-साहित्य के सभी ममत्त पाठक भलीभांति जानते और समझते हैं। किन्तु चरित्र चित्रण एवं वर्णन प्रक्रिया में कलात्मक परिष्कार एवं सौंदर्य बोधात्मक सूक्ष्म-रूप के भी, वे पक्के हामी हैं —

‘साहित्यकार का काम, केवल पाठकों का मन बहलाना नहीं है। यह तो भाटा फगरिया, विद्रुपवा, और मसखरा का काम है। साहित्यकार का पद, इससे कहीं ऊंचा है। वह हमारा पथ प्रदर्शक होता है—वह हमारे मनुष्यत्व को जगाता है हमें मनुष्यता का संचार करता है, हमारी दृष्टि को फलाता है।’

श्री प्रेमचंद की उपयोग-सृजन समीक्षारमक पठ बड़ी गहन थी और उन्होंने उपयोग-विधा के सभी पक्षा पर एक त्रिचक्षण समीक्षक की दृष्टि से सूक्ष्मावलोकन किया था। साहित्य के प्रचारारमक पक्ष का वे भी हीन मानते हैं किन्तु तीव्रतम परिवर्तन के युग में, साहित्यकार का अपन जासपास की परिस्थितियाँ सत्रया तटस्थ रहना ही कितना कठिन है यह भी उन्होंने जान लिया था। पूणत तटस्थ चित्रण ही यद्यपि कला का ध्येय एक जात्य है, यह मानते हुए भी वे अनुभव करते हैं कि—

‘आजकल परिस्थितियाँ चाना तीव्र गति से बदल रही हैं—इतने नयनय विचार पदा ह) रह है कि कदाचित् जब कोई लयक साहित्य के आन्ध्र को ध्यान में रख ही नहीं सकता। यह बहुत मुश्किल है कि लयक पर इन परिस्थितियाँ का असर न पड़े मगर यह क्यन्तर मान लिया जाये कि जो उपयोग, किसी विचार के प्रचार के लिए लिया जाता है, उसका महत्व-क्षणिक होता है। विन्टर ह्यूगो का ‘लामिजरेव्ले,’ टॉमसय के अनक गथ, डिजेस की अनक रचनाएँ विचार प्रगणहाने हुए भी उच्च कालि की साहित्यिक हैं और जब तक उनका जासपास कम नहीं हुआ हमारा स्थान है कि क्या न युगल साहित्यकार कोई विचार प्रधान रचना भा, इतनी सु दरता से करे कि मनुष्य की मौलिक प्रवृत्तियों का सघन निमता रह।’

१२ ‘कुछ विचार’ (भाग १ साहित्य और भाषा सम्बन्ध) — श्री प्रेमचंद अध्याय १ उपयोग (प्र० सरस्वती प्रस काशी प्रथम प्रकाशन १९३६ ई०) वर्तमान संस्करण चतुर्थ (१९४६ ई०) पृष्ठ ६० तथा ६१

३ वही—पृष्ठ ४०

जिन विश्वसाहित्य के अमर उप्यासकारों का श्री प्रेमचन्द ने स्मरण किया है वे महान् एव उत्तम मानववादी थे—साहित्य का एक पक्ष उनकी अखिल मारु मंगलकारी प्रवृत्ति भी है—केवल सबीणताएँ ही बला के लिए विधानक सिद्ध हाता हैं। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ह्यूगो, टॉल्स्टाय डिन्स जीर प्रेमचन्द सभी वणन प्रतिभा एव वणनात्मक उप्यास गली व सिद्धहस्त विधात्मक थे। जिस गुणवत्ता का उन्होंने उपयुक्त अवतरण में उल्लेख किया है चातुत वह उनकी वणनात्मक कला का ही एक पक्ष विशेष है।

पात्रों के निरूपण एक रूप-वणन में जिन मानि उप्यास लेखक जनजीवन में, अपने मॉडल प्राप्त करता है और उनमें हम वास्तविक व्यक्तियों का प्रति-छवि बना दियायी दती है इसका रहस्य उदाहरण परत हुए श्री प्रेमचन्द ने जगत चित्तमरणीय उदाहरण विश्व-उप्यास में प्रस्तुत किए हैं—

त्रिविध पणत (प्र० १८३७ ई०) त्रिगण की जगत हास्वरम प्रधान रचना है। त्रिविध का नाम एक त्रिचरम गाँधी के मुगलिरा का जगत से डिन्स के काल में जाया। वग नाम व जगुण्य चरित्र आकार वेग—मन्की रचना हा गयी। 'सादरम मानर (प्र० १८६१ ई०) की त्रिगण जात्र त्रिचर । त्रिगण है कि अपने बचन में उन्होंने एक फेरी सगान बाल जुताट का पीठ पर बगने के पान साधे हुए, कई बार दगा था। यह उमरीर उनका हृदय पट पर अंकित हो गयी था और समय पर हम उप्यास के रूप में प्रकट हुईं। रगभूमि का बीजांकुरहम एक अके भिगारी स मिना जा हमारा गाँव में रगा था। एर जग गा बीज मेगक व गन्धिन्त में पतैव कर दगा त्रिगण वहा वन जाता है कि साग उग पर जावच करन सगो है।<sup>१</sup>

श्री प्रेमचन्द ने जगत जानाकरा एक उदाहरण के उद्धरण देते हुए अपनी इस धारणा निरूपणरूप प्रस्तुत की है कि उप्यास का विग पुगता में ममाना व मकर जीवन हा ग मेगा साहित्य। यन्तु परत व गवध में विरह के मरुव पर बग हा ग व बहा है—

उप्यास-कला में यह बात ना बने मरुव की है कि मेगक बग विग भीर बग हा ग व ? मरुव बगना-ग हा हा है । मरुव यह एमी गाँव पडाता पान नही बगना त्रिचर व अगमना व बगना कर मरुव है । पुगना जगत बग है जा मरुव मरुमना वग है कि कौन व बग मरुव मरुव मरुव वग और कौन गा बग गग विग वग (जा बगना मरुव) मरुव कर दन व गग । बगना व मरुव मरुव मरुव का बगना व विग त्रिचर अरुव मरुव, हाग मरुव वग वरुव जग गावक मरुव ।<sup>२</sup>

१. ह्यूगो त्रिचर — मरुव (प्र० १८३७ ई०) मरुव (प्र० १८६१ ई०) मरुव (प्र० १८६१ ई०) मरुव (प्र० १८६१ ई०)

२. श्री—१८६१ ई०

हिंदी उपयास की प्रख्याति एवं साहित्य श्री में चार चाद लगाने वाले, स्व० श्री प्रेमचंद ने 'उपयास'—विधा के सम्बन्ध में, विविध अवसरों पर लिखित, जिन निजी भावनाओं को व्यक्त किया है, एक साथ रखने से उपयास विधा की समीक्षा की भावी ह्यरेखा के निरूपण में मृत्युवान योग मिल सकेगा—

(क) 'उपयास का क्षेत्र, अपने विषय (वस्तु) के लिहाज से दूसरी ललित कलाओं से, कहीं ज्यादा विस्तृत है। लेकिन इसका यह आशय नहीं कि उपयासकार के लिए कोई बाधा हो नहीं है। उपयास का विषय विस्तार ही उपयासकार को बेड़ियों में जकड़ देता है।'

(ख) 'संसार की प्रत्येक वस्तु, उपयास का उपयुक्त विषय बन सकती है। प्रकृति का प्रत्येक रहस्य मानव जीवन का हर एक पहलू जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है।'

(ग) 'उपयास के चरित्रों का चित्रण जितना ही स्पष्ट, गहरा और विकास पूर्ण होगा, उतना ही पढ़ने वाला पर उसका अमर पड़ेगा, और यह लेखक की कल्पना शक्ति पर निर्भर है। उपयास, चरित्रों के विकास का ही विषय है। कोई उपयास शुरू करने के लिए, यदि हम चरित्रों का एक मानसिक चित्र बना लिया करें, तो फिर उनका विकास दिखाने में हम सरलना होगा।'

(घ) 'चरित्रों में कुछ न कुछ विरोधता भी रहनी चाहिए। जिस तरह संसार में कोई दो व्यक्ति समान नहीं हों, उसी भाँति उपयास में भी न हान चाहिए।'

(ङ) 'जा वास्तविक जीवन की गहराइयों में झाँकें, जिसमें जिन्दगी में उँच नाच देखें—जिसमें सम्पत्ति और विपत्ति का सामना किया है—जिसकी जिन्दगी मलमली गद्दा पर नहीं जुजरती, वही लेखक ऐसे उपयास रच सकता है जिनमें प्रकाश, जीवन और जान-द प्रदान करने की सामर्थ्य होगी। भविष्य उही उपयासों का है जो अनुभूति पर खड़े हों।'

श्री प्रेमचंद की उपयास विधा-सम्बन्धी उक्त उद्धरणों द्वारा उपयास शास्त्र के प्रस्तुत एक विरोध—'उपयास विधा में वणनात्मकता' के स्थान निर्धारण में जो समुचित निष्कर्ष प्राप्त होता है उसे समन्वित रूप में इस भाँति सारोक्त किया जा सकता है—

(१) उपयास विधा में उपयासकार को, वणनात्मक विवरणों प्रक्रियाओं के लिए अघात क्षमता प्राप्त है। किन्तु यही वजाधनात्मक, अपनी वणनात्मक कला को

१ 'कुछ विचार' (श्री प्रेमचंद) चतुर्थ संस्करण १९४६ ई० में, उपयास का विषय परिच्छेद में पृष्ठ ५०-५६



संयमित एवं मर्यादित रखने को बाध्य भी करती है जिससे कि वह कला अनगल वणन विस्तार के जाल में, न उलय जाए।

(२) उप-यासकार की सवतामुखी विशिष्टता है उसकी सृजनात्मक प्रतिमा अथवा कल्पना शक्ति की प्रखरता। इसी क वल पर वह अपने दृश्यो एवं वणना में, उस कलात्मक अनुपमता एवं मनाहारिता का समावेश कर पाता है जो मात्र विद्वत्ता अथवा निजी अनुभूति द्वारा भी साध्य नहीं है।

(३) उप-यास मे घटना त्रिचय-तत्त्व का महत्व सीमित ही है। आधुनिक उप-यास कला की दृष्टि से, पात्रों के मनाभावों और चरित्रगत विशिष्टताओं का उद्घाटन उससे भी अधिक महत्व रखता है। जतएव यह आवश्यक है कि उप-यासकार अपने चरित्रों को सूक्ष्म दृष्टि से देखे और उनका कोई भी पक्ष उसकी निगाह से न बचने पाए तथा उन सभी का वणन उनकी कृति में सुचारु रूप से हा सके। आकृति निदान के कलापूण समावेश द्वारा ही यह वणन काय हो सकता है।

(४) मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष अथवा प्रकृति शोभा का प्रत्येक पक्ष जब किसी सुयोग्य लेखक की कलम से निकलता है तो वह साहित्य का रत्न बन जाता है। मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष तथा प्रकृति शोभा का प्रत्येक भाँकी कुशल वणन कला में सिद्धि प्राप्त उप-यासकार की प्रतीक्षा करते रहते हैं।

(५) यथायवादी वणन अथवा जावन के यथाय चित्रण का अभिप्राय प्रकाश का ज्वलना कर अन्धकार का खोज नहीं होनी चाहिए अथवा अधकार में मनुष्य का सिवा अधकार के सूक्ष्म ज्ञा क्या सरना है? कुरचिपूण एवं कुत्सापूण वणन आज के उप-यासकार का नित्य प्रति कल्पना जाता अभिशाप है। श्री प्रेमचंद इस बारे में मार्की के शब्दों का दुहरात हैं कि कुरचि का परिणाम ही ऐसा खातावरण प्रस्तुत करता है जो कुक्कम की प्रकृति का और भा दृढ बनाता है।

(६) उप-यासकार के लिए यह वाछनीय है कि वह उप-यास रचना से पूर्व अपने उप-यास के मुख्य पात्रों की मानसिक छवि का मनसा रूपयित कर लें। तत्पश्चात् उस छवि का शाब्दिक जालघन करे। प्रत्येक चरित्र अथवा पात्र में कोई न कोई निजी विशिष्टता रहनी आवश्यक है। जीवन में कोई दो आदमी समान नहीं पाए जाते। उप-यास में भा यही वाछनीय है।

श्री प्रेमचंद का भाति ही उनके जनक समकालीन एवं सहयोगी साहित्यकारों ने भी उप-यास का मुखरता एवं उसकी वणनात्मक समृद्धि दाना पक्षा की ओर ध्यान लिया है। उनमें न जनक उत्तम समीक्षण तथा आत्म निरीक्षण भी करत रहे हैं किन्तु उन्हीं के द्वारा यत्न का गई उनकी इन समीक्षात्मक उद्भावनाओं पर अभी तक हिन्दी की समालोचना सरणा में पर्याप्त ध्यान नहीं दिया गया है। उप-यास के रचना विधान की प्रक्रियाओं एवं चारीकिया पर विचार करत हुए प्राय उन सभी ने उप-यास गत वणनात्मक हीगत एवं त्रिवक का शीघ्र महत्व प्रदान किया है। ऐसे

सृजनात्मक साहित्य-समीक्षका में, हिन्दी उपयोग साहित्य के वरिष्ठ एवं गौरवास्पद स्रष्टा—श्री जयशंकर 'प्रसाद', श्री श्यामलाल वर्मा, जाचाय चतुरसेन शास्त्री तथा महापण्डित राहुत साहृत्यायन ने, विशेषतया, उपयोग के इस विशिष्ट समीक्षात्मक पक्ष पर ध्यान दिया है।

महाकवि श्री जयशंकर 'प्रसाद' स्वयं एक उच्च कोटि के उपयोगकार थे एवं उपयोग विधा में वणनात्मक तत्त्व के महत्त्व को भी वे मली माति जानत समझते थे। उनके समीक्षात्मक निबन्धा के एक छोटे में सरलन 'वाच्य, कला तथा अर्थ निबन्ध' का प्रथम प्रकाशन मन् १९३६ ई० में हुआ था। उसी के अन्तगत एक लेख है— 'प्रारम्भिक पाठ्य काव्य'। उसमें श्री प्रसादी ने जाज से लगभग तीस वर्ष पहले 'काव्य' का जो कोटि विभाजन किया था उसके अनुसार काव्य को अभिनेय और 'श्रव्य' इन दो विभागा में विभाजित किया था।

श्री प्रसादजी ने, इस माति, अखिल वाच्य के दो मुख्य विभेदा का उनकी 'वणनात्मकता' तथा 'अभिनेयता' तत्त्वा के आधार पर पृथक् किया था। वणनात्मक काव्य का ही दूसरा नाम, प्रारम्भिक, 'श्रव्य काव्य' पडा। यह अभिधान (नाम) लिपि बद्धता के युग से पहले का शब्द था। अतः 'प्रसादजी' ने इसे सुधार कर पाठ्य काव्य नाम दिया है। किन्तु साथ ही वे पाठ्य काव्य की मुख्य विशिष्टता 'वणनात्मकता' की ओर भी हमारा ध्यान आकर्षित करना नहीं भूले हैं—

'पाठ्य से अतिरिक्त जो काव्य है, उसे रीति प्रथा में 'श्रव्य' कहते हैं। कारण कि प्राचीन काल में सब सुन या सुनाए जान थे। इसीलिए—श्रुति, अनुश्रुति इत्यादि शब्द धर्म प्रथा के लिए भी व्यवहृत थे। किन्तु आजकल तो छपाई की सुविधा के कारण उन्हें 'पाठ्य' कहना अधिक सुसंगत होगा। वणनात्मक होने के कारण वे काव्य जो अभिनेय के योग्य नहीं, पाठ्य ही हैं।'

जिस छपाई की सुविधा के कारण वणनात्मक काव्य या श्रव्यकाव्य को पाठ्य काव्य की स्था मिली उसी के कारण उसकी बाह्य वणनात्मक पर प्रधान शाखा 'उपयोग विधा में चक्रवर्ति हुई। सभी जाज कथा-साहित्य पहले तो श्रव्य काव्य ही रहा था। अज वह पाठ्यकाव्य हो गया। पाठ्य काव्य के भी, जसा कि पहले विवचन किया ही जा चुका है पद्य महाकाव्य एवं गद्य महाकाव्य दो गेट—प्रचलित हो चले थे। यह द्विविध विकास इसवी पूर्व पथम से प्रवर्तित हो कर प्रायः निरन्तर एवं क्रमानुसार परम्परा में हमें उपलब्ध है। किन्तु आज से दो हजार वर्ष पूर्व गुणाडय ने जो बहुलका नामन वणनात्मक गद्य महाकाव्य (पशावी प्राकृत में) रचा था—उसमें और आज के पाठ्य वणनात्मक गद्य महाकाव्य उपयोग में पर्याप्त रूपरमक अन्तर

१ 'काव्य कला तथा अर्थ निबन्ध' (श्री जयशंकर प्रसाद) अध्याय ७, पृ० १०६ (प्र० भारती भण्डार प्रयाग)।

हो चुका है। अतः दोना की 'सामान्यता' को पहचानने में, राज हम भ्रम सा हो जाता है। इसी भ्रम का निराकरण करने के लिए श्री 'प्रमादजा' न समी अर्थ-वाच्य की सबप्रमुख विशेषता, उसकी वणनात्मकता का राज हमारा ध्यान दिलाया है। उसका स्मरण आत ही हमें 'बृहत्कथा' एवं जाधुनिक उपन्यासगत साम्य तुरन्त दृष्टि गोचर हो जाता है।

श्री प्रसादजी ने जलिन वादमय का, उपन्यासो मुस्पष्ट कोटिया—'वणनात्मक एवं अभिनयात्मक' में विभाजा ही नहीं किया बरन् उन्ने हम 'महाकाव्य' एवं 'महाकाव्यतर'—अभिनय काय के बीच प्रमुख विभेद का कारण तथा रहस्य भी बता दिया। जहाँ भी कवि अपरोज अनुभूतिमय (सन्नेरितव) हो जाता है—वह महाकाव्यतर, मुक्तक काव्य-मजना में प्रवृत्त होता है। इसे हम आत्म निवेदन प्रधान काव्य भी कह सकते हैं। इसमें अहम् की खोज में कवि की जिज्ञासा लीलामयी हो उठती है और इदम् की ओर से वह एक प्रकार से विरत हो जाती है।

इदम् की ओर प्रवृत्त सारित्यकार महाकाव्यअथवा वणनात्मक वाडमय की ओर उमुख होता है। उपन्यास भी इदम् अर्थात् गद्य वणनात्मकता का ही एक प्रतिरूप मान है। श्री प्रमादजा ने इस तथ्य की परिभाषा या की है—

वाह्य वणनात्मक जवान इदम का परामश भी आत्मा के विस्तार की ही आलाचना और अनुभूति है—जावन की विभिन्न परिस्थितियों को समझने की क्रिया है—'इदम् को अहम् के समीप लाने का उपाय है। वणना से भरे हुए महाकाव्य में जीवन और उसके विस्तार का प्रभावशाली वणन जाता है। उसके सुख-दुख, हृष-क्रोध, राग-द्वेष का वचिन्मय आलेख मिलता है।'

उक्त इदम् तत्त्व की परिभाषा उपन्यास की परिभाषा के निकटतम पहुँच जाती है। हम उपन्यास की एक परिभाषा यह भी स्वीकार कर सकते हैं कि उपन्यास एक ऐसा वाह्य वणनात्मक गद्य महाकाव्य है जिसमें हम अहम् (आत्मा) के विस्तार की ही आलोचना और अनुभूति के अभिप्राय से 'इदम् का परामश, मुख्य तथा दृष्टिगोचर होता है। उपन्यास जीवन की विभिन्न परिस्थितियों का समझने की मानवजिज्ञासा की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें इदम् का अहम् के समीप लाने का उद्योग सतत नियाशल पाया जाता है।

श्री जयशंकर प्रसाद की ही विचार सरणी में हम आज उपन्यास विधा की विशेषताओं की इन शब्दों में सारिणी प्रस्तुत कर सकते हैं—उपन्यास अथवा गद्य महाकाव्य में हम जीवन और उसके विस्तार का प्रभावशाली एवं लोकरजनकारी वणन उपलब्ध होता है। उसमें हम मानव मात्र के सुख-दुख हृष-क्रोध, राग-द्वेष

का अचिन्त्यपूण अथवा कौतूहल-बधक आलेख्य मिलना है और उसमें हमें, मानव काय शीलता की वणनात्मक एवं कथात्मक विवेचना भी मिलती है ।'

श्री जयशंकर 'प्रसाद' वृत्त दो सम्पूर्ण उपन्यासा 'कवाल' एवं 'तितली' तथा उनके अन्तिम अधूरे उपन्यास 'इरावती' की औपन्यासिक अन्तर्दृष्टि उनकी उपयुक्त दार्शनिक तथा मौलिक परिभाषा के अन्तर्गत है । वे वणनात्मक महाकाव्य तो हैं ही, साथ ही उनमें, 'अहम्' के विस्तार द्वारा तथा 'इदम्' के निरूपण के द्वारा, आत्मशोध की भावना भी, सर्वोपरि पाई जाती है । 'इरावती' में तो, उनकी कथात्मक वणनात्मक कला इतनी विलक्षण एवं कमनीय हो चली थी, कि उसके द्वारा श्री प्रसादजी, उपन्यास अथवा 'गद्य महाकाव्य' की वणनात्मक विशिष्टता को मानो साकार रूप दे डालने को ही समुत्सुक थे ।

श्री जयशंकर 'प्रसाद' के उपयुक्त अन्तिम ऐतिहासिक उपन्यास 'इरावती' के ही प्रसंग में, स्व० श्री श्यामसुन्दर दास की 'ऐतिहासिक उपन्यास' के संबंध में एक स्मरणीय टिप्पणी भी दृष्टव्य है—

ऐतिहासिक उपन्यास का महत्त्व तो केवल इसी में है कि उसमें प्राचीन काल के जीवन का पूरा और विस्तृत वणन किया जाय । अतीत काल का त्रिबुल सच्चा जीता जागता और साथ ही मनोरंजक वणन कर सके, इससे उस (लेखक) के पांडित्य और पुरातत्त्व ज्ञान का भी आन्तर होना है पर उतना अधिक नहीं—जितना उसकी वणन शक्ति का ।'

उक्त अवतरण में श्री श्यामसुन्दर दास ने ऐतिहासिक उपन्यास रचना में देश काल के प्रसंग में, वणन शक्ति पर जो बल दिया है और उन्होंने प्राचीन काल के जीवन के पूरा और विस्तृत वणन को ही ऐतिहासिक उपन्यास की गरिमा में, वृद्धि करने वाला बनाया है । किंतु उन्होंने अतीत काल के 'विलकुल सच्चे वणन' को महत्त्व शाली नहीं माना । यही नहीं उन्होंने यह भी इंगित किया है कि उपन्यासकार के लिये पांडित्य और पुरातत्त्व ज्ञान, दाना ही गौण है और उपन्यासगत वणन शक्ति प्रधान ।

दुर्भाग्यवश उनकी इस बात पर परवर्ती समीक्षकों ने पर्याप्त ध्यान नहीं दिया । यह भूल, उपन्यास-समीक्षकों और (ऐतिहासिक) उपन्यासकारों दोनों से ही हुई । वे उसके मौलिक गुण अर्थात् वणन शक्ति को छोड़ कर गौण तथ्य यानी विलकुल सच्चे वणन की आरंभ चुक पड़े । इसी कारण हिन्दी साहित्य-क्षेत्र में, ऐतिहासिक उपन्यासकारों के तीन पक्ष, और समीक्षकों के तीन पक्ष, अस्तित्व में आए । इस तथ्यावधि—'अनिर्णीत शास्त्राय की एक विहंगम भूतक दना आज भी उपादय होगा ।

स्वर्गीय श्री प्रेमचंद एवं श्री प्रसादजी के पश्चात् हिन्दी उपन्यास विधा को अपनी वणनात्मक प्रतिभा से ज्वालिनी कर देते जाने, स्व० श्री ब्रजवनाल वर्मा,

अपनी साहित्यिक वृत्तिया के स्वयं भी विवेकशील समीक्षक रहे थे। प्रायः प्रत्येक उपयाम के प्रारम्भ में उन्होंने विशद् प्रस्तावनाएँ भी दी हैं और उनमें, अपनी उपयाम रचना सम्बन्धी मायाताजा को और अपने वणतात्मक कला-सम्बन्धी विचारों को उहाने धारदार स्पष्ट किया है। ऐतिहासिक उपयाम और मेरा दृष्टिकोण शीपक लेख में उहोने लिखा था—

अपना अपना दृष्टिकोण, कुछ न कुछ काम तो करता ही रहता है। इतिहास के आधार पर उपयाम लिखने वाला भी अपना दृष्टिकोण रखता है परंतु वह केवल इतिहास लिखने वाले की अपेक्षा अधिक स्वतंत्र है। जीपयासिक वृत्ति की परम्परा से पाठकों को और लेखक का कोई कल्याणकारी प्रेरणा मिलनी चाहिए।

‘जनमत में दियता लाने वाले सबमें’ को उत्पन्न करना उसका कर्तव्य है, जिसके लिए इतिहास के तथ्य और जनपरंपराओं में उन तथ्यों के प्रति श्रद्धा, उसके साधन हैं।’

जिन स्थानों पर इतिहास का प्रभाव नहीं पड़ सकता उनका कल्पना-द्वारा मृजन करके उपयाम-लेखक भूली हुई या खाई हुई सचाइयों का निर्माण करता है। उनमें वह चमत्कर्म जा जाती है जो इतिहास का जान माने तथ्यों में अवश्यमेव होनी है—पर उन तथ्यों या परंपराओं को ताश के पत्तों का महान या बलवधर न बना दिया जाय।<sup>१</sup>

स्व० श्री वर्माजी न इतिवृत्त के तथ्यों की तलस्पर्शी शोध की थी और जब तक वे उसे सम्पूर्ण नहीं कर पाए उहाने अपने अनेक उपयामों का प्रकाशन बरसा तक स्थगित भी रखा। किंतु फिर भी उनकी जात्मीय निष्ठा एवं जास्था इतिवृत्त में नहीं ताक शक्त में रही थी अर्थात् वे इतिवृत्त में तथ्यों को तभी अपने उपयामों में स्थान देने का तयार होते थे जब कि उहे लोक कथा या लोक परंपराओं का किंबदन्तिया लोकोक्तिया लाल-गीता आदि स भी समथन प्राप्त हो जाए।<sup>२</sup>

अतएव श्री वर्मा जी एक और ता इतिवृत्त के तथ्यों को मनचाहा तोड़ना मरोड़ना नहीं चाहते तथा दूसरी तरफ वे उपयाम पद के धास खण्ड में निहित,

१ ‘विचार परिमल परिसवाद’ में पठित— ऐतिहासिक उपयाम और मेरा दृष्टिकोण शीपक निबन्ध (श्री ब्रजवनलाल वर्मा) नये पत्ते (जनवरी फरवरी १९२३ ई०)।

(मुलनीय— इतिहास के तथ्य ता ताश के पत्तों के समान सभी लेखकों को समुपनघ रहते हैं—उनमें से चाहता कोई एक भवनका निर्माण कर ले चाहे कोई गिरजाघर बना कर सटा कर दे और चाहे कोई समाधि का प्रतिरूप खडा कर दे।

—प्रसिद्ध वाग्निक फ्रायड

२ परम्परामें और किंबदन्तिया इतिहासका प्रायः सही व्याख्या करती हैं। मैं इन दोनों का समीकरण और समन्वय करने का प्रयत्न करता हूँ। (श्री वर्माजी के डा० सिंहल के नाम ११ ३ ५१ के पत्र में उद्धृत)।

‘धरोहर’ वाले पक्ष की भी अवहलना नहीं कर सकते। इस सम्बन्ध में श्री जगदीश गुप्त का, श्री वर्माजी की औपयासिक विशिष्टता-सूचक निम्न अभिमत, दृष्टव्य है—

‘श्री व दाबनलाल वर्मा की रचनाओं में, जहाँ वातावरण की सजीव रूपता के साथ, ऐतिहासिक और लोकतत्त्व का महज सामंजस्य ही मना है वहाँ उन्हे अद्वितीय सफलता मिली है।’

उपयास विधा एवं उसके सृजन के अभिप्राय के धार में श्री वर्माजी को अपनी निजी एव मौखिक उद्भावनाएँ थी। उनके मत में उपयास का प्रत्यक्ष उद्देश्य पूर्ण मनोरंजन या लोकरंजन ही है। किन्तु उसकी आंतरिक चेतना में, भारतीय सभ्यता की प्रतीकश्रुतियों का समावेश भी जाण उपयास सृष्टि के लिए, (उनके अनुसार) अनिवार्य है। वृत्त प्रतीकश्रुतियों है ‘सत्यमेव जयते एव सुदरम्’। वे अपना वणनात्मक औपयासिक जालाचला का फोटोग्राफ में वणनात्मक यथायथा के साथ मुग़ल जादूशास्त्र का सामंजस्य बताते हैं।<sup>१</sup>

श्री वर्मा जी की उपयास-संजन रत्ना मूलतः वणनात्मक है। यह वणनात्मक शैली, प्रत्यक्ष प्रवृत्तिगणन या लोकजीवन चित्रण द्वारा ही क्षेत्रों में, कथाप्रसंग के अनुकूल वातावरण की सृष्टि पर, आधारित रहती है। श्री वर्माजी के उपन्यास सृजन के प्रति दृष्टिकोण को, यदि हम सारस्वत में रचें तो यह कहना उपयुक्त होगा कि वे उपयास को, गद्य महाकाव्य की संपूर्ण श्रीशामा से अभिविक्त करने के इच्छुक रहते थे। श्री प्रेमचन्द ने उनके ‘गण उपयास के पढ़ जाने पर लिखा था—‘यह उपयाम मात्र नहीं बरों यह तो मानचरण-काव्य की एक उपयासात्मक परिणति है।’

श्री वर्माजी के उपयास हिन्दी उपयास में वणनात्मक कला के ऊँचे से ऊँचे स्तर को छूने वाले सिद्ध हुए हैं। राण्डहरो में सोए हुए अतीत के जीवन का उद्धान, पुनसंजन किया है किन्तु उनकी यह वणनात्मक सृष्टि अब किसी भी ऐतिहासिक उपयास के सृष्टा की वणन शैली से समानता नहीं रखती। उन्होंने अपनी निजी वणन शैली का स्पष्ट करने हुए लिखा था—

‘मैं उपयामों में समाज का चित्रण, केवल कथा निर्वाह या क्रियेशन पॉफ एटमासफियर (वातावरण का सृष्टि) के लिए ही, नहीं किया है। इस मामले में मैं, स्नाट ड्यूमा या नः हैमसन सभी से अलग हूँ। स्कॉट आवश्यकता से अधिक विस्तार करता है। ड्यूमा घटनाओं को आधी बढ़ाता है। ह्यूगो ने केवल (अनातोने

- १ ‘इतिहास और ऐतिहासिक उपयासकार’ (डॉ० जगदीश गुप्त) ‘आलोचना’ (उपयास विभागांक) वप ८, अंक १ पूर्णाङ्क १३, अक्टूबर १९५४ ई०, पृष्ठ १८२-८३
- २ फाटाफाफिक् रिऐलिज्म दने डेड विद ए डामिनट नाट ऑफ जाइडियलिज्म’
- ३ इट इज नॉट ए नविल वट ए पस्तोरल पास्ट्री।

उपन्यासकार हुए—स्व० राहुल साह्रत्यायन तथा स्व० श्री आचार्य चतुरसेन शास्त्री । जहाँ तक वणनात्मक विशिष्टताओं का प्रश्न है—इन दोनों ही महान् उपन्यासकारों की कृतियाँ उत्तमोत्तम वणना से ओग्रात हैं । किन्तु उनका दोनों कलाकारों की कला के बीच भारी अन्तर सरलता से देखा जा सकता है ।

जहाँ तक नसगिक छटा या शोभा के चित्रण का प्रश्न है श्री राहुल साह्रत्यायन के वणन बड़े उत्कृष्ट एवं एक पयटनप्रिय ज्ञान-यात्री की जिज्ञासा एवं उमंग से अनुप्राणित हैं । इसी भाँति जय के भूगोल या इतिहास के क्षेत्र में अपनी वणनात्मक कल्पना का विस्तार करते हैं तो वे इस बात की सावधानी सदा ही बरतते हैं कि कोई मही भूल उनकी सारी विलक्षण बहुशता पर बट्टा न लगा जाए ।

श्री राहुलजी उपन्यास रचना में वणनात्मक चमत्कार के तो हामी रहें थे किन्तु वे, अपनी लेखनी के विलास को इतिरिक्त एवं देशकाल के अनुशासन से भवत्त स्वतंत्र नहीं मानते । इतिवृत्तात्मक उपन्यास के प्रणेता के समक्ष आने वाली प्रावहारिक कठिनाइयों से वे मली भाँति परिचित थे । एक स्थान पर उन्होंने इस तथ्य पर विचार से लिखा है जिससे कुछ दृष्ट्यंश यहाँ उद्धृत किए जा रहे हैं—

ऐतिहासिक उपन्यास में हम ऐसे समाज और ऐसे व्यक्तियों का चित्रण करना पड़ता है जो सत्ता के लिए विनोदित हो चुके हैं । किन्तु उस समाज ने कुछ ऐसे पद चिह्न जहर छोड़े हैं जो उनके साथ मनमानी करने की इजाजत नहीं दे सकते । इन पद चिह्नों या ऐतिहासिक अवशेषों के पूरी तौर से अध्ययन को यदि आप अपने लिए दुष्कर समझते हैं तो कौन कहना है आप जरूर ही इस पथ पर कदम रखें ?

हम देखते हैं कि कम से कम हमारे देश में समथ कथाकार भी ऐसी गलती कर बैठे हैं और जिना लयागी के ही वे कलम उठाते हैं । इसमें शक नहीं, यदि उनकी लेखनी चमत्कारिक है तो साधारण पाठक उसे बड़ी दिनचस्पी से पढ़ेंगे और हमारे समालोचना में बहुत कम ही ऐसे हैं जो ऐतिहासिक यथाथवाद की परख रखते हैं । इसलिए इतिहास के जानकारों और प्रेमियों के सिर में दण्ड पढ़ाने वाले उपन्यासों पर श्रद्धा अच्युती समालोचना भी प्राप्त हो सकती है । लेकिन ऐसे लेखकों की कृति पर राय देने का अधिकार कबल जाज ही के पाठक ही रखते । समानधर्मा लोगों की अनेक पीढ़ियाँ उन्हें देखेंगी और वे ऐसे लेखकों को सुच्छ दृष्टि से देखेंगी । ऐतिहासिक उपन्यासकार का विवेक बसा ही होना चाहिए जसा कि इतिहासकार का होता है लिखित सामग्री वही प्रथम श्रेणी की मानी जायगी जिसे उसी समय में लिपिवद्ध किया गया हो ।<sup>१</sup>

१ 'जालोचना', पृष्ठ ४, अंक १, पूर्णाङ्क १३ अक्टूबर १९५४ पृष्ठ १७१—  
श्री राहुल साह्रत्यायन का लेख—ऐतिहासिक उपन्यास (प्र० 'जालोचना')

‘अजन्ता की चित्रशालायें, पांचवीं से सातवीं सदी के भारत के समाज का बड़ा ही सच्चा चित्र उपस्थित करती हैं। साची और भारद्वाज की मूर्तियों को अच्छी तरह अध्ययन किए बिना हम, मौर्य और शुंग काल पर अच्छे उपयोग नहीं लिख सकते। हर तीन चार शताब्दी के बाद, लोग की वेश भूषण, कितने ही अन्तर जा जाते हैं, जिनका ध्यान रखना जरूरी है। आज किस तरह हमारे अपने देश में, प्रदेश के अनुसार लोग के वस्त्र-आभूषण में परक मालूम होता है, उसी तरह कुछ न कुछ पहले भी था, यह अध्ययन से मालूम होगा।’

श्री राहुल साह्यायन ऐतिहासिक तथ्यों से युक्त, वणना के लिए, जिस भाँति इतिवृत्त अर्थात् कालगत अनुशासन के हामी हैं उसी भाँति व भौगोलिक तथ्यों के, नसर्गिक शोभा वणनों के साथ सामंजस्य में भी, विश्वास रखते हैं। अपने उपर्युक्त वणनात्मक विधान सम्बन्धी लेख में ही श्री राहुलजी ने इस तथ्य को भी स्पष्ट किया है —

‘ऐतिहासिक जनीचित्य से बचने के लिए भौगोलिक अध्ययन की भी आवश्यकता है। भौगोलिक स्थानों, उनकी दिशा-आ और दरिया का ठीक ठीक अन्दाज रहने के लिए तत्सम्बन्धी नक्शे का खाना, हर वक्त सामन रहना चाहिए। नक्शा तो हमारे मानस पटल पर अंकित हो जाना चाहिए। ऐसा न करने पर अध्ययन गतनी हा जाती है। नदलाल दे ने, प्राचीन भूगोल का कोश लिखा है। उसमें नक्शे का ध्यान न रहने के कारण उन्होंने कुमाऊँ की काली (नदी), और अदीगढ, एग जिला की काली (नदी) का एक समझ लिया। उन्हें प्याल नहीं आया कि एसा हान के लिए दोनों कालिया का, गंगा के ऊपर से गुजर कर एक होना पड़ेगा।’

इतिवृत्तात्मक उपयोग का वस्तु-वणन में भी ऐतिहासिक उपयोगकार का श्री राहुल के मत में सावधाना बरतना चाहिए। उन्होंने ऐतिहासिक उपयोगों के वणनात्मक पक्ष पर आभूतचूल विचार किया है। इतिवृत्तात्मक वस्तु वणन की भारी धारितियों से भी व भावी लेखक का सावधान करते हुए लिखते हैं —

जो चीज जिस समय अनी आविष्कृत हो नहीं हुई उसे उस समय रखना भारी दोष है। उदाहरण के लिए बारूद और बारूदी हथियारों का ही ले लीजिए। चीन में यद्यपि जानिगवाजी के छाने छोट सिलवाड के लिए बारूद का उपयोग कुछ पहले भी होना था, पर उसे हथियार के तौर पर सबसे पहले, चंगेज (मृत्यु



१२२७ ई०) की सेना न इस्तमाल किया था। तब भी धातु की तोपें नहीं बन सकी थीं और मोटे चमड़े की बर्ई तहा से बनी, डट हाथ की तापा में बारूद को फेंका जाता था। चमड़े की ताप उस समय की अपेक्षाकृत कमजोर बारूद ममाल सकती थी। धातु की तोपें, मंगोलो की चमड़े की तापा का देख कर, यूरोप में पहले पहल बनी थी। आगे बारूद के सारे शक्तिशाली हथियार यूरोप वालों ने निकाले। यही बारूदी तोपें थीं जिन्होंने युद्ध में यूरोपियों के पल्ले को भारी कर दिया और उन्होंने सारे विश्व पर अपना अधिकार स्थापित किया। भारत में सबसे पहले बारूदी तोपों का इस्तमाल, बाबर ने पानीपत के मदान में (२१ अप्रैल १५२६ ई० को) किया था। उसकी सात सौ यूरोपीय तोपों ने, चार-पाच घण्टा में दिल्ली (इब्राहीम लोदी) की सेना को घास भूली की तरह काट कर रख दिया। २१ अप्रैल, १५२६ ई० से पहले बारूदी तापों और हथियारों को अपने उप-यासों और कहानियों में लाना अनुचित है।<sup>१</sup>

श्री राहुल साहृत्यायन के उक्त लेख के प्रकाशन के पश्चात् एस भी कलाकार हुए हैं जिन्होंने उप-यास की वणनात्मक प्रवहमानता तथा रमणायता का सामञ्जस्य बनाए रख कर जहां भी बन पड़ा है इतिवृत्त के समय का भी आदर किया है। यथा चारु चंद्रलेख उप-यास में यद्यपि जाचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी देशकाल के बघना को, किसी भी रूप में, अपनी कलात्मक सृजन क्रिया में बाधक नहीं बनने दत्त फिर भी उन्होंने बारूद के आविष्कार तथा चगेज खा वाले प्रमग में देशकाल गत वणनात्मकता का निर्वाह किया है और उसका उल्लेख भी भारत का सीमाओं से बाहर ही रक्खा है। जबकि राहुलजी आध्यात्मिक एवं धार्मिक परम्पराओं में, अनास्था वादा होने के कारण उप-यास के सांस्कृतिक पक्ष का (अपनी ही मानसिक विवशता के कारण) जानत ब्रूमत हुए भी निबल बना डालते हैं जाचाय द्विवेदी ने उसे साधारण से कुछ बढ कर ही महत्व दिया है। व इस सम्बन्ध में आस्थावान हैं कि लोक-संस्कृति ही लोक जीवन का यथाथ प्रतिबिम्ब है तथा इतिहास की लोक जीवनपरक सत्यता कभी भी असंदिग्ध नहीं हो सकती।

स्व० श्री चतुरसेन शास्त्री भां अपने बशाली की नगरबधू आदि अनेक महाकाव्यात्मक इतिवृत्तात्मक उप-यासों के कारण उप-यास विधा के इस पक्ष विशेष के उन्नायकता में गिने जाते रहते हैं। विन्तु वे वणनात्मक दृष्टिकोण एवं वणनात्मक विनियोजन, दोनों ही में स्व० श्री राहुलजी से प्रायः विपरीत निशा में गतिमान दिखाई पड़ते हैं। अपने महा उप-यास बशाली की नगर-बधू के द्वितीय खण्ड के अन्त में, स्वयं उन्होंने, अपने इतिवृत्तात्मक वणनों एवं प्रसंगों के सम्बन्ध में एक

१ 'आलोचना पृष्ठ ४ अंक १ पूर्णानु १३ अक्टूबर १९५४ पृष्ठ १७३ (श्री राहुल साहृत्यायन का लेख ऐतिहासिक उप-यास)'

विस्तृत वक्तव्य भी दिया है। उनका सुनिर्धारित मत है कि—‘साहित्यकार ऐतिहासिक तथ्या से एफ़दम बंध कर चल नहीं सकता। यदि वह ऐसा करेगा तो वह अपनी कृति में (इतिहास) ‘रस का संचार करने में असमर्थ रहगा, जो कि साहित्य को, शाश्वतता एवं माधुर्य प्रदान करता है।’ अपने इस अभिप्राय को और भी स्पष्ट करते हुए, आचार्य चतुरसेन शास्त्री लिखते हैं —

साहित्य एवं इतिहास में अन्तर केवल यही है कि इतिहास, देश और काल की सीमाओं में जकड़ा जाने के कारण जबवत् सत्य बन कर, रह जाता है किन्तु साहित्य, उस सत्य को, गतिवान, स्पन्दनशील बनाता है और उसकी धारा को, देश तथा काल की सीमाओं से मुक्त करके, उसे निःशुद्ध विश्व का आप्लावित कर देने की क्षमता प्रदान करता है। पाठक उसे पढ़ कर केवल नानाजन ही नहीं करता, वरन् वर्णित देश और काल में सदैव पहुँच कर सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन भी करता है।<sup>१</sup>

आचार्य चतुरसेन शास्त्री इतिहास रस का संचार करने के लिए जान बूझ कर भी ऐतिहासिक तथ्या की उपेक्षा करना, उचित समझते हैं। किन्तु उन्होंने इसकी क्षति पूर्ति, स्था-स्थान पर, अधमूर्च्छा में साक्षात् की गई, मानस काल्पनिक सृष्टि (फ़टेसी) द्वारा, की है जो लोकचिन्तन के अनुकूल पडती है। वे ऐतिहासिक सत्या का स्थिर भी नहीं समझते। उन्हीं के अपने शब्दा में—

‘यह कहा जा सकता है कि उसे (उपयास लेखक का), ऐतिहासिक उपयास और उसका कथानक लिखने से पूर्व ऐतिहासिक विशेष तत्वों को जानना चाहिए। परन्तु यदि वह ऐसा करे, तो वह कदापि कोई रचना, इस जीवन में नहीं कर सकता क्योंकि ऐतिहासिक विशेष सत्या का ज्ञान, कभी भी पूरा नहीं हो सकता। उनमें गवेषणा करने वाले विद्वानों के द्वारा, नई-नई जानकारी होते रहने से, निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं। फिर क्या न उपयासकार अपनी कहानी और उपयास की—चिर सत्य के आधार पर—जिसे गवेषणा की कोई गुंजाइश ही नहीं है—रचना करे? ऐसी रचनाएँ जो साहित्य-सश्लिष्ट हैं, और जिनका प्रारम्भ एक ‘अनिर्दिष्ट रस’ है, अपने स्थान पर पूजित होंगे। साहित्य के आचार्यों ने भी मूल रस का साहित्य-मृज्जन में महत्त्व दिया है, परन्तु उनके सिवा कुछ और ‘अनिर्दिष्ट रस’ भी हैं, जिनमें एक ‘इतिहास रस’ भी है।’ (इसी प्रसंग में एक अन्य स्थान पर वे लिखते हैं—)

‘इतिहासकार तो इतिहास में सशोधन कर देंगे, पर उपयासकार वैसे सशोधन करेंगे? मैं दगा—इतिहास के स्थिर सत्य के बराबर तो दूसरा असत्य,

१ ‘साप्ताहिक हिन्दुस्तान’ (५ जून १९५५ ई०) में प्रकाशित—‘उपयास और ऐतिहासिक सत्य (लेख) तथा बंगाली की नगर बधू’, खण्ड २, भूमिका, पृ० ७४४

२ ‘बंगाली की नगर बधू’ भूमिका पृष्ठ ७७५ ७७६

कोई पृथ्वी पर, है ही नहीं। इतिहास में तो सदैव ही एक सत्य को ढकल कर, दूसरा सत्य उसका स्थान लेता जायगा। पर साहित्य में ऐसा नहीं हो सकता। मैन स्थिर सत्य और चिर सत्य के आधार पर ऐतिहासिक साहित्य को इतिहास से पृथक् कर दिया।<sup>१</sup>

इसी कारण आचार्य चतुरसैन ने अपने ऐतिहासिक उपन्यासों के लिए ऐतिहासिक शब्द का प्रयोग न करके इतिहास रम का उपनाम का ही प्रयोग किया है। इसका अनिश्चित उन्होंने ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना करते समय, युग विशेष के बाह्य और आंतरिक मतभेदों, विचारधाराओं इतिहास की विकासमान शक्तियों आदि इतिहास के तथ्यों की कमी-बिम्बा नहीं की है। उन्होंने इस बारे में स्वयं स्पष्टतया लिखा है—

ऐतिहासिक उपन्यास में तथ्यों को, पीछे फेंक देना ही। स्थिर सत्य के आधार पर, कल्पना मूर्तियाँ, आगे लाना ही। मरी के कल्पना मूर्तियाँ बनती हैं दूल्हा—और ऐतिहासिक तथ्य बन जाते हैं बराती। कहानी में मानव चरित्र को नहीं चरित्र के प्रकृत भावों का, अधिक विकसित करता हूँ। परन्तु विशद व्याख्याती विषय पर मैं खूब अध्ययन और प्रमाणाधीन धूमधाम से, आगे बढ़ता हूँ।<sup>२</sup>

उपरोक्त विवरणों से यह तथ्य सुस्पष्ट एवं प्रगट है कि इतिहासत्मक उपन्यासगत बणनात्मक सरणी विशेष को अपने-आपके बारे में साहित्य जगत में, एक ही देश और काल में रहने वाले दो साहित्यकारों में भी कितना अधिक मतभेद पाया जाता है? आचार्य चतुरसैन जिस विस्तृत जफ़रा नहीं मानते थे, उसी देशकालगत यथातथ्यता के बणन का श्री राहुल साहूत्यायन, प्रथम महत्त्व का मानते थे। यह सहज ही है कि इन दोनों प्रतिभाशाली लयनियों की मृजनात्मक उपलब्धियों के बीच भी पर्याप्त अन्तर पाया जाता है और बणनात्मक धर्म में भी उनकी प्रतिक्रिया दृष्टिमोचर होती है। फिर भी क्या राहुलजी, और क्या चतुरसैनजी दोनों की लोकप्रियता अथवा औपन्यासिक बणन-क्षमता देश और काल से नियंत्रित न होकर उनकी निजी बणनात्मक प्रतिभा विशेष पर ही निर्भर करता है।

तथापि हमारे युग के सबसे अधिक बणन प्रतिभा से सम्पन्न उपन्यासक स्रष्टा स्वर्गीय श्री वृंदावनलाल वर्मा का बणनात्मक दृष्टिकोण समन्वयवादी तो है ही किन्तु यदि उसमें भी किसी दार्शनिक विशिष्टता की खोज की जाए तो वे जीवन के आन्तरिक सतत प्रवाहित रहने में विश्वास रखने वाले एक परम आशावादी

१ 'सुप्रभात' पृष्ठ १२६

२ 'आचार्य चतुरसैन का कथा साहित्य' (डा० शुभकार कपूर एम० ए० पी० एच० डी० (प्र० विवेक प्रकाशन, किशोर बुक लिमिटेड, अमीनाबाद लखनऊ, प्रथम प्रकाशन १९६५ ई०) पृष्ठ ११३

(मदाशावादी)—कलाकार रहे हैं। व वणनात्मकता के निष्ठावान पुजारा थे। फिर भी व इतिहास के तथ्य निधारण करने में, पर्याप्त बख्तर-सहन करने वाले साहित्यकार भी माने जायेंगे। इसीलिए उन्होंने अपने पाठकों को मञ्चे मनोरंजन एवं उनका अनुप्राणित करने वाली शिबङ्कर साहित्य प्रेरणा को ही सदैव प्राथमिक महत्व दिया है। इसीलिए उनके ऐतिहासिक उपयोगों में आण हुण वणनात्मक प्रयोग—क्या निसर्ग-वर्णन अथवा क्या इतिहासपरक वर्णन दोनों ही एक अनुपम मोहक, रमणीय एवं उन्मुक्त काम उल्लाम से युक्त हो गए हैं और न्य भाँति वे सम्पूर्ण अर्थों में 'अद्वितीय' ही उठे हैं।

काव्यशास्त्र में प्रणेताओं एवं उन साहित्यकारों के बीच, जो स्वयं आत्म-नात्मक अतदृष्टि रखते हुए भी सृजन-नात्मक साहित्य में प्रणयों में भी प्रवृत्त रहें हैं—साहित्य के इतिहास में किन्हीं ही बार तीव्र मतभेद पाए गए हैं। सृजन-नात्मक कलाकार, जब कलाकृति के सम्बन्ध में अपनी सम्मति देते हैं तो वे शास्त्रीय मविधान की धाराओं के अनुसार बंध बरनही बालन। इस पर स्वभाविक शास्त्रकार उनका, विरोध करते हैं किन्तु फिर भी कलाकार (या कविगण), उनकी परवाह नहीं किया करते। अतः शास्त्रकारों का आग्रह के साथ यही कहना पड़ना है कि—निरकुशा कवय'—अपने कवि लोग अबुश अथवा शास्त्रीय मविधान की धाराओं की परवाह नहीं करते। समय-अंतर में उपयुक्त आग्रह वाली बात तो लागू भूल गए और उक्त कथन को सीधा-सादी लाकवित या सुवित के रूप में स्वीकार कर लिया गया। इस भाँति साहित्य के इतिहास में जब भी किसी सृजन-नात्मक कृतकता का विलास दिखाई देता है और जब उमना, परम्परागत निर्धारित शास्त्रीय विधान से तारतम्य नहीं बढता तो समीक्षक लोग ऐसी परिस्थिति समुपस्थित होने पर निरकुशा कवय' कह कर अपने बंध बिन करने का माँग निजाल लते हैं।

जहाँ तक कि उपयोग विधा के क्षेत्र में, सञ्चारकारों एवं सृजन-नात्मक कलाकारों के बीच मतभेद न होने की बात का सवाल है, यूरोपियन साहित्य के इतिहास में भी इसके अनेक उदाहरण पाए जाते हैं यथा जाल उपयोग (जिसकी समीक्षात्मक सरणी को बहुधा हमारे उपयोग समीक्षण में स्वीकार कर लिया है) के प्रवर्तन पर बाल उपयोग-कारफील्डिंग (सन् १७०७ ई० — १७५४ ई०) में पयाप्त तीव्र शब्दों में तत्कालीन 'तथाकथित समीक्षा की भत्सना की थी। अपने सुप्रसिद्ध उपयोग 'टाम जाल' का पाचवीं जिन्द के प्रारम्भ में, फील्डिंग ने देशकाल के अनुसार नित्य परिवर्तित होने वाले कथा-साहित्य (उपयोग विधा) के लिए, शास्त्रीय नियमों की दुनाई देन के दुसाहस के लिए आलाचका के योग्य अधिकारों को निम्न शब्दों में चुनीनी दी थी—

'न दुनियाँ का यह नियम सा बन गया है कि वह, किमी एवं सविधान या अधिनियम का, बस कर पकड़े रखनी है जोर उसी को, हमारे समस्त व्यापार-व्यवहार

पर लागू करने पर तुली रहती है। यह बात दुनिया के दिमाग में बठाना असम्भव सा लगता है, कि कोई एक व्यक्ति भी, इतनी धृष्टता कर सकता है, कि विज्ञान अथवा कला का किसी शाखा विशेष के सम्बन्ध में अपना निजी नियम का निरूपण करे। वे पूर्व निर्धारित नियमों का तो यह मान कर स्वीकार करते रहते हैं, कि निश्चय ही उनके मूल में, पर्याप्त तार्किक कारण होंगे किन्तु नये विधान के बारे में, चाहे कितने ही अवाटयक कारण-सम्बन्धों का प्रस्तुत क्यों न किया जाए वे कभी भी, उनकी प्रामाणिकता की बात न मानेंगे।<sup>१</sup>

सच पूछें तो आज तक इस दुनिया ने समीक्षकों एवं समालोचना को आवश्यकता से अधिकांश मान प्रतिष्ठा एवं प्रशंसा प्राप्त की है, और यह भी स्वीकार कर लिया गया है कि समीक्षकों के मस्तिष्क में, विश्व भर की ज्ञान-विज्ञान-सम्बन्धी सवस्रता की राशि, पाई जाती है। जनसाधारण की इस समीक्षक-पूजा का परिणाम यह हुआ कि वे अपने कृत्यों में, प्रमाद एवं मनमाने-पन की ओर प्रवृत्त हात दखे गए हैं और अनेक बार तो वे तानाशाही के समान भावमौम सत्ता का अधिकार जताते जान पड़ते हैं। इसका प्रतिफल यह हुआ है, कि आज वे सचमुच ही, अपने को साहित्य-राज्य का अधीश्वर मान बैठे हैं और आज वे उहाँ लेखकों को, कानून-कायदे सिखाना चाहते हैं, जिनके पूजार्थ ही उहाँ वस्तुतः अपना समस्त पाठित्य प्राप्त किया था।<sup>२</sup>

'समीक्षक का वस्तुतः धर्मगुरु अथवा पण्डित से अधिक माना जाना उचित न होगा। वे पुरातन शास्त्रकारों की व्याख्या कर सकते हैं और उनके प्रतिपादित सिद्धांतों का पुनः सम्पादित कर सकते हैं। किन्तु वे उन महान् दिव्य प्रतिभा-सम्पन्न कवियों का स्थान कदापि ग्रहण नहीं कर सकते जिन्होंने ज्ञान के स्वतः प्रवाह में, सत्य के दर्शन किये थे। चिरकाल से समीक्षक मुक्त व्याख्या-टीका का कार्य करते चले आए थे किन्तु समयान्तर में ज्यों-ज्यों अज्ञानियों की सख्या में वृद्धि होती गयी त्यों-त्यों सामयिक पण्डितों या धर्मगुरुओं ने स्वयं ही कवियों एवं स्मृतिकारों का आसन ग्रहण करने की ठानी और वे स्वयं ही ज्ञान-विज्ञान के जगत के भाग्य-विधाता बनने का दावा करने लगे। बहुतेक वृद्ध ऐसी ही बातें आज समीक्षकों एवं लेखकों के बारे में दखी जाती हैं। यही हमारे साहित्य-जगत में फली हुई भ्रान्तियों का, मूल कारण है।<sup>३</sup>

यह समीक्षक गण बहुधा छिछले ज्ञान वाले हाते हैं अतः यह सहज बात है कि वे, मात्र वाह्य परिवेश का सार समझ बैठते हैं। उन छोटी-छोटी बातों को जो किसी महान् लेखक की कृतियों में मात्र सयोगवश आ गयी हैं यही समीक्षक उनकी सर्वश्रेष्ठ विशिष्टता बताने लगते हैं। यही नहीं वे इस बात पर भी आप्रह करते हैं,

कि आने वाले सभी भावी लेखकों को, उन्हीं गण्य वाता की महान मान कर उनका अनुकरण करें। इन अनधिकार चेष्टाओं को, समय और अनान ने (जा अनधिकार-चेष्टाकर्ताओं के सर्वे ही परम समय रहे हैं)—शास्त्रिक अधिकार प्रदान कर दिये हैं, और इस भाँति, गुलामों के लिए, अनेक नियम उपनियमों की प्रस्थापना की गयी है—जो न तो सत्य पर आधारित हैं, और न ही जा साहित्य विधा की मूलभूत प्रकृति के ही अनुरूप हैं। इन अनधिकृत स्वयम् साहित्य शान्तिपत्रों का एकमात्र उद्देश्य, यही रहता है, कि वे प्रतिभाशाली सृजनात्मक कलाकारों की गतिविधियों पर प्रतिबन्ध लगाएँ, जिस भाँति नृत्य निर्देशक, नृत्याभिनय में भाग लेने वाले कलाकारों को अपनी अँगुलियों पर नचाना चाहते हैं। मला क्या हमारे उत्तमोत्तम एवं उत्कृष्ट शास्त्र-ग्रन्थों में यह भी लिखा है, कि आने वाले प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार ऐसे अनधिकारियों द्वारा, उनके परामर्श डाली हुई जजोरा में नाचते रहें ?

अतएव हमें यह दृढ़ निश्चय कर लिया है, कि यह दावा न करते हुए भी कि हम आज-काल वाली पीढ़ी के लिए कोई साहित्य रचना की संहिता बनाने जा रहे हैं जो कि हर एक 'ठर गँरे नरपू' (इसे डिमिट) की मर्जी के अनुरूप हो, जिनके लिए हमारे मन में रचमान भी सम्मान का भाव नहीं है—हम इन तथाकथित शास्त्र विधाताओं की पवाहल करते हुए, अपने पाठकों को समझ, प्रस्तुत कृति में अपनायी गयी वणन शैली के पक्ष में, कुछ आवश्यक तथ्य रख दें, और इस भाँति हम आज, साहित्य की एक अभाव विधा का स्थापना करने जा रहे हैं, जिसे हम उपर्युक्त दृढ़ नियमों की अवहेलना करने हुए अभिप्रेत करती ही है। जहाँ तक हमारी जानकारी या याददाश्त है आज तक किसी भी अथ प्राचीन अथवा अवाचीन लेखक ने, इस स्वाधान साहित्य क्षेत्र में लेखनी मञ्जिल नहीं किया है।

'इस विधा में आपकी, अथ साहित्यिक विधाओं की तुलना में अन्तर दिखाई देगा, फिर भी इसमें अनेक प्रवाहित चेतना धारा मूलतः वही है, जो समग्र सृजनात्मक साहित्यिक कृतियों में मनन प्रकटित रहती है। इस नया विधा की निजी विशिष्टता यह यही है, कि कल्पना, समस्त नमस्कार अथवा मानव विरहित चान्ता के दर्शन कर सकने में समर्थ बनाने है। किन्तु यदि हम चारण, मन्त्रमयता एवं परमाशास्त्रों के विषय का चित्रण या वणन प्रस्तुत न करें, तो फिर सौन्दर्य की विशिष्टता का हम, उमात्र केम पायें ? इस भाँति ग्रीष्मकालीन (इंग्लैण्ड के ग्रीष्म-कालीन) अथवा भारत के मधु मास-कालीन) दिन के मौसम की भाँसा एक चिरमन्त्रोरमता को चिरस्वामी स्मृति अंश बनाने के लिए यह जरूरी हो जाता है कि हम, सन्ध्या (व ग्रीष्मकाल की ही—भारत की नहीं) की राति के, मयानक अथवा का भा, वणन करते चलें। अगर किसी ने प्रकृति पट के इन दो विभिन्न रूपा में दर्शन नहीं किया, तो मला क्या वह उसके प्रथम सौम्य स्निग्ध एवं शोभा से स्तान, अथवा सौन्दर्य का अवधान कर पाएगा ?'

अधिकांश साहित्य कला के साधक उक्त वणन-व्यभिचय वाले रहस्य से अवगत हैं चाहें उनमें से कुछ ऐसे भी मिल जाएँ जिन्होंने साहित्य-मञ्जन की इस क्रिया प्रक्रिया की जोर कोई गवेषणात्मक चिन्तन मनन न भी किया हो। जोहरी जानता है कि तेज म तज चमकन वाच रत्न के लिए भी, निम्नी पृष्ठभूमि की अपेक्षा होती है और चित्रकार भी अपनी चित्रित आकृतियों के रूप को उपयुक्त पृष्ठभूमि की महायता से उभारना नहीं भूलता।<sup>1</sup>

‘हम म स जो भी महान प्रतिभा द्वारा वरण किया जायगा, वह इस तथ्य का, मली भानि विश्लेषण एवं विवेचन करने म समय हागा। एस जन्मजात प्रतिभा सम्पन्न मुहूर्ती को मैं किमा कोटि या जाति म रखने की नाहानी नहीं करूँगा। वस्तुतः वह समी कलाकारा के बीच विगिष्ट एवं निराना हो है। उस साहित्य के इतिवृत्तकार एस कला सजवा म परिगणित करेग—

‘जीवन को जिनकी अनुपम प्रतिभा-आभा ने  
एक अनूठा अभिनव चिर-सत्कार दिया है।’

उप-यासकार फील्डिंग आगत उप-यास के प्रथम चार उन्नायका म हो गण्य माय नहीं थे वरन व रगमच एवं वानून का दुनियाँ म भी बडा नाम पा चुक थ। बरिस्टर एवं रगमच निर्देशक के रूप म उनरी स्वानि अपन समय म अपरिमित थी और उनका अध्ययन अत्यन्त व्यापक एवं जीवन के साक्षान अनुभव द्वारा परिपक्व भी था। उन जस प्रतिभाशाला एवं विद्वान साहित्यकार का भी, उप-यास रचना के क्षेत्र म परंपरागत उप-यास-महिता स जो घुटन महसूस हुइ, उक्त उद्धरण, उनको पर्याप्त अशा म अभिव्यक्ति कर देना है। हर प्रतिभाशाली उप-यासकार, हड़ आला चना पर परने जान पर निलमिला उठना है पर फील्डिंग जमी नतिक साहस एवं प्रतिराध व्यक्त करने की सामर्थ्य किमी किमी साहित्य-मापक म ही पाई जाती है। हम भारतीय अपन जातीय गुण के अनुसार साहित्य मञ्जन म प्रवृत्त होने स पहले ही विनयना का अपना धम मान कर चलन हैं किन्तु क्या समाज और क्या उत्तम प्रतिविम्ब—साहित्य—दाना म हो पुराने गाम्भिरा की भी गई व्यवस्थाप्रा एवं मायनाआ का कम से कम हर युग (अथवा बारह वष पञ्चात्) दाहरा की भारी जपे ॥ रहती है। उक्त ‘चाप के अनुसार भी हम मुनीष जनराय (१८७० ई० म १९७० ई०) म हमार उप-यास-मवधी मविधान का कमसे कम तीन दार पुनरावृत्ति एवं अभिनव पुनरचना ता हा रो जानो चाहिए थी। लेकिन कला नकारागतान म सूती का आवाज को कौन सुना है ?

हेनरी फील्डिंग ही, ऐम एक मात्र आम्र उप-यासवार न थ, जिनकी उप-यास रचना तथा तदगत वणनात्मक वस्तु के बारे में, अपनी निजी स्वतंत्र धारणाएँ थीं। उनके अनेक समकालीन एवं परवर्ती उप-यासकारों में भी उपयुक्त प्रश्नों पर निरंतर स्वाधीन चिंतन चलता रहा। ऐंगी ही प्रतिभाशालिनी उप-यासकर्त्री थी, श्रीमती क्लारा रीव (१७२६ ई०-१८०७ ई०)। वे एक प्रकार से श्री फील्डिंग की समकालीन लेखिका ही मानी जाती हैं। वे उप-यास सज्जन में जीवन के वास्तविक चित्रण एवं उसके यथातथ्य वणन का सर्वाधिक महत्व प्रदान करती हुई अपने ग्रंथ 'प्रोग्रेस ऑफ़ रोमांस में इस भाँति लिखती हैं—

'उप-यास वास्तविक जीवन एवं व्यवहारों का एक वास्तविक चित्र है और उसमें उस काल का प्रतिबिम्ब भी पाया जाता है जिसमें कि वह लिखा जाता है। इसके विपरीत रोमांस अथवा मात्र-कल्पना की रोमानी कृतियाँ, एक ऐसे जीवन का वणन करती हैं जो कभी नहीं रहा और न कभी रहेगा ही। वे ज्ञानदार और ऊँची भाषा का प्रयोग करती हैं। इन्होंने विपरीत, उप-यास, ऐंगी वाता के माथ, हमारे चिर-परिचित सव्य का ध्यान भी रखा है जो हमारी जाति के सामने हर दिन गुजरती रहती है और जो हमारे मित्र के जीवन में अथवा हमारे अपन जीवन में ही कभी भी घट सकती है। वस्तुतः उप-यास की संपूर्णता, इस बात में है, कि वह हर दृश्य का, ऐसे सहज और सरल रूप में वणन कर, कि वह हम ऐसा सम्मान्य जान पड़े कि हम यह मानने को तैयार हो जायें कि वह समग्र वणन सच्चा ही है। इसीलिए हम, कथानकगत पात्रों के रूप और विपाद से, इस भाँति अभिभूत हो जाते हैं, माना वे हमारे अपने निजी सुख-दुःख ही हों।'

श्रीमती क्लारा रीव, जन साधारण के जीवन के वणनों में युक्त उप-यास रचना पर इसलिए बल दे रही थी क्योंकि उस समय में, वृद्धा उप-यासकार, केवल रोमानी कल्पना में युक्त अतीतकालीन उप-यासों का जोर प्रवृत्त हो रहे थे। यदि उप-यास में वणना की मुख्य वस्तु साधारण लोकजीवन बना दिया जाय, तो उससे उप-यास विधा के बाह्य एवं अन्त परिवेश में भारी क्रांति उपस्थित हो जाएगी। क्या भाषा, क्या वण्य-वस्तु एवं क्या चरित्र चित्रण, सभी क्षेत्रों में एक अछूनी ताजगी और नूतन आभा आ जायगी जिससे कि उप-यास विधा की प्रभावशालिता, कई गुनी बढ़ जायगी। सरल और सहज वणन युक्त उप-यास रचना, बन्ध दुष्कर काय है किन्तु अपनी चिरस्थायी एवं व्यापक लोकप्रियता का उप-यासकार उसी के द्वारा अधिकारी बन पाएगा। वस्तुतः सरल एवं सहज वणन अपने निजी प्रभाव में, आलंकारिक शली एवं किञ्चित् भाषा प्रयोग की अपना कही अधिक प्रभावोत्साहक एवं कलापूर्ण भी होने हैं।





किया है और इस भाँति उन्होंने जड़ प्रकृति के अनंत पक्षा एव छवियों को मूर्तिमन्त व्यक्तिव भी प्रदान किया है। उन्होंने जगत् उपयाम में, अपनी निजी विशिष्ट आचलिक आभा से ओतप्रोत, एव गहन दार्शनिक रहस्यानुभूति से मनोमुग्धकर, एक अनूठी वणन कला का अवतरण किया है। उन्होंने अपनी सूक्ष्म एव वनात्मक सृजनात्मक प्रतिभा द्वारा प्रकृति के विभिन्न भाव परिवर्तना (मूडम) के साथ मानव सुख दुःख हृष विपाद का ऐसा विलक्षण रागात्मक मामजस्य बिठाया है कि उनके उपयास काव्यशास्त्रविनोदी साहित्यानुरागियों के लिए, लार्नमहाकाव्यो जसी एक अविस्मरणीय रसात्मक रसमूर्ष्टि का, उद्घाटन करते से जान पड़ते हैं। हार्डी की इस विशिष्ट वणनात्मक शैली की सर्वोत्कृष्ट विभूति, उनकी वेसेक्स 'उपयास-माला है, जिसकी जगमगाती मणियाँ हैं— दि ग्रीनवुड ट्री (१८७२ ई०), फार फ्राम दि मडिंग ब्राउड' (१८७४ ई०) दि रिटन आफ दि नेटिव (१८७८ ई०), 'दि मेयर ऑफ वेस्टरब्रिज (१८८६ ई०) दि बुडल-डस (१८८७ ई०), 'टेस आफ दि डवरविले' (१८९१ ई०), 'जूड दि आसक्योर' (१८९६ ई०) आदि।

हार्डी के इस वेसेक्स प्रदेश में डग्गड की हेम्पशायर, विल्टशायर सामरसेट शायर डसेटशायर डेवनशायर तथा कानवाल की जाधुनिक काउंटिया (जिले) सम्मिलित हैं। वस्तुतः—यह सभी मिला कर चरागाहा, भेड़ों के समूहों, शस्यश्यामल खेतों, किसानों, लकड़हारा, वना घाटिया एव उपत्यकाओं की एक ऐसी भौगोलिक इकाई बनाती हैं जिसके मुख्य व्यवसाय, कृषि, गोपालन एव मेष-पालन रहे हैं— इतिवृत्त-रयात वेसेक्स राज्य के सुप्राचीन अतीतकाल से प्रेरणा लेते हुए हार्डी ने, फार फ्राम दि मडिंग ब्राउड' में, खेतों की हरित छाटाओं, टेस' में, उपजाऊ चरागाहों वाली गाँवों की भूमि को 'रिटन आफ दि नेटिव' में, वजड़ वन प्रान्तर वाले एण्डेन हीथ को, 'बुडल-डस' में, गहन वनों एव फलोद्याना को, 'ए पयर आफ ब्लू आइज' में कठोर चट्टानों वाले, सागरतट की पृष्ठभूमि को अपने एक से एक अनूठे वणनों द्वारा, सत्सवदा के लिए साहित्य में अजर अमर बना दिया है।

हार्डी के सभी उपयासों में, प्रकृति के जड़ वनान्तरा तथा उसके समीपवर्ती प्रामाण्य अचलो का चित्रण करने वाले, कृषि, गोपालन एव पशुपालन आदि निसर्ग सान्निध्य वाले व्यवसायों तथा उनमें निरत छल छदम से परे, सरल नर-नारियों के चित्रण करने वाले असरय एव विविध वणनों द्वारा अपनी काव्यमयी शैली में मन्त लक्षणायाँ सुनायी गयी हैं। हार्डी की वणनात्मक विशिष्टता के एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में 'एण्डेन हीथ' का निम्न गद्य चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है। यह उनकी महान कृति 'दि रिटन आफ दि नेटिव' का आरम्भिक अंश है। अपने इस उपयास के प्रथम अध्याय का नामकरण करते हुए, ही हार्डी ने, 'एण्डेन हीथ का एक पक्षि के शीप के माध्यम द्वारा) या परिचय दे दिया है— ए फेस ऑन विच, टाटम भवम, वट लिटिल 'म्प्रेणन'—(अर्थात् वनगण्टी का एमा मुखमण्डल, जिस पर

वणना की प्रदर्शनी से जान पत्ते हैं। हार्डी न अपनी इसी उप-यामगत वणनात्मक प्रवृत्ति को एक स्थल पर निम्न शब्दा म विवचिन किया था—

मैं उन दिना म अपने उप-याग फार फाम दि मडिंग फाउड (बीरा दने वाली भीडमाड से, दूर-परे) का एक लाप्रिय पत्रिका म धारावाहिक रूप म प्रकाशित करवा रहा था कि मुझे अचानक, अपनी 'वसेकम'-अवल मम्बधी उप-यास माला की बात मूम पडी। पहले ता मैंने सोचा कि एक जिले के प्रावृत्तिक परिवेश को चित्रित करके, मैं उप-याग रचना म प्रवृत्त हाऊं। वसकम' का जिला, कभी एक अतीतकालीन राज्य का स्मारक रहा है। किन्तु मैंने जल्दी ही इस बात को समथ लिया कि एक सीमा विरोध म बाध न्यि जान पर उप-यास, वास्तविक जीवन का प्रतिबिम्ब, नहीं हो पायगा। मुझे अपने वणन क विस्तार के लिए वही अधिक व्यापक पृष्ठभूमि (दृश्यपट्ट केनवस) का जये ता थी।

लेखन-सम्बधी एक वणन-सम्बधा मरी जनक जय कठिनाइया भी थी। मैं मान्ता था कि मैं इंगलड क एक एस प्रदेश का ठीक ठीक चिन्ण करूँ जो अतीत म भी कभी जीता जगता था किन्तु जहाँ, अथाह एक निम्तम्ब बनान्तर शान्ति को भग करने, जात रेल की लाटों डार-तार की प्रणालियों फसन धाटने की मशीनें सामुदायिक कारखाना का जमघट तथा चिम जोर पड सकन वाले साक्षर मजदूरो अथवा राष्ट्रीय पाठशालाआ म पडन वाने वावाा के कारण एक नई चहल पहन और विविध रंगीनी उमर आई है।

इस भाति मैंने अपने उप-यागा म जिन भित्तियो दृश्यपट्टियो एक नसगिक वन प्रातर वणना की चित्रपट्टियों अकित की हैं वे आज एक ऐसे प्रदेश की विशिष्ट ताएँ बन चुकी हैं जो आशिक रूप म वास्तविक हैं और आशिक रूप म स्वप्निल। इस भाति मैंने एक मपनो की अतात या बीती हुई दुनिया को वास्तविक जगत मे निमज्जित ही नहीं किया वरन अपने वणना म स्वप्निलता का समावेश करके मैंने वास्तविक जगत को भी एक प्रकार की जीव-यासिकता प्रदान करन का प्रयास किया है। आज चाहे तो पत्रा के प्रतिनिधि एक सवान्दता इस वेसेवस प्रदेश म आ जा भी सकते है—यही नहा चाह ता वे यहाँ एक मकान किराए पर लेकर रह भी सकते हैं और इस प्रदेश के बारे म व अपने अपने पत्रा म लेख मालाएँ भी लिख कर भेज सकते हैं।

आधुनिक अंग्रेजी उप-यास साहित्य मे इस भाति श्री यामस हार्डी एक अभिनव, रहस्यात्मक एक अनुपम वणन प्रधान उप-यास रचनाशली क प्रवृत्तक हुए हैं। उहाने प्रकृति गत वास्तव्य एक स्वप्नत्व दाना ही तत्वा का विलक्षण सामञ्जस्य

किया है और हम मानि उठाने जब प्रकृति के अनन्त पक्षा एवं छत्रिया की मूर्तिमन्त व्यक्तित्व भी प्रदान किया है। उठाने आग्न उपयोग में, अपनी निजी विशिष्ट आचलिक आत्मा से ओतप्रोत, एवं गहन दार्शनिक रहस्यानुभूति से मनोमुग्धकर, एक अनूठी वणन कला का अवतरण किया है। उन्होंने अपनी मूक एवं वनात्मक मृजनात्मक प्रतिभा द्वारा, प्रकृति के विभिन्न भाव-परिवर्तना (मूड्स) के साथ, मानव मुग दुःख, हृष विषाद का ऐसा विलक्षण रागात्मक सामञ्जस्य विटाया है कि उनके उपयोग, काव्यशास्त्रविनादी साहित्यानुसारागिया के लिए लाकमहाकाव्या जमी, एक अविस्मरणीय रसात्मक रसमृष्टि का, उद्घाटन करत स जान पड़ते है। हार्डी की इस विशिष्ट वणनात्मक शैली की सर्वोत्कृष्ट विभूति, उनकी वेमस उपयास माला है, जिसकी जगमगाती मणियाँ हैं—'दि ग्रीनवुड ट्री (१८७२ ई०), 'फारफॉम दि मॉडिंग फ्राउड (१८७४ ई०), दि रिटन ऑफ दि नेटिव (१८७८ ई०), दि मेयर ऑफ वेस्टरब्रिज (१८८६ ई०), 'दि बुडन डस (१८८७ ई०), टेस ऑफ दि डपरविले (१८९१ ई०), जूड दि ऑमक्यार' (१८९६ ई०) आदि।

हार्डी के इस वेमस प्रदेश में एग्लंड की हेम्पशायर, विल्टशायर, सामरसेट शायर डार्मेटशायर, डेवनशायर तथा वानवाल की जाधुनिक वाउरटिय (जिले) सम्मिलित हैं। वस्तुतः—यह सभी मिला कर चरागाहा भेडा के समूहा शस्यश्यामल खेता, किसान लण्डहारा बना घाटिया एवं उपत्यकाओं की, एक ऐसी भौगोलिक इवाई बनाती हैं, जिसके मुख्य व्यवसाय कृषि गोपालन एवं भेप-पालन रहे हैं— इतिवृत्त-र्यान बोवेस राज्य के सुप्राचीन अतीतकाल से प्रेरणा लेते हुए, हार्डी ने, 'फारफॉम दि मॉडिंग फ्राउड' में, खेता की हरित छटा को 'टेस' में, उपजाऊ चरागाहा वाली गोचारण भूमि का 'रिटन आफ दि नेटिव' में वजड वन प्रान्तर वाले 'एगडेन हीथ' का बुडलण्डम में, गहन वनों एवं फनोद्याना का, 'ए पयर ऑफ ब्लू आइज' में कठोर चट्टानों वाले सागरतट की पृष्ठभूमि को अपने एक से एक अनूठे वणनों द्वारा सदासवदा के लिए साहित्य में अजर अमर बना दिया है।

हार्डी के सभी उपयोगों में, प्रकृति के अछूने वनान्तरा तथा उसके समीपवर्ती ग्रामीण अंचलों का चित्रण करने वाले, कृषि, गोपालन एवं पशुपालन आदि निसर्ग सान्निध्य वाले व्यवसायों तथा उनमें निरत छल छत्रम से पर, सरल नर-नारिया के चित्रण करने वाले असह्य एवं विविध वणन द्वारा, अपनी काव्यमयी शैली में महान लोकगाथारों सुनायी गया है। हार्डी की वणनात्मक विशिष्टता के एक उत्कृष्ट उदाहरण के रूप में, 'एगडेन हीथ' का निम्न शब्द चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है। यह उनकी महान कृति 'दि रिटन आफ दि नेटिव' का आरम्भिक अंश है। अपने इस उपयोग के प्रथम अध्याय का नामकरण करते हुए ही हार्डी ने, 'एगडेन हीथ का (एक पक्षि के शीपक के माध्यम द्वारा) या परिचय दे दिया है—'ए फेस जॉन विच, टादम मेचम, वॉ लिटिंग इम्प्रेसन —(जर्मान वनस्पती का ऐसा मुखमण्डल, जिसे पर

'समय अपनी छाप छोड़ जाने में, समय नहीं है)। 'एग्डेन हीय' नामक वनचण्डी के उपयुक्त मुखमण्डल का सविरण रेखाचित्र या चित्रित है—

नवम्बर मास के, एक शनिवार का, तीसरा पहर सध्याकालीन भुटपुटे की आर, बढ़ता हुआ सा जान पड़ता था। और घघनों और घेरो से युक्त विशाल भूलण्ड जिसे 'एग्डेन हीय' कहते थे, धीरे धीरे और त्रम त्रम से क्षण-क्षण में मले परिधान में आवृत्त होता जा रहा था। उपर आकाश में एक गुभ्र मेघ लण्ड, समस्त नभ मण्डल को आवृत्त करता जाता था मानो वह कोई शामियाना हो और चारलण्ड मानो, उसके नीचे विछा हुआ फश हो।<sup>१</sup>

'इस भाँति आकाश पीतवर्णा चादर से ढका हुआ था और घरती, गहरी श्यामता लिय हुए, वनस्पति से। ये दाना जिस जगह मिलते थे वहाँ उनकी मिलन रेखा स्पष्ट रूप में दृश्यमान हो रही थी। इन दोनों के बीच इतने तीव्र वषम्य के कारण, वह वनचण्डी माना एक रात्रि का खण्ड रूप धारण किा चली जा रही थी जो अपनी निजी ज्योतिष गणित द्वारा, निर्धारित घटी से पहले ही अपने स्थान पर जा जमी थी। अधकार इधर, बहुत अशा में आ पहुँचा था जब कि दिन, सुदूर ऊँचे आकाश में, जा छिपा सा जान पड़ता था। लकड़ हाग ऐसे में चाहता था कि जपन काम को जारी रखे किन्तु जब वह अपने नीचे की ओर अघेरे हान हुए वन पर दृष्टि डालता था वह तय करता कि काम बन्द कर दू और घर लौट चलो। घरती और जाकाश के सुदूर दिमा<sup>२</sup> पड़ने वाले घेर न केवल समय के परिणाम जान पड़ते थे बल्कि स्थूल तत्व के परिमाण भी। चारखण्डी के मुखमण्डल पर झलकने वाला वण मान से ही, मानो सध्या में जाध घटे की ओर वृद्धि हो जाती थी। इसी भाँति वनचण्डी का घसर मुक्त मण्डल विहान को विलम्बित करन में, मायाह्न को विषण्ण करन में तथा जो तूफान जमा बीज रूप में है उसके आगमन की भकुटि भग की आशका का व्यक्त करने में तथा चन्द्रविहीन जधरात्रि की शरत्प्रस न निमलता को घनीभूत बनाने में तथा भय से अद्भुत वम्पन का जम देने में समर्थ था।<sup>३</sup>

नव पूछिये तो रात्रि के समय अधकार में लुढ़क जाने के इस सधिसंथल पर ही 'एग्डेन' चारखण्डी की महान और विशिष्ट गरिमा का आविर्भाव होता है। जो तेसी घटी में उस स्थल पर बगी स्वयं नहीं जा पहुँचा वह उस चारखण्डी के गुप्ततम रहस्य से कल्पि परिचिन नहीं हो सकता। उसकी अनुभूति सबसे अधिक तमी हा पारी है जब कि वह व्यक्त रूप में दृश्यमान नहीं होती। उसका सम्पूर्ण प्रभाव और अंतर की परिभाषा इस घटी में तथा आन वाल विहान से पढ़ने के घण्टा में निहित रहत है और तमी वह अपनी सब्बी कया को सुनाता है। यह स्थल रात्रि का निकट-सम्बन्धी जान पड़ता है अधकार के गम्भीर टोले और लण्ड मानों

सध्या के जवसान से मित्रने के लिये उठ रह हैं—एक नितान सवेदना द्वारा प्रेरित होकर ।”

ऐसा जान पड़ता है कि उस समय यह मारा शारखण्ड सजग प्रहरी के समान चौकन्ता हा उठता है। क्योंकि जब सभी जीव जंतु निद्रा में मूर्च्छित होने लगते हैं तो यह भारखण्डी जाग उठती है और कान लगा कर मानो कुछ सुनने लगती है। जान पड़ता है कि हर राति को उसका दयाकार, किसी की प्रतीक्षा में खड़ा रहता है और इसी भांति वह निश्चल भाव से कितनी ही सदिया से खड़ा हानर वाट जोहना रहता है, जब कि आमपास की दुनिया में, अनेकपट परिवर्तन हो चुके हैं।<sup>१</sup>

फिलिस वेटले ने (जो स्वयं भी एक सुजात आचरिता उपयाम लेखिका भी हैं) थॉमस हार्डी की वणन कला के सबंध में अपने अंग्रेजी आचलिक उपयाम में एक चिरस्मरणीय निबंध लिखा है। उसी का वेबल एक स्मरणीय अथ हार्डी की वणनात्मक कला-सबधी अनूठी विशिष्टता का परिचय कराने की दृष्टि से यहां उद्धृत किया जा रहा है—

‘निरीक्षण रत जनह टि की सुतीक्षण भेद जाने वाली यथातथ्यता, स्थानीय विवरणों की अक्षरशः विस्मयकारी सवन्ता, तथा आधी पानी और मौसम के पट परिवर्तन की, बदलती हुई चित्र विचित्रता ये सभी हार्डी के उपयाम साहित्य में आए हुए प्रत्येक वणन की उत्कृष्टता के अविस्मरणीय प्रमाण हैं। वेसेक्स प्रदेश पर होकर बहने वाले हर हवा के झोंके से हार्डी की गहरी जान पहचान है। वहां के वनों में पाए जाने वाले, हर पड की वे (अंधे में भी) जाति बता सकने के अभ्यासी हैं। हवा में पड़ा की पत्तियों की सरसराहट सुन कर भी वे, उनके नाम और गुण, सभी बता सकते हैं। वहां के मत्को भेडा और छप्परा में जाला बुनने वाली मकड़ियों तक को भी, वे मलीभाति पहचानने हैं। वहां के जगलो में सदा ही कुल्हाडों के चलाए जाने के शब्दों तक ना उहाने ध्यान से सुना है और पहचाना है। इन छोटी से छोटी और सूक्ष्म से सूक्ष्म सभी वणनवस्तुओं को वे अपने लक्ष लक्ष, वास्तविक चित्रण भरे वणना के रूप में अंकित करने में और घास की पत्तियों में सरसराने वाले हवा के झांको की चीखन चिल्लाने जसी आवाज को सुनने में वे समर्थ हैं।’

आचलिक उपयाम का अंग्रेजी उपयाम साहित्य में, एक निजी जनपद गत विशिष्टता प्राप्त करने का अर्थ इस भांति थो थॉमस हार्डी की उक्त आचलिक प्रादेशिक अथवा स्थानीय छवि वणन शली का ही दिया जा सकता है। तत्पश्चात्

१ २ ‘दि रिटन आफ दि नेटिव’ (थॉमस हार्डी) जिल्द १, अध्याय १, पृ० १२ (प्रथम प्रकाशन १८७८ ई०) प्रस्तुत ११वां सम्करण नवम्बर १९४८ ई० (पूपाक)।

३ ‘दि इग्लिंग रीजनल नावेल’ (फिलिस वेटले) (थॉमस हार्डी सबधी प्रकरण, पृष्ठ १४) (प्र० प्र० १०/११) जाला एलेन पाण्ड अचलिक वि...

उपयास विभागन वणनात्मकता के एक पर्याप्त महत्वपूर्ण पक्ष अर्थात् उपयासगत वणनात्मक 'स्थानीय अनुरजा (लोकल क्लर) की आग्ल उपयास समीक्षा साहित्य में पर्याप्त चर्चा रही है। किन्तु वस्तुतः वहाँ यह समीक्षात्मक सना प्रासासी साहित्य समीक्षा म पूर्व प्रचलित सना 'क्लर लोकेल' से ही ग्रहण की गई थी, जिसका प्रयोग, सत्रहवीं शती के अंत (१६६६ ई०) से ही फ्रांसीसी कला समीक्षात्मक-साहित्य में पाया जाता है।<sup>१</sup> उसका तत्कालीन अभिप्राय था किसी भी चित्रित पदार्थ की, अथवा चित्र के किसी भी अंश विशेष की उसको सहज पृष्ठभूमि की द्योतक स्वाभाविक रंग नियोजना। उपयुक्त चित्रकला-संबंधी तकनीकी सना का, सर्वप्रथम साहित्यिक प्रयोग, शतान्त्रियान नामक एक फ्रांसीसी पयटन लेखक ने किया था। 'क्लर लोकेल' पद का प्रयोग उसने 'पेरिस से जेम्सेलम का यात्रा वृत्तांत नामक ग्रंथ म पहले पहल साहित्यिक रूप म, सन् १८११ ई० म किया था।<sup>२</sup>

प्रोफेसर उलमन का विचार है कि 'क्लर लोकेल' (स्थानीय रंग नियोजन) सना का प्रयोग फ्रांसीसी कलाक्षेत्रो म ही सगमग सन १८०२ ई० तक प्रयुक्त होता रहा। साहित्यिक समीक्षा क्षेत्र म इत सना का प्रयोग सन १८०२ ई० से सन १८३५ ई० के बीच फ्रेंच भाषा म प्रचलित हुआ और तत्पश्चात् ही वह आग्ल समीक्षा क्षेत्रो म एष साहित्य रचना क्षेत्रो में प्रसरित हा पाया। उमका दो अभिप्रायो में प्रयाग किया जाता था— चित्र विचित्र वस्तु का आकषण तथा विशिष्ट तथा अनोसी वस्तुओ म अभिरचि।<sup>३</sup>

प्रापेसर उलमन ने अपने 'स्टाइल डा फ्रेंच नावेल' नामक महत्वपूर्ण समीक्षा ग्रंथ में क्लर लाकेल अथवा लोकल क्लर पद की भाषागत विशिष्टताओ की व्यञ्जकता के संबंध म विविध शत्रिया की भी चर्चा की ह। तत्पश्चात् उहाने स्थानीय रंगनियोजना शली म रचित अनक ऐसी फ्रांसीसी जीपयासिक कृतियो का भी वणनात्मक पयवेक्षण किया है जिनम कि यह स्थानीय रंग नियोजन शला विशिष्ट तथा विकसित पक्ष पल्लवित हुई है।

स्थानीय रंग नियोजना पद के प्रयोग के प्रोफेसर उलमन के मत से तीन विभद हैं—परदशी शब्द समूह पुरातन शब्द-समूह (जा अब व्यवहार में नहीं रहे) तथा लोक भाषा (या परिनिष्ठित साहित्यिक शिष्टाचार युक्त भाषा की कृत्रिमता से मुक्त) जनसाधारण की सहज बोली (स्लग) जिसम कि विशिष्ट यवसाया अथवा आजी विकाओ से सम्बन्धित शब्दावली तथा मस्त्रिणाओ की सी.सी. मरल एव धरेल् वाली आन्ति सभी का समावेश हो जाता है।

क्लर लाकेल शली की दृष्टि से अतीतकालीन स्थानीय रंग का प्रतिनिधित्व

१ एफ ब्रूनो—'हिम्तारी द ला लॅंग्वे फ्रे शए' जिल्द ६ पृ० ७३८ (१८०२ ई०)।

२ शतान्त्रियान—'इतिनेरारे द पारी ए जेम्सेलम' (प्र० प्र० १८११ ई०)।

करने वाले उपयामा में डॉ० उलमन ने, विकटर ह्यूगो की प्रख्यात कृति 'नाप्रदाम द पारी' (परिस का गिरजाघर) का एक सनात्मक कृति माना है। तथा ग्रामीण वातावरण का चित्रण करने वाली कृतियाँ में, उन्होंने, जाज सण्ड-कृत 'ला मार्' का डायरेक्ने को अधिक विशिष्ट माना है।<sup>१</sup>

इस भाँति प्राचीनी समीक्षा में भी, उपयाम विधा की वणनात्मकता के कुछ पहलुओं पर पर्याप्त चिन्ता एक मनन किया है। किन्तु उनमें भी, अद्यावधि कोई ऐसा आलाचक नहीं हुआ जिनमें कि 'वणनात्मकता को ही उपयास विधा की एक विशिष्ट एक महत्वपूर्ण मूलभूत अंतःप्रकृति बताया हो। फिर भी, विगत तीन सौ वर्षों के सुदीर्घ अंतराय में, यूरोपियन साहित्य क्षेत्र में उपयास विधा के सम्बन्ध में जो भी चिन्तन मनन एक विवचन हुआ है, वह सभी धीरे धीरे उपयास विधा की वणनात्मक समीक्षा की ओर ही अप्रसर रहा है। उपयाम विधा के पुरातन माना (कथावस्तु अरिचित्रण, कथोपकथन, दशबाल, शैली एक उद्देश्य) की सरणी को अपना कर, अमिनक उपयासा की समुचित समीक्षा, दिनादिन दुप्पर होती जा रही है और नय माना तथा नय मानाकरण की शोध, दिन प्रतिदिन, उत्तरात्तर आवश्यक समझी जा रही है।

भारतीय उपयासा की वणनात्मक गरिमा तो समकालीन अतिल विश्व-साहित्य के इतिहास में भी अनुपम एक अपरिमेय है—जिसका यथास्थान विशद निरूपण किया ही जावेगा। विश्व-उपयास में भी श्रेष्ठ कहान योग्य कृतियाँ वे ही हैं जिनमें वणनात्मकता के साथ ही साथ वणनात्मक बला अथवा सौंदर्य का समन्वय भी हा पाया है। विश्व में श्रेष्ठतम उपयासा में वणनात्मकता का स्थान निर्धारण करने की दृष्टि से यहाँ केवल कुछ ही विश्व उपयासा के उत्कृष्ट वणनात्मक अवतरण उदाहृत किए जा सकत हैं।

भारतीय उपयासा का सर्वेक्षण वाले (चतुर्थ) परिच्छेद में इस तथ्य का सविस्तार समझाया जा सकेगा कि लगभग दो सहस्र वर्षों के समयान्तर में, हमारे देश में, उपयास विधा की श्रेष्ठ कृतियाँ निरन्तर ही विरचित होती रही हैं। सस्कृत भाषा में रचित विश्व के महानतम उपयाम सुब-धुवृत 'वामवदत्ता', बाण कृत बादम्बरी, तथा दण्डी कृत दशकुमार चरित', उस समय रचे जा चुके थे, जब कि अधिकांश यूरोपियन देश अधगम्य अवस्था में जीवन बिता रहे थे। तत्पश्चात् भारतेतर अय समग्र एशियाई देशों में उपयाम का सर्वप्रथम प्रवर्तन जापान में हुआ। सर्वप्रथम जापानी उपयास का नाम है—गेंजी की कहानी और उसकी लेखिका हैं—मुरासाकी शिवाबू नाम की एक महिला।

१ दृष्ट-य—स्टाइल इन फ्रेंच नावेल (डा० स्टीफेन उलमन, पीएच० डी०, डी० लिट०) अध्याय १, पृष्ठ ६१ (प्र० प्र० १९५७ ई०, केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस)।



'गेंजी मोनागानारी (रचनाकाल १००८-१०२१ ई०) सम्भवतया समस्त भारत तर एशियाइ उपयासा म, सबप्रथम मुक्किसि जौपयामिक वृत्ति मानी जाती है। उपयास ५८ खण्डा म लिखा गया है जिसम से २१ खण्डा की कहानी के नामक हैं इयान दरवार के सुमस्तुत सामन्त हिकारु<sup>१</sup> गेंजी। शेष तीन खण्डा म सामन्त काओरु की जीवनी है जा हिकारु क पुत्र थे। कहा जाता है कि इस उपयास की रचना सम्मानी जोनामानिन की महचरी, श्रीमती मुरासाकी शिकाबू (६७५-१०३१ ई०) न मन्नागी की प्रेरणा से रशियामा के मठ म एकातवास करत हुए की थी जा कि जापानी राजधानी क्योता के निकट स्थित था। मुरासाकी शब्द का जय जापानी भाषा म पीतवर्णा है। उपयास म आय हुए एक उल्लेख म एसा मुझाव निहित है कि सामन्त हिकारु गेंजी न अपनी प्रेयमी का लिया था। मुरासाकी (दलाल मे उगन वाली पाले पत्तो की बह सुकोमल बलि) मर हाथ म कय गायभा ? जान पडता है कि लेखिका को यह अभियोजना इतनी प्रिय लगी कि उसने स्वयं भा यहा उपनाम धारण कर लिया।<sup>२</sup>

भारत मे तत्कालीन जापानी राजदूत, महामहिम श्री सजिरा याशिजावा क मत से इस उपयास म— तत्कालीन जापाना मामानिन रीति रिवाजा जीर सस्थाआ तथा जापान के देश कालीन वातावरण का जबूक मूल्याङ्कन जसा लेखिका न किया है उस पार कर, आश्चर्य होना है। लाक विश्रुत औरमानव निर्मित घटनाआ का विश्लेषण करत समय लक्षिका, कभी भी उनको प्रकृति की रसाचित पायब भूमि देना नहीं भूला। ऋतुआ का परिवर्तन, वसंत के सुवामल पुष्प ग्रीष्म की छाहभरी हरियाली और शिशिर की ज्वलन्त पत्रावर्ण पवता और भयाना का ढक्कन वाला तेजी से गिरनवाली बर्फ बर्यादि की सुदूर पृष्ठभूमि पर कम से कम ४०० पान इस उपयास म जवतारत हाते है और अपना नाटक खेलत है ।<sup>३</sup>

गेंजी मोनागानारी उपयास की सबसे प्रमुल विशिष्टता है उसका वणनात्मक सौंदर्य जयवा तात्त्विक। या ता समय उपयास म हा उत्तम वणना का वाहुय पाया जाता है किंतु यहा कवल रानि वणन प्राण वणन वनप्रदेश वणन आदि के ही कुछ सनात्मक अवतरण प्रस्तुत किये जा रह ह—

निम्न आकाशम चन्द्रमा उस समय भी चमक रहा था। हवा के भांग म जासपास की झाडिया झूम रही थी। उनके भीतर बैठे भीगुर बकार रहा था।<sup>४</sup>

१ हिकारु (जापानी भाषा म प्रियजन)।

२ दक्षिण—(मुरासाकी नामक अध्याय) गेंजी मोनागानारी — (मुरासाकी शिकाबू)

३ सजिरा याशिजावा नई दिल्ली स्थित जापानी राजदूत। गाहिय अकादमी की जारस प्रकाशित गेंजी का कहानी (मुरासाकी शिकाबू) का भूमिका से पृष्ठ ५७

४ गेंजी मोनागानारी (मुरासाकी शिकाबू) (रचनाकाल १००८-१०२१ ई०) अध्याय

१ लिखित्मुद्रा पृष्ठ १२ (प्रथम हिंदी संस्करण १९५७-२०) साहित्य अकादमी

‘एक बहुत बड़ी चट्टान काट कर, गुफा बनायी गई थी। इस बस्त्र घूम काफी निकल जाई थी। गेंजी गुफा से बाहर, थोड़ा जाग गया और चारों तरफ का दृश्य देखने लगा। जिस ऊँचे स्थान पर वह खड़ा था वहाँ से नीचे, उसने, अनक कुटी, इधर उधर बनी देखी। एक घुमौआ रास्ता, एक भापडी की ओर गया था। उस कुटी के चारों ओर की अथ कुटिया की तरह, पाटिया का घेरा था। कुट्टे से आये ढके हुए वे दूर के दृश्य, और जघालाकित जगना की वह अस्पष्ट पत्ति जा चारों ओर फली हुई है कितनी सुंदर लगती है। उसी आदमी ने कहा ‘नीच हम लागा के एकदम पाम हरिया म, आकाशी की प्यारी है। चारों ओर से अनंत जल गति स घिरा रहने के कारण, और दूमरी समी चीजा से अलग निचे जान के कारण, वह अतिशय विचित्र और सुनसान स्थान प्रतीत होता है। वहीं पर एक बहुत विशाल और सुंदर महल है।’

प्रातः कालान आकाश पर घना कुहरा छाया हुआ था—यहाँ तक कि पहाड़ की चिन्टिया का, चहकना भी, धीमा और अस्पष्ट मुनाइ देता था। पहाड़ के आसपास पड़ा जोर पीघा म, इतने तरह के रंग विरग पून मिले थे, कि समूचा पहाड़, रंग विरग दल-बूटा स सजाया सा, प्रतीत होता था। सबसे अधिक आश्चर्य तो उसे, हिरन की चाल पर होता था जो कभी छत्राग मारता था और कभी यथायक न्न जाता था।’

ग्यारहवीं शती ईसवी में जापानी उपन्यास विधा में ‘गेंजी मोनागातारी’ की अभूतपूर्व लोकप्रियता एवं ख्याति के परिणाम-स्वरूप ‘मानोगातारी’ परम्परा का प्रवर्तन हुआ। जिस नीति ‘बादम्बरी’ का दक्षिणतन्त्र भारत में उपन्यास विधा का सन्नात्मक हो गया, उसी भाँति, मानोगातारी का भी उपन्यास का पयाय हो गया। ‘मानोगातारी’ के शाब्दिक अर्थ तो मूलतः केवल ‘रहानी’, या ‘मनोगथा’ ही है। ‘मानोगातारी’ परम्परा, बारहवीं शती में लुप्त प्राय हो चली थी और तत्पश्चात् जापाना भाषा में, उपन्यास विधा का पुनर्स्थान, सत्रहवीं शती ईसवी के प्रारम्भ में ही पाया, जो गंगा के सिन्धु में, ‘इदा युग’ के नाम से विख्यात है। यह साहित्य शरीर सस्कृति का, नवजागरण-युग माना जाता है। किन्तु जापान में मानोगातारी परम्परा के ह्रासमान हान-हान, चानी भाषा में उपन्यास-साहित्य का अनुपम अभ्युदय देता गया। उसका क्षेत्रीय तथा विश्व उपन्यास में गण्यमाय कृति थी ‘शुई ह्यु चुआन’ (शील-तराई उपन्यास)।

‘शुई ह्यु चुआन’ चीना भाषा का सबसे अधिक विरम्भरणाय एवं महान उपन्यास है। वस्तुतः यह चीना साहित्य में, एक भाषा-उपन्यास में कही अधिक महत्त्व की कृति माना जाता है। ‘वसावतिनागर’ की भाँति, इनके मूल लेखक

१ ‘गेंजी मोनागातारी’ (मुरागाता शिकानू) अध्याय ५ ‘मुरागावी’, पृ० १२१-२३  
२ यहाँ—पृष्ठ १८७ (हिनी स्थान पर से)।

के बार में, चीनी भाषा में भी कितनी ही विवदन्तियाँ प्रचलित हैं। चिन्वाले तब यह उप-यास विश्व की अन्य भाषाओं में स्थापित नहीं हो पाया जब स महान विश्व उप-यास का, चीनी भाषाई क्षेत्र से बाहर परिचित कराने का श्रम चीन में जनमी विख्यात अमरीकन उप-यास-लेखिका श्रीमती पल एम० बक की ही है। श्रीमती पल बक को, इन उप-यास की समाजवादी विचारधारा का देख कर पर्याप्त विस्मय हुआ और इंग्लिश उद्दान उसका स्थापित आत्म नामकरण जाल में आर प्रदत्त' कर दिया।

'शुई हुआ चुआन उप-यास का अग्रेजा भाषा में स्थापित तो पर्याप्त सतापप्रद है, किन्तु उक्त नामकरण से उप-यास की कथात्मक प्रकृति के बार में भारी भ्रान्ति की सम्भावना होती है। अतएव मूल उप-यास के नाम का हिन्दी भाषा में शब्दानुवाद ही अधिक समीचीन मान कर उसे यहाँ झील तराई उप-यास ही कहा गया है। चीनी भाषा में शुई शब्द का अर्थ है पानी, हुआ शब्द का अर्थ है हाशिया या किनारी तथा चुआन शब्द का अर्थ है उप-यास। किन्तु जलतट उप-यास समस्त पद भी उक्त उप-यास की मौलिक पृष्ठभूमि के बारे में अश्रान्त धारणा प्रदान करने में असमर्थ था। अतः झीलतराई उप-यास नाम से पृष्ठभूमि का वास्तविक चित्र भी पाठक के समक्ष आ जाना है। उप-यास की मौलिक पृष्ठभूमि एक मुख्य काय-कर्म का दृष्टि में रखते हुए यह उचित होगा कि उप-यास के नाम एवं कथानक के उपयुक्त तारतम्य का तनिक समझा कर लिया जाय।

उप-यास की कथा सक्षेप में इस भाँति है कि १३वीं शताब्दी में, चीन के इतिहास में जब सुंग राजवंश का हानम होता जाता था भारत देश में राजकला का दौरा था। सम्राट हुंग चांग के शासनकाल में राज्याधिकारियों द्वारा प्रजा पीडन चरमसीमा तक पहुँच चुका था। उसका प्रत्यक्ष दन के लिए कितने ही नायक प्रिय एवं निमय व्यक्ति, एक पावत्य प्रदेश में जाकर रहने लग गए वही से जयायी शासन के अन्त की योजना बनाई गयी। एस वीरो की सत्ता १०० थी। उनसे भी विशेषतया ३६ मूर्माजा न उप-यास के घटनाचक्र में आद्योपान्त मान लिया है। य सभी एक ऐसे पर्वत पर रहने लगे थे जिसके चारों ओर एक गहरी झील थी। उस पर्वत का नाम लघु हुआ गिरि था। यह पर्वत शाटुंग प्रांत में स्थित था, तथा उसके शिखर कुहर से मंडित रहते थे। झील के चारों ओर लाल और नरसल की एक पट्टी थी। य दल चक्रान्तर हुए हुए जलमाग से सकुल थे जो कि छापमार युद्ध के लिए जाते थे। यह मानने के पर्याप्त कारण हैं कि इन तथाकथित दम्पुआ के दनकी गाथाएँ इतिवृत्त से समर्थित हैं। जन साधारण में उनकी लोकप्रियता इस सीमा तक पहुँच चुकी है कि उनकी गाथाओं का चीनी जगत, सदिया से इतानिया एवं लाङ्गीता के रूप में कर्ती सुनती चली आई है। इन भाँति 'शुई हुआ चुआन (झीलतराई उप-यास) नाम ही विद्वाही दल के उस बहुविधुत प्रदेश

को व्यजित कर देता है तथा तत्सम्बन्धी कथाओं के बार में पाठक की रोमांती कल्पना को उद्बुद्ध कर देता है।

‘भील तराई उपयास का मौलिक प्रश्न, ‘लियाग शान पो’ कहलाता है और सदियों से वह दस्यु प्रदेश ही रहा है। प्रत्येक शासन के समय में वह प्रदेश याय और यवस्था विभाग के लिये एक सरदर ही रहा है। लोकरुचि, सदा से ही, दुष्टों को दण्ड देने वाले डाकुआ की कहानी में आकृष्ट रहती आई है, इसीलिये इस उपयास की कथा भी इस हद तक लोकप्रिय रही है कि कितनी ही सरकारी अधिकारी भी उसे चोरी छुप पढ़ते थे। चिंग राजवंश के चिआ चिंग सम्राट के शासन के चौथे वर्ष अर्थात् ईसवी सन १७६६ के माघ महीने में एक राजकीय घापणा के निम्न अंश उस दृष्टि से बड़े रोचक है—

यदि कोई पुस्तक विक्रेता ‘गुई-हु चुआन की उच्छल कहानी को छापन का दुसाहस कर ता उसकी दृढता से खोज की जाय और पुस्तक की सनी प्रतिया, बुड-कट (लकड़ी के ठप्प) बनाकर तथा टाड़प जला दिये जाय। यदि कोई जाच-अधिकारी इस काय में तत्परता न दिखाय ता उसका छ मास का बतन न दिया जाय। यदि किसी अधिकारी का जानकारों में, कोई पुस्तक विक्रेता, ग्राहकों का यह पुस्तक पढ़ने को देता हुआ पाया जाय तो उसका दो बार पदोन्नति रोके जाने का दण्ड दिया जाय। यदि कोई अधिकारी इस पुस्तक के मुद्रण में सन्धिय भाग ले तो उसे कायमुक्त कर दिया जाय। यदि कोई अधिकारी, पुस्तक खरीद और पढे ता उसका एक वर्ष का बतन काट लिया जाय।’

विश्वाम किया जाता है कि मूल महाशय में मूलतः सत्तर अध्याय थे किन्तु परवर्ती प्रतिया में उनका संख्या क्रमशः ११५ और १२० तक हा गई। श्रीमती पल एस० बक ने एक मन्द-ज याया बानी प्रति का ही अपन अनुवाद का आवार बनाया है। इस उपयास के सम्बन्ध में एक विंगप राचक बात यह है कि आधुनिक साम्यवादी चाना इसे विश्व का सर्वप्रथम साम्यवादी’ उपयास मानते हैं।

‘गुई-हु चुआन का श्रीगणेश महाकाय शली में बहूत कुछ भारतीय प्रणाली में किया गया था। महाविजेता सुग सम्राट के जन्म की घड़ी का जसा चित्रविचित्र वणन किया गया है वह हमारे महाकायों के समारंभ के समान, (घम के पुनस्थापन एवं अधम के विनाश के लिए अवतारी पुण्या के जन्म की अनुश्रुतिया की भांति) पृथ्वी का भार उतारने के अभिप्राय से ही कराया गया है। उपयास के नायक सुग चिआंग की जन्म-कथा उपयास में निम्न शब्दा में वर्णित है—

१ (मूल चीनी भाषा में प्राप्त राजकीय अभिलेखा से) कालम्बिया विश्वविद्यालय के चीनी भाषा के अध्यापक डॉ० केरिंगटन गुडरिच द्वारा चीनी भाषा से अंग्रेजी में रूपान्तरित तथा उसी से यहाँ हिन्दी भाषा में पुन अनुवाहित।

‘जिस समय इस परम विवकी महापुरष का जन्म हुआ साग आकाश अचानक, लाल प्रकाश से जगमगा उठा और वायु विभिन्न सुगंधियां म मटक उठी। यह दृश्य रात भर बना रहा क्योंकि वास्तव म वह स्वयं वष्य और प्रकाश के देवता का मानव शरीर म, अवतार था।’

उप-यास, एक से एक अनुपम वणना से समृद्ध है तथा समग्र उप-यास ही आद्योपात्त वणन प्रधान शक्ती म ही रचित है। इस उप-यास म चीनी जनसाधारण के जीवन का वास्तविक चित्रण मिलता है। पूरे उप-यास म चीनी लोग की तत्कालीन वेशभूषा और उत्सवादि जाति के वणन तो हैं ही पर उसमें वर्णित वास्तविक लालित्य मय वणन तो उसमें प्राकृतिक परिवर्णन क हैं। भीला नदियां नालो, हिम मडित पर्वता, दलदला दलपल म उगनवाली घासा वृक्षो और पशु पक्षिया सभी के बड़े ही कलात्मक वणन पाए जाते हैं—इसके अनिश्चित प्रकृति के बदलते हुए ‘भूडस के भी अत्यन्त विलक्षण वणन इस हजारो पृष्ठ वाले उप-यास म भरे पडे हैं।

भील तराई उप-यास म अनेक स्थला पर भवनों एवं मंदिरा आदि के भी बड़े सुन्दर चित्रण पाए जाते हैं। उदाहरणार्थ अतिरिक्त की दवा द्वारा उप-यास के नायक सुम चिआग का तान दिव्य पुस्तका का उपहार दिया गया है। यह वणन जागृत स्वप्न जसा चिनित्र किया गया है तथा अत्यन्त विलक्षण वणन प्रतिभा समुत्त है। इकतालीसवें अध्याय म, सुग चिआग का नवें अतिरिक्त की दवा तीन पुस्तकें भेंट करती है और उस उसमें दिव्य अवतार का पुनः स्मरण कराता है। इस अध्याय म उप-यासकार ने आद्योपात्त, अनिमानवीय स्वप्नित वातावरण का अनुपम रहस्यमय वणन-कौशल के साथ रूपान्तर किया है -

भारी सक्कट से प्राण बचाने का प्रयत्न करता हुआ सुग चिआग, सयागवश, दवताशा के कुज म जा पहुँचा। उस विस्मय हो रहा था कि उस प्रदेश म बहुधा जान जाने पर भी उसने कभी वह स्थान देखा नहीं था। इतने में ही आसमानो रग के वस्त्र पहन दो युवक उसके सामने आदर के साथ सटे हो गये। उन्होंने कहा हम देवी न यह आदेश दिया है कि हम नक्षत्रों के अधिपति की सेवा म पहुँच कर कुछ निवेदन करें। सुग चिआग जब यह कह गया। उन युवकों ने फिर कहा— हे नक्षत्रों के अधिपति! साच विचार का, और देरी करने का समय नहीं है। दवा दर से प्रतीक्षा कर रही हैं।’

सुग चिआग ज्या ही जाग बढा ता उसने जानमाना रग म परिवर्णित दो कुमारिया की दवता के सिंहासन के इधर उधर खड़े पाया। उसे चारा ओर से आवाजें जाती सुनाई दीं हैं नक्षत्रों के अधिपति। तुम्हें देवी आमंत्रित करती हैं। सुग चिआग ने उन्हें हटाये और जान बढा ता क्या देखता है कि दो नीलवसना दिव्य

सेविकाएँ, उसका सामने, परती पर सिर झुका कर, नमस्कार कर रही हैं। उनका बाल, जूहे के रूप में, सिर के ऊपर बँधे थे। सुग चिआंग, मद्रमुग्ध था। तमी के बानी—दबी की आला में हम आपको महल में ले जाना का आई हैं। दग मीनि सुग चिआंग, दिव्य सविकाजा के पीछे चला। जब वह अदरक, मीनरा आंगन में पहुँचे, तो एक ओर की दीवार में उस एक दरवाजा निगार्द दिया और दिव्य सविकाजा के कहन पर, सुग चिआंग न जब उसमें प्रवेश किया, तो उसने अपने आप को एक परम मनाहर रमणीक माग में चतते हुए पाया।<sup>१</sup>

‘आकाश में चाँद-तारे लिले थे और वायु माहव सुगचिआंग से परिपूण थी। दो महाकाय चीठ के पट्टों के बीच से एक भोगीहर जगनी माग था, जो पूना से महक रहा था। सभी वृक्ष-वनस्पति, विचित्र और अनजानी हा जात पडती थी। पीले पत्थरा से बने एक पुल पर होकर ये एक साल जालीदार पाटक पर पहुँचे और उसमें जात ही उसने, अपने आपको एक विशाल दवानय के बीच पाया। ये उस अजगरा की आकृति से मण्डित आंगन में बड़े ताँ दोना बार वरामदा में, जरी के पर्दे पडे हुए थे। मध्य में, दिव्य सिंहासन अमरय मोमवत्तिया के प्रकाश से जगमग था। आन का कितनी ही दिव्य सविकाजा न घापणा की—“नक्षत्रपति, द्वार पर उपस्थित हैं।” तब सुग चिआंग ने, पवित्र सिंहासन और पर्दे के सामने, माया टप कर नमस्कार किया। अब पवित्र पर्दे के पीछे में मुनाई दिया—नक्षत्रपति आसन ग्रहण करें।”

‘तब सेविकाजा ने उस एक चींगी के आसन (पट्ट) पर बठाया। तमी मंदिर मर में यह स्वर गूँज उठा कि पर्दा उठा दिया जाय। कई सविकाजा ने रत्नजटित पर्दे को उठाया, और उस दा स्वणिम पुस्तका पर रग किया। उस देवीन सुग चिआंग से कुशल माग पूछा और उसका शिष्टाचारन वरत्न का बहा। जत्र सुग चिआंगन, साहस करके सिर उठाया तो उस आन और जवाटिरान की जगमगाहट दिखाई दी—अजगर की आकृति के दीपस्तत्र और अमरविहग की आकृति के शमादान जल रहे थे। सिंहासन के दोना बार, कितनी ही नील बसना सविकाएँ पवित्र राजदण्ड, तोरण पताकाएँ और एक विशाल पत्ता लिये हुए, निगार्द दी। और बीच-बीच में अजगरा की आकृति के और सात बहूमूल्य धातुआ के बने, सिंहासन पर, स्वयं देवी विराजमान था।

दबी न लाल रंग के रक्षमी सुनहरी वाम के वस्त्र पहन रखे थे। और उसके एक हाथ में, रत्नजटित गुध्र राजदण्ड था। दबी के रूप का वपन क्या किया जा सकता है। दबी ने सुग चिआंग का, पवित्र मंदिरा और पवित्र खजूर से स्वागत किया। तत्पश्चात् देवी के आदेश से, दिव्य सविकाजा ने पर्दे के पीछे से, मंदिर के अदरक से एक नाली थाला में पीले रक्षम में लिपटे हुए एक पवित्र पुस्तका के बस्ते का लाकर भेंट किया। उसमें तीन धार्मिक पुस्तकें थीं। अतः देवी न उसे,

है। वहीं, नैसर्गिक परिवर्तन के बीच गढे हुए किरान के मन के हृष विपल का चित्रण है ता वहीं चीनी लोकजीवन के छोटे से छोटे पहलुना—वान पान धार्मिक सस्कारा तथा हाट बाजार, गभी के चित्रवन वगन पाठन को वररन ही, समाजवादी नानि से पहले के चीन देश म, माना मदेह ही पहुँचा देने म सभम हो पाते हैं। उपयाम का नायक है बाडलड गामर एप अत्यन दग्धर चीनी कृषक मजूर जिसन धय एव अघ्यवसाय-भूवक जीवन सघष लड कर अन्त म सभान परिवारी की विनिष्टता प्राप्त कर ली। बाडलड के परिवार की यह वृहरनथा उसरे वटे-माना तक चाल रहती है जो समृद्ध किसान के शिष्टानारमय जीवन के प्रतीक के रूप म विशद रूप म चिन्तित की गई है। बदलते हुए समयक प्रवाह म बाडलड की श्रम-गाथा सचमुच 'मद्य मनावाव्य बहाने की अधिकारिणी है। समग्र उपयाम एक से एक अनुपम वणना सं ग्रथित सा है। कृषक का रुखा सूना जीवन घरती से उसकी ममता वर्षा के मेघों की सनन प्रनीशा दुष्काल अनाष्टि भूष गरीबी ममी के वणन लेखिका की सवेदनशाल सतनी द्वारा सजीव एव साभान हो उठे हैं। उपयाम का नायक गरीब तथा तरण किसान बाडलड जो एक लस कया का थडा घन देकर एक सामनी महल से अपनी परिणीता पत्ना बना कर लाया तमी से म्भ महान लोक उपयाम का प्रारम्भ इस सरल वणन द्वारा होता है—

बाडलड के अन्तर म बमा वाना कृषन हृदय सहसा ही क्षण भर के लिए अपने खेत की मुबुलित शस्य की वाला की जोर जादृष्ट हुआ जिनमे अभी तक दाने नहीं मर पाए थ। व अभी भी लाती थी जोर वर्षा की बाट जोह रही थी। उसने हवा की मध से पहचानने का प्रयत्न किया और फिर सहसा उमके चिन्तातुर नयन आकाश की ओर उठ गग। नमोमण्डल म जल था जो बादला के कालेपन म झलक रहा था और जिसके कारण हवा बोभिन हा चनी थी। तमी उसके मन म यह विचार उदित हुआ कि कयो न वह एक धूपवती खरील लाग और उसे घरती के अधीक्षक देवता (शालिग्राम) की छोटी सी मन्दी म जना कर रन आय। हा जाज के जसे दिन तो उसे यह करना ही चाहिए।'<sup>१</sup>

अपनी नवागता पत्नी की लेकर बाडलड अपने गाँव के खेत म प्रतिष्ठित घरती के देवता की मंडा म (नव न्पत्ति द्वारा पूजा के निमित्त) गया। मदिरे व मीतर छत के नीच पास पास बठी हुई दा न हँ किन्तु गम्मार मुख मुन वाली आकृतिया थी। वे मिट्टी से निमित्त थी और उहाने अपना रूप जासपास के खेता का मिट्टी से ही ग्रहण किया था। वे घरती के दवता तथा उनरी अर्वांगिनी देवी थी।

१ 'दि गुड अय' (पन सि० वक) अफ्याय १ पृष्ठ ६ (मन १६५६ ई० मे यूयाक स प्रकाशित कार्डीनल-सस्करण से उदधृत) (प्रथम प्रकाशन, सन १६३१ ई०)।

उनकी बेशुभवा लाल और चमकीले चटकदार कपडों और कागज की पत्रिया से बनी थी।<sup>१</sup>

हर साल, (नये साल के दिन) वाइलड के पिता, लाल कागज खरीद कर लाते थे और यत्नपूर्वक उसी से तराश कर व देवदम्पति के लिए नये परिधान तयार करते थे। हर साल, वर्षा, हिमपात और ग्रीष्म का तपती धूप, सभी उन पर बरसते रहते थे जिनसे उस परिधान की चमक और रंग फीके पड़ जाते थे। वाइलड की नवागता बधू सोच रही थी कि वह अपने पहले बेटे को, एक लाल रंग का कोट और लाल प्ला की छोट वासा पायजामा पहना कर, पहले पहल उस सामन्ती जमींदार के महल में ले जाएगी, जहाँ कि उसने अपना प्रथम दास्य जीवन अकिंचनता में बिताया था। वह अपने नवजात शिशु के टोप पर नहीं सी चमकती हुई बुद्ध की मूर्ति सियेगी और उसके परो में, बाघ की आकृतिवाले, नये जूत पहनायेगी।<sup>२</sup>

नोबेल पुरस्कार विजेता, दूसरा वणन प्रधान उपन्यास है—अर्नेस्ट हेमिंगवे कृत 'जोल्डमेन एण्ड दी सी' (१९५४ ई०)। 'जोल्डमेन एण्ड दी सी' (बूढ़ा और सागर) की रचना, 'गुड जय' के लगभग एक पीढ़ी (टैईस वर्ष) के बाद की है। इसके लेखक हेमिंगवे एक ऐसे उपन्यासकार हुए, जो जीवन के निरीक्षण एवं चित्रण में ही नहीं बरन जीवन को आग्रह एवं उन्माहपूर्वक जीने और फिर उसे शब्दा में वर्णित करने के सिद्धांत के भी पक्के विश्वासी थे। वे अपने जीवन-काल में प्राय सभी व्यवसाय अपना चुके थे। मछुआरा के जीवन से प्रारम्भ करके, वे शिकारी के जीवन तक विभिन्न व्यवसायों में निमग्न रहे। स्पन में जाकर वहाँ के प्रसिद्ध लोक मनोरंजन साडो से द्वन्द्वयुद्ध (बुन फाइटिंग) में भी उन्होंने कुशलता प्राप्त की और द्वितीय महायुद्ध में सैनिक बर्दाहन कर, वे सैनिक का जीवन बिगाने के लिए भी गए। अफ्रीका के सघन वनों में व, आविष्कारक एवं शिकारी की भाँति बरसों भटकते रहे और अंत में बंदूक की नंगा साक करने हुए सन १९६१ ई० में, उनका एक दुर्घटनावश देहात हो गया। इन सभी जीवन अनुभवों के एक से एक अनूठे वणन उन्होंने अपने महान वणनात्मक उपन्यासों में चित्रित किए हैं।

'दि सन आल्सो राउजेज' में, पेरिस से स्पन तक एक परदेशी घुमक्कड़ की भाँति जीवन बितान और साडा में द्वन्द्वयुद्ध जादि के विचित्र दृश्यों के वणन चित्र अंकित करने में उन्होंने कमाल हासिल किया है। फार ह्म दि वन टोल्म' में द्वितीय महायुद्ध में सैनिक जीवन का सजीव चित्रण है और एफ्रास रि रिवर एण्ड इनटु दि ट्रीज' में अफ्रीका के सघन वनों की एक से एक अनोखी दृश्यपट्टियाँ का रोमांचकारी चित्रण पाया जाता है। अपने अंतिम एक नोबेल पुरस्कार विजेता उपन्यास 'जोल्डमेन एण्ड दी सी' (१९५४ ई०) में हेमिंगवे ने मछुआरा के जीवन-संघर्ष की गाथा को एक ऐसी तीव्र



गतिमयी वणन शली म चित्रित किया है जिसे पत्न ही बनता है। समुद्र की लहरा में भयकर ह्वेल तथा शाक महाभरत्या से, निभय होकर जूझने वाले मछुआरा के, जन्म्य साहसपूण एव सतत मृत्यु से टकराने वाले दनिर जीवन को एक से एक जमूडे चित्रवत वणना के माध्यम द्वारा हेमिंगसवे न अपनी परम सरल एव सीधी साठी भाषा में, मानासागरकी उत्तालतरगा मे बाँध डाला है। सनटियागा क सागरतट पर बसने वाले मछुआरो की स्थानीय बोला का लहजा भी, जहा वहाँ इन वणना को स्वाभाविकता प्रदान करता चलता है।

उक्त दाना विश्व उप-यास, आधुनिक युग की उप-याम विधा की दो विविध अछूती एव मीलिक वणन भूमिया को रूपायित करत है। आज एक ओर जब आधुनिक सभ्रात एव भ्रात नागरिक जीवन विश्व की बरलती हुई अथव्यवस्था तथा नव-सामाजिक मायनाआ द्वारा छिन भिन होता जाता है तब गुगयुगा स चले जाने वाले ये लोक जीवन यापन के, पुरातन व्यवसाय और उनमें निरत, बहुसख्यक नरनारिया की दुनिया, उप-यासकार की वणन प्रतिभा का (कमी न चुकने वाली वण्यवस्तु के लोक में पहुँचा कर) नित्य नव नव अवसर प्रदान करती है। यह प्रकृति की शाश्वत किन्तु पल-पल पलटने से रमणीय पृष्ठभूमि नितान पुरातन होन हुए भी सदब चिरनवीन ही बनी रहती है।

सन् १९६५ ई० म गोल्ड मन एण्ड द सी के लगभग बीस वष पश्चात नोबल पुरस्कार से सम्मानित 'धीरे बहे दोन र (क्वाइट फ्लोज दि डान) सोवियत रूस के महान आधुनिक उप-यासकार श्री मिलाइल शोलोखोव (जम १९०५ ई०) की जमर कथाकृति है। आलोचका ने धीरे बहे दोन र को गद्यमहाकाव्य की उपाधि प्रदान की है जो सर्वांश मे औचित्यपूण मानी जाएगी। शोलोखोव ने इम चार जिल्दो म पूरा हाने वाले महा उप-यास वा सन १९२६ ई० मे लिखना प्रारम्भ किया था और उसका चतुथ और जन्तिम खण्ड सन १९४० ई० म सम्पूण हो पाया था। शोलोखोव क उप-यासो की एक बड़ी विशिष्टता यह है कि उनम रूसी जनता और उसके कज्जाक कबीला क जीवन का सच्चा प्रतिबिम्ब मिलता है। इस उप-यास का विश्व की ५९ भाषाओ म अनुवाद हो चुका है। उप-यासकार शोलोखोव सोवियत सघ क सर्वोच्च सावियत के डिप्टी भी हैं और बहा की राष्ट्रीय विज्ञान अकादमी के सदस्य भी हैं। वणनात्मकता की दृष्टि से उप-यास म अनेकानेक चिरस्मरणीय वणन हैं। इन वणनो म दान नदा के अचल की नमगिक छटा का वणन कितन ही विभिन्न रूपरगा एव विविध शोभा चित्रपटिया द्वारा चित्रित किया गया है। उदाहरणार्थ उप-यास के इस चिर-अविस्मरणीय प्रारम्भिक वणन को ही ले लें—

'मेलेखोव परिवार का फाम गाँव के जन्तिम छोर पर था। उत्तर की ओर डारा के बाडे का फाटक था। फाटक दोन वा जोर खुलता था। बाडे के बाद पचाम फुट लम्बा डाल था। विज्ञान की गविया काई से मपी हुई थी। ऊपर की ओर

गम्बूक के सीपा का पसारा था, बाद में गोल, चिरने पत्थरा की, जहाँ तहाँ टूटी पट्टी गी और इसके नीचे, नदी की इस्पाती नीली सनह थी। लहरियों को, हवा के थपेड़े, रह रह कर, छेड़ जात थे। पूव में, बँतों की टट्टिया वाले खलिहाना के पार, हेतमान का चौड़ा रास्ता था। चिगयते की भूरी झाड़िया थी जानवरों के खुरा से रौंदी, जगली घास के, हलके भूरे गगिन झाड़ थे, चौराहे पर सडा मलीव था, और फिर क्षण क्षण पर छा जान और बट जाने वाली धु ध से लिपटा, स्टगी का मान था। दक्षिण में, खडिया की पहाडिया का मिलमिला था। पश्चिम में सडक थी। मडक, चौक को पार कर चरागाहों की ओर जा निकलती थी।<sup>१</sup>

इसी प्रमगसे थोड़ी दूर जागे चल कर, तीसरे अध्याय में, दोन नदी की मनोरम दृश्यपट्टी के एक अन्य चित्रवत वगन का जवलोकरन कीजिये—'दोन के आर-पार, चाँदनी की, निरछी लहरदारकिरणें बनी रही। नदी के ऊपर लटफ रही धु ध, जीर धु ध के ऊपर जनाज के छितराये हुए दाना जमे जगमगाने, ताये। ऐस में, घोड़े ने, पर, बटून समाल-ममाल कर जमाय। पानी की जोर का ढाल खराब था। दूर से बत्तखा की आवाज आई। कठार के पाम द्यिदल पानी में, एक मछली का छपाका हुआ, जैसे उमन किसी छोटी मछली पर झपटटा मारा हा।'<sup>२</sup>

बग्जाकिस्तान के एक बाहड भूखण का दृश्यपट भी, वगनकला द्वारा माना साक्षान ही उठना है—'रान का उठाने एक डूह के पाम डेरा डाला। डूह के ऊपर का हिस्सा रेतीला था। पश्चिम में मध जमा होने लगे जीर उनके बाले पखों से, पानी की बूदे चूने लगी। घाडा को, पाम के ताल में पानी पिलाया गया। पास की पुनिया के ऊपर के उपास सरपत हवा के जाग भुक भुक जाते थे। ताल की छोटी छान्नी लहरियों पर चिजली चमरी ता उसरी परछाई बार-बार टूट टूट जाती थी। हवा, वर्षा की बूण का इस तरह इधर-उधर छितरान लगी जैसे धरती की काली हथलिया पर मिक्षा-गन के टने, फेंक रही हो।'<sup>३</sup>

यागोनोए जागीर का हराभरा एक चित्र विचित्र कोना कसी मनारम प्राकृतिक शामा से सयुक्त है। शालावाव की वगन प्रणाली तथा चुनी हुई सनात्मक शब्दावली, किस भाँति शक्तिचित्र बनाती चलती है यह चित्रात्मक कला सचमुच अपने में अनुपम ही है—

'यागोनोए की जागीर एक चौरी घाटी में या स्थित थी मानो बीच में स उग आई था। हवा, बनी दक्षिण की ओर में बहती तो कभी उत्तर की दिशा से।

१ 'घोरे बहे दोन रे' (मिखाइल शालावाव) हिन्दी रूपांतरकार—श्री मापीकृष्ण 'गोपेश (गजकमल प्रकाशन, १९६५) पृष्ठ ६ (भाग १, अध्याय १)।

२ यही, (भाग १ अध्याय ३) पृष्ठ २८

३ यही (भाग १ अध्याय ४) पृष्ठ ४६

सूरज, आसमान की नीलम सपेदी पर, लहरें लेता । सूर्या की किरणें पाले स मडी रहती । पर यागोदनीए, ज्यो वा त्या जडना म जडा रहता । दिन, जुडवा वच्चो की तरह, बीतते जाते और जागीर सारी दुनिया से बटा रहती । फाम के अहाते म, काली बससा की चहल-महल अब भी रहती । उनकी आँखा के चारा ओर के काले घेरे, धममा-से लगते । गिनी के मुँगे, दानेदार बूदा की माँति चारा जोर बिखरे रहते । मुँदर परा वाले मोर अस्तबल की छत से 'पी-कहा । पी-कहाँ' करते । बद्ध जनरल को हर तरह के पछिया वा शोक था । उसके पास एक पालतू सारस भी था । नवम्बर मे जब वह जगली सारसा को दक्षिण की ओर जाते देखता तो उसके बठ के स्वर, उसके दिल की तडप और कल्प को, वाणी देने लगत । वह उड नहीं सकता था, क्योंकि उसका एक पंख बेकार था और एक ओर को झूलता रहता था ।<sup>१</sup>

अतः म सितम्बर की उदास साँझ के एक वणन के साथ इस लोक महाकाव्य के एक से एक अनूठे वणन की भाँकी पर पटाशेष करना ही हागा जा कि शोलो खान की चित्रात्मक वणनवला वा एक अथ पक्ष पाठक के समग्र समुपस्थित करता है—

लिन ढलने लगा । सितम्बर की स्थिरता को मधुरिमा जीर शांति दुलराने लगी । आसमान से गर्मी की झलाचल चमक माना किमी ने छीन ली और वह धुंध से नहाया-सा पेट, उसी के रंग का, हो उठा । सेव की पतियाँ भगवान जान कहाँ स जाकर खाई पर बैंगनी रंग छिटका गइ ? सबक पहाडिया की लहरदार चोटिया पर जाकर, अदृश्य हो गईं जीर क्षितिज, पान की तरह हरी, और सपन की तरह धुंधली रेखा को पार करने की बेकार काशिश करने लगा । अपनी भोपडियों और रोजमर्रा के चक्र से बड़े लोग मशकत से दूटते रहे और खलियान म घकान से चूर होते रहे । रास्ता भित्तिज पार कर अज्ञात जगत म ढलता रहा । हवा उस रास्ते पर सर्राटे भरती और घूल के बादल उडाती रही ।<sup>२</sup>

श्री शोलोखोव की क्वाइट पन्नोज दि दोन (धीरे बहे दोन रे) की रचना सन १९४० ई० म हुई थी और उसे विश्व-साहित्य का नोबेल पुरस्कार मिला सन १९६५ ई० म—लगभग एक पीढी गुजर जाने के पश्चात् । यह अस्वाभाविक साहित्यिक घटना वस्तुतः साहित्य-समीक्षा के पुराने रूढ माना के ह्रास और नई पीढी के नये माना का एक सामयिक प्रतीक मात्र है । प्रकट है कि विश्व भर के शीघ्र साहित्य समीक्षक (जो सर्वोत्कृष्ट विश्वजनीन महत्व का कृतियों का निर्वाचन करते हैं) जब उप-यास गत वणनात्मकता एव उसकी कलापुण अभियोजना को उत्तरोत्तर महत्व प्रदान करते जाते हैं, तथा वे इस विधाविशेष की इस सबप्रथम विशिष्टता का पहचानने लगे हैं ।

१ 'धीरे बहे दोन रे' (मिखाइल शोलोखोव) भाग २ अध्याय १० पृ० २५१  
२ वही (शोलोखोव), भाग ३, अध्याय १६, पृष्ठ ४१३

विश्व की कुछ सर्वश्रेष्ठ एवं प्रतिनिधि औप्यासिक रचनाएँ एक-एक करके एक-एक प्रतिनिधित्व वणनात्मकता एवं वणन विशिष्टता के चोकर, उक्त सक्षिप्त औप-यासिक पर्यवेक्षण के परिप्रेक्ष्य में ही हम अपने स्वदेश की आधुनिक भाषाओं में परिलक्षित अभिन्न औप्यासिक समृद्धि तथा उसकी समान वणनात्मक चित्र विचित्र इन्द्रधनुषी छवि के सम्यक् दर्शन कर सकते हैं। भारतीय भाषाओं में अपने चिर-स्मरणीय उपयोगिता की रचना करने वाले हमारे आधुनिक उपयोगिताकार वणनात्मकता के विविध क्षितिजों का आविष्कार एवं विकास करते जा रहे हैं। भारतभूमि की विशाल एवं व्यापक चित्र विचित्र विविधता उन्हें उसके लिए जक्षय इग्न प्रदान करती है। उसकी विविधा नसगिक पृष्ठभूमि में विकसित पुरातन भारतीय जन उद्योग तथा उनमें निम्न-कोटि-भारतीय जन साधारण के लाकजीवन की, सच्चे अर्थों में वे ही प्रतिनिधित्व करते रहते हैं। वे भारत के बदलते हुए जन जीवन का सच्चा इतिहास भी निर्मित करते जाते हैं जो आने वाली शतिका में, भाषी पाठकों का अपनी मनोरम विविधता द्वारा शाश्वत, रजन भी करता रहेगा। आधुनिक भारतीय उपयोगिताकार कृषि, गोपालन, मत्स्य शासन, पत्तोधान आदि से संबंधित हमारे शतावधि उद्योग धंधा तथा उनसे संपृक्त जनजीवन की छाया छवि को अंकित करने में प्रवृत्त हैं तथा उनकी विविधा वणनकला उनकी प्राकृतिक पृष्ठभूमि—वन, पर्वत, नदी, सरोवर, चरगागाह, सागर-तट इन सभी की रूपराशि में अक्षय रमणीयता के रंग से, सहस्रावधि उत्कृष्ट आधुनिक भारतीय औप्यासिक कृतियों में रग भरनी रहती है।

आधुनिक हिन्दी उपयोगिता-साहित्य की जनकानेक महत्वपूर्ण उपलब्धियों की निरस्य ही विश्व उपयोगिता की वणनात्मक गरिमा से समृद्ध हैं। समयान्तर में उन्हें भी उपयुक्त शैली-व्युत्पन्न उपयोगिता की भाँति ही देर-सवेर विश्व-साहित्य-समीक्षा की स्वीकृति प्राप्त होगी किन्तु उनके बिना भी वे कम महान नहीं हैं। श्री प्रेमचन्द कृत गोदान एवं श्री वृंदावनलाल वमा कृत मृगनयनी ऐसे ही शाश्वत वणनात्मक महा-उपयोगिता हैं। आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी रचित चारु चंद्रलेख भी एक उन्हीं की कोटि का गद्य महाकाव्य माना जाएगा। परिवेश को दर्शन के समान प्रति च्छादित करने वाले श्री फणीश्वरनाथ रेणु कृत मला आचल और परती परिविधा भी दो वणनकलायुक्त सनात्मक उपयोगिता हैं। सागर-तटवर्ती मधुआरा के जीवन की व्यक्त करने वाली अविस्मरणीय औप्यासिक कृति सागर लहरें और मनुष्य (श्री उदयशंकर भट्ट) तथा नगी-तटों पर आजीविका निर्वाह करने वाले मल्लाहों का जीवन को व्यक्त करने वाले वरुण के बेटे (नागाजुन) भी अपनी अपनी दृष्टि से वणनात्मक कला की नयी भूमिमात्रा की खोज करते हैं। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी का रघुपुत्र तो समग्र अमम घाटी का ही रूपवित करने का एक विशिष्ट वणनात्मक उद्योग है। प्रकृत है कि यह सूची महज ही में संपूर्ण होने वाली नहीं है। अन उन्हीं की महजानि

कुछ जय आधुनिक भारतीय भाषाओं में विरचित, मना मरु वणनात्मक उपायों का उल्लेख भी, यहाँ किया जाना समुपयुक्त होगा।

हिंदी उपन्यास के पश्चात्, वणनात्मकता की नई प्रणालियाँ के परिज्ञाधन में, वगला उपन्यास न भी पर्याप्त प्रगति एवं मौलिकता का परिचय दिया है। श्री विभूति भूषण वयापाध्याय कृत धातु देवता श्री माणिक-वयापाध्याय कृत 'पदमाननीर माभी', श्री समरेश वसु विरचित 'गंगा' पर्याप्त वणन-समृद्ध चिरस्मृत कृतियाँ हैं। गुजराती उपन्यासकार श्री पनालाल पटेल कृत 'जपेशाहून आधुनिक औपचारिक' कृति 'मलेला जीव तथा स्वर्गीय श्री भूवेरचंद मेघाणी-कृत सारठ तारा वहेता पाणी' शाश्वत वणन प्रदान उपलब्धियाँ हैं। केरल के सागर-सेटवनीं मत्रुआरा के जीवन की 'चेम्मीन भी एक महान वणनात्मक औपचारिक प्रतिच्छवि है जिसके प्रणेता हैं श्री तकापि शिवशंकर पिल्ल। वस्तुतः आगे आने वाले भारतीय उपन्यास के सर्वेक्षण नामक अध्याय में ही उपन्यास विधा के इस समृद्ध पक्ष पर और अधिक विवरण सहित विवेचना की जा सकेगी। यहाँ ता उनमें से कतिपय सप्तात्मक कृतियाँ का उल्लेख, विश्व उपन्यासगत समान वणन गरिमा से अनुप्राणित रागात्मिका अन्तर्चेतना की जोर केवल इंगित करन के हेतु ही किया गया है। विश्व उपन्यास के सभी गौरव तथा के बीच, यदि कोई एक, समानता का अनुभूत प्रसरित है तो वह है उन सभी में परिचायित भुवन तथा जन्मियजना मनागम उनकी समान वणन वनामिरम्यता एवं उनकी सम्य वणनात्मक प्रतिभा।

संसार की महानतम औपचारिक कृतियाँ की सब से बड़ी विशिष्टता है उन सभी में परिचायित एवं प्रतिविम्बित प्रभावोत्पान्नि वणनात्मकता। उपन्यास विधा में ज्या ज्या इस गुण विनाय का विकास होता गया उसका साहित्यिक गरिमा में भी अभिवृद्धि होती चली गई। अतः हम देर-सवर इस तथ्य को अनिवायत स्वाकार करना ही होगा कि यदि उपन्यास विधा की कोई एक ही समान एवं एकसम्मत् मूल्यांकन कसौटी कभी निरूपित होगी तो उसमें सदाधिक महत्व, उपन्यास विधा की अपनी निजी विशिष्टता अर्थात् तदगत वणनात्मकता को हा लिया जायगा।

प्रस्तुत परिच्छेद में उपन्यास विधागत वणनात्मकता के प्रसंग में जितना भी विचार विमर्श किया गया है उस सबका मुख्य अभिप्राय यही है कि जब भी कभी उपन्यास विधा की नई समीक्षा पद्धति का नवनिर्धारण किया जाये तो उसमें इस सवार्थिक महत्वपूर्ण तथ्य की अवहेला न की जाये।

उपन्यास जसी प्रगतिशील साहित्यिक विधा की समीक्षा पद्धति में, श्रान्तिकारी परिवर्तन जब, अवश्यम्भावी है। शीघ्र ही इस ओर हमारे विद्वान समीक्षकों का ध्यान जायगा जिस भाँति कि पाश्चात्य समीक्षा पद्धति की प्रयागात्मक अवस्था तथा उसकी

उप-यास विधा के मूल्यांकन में सामर्थ्य हीनता की बात, स्वर्गीय श्री ई० एम० फास्टर जैसे उप-यास प्रणाली को एक समीक्षका की भी, खटकती थी, जिसमें ऊपर कर उन्होंने चित्रलयात्मक वणनात्मकता (पटन एण्ड रिदम) जैसे उप-यास मूल्यांकन सम्बन्धी, अभिनव मानो की राज करन के लिये अनिवार्यता अनुभव की थी।

इसमें भी पुनः सन् १९६६ ई० में फ्रांसीसी भाषा में, साहित्य समीक्षा के प्रसंग में सबसे प्रथम चित्रलयात्मकता पदावली का प्रयोग प्रचलित हो चुका था। जिसके सम्बन्ध में एफ० ब्रूना नामक फ्रांसीसी भाषा एवं साहित्य के प्रख्यात इतिहासकार ने, लिखा है कि इसके कुछ वर्षों पश्चात् ही अंग्रेजी भाषा में इस पद को फ्रांसीसी भाषा से ग्रहण कर लिया गया था। यह पूछ विवेचित किया ही जा चुका है कि प्रचलित अंग्रेजी साहित्य समीक्षा में उप-यास विधा के मनमाने मानीकरण का फील्डिंग जैसे अग्रणी उप-यास के जाय प्रवक्तों एवं साहित्य ममता ने किस भाँति तीव्र विरोध किया था। फील्डिंग ने तो यह दावा भी किया था कि जब अभिनव उप-यास लेखक, अभिनव अभिव्यञ्जना प्रणाली का लेकर उप-यास विधा को, नया विनाम देने चले हैं, तो इस प्रकार की मनमानी समीक्षा नियमावली द्वारा उनका मूल्यांकन, कब किया जा सकता है ?

वैसे तो नया साहित्य से [साहित्य रचना एवं साहित्य समीक्षा दोनों ही क्षेत्रों में] अपना निजी विशिष्टताओं के अनुकूल श्लाघनीय तत्वा और सुझावों का स्वीकार करने में कोई हानि नहीं है क्योंकि वाटमयगत मौलिक, समात्मक प्रेरणा तो विश्व भर में सभी साहित्यों में समान ही रही है। किंतु हर देश और जाति की अपनी निजी जातीय एवं राष्ट्रीय दार्शनिक एवं तात्विक चिन्तन प्रणाली हुआ करती है जिसका व्यापक प्रभाव, उस जाति अथवा राष्ट्र विशेष के साहित्य-संजन में परिव्याप्त रहता है। इसलिए एक भूभाग में प्रचलित साहित्यमान को, दूसरे भाग में विकसित होने वाले वाटमय के मूल्यांकन में ज्या का त्याग अपनाया जाना भी समीचीन नहीं माना जा सकता।

उपयुक्त तथ्य का विशिष्टतया भारत जमी साहित्य-संस्कृति की पुरातन धराहर वाली ज्ञान भूमि में,—घटाने की, और भी अधिक आवश्यकता है क्योंकि हमारे यहाँ की साहित्य-भृजन एवं साहित्य शास्त्रीय परम्पराएँ, दाना ही मुप्राचीन हैं। इसलिए हमारे विश्व यह किता भी भाँति भाँति उचित नहीं है—कि हम अपनी निजी वाटमय परम्परा का तत्पश्चात् अध्ययन अनुसंधान से बच कर, अपना युग पश्चीन उप-यास विधा के समान विकसितशील एवं प्रगतिशील साहित्यिक प्रवृत्तियाँ का मानाकरण के लिये कोई गुलम पगन्दी निवाल लें और इतना कर लेने पर ही सन्तुष्ट होकर बठ जायें। इस तथ्य का दृष्टि में रखते हुए, आधुनिक हिन्दी साहित्य के पुरस्तरता अनेक विद्वान तथा प्रतिभाशाली उप-यासकारों तथा आलोचकों ने पुरातन भारतीय कथात्मक परम्पराओं के विषय अध्ययन एवं उनके इतिहासत्मक अनुशीलन की आवश्यकता का

अनुभव-विद्या है जिसका श्रीगणेश उन्नीसवीं शती के उप-यास-स्रष्टा स्व० श्री विजारी लाल गोस्वामी ने किया था।

कुछ शीघ्र ही उप-यासकारा एवं समीक्षका ने उप-यास का भी, महाकाव्य की ही सहजाति की एक उत्कृष्ट साहित्य विधा माना है और इन दोनों वणनात्मक साहित्य रूपा के बीच, कबल गद्य एवं पद्य में रहे जाने का माध्यम अन्तर को ही उन्होंने उनके बीच की विभाजन रेखा कहा है। इस दृष्टि से उप-यास विधा पर दृष्टिपात करने से भी हमें उसकी वणनात्मकता का महत्व का स्वीकार करना होगा। यह तथ्य तो सर्वमान्य है कि भारतीय महाकाव्यों की एक मुरयतम विशिष्टता, उनकी उत्कृष्ट वणन योजना ही है और इस विषय पर 'काव्य-मीमांसा' वार राजगुलर आदि साहित्य शास्त्रियों ने बड़े विस्तारपूर्वक लिखा है। उक्त समग्र भारतीय समीक्षा शास्त्रीय सामग्री की अवहेलना, भला हम उप-यास विधा के अधुना मूल्यांकन में कस कर सकते हैं ?

साहित्य की उप-यास विधा आज दशकाल का परिधिया को लाँघ कर, विश्व साहित्य का रूप ग्रहण करती जा रही है। अतः कुछ ऐसी महान औप-यासिक कृतियाँ पर भी इस दृष्टिकोण से विचार किया गया है कि उनकी रसात्मक सिद्धि में वणनात्मकता का कहाँ तक महत्वपूर्ण योग रहा है। यदि हम अपने भारतीय उप-यास साहित्य के मूल्यांकन के लिये भी वणनात्मकता का आधार पर एक अभिनव समाक्षा पद्धति, के अनुसंधान में प्रवृत्त हाने तो निश्चय ही ऐसी मूल्यांकन पद्धति, विश्व उप-यास के मूल्य निर्धारण के लिये भी एक अन्तर्राष्ट्रीय मौलिक एवं वनानिक उप-यास समीक्षा पद्धति की स्थापना में, सहायक सिद्ध होगी। इस दिशा में एक प्राथमिक उद्योग के रूप में ही प्रस्तुत प्रबंध रूपायित किया जा रहा है।

साहित्य वस्तुतः विविध विधाओं में विभक्त किए जान योग्य कोई स्थल अथवा भौतिकपदार्थ नहीं है। वह तो सतः चिंत आनन्द से युक्त एक ऐसी सजीवनी अन्तर्चैतना है जो मूलतः मानस अर्थात् मन में उदभूत है। इस जमून एवं जयत्क शक्ति स्रोत का जो विकास हम जपन साहित्य जगत में दृष्टिगत हाता है वही उसका वाणीकृत स्वरूप है। यह साहित्य-तत्व अखिल विश्व के लोता विलास के समान विविध छद्म लय नाद और छवि द्वारा विविध रूप जौगचित्र विचित्र है। एक प्रकार से हम उसे, एक ऐसे अठपहलू कटे हुए शीशे से उपमिन कर सकते हैं जो प्रकाश की आभाओं को जलग अलग रंगों में निरन्तर एवं प्रतिफल झलकाता रहता है। उन्हें ही हम साहित्य की विधाओं की विविध सचाएँ ददन हैं। किंतु एकमूल होने के कारण इस भ्रममत्त में भी उन सभी में एक समान एकात्मकता का आभासित होना स्वामाविक ही है। किंतु फिर भी हर रंग अपने में अलग भी है ही। इसी भाँति साहित्य की हर विधा का अपना अलग रंग है और इस दृष्टि से हम कह सकते हैं कि उप-यास विधा को उसके निजी रंग अर्थात् 'वणनात्मकता' के कारण ही उन सब के बीच में भी अलग ही पहचाना जा सकता है।

काव्य का उद्भव, हृदय के, सहसा भावोद्वेलित होने का भूतरूप है। हृद्य काव्य अथवा नाटक, मानव की गरमा में आवुल, अभिव्यजना वासना का ही, नाट्य अभिनय अनुवृत्तिवृत्त दृश्यमान स्वरूप है। किन्तु उप-पास, मानव की जन्मजात, और सम्प्रदाय-संस्कृति का विकासक्रम में, सबसे प्राचीन और सबसे प्रथम, अदम्य कथा कहने मुनन की वणना आवुलता है। संक्षेप में, यदि उप-पास, वणन नहीं है, तो कुछ नहीं है, अर्थात् वह उप-पास नहीं है, चाहे फिर वह, जो भी कुछ होवे, और कुछ ही है।

आज के उप-पास साहित्य-मृजन में, चरम सीमा की उत्पादनशीलता देख कर, बहुधा, विष आलाचक वग, उससे दूर भागना चाहते हैं—कुछ-कुछ ऐसी भावना के साथ, माना वे, किसी महानगर की भीड़भाड़ में पहुँच गए हों और वहाँ के वातावरण से क्षुब्ध हो उठ हों। सत्य की भाँति आज भी साहित्य जगत में, कतिपय ऐसे शम्भीर विद्वान भी मिल जाएँगे जिनकी आज भी उप-पास की साहित्य-कोटि में धुधली सा जाग्या हा है। एक अथ आलोचका का वग भी है, जो अपनी समीक्षात्मक प्रतिमा के, उप-पास के क्षेत्र में, श्रियाशील होने की, उसका 'सदुपयोग' नहीं समझता, चाहे पंडित-पत्र-मुलभ विनम्रता के कारण, व इस बात को स्पष्टतया उद्घाषित करके, बहल नहीं। एक तीसरा वग है जो साहित्य शिक्षण के क्षेत्र में पाया जाता है। उहे विश्वविद्यालय के पाठ्य क्रमा में निर्धारित, उप-पास-साहित्य शिक्षण से व्यावहारिक काम पडता है। प्रकट है कि यह काम, परिसीमित है क्योंकि पाठ्य उप-पास-ग्रन्थ, उत्तमात्तम हा हाग हैं और उनकी आलोचना-पद्धति अब तक प्राय परम्परा प्राप्त हो चुका है।

वेबन कठिनाई है उस समीक्षण जिज्ञासु की, जिनके समक्ष, उप-पास का हर अभिनव प्रयाग, एक प्रश्न चिह्न के समान, आ सटा होता है और वह दा टूक, साफ सुयरी समीक्षा के आधार पर, अपने मूल्यावन की माग करता है। हमारे साहित्यिक इतिहास में आज, उप-पास विधा, जिस विकास क्रम पर पहुँच चुकी है, उसको देखते हुए, अब इस माँग का और अधिक टाला नहीं जा सकता।

यदि पश्चात्य शैली पर निर्भरित उप-पास-समीक्षा का, हम अपनी भारतीय मापात्रा के उप-पास साहित्य पर प्रयोग करने का आयास भी करें तो कम से कम, उनके मूलाधार की श्रुता पर तो, एक बाग विचार कर ही लेना होगा। कुछ ऐसे उप-पास हैं जिनमें बनावस्तु प्राय नर्त्त के बराबर पाये जाती है, जैसे वर्गीयिता बूलक के उपन्यास मिमज डलाब' की ही ले नें। और उनसे भी आधुनिक रचना, श्री माहन रात्रेन इन अने बंद कमर जसी औपचारिक कृनिया पर ही दृष्टिनेप करें। किन्तु उनको औपचारिकता का भला बस भुठलाया जा सकता है? यही कहना हाता है कि वे अपने ढंग के अथे प्रयागात्मक उप-पास हैं, जिनमें जानबूझ कर बनावस्तु की अघटना की गई है। किन्तु हम जानते हैं कि यह आरोप, सही नहीं है क्योंकि उनमें



भी वणन प्रवाह अवाध है और वही पाठन का क्या भाग के विरल होन पर भी रमावित करता है।

ऐस उप-यास भी हैं जिनम, पात्र जथवा चरित्र चित्रण जैसा अज प्राय नगण्य ही रहता है। नोबल पुरस्कार विजेता उप-यास 'जाल्ड मन एण्ड दी सी' म केवल मुख्य दा पात्र ही हैं, और वे दोना भी, मछुआरा की दुनिया म खो जाने पर, टूटे नहीं मिल सकत। वे मछुआरा की समस्त जाति के प्रतीक मान हैं जैसे 'गोदान' का होरी भारतीय किसान का एक प्रतीक मान है और गुडजथ का नायक वाड लड चीनी कृषक वग का। हैमिंग्वे को नोबेल-पुरस्कार मित्रा उद्दाम महासागर (मवसागर ?) की तरगा से झूझने के अदूट सकल्प-वाली [नहीं तरी और काठके पतवारो को लेकर] मानव की शाश्वत चुनौती की, प्रतीकात्मक अभि यक्ति के कारण। यह उदात्त आध्यात्म भावना ही उप-यास की गरिमा है। और उप यास की असाधारण साक प्रियता उसकी निजी एव विशिष्ट वणनात्मकता के कारण ही है।

जब फगीश्वरनाथ रणु के उप-यास पहल मला आचल' और जाग चल कर 'परती परिकथा प्रकाशित हुए तो उह आचलिक कह कर उनकी जाचलिता क आधार पर उनको जाचन का प्रयत्न किया गया। किन्तु इसस इन उप-यासा का औप-यासिक गरिमा के साथ याय नहा हो पाया। इन उप-यासा म ओल्ड मन एण्ड दी सी जसी उद्देश्यगत उदात्तता तो नहीं पाई जाती और न एक समुदाय अथवा जाति के प्रतीकात्मक पात्रो का ही निरूपण पाया जाता है और क्यावस्तु उनम खाजेगे ता समीक्षक को ही अपनी हार स्वीकार करनी होगी। कोई किबदती—कोई लोककथा—और इसी भाति विकीण काई भी कथातक य ही उप-यासकार के क्या कथन के लिए पर्याप्त हैं। फिर भी इन दाना उप-यासा का हिन्दी उप यास साहित्य म अपना एक निजा स्थान है और सम्भवतया भविष्य म भी वह बना ही रहेगा। उनकी सामयिकता ता विलीन हो जायगी किन्तु उनकी गृष्ठभूमि अमिट रहगी। इन उप यासा म यदि काइ पात्र है ता वह जखिल प्रकृति ही है। उसका मला कोई क्या खाकर चरित्र चित्रण करेगा ? उसका तो केवल चित्रण मान ही किया जा सकता है। वही किया गया है, और वही उप-यास की अनुपम वणनात्मकता है। न कहानी कहने वाला स्वता है न कहाना सुनने वाल उस टोकत हैं। ऐस उप-यासो की परम्परागत समीक्षा कितनी दुष्कर है ? और परम्परागत समीक्षा सरणी द्वारा तो वह सम्भव हा हा नहीं सकती।

श्री विश्वारीलाल यास्वाम्या क उप-यासा पर यलि एक सरसरी नजर डालें तो लगना है लेखक न हम उप-यास के बहाने किसी नाटक गृह म ला छडा किया है। उनमे कथोपकथन की कुछ बिगपताएँ पायी जाती हैं। ता क्या हम उह नाटक काटि म गिनेगे ? कुछ ऐसे भी उप यास है जिनम बातचीत प्राय होती ही नहीं। अनातोले फ्रांस क विश्वविख्यात उप यास भा कुछ ऐसी ही शली क ह। सेवक, क्या का वण

नात्मक जघड, बहाता चरता है। विमल मित्र का महा उपयास 'साह्य बीबी गुलाम' भी अपने कथोपकथना में प्रायः, मवेता में ही चलता रहता है।

जब तनिक 'देशवाल' और 'शली' की ओर उमूल हों जेह, उपयास में, वणन विशिष्टता दिखाने के लिए, आलोचना में, एक 'माध्यम' मात्र माना है। कुछ विन आलोचक मानते हैं कि 'वणन' देशवाल नामक समीक्षा-पक्ष की ही एक विशिष्टता है और कुछ 'वणन' का 'शली' की ही एक विशिष्टता मानते हैं। वस्तुतः सत्य यह है कि वणन इन दोनों तन्त्रों ही सीमित नहीं, और न ये दोनों 'वणन' तक ही।

उपयास में 'देशवाल' भी बहुत धार एक विरल तन्त्र ही रहता है। उदाहरणार्थ 'उदैमान चरित (रानी केतकी की कहानी)' का किस दशकाल की कथा माना जाय? यही बात, धारण की 'कादम्बरी' के लिए भी कही जा सकती है अथवा स्व० श्री हनुमन्लाल वर्मा कृत 'साना' प्रायः देशवाल रहित उपयास ही है। इसी प्रकार 'चंद्रकाता सतति' भी, समी दशकाल की कथा है। यदि उसमें कोई देशवाल है तो वह भी अति अवशिष्टनीय ही है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कुछ उपयासकार जे जे जानबूझ कर समीक्षण के दशकाल के उल्लास के साथ, व्यग्य करते हैं, तन्त्र समस्या और भी कठिन हो जाती है, जैसे आचार्य हजाराप्रसाद द्विवेदी कृत 'चारु चंद्रलेख'। इस उपयास का गरिमा, विशुद्ध वणनात्मकता पर ही टिकी है, उसमें चित्रित व्यापक 'दशकाल' पर नहीं।

उपयास में, शली निधारण का काय भी प्रायः असम्भव सा ही है। और यदि उपयास विधा की कोई शली है तो वह है लेखक की, निजी वणन प्रणाली। उसे शना करने से उसकी सारी खूबी ही, सतत हा जाती है। और 'उद्देश्य', तो उपयास विधा की प्रकृति से, किसी भी भाति मेल नहीं गता। कहानी का सुनने वाला और कहने वाला दोनों ही, निरर्देश्य हाकर कथा का कहते सुनते हैं और मनोरंजन ही प्रधानतया उन दोनों का अभिप्रेत है। उद्देश्य प्रधान उपयास रचने का विशेष आग्रह प्रायः, उसकी कलात्मक रमणीयता के उ मुक्त विकास के लिए बाधक ही सिद्ध हाता है।

इस समस्त विचार और वित्तक के पश्चात् हम केवल एकमात्र परिणाम पर हा जा पहुँचते हैं कि समी रगरूपा के उपयास में केवल एक 'समान गुण धर्म सतत विद्यमान रहता है और केवल उसी का भूलाधार बना कर किसी भी अभिनव उपयास समीक्षा का तबसिद्ध निरूपण सम्भाव्य है। कहना न होगा कि वह जखिल उपयास व्यापी एकमात्र एक अनिवाय समान गुण धर्म वणनात्मकता ही है। यह समान-गुणधर्म रूपा वणनात्मकता ही, वस्तुतः उपयास का अर्थ साहित्य रूपा से पृथक एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करती वाली उसकी निजी एक मौलिक विशिष्टता भी है।

जब हम उपयास विधा पर, अर्थ प्रमुख एक मायता प्राप्त साहित्य विधाओं

भी वणन प्रवाह अबाध है जोर वही पाठन का क्या भाग क विरल होने पर भी रमावित करता है ।

एस उप-यास भी है जिनम, पात्र अथवा चरित्र चित्रण जसा अश प्राय नगण्य ही रहता है । नात्रल पुरस्कार विजिता उप-यास 'आल्ड मन एण्ड दी सी' म कवल मुख्य दो पात्र ही हैं और व दोना भी मछुआरा की दुनिया म खा जाने पर टूटे नहीं मिल मन्त । वे मछुआरा की समस्त जाति क प्रनात्र मात्र हैं जस 'गानन का होरी भारतीय किसान का एक प्रतीक मात्र है और गुडअथ का नायक वात् लट चानी कृपक बग का । हैमिंगवे को नात्रल-पुरस्कार मिता उद्दाम महासागर (भवसागर ?) की तरगा से जूझने क अटूट सकल्प-वाली, [नही तरी और काठके पतवारो को लेकर] मानव की शाश्वत चुनौती की प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के कारण । यह उनात्त आध्यात्म भावना ही उप-यास की गरिमा है । और उप यास की असाधारण लाक प्रियता उसकी निजी एव विशिष्ट वणनात्मकता क कारण हा है ।

जब फगीश्वरनाथ रेणु के उप-यास पहले मला जाचल और आग चल कर परती परिकथा प्रकाशित हुए ता उह आचलिक कह कर उनकी जाचलिता क आधार पर उनको जाचन का प्रयत्न किया गया । किन्तु इस इन उप-यासा की औप-यासिक गरिमा के साथ याय नहीं हो पाया । इन उप-यासा म आल्ड मन एण्ड दी सी जसी उद्देश्यगत उदासता ता नहीं पाई जाती और न एक समुदाय अथवा जाति के प्रताकात्मक पात्रा का ही निरूपण पाया जाता है और क्यावस्तु उनम खाजेंगे ता समीक्षक का ही अपनी हार स्वीकार करनी हागी । काई किंवदन्ती —काई लाककथा—और इसी भाति विशीण काई भा कथातत्व, य ही उप-यासकार के क्या कथन क निग पर्याप्त है । फिर भी इन दाना उप-यासा का, हिन्दी उप यास साहित्य म अपना एक निजी स्थान है और सम्भवतया भविष्य म भी वह बना हा रहेगा । उनकी सामयिकता ता विलीन हा जायगी किन्तु उनकी पृष्ठभूमि अमिट रहेगी । इन उप-यासा म यदि कोई पात्र है ता वह अखिल प्रकृति ही है । उसका मला कोई क्या खाकर चरित्र चित्रण करगा ? उसका ता कवल चित्रण मात्र ही किया जा सकता है । वहा किया गया है और वही उप-यास की अनुपम वणनात्मकता है । न कहानी कहन वाता खता है न कहानी सुनने वाले उसे टोकत है । ऐसे उप-यासा की परम्परागत समीक्षा कितनी दुष्कर है ? जोर परम्परागत समीक्षा सरणी द्वारा ता वह सम्भव हो ही नहीं सकती ।

श्री किशागलाल गोस्वामा क उप-यासा पर यान् एक सरसरा नजर डालें तो लगता है लेखक न हमे उप-यास के ध्यान किसी नाटक गृह म ला खटा किया है । उनम, कथोपकथन की कुछ विनयताएँ पायी जाता हैं । ता क्या एम उ ह नाटक कोटि म गिनेग ? कुछ ऐसे भी उप यास है जिनम बातचीत प्राय होता ही नहा । अनाताले फ्रास के विश्वविरयात उप-यास भी कुछ ऐसी ही शली क ह । लेखक, क्या का वण

नात्मक जघड, बहाता चतता है। विमल मित्र का महा उपयास 'साह्य बीवी गुलाम' भी अपने कथोपकथना में प्राय, सकेता में ही चलता रहता है।

जब तनिक 'देशकाल' और शैली की ओर उन्मुख हों जिन्हें, उपयास में, वणन विशिष्टता दिखाने के लिए, आलोचना में, एक माध्यम' मात्र माना है। कुछ दिन जालाचक्र मानते हैं कि 'वणन' देशकाल नामक समीक्षा-पक्ष की ही एक विशिष्टता है और कुछ 'वणन' का 'शैली' की ही एक विशिष्टता मानते हैं। वस्तुतः सत्य यह है कि वणन इन दोनों तन्त्र ही सीमित नहीं, और न य दोनों 'वणन' तक ही।

उपयास में 'देशकाल' भी बहुत बार एक विरल तत्व ही रहता है। उदाहरणार्थ उद्देमान चरित ('रानी केतका की कहानी') का किस दशकान की क्या माना जाय? यहाँ यात, वणन की 'बादम्बरी' के लिए भी कही जा सकती है अथवा स्व० श्री वृत्तवनलाल वर्मा कृत 'साना प्राय देशकाल रचित उपयास ही है। इसी प्रकार 'चन्द्रकाता सतति' भी, समी दशकाला की क्या है। यदि उसमें कोई दशकाल है भी तो वह भी अति अविश्वसनीय ही है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कुछ उपयासकार जय जानबूझ कर समीक्षक के दशकाल के उत्साह व साथ, व्यग्य करते हैं, तब समस्या और भी कठिन हो जाती है जैसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत 'चाह चन्द्रलेख'। इस उपयास की गरिमा विशुद्ध वणनात्मकता पर ही टिकी है, उसमें चित्रित 'यापक दशकान' पर नहीं।

उपयासों में, शैली निर्धारण का काय भी प्राय असम्भव सा ही है। और यदि उपयास विधा की कोई शैली है तो वह है लेखक की, निजी वणन प्रणाली। उस शक्ति बन्ने से उसकी सारी गूमी ही, उत्पन्न हो जाती है। और उद्देश्य', तो उपयास विधा की प्रकृति से, किसी भी भाँति मेल नहीं खाता। कहानी का सुनने वाला और कहने वाला दाना ही निरुद्देश्य हाकर क्या का कहत सुनत है और मनोरजन ही प्रधानतया उन दाना का जमीष्ट है। उद्देश्य प्रधान उपयास रचने का विशेष आग्रह, प्राय, उसकी कलात्मक रमणीयता व उन्मुक्त विकास व लिय बाधक ही सिद्ध होता है।

इस समस्त विचार और चिन्तक के पश्चात् हम केवल एकमात्र परिणाम पर ही जा पहुँचते हैं कि समी रगरूपा व उपयासों में, केवल एक 'समान गुण धर्म' सतत विद्यमान रहता है और केवल उसी को मूलाधार बना कर, किसी भी अमिन्न उपयास समीक्षा का तत्सिद्ध निरूपण सम्भाव्य है। कहना न होगा कि वह जखिल उपयास व्यापी एकमात्र एव अनिवाय समान गुण धर्म वणनात्मकता ही है। यह समान-गुणधर्म रूपा वणनात्मकता ही वस्तुतः उपयास का, अथ साहित्य रूपा से पृथक् एक स्वतन्त्र अस्तित्व प्रदान करने वाली उसकी निजी एव मौलिक विशिष्टता भी है।

जब हम उपयास विधा पर अथ प्रमुख एव मायता प्राप्त साहित्य विधाओं

के साथ तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हैं तो उनके बीच का विभेद हम, एक मात्र वणनात्मकता के समावेश की मात्रा एवं महत्ता की दृष्टि से ही पहचान में आता है। यद्यपि प्रत्येक कला के साधक का अभीष्ट समानरूप से अपनी कृति में, साहित्य योजना की अनुभूति उत्पन्न करना एवं उसे प्रेषणीयता प्रदान करना है जिसके लिए 'यूनाधिक' अंश में वणनात्मकता की भी अपेक्षा रहती है फिर भी महाकाव्य एवं नाटक आदि साहित्य विधाओं में अभिव्यक्ति का यह अभिप्राय, अथवा माध्यम के द्वारा भी समावेश है। इसके विपरीत उपन्यास विधा की समस्त अभिव्यक्ति शक्ति का मूलाधार, उसकी निजी वणनात्मक विशिष्टता ही है। इसी तथ्य पर एक दूसरी दृष्टि से भी विचार किया जा सकता है।

अखिल वाङ्मय का हम बहुत पुरातन काल से ही श्रव्य काव्य' एवं 'दृश्य काव्य इन दो मुख्य विभेदों में बाँटते चले आए हैं। वस माटे तीर पर एवं परंपरा के अनुसार हम उपन्यास विधा की गणना भी श्रव्य-काव्य के अन्तर्गत ही करते आए हैं (जसा कि श्री श्यामसुन्दरदास ने भी अपने 'साहित्यालोचन' ग्रंथ में बहुत पहले ही किया था) फिर भी यदि हम महाकाव्य (अर्थात् पद्यमहाकाव्य) और उपन्यास (अर्थात् गद्यमहाकाव्य) के बीच, कोई सीधा-सादा विभेद कर सकते हैं तो वह यही है कि, जबकि पद्य महाकाव्य सत्ता की भाँति अपने श्रव्यकाव्यत्व की 'श्रव्य विशिष्टता का आज भी अपनाए हुए है उपन्यास स्पष्टतया — जाधुनिक युग में श्रव्य न होकर मुख्यतः एक 'पाठ्य साहित्य रूप है। इसीलिये उस अपनी समस्त अभिव्यक्ति सामर्थ्य के लिए अपनी निजा एवं एकमात्र विशिष्टता अर्थात् वणनात्मकता पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

पद्यमहाकाव्य का अपनी दृग्दाबद्धता गयना (प्रायः रीतिबद्ध) जालकारिकता, परंपरागत दार्शनिकता एवं आदेश गरिमा आदि गुणों पर ही अपनी प्रभावोत्पादकता एवं चरम सिद्धि के लिए निर्भर रहना पड़ता है। उपन्यास विधा अर्थात् गद्यमहाकाव्य को मूलतः पाठ्य काव्य होने के नाते अपनी समस्त अभिव्यक्ति शक्ति के लिए वणनात्मक क्षमता तथा वणन विवेक प्रतिभा पर ही निर्भर रहना पड़ता है।

इसी भाँति हम उपन्यास विधा ('पाठ्यकाव्य') तथा नाटक ('दृश्यकाव्य') के बीच भी, इन दोनों साहित्य रूपों की मौलिक प्रकृति एवं निजा विशिष्टताओं के कारण और भी स्पष्ट अंतर, दख सकते हैं। 'दृश्यकाव्य' की मुख्य विशिष्टता है उसकी दृश्यमानता अथवा चाक्षुष अनुभूति। दृश्यक सद्यप्रथम नाटक का अपनी आत्मा से स्वयं देसता है और तत्परिचय मन चिन्तन उसका अनुवर्ती बनता है। इससे विपरीत पाठ्यकाव्य अथवा उपन्यास में उपन्यासकार अपना वणनात्मक शक्ति के चल पर ही पाठक के मानव चिन्तन और अन्तर्मुख प्रतिक्रिया का सतत प्रियाशील बनाए रखता है और इन भाँति वह मानव रूप विधान की प्रक्रिया का उपन्यासगत वणन विवरणों की सूक्ष्मता के माध्यम द्वारा एक समाधानकारा एवं मुनियोजित निर्देशन प्रदान करने

में समब होना है। इस भाँति 'दृश्यवाच्य' अथवा नाटक में, जहाँ 'सहृदय' अथवा 'दशका' की भानदानुभूति का मुख्य आधार, चाक्षुष-अनुभव तथा (कुछ अर्थों में) 'कलापकथन, संगीत आदि नाद-तत्त्व सबधी, नाट्य उपकरणों की गहायता द्वारा बना रहता है—पाठ्यवाच्य अथवा उपयास में उपयामकार को, अपनी वणनात्मक शक्ति द्वारा ही एक ऐसी अभिव्यजना प्रक्रिया पर निर्भर रहना पड़ता है जिसमें कि वह (रगमच गत समग्र चाक्षुषवस्तु अनुभूति के स्थान में) वणन की सूक्ष्मता, विवरणात्मकता तथा कल्पनाविभूति के बल पर ही, अपनी चरम अभिव्यजना सिद्धि की ओर अग्रसर होता है।

अब रही उपयाम विधा तथा अन्य ललितकलाओं के बीच, अभिव्यजनात्मकता सबधी मूलभूत मानसिक प्रक्रिया के बन्धन की बात। अभिनयकला में अभिव्यजना का मुख्य माध्यम कलाकार का [आहास एवं सांचिक अभिनय-सबधी सम्पूर्ण एवं दोषरहित] कलात्मक कौशल ही बनता है किन्तु उपयासकार तो अभिनयकला को, यह सूक्ष्म नियोजना, अपनी वणनशक्ति द्वारा, सदब ही पाठक के मानस चक्षुओं के समक्ष, प्रस्तुत करता रहता है। उपयासकार का इस बाध्य में, अभिनयकला के माध्यमों की तुलना में, अपनी अभिव्यजना प्रतिभा की अभिनयशक्ति के लिए असीम अवसर प्राप्त रहता है। उस अपनी वणित दृश्यावलिपि के प्रदर्शन के लिए, रगमच अथवा रगभूमि की सीमित सीमाओं में बंध कर, काय नहीं करना पड़ता, वरन् उसकी 'रगभूमि' का प्रवृत्ति का मगल एव उन्मुक्त उदार अचल बनती है। यही नहीं जब उसकी वणनात्मक आकुलता, उसमें भी मनुष्य नहीं हो पाती तो फिर वह, मानस कल्पनालावक में अपनी कल्पनाशीलता से निर्मित 'रसविश्व' में विहरणशील हो जाता है यथा पूर्वोक्त 'शुद्ध-नुआन' नामक चीनी उपयास में लेखक ने अतिरिक्त की दृष्टि द्वारा कथानायक का दिव्य पुस्तक के उपहार देने वाला प्रसंग लाकर अपने पाठकों को रसविभार किया है तथा 'कायाकल्प' तथा 'प्रेमचंद' ने कतिपय अतिमानवीय घटनाओं की परंपरा के माध्यम द्वारा अपन दार्शनिक अभिप्राय को स्पष्टता प्रदान की है। इसी भाँति श्री विभूतिभूषण बघोपाध्याय ने अपन उपयास 'देवयान' में भौतिक एवं दिव्य रूपा में विहरित मानव आत्मा को उन्मुक्त पक्ष प्रदान किए हैं।

जो बात उपयास विधा एवं अभिनयकला के बीच, अभिव्यजना-अन्तर के संबंध में बना रहती है, वही संगीत एवं नृत्यकला एवं उपयास विधा के बीच अभिव्यजना प्रणाली के संबंध में भी सत्य है। इसी भाँति उपयास विधा एवं अन्य सभी ललित-कलाओं के बीच का अभिव्यजना माध्यम भेद, इसी मरणा पर विस्तारपूर्वक समझाया जा सकता है। यथा उपयास विधा तथा चित्रकला के बीच के अभिव्यजना भेद को ही लें। चित्रकार का कलात्मक सीमाएँ अपने चित्रपत्र की सीमाओं द्वारा आवृत्त रहती हैं किन्तु उपयासकार अपनी वणनात्मक प्रतिभा के साहाय्य से, न केवल अनन्य दृश्यपट्टियाँ की सजना ही करता रहता है वरन् वह, उन दृश्यावलियों को एक गतिशीलता एवं सजावट की जाबस्त प्रवृत्तमानता भी प्रदान करता चलता है।

साहित्य म वणनात्मकतापरक कला साधना को भी जात्यात्मिक धर्म साधना का ही एक पक्ष मात्र माना जाता रहा है ।<sup>१</sup>

भारतीय साहित्य म कला मूला वणनात्मकता की मौलिक प्रवृत्ति एव उसके आध्यात्मिक तथा मनोगत स्वरूप की प्रतिष्ठा धार्मिक एव दार्शनिक दोनों परम्पराओं म ही बढमूल रही है । पौराणिक गाथाओं के निश्चित समय का निर्धारण तो दुष्कर है किन्तु लगभग दो सहस्र वर्षों से उनका प्रचलन, हमारे देश म पाया जाता है । पुराणों के वर्तमान कालों की रचना तिथि भी लगभग ढेढ़ सहस्र वर्ष से पूर्व की अनुमित की जाती है । पौराणिक गाथाओं म दबी जयवा शक्ति-सम्बन्धी क्याए सवत्र ही पायी जाती है जिनम कि जाद्याशक्ति के विविध रूपों म वागी रूप की स्तुति गायाए भी निहित हैं ।

सृष्टि के प्रारम्भ की विभिन्न प्राचीनतर लोक-कथाओं म एक सुप्रसिद्ध अनुश्रुति इस भाँति है—जब देवी सरस्वती ने अपने करो म वीणा-साधन किया तब उमी के सारसप्तक से सप्तसिंधु मे सप्तस्वरा का उदभव हुआ । वस्तुतः यह अनुश्रुति मानव द्वारा वाणी के साधना-उत्सव की पुण्यस्मृति मात्र है । वाणी के सारस्वत स्वरूप की अनेकानेक प्रस्तर एव वास्य प्रतिमाए हमारे प्राचीन देवाल्यों म अभी भी मिलती हैं ।

देवी के सारस्वत रूप की सबसे अधिक साहित्यिक एव प्रतिमा सम्पन्न काव्य छवि श्रीमद्शंकराचार्य वृत सौ दय-लहरी' म पाई जाती है । यह ग्रन्थ बहुधा तांत्रिक क्षेत्रों का गौरव ग्रन्थ माना जाता रहा है किन्तु उसमे निहित, साहित्यिक काव्यगत एव कला अवेक पक्ष की ओर विद्वानों का ध्यान क्या जाकर्षित नहीं हो पाया ? यह विस्मय का विषय है । वस्तुतः हमारी सांस्कृतिक साहित्यिक निधि की अनेकानेक मौलिक उपलब्धियाँ धार्मिक एव दार्शनिक साहित्य मण्डार मे परिगणित की जाती रही हैं । इसी कारण समीक्षा शास्त्र के क्षेत्र से वे उत्तरोत्तर पृथक ही होती जाती हैं ।

शंकर का जन्म आठवीं-नवीं शताब्दी म केरल राज्य के अतगत कालादि नामक ग्राम म हुआ था । ब्रह्म-सूत्र (अथवा वेदांत शास्त्र) पर उनका शांकर भाष्य'

१ सभी भारतीय संगीतकार अद्यावधि ब्राह्म मुहूर्त म संगीत की अधिष्ठानी देवी सरस्वती की संगीत साधना द्वारा नित्य प्रति उपासना करते हैं । यह परम्परा भारतीय संगीतकारों के उन परिवारों म भी अद्यावधि प्रचलित है जो किसी समय इस्लाम धर्म म दीक्षा ले चुके थे । वे लोग आज भी स्नान करके एव धुले हुए वस्त्र धारण करके ब्राह्म मुहूर्त मे सरस्वती-वन्दना द्वारा अपनी संगीत साधना को नित्यप्रति धर्माचरण की भाँति चलाए रखते हैं । उसे वे रियाज कहते हैं ।

नामक ग्रन्थ, अद्वैतवाद के मौलिक ग्रन्थों में परम मान्य रहा है। 'सौन्दर्य लहरी' शंकर के अपेक्षाकृत 'यून प्रसिद्ध ग्रन्थों में से एक है, जिसका प्रचलन (निमित्तिक पाठ के रूप में) भारत के विभिन्न प्रदेशों में, तांगिको में पाया जाता है।' शंकर ने अपने उक्त ग्रन्थ के आद्य श्लोकों में, देवी के 'सारस्वत स्वरूप' की इस भांति स्तुति की है—

'अविद्यानाम अत तिमिर मिहिर द्वीप नगरी ।

जडाना चत य स्तवक मकरद श्रुतिभरी ॥'

[अविद्याओं के अधकार का अंत करने के निमित्त तुम सूयद्वीप की नगरी (सूयलोक) के समान प्रमासित हो। जब बुद्धि वाला के लिए तुम, बानों में मकरद रस भरते हुए स्तवक (गुलदस्ते) के समान हो।]

इस भांति शंकर ने वाग्देवी के, अविद्या अधकार के निवारक एवं जड-बुद्धि जनों में भी प्रणा चतय के संचारक पक्षों का उल्लेख करने के पश्चात्, वाग्देवी के उक्त चमत्कारी रूप को निम्न शब्दों में विवचना भी की है —

'कवी-ज्ञानाम् चत, कमलवन बालातप रुचि ।

भजने ये सन कतिचित् अरुणम् इव भगवतीम् ॥

विरचिप्रेयस्या, तरुणतर शृंगारलहरी—

गभीराभि यागि, विदवति सताम रजनमयी ॥'

(ह सज्जनों का रजन करने वाली। विरचि की प्रिया। तुम्हारी तरुणतर शृंगार-लहरी के कुछ विचित् अरण रूप का ध्यान करने पर भी तुम, उन कवियों में, इन्द्र के समान सुहृतीया के हृदय कमलों की, अपनी चेतना के करो से, इस भांति स्पन्दित करनी हो जैसे कि बाल-सूय की शोभा, कमलवन का विकास करती है।)

तत्पश्चात् श्रीमद्शंकराचार्य ने 'वशिनी' आदि विविध शक्ति रूपों की स्तुति करते हुए कहा है —

'सवित्रीमि यात्राम शक्तिमणिशिला भग रुचिभि ।

वशि-यायाभि त्वाम सहजननि सचितयति ॥

१ 'सौन्दर्य लहरी' काय (श्री शंकराचार्य)—अंग्रेजी भाषा में की गई विशद टीका — एच. आर. ब्यूटी (सौन्दर्य-लहरी) संपादक—प्रोफेसर नॉमन ब्राउन, वेन मिलवानिया विश्वविद्यालय में सस्कृत के जाचार्य [हारवर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस केम्ब्रिज, मसाचुसेट्स, संयुक्त राज्य अमेरिका, पृष्ठ २५, प्रस्तावना भाग १९५८ ई०।]

२ 'सौन्दर्य लहरी' (श्रीमद्शंकराचार्य) श्लोक ३ (श्री एच० आर० रगस्वामी अय्यंगर सम्पादित) प्रकाशक आरियंटल रिमच इन्स्टीट्यूट सीरीज, मसूर (१९५३ ई०)।



स कर्ता काव्यानाम, भवति महताम भगिसुभग ।

वचोभि वाग्देवी, यदन-कमला मोद मधुर ॥<sup>१</sup>

(हे जननी ! जो वाणी का धाराधक, चन्द्रवात मणि की भगिमा से मुशोभित, पानरूपा सवित्री वशीवरणी वशिनी आदि सह मातृ शक्तिया सहित तुम्हारा चित्तन करता है वह स्वयं वाग्देवी वं जात इ एव माधुय से युक्त कमल मुग्ध से निस्मरित, वचनो के माध्यम द्वारा, महाकाव्या का कर्ता तथा महापुरुषा की सुमग भगिमा को धारण करने वाला बन जाता है) ।

इस भाँति वाग्देवी क शिष्य चम नार युक्त स्वरूप की वचना करते हुए श्री शंकराचार्य ने 'सौम्य लहरी' नामक दशोक्तुति काव्य की रचना की है तथा उन्होंने वाग्देवी के प्रासादिक चमत्कार में हृष्ट आस्था प्रकट करते हुए अपने कवित्व के सामर्थ्य को, दशो के वात्सल्य पय का ही परिणाम माना है —

तवस्तपम मये धरणिधर क्ये ! हृत्पत ।

पद पारावार, परिवहति सारस्वन इव ॥

दयावत्यान्तम द्रविटगिगुरास्वाद्य तव यत ।

कथीनाम प्रौढ़ानाम अजनि कमनीय क्वपिता ॥<sup>२</sup>

सौम्य-लहरी व उक्त उद्धरण से प्रकट है कि देवी स्तोत्र विषयक उक्त महत्व पूर्ण साहित्यिक एवं शाक्त नित्यपाठ ग्रन्थ में साहित्यशास्त्र तथा कलाशास्त्र क तक सिद्ध एवं वज्ञात्मिक उद्भव एवं विकास की सूक्ष्म विवेचनाएँ उपलब्ध होनी हैं । रचनात्मक प्रतिभा एवं वणनात्मक प्रेरणा दोनों ही की यह अज्ञात मूला परिभाषा है ।

जिस प्रकार श्री शंकर ने देवी के साक्षित्री वशिनी आदि विविध सारस्वत स्वरूपा की मूर्त वाच्य कायुक्त विवेचना की है उसी भाँति ब्रह्मांड पुराण आदि प्राचीनतम भारतीय ग्रन्थों में शिष्य शक्ति के ललित रूप की वणना भी की गई है । ललिता उपासना ललिता स्तनराज तथा ललिता महल नाम में परब्रह्म की सर्वोत्कृष्ट सौम्यानुभूति प्रेमानुभूति एवं आनन्दानुभूति की पराकाष्ठा की प्रतीक ललिता दशो की ग्नुति रस प्रकार की गई है ।

चित्तला नन्दकलिका प्रेमस्य प्रियकरि ।

कलानिधि कायकला रसज्ञा रस शैवधि ॥<sup>३</sup>

( उक्त श्लोक में ललिता देवा का चित्तला ( शाश्वत कलाभियजना ) 'जानन्द-कनिका (जानन्द स्रोत) काव्य कला रमणा एवं कला निधि विशेषणों से स्मरण किया गया है अथवा ललितादेवी कलात्मक अभियजना की आनन्दमय, प्रियकर, ललितरूप की आराध्य दशो के रूप में स्मृत है ।)

१ २ सौम्य लहरी श्लोक १७ तथा श्लोक ६५, (मसूर सम्करण) ।

३ ललिता महलनाम ब्रह्मांड पुराण ।

एक अन्य स्थल पर ललिता देवी का ललित करते हुए यो स्तुति की गई है —

‘श्रीडा ते लोकरचना, सखा ते चिन्मय शिव ।

आहारस्ते सदानन्द घासस्ते हृदये सताम् ॥’

[लोक-लोकान्तर का मृजन, तुम्हारी श्रीडा (लीला) है। तुम्हारे चिरसखा, चैतन्य रूप शिव (लोक कल्याण के देवता) है। तुम्हारा आहार शाश्वत आनन्द है तथा तुम्हारा निवास सज्जना के हृदय में है।]

श्री वे० एस० रामस्वामी शास्त्री ने ‘ललिता देवी’ सम्बन्धी श्लोका का सार अभिप्राय इस भाँति व्यक्त किया है ‘ललिता देवी परब्रह्म की परमा शोभा, परमा प्रीति एवं परमानन्द अवस्था की समुक्त प्रतीक हैं।’

वर्णनात्मक अभिव्यञ्जना के प्रतिभा एवं लालित्य-मग्न का व्यञ्जित करने वाले, अनेकानेक पौराणिक आख्यायिकाएँ एवं कला प्रतीक, हमारे देश में, सहस्रावधि वर्षों से चल आ रहे हैं। यद्यपि वे आध्यात्मिक एवं धर्म में बद्धमूल रहे हैं तथापि उनसे, कलात्मक अभिव्यञ्जना के उक्त उभय तत्वों की परिभाषा एवं व्याख्या में मूल्यवान् इंगित प्राप्ति होते हैं।

श्रीकृष्ण की राग लीला, श्रीमद्भागवत एवं अखिल वर्णव-साहित्य में, एक प्रिय वष्य एवं गेय छवि रहा है। वस्तुतः यह ‘रासनृत्य अखिल कलात्मक अभिव्यञ्जना का समवेत समरस एवं संप्रदान मात्र है। विश्व भारती के कलागुरु, स्व० श्री नन्दलाल बसु ने, अपने एक कला विषयक निबंध में लिखा है कि ‘हमारे पौराणिक लोक श्रुति अनुसार आत्मा का अभिव्यञ्जनात्मक लीलाप्रवृत्ति के चौमठ प्रकार विभिन्न होते हुए भी (व रामी) आत्मनन्द के चतुर्दिक परिभ्रमण रहते हैं। इन्हीं के प्रतीक कलाधरार श्रीकृष्ण एवं उनके चतुर्दिक रास नृत्य में विभाग, चौमठ गापिकाओं की प्रतीकात्मक लीला प्रकल्पित की गई है। यह विरस रास नृत्य, अखिल कलाओं के एक समान-केन्द्र के चारों ओर परिभ्रमण है। आचार्य बसु के ही शब्दों में इस रहस्यात्मक तथ्य की व्याख्या पठनीय एवं मननीय है —

विविध उत्तारमग्न अभिव्यञ्जनाओं का यदि हम, इस भाँति देखें तो वे सब, श्रीकृष्ण के रास-नृत्य में संप्रवर्तित हैं। उनके बीच-बीच स्वयं परब्रह्म अवस्थित है, जो सच्चिदानन्द के साक्षात् स्वरूप है। उनके साथ ही साथ उनकी, ‘स्व प्रकाशित पराप्रवृत्ति’ (ललिता अथवा राधा) है तथा उनके चारों ओर, विविध कलाएँ एवं

१० ललिता देवी इजिप्सियन मूर्ति का नाम लव का नाम जिस आस्पेक्ट ऑफ दि एंगो-मूर्ति।—श्री वे० एस० रामस्वामी शास्त्री (दि इंडियन कॉन्सेप्ट ऑफ दि मूर्ति-कृत) अध्याय १ पृष्ठ १ प्रकाशक—रावणवार यूनिवर्सिटी प्रेस मीरठ म० ५ (१९४७ ई०)।

आनन्द नीताएँ, सदा सवदा, एक सम्पूर्ण लय एक समरमता के रास नृत्य म, आनतित हैं ।<sup>१</sup>

कलात्मक अभिव्यजना का एक अत्य अतिप्रसिद्ध रूपक, शिव के 'ताण्डव नृत्य' का पौराणिक वणन है जो भारतीय साहित्य, नृत्यकला, विभ्राला मूर्तिकला एवं स्थापत्य-कला आदि सभी कलात्मक विधाओं म, सहस्रावधि वर्षों से अभिव्यजित होता रहा है । शिव के ताण्डव-नृत्य के दो अविस्मरणीय पक्षों पर अवश्य दृष्टि रखनी चाहिए । मुप्रसिद्ध प्राच्यविद एवं कला-समीक्षक जमन विद्वान हीनरिल जिमर ने ताण्डव नृत्य की विशद व्याख्या इस भाँति प्रस्तुत की है—

'एक ओर वे (शिव), सम्पूर्ण शास्त्ररस की प्रतिमूर्ति हैं—आन्तरिक शान्ति की, आत्मा म जन्तुलीला अनन्त जाकार की रिक्तता म आत्मलीन, जिस स्थिति पर पहुँच कर सभी भेद भाव द्रवित होकर 'एकरस हो जाते हैं तथा जहाँ सभी प्रकार के क्षोभ प्रशान्त एवं विश्रान्त हो जाते हैं ।

दूसरी ओर वे (शिव) सम्पूर्ण क्रियाशीलता का प्रतिरूप बन जाते हैं प्राणों की चरम शक्ति की सातार प्रतिमा उन्मत्तता के साक्षात् विग्रह निरपेक्ष एवं लीला बलीन—शिव के ये द्रवत प्रकट रूप ताण्डव नृत्य म समाविष्ट हैं जो वस्तुतः एक, सत्रया जद्द परम अस्तित्व चिरन्तन मत्स्य के ही दो पक्ष मात्र हैं ।<sup>१</sup>

जिमर महोदय, भारतीय कला-गणन के अन्तर म पठने म वृत्तवाय हुए हैं । वयान्ति कलात्मक अभिव्यजना के 'आनन्द' एवं लीला पथा पर ही समस्त सस्कार मयी कला मृष्टि का प्रसार हाता है । शिव के विश्वनतन से अधिन यथातथ्य प्रतीकात्मक रूपक की कल्पना भी दुष्कर है । साहित्य म वणनात्मक अभिव्यजना की मौलिक जानक भूमि एवं उसकी द्वितीय प्रक्रिया-लीलामिमुत्ती प्रवृत्ति—यै मोना ही जति सस्कारयुता कला नाटि म गृजन प्रक्रिया की सम्पूर्ण परिभाषा के साथ माना शिव के ताण्डव नृत्य म सावाग हो उठी है ।

१ जि जाट स ब्यूड एज सच फाम इटु ए 'रास नृत्य' जाफ श्रीकृष्ण । एट जि वरी सेक्टर इज जि लाड—इनएपेज जाय इनकार्नेट टुगेदर विद हिज सुप्रीम नेचर हिज सेल्फ रिबील्ड पराप्रकृति ब्हाइल आन जि जाट म एम्प्रेस्ड वाइ आल दि एवस्टेसीज जाइन हैडस एण जाइन देयर वाइसेज एण फीट इन जि डा न राउण्ड एण्ड राउण्ड दम दन परफेक् टयू एण हामनी । —आचाय न दलात दमु 'जान आट' ('डास जाफ श्रीकृष्ण' पृष्ठ ६०) (कलाक्षेत्र जडयार मद्रास प्रथम संस्करण १९५६ ई०)

२ हीनरिल जिमर—मिक्स एण्ड सिम्बल्स इन इंडियन आट एण्ड सिविलाइजेशन' (जासफ कम्पराय—संपादित) अध्याय ६—'जि वास्मिक लिलाट आफ शिव' पृष्ठ १६७ (प्रथम प्रकाशन १९४६ ई०) वॉर्नजेन मीगेज स० ६ पेथियन बुकम, न्यूयार्क । १९४३ ई० के तृतीय संस्करण स) ।

श्री आनन्द कुमारस्वामी के प्रख्यात कला समीक्षा ग्रन्थ 'दि डांस आफ शिव' की भूमिका में, सुप्रसिद्ध यूरोपियन चित्रकार श्री राम्या रोला ने इसी शिव ताण्डव कला रूपक के सम्बन्ध में, इस भांति लिखा है—

'भारत की समस्त उदार आत्मा एक सिरे से दूसरे सिरे तक अपने जनसमुच्चय एवं मुख्यव्यवस्थित मध्य महाप्रासाद के शिखर से माना एक 'सायभौम समन्वय' की उदधोपगमा करती रही है। यहाँ कहीं भी आवर्जना नहीं है। सवन समरसता का प्रसार है। जीवन की सभी शक्तियाँ, एक महावन के समान सपीभूत हैं। उसी की सहस्र उदवाहिन भुजाएँ ही माना, नटराज द्वारा, संचालित हो रही हैं—जो स्वयं इस विश्व नृत्य के महत्तम कलाकार हैं। इम सतत-स्पन्नि जीवन उदधि में, सभी का अपना निजी स्थान है और अपना निजी कर्तव्य है। सभी एक दिव्य महानृत्य में भाग ले रहे हैं, जो सब मिल कर एक परम रमणीय समरसता का, साक्षात् दर्शन कराने में समर्थ हैं।'

श्री आनन्द कुमारस्वामी ऐसे प्रथम भारतीय कला विवचक हुए जिन्होंने कि भारतीय कला प्रतीका के बारे में पाश्चात्य देशों का, इस भांति मूल्यवान् निर्देशन किया। उन्होंने अपनी कला समीक्षा निरुद्धा की चयनिका का नाम 'दि डांस ऑफ शिव' (शिव-ताण्डव) साम्प्रदाय ही रखा है। उक्त ग्रन्थ में ही एक विशिष्ट निवन्ध के अन्तर्गत जो इसी शीर्षक से लिखा गया है श्री कुमारस्वामी ने कहा है—

'यह नृत्य वस्तुतः महान्त्य की पञ्चक्रियाओं का प्रतीक है अर्थात् सृष्टि, स्थिति, महार, निरामय तथा अनुग्रह। इनके पृथक्-पृथक् देवता, क्रमशः ब्रह्मा विष्णु रुद्र महेश्वर तथा सनाशिव हैं। अखिल विश्व की वामशीलता का केन्द्रीभूत प्रतीक ही यह महानृत्य है।'

शिव-ताण्डव के उपयुक्त विषय महानृत्य रूप के ही सम्बन्ध में, कडावुल मामुनिवार कत, तमिल ग्रन्थ 'तिन्वत्तावरार पुराणम्' में इस भांति लिखा गया है—

'हमार स्वामी नटराज हैं जो अग्निगर्भ शमीकाष्ठ के समान अपने ताप का अन्तर्लीन रगते हैं तथा जो जड जगम जगत में अपनी शक्ति का संचार करते हैं एवं उन सभी का, विश्व-जनन में प्रवृत्त रगत हैं।'

१ राम्या रोला (प्रस्तावना) 'दि डांस आफ शिव' (आनन्द कुमारस्वामी) पृष्ठ ८७ (एशिया पत्रिका, हाउस, बंबई तृतीय संस्करण १९५८ ई०)।

२ 'दि डांस ऑफ शिव' (शिव-ताण्डव) साम्प्रदाय ही रखा है। उक्त ग्रन्थ में ही एक विशिष्ट निवन्ध के अन्तर्गत जो इसी शीर्षक से लिखा गया है श्री कुमारस्वामी ने कहा है—

३ कडावुल मामुनिवार (तिन्वत्तावरार पुराणम्) श्लोक ७५ ('डांस ऑफ शिव', पृष्ठ ८७ और १८४)।

“उमयी विलसन्म’ नामक एक अन्य प्राचीन तमिल ग्रन्थ म ताण्डव नृत्य क प्रतीका की व्याख्या, इस प्रकार की गई है —

इससे सट्टि का प्रारम्भ होता है। अथवा मुग्धा से उगी की रक्षा का भाव व्यक्त किया गया है। परतन-गत अग्नि ज्वाला से सहारलीना अभिव्यजित होती है। कुछ उठ हुए चरण द्वारा माध्यात्मिक भुक्ति का निर्देश है जिमकी आर तुषुप हस्त इगित कर रहा है।

भारतीय साहित्य शास्त्रियों ने भी लगभग दो सहस्र वर्षों के मुनीप अन्तराय म, अपने साहित्यशास्त्रीय ग्रन्थों म पञ्चात्मक अभिप्रायों का समन्वय के लिए बिलने ही लोकांतर पीराणिक प्रमथा का समावेश किया है जिनमें (६० पू० २००-३०० म जाने वाले) प्रख्यात नाट्य शास्त्र क प्रणेता भरत मुनि सवाप्रमथ हैं। उन्होंने अपने ग्रन्थ क प्रस्तावना भाग म लिखा है कि किस भाँति एक बार देवदेव म स्वामुद-मध्याम ताटक खेला गया। उनका सूत्रधार स्वयं श्री ब्रह्माजी थे। देवी सरस्वती ने उनका निमात्रण एवं निर्देश किया था। ब्रह्माजी ने ही (पूर्वजन्म म) भरतमुनि का भृशुप नाम म जाकर नाट्य धर्म का प्रचार करा की प्रेरणा दी थी।

राजनेगर ने अपना प्रसिद्ध मासिक साहित्यिक ग्रन्थ ‘वाच्यमालागा’ (१९२० ई०) के प्रारम्भ म ही भारतीय कला के अभिप्राय का स्पष्ट एवं प्रसक्त म सूत्रांकित करवा रखा किया है। यह प्रणाली आधुनिक शास्त्रों के विवेचना प्रणाली म बड़ा निरूपण है जिसमें सीधे अभिप्राय पर जा जा का उपाय का ही बड़ा महत्त्व जाता है। बभ्रुः, सीधी व त ता गाः गाः प्रमथा क वाट म ही मन्त्र है। सिन्धु ता सिन्धु - सिन्धु मन्त्र म म अतुष्टि है उन्माः अतिभा म मन्त्र करवा मन्त्राणा ती है। श्रीर मन्त्रांतर न ता अन्त वष तात्रमाभागा का जा सूक्त कर । सिन्धु का उपाय म किया है। उन्माः अन्त वष का प्रारम्भ । अन्त भाँति किया है—

अथ म् उन्माः उपाय कर्त्तव्य जिमसा उपाय स्वयं श्रीरन्त (ब्रह्माजी) ने करवा की अतुष्टि म् ६६ सिन्धु का सिन्धु भा और मन्त्राणा स्वयन्त (परमणी) । उन्माः उपाय म उपाय सिन्धु का उपाय उपाय सिन्धु का । उन मन्त्र म मन्त्र स्वयं (परमणी पुत्र) नामका कर्त्तव्य पुत्र भी एक था । ता पुत्र करवा म म सी का नाम म् ६६ उपाय । ता उपाय मन्त्र पुत्र मन्त्राणा (अति उपाय मन्त्राणा कर्त्तव्य) का जा भूत मन्त्राणा कर्त्तव्य मन्त्राणा मन्त्राणा का अन्त म् ६६ सिन्धु द्वारा प्रमथ करवा पुत्रा म् ६६ सिन्धु सिन्धु मन्त्र म् ६६ मन्त्राणा म् ६६

लाभा के निरासियों में, प्रचारित करो। काव्य-पुरुष ने इस दिव्य नाग को १५ अधिकारणों में विभाजित करके, इस काव्य विद्या का उपदेश अपने दिव्य काव्य विद्या के स्नानका का विस्तार सहित समझाया उही १८ अधिकारणों में अपने इस काव्य मीमांसा अथवा कवि रहस्य' ग्रन्थ में सार रूप में प्रस्तुत कर रहा हूँ।"

उक्त प्रस्तावना से भारतीय ज्ञान विज्ञान परम्परा की उसी विशिष्टता पर प्रकाश पड़ता है जिसमें सभी ज्ञान को 'दिव्य माना जाता है। यह उस तथ्य का भी छातक है कि कला की रचनात्मक प्रतिभा की अमिथ्यजना भी, केवल उदात्त एवं निरपेक्ष उत्तमात्मक कलासजना में ही की जानी चाहिए। राजनेश्वर ने काव्य के इसी महत्व की स्थापना के लिये ही उसे, स्वयं ब्रह्मा द्वारा प्रवर्तित बताया है तथा उसका दवी इतिहास भी समझाया है। ६४ शिष्यों की सरया ६४ कलाशा की प्रतीक है और काव्यपुरुष को ब्रह्मा (विद्याना) का मानस-पुत्र कहा गया है अर्थात् काव्य का जन्म, मनादेश में ही होता है।

राजनेश्वर का 'काव्य मीमांसा' ग्रन्थ इसी प्रकार की रूप-प्रतीक-वृत्ति को अग्रसर करता हुआ चलता है। उदाहरण के लिये इस ग्रन्थ के तीसरे अध्याय में काव्यपुरुषात्पत्ति पर यदि दृष्टिक्षेप करें तो, काव्य सम्बन्धी यह रहस्यरूपक और भा राचक ज्ञान पंखा—

'एक चार देवगुरु वृहस्पति से कथा प्रसंग में उनके शिष्या न पूछा आपके गुरुजा सरस्वता-पुत्र, काव्य पुरुष कौन है? तो वृहस्पति ने उनको बताया कि प्राचीन काल में दवी सरस्वता ने पुत्र की कामना से, हिमालय पर तपस्या की थी। ब्रह्माजी ने उनके तप से सन्तुष्ट होकर उन्हें पुत्रात्पत्ति का वरदान दिया। देवी सरस्वती ने जब काव्य पुरुष का जन्म दिया तो जन्म लेने ही उसने, अपनी माता की वन्दना इस

१ 'अथान काव्य मीमांसिष्यामह, यथापदिश श्राकण्ड परमठिरकुष्ठाभ्यश्चतु पटय शिष्यय । सांजि भगवान्स्वयम्भूरिच्छाजम्य स्वान्तवामिभ्य । तपु सारस्वतया वृदीपसामनि चक्ष काव्यपुरुष आनीत । त च त्वसमयवि, दि यन तपुगा ननिष्यदवर्णिन शुभुव स्वन्त्रितमवर्तिनीषु प्रजामु हितकाम्यया, प्रजा पति वापदिद्याप्रवचनाथ श्रामुडत् । सांटाशाधिकरणा दि यम्य काव्यविद्या स्नाकम्भ सप्रपच प्रावाच । इतीय प्रयातकागवती मभिष्य सवमवमल्प ग्रथन अष्टादाप्रकरणी प्रणीता । तस्या अय प्रकरणाधिकरणमुद्देश ।'

— काव्य मीमांसा अथवा कविरहस्य' (राजनेश्वर) (स० डा० गणामागर राय) प्रथम अध्याय (गात्र मग्रह) पृष्ठ १-२ (चौथी विद्यामवन वाराणसी-१ प्रथम प्रकाशन १८६४ ई०)।

भाँति की—‘संपूर्ण वाङ्मय विश्व, गिरों द्वारा अथर्व म परिणत हो जाता है वह मैं काव्य-पुरुष, हे माता ! तुम्हारा पदवन्दन करता हूँ ।’<sup>१</sup>

राजा राजा ने अपने ग्रन्थ की प्रस्तावना, इस भाँति रूपक प्रतीका द्वारा, प्रारम्भ की है । किन्तु व यही तब सतुष्ट नहीं हुए । उन्हें न केवल ‘काव्यपुरुष’ की उत्पत्ति का ही गणनात्मक निरूपण कराया था वरन् व, यह भी चाहते थे कि व अपने काव्य (साहित्य) के भूतभूत अभिप्राय का तात्त्विक अथवा कलात्मक पद्धति पर, पूर्णतः आवर्तित कर सकें । जत काव्यपुरुष की दिव्योत्पत्ति की कथा को ही उन्होंने, अपसर करते हुए, रूपक रूप में ही काव्यपुरुष की प्रगति कहानी का पुनः इस भाँति वर्णित किया—

काव्यपुरुष को जन्म देने के पश्चात् दधी सरस्वती उस बालक का सघन वृक्ष के नीचे अवस्थित शिला-तल पर लिटा कर स्वयं आकाश गंगा में स्नान करने चली गई । इधर यनादि के लिए समिधा सचयन करत हुए महाभुक्ति उठाना या शुद्ध उधर आ निकल । व उस निरोद्ध बालक को अपने आश्रम में लीवा स गय ।<sup>२</sup>

राजा ने इस स्थल पर या कहा है कि तभी स उठाना का सज्जन लोग कवि कहन लगे । इसी से अथ कविता वरन् वाले भी ससार में कवि कह जान लग । कवि शब्द — कवृ (वणने) धातु से निष्पन्न होता है । इसका अर्थ है काव्यकर्म अथवा काव्य रचना । काव्य के एकरूप हान स ही सरस्वती-पुत्र सारस्वतय भी, लक्षणा स काव्यपुरुष कह जात है । यह समस्त अध्याय ही कथारूपक स युक्त है—

सारस्वती-पुत्र काव्य पुरुष, प्रथम क्रम स विभिन्न प्रदशों में गए और अन्त में, विश्व दश में वत्सगुप्त नामक नगर पहुँच । वहाँ काव्यपुरुष न जायसी (जयति उमा की पुत्री) साहित्य बधू के साथ गाथक पद्धति स विवाह किया । वह उन्हें, तुषारगिरि (हिमालय) पर ले गई जहाँ उमा और सरस्वती दाना सबविनी (समघन) विश्रमान थी । जब वर बधू (सारस्वत जोमेयी) न उन दाना को प्रणाम किया तो उन्होंने उन्हें अपने आशीर्वाद स कवि मानस का निवासी बना दिया । इस प्रकार

१ एव गुरुभ्यो गिर पुण्या पुराणी शृणुम स्म यत्कल धिपण शिष्या कथाप्रसंगे पप्रच्छु कीदृश पुनरसौ सारस्वतय काव्यपुरुषो वो भुर । इति । स तान वृहस्पति स्त्रे । पुरा पुत्रीयती सरस्वती तुषारगिरी तपस्यामास । प्रीतेन मनसा ता विरचित प्रादाच—पुत्र तं मृजामि । अथवा काव्यपुरुष सुपुत्रे । सोऽनुधाप सपादो ग्रहं हृदस्वती वाचमुच्चिरत—यत्तद्वाङ्मय विश्वमथमूल्या विवक्षत । सारस्मि काव्यमानम्ब । पादो व दय तावकी ॥ — काव्य भीमासा’ (राजाखर) द्वितीय ज याय ( काव्यपुरुषोत्पत्ति ) पृ० १४ १५ (सपादक—डा० गंगासागर राय)

२ वही—वृत्ताय अध्याय, पृष्ठ १८

उन दोनों के लिये ही कविलास' रूपी नवीन स्वर्ग की सृष्टि हुई। इस स्वर्गलोक में कवि जन, मृत्युलाक में निवास के पश्चात् अपने काव्यशरीर से निवास किया करन है।<sup>१</sup>

उक्त प्रकार की रूप-कथाओं में, काव्य कला तथा सृजनात्मक प्रकृतियों के सम्बन्ध में, कितने ही गूढ तत्वों का निरूपण किया गया है—यथा काव्य, साहित्य, कविलास (रसविश्व) आदि सभी विषयों की, कथारूप में, परिवर्तना की गई है।

काव्य की दैवी उत्पत्ति तथा काव्य-प्रतिभा की रहस्यमयी दिव्य प्रेरणा को प्राचीनतम यूरोपीय दार्शनिक एव विचारक न भी स्वीकार किया है तथा अनेक रस सिद्ध कवियों ने भाषाशास्त्र परवर्ती काल में भी दैवी प्रेरणा का प्रतिपादन किया है। प्रख्यात यूनानी विचारक प्लेटो ने 'फेड्रस' नामक अपने सम्वादात्मक निबंध में लिखा है (प्लेटो दान का सम्बोधित करके कहता है जो उस काल का प्रसिद्ध काव्य गायक था) —

'जा शक्ति तुम्हें प्राप्त है वह कला' नहीं है, किंतु जसा कि मैंने अभी बताया है वह प्रेरणा' है। तुम्हें एक दैवी शक्ति परिचालित कर रही है इस भाँति म्यूज (कलाओं की अधिष्ठात्री देवी) सबप्रथम, व्यक्तियों का प्रेरित करती है और हम अनुप्रेरित व्यक्तियों से अथ प्रेरणा प्राप्त जन क्रमशः प्रेरणा प्राप्त करत रहते हैं, सभा उत्कृष्ट कवि, चाहे वह महाकाव्य के प्रणेता हो अथवा मुक्तक रचयिता, अपने सुन्दर काव्य का रचना कला द्वारा नहीं करत, अपितु उस प्रेरणा द्वारा करत है, जो उन्हें प्रेरित और अभिभूत करती है। जसा तुमने स्वयं होमर के बारे में बताया है वे मनुष्यों के कार्यों के सम्बन्ध में सुन्दर बातें, कला के नियमों द्वारा नहीं वर्णित करत वरन् वे यहाँ वर्णित करत हैं जिनके लिये म्यूज उन्हें प्रेरित करती है। कवि कला की सहायता से गान नहीं करता, अपितु दैवी प्रेरणा द्वारा। ईश्वर वर्णियों की चेतना का अपने वश में कर लेता है और उनका उपयोग अपने काव्य गायन के लिये करता है। निम्न कोटि के कवि भी दैवी प्रेरणा के वशीभूत होकर अत्यन्त उत्कृष्ट काव्य रचना करते हैं।<sup>११२</sup>

१ 'तन्नाम्नि मनोजमना देवस्य श्रीहावासा विष्णोर्षु वत्सगुल्म नाम नगरम् । तत्र सारस्वतयस्तामोपया गच्छवत्परिनिनाय । ततस्तद्बधुवर विनिर्गत्य तेषु पदोषु निरमाण तुपारगिरिभेवाजगाम यत्र गौरी सरस्वती च मित्र सम्वायौ तस्थुः । तौ च वृत्तान्तो दम्पती दवागिष प्रभावमयन वपुषा कविमानसनिवा सिनी चक्षुः तथाश्च तस्य कविभ्य स्वर्गलाकमकल्पना यत्र काव्यमयन शरीरण, मयमधिरसता, स्थित दहन कवय आत्म्य मोदन्त । — काव्य मोमासा' (राजसमर) (संपादक डा० गंगासागर राय) तृतीय अध्याय पृष्ठ २६

२ प्रख्यात यूनानी दार्शनिक एव विचारक प्लेटो (४२७-३४७ ईस्वी पूर्व) कृत— दार्शनिक (सम्वादात्मकता) के ज्ञान संपादन से उद्भूत। प्लेटो का मूल नाम एरिस्तार्खोन था। यह गुरुराज का शिष्य एव अस्तु का गुरु था।



प्रख्यात यूनानी महाकवि हामर (८०० ई.पू.व) ने अपना महान्या ( कविता तथा 'जाडिसी ) के मगलाचरण में म्यूज ( वाक्देवी ) की स्तुति की है और उससे काव्य प्रणयन की शक्ति की मांग की है । एक अन्य यूनानी महाकवि हिमीपड ने अपने काव्य में यह स्पष्टतया विवक्षित किया है कि 'म्यूज ने अनुग्रहपूर्वक वाच्यरचना का कविता उमने मानने में भर दी थी । बादयिल में आए हुए अनेकानेक पुरातन यूनानी सातों के प्रयोगों में इस आशय के उल्लेख स्थान स्थान पर आए हैं कि कवि केवल किसी पारलौकिक सत्ता अथवा प्रेरणा का ग्रहण करना है और तत्पश्चात् उस प्रकाशित करता है । आग्ल महाकवि मिट्टन जो अपना कृति 'गर्वाज परवर्तीवाल में हुए (जन्म मग १६०८ ई०—मृत्यु मग १६७८ ई०) भी दिव्य प्रेरणा के दृढ़विश्वासों थे । उन्होंने अपने महाकाव्य 'परेडाइज लॉस्ट के मगलाचरण में म्यूज (वाक्देवी) का आह्वान किया है तथा काव्य प्रेरणा का ऐसी दिव्याग्नि के रूप में प्रकल्पित किया है जिसे देवदूत ईश्वर के राजमहासन से लाने हर राष्ट्र के कतिपय भाग्यवान कवियों का प्रयत्न करते हैं । इस भाँति पाश्चात्य विचारणा, दार्शनिकता जालाबका एक महाकवियों पर भी प्राच्य एवं भारतीय—काव्य एवं कला सम्बन्धी दिव्य प्रेरणा एवं दिव्य उत्पत्ति के सम्बन्ध में धारणाओं का समय समय पर प्रतिबिम्ब परिलक्षित होता है ।

उपयुक्त भारतीय कला एवं साहित्य साधना की भाँति एक दिव्य कल्पना तथा उसकी विश्वजनान प्रकृति में अवगमन हुए बिना भारतीय कला मग तथा भारतीय रमणीयतत्व-दर्शन का कोई भी सम्पूर्ण अवधान या समाधान सम्भव नहीं है । श्री अरविन्द ने इसी तथ्य को निम्न शब्दों में व्यक्त किया है—

'बसे ता सभी प्रकार के रमणीय तत्वात्मक रसान्वादन के लिए, रमणाय तत्ववाघात्मक अन्वेषणना को, विकसित स्थिति जान की अपेक्षा रहती है । फिर भी यदि हम, भारतीय कला सृष्टि के सम्पूर्ण जन्मिप्राय की गहराइयों में पठना है, तो उसके लिए हम जाध्यात्मिक ज तदृष्टि एवं सस्कारशीलता का अनिवार्य अपेक्षा रहती है । जयथा हम भारतीय कला सृष्टि के केवल बाह्य रूप अथवा उसकी पृष्ठभूमि की रूपरी सतह तक ही, पहुँच पाएँगे । यही एक विशिष्टता है जो भारतीय कला को, विश्वजनान कलाक्षेत्रों में अनुपम स्थान प्रदान करती है । उसकी ओर से जनात रहने का अर्थ यह होता है कि हम उससे सम्पूर्ण रूप से सवथा जनजान रहेंगे अथवा हम उसके बारे में बड़ी भ्रांतियाँ बनी रहेंगी ।'

१ वन में बल से दृढ़ किया ड दि जाडिनरा कलिद्वशन जाक दि ऐस्वटिक इस्वटक नससरी टु जाल आर्टिस्टिक एप्रसियशन, देयर इज ए स्पिरिच्युअल इनसाइट आर (त्रमश)

श्री अरविन्द ने भारतीय कला की चतुरात्मा की ममत्तने के लिए जिस आध्यात्मिक अतट्ट पिट को इंगित किया है उसकी ओर मात्र भारतीय विचारणा न ही नहीं, वरन कतिपय स्थानगमा पाश्चाय दार्शनिका भी समय समय पर इंगित किया है यद्यपि उनकी मर्यादा बहुत ही थोड़ी है। 'स सम्भव म श्री आनंद कुमार स्वामा न यो निया है—

'धम (आध्यात्म) तथा कला, एक समान आत्मानुभूति के ही दो नाम है— उह हम क्रमशः तत्त्वत्रय तथा तत्त्व विवेक भी कह सकते हैं। यह केवल भारतीय (हिंदू) दृष्टिकोण ही नहीं है। उसकी परिभाषा एवं व्याख्या अनेक विदेशी विचारका ने भी की है, यथा यूरोपियन नव प्लैटोवादी (निया प्लैटानिस्टम) सिश हा, गेटे, स्लैक, शपिनहार, तथा शितर ।"

भारतीय आध्यात्मिक एवं दार्शनिक दृष्टिकोण समझने के लिए, कलाकार को, समाधिस्थ अवस्था में आत्मलौकिक होकर जानानोक द्वारा प्रतिभासित, रमणीय परिवर्तना से निविष्ट एक आरात्मिक स्वप्न द्रष्टा समझना होगा। हमारे आध्यात्मिक एवं धार्मिक साहित्य में कलात्मिक प्रकृति एवं उसकी, मानस उदोयमाना, रमणीय परिवर्तना (आदिष्टिक विजन) पर भी, विचार विमर्श पाया जाता है। वाक्पणकोर विश्वविद्यालय के साहित्याचार्य श्री के० एस० रामास्वामी शास्त्रा ने अपन भारतीय विचारधारा में रमणीय की परिवर्तना' (दि इंडियन कासप्ट आफ दि ब्युटिफुल) ग्रंथ में इस प्रसंग में लिखा है—

जब भी मानव हृदय विश्व का दृश्यमान भाग एवं ब्रह्म की अदृश्य छवि के प्रकाश में, आपूर्णमान हो उठता है, तभी कला का उदय जाना है। कला की मानस परिवर्तना का उदय, पहुँचे होना है तथा उसका द्वारा, मानव हृदय, इस भाँति पुनर्कित हो उठता है कि उस अपनी संपूर्ण कलात्मक सामर्थ्य, अपनापत्त सी जान पड़ती है बिल्कुल तभी मोघ ही बनानार को अपनी हृदगत कलात्मक परिवर्तना का आभ्यन्तर साक्षा

कन्वर तीडेड, इन की ओर टु एटर इटु दि हाउ मानिंग ऑफ इंडियन आर्टिस्टिक प्रियशन। अन्तरवाक्ज धी गट आनली एट दि मरफेस आफ एक्स्टनल प्रियस आर एट दि मास्ट एट प्रियस, जान्सी जस्ट गिलो दि सरफेस। दिस इज दि डिस्टिन्क्चन बरबटर आफ इंडियन आर्ट, एण्ड टु इग्नार इट इज टु फाल टु टोटल एन्काउन्ट्रेशन ओर टु मच गिस अन्तरवाक्जिय।

—श्री अरविन्द— दि सिग्निफिकेस आफ इंडियन आर्ट' अध्याय १, पृष्ठ २७ २८ (प्र० प्र० १८४७ ई० प्रस्तुत संस्करण १९२३ ई०)।

१ अन्तरवाक्जिय— दि फिनासारी आफ दि सिग्नालिक फासम, जिल्ड १ प्रकाशना मास, पृष्ठ ८२ (प्रथम प्रकाशन मूल नाम में १९०८ ई०)।



कलाभिराम रमणीयता के नाम से संबोधित करते हैं वस्तुतः वह उमी की अपनी निजी आध्यात्मिक सृष्टि है। दूसरे शब्दों में यही सौन्दर्यानुभूति सच्चिदानन्द आत्मतत्त्व तथा उसके चारों ओर फैले हुए जड़ जगम जगत् के बीच की सेतु श्रृंखला की भाँति अवस्थित है।<sup>१</sup>

मानव हृदय की यही अनिवचनीय सौन्दर्यबोध प्रज्ञा दृश्यमान विश्व एवं उसकी असीमता के अन्तर में अदृश्यमान (ब्रह्म) की यही रहस्यात्मक स्वानुभूति, जखिल साहित्य सृष्टि एवं रूपकलाभिव्यक्ति का आदिग्यात है। अपने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन विश्वकवि (स्वीडनाथ ठाकुर) ने इस भाँति किया है —

“बाहर जिस अखण्ड आकाश में, ग्रहताराजा का मेला लगा रहता है उसकी असीमता का आनन्द सिर्फ हमारे अनुभव की ही वस्तु है। जिसे सीमा में बाध सकें, उसका ता नाम भाँटा जा सकता है, किन्तु जो सीमा के बाहर है जो पकड़न या छूने में आ नहीं सकता, उस बुद्धि द्वारा नहीं पाया जा सकता। उसे तो आत्म बोध द्वारा अन्तर की किसी भीतरी तट में ही पाते हैं। उपनिषद् में जिस ‘ब्रह्म’ के सम्बन्ध में कहा गया है—न ता उस मन में पात है, न वचन में। उसे जब पाते हैं, तब आनन्द के अनुभव में—जिस प्रेम में, जिन ध्यान में, केवल इस अनुभव की भूख मिलती है वही दार्शनिक अनुभूति विशेष, स्थान पारती है, साहित्य में, रूपकला में।”

जिस प्रेम में जिस ध्यान में जिस दर्शन में आनन्द की अनुभूति सर्वाधिक मुखर हुई केवल वही भारतीय साहित्यशास्त्र, काव्यशास्त्र एवं रमणीयशास्त्र की विवेच्य भूमि बन पाया। यह सौन्दर्यानुभूति जय आनन्दवादी दर्शन ही भारतीय चिन्तन की, विश्व का सबसे बड़ी दान है। इसी विचारधारा में काव्य का ‘ब्रह्मानन्द सहोदर रस’ का अति उच्च पदवी दी गई, जिसका अभिप्राय यही है कि साहित्य के अनुशीलन एवं मनन द्वारा जिन लाकांतर आनन्द की अनुभूति हमें होती है, वह विश्व की सभी प्रकार की सुखानुभूतियाँ स वही अधिक ऊँच स्तर की आनन्दानुभूति होती है।

भारतीय दर्शन साहित्य एवं कलात्मक अभिव्यजना में विपाद क्षाम एवं कर्मण्य को वही भाँशास्त्राय मायता नहीं प्रदान की गयी। आनन्द की सिद्धावस्था ही यहाँ जखिल कला एवं साहित्य सजना की भूमि मानी गई। यह आनन्दवावस्था जन दोना ही प्रकार की लौकिक अनुभूतियाँ स परे है जिन्हें हम सुख दुःख के नाम स अभिहित करते हैं। यह आनन्द की समरसता प्रशांत एवं क्षामहीन दशा है। योग की भाँसा में यही स्थितप्रज्ञ अवस्था भी कही गयी है। इसी अवस्था में रचनात्मक प्रतिभा प्रसून दार्शनिक एवं साहित्यिक सद्ग्रन्थों का प्रणयन होता है तथा रससिद्ध कला कृतियाँ रूपायित हाता हैं।

१ पञ्चभूत (निबंध सङ्कलन)—श्री स्वीडनाथ ठाकुर, पृष्ठ २१

२ श्री स्वीडनाथ ठाकुर—साहित्य धर्म निबंध में।

यह एक सत्रविदिन सत्य है कि भारतीय काव्य नाटक एक नये साहित्य विधाएँ दुःशांत शोकांत विधानों से एक विश्वोन्मात्त नहीं होती थी। इसका मूल में भी साहित्य के मौलिक अभिप्राय की सुरक्षा की भावना ही रहा करती थी। वह मौलिक अभिप्राय है जान-दानुभूति। सौंदर्यप्राप्य एक रमणीय तत्व की साधना इसी जान-दानुभूति की ही प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। भारतीय दर्शन के अनुसार सभी सत्तिका कलाएँ जान-दानुप्रसूत हैं तथा उनका समस्त प्रभाव सभी सृजनात्मक कलाकृतियों में पाया जाता है।

जर्मन बौद्ध जन एव पण्डितों की दर्शना के प्रभाव से जर्मनी में भारतीय साहित्य शास्त्र एक नया समीक्षा में दुःखानुभूति की ही काव्य एक कलात्मक सजन की भूमि मानने का जाग्रह किया जाने लगा तभी अनेक समय काव्य शास्त्रियों ने इसका बलपूर्वक विरोध किया। जर्मनवगुप्त (१६०-१०२५ इ०) ने 'रस का आनन्द रूप माना है। भरत मुनि द्वारा 'नाट्य शास्त्र का अपनी विलक्षण विवेचना— जर्मनव भारतीय में उठाने कलाकार की रमावस्था अथवा जान-दावस्था की निम्न शब्दा में यारया का है—

सभी रस सुख प्रधान ही है क्योंकि स्वभाव के चवणा अथवा मानसिक चिन्तना ही उनका स्वरूप है। यह चवणा एक वन तथा प्रकाशमयी होती है। अतएव आनन्द ही इसका सारभूत तत्व है। एक धन निविष्टन सबदना में हा रसिक का हृदय विश्रान्त हो सकता है। हृदय की अंतराय शून्य अर्थात् निविष्टन विश्रान्त अवस्था ही सुख का स्वरूप है। दुःख, विश्रान्त रूप ही ही नहीं सकता। सारय दाशनिका का कथन है कि दुःख रजावृत्ति का धर्म है। उहाँ का चालत्य का हा दुःख का स्वरूप वत लाया है। रसास्वाद के समय रसिक का चित्त एक धन सबदना में विश्रान्त पाता है। तब उसके हृदय में किंसा प्रसार का चंचलता नहा रहती। अतएव सब रस जान-दानु रूप ही हैं।<sup>१</sup>

'संक्षेप में सौंदर्य बाव्य एक रमणीय तत्व के परिशाधन की सभी अभिव्यजनात्मक क्रियाएँ जान-दावस्था से प्रेरित प्रवृत्तियाँ ही हैं। उनका विविध पक्षा को लेकर भारतीय साहित्य शास्त्रियों एक कला विवेचना में बहुमूल्य विचार विमर्श किया है। एस्केटिक्स नामक जर्मनव मान जाने वाले शास्त्र की जाय उद्भावना युरोप

१ सर्वे जमी सुख प्रधाना रवमचित चवण रूपस्य एकधनस्य प्रकाशस्य जान-दानु सारत्वात्। अन्तरायशून्य विश्रान्ति शरीरत्वात् सुखस्य। जविश्रान्ति रूपता एक दुःखम। तत एव कापिल (मात्य) दुःखस्य चाचल्यमव प्राणत्वम उक्तम रजावृत्तिताम यन्दमि इति जान-दावृत्तना सबरसनाम। —अभिनव गुप्त (अभिनव भारतीय) तथा भारतीय साहित्य शास्त्र जर्माय १६ पृष्ठ ३३३

में (१८वीं शती के मध्य में) हुई। इसके विपरीत का यह एक बलागत रमणीय तत्व शोभा (लालित्य भावना) की साधना में भारतीय विचारका का सुप्राचीन एक महत्वपूर्ण योग रहा है।

पाश्चात्य दशों में विगत दो शतियों अथवा उससे थोड़े पहले, सौंदर्यशास्त्र अथवा रमणीयताशास्त्र (एस्थेटिक्स) का विकास में जो भी सतत्प्रयास हुए हैं, यदि हम उनका भी अध्ययन अवलोकन करके अपनी साहित्य समीक्षा में उनसे कुछ साहाय्य अथवा अंगित ग्रहण करें, तो वह नानाजन साधना की दृष्टि से कोई अनुचित बात न मानी जाएगी किंतु वस्तुतः इस क्षेत्र विशेष में वहां जो भी कार्य हुआ है, वह भारतीय कला एवं साहित्य शास्त्र की सुदीर्घ सरणी की तुलना में बहुत अधूरा और विकीर्ण ही माना जाएगा। आचार्य स्व० नन्दलाले वाजपेयी ने इस संबंध में जो प्रत्यालोचना अपने एक समीक्षात्मक निबंध में की थी वह अपने गूढ़ व्यक्तित्व के कारण चिर स्मरणीय एवं उल्लेख्य है—

बड़े ही गंभीर रूप में यह बात कही जाती है कि भारत और पूर्व के देशों में सुव्यवस्थित कला दर्शन का अभाव है और पूर्व की सौंदर्य चेतना, अभी भी अविकसित दशा में पड़ी है। पश्चिम के इतिहासकारों ने केवल साहित्य के ही नहीं किंतु काव्यशास्त्र और सौंदर्यशास्त्र का इतिहास में भी पूर्वीय देशों के सृजनात्मक और समीक्षात्मक साहित्या का नगण्य विवरण दिया है। तथाकथित विश्व साहित्य और विश्व-कला दर्शन की रूपरेखाओं में भी भारत और पूर्व की देन को या तो अत्यंत स्पष्ट स्थान मिला है या उसकी सम्पूर्ण उपेक्षा की गई है। जिस समय में यूरोप ने राजनीतिक क्षेत्र में पूरा पराजय प्राप्त किया तभी से ऐसी स्थिति चली आ रही है यद्यपि राजनीतिक आधिपत्य अब समाप्त हो चुका है या तेजी से होता जा रहा है, तथापि सांस्कृतिक और साहित्यिक धरातलों पर अब भी वही मनोवृत्ति बनी हुई है। सर्वप्रथम वह साध की प्राप्ति की प्रतिकूल और पान की विरोधक है। दूसरे वह वस्तुस्थिति का गलत चित्र प्रस्तुत करता है और सम्यक बोध का पक्ष रोक देती है दृष्टि धुंधली और विकृत बनी रहती है तथा मूल्यवान् पदार्थों को असातुजित हो जाता है।<sup>१</sup>

वस्तुतः पाश्चात्य जगत में रमणीय तत्व विषयक जिज्ञासा एवं समीक्षा की परम्परा उसी युग में प्रारम्भ हुई जब कि पाश्चात्य व्यापारोच्छ्रु एवं राज्योच्छ्रु यूरोपियन ज्ञानिया का भारत की शस्य श्यामल भूमि से सम्पर्क बढ़ चला। अठारहवीं शती से पूर्व भारतीय कला एवं सृष्टि के सम्बन्ध में पाश्चात्य विद्वानों की धारणाएँ

१ श्री नन्दलाले वाजपेयी— नया साहित्य नये प्रश्न' (अध्याय ६ 'भारतीय साहित्य शास्त्र की रूपरेखा', पृष्ठ १००-१०१) (प्र० विद्यामन्दि, ब्रह्मनाल, वाराणसी-१, १९६३ ई० तृतीय संस्करण)।

विचित्र तथा घूमिल थी। तभी तो मकममूलर जैसे प्राच्यविद के मुह से हम निम्न प्रकार की भाँत एवं निराधार उदभावनाएँ सुनने को मिली—

‘प्राचीन भारतवासी यद्यपि दाशनिष्ठ दृष्टिकोण से उच्चतर प्रतिभा सम्पन्न रहे थे तथा एक प्रकार से उन्नतशक्ति की जाति भी कहा जा सकता है तथापि भारतीयों के चिन्तन में प्रकृतिकृत रमणीयतत्व के परिचय का अस्तित्व भी नहीं पाया जाता।’<sup>१</sup>

मकममूलर ने ब्रह्म साहित्य का अनुवादादि काय किया था किन्तु वे भारतीय रमणीयतत्व दर्शन से प्रकट रूप से अपरिचित रहे। अतएव उनके उक्त कथन को हम अपना जनित एवं आक्षेप भावना रहित मान सकते हैं। पर बीसवी सदी में जय अग्रज कला समीक्षक विलियम आचर ने जान बूझ कर विजेता जाति के मिथ्याभिमान से प्रेरित होकर भारतीय रमणीयता-तत्व विषयक कला सृजन प्रवृत्तियों की खिल्ली उड़ाई और एक संस्कृति समृद्ध प्राचीन कला भावना की परम्परा का तिरस्कृत करने की धृष्टता की तो श्री अरविन्द (अरविन्दो) ने ‘जय’ पत्रिका में ‘भारतीय संस्कृति की ओर से प्रतिवाद’ नाम से एक विद्वत्तापूर्ण लेखमाला प्रकाशित की।<sup>२</sup> इसके पश्चात् यद्यपि इस स्तर की मही गालोचनाओं पर तो कुछ रोक लगी किन्तु फिर भी पाश्चात्य जगत में भारतीय रमणीयता-तत्व दर्शन के बारे में परिचय एवं आस्था का व्यापक जभाव पाया जाता है। दुर्भाग्यवश अपने स्वप्न में भी ऐसी भाव्यता रखने वाला की सृष्टि अभी पर्याप्त है जो ऐस्थेटिकम का भी जय कितनी ही मानोप संधिया के समान, पश्चिम का आविष्कार और प्रसाद ही मानते हैं।

वगन कला एवं उसके उपादानों का निर्धारित करने में यथाशक्य तटस्थ एवं तकसिद्ध प्रणाली का अनुसरण किया जाना चाहिये। इस दृष्टि से यदि पाश्चात्य चिन्तन और दर्शन की अभिनव उदभावनाओं में देशकाल की बन्धलती हुई परिस्थितियों और साहित्य सृजन की नई प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए हम उचित इंगित मिले तो उनकी जाग्रहपूर्वक आवजना भी अपेक्षित नहीं है। किन्तु इस सम्प्रदाय में ऋषिकल्प कविवर रवी द्रनाथ ठाकुर की पर्याप्त समय पूर्व दी गई चेतावनी का फिर भी स्मरण रखना आवश्यक है—

जिन जन्मों देशवासियों ने अपनी भूतवासीन समृद्धि को खो दिया है उनका

१ मकममूलर नामक सुप्रसिद्ध जर्मन प्राच्यविद (विलियम नाइट द्वारा अपने ‘दि फिलासोफी ऑफ दि ब्यूटिफुल लण्ड १, पृष्ठ १७ पर मूल जर्मन से अंग्रेजी में अनूदित एवं उद्धृत।)

२ आगे चलकर यही लेखमाला पांडिचेरी से श्री अरविन्द राधम प्रेम द्वारा पुस्तक रूप में सन १९२३ ई० में प्रकाशित की गई। उपयुक्त प्रसंग, उसी के अध्याय १ पृष्ठ १-५ पर जाया है।

वर्तमान जीवन भी खोया ही जानो। उन्हे अपनी सांस्कृतिक वृत्ति के बीज खो दिये हैं अतएव यह स्वाभाविक ही है कि वे अपनी सांस्कृतिक आजीविका के लिये दर दर भोग्य मागने फिरें। हमे अपने की विषय की उन अभागी उत्तराधिकार वचित जानियो मे नही कल्पित करना चाहिये। समय जा पहुँचा है कि हम अपन पूवजा की अक्षय निधि के भण्डार को खाल कर देखें तथा अपन वर्तमान जीवन व्यापार के लिये उसका यथावश्यक सदुपयोग करें। इस भाति हम अपने भविष्य को अपना बना सकेंगे तथा विदेशी जातिया के कूडे के ढेरो मे से सदव चिये चुनने की वृत्ति का, परित्याग करेंगे।<sup>१</sup>

नविकल्प श्री रवि ठाकुर ने जिस 'पूवजा की अक्षय निधि के भण्डार, की ओर संकेत किया है उसकी हमारे आधुनिक एव साहित्य युगांतर में हम नितान्त आवश्यकता है। फिर भी विदेशी जातिया के कूडे के ढेरा मे से सदव चिये चुनने की वृत्ति, अभी भी हमारे राष्ट्रीय एव साहित्यिक जीवन से सवथा निमूल नही हो पाई है। इस तथ्य का ही दृष्टि में रखते हुए 'हिंदी साहित्य का वृहत इतिहास' के प्रथम भाग के सम्पाक प्रत्यान नारनाविद्याविद स्व० टी० राजबली पाण्डेय ने अपनी 'प्रस्तावना' में कुछ पते की बातें लिखी हैं। उन्होंने हम यूरोपियन परम्परा पर जबलम्बित रहने की व्याधि से, निम्न सन्तुलित एव सममित शब्दा में सावधान किया है —

यूरोपीय (लोग) गुट आक्रमणकारी और शोषक थे। वे भारत में बसने नहीं आवे थे। अतः वे भारत में अत्यन्त वजनशीलता के साथ रहे, उनके जीर हमारे बीच आदान प्रदान का प्रश्न ही नहीं था। उन्होंने अपनी राजनीतिक सत्ता की तरह देश पर अपनी भाषा और सस्कृति का आरोप करने का भी प्रयत्न किया। परन्तु केवल आरोप के द्वारा अंग्रेजों भाषा और यूरोपीय सस्कृति का प्रभाव भारत पर उतना नहीं पाने पाया। ऐतिहासिक कारणों से आधुनिक युग में यूरोप का प्राधान्य एक सत्तारूपापी घटना है। उसका आतंक और प्रभाव जीवित के प्रत्येक क्षेत्र पर पडा है। भाषा और साहित्य भी इसमें मुगधित नहीं है। आतंक और प्रभाव शब्द का प्रयोग यहाँ जान बूझ कर किया गया है। यह आतंक भ्रमभाव की तरह परम्परागत

१. अनफाचुनेट पीपल हू सारट रि हारवेस्ट आफ दयर पास्ट, हेव लॉस्ट देयर प्रजेट एज। द हेव मिस्ट दयर सीडस जाफ सिविलिजेशन एण्ड गो एवेगिंग, फार देयर दयर निवलीहुड। बी मस्ट नॉट इमेगिन दू वी आर वन ऑफ दीज रिगिडनहेरिटेड पीपल्स ऑफ रि वर्ल्ड। रि टाइम हैज कम फार अम टू ब्रेक आपिन रि ट्रजर आफ अवर एसम्स एण्ड यूज इट फार अवर कामम आफ लाइफ। सेट अस विद इंसोफ भव जवर पपूवर, जवर जोन—नेवर कटि-यू जवर एग्जिस्टेग एज दि इन्वन् रग पिन्ग आफ अदर पीपल्स टस्टविंस।  
—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर रि सेटर आफ इंडियन क्लर (विश्वभारती प्रकाशन शान्ति निरन्ता १९१६ ई० पृष्ठ ३६)



भारतीय विचार, विषयों और भावनाओं का हिला रहा है, किन्तु फिर भी वह हमारे जीवन का अमिन्न अंग नहीं हो पाया है। अभी भी यह सघन और दृढ़ का अवस्था में ही है।<sup>१</sup>

‘आज हिन्दी साहित्य में ऊपर बतमान तथा सामान्य शिक्षा प्रणाली और चिन्तन का (जो यूरोपीय परंपरा पर अवलंबित है) असाधारण आतंक और प्रभाव है। जब देश दामना में जकड़ा हुआ था तब यो जारोप के रूप में थे, स्वतंत्रता प्राप्त होने के आवेश और प्रवाह के कारण अब वे स्वच्छा से अनुकरण के रूप में बतमान हैं। गत विचारों और बाह्य प्रभावों की नीच बर्ती तो गहरा अंतराल और बड़ी घोर सघन है। वास्तव में सहाज प्रगति और विकास के लिये परंपरा का पान और उम पर अवलंबन आवश्यक है। इस अवलंबन के साथ किसी भी बाहरी प्रभाव को, आमसात किया जा सकता है।

आज हिन्दी साहित्य के सामने महान प्रश्न हैं। इन प्रश्नों का समाधान, पान और अनुभव के सटार हा प्रस्तुत किया जा सकता है। उसको अपनी पीठिका और रिक्त का परिणाम अनिवाय रूप से होना चाहिए। इसीलिए कि पीठिका की सगर्हा और सबल लेकर आगे चले सकें और परंपरा में नई कड़ियाँ और नई मजिला का नवनिर्माण कर सकें।<sup>२</sup>

हिन्दी साहित्य समीक्षा की पूर्वपीठिका तथा उसका रिक्त दाना ही अविचल एवं परम समद्ध है। लगभग डेढ़ हजार वर्षों से हमारी साहित्य समीक्षा एवं बला विवचना की अविच्छिन्न सरणी समुपलब्ध है। पुराणों एवं इतिहास ग्रंथों में इस सुपुष्ट साहित्य-बला माधना की परंपरा के शतावधि विवरण पाये जाते हैं। ईसवी सन के प्रवननके लगभग ३००-२०० वर्ष पहले हमारे देश में आचार्य नन्दिवेश्वर जस रस शास्त्र के निर्माता एवं भरतमुनि जस नाट्य शास्त्र में प्रणेता हो चुके थे। उनके द्वारा किए गए विशद एवं पागापाग शास्त्रीय विवेचन को देख कर हम आज भी विस्मित एवं आश्चर्यचकित रह जाते हैं। वात्सल्यगत रमणीयतत्व की शोध में, तथा उससे अनुप्राणित धननात्मक बला के मानीकरण में इस समद्ध समीक्षा परंपरा से हम अनुपुण सामग्री प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से इस मुनीध परंपरा की बुद्ध विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण उपलब्धियों का पयवक्षण किसी भी वाडमयीन अथवा कलापरक अनुसंधान के लिए अनिवाय है।

१ डा० राजवली पाण्डेय 'हिन्दी साहित्य का बहत इतिहास' भाग १ प्रस्तावना, पृष्ठ ६ (प्र० नागरी प्रचारणी समाज राणी १९५७ ई०)।

२ वही, पृष्ठ १०

भारतीय रमणीयता शास्त्र का इतिहास मुप्राचीन है। सबसे पहले नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि (ई० पू० २००-३००) ने रगमन्त्रीय कला की विशिष्ट एवं विशद विवेचना के प्रसंग में रमणीयता शास्त्र संबंधी सिद्धांतों का भी सम्यक प्रतिपादन किया है। मामह और दण्डी (६००-७०० ई०) इन दोनों रमणीयता शास्त्रियों ने भी भरत का सामार उल्लेख किया है। किन्तु भरत के रमणीयता शास्त्र सिद्धांत के सत्र से महत्वपूर्ण व्याख्याता अभिनव गुप्त (रचनाकाल ६६० से १०२५ ई०) हुए। इन दोनों ही साहित्य शास्त्रियों के अनुसार सभी कलाएँ सहृदय (दशक अथवा श्रोत्र) के मन में रसात्मक अनुभूति को जन्म देने में अपने अपने निजी स्वतंत्र रूप में, समर्थ हैं। संक्षेप में, आद्य भारतीय रमणीयता शास्त्र विषयक निम्न तीन विभिन्न सिद्धान्त सरणियों का प्रतिपादन किया गया है—(१) रम-ब्रह्मवाद, (२) नाद ब्रह्मवाद, और (३) वस्तु-ब्रह्मवाद। साहित्यगत रमणीयता तत्व का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रकार विशिष्ट रूप से रम-ब्रह्मवाद के प्रतिपात्क रह हैं।

जसा कि कहा ही जा चुका है भारतीय रमणीयता शास्त्र सम्बन्धी महत्वपूर्ण ग्रन्थ अभिनव गुप्त रचित अभिनव भारती है जो भरतमुनि कृत नाट्यशास्त्र की ही अभिनव व्याख्या टीका है। उसकी गणना, टीका अथवा व्याख्यात्मक रचना होने पर भी, साहित्य एवं कला दोनों की ही दृष्टि से मौलिक साहित्य ग्रन्थों में की जाती है। यह मात्र-टीका नहीं है वरन् मौलिक सूक्ष्म से समृद्ध एवं विलक्षण प्रतिभा प्रसूत, साहित्य-समीक्षा ग्रन्थ है। अभिनव गुप्त ने भी भरत के ममान ही रगमच को ही अपनी विवेचना का आधार बना कर रमणीय-रत्न का प्रतिपादन किया है, किन्तु भरत के नाट्य शास्त्र की अपक्षा, उन्होंने अनेकानेक अत्यन्त विशद, मौलिक एवं प्रतिभा प्रसूत नवीन उद्भावनाएँ भी की हैं। भरत ने रमानुभूति के केवल दो ही पक्ष माने हैं—रस और ध्वनि (दशन एवं श्रवण)। उनके अनुसार रस (स्वाद) गंध तथा स्पर्श, रसानुभूति के अंग नहीं माने गए क्योंकि रगमच के माध्यम द्वारा दशक उक्त तीनों अनुभूतियों के स्वानुभव की परिधि से, परे रहता है। भरत के अनुसार श्रवण और दशन समान रमानुभूति (साधारणीकरण) के विषय बन सकते हैं। किन्तु रस (जास्वाद) 'गंध स्पर्श' के सम्बन्ध में विज्ञानों में भव विभिय पाया जाता है।

पंच ज्ञानन्द्रिया द्वारा अनुभूत सुखानुभव तथा सूक्ष्म रसात्मक अनुभूति के अन्तर की सम्प्रदा पर भी भरत ने विचार किया है। इन प्रश्न पर पाश्चात्य कला विवेचना में अज्ञात भी पयाप्त भ्रान्तियाँ एवं मनभ्रंश दिखाई देते हैं। भरत के अनुसार भौतिक सुखानुभव सूक्ष्म रमानुभव का केवल आविर्कारण ही माना जा सकता है। किन्तु परिणामत रमानुभव एक तथया भिन्न कोटि का अनुभव है।

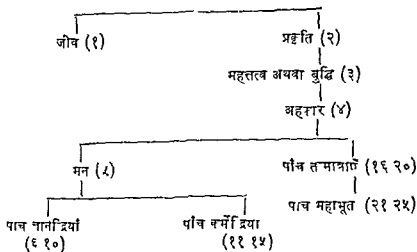
यह कहा ही जा चुका है कि 'अभिनव भारती के उपयुक्त अवतरण (सर्वे अभी मय रमानाम्) में आचार्य अभिनव गुप्त ने, साध्यदान में प्रतिपादित

मुझ एवं दुःख अवस्था का, प्रमथ विभ्रान्तिरूपता एवं अविभ्रान्तिरूपता की सजा प्रदान की है। उन्होंने कपिल दर्शन अथवा सांख्यशास्त्र द्वारा निरूपित मन, बुद्धि एवं अहंकार के सकल्प विकल्प से अनुचालित गुण दुःख अवस्था एवं स्थितप्रज्ञता जादि मानस अवस्थाओं की भी विशद चर्चा की है। सांख्यशास्त्र में उसी पर अत्यन्त विस्तारपूर्वक व्याख्या की गई है। भरत मुनि वृत्त नाट्यशास्त्र में भी पंच भानेन्द्रिया द्वारा अनुभूत सुखानुभव तथा सूक्ष्म रसात्मक अनुभूति के बीच के अंतर का गमभाने का पर्याप्त प्रयास किया गया है। तत्पश्चात् अभिनव गुप्त से लेकर हमारे आधुनिक हिंदी समीक्षाचार्यों तक इस प्रश्न पर पर्याप्त चर्चा हुई है। पश्चात् मनो विश्लेषण तथा मनोविज्ञान के पंडितों ने भी इस पक्ष पर बहुत कुछ लिखा है। किन्तु भारतीय सांख्यशास्त्रीय प्रतिपादन, उनसे कहीं अधिा वनानिक एवं समाधानकारी है।

भारतीय आध्यात्मिक विश्वास के अनुसार सारथ शास्त्रकारों ने यह बताया है कि ब्रह्म ने अपना व्यापक अभिव्यक्ति के लिये एकोऽहम् बहूस्यामि की भावना की, और इस भांति उसका जीव एवं प्रकृति का समुक्त अस्तित्व स्थापित हुआ। किन्तु पुनः (जीव) एवं प्रकृति के समन्वित अस्तित्व अथवा यत्तित्व के मूल में सप्रथम अभिव्यजनात्मक चेतना मूलभूत रूप में बुद्धि अथवा महत्त्व के रूप में उन्मि हुई। इसका सीधा परिणाम अहमत्रहोस्मि से विपरीत गति में प्रवृत्त होना हुआ अहमास्मि' अथवा अहंकार में प्रविष्टित हुआ। अहंकार का द्वन्द्वरूप है (१) मन तथा (२) पंच तन्मात्राएँ। पंच तन्मात्राएँ पांच तत्वा से बने हुए मानव शरीर के सूक्ष्म प्रकृतित्त विभिन्न रूप हैं। मन का विस्तार एवं व्यापार, अनन्त एवं अपार है। इसी के द्वारा मानव अपने लघु भौतिक अस्तित्व को लांघ कर विश्वविहारा व्यापार में प्रवृत्त रहता है।

मानसिक व्यापार की दो भिन्न प्रक्रियाएँ हैं—एक बहिर्मुखी एवं दूसरी अन्तर्मुखी। पंच तानेन्द्रिया बाह्य जगत से तानमय सम्पर्क के माध्यम हैं तथा पंचकर्मेन्द्रियाँ, कम व्यापार में मन के जादेजा का पालन करती हैं। इस त्राय व्यापार में कभी अहंकार का एवं कभी बुद्धि का (एक के बाद एक का) प्रभाव प्रबल जान पड़ता है। किन्तु सिद्धि की उपलक्षिक लिये दोनों का परस्पर सामंजस्य अनिवार्य है। अहंकार तत्त्व तथा बुद्धितत्त्व का सामंजस्य ही मानव अस्तित्व का लाकात्तर विशिष्टता प्रदान करता है।

उक्त पच्चीस तत्वा के समन्वित अभिव्यजना समुत्सुक एवं वणना मुखी वृत्ति वाले विनक्षय प्राणी मानव के सूक्ष्म एवं सुगूढ समथान का इस भांति यत्त किया जा सकता है —



‘सतरजनमसाम साम्यावस्था प्रकृति प्रकृते महान महत्व अहंकार । अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयम इन्द्रियम पञ्चतन्मात्रैर्मय स्थूलभूतानि पुरप इति पञ्च विभक्तिगण ।’

(अथान सत् रज तम की साम्यावस्था का ही अर्थ नाम है प्रकृति । प्रकृति का ही महान महत्व का भाव है अहंकार । अहंकार से ही पञ्च तन्मात्राणा का उदभव होता है । तब दोना प्रकार की इन्द्रियाँ (पांच बानेन्द्रियाँ एव पांच कर्मेन्द्रियाँ) भी अहंकार द्वारा प्रेरित होती हैं । पञ्च-तन्मात्राणा से ही पाञ्च स्थूल भूतों का परिचय होता है । इस भाँति पञ्चम तत्वा का समुच्चय पुरप ही मानव का शरीरी अस्तित्व है ।)

इसी तत्व का विवेचन करते हुए श्री एम० हिरियाना ने अपने ग्रन्थ ‘द एम गल्स आफ इण्डियन फिलॉसॉफी’ में इस भाँति लिखा है—

हरक ध्यति, जो रिमा पदाय म व्यवहार करता है पहले उसका भावन करता है तत्पश्चात् उस पर मनन करता है और इसके पश्चात् वह निणय करता है कि वह उमने अपने पण म वहाँ तक उचित या अनुचित है । इतना सब कर लेने के पश्चात् वह सकल करता है—यह क्या मेरे द्वारा सपन होना है और तब वह कम म प्रवृत्त होता है । यह ममी जानने है ।’

१ सांख्यशास्त्र, अध्याय १, सूत्र ६१ तथा सांख्यतत्त्व-बीभुदी (वाचस्पति मिश्र) पृष्ठ २३ । (निणयमागर प्रेम बम्बई १९१२ ई०, मूल १९६६ वि०) ।

२ एवरोवन हू डेल्लि विद एन ऑब्जेक्ट फॉट इन्सूलम इट, दन रिपनेकम अर्पोन इट अन एप्रोप्रियेट इट टु हिमसेन अन रिजान्स — डिम इव टुवी अन बाइ मा तण ये ही प्राणीहम टु एव । निम इज पेमीनियन टु एवरोवन, —एम० हिरियाना, ‘दि एनेगल्स आफ इण्डियन फिलॉसॉफी (जात्र एन एव अनविन सान, १९५१) पृ० १११

अन्त करण जीर उसकी प्रकृति को समझते हुए जाचाय हिरियाना ने कहा है कि बुद्धि अहंकार और मन मानव अस्तित्व में सबसे अधिक महत्वपूर्ण है। सार्व्य दार्शनिक इस सहतत्व वर्ग को 'अन्त करण' कहते हैं। 'अन्त करण' अनुभूतिशील और प्रतिनियामित दानो ही है। अन्त करण, मन के माध्यम द्वारा पानेन्द्रिया की सहायता से, सस्कार प्राप्त करता है और फिर इन प्राप्त सस्कारों पर बुद्धि के माध्यम से नियंत्रण करता है। यह अन्त करण की, अनुभूति प्रक्रिया हुई। दूसरी ओर अन्त करण बुद्धि के माध्यम से नियंत्रण करने के पश्चात् उस नियंत्रण के अनुकूल ही, मन के माध्यम द्वारा इच्छा अथवा वासना में प्रवृत्त होता है। और फिर मन के माध्यम से ही वह कर्मोन्द्रिया को तदनुसार क्रम में प्रवृत्त होने का आदेश देता है।

मन के माध्यम द्वारा पानेन्द्रिया की सहायता से अन्त करण जिन सस्कारों को प्राप्त करता रहता है उसका यह सस्कार-संग्रह 'यापार' केवल एक जन्म तक सीमित नहीं रह कर जन्म-मातर तक भी प्रवर्तित रहता है। इसी से यह धारणा अस्तित्व में आई कि कलाकार जन्मा मृजनात्मक प्रतिमा समुत् साहित्य सजक जन्म से ही कुछ विलक्षण पूजा लेकर आते हैं और वह उनकी जन्म-मातर का कलात्मक साधना अथवा याग की ही प्रत्यक्ष सिद्धि है। योगिराज अरविन्द भी इसी मत का प्रतिपादन किया है। वे सार्व्यदर्शन की उक्त प्रतिपत्ति को और भी जागे बढ़ा कर उक्त तत्व को या समझते हैं—

'समग्र जीवन के अनुभवों के सार-तत्व को आत्मा समेट लेती है तथा जब वह पुनः नया पार्थिव शरीर के रूप में नया जन्म ग्रहण करता है तो वह अपने उत्तरोत्तर विकास के लिए उसी पूर्व अनुभव (सार-तत्व) का आधार बनाकर अग्रसर होती है। जब आत्मा पुनर्जन्म लेती है तो फिर वह अपने मन शरीर प्राण शरीर एवं स्थूल शरीर रूपी आवरणों के साथ अपने क्रम का केवल उतना ही अंश अपने साथ लेकर चलती है जितना कि उसे अपने आने वाले जन्म में और अधिक पानानुभव प्राप्त करने की दृष्टि से नितांत अनिवार्य जान पड़ता है।'

इसी तथ्य को लोकमाय तिलक ने भी अपने गीतारहस्य अथवा क्रमयोग शास्त्र में इस प्रकार व्यक्त किया है —

जब कोई मनुष्य विना पान प्राप्त किए ही मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसकी आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त १८ तत्वा (बुद्धि अहंकार मन) म

१. सि सोल गदम दि एसे शल एलीमेन्ट आफ इटस एक्सपीरियेंसेज इन लाइफ एण्ड मेक्स दट इटम वेमिस आफ ग्रोथ इन सि इवाल्यूशन। 'थेन इन् रिटर्न टु वय इट नेवम अप विन् इटस मटल वाइटल फिजीकल शील्ड—मन शरीर प्राण शरीर स्थूल शरीर—एण्ड एज मच जाफ इटस क्रम एज इज यूसफुल टु एटर्न दि यू लाइफ। श्री अरविन्द 'लाइटस आन् योग' पृष्ठ २६ (आयन पब्लिशिंग हाउस, कलकत्ता, १९४८ ई०) तथा योगप्रतीक (श्री अरविन्द) पृष्ठ ३५ (अरविन्द प्रथमाला कलकत्ता १९३६ ई०)।

इन्द्रिया-पांच तमानाएँ) का यह लिंग शरीर भी, स्थूल दह से बाहर हा जाता है और जब तक उम पुष्प का पान की प्राप्ति नहीं हो जाती, तब तक उस लिंग शरीर के ही कारण उसको नय नय जन्म लेने पडत हैं।<sup>१</sup>

यदि मृजनात्मक प्रतिमा से समुक्त, एव प्रस्तुत जीवन जबधि अथवा पुन जन्म म अर्जित सस्वार से सशक्त, कलासजक अथवा साहित्यकार की अभिव्यजना प्रतिमा का, हम उक्त साध्यशास्त्रीय दृष्टिकाण से परखने का प्रयत्न करें ता एत आर तो वह पच पानिन्द्रिया क माध्यम से अनुभूति प्रक्रिया एव दूसरी ओर उसका प्रतिश्रिया-पक्ष म कर्मोन्द्रिया द्वारा काय-व्यापार, दानो का ही समवय कहा जा सकता है। साहित्य सजन क्रिया म हम काय व्यापार को साधारण काय व्यापार न कह कर सजनात्मक प्रतिमा प्रसृत 'अभिव्यजना योग' अथवा कलाभिव्यजना-याग कहना, अधिक उपयुक्त होगा। इसी योगसाधन के सतत अभ्यास के द्वारा ही, कलासृष्टा, अपनी अनुभूति प्रक्रिया का उत्तरोत्तर सशक्तता एव तीव्रता प्रदान करता है। साथ ही वह अपने अन्त करण क तीना सत्त्वत्वा (बुद्धि, अहकार एव मन) के बीच विनक्षण समवय शीलता अथवा समस्थिति प्रस्थापित करने म भी सिद्धि प्राप्त करता है तथा वह अपने अन्त करण की समुन्नत प्रतिश्रियाशीलता के द्वारा, जात्माभिव्यजना क प्रतिफलित रूप—मजनात्मक कलाभिव्यजना म, कृतकाय होता है। उसी का अत्यंत महत्त्वपूर्ण पक्ष है, वर्णनात्मक कलाभिव्यजना।

भरत क नाट्यशास्त्र के रमणीय तत्व के, पक्ष पर विचार करने पर पता चलता है कि वह ग्रन्थ, केवल नाटककारा एव अभिनयज्ञा क प्रशिक्षण के निय ही नहीं रचा गया था। उसम साहित्य सजन-कला एव उसकी अर्थ ललितकलाज्ञा के समाक्षण क लिए, पर्याप्त उपयागी सामग्री भा उपलब्ध होती है। नाट्यशास्त्र के प्रथम तीन भाग ता नाट्य शिल्प स ही सम्बद्ध है, किन्तु चतुर्थ भाग, रमणीय तत्व सम्बन्धी अनुभूति स ही सम्बन्धित है क्योंकि दशक, नाटकीय अभिनय के द्वारा, रस विभार हो सके, इसके लिय यह अनिवार्य है कि वह रसात्मक अभिनय के अनुकूल, मन स्थिति म होव।

रस शब्द क शाब्दिक अर्थ जनक है। अनुभूति अथवा जास्वाद द्वारा जवगन गुण का नाम ही रस है। इस भाति विविध प्रसगा म उसकी सख्या विभिन्न मानी जाती है। जास्वाद सम्बन्धी पटरस' प्रसिद्ध है। जायुर्वेद म पापकनत्व के गान पान के पश्चात् पाचन क्रिया द्वारा (उद्भूत) अगीकृत प्राणतत्व को रस कहा गया है। साधारण भाषा मे सभी तरल पदार्थों के लिय 'रस का प्रयोग किया जाता है। फल

१ गीता रहस्य अथवा कमयोगशास्त्र (हिंदी रूपांतर)—लावमाय काल गगावर निरक पृष्ठ १८८

या प्ल के सार को भी 'रस' की सजा दी जाती है। नमक पारण, आदि धातु का भी 'रस' कहा जाता है। इसके अतिरिक्त प्रवृत्ति, रुचि कामना, जादि क विषय भी 'रस' शब्द प्रयुक्त होता है।

डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित 'रस क रमणीय पक्ष को इस भाँति समझाने का उद्योग किया है —

'जहाँ तक कि रमणीय तत्त्व का प्रश्न है रस शास्त्र रमणीयाधवाचक है। इसका अर्थ सुगूढ एवं विशिष्टता युक्त माने जाते हैं। तथापि अपने विशिष्ट अर्थों में 'रस' शब्द में उसका मौलिक अर्थ भी विद्यमान रहता है—अर्थात् वह रुचि का उपादान रहता है। यद्यपि वह रुचि भौतिक सुखानुभूति न होकर, रमणीय-तत्त्व समर्पित रसानुभूति हानी है।'

आचार्य भरत मुनि ने अपने 'नाट्य शास्त्र में कुछ अर्थ उद्भावनाएँ भी की हैं जो रमणीय-तत्त्व की दृष्टि से विचारणीय हैं। साहित्य सज्जन प्रतिभा द्वारा पुनर्कल्पित, एक अभिनव सृष्टि है न कि प्राकृत सृष्टि का यथातथ्य अनुकृति। कवि अथवा लेखक की मानस परिवर्तनागत (सूक्ष्मतम विवरणों को समाविष्ट करके) साहित्य-कृति, इस प्राकृत सृष्टि को एक सवधा नया जन्म प्रदान करती है।'

इस तथ्य की पर्यालोचना करते हुए डा० पाण्डेय ने रमणीय-तत्त्व की परिणति का स्वरूप निरूपण इस भाँति किया है —

'भरत के अनुसार रमणीय तत्त्व के परिणति रूप, किसी पदाध विनोप को तुलना अथवा गणना, हम जगत गत पदार्थों में से किसी से भी नहीं कर सकते। कारण कि रमणीय तत्त्व परिणत पदार्थ का, वास्तविक अथवा लाकिक नहीं माना जा सकता—वह न तो प्राकृतिक उद्भव का परिणाम होता है और न उसका रसात्मक प्रभाव सभी दशका अथवा श्रोताओं पर समान अशा में ही पाया जाता है। और न हम उस जवास्तविक कह सकते हैं—जैसे कि आकाश कुसुम होता तो अवास्तविक है, किन्तु फिर भी श्रोता के मन में उसका अस्तिव विद्यमान रहता है। हम उस मायावी अथवा स्वप्निल भा नहीं कह सकते क्योंकि माया तो तत्त्वतः जवास्तविक होती है,

१ इन टि काटेक्ट आफ ऐस्थटिक्स हाण्डवर इट (रस) स्टेडस फार दि ऐस्थटिक्स आजेक्ट । इट हैज ए हाण्डली टक्नीकन मीनिंग । दा, इविन इन टि टक्नीकल सन्स इट रिप्रेन्स दि एनीमेट आफ वारीजिनल मानिंग नमली दि आजेक्ट आफ रतिश नाट सनशुअस वट ऐस्थटिक्स । —डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय कम्पेरटिव ऐस्थटिक्स, भाग १ अध्याय १ पृष्ठ १० (चौगम्वा संस्कृत सीरीज, बनारस १९२० ई०) ।

२ कवे जन्तगतम भावम भावयन भाव उच्यत । भरतमुनि (नाट्य शास्त्र), पृष्ठ ७६, (चौगम्वा संस्कृत सीरीज काशी, १८२६ ई०) ।

किन्तु रमणीय-तत्व परिणत पन्था प्रकट रूप से तथा अनिवायत, वही होता है जमा कि वह अभिव्यजित किया जाना है। सद्योपत रमणीय पन्था का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है तथा उसका अपना निजी रमणीय लोक (रस विश्व) है ता कि दैनिक जीवन स सम्बन्धित जगत से भिन्न, अपना निजी अस्तित्व रखता है।<sup>१</sup>

मामह, दण्डी और अभिनवगुप्त आदि विविध आचार्यों ने भरत मुनि द्वारा प्रतिपादित साहित्यगत रमणीय तत्व की, अपने अपा दृष्टिकरण स, विवेचना की है जिनम म मामह एव दण्डी के, रमणीय-तत्व-बोध के सम्बन्ध म बृद्ध निजी अभिमत थे। मामह न अपने काव्यासकार' ग्रन्थ म रमणीय-तत्व बोध के लिय 'प्रीति' शब्द का प्रयोग किया है। इससे दशक जयवा पाठक के रमणीयता विषय दृष्टिकोण का इगिन मिलता है अर्थात् जो वस्तुएँ हम प्रिय लगती हैं उही का हम रमणीय कहन हैं।<sup>१</sup> कहना न होगा कि एक व्यक्ति स दूसरे व्यक्ति की 'प्रीति' भिन्न होती है। मामह का यह भी मत है कि रमणीय-तत्व-बोध और रगानुभूति दाना समान तत्व है और केवल महाकाव्य म ही इनका स्वतन्त्र अस्तित्व रहता है। अतएव मामह, रघमच के स्थान पर, महाकाव्य म ही रमणीय-तत्व बोध का स्वतन्त्र अस्तित्व प्रतिपादित करत है जा भरतमुनि की मायता से अधिक व्यापक है। प्रगट है महाराव्य म (जयवा उपादास म भी) वगनात्मक विकास के लिए पयाप्त अवसर मिलन के कारण हां, रमणीय-तत्व का स्वतन्त्र विकास समाव्य है।

दण्डी मामह के लगभग समकालीन ही हुए है किन्तु उनका मत मामह की अपक्षा अधिक, तकसिद्ध तथा सुनिश्चित जान पडता है। दण्डी न काव्य के रमणीय-तत्व का माधुय मना ही है और के इस माधुय गुण के समावश के लिए, वाणी और वष्य विषय, दानो म ही माधुय जयवा रसात्मकता का आवश्यक मानत है —

'काम्य सर्वाऽप्यलकारो रसमर्थे निविचति ।  
तयाप्य ग्राम्यतवन भारम् वहति भूयसा ॥  
इति ग्राम्य अयम जर्वात्मा वरस्याय प्रकल्पते ।  
त्वयि निमस्तर दिष्टयेति अप्राम्योऽर्थो रसावह ॥  
मधुरम रसयत् वाचि वस्तुयापि रसस्थिति ।  
येन माद्यति धीमती मधुनव मधुव्रता ॥'

१ 'कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स भागप्रथम इण्डियन एस्थेटिक्स', (डा० वानिच द्रपाण्डय) अध्याय १ पृष्ठ २३ २४

२ तुलनीय-वाल्लिदास—कुमार सम्भव सग ५ श्लोक १— प्रियपु सौभाग्य पला हि चारुता ।

३ काव्यादर्ण ( दण्डी ) अध्याय १ श्लोक सरत्या त्रमश ६२ ६३ तथा ५१



(अर्थात् माधुय जगाम्यता म पतिष्ठित है । अगाम्यता का जय है वग्य । उसी का नाम वयोविन भी है । गाम्यता वैरस्य लानी है जगाम्यता रमावह हाता है । माधुय का अध रसवत्ता ही है । इम माधुय के कारण ही रसिन जन, काव्य पर, भ्रमर के समान लुध हात हैं ।)

वामन जीर उदमट समनातीन काव्यशास्त्री थ जिाका समय ८०० ई० व लगभग था । वामन ने जात्र प्रगाद श्लप समता समाधि माधुय सौकुमाय, उदारता, अध-यविन तथा कान्ति को काव्यगत जमि-यजना शती के प्रधान गुण माने हैं । इम मीनि वामन ही प्राचीन काव्य शास्त्रिया म सवप्रथम जालाचक्र हुए जिहनि जमि-यजना परक वणनात्मक वना की विापताआ पर भा विचार किया है । इमा लिय व रीति जथवा भापागत जमि-यजना (वणना) शता को ही काय की जात्मा मानन है—

रीतिरात्मा कायस्य —

तथा—

ओज प्रसाद<sup>१</sup>तेपसमतासमाधिमाधुय ।

सौकुमाय उदारताय यत्तिकान्तयो यद्य गुणा ॥”

उदमट न भी वामन क समान काव्य क भापागत सौ दय एव शला पर विचार किया है तथा परुषा, नागर्िका कोमला नामक तीन प्रकार की वणन शलियों की व्याख्या की है । उदमट न काव्य म रस का महत्व स्वाकार किया, किन्तु उस काव्य की आत्मा नही माना । उदमट के अनुसार काव्य की जात्मा अलकार है अर्थात् व काव्य क भापागत सौय का प्रधानता दन हैं ।

आन दवद्धन (८४० स ८७० इ०) का ग्रथ ‘ध्वयालाक काय शास्त्र एव रमणीय-तत्वा वपण का दृष्टि स एक युगा तकारी ग्रथ माना जाता है । उहान पहल पहल, हन्वादी अलकार पद्धति के विवचन क श्रम का तोड कर काय जथवा साहित्य की मार्मिक समीक्षा पर बल दिया कयाकि कायशास्त्र पर अनेकानक अलकार ग्रथा के निरूपण द्वारा काव्य क उदात्त महत्व को भुला कर जालकारिकता का ही काय सवस्व समभा जाने लगा था ।

श्री जान-दवद्धन क ध्वयालाक ग्रथ की एक विशद टीका, आग्ल भापा म डा० व० कृष्णमूर्ति न का है । उसी के प्राक्कथन क रूप म श्री के० आर० श्रीनिवास जय्यगर ने ध्वनि सिद्धा त पर या तिला है—

साहित्य क अनुशीलन म रस जथवा जमि-यजित अनुभूति निर्णायक तत्व है तथा ध्वनि अथवा व्यज्याय का वैमव काव्य का प्राण है । रसध्वनि सिद्धात का यही

१ कायालङ्कार सूत्रवृत्ति ( वामन ) पृष्ठ १४ तथा ७० (प० जीवानन्द सपान्ति सस्वरण, १९२२ इ० कलकत्ता) ।

सार है जो कि काव्यशास्त्र पर लिखे गए सम्युक्त महाग्रन्थों के बीच हिमालय के उत्तुंग शिखर के समान, हम सबमें अधिक जान-ददायी है।<sup>१</sup>

कवि के शब्द माना नवजीवन के नवाह्लास के नृत्य के समान है। ध्वनि ही कवि की आत्मा की वेगवती निम्हरिणी के समान सतत गतिशील रहती है। जब कि पाँच जानद्विया हमें, बाह्य जगत से परिचित कराती हैं यही छठी जानानुभूति ध्वनि हमें जगत की वास्तविकता की प्रायः देहरी तक पहुँचा देने में कृतवायव्य हानती है।

आनन्दबद्धन के अभियोजना सिद्धान्त की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है—

(क) मुख्याय की छाड़ कर लेखक या कवि, लक्ष्याय अथवा अमुरय अथ का सहारा लेता है। इसका कारण यह है कि वह उही लक्ष्यार्थों के द्वारा अपने प्रयोजन को अभिव्यक्त करता है। यही 'व्यंग्य' है जिससे द्वारा वह रसिक हृदय को प्रभावित करता है।

(ख) व्यंग्याय का सुदूरतम रूप ही 'रस' है। वह स्वसवेद्य है। वह चवणा, अथवा मन में बार-बार चिंतन द्वारा अनुभव गम्य है। माधुर्य, जाज एव प्रसाद, मन की अवस्था का व्यक्त करत है जिनके द्वारा रसास्वादन सम्भव होता है।

(ग) महाकवियों के काव्य में शब्दों का व्यजना-व्यापार भी प्रधान होता है। अतएव व्यंग्य-व्यजक रूप शब्दाथ सम्बन्ध ही, काव्यगत साहित्य-तत्त्व है। इस सम्बन्ध का हा, ध्वनि कहते हैं। अतः ध्वनि ही काव्य का आत्मा है। ध्वनि शब्द से व्यंग्य, व्यजक और व्यजना तीनों का बोध होता है।

(घ) रस के आस्वादन के लिए रसिक की योग्यता भी अपेक्षित है। यह योग्यता व्याकरण अथवा तक के ज्ञान मान से ही नहीं जा सकती। उसके लिए रसिक में प्रज्ञा की विमलता तथा बदन्य हाना आवश्यक है।

आनन्दबद्धन के 'ध्वन्यालोक' पर अभिनव गुप्त ने लाचन के नाम से जो पूर्वोक्तलिखित प्रसिद्ध टीका रची है वह एक प्रकार से एक स्वतंत्र शास्त्रीय ग्रन्थ ही माना जा सकता है। (लोचन अथवा आलाचन) यह दसवीं शताब्दी का कृति है।

अभिनव गुप्त ने 'ध्वनि' शब्द का सम्पूर्ण इतिवृत्त बताने हुए कहा है कि इसका

१ इन दि एप्रेसियशन आफ़ निटरचर रस आन् कम्प्युनिकेटड सिसिपिलिटी इज दि डिसाइडिंग पैक्टर एण्ड ध्वनि आर दि रिचनस आफ़ जण्टर टान्म, इन दि सोल आफ़ पोद्री। सच इन ए नटशल वाज दि रसध्वनि' विचारी परहेप्स दि मोस्ट रिवाइडिंग पीवस आफ़ आल दि हिमालयाज आफ़ सस्कृत ट्रीटाइजेज आफ़ पोन्टिवम —क० जार० श्रीनिवास जय्यगर, डी० लिट०, आंध्र विश्वविद्यालय (अपनी ध्वन्यालोक एण्ड विचरी आफ़ सन्सगन इन पोन्टी का प्रस्तावना में) [प्रकाशक पूना जारियन्स पुन एजेंसी पूना २] १९५५ ई० पृष्ठ ६१०

प्रयाग वैश्यावरणीमा ने केवल उच्चारण अथ म लिया है। अथान एक ही शब्द का विभिन्न व्यति विभिन्न ध्वनि म उच्चरित करत हैं। किन्तु कायालाचन म हम ध्वनि शब्द का प्रयाग लक्षित अथ के व्यजना मायम के रूप म करत हैं। वस्तुतः यह 'ध्वनि' ही वाच्य की आत्मा है किन्तु ध्वनिमात्र स साहित्य अथवा वाच्य, रूपायित नहीं हा सवता यह प्रकट ही है। उसके लिए वाचयन अथ उपात्तना की भी आवश्यकता पडती है। ध्वनि, वाच्य की मौलिक सामग्री प्रस्तुत नहीं करता। यह तो वाच्य को विरोधना, रमणीयता और अपूर्वता ही प्रदान करती है। यहना न होगा कि साहित्यसजना की सभी मूलभूत सामग्री जुटान का वाच्य, कलाकार अपनी वण नात्मक कला क माध्यम द्वारा ही कर पाता है। जमिनन गुप्त न ध्वनि' क इसी अपर पक्ष का, 'वस्तु ध्वनि' बताया है। इसी विलक्षण वस्तुध्वनि' का सहायता के लिए जमिनन गुप्त के शब्दा म अलवार ध्वनि रस ध्वनि तथा भावन ध्वनि भा साहित्य सजना कम म, गन् प्रवृत्त रहती है।

जमिनन गुप्त क रमणीय-तत्त्वशास्त्र का आधार बना कर ही डा० पाडय न भारतीय रमणाय तत्व ( इडियन एस्थेटिक्स ) नामक ग्रंथ की रचना की है। उसी की प्रस्तावना म वे बलपूर्वक कहत हैं कि —

'जमिनन भारतीय, भारतीय रसतत्व शास्त्र का सब स अधिक महत्वपूर्ण एव महावाच्य ग्रंथ है तथा उसम वर्णित विषया क सम्पूर्ण एव मनायाग-पूर्वक अध्ययन के बिना, भारतीय रमणीयतत्व के सम्ग्रह म कुछ भी लिखा जाना या कहा जाना सम्भव नहीं है।'

भारतीय रमणीय तत्व वाच्य की प्राचीन शब्दावली म जनक स्वला पर 'जलकार शब्द का प्रयाग भा पाया जाना है। पहले यह रमणीयाय-वाचक पद आधुनिक सवीण अर्था म प्रयुक्त नहीं हाता था वह साहित्य म सौंदर्य तत्व क पदार्थ के रूप म ही प्रयुक्त हाता था।

मामह उदमट, वामन एव रद्रट न अपना साहित्य समाक्षा का नाम का या लकार' पद के साथ ही समुक्त रखा था। उसम, उ हान, रस राति गुण वक्राक्ति के अतिरिक्त सौंदर्य वाच्य के 'कमनीय, ललित', 'चारु', आदि पक्षा पर भी विशद विवेचन किया है। मामह न, जलकार—शब्द का कही भा उसका वर्तमान अर्थ, नहीं दिया। इसी से इस शब्द की व्यापक एव प्रचलित प्रवृत्ति का समर्थन मिलता है जो कि उसके रूप एव आधुनिक अर्थों स मेल नहीं खाता।

दण्डी ने जलकार को काव्य शोभाकर धर्मों' का पयाय बताया है।' वामन

१ डा० कातिधन्त्र पाडय पी एच० डी०, डा० लिट०—कम्पेरेटिव एस्थेटिक्स', प्रथम खण्ड ( इडियन एस्थेटिक्स ) प्रस्तावना भाग पृष्ठ १६ १७

२ काव्यशोभाकरान धमान जलकारान प्रचक्षत। — का यादश दण्डी।

ने 'सौन्दर्य अलंकार' कहा है। अर्थात् उसने स्पष्ट रूप से अलंकार को, काव्य के 'सौन्दर्य पक्ष' का वाचक पद बताया है। उक्त समीक्षकाचार्य, जानन्दवदन के पूर्ववर्ती हुए थे। अतः जान पड़ता है कि ध्वन्यालंकार के समय 'अलंकार' शब्द उसके आधुनिक सर्वांग अर्थों में भी प्रयुक्त हान लगा था। इसलिए अपनी माहित्य समीक्षा में जानन्दवदन ने, काव्यके 'रमणीय पक्ष' के सम्बन्ध में 'अलंकार' शब्द का प्रयोग नहीं किया वरन् उसे चारुत्व 'कमनीयक सौन्दर्य' तथा 'रमणीयता' आदिसंज्ञाओं द्वारा ही अनिहित किया है।<sup>१</sup>

जानन्दवदन से मम्मट तक, लगभग २५० वर्षों के अंतर में जनक महत्वपूर्ण साहित्य शास्त्री एवं कला समीक्षक हुए, जिनमें से कुछ के ग्रंथों का उल्लेख, भारतीय समीक्षा शास्त्र की दृष्टि से, आवश्यक माना जाता है तथा उनका विवेचन में बारम्बार उल्लेख जाता है अतः कालक्रमानुसार उल्लेख्य ग्रंथों एवं उनके रचनाकारों तथा उनके रचनाकालों का विवरण, इस भाँति सारणी रूप में प्रस्तुत है —

जानन्दवदन	—	ध्वन्यालोक	सन् ८४० ई० ८७० ई०
राजशेखर	—	'काव्य मीमांसा'	सन् ९२० ई०
मुकुल भट्ट	—	'अभिधानवृत्ति मातृका'	सन् ९२० ई०
भट्टतीर्थ	—	'काव्य कातुक'	सा ९५० ९६० ई०
भट्टनायक	—	'हृदय दर्पण'	सन् ९५० १००० ई०
अभिनव गुप्त	—	लोचन, अभिनव भारती	सन् ९६० १०२५ ई०
कुन्तक	—	'वक्त्राक्षि जीवित'	सन ९२५ १०२५ ई०
घनजय	—	'दशरूपक'	सन ९७५ ई०
घनिक	—	'अवलोक'	सन् ९७५ ई०
महिम भट्ट	—	'व्यक्ति विवेक'	सन् १०२० १०६० ई०
भाज	—	सरस्वती कण्ठाभरण, शृंगार प्रकाश'	सन् १०१५ १०५५ ई०
धोमद्र	—	आचित्य विचार-चचा'	सन् १०५० ई०
मम्मट	—	काव्य प्रकाश	सन् ११०० ई०

उक्त आचार्यों में से, भट्टतीर्थ, अभिनवगुप्त, धोमेद्र और मम्मट, जानन्दवदन के मन्तव्या के अनुयायी हैं। मुकुल भट्ट, लक्षणावादी है। महिमभट्ट, 'अनुमानवादी' हैं। कुन्तक वक्त्राक्षिवादी है। भट्टनायक व्यञ्जना की पृथक रूप में स्वाकार नहीं करते। राजशेखर ने 'कविरहस्य' (जस्य नाम 'काव्य मीमांसा') नामक ग्रंथ में

१ 'शब्दगता चारुत्व हतव । कमनीयकम अनति वतमानस्य । काव्यस्य हि ललिता चित्त सन्निवेश चारुण ।'— ध्वन्यालोक' (जानन्दवदन आचार्य)।

व्यावहारिक काव्य रचना शास्त्र पर विश्व विचार किया है। उन परवर्ती आचार्य प्रायः जलकारणात्मक रीतिवादी परम्परा के उन्नायक हुए। (भारतीय साहित्य शास्त्रियों के रचना काल की उपयुक्त नियमों श्री श्यामक देशपाण्डे कृत भारतीय साहित्यशास्त्र ग्रन्थ' पर आधारित है) उपयुक्त नियमों इतिवत्तात्मक तथा विवरणों तथा अतिसाम्य द्वारा भी समर्थित है।

भारतीय साहित्य शास्त्र में, रमणीय-नयक परिशासन का उपयुक्त मुक्तिमिा एव विज्ञान परम्परा के इस मर्यादित पर्यावनात्मक द्वारा प्रकृत है कि हमारे देश में रमणीय-सत्त्व-परिशासन लगभग षड् सप्तम वर्षों की जड़ुणा परम्परा के रूप में निरन्तर क्रियाशील रहा। तत्पश्चात् भारतीय जीवन में स्वाध्याय-परम्परा में जिन विनाशकारी एवं विघटनकारी तत्त्वों का उपद्रव रहा वह भारतीय जातीय जीवन में सांस्कृतिक स्वाभिमान के मार्मिक ह्रास में प्रतिफलित हुआ। इतने व्यापक विनाश एवं विप्लव के पश्चात् भी जिनकी वनवशाला सामग्री हमारे इस मुद्राचीन स्वाध्याय शील राष्ट्र में अद्यावधि उपलब्ध है, वही पर्याप्त रूप में हमारा सांस्कृतिक एवं कलात्मक प्रतिभा एवं साधना की ज्वलन साधिणी है।

यदि भारतीय साहित्य शास्त्रों तथा कला समीक्षा से सम्बद्ध हमारी यह पुरातन निधि, हमारी विशिष्ट जातीय-परम्परा की महत्वपूर्ण कड़ियाँ अथवा पुराण धर्म, अध्यात्म, रहस्य भक्ति आदि तत्त्वों से मिला जुता न रहती तो आज वह हमारे लिए, अतुल्य चिन्तन मनन एवं समासाचन साहित्य के रूप में, वहाँ उपलब्ध रह पाती? सीमाव्य से आज वह हमें अपने नवीन एवं आधुनिक समासाक्षा शास्त्र की पुनरुत्थना में समुपलब्ध है। हमारे विशाल देश में हर परिवार में प्राचीन हस्त निहित धर्मों का, धर्मग्रन्थों के समान वस्त्रों में धनपूर्वक बोध कर, जात्रपूर्वक पूजा उपासना-स्थानों में रम्य रहने का परम्परा प्रचलित रही है। इन अनूठी धराहरा में काव्य मात्र आध्यात्मिक ग्रन्थ मात्र एवं कलाकृतियाँ यदि जन्म बहुत प्रकार की सामग्रियों भी थीं। कभी कभी तो स्वयं उन्हें सजा कर रखने वाले उत्तराधिकारी इतने दिग्भ्रम और अकिञ्चन हो गए थे कि उनके बहुमूल्य धर्म विन्शी पयटकों एवं कलाविदा द्वारा कौटुम्हियों के मोल खरीद लिए गए और आज वे हमारी पहुँच से भी पर हैं। इन्हीं में आचार्य नान्देश्वर कृत 'रसशास्त्र' भी है।

उपयुक्त परिस्थितियों में आचार्य विश्वनाथ कृत साहित्यशास्त्र (१३०० १४०० ई०) एवं पण्डितगज जगन्नाथ कृत रस-भगाधर (१६५० ई०) जैसे साहित्य शास्त्र पर रचे गए विशद समीक्षा ग्रन्थों का अवशिष्ट रह जाना भी एक परम विरम्य

१ 'भारतीय साहित्य शास्त्र' (श्री श्यामक देशपाण्डे) पृष्ठ १२ तथा १२०।  
(प्रथम संस्करण—१९६० ई० पाप्युलर बुक डिपो, बम्बई ७)।

की बात ही मानी जानी चाहिए। इन ग्रंथों में न केवल अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की विचारधारा एवं चिंतन सरणी पर नवीन दृष्टिकोण से पर्यवेक्षण प्राप्त होता है वरन् उनमें कुछ ऐसी उदभावनाएँ भी मिलती हैं जो आधुनिक तक सिद्ध एवं वैज्ञानिक अनुसंधान प्रणाली से, पर्याप्त मेल खाती हैं।

पण्डितराज जगन्नाथ-कृत रसगगाधर एक विनोदपत्या विशिष्ट एवं उल्लेख्य ममीया ग्रंथ है इस ग्रंथ पर पर्याप्त माया टीकाएँ भी इसलिए उपलब्ध हैं क्योंकि यह, संस्कृत कायशास्त्र के अध्ययताओं के लिए हमारे संस्कृत विद्यालयों में प्रायः पाठ्य ग्रंथ के रूप में भी प्रयुक्त होता रहा है। पण्डितराज जगन्नाथ, बड़े सहृदय साहित्य मगन एवं मुक्ति भी थे। उन्होंने श्रीमदशकृष्णाय की 'सौन्दर्यलहरी' नामक, देवी सरस्वती के प्रशस्ति स्तौत्र की परम्परा में, अपने मरम एवं भावमय काव्य 'गंगा-लहरी' की भी रचना की थी जो गंगामया की उपासना करने वाले भक्तों में, अपने मय सारम्य के कारण सद्विद्या से बड़ा लोकप्रिय स्तोत्र रहा है। अपनी काव्य सम्बन्धी नूतन एवं गहन रचि के कारण ही पण्डितराज जगन्नाथ ने 'रमणीयतत्व' एवं रमन्तत्व के बीच के विभेद का भली भाँति समझा और उसे अपनी विशद व्याख्या द्वारा विवेचित भी किया। भारतीय रमणीय शास्त्र के आधुनिक लालित्य शास्त्र के पुनर्निर्माण में यह ग्रंथ रत्न परम सहायक सिद्ध होता है।

'रस गगाधर' के उक्त विशिष्ट में की जाए सबसे प्रथम लालित्य शास्त्रीय (अथवा अधिक प्रचलित शब्दावली में सौन्दर्य शास्त्रीय) दृष्टिकोण पर ध्यान देने का श्रेय स्व० डा० सुरन्द्रनाथ दासगुप्त जी० नि० को है। उन्होंने बंगला भाषा में 'सौन्दर्यतत्व' नामक एक अभिनव ग्रंथ मने १९८० ४१ ई० में ही रच कर प्रकाशित कराया था। इसमें उन्होंने पौरम्य (प्राच्य) तथा पाश्चात्य विद्वानों के सौन्दर्य सम्बन्धी विचारों की, विशद व्याख्या की है और उनके सम्प्रघ में, अपनी निजी भावनाओं एवं अभिमतों का भी विशद विवचन किया है। उक्त ग्रंथ के प्रथम अव्याय में उन्होंने प्राचीन भारतीय सौन्दर्य शास्त्रियों की धारणाओं का स्पष्टीकरण करते हुए सौन्दर्य तत्व का सवामीण एवं तुलनात्मक अध्ययन भी किया है।

स्वर्गीय आचार्य दामगुप्त, लखनऊ विश्वविद्यालय में दशन विभाग के अध्यक्ष एवं दशन शास्त्र के विद्वान के नाते उनका देश विदेश में पर्याप्त मान-सम्मान हुआ था। वे पाश्चात्य समीक्षा-मण्डलियों के आधुनिक दृष्टिकोण से भी सुपरिचित थे। उन्होंने अपने भारतीय साहित्य शास्त्रियों एवं सौन्दर्य शास्त्रियों के विचारों पर इसी दृष्टि में अभिनव विचार भी किया है। डा० दासगुप्त का मत है कि पण्डितराज जगन्नाथ के ग्रंथ 'रस गगाधर' में, रमणीय जय के प्रतिपादक शब्दों को जो काव्य' की सजा भी गई थी उसमें सौन्दर्य अथवा रमणीय तत्व के, रमन्तत्व से भिन्नत्व वाली दृष्टि का, पर्याप्त निर्देश मिलता है। डा० दामगुप्त ने पण्डितराज जगन्नाथ की उक्त उद्भावना पर विशद विचार किया है तथा 'रमणीयता' शब्द का तात्पर्य समझाते

हुए उहाने 'लोकोत्तराह्लादजनक नानगोचरता पत्ति का उद्धृत किया है—अर्थात् लोकोत्तर शब्द का कोई विशेष लक्षण निश्चित नहीं किया जा सकता। हम उसे केवल अपने निजी अनुभव के द्वारा ही समझ सकते हैं।

'लोकोत्तरत्वम चाह्लादगतश्चमत्कारत्वात्पर पर्यायो'नुभव साक्षिको जाति विशेष। कारणञ्च तदवच्छिन्न भावना विशेष। पुन पुन अनुसंधानात्मा। नामक सूत्र की डा० दासगुप्त ने इस भाँति टीका की है कि वे हमारे चित्त में, वासना रूप से सस्थित सस्कार ही रमणीयता कहलाने वाले चमत्कार की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। अनेक सस्कारों के धार-धार प्रबोधन तथा अनुसंधान के द्वारा ही चमत्कार की सिद्धि होती है। यह चमत्कार मुख्यतः दो रूपों में, दीव्य पड़ता है। एक तो इसका स्वरूप लोकोत्तर हाता है और दूसरे यह ज्ञान जाह्लाद तथा क्रिया शक्ति का मशिनट रूप प्रस्तुत करता है। इसे 'लोकोत्तर' कहने का अभिप्राय यह है कि सांसारिक प्रयोजन नृति से जो आनन्द होता है यह आनन्द (काव्यान्द) उससे विलक्षण प्रकार का ही है।

'रमणीयता' के उपरिनिमित्त लक्षण पर ध्यान देने से यह स्पष्टतया विन्ति हो जाता है कि पंडितराज जगन्नाथ ने 'चमत्कार' को सौंदर्य कहा है। इसे अंग्रेजी में 'इमोशनल थ्रिल (भावभरा रामाञ्च) भी कहा जा सकता है। यह भाव, हमारे हृदय में किसी सुंदर वस्तु के सौंदर्य को देख कर, उत्पन्न होते हैं। इस भाँति हमारे मन पर किसी समय बहुत पढ़ने देखी हुई किसी सुंदर वस्तु का एक प्रभाव अवशिष्ट रह जाता है जिसे सस्कार कहते हैं। इही सस्कारों के सहारे ही सौंदर्य बोध होता है। सुंदर वस्तु एक सौंदर्य की अनुभूति की हमारे जचेतन मन पर एक चिरस्थायी छाप पड़ा रह जाती है। कालान्तर में किसी वस्तु ही सुंदर वस्तु की दृश्य ही वही जयक वित्त मानस स्तर पर फिर उभर जाता है। वही अपने उसी स्वरूप में, हमारे लिये जान-बूझी सिद्ध होता है। पुरानी सुंदर वस्तु के समान ही, कोई नई वस्तु देख कर उसकी जकस्मात् परस्पर समानता देखते ही हमारे मन में जाह्लाद जाग उठता है। इसी कारण पंडितराज ने सौंदर्य को 'अनुसंधानात्मक' कहा है। सारांश यह है कि प्राचीन प्रभावों का, वर्तमान ज्ञान के साथ भावात्मक संयोग घटित करा देना ही सौंदर्य का मूल तत्व है।<sup>१</sup>

पंडितराज जगन्नाथ द्वारा सौंदर्य को पुन पुन अनुसंधानात्मक तथा 'भावना विशेष' मानने से, वणनात्मक साहित्य सृजन की समग्र कलात्मक प्रक्रिया को

१ सौंदर्य तत्व (डा० सुरेन्द्रनाथ दामगुप्त पी एच० डी०, डी० लिट०) (मूल बंगला में सन १९४० में रचित) (हिंदी रूपान्तरकार डा० आनंदप्रकाश दीक्षित) (प्रथम प्रकाशन २०१७ वि० सन १९६० ई०, प्र० भारती भंडार इलाहाबाद।)

सुलभाने म, पर्याप्त योग मिलता है। कवि जयवा उपयासकार ने मन मे, किसी समय विशेष पर, किसी सुन्दर वस्तु मे, सौन्दर्य बोध के संयोग द्वारा कालांतर मे उमी के सम्कारा के, पुन उभर जाने पर वणन प्रक्रिया म, वे ही अथवा सौन्दर्य चित्र पुन उभर आते है और इस भाति, कभी कभी तो वे, अपने व्यक्त सौन्दर्य-बन्ध से, स्वयं लेखक का भी चमत्कृत कर देत हैं। पाठका के मन पर तो उनका अभूतपूर्व प्रभाव चिरस्थायी हो ही जाता है।

पन्द्रितराज जगन्नाथ से पहले तथा भरतमुनि के पश्चात् हमारे अनेकानेक साहित्य शास्त्रियों ने भी इसी साहित्यगत रमणीय तत्व क सम्बन्ध म, अपने-अपने निजी मत-य प्रकट किये है किन्तु उन सभी न प्राय रसात्मक वृत्ति तथा 'रमणीय तत्व इन दोनों पदा को एक दूसरे के समान अर्था मे व्यवहृत किया है। 'रस' और 'रमणीयता' दोनों की सहस्थिति सम्भाव्य है किन्तु अनिवार्य नहीं। वस्तुतः ऐसे विशिष्ट वणन, वणनात्मक कला की दृष्टि मे, उत्तम वणन कहे जा सकते हैं जो अपनी स्वतंत्र सत्ता रखत हैं तथा रमनिष्पत्ति जयवा रसात्मकता से जो सीमे जावद्ध नहीं है। पन्द्रितराज जगन्नाथ ने इसी प्रसंग मे स्पष्ट कहा है कि सब प्रकार की रमणीयता के साथ, रस हा तो सन्नता है किन्तु ऐसे भी अनेक स्थल होते हैं, जहा, 'रस' प्रधान न हाकर, रमणीयता ही प्रधान होती है।' उ होने से निम्न शब्दो म समझाकर कहा है —

'रसवदेव काव्यमिति साहित्यदपणे निर्णयितम्, तत्र । रसवत् अलंकार प्रधाना नाम काव्यानाम अकायत्वापत्ते । न तण्टापत्ति । महाकवि सम्प्रदायस्य आकुली भाव प्रमगत । तथा च जलप्रवाह वग पननोत्पन्नोत्पन्न भ्रमणानि, कर्षिभ्रमणितानि कोपि बालान्बिलकितानि च । न च तत्रापि यथा कश्चित परम्परया रसस्पर्शोऽप्यव इति वाच्यम् । अय मानस्य विभावानुभाव-यमिवाय यतमत्वात् ।' (अर्थात् 'रसमय काव्य को ही काव्य मानना उचित नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने से, जिन काव्यो म वस्तु वणन जयवा जलवार वणन ही प्रधान होगा वे सभी 'काव्य' न कहे जा सकेंगे। उह काव्य न मानना भी इसलिए उचित नहीं जान पडता कि वसा होने पर, कविया की जो प्राचीन परिपाटी चली आई है उसम गण्डवी उत्पन्न हो जायगी। उहोने स्थान स्थान पर जल के प्रवाह, वग पनन और उत्पत्तन, भ्रमण जादि की श्रीडाया का विशद वणन किया है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या वे सब काव्य नहीं हैं? यदि इसके समर्थन म यह कहा जाय कि ऐसे वणन भी उद्दीपन आदि गुणा के कारण, रस मे सम्पृद्ध रहते ही हैं, तत्र ता, बल चलता है 'हरिण दौडना है' आदि वाक्य भी, काव्य हान लगेग। क्योंकि जगन की जिनको वस्तुएँ हैं व सब, विभाव अनुभाव जयवा सवारा भाव कुछ न कुछ ता हो ही सकनी हैं। अतएव यह लक्षण ठीक नहीं।)



पंडितराज जगन्नाथ न इंग्लिश एक बड़ा काम यह किया है कि उन्होंने वर्णनात्मक कला को, 'रस सिद्धांत' से पृथक् एवं स्वातंत्र्य रमणीय तत्व का अधिकारी सिद्ध कर दिया है। इसी दृष्टि से श्री श्यामसुंदरदास ने अपने उपन्यास और रस' वाले प्रसंग को उठाया था तथा श्री गुलाबराय जैसे दो एक वरिष्ठ आलोचकों ने भी उनका समर्थन किया था किन्तु वह तत्त्व एक कलात्मक कसौटी पर यथाथ नहीं उतरता। सम्भवतया उनकी दृष्टि में, पंडितराज जगन्नाथ की कसौटी नही जा पायी थी।

आचार्य सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त ने, रोम विश्वविद्यालय में भारतीय कला के मूलतत्व (फण्डामेंटल आफ इण्डियन आर्ट) पर अपनी भाषण माला प्रारम्भ करते हुए पंडितराज जगन्नाथ के सम्बन्ध में निम्न प्रशंसात्मक वाक्य कहे थे जो अक्षरशः यथाथ है —

पंडित जगन्नाथ एक ऐसे भारतीय लेखक एवं सौंदर्य शास्त्री हुए हैं, जिन्होंने, सर्वप्रथम सत्रहवीं शती में सौंदर्ययुक्त पदार्थों के लिए, रमणीय शब्द का प्रयोग किया और जिन्होंने साहित्य की परिभाषा करते हुए यह भी कहा था कि साहित्य वही है जो अपने अर्थों में रमणीय हो और जिसमें रमणीय अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए उपयुक्त शब्दावली का प्रयोग पाया जाये।<sup>१</sup>

विगत ढाई हजार वर्षों में जिसे भारतीय साहित्यशास्त्रियों ने समय समय पर काव्य अथवा साहित्य में, रमणीय तत्व अथवा सौंदर्य-बोध के सम्बन्ध में प्रसंगवश कुछ ऐसी उद्भावनाएँ की हैं जिनसे प्रस्तुत प्रसंग अर्थात् वर्णनात्मकता के रमणीय पक्ष तथा उसके कलात्मक विन्यास के सम्बन्ध में पर्याप्त विचार-सामग्री उपलब्ध होती है। आचार्य नन्दकिशोर तथा भरतमुनि के समय में और उनके पश्चात् कुछ कालांतर तक साहित्य शास्त्रियों का ध्यान काव्य में रसात्मक तत्व के प्रतिपादन विविध तथ्यों के, सागोपाग अनुसंधान की ओर अग्रसर रहा। यही विश्व-समीक्षा शास्त्र को भारत की सबसे बड़ी एवं अनूठी देन है। समग्र रमणीयतत्व शोध को साररूप में रखा जाना दुष्कर है फिर भी उमके मुख्य तत्व इस भाँति हैं—

ईसवी शती ६०० के आसपास भामह ने अपने ग्रन्थ (काव्यालंकार) में

१. पंडित जगन्नाथ वाज दि फुट इण्डियन राब्टर ऑन एस्थेटिक्स' ह इट्रोड्यूसिङ्ग रिजुअर आफ रिटम रमणीय वन रि सविटीय सेंचरी इन दि सेंस आफ 'व्यूटीफुल' इन ए फिट कासोनस ऑफ वड म एण्ड देयर मीनिंग्स। — डॉ० एस० एन० दासगुप्ता डी० लिट० (रोम विश्वविद्यालय द्वारा डी० लिट० उपाधि द्वारा सम्मानित होते समय दी गई भाषण माला— फण्डामेंटल प्रिंसिपल्स आफ इण्डियन आर्ट — मई सन १९३९ ई० राम। (प्र० भारतीय विद्या भवन, ववई ७) (१९५४ ई०)।

रमणीय तत्व बोधके लिए 'प्रीति शब्द का प्रयोग किया, अर्थात् व ही पन्थाय रमणीय हैं, जो प्रिय हैं या जो अच्छे लगते हैं। उपयासकार अपनी वर्णनात्मक कला की सम्पत् अन्वित्यजना के लिए, बहुधा ऐसे दृश्य अथवा व्यक्तियों का चित्रण करता है जो उसे अभी अभी प्रिय लगे हैं अथवा जिनकी पूर्वमृति उसे बारम्बार प्रिय रही है। प्रीति तत्व, लेखक को अपनी वष्य वस्तु का छाँटन म ही सहायता नहीं पहुँचाता वरन् वह उसे अपनी वष्यवस्तु म प्रीति अथवा निजी अनुरक्ति का रसात्मक संचार करने म भी प्रेरक हाता है और वही उनकी कृति का लाकप्रिय बनाने म सबसे अधिक सहायक हाता है।

भामह के ही समकालीन दण्डी के मन से माधुय ही रमणीय है। मधुर वष्यवस्तु वर्णनीय है। जिन पन्थायों का हम जान मधुर कहते हैं उनके साथ, 'मिठास' का सम्कार जुडा रहता है। किन्तु कालिदास ने भी मधुर शब्द का प्रयोग सुन्दर और रमणीयके लिए किया है।<sup>१</sup> मधुर शब्द का प्रयोग प्राय ऐसे ही पदायों के लिए होता रहा है जो प्रकृति से ही सुन्दर हो। वर्णनात्मक कला की दृष्टि से यह माधुय गुण, कही अधिक महत्वपूर्ण है। प्रकृति सहज मधुर है ही। जो भी व्यक्ति अथवा पन्थाय, प्रकृति का सहज माधुय लिए हुए है वह वर्णन म, उतना ही अधिक जाह्लादकारी होता है। इस मी प्रियत्व से माधुय कही अधिक मनावैनातिक सत्य है। वह हमारी तक सिद्ध चिन्तन प्रणाली के लिए अधिक समाधानकारी भी है।

आठवीं शती ईसवी के आचार्य उद्भट ने जिन शक्तियों का वर्णन किया है वे भी वर्णनात्मक कला की दृष्टि से इसलिए महत्वपूर्ण हैं कि अपने कलात्मक वर्णना मे कुशल उपयासकार अथवा कवि, जाने अनजाने, यथावसर परसा, नामरिका कोमला, रीतियों का प्रयोग करता ही रहता है। विशिष्टतया ऐस उपयासकार जिनकी कलात्मक रचि विशेष उद्बुद्ध है भाव, भाषा और वष्यवस्तु के सामजस्य से, कभी उदासीन नहीं रहत।

आचार्य राजेश्वर न अपने कायमीमासा ग्रन्थ म 'काव्यपुरपोपत्ति के सद्म म काय पुरप द्वारा, बिन्धु, गीत और पात्राल देश के पयटन सम्बन्धी प्रसगा को भी उत्तम वर्णनात्मक साहित्य कृति की विगपताएँ उगाहूत करने के लिए समाविष्ट किया है। उत्तम वर्णनात्मक साहित्यिक कृति के लिए गीती वदर्भी, पाचाली—तीना ही रीतिया के व्यवहार का परिगान, कवि अथवा उपयासकार, दाना ही के लिए आवश्यक है। औभेयी का काव्य पुष्प से परिणय, विदम म पहुँच कर बराया गया है। इसका साकतिक अनिप्राय यह है कि शृंगार जाति प्रसगा म, वदर्भी रीति का प्रयोग

१ सरसिजमनुविद्ध जवनेनापि रम्य मन्निमपि हिमाशो लमलक्ष्मीम तनोति ।

किमिव हि मधुराणा मडन नाहतीनाम ॥

—महाकवि कालिदास, अभिज्ञान शाकुन्तलम' २/२६

हाना ही उचित है। इसी प्रकार इसी ग्रंथ के सातवें अध्याय<sup>१</sup> में श्री बदर्री गौड़ी पाचाली रीतिया का पुन उल्लेख करके यह भी समझाया गया है कि इन रीतियों में साक्षात् दबी सरस्वती निवास करती हैं। इस भाँति राजशंकर ने वणनात्मक कला के इन मूकमलम तथ्या पर विशद विचार किया है।

‘ध्वन्यालोक’ के रजिन्द्रचन्द्र ने, ध्वनि जयवा मुखाव (सजेशन) को काव्य का प्राण बताया है अर्थात् दो ठूँक वात कह देना, कलात्मक नहीं होता। केवल अभिधा में किमी भाव का व्यक्त कर देना, लालित्य प्रधान नहीं हो सकता। आनन्दचन्द्र की निर्धारित कमाठी पर सबथा यथाथ वणन करने के जाग्रही उपयामकार वस्तुतः कलाकार कहान के अधिकारी नहीं हो सकते। कमेरा के समान ज्या के त्या वणन में, कोई भी कलात्मकता नहीं है। कलात्मक वणन प्रक्रिया है कुछ विशिष्ट पनीकारत्मक तथ्या जथवा पदार्थों पर बल देना तथा जयो का परिहार करना।

जमिनदगुप्त ने अपने लोचन नामक ग्रंथ में ध्वनि के जिन विवरणों की विशद व्याख्या की है व (वस्तुध्वनि अलंकार ध्वनि तथा रसध्वनि) में केवल उत्तम काव्य की महान विशिष्टता है वरन वस्तु के ही वणनात्मक कला से युक्त उपयामगत वणन ही प्राण हैं। यही ध्वनियही वणनो में एक अपूर्व युति एवं चमत्कार का समावेश कर देती है जिसके कारण उपन्यासगत के वणन चिरस्मृत हो जाते हैं।

अलंकारशास्त्री ज्ञानियों की साहित्यशास्त्राय मौलिकता एवं उनकी साहित्यिक सूक्ष्म बूझ पर पिछले दशका में पर्याप्त अनुदार आलोचना होती रही है। सम्भवतया यह समीक्षात्मक अनुदारता हमारे राष्ट्रीय सभाम में श्रृंगारिक वृत्तियाँ के बाधक ज्ञान की यात्रा को लेकर ही प्रचलित हुई होगी। वस्तुतः अधिकांश ज्ञान अलंकार शास्त्रियाँ न काव्य में मौदयत्व की परिचायिका में सूक्ष्मता अनुसंधान किया है। उनका दृष्टिकोण कभी भी सकीर्ण जथवा रुढ़ नहीं रहा जैसा कि उनके परवर्ती अनुयायियों में बहुत समय बीत जाने के पश्चात् दृष्टिगाधर हुआ था। इन ज्ञान अलंकार शास्त्रियों ने (जिनमें कि नेता दण्डी थे) साहित्य के मगध मौख्यत्व का ही अन्वयकार सना द्वारा जमिहित किया है। उपन्यास रचना में यह वणनात्मक मौदय अथवा रमणीयत्व कलात्मक दृष्टि से जत्यत महत्वशाली है। उपन्यास तो बहुत बड़ी सरया में रच जाते हैं किन्तु उनमें कोई विरले ही ऐसे होते हैं जिनमें लेखक ने वणनात्मक

१ बदर्री गौड़िया पाचाली ध्वनि रीतियस्तिस्त्र ।

जाशु के साक्षात् निवसति सरस्वती तन तथ्यत ॥

सौंदर्य पर ध्यान दिया हो। महाकाव्य की जेना उपयास कही अधिक लोफ काय हाता है जत उसम इतिम जनकरण की जे ता वण्यवस्तु एव जलकरण के सम्यक सहजभाव को ही सर्वाधिक महत्व दिया जाता है।

अथ जाचार्यों की तुलना में पंडितराज जगन्नाथ (सत्रहवा शती ई०) कही अधिक निकट वर्तों जान पड़ेंगे। इसी भांति उनका साहित्य समीक्षा का अनुपम ग्रंथ रत्न 'रम गगाधर' भी हमारे आधुनिक साहित्य मानीकरण के अधिक निकटस्थ रचना जान पड़ती है। पंडितराज की समीक्षात्मक प्रतिभा कितनी जूठी और मौलिक थी इस सम्बन्ध में स्व० डा० दासगुप्ता ने जो कुछ कहा है उससे अधिक क्या कहा जा सकता है? लोकोत्तरत्वम अनुसंधानात्मा।' वाला उनका सौंदर्य सूत्र तो वस्तुतः एक पृथक् एव उत्तम समीक्षा ग्रंथ का प्रतिपाद्य बनाये जाने योग्य ही है। उपयास रचना में प्रवृत्त अथवा उपयास रचना की ओर उन्मुख, दानो ही कोटियों के कलाकारों के लिए यह सूत्र मनुष्य समान, पुन पुन स्मरणीय है। हमारे चित्त में वासनारूप में संस्थित संस्कार ही रमणीयता चमत्कार की पृष्ठभूमि तैयार करते हैं। जनेक संस्कारों के पुन-पुन प्रबोधन एव उनके उत्तरोत्तर अनुसंधान (मौलिक सृष्टि) के द्वारा ही 'रमणीयता चमत्कार' की सिद्धि हाती है। यह चमत्कार लौकिक पक्ष में आह्लादकर अथवा मनोरंजक होता है तथा आध्यात्मिक पक्ष में 'लाकार' आनंद का प्रदाता होता है। उपयुक्त दोनों प्रकार की मानसिक एव जात्मिक वृत्ति द्वारा ही, उत्तम औपन्यासिक कृति युग युग तक अपने पाठकों को लोकोत्तर आनंद एव शाश्वत सुख की प्रदाता बनती है।

पंडितराज जगन्नाथ ने, जनेक अर्थों में काव्य में (अथवा गद्यकाव्य) उपयास में) वर्णनात्मक कलात्मक रमणीयत्व का सम्पूर्ण समाधान प्रस्तुत किया है। वे भारतीय रमणीयता शास्त्र (एस्वेटिक्स) की भी आधारभूत एव प्रामाणिक रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। उत्तम उपयासकार अपनी औपन्यासिक कृति में उत्तम वर्णनात्मक प्रतिभा के संयोग द्वारा किस भांति 'रोमांचकारी आनंद' (इमोशनल थ्रिल) को संचारित करने में समर्थ होता है उस सूक्ष्म प्रक्रिया की भी पंडितराज ने विशद रूप में समझाया है। 'रमणीयता का जन्म हमारे हृदय में किसी भी मधुर, प्रियकर अथवा सुंदर वण्यवस्तु को देख कर होता है। यह सौंदर्य-भाव हमारे मनागत संस्कारों की प्रतिच्छवि है। कभी किसी भी स्मरणीय क्षण में अज्ञान में समाया हुआ, किसी भी दृश्य पदार्थ का प्रत्यक्ष अथवा रहस्यावृत्त रूप अथवा रमणीयत्व ही हमारे इन संस्कारों का मूलस्रोत है। ये संस्कार ही हमें उत्तरोत्तर सौंदर्यबोध के रस विश्व में विहरण की सिद्धि प्रदान करते हैं। इस भांति समय के प्रवाह में सरपट गुजर जाने वाले असंख्य नश्वर एव जीवन्त हा जाने वाले पदार्थ, भी हमारे जन्तुतर में चिरकाल तक, मुहम्मद आनन्दनामी बन जाते हैं। पहले कभी देखे हुए सुंदर अथवा रमणीय पदार्थ की स्मृति, किसी वर्तमान में, दृष्टिपथ में आने वाले समान गुणधर्मी पदार्थ द्वारा, सत्सा जागृत एव हरी हो

जाती है और वह हमारे मन का एक विलक्षण एवं अनिर्वचनीय जान-द से आप्लावित कर जाती है। उत्तम उप-यासकार, इमीलिए सतत पुन-पुन अनुसंधानात्मक प्रयोगों में, रत रहता है और वह अपने सद्य दृष्ट अथवा पूर्वस्मृत वण्य पन्थियों को हर बार ही, नव नव आविष्कार प्रवृत्ति के द्वारा प्रस्तुत करके हम चमत्कृत कर जाता है।

आजकल उप-यास गत विशिष्टताओं की समीक्षा में ऐसे अनेकानेक प्रसंग भी आ जाते हैं जिनका सम्बन्ध पाश्चात्य जगत में किए जाने वाले समीक्षात्मक अनुसंधानों से भी रहता है। जसा कि स्व० डा० राजबली पाटेय का मत है पाश्चात्य अभिमतो को ग्रहण करते समय हम परम विवेक से काम लेना होगा। प्रायः पाश्चात्य समीक्षात्मक उदभावनाओं का भारतीय वाङ्मय पर आरोप अर्थात् 'यद्यत्क वित्तक एव धूमिल जालाचनात्मक ऊहापोह को जन्म देने वाला ही सिद्ध होता है। इसका कारण भी प्रायः प्रत्यक्ष एव सद्ज ही है। पश्चिम में आलाचारा का सम्बन्धक एव 'यवस्थित उत्तम' एव विकास अभी कठिनाई से दो शक्तियों का अन्तर लाघ पाया है। अधिकांश पाश्चात्य समीक्षाशास्त्री अक्षय एव प्रभूत भारतीय काव्य त्रिमिश्रण एव साहित्य समीक्षण से प्रायः कोर रहे थे। उनकी विमर्श प्रतिभा की पहुँच का क्षेत्र एव विहारभूमि भी सीमित थी। अनेकानेक भारतीय साहित्यशास्त्रीय उपनिषदों का तात्पर्य ने नाम भी नहीं सुना था। उनमें से अनेकों ने उत्तमोत्तम भारतीय साहित्यिक काव्यकृतियों एवं उप-यासों के मूल में तो क्या अनूदिन रूप में भी दर्शन नहीं किए थे। इसीलिए उनकी समीक्षात्मक सर्गियों प्रायः क्षेत्रीय एव 'सामयिक' ही रही हैं। उनमें से विरले ही ऐसे मिलेंगे जिनमें भारतीय चिन्तन के औदाय्य एव शाश्वत तत्व की परछाई भी दीख पड़ेगी। इसलिए किसी भी पाश्चात्य साहित्य-समीक्षा कला समीक्षा अथवा सीमित समीक्षा (एम्प्टिक्स) के सिद्धांतों का हम केवल अपने निजी विषय के द्वारा ही अपने विवेचन में उपयोग कर सकते हैं। इसी तथ्य को सम्मुख रखते हुए यहाँ संक्षेप में उही तथ्या का एव कला-समीक्षा की केवल उही उपलब्धियों का उल्लेख किया जाना उचित होगा जो भारतीय वाङ्मयगत वणनात्मक कला के अनुसंधान में किसी भी रूप में योग प्रदान कर पाएँ।

जिस रमणीयशास्त्रीय अनुसंधान की परम्परा का पटितराज जगन्नाथ ने सम्पूर्ण भारतीय विवेचन की कोटि तक पहुँचा दिया था उसकी परिणति (रस गगाधर) की तिथि सन् १६५० ईसवी है। किन्तु पाश्चात्य जगत में एम्प्टिक्स नामक नूतन पन्थ का आविष्कार १८ वीं शती के मध्य में जर्मनी में वामगाट्टेन नामक विचारक ने किया था। इस बात का राज कठिनाई से दो सौ वर्ष ही हो पाये हैं। अतएव दो सौ वर्षों के इस शिशुवत पाश्चात्य रमणीयत्व के अनुसंधान की, ढाई सत्सवर्षीय सुविवसित रमणीयशास्त्र से तुलना जल्दानीय है—यन् तथ्य ता हम सद्य अनुस्मृत रचना ही होगा। आधुनिक ज्ञान सौन्दर्यशास्त्री हैरल्ड आसमान ने, अपने विषयी

जाफ ब्यूटी' ग्र य की प्रस्तावना म इम रनिष्ठ विान (एस्थेटिक्स) के उद्भव के सम्बन्ध म या लिता है —

‘ एस्थेटिक्स’ हमार समीक्षात्मक शास्त्रा म एक रनिष्ठतर विान है । अठारहवीं शती के मध्य म वामगाटॉन न इसका जन्म दिया था जीर जागे चल कर उसी वा समावेश मनाविानशास्त्र म ज्ञानद्विया द्वारा सगृहीत परिाना के प्रसंग म, किया जाने लगा ।”

‘सौन्दर्य’ ‘परातत्व’ वा सवेदनशील दशन है सत्य ‘परातत्व’ वा तन्शील परिान है तथा मगल ‘परातत्व’ की सकल्प-द्वारा अनुभूति है । ऐगी रहस्यात्मक उपावना का जनक वामगाटॉन, जमनी मे (सन १७१४-१७६२) हुआ था । तत्पश्चात जमनी और उसके आसपास क प्रदेशा म सौन्दर्य तत्व पर अनेक दाशनिी एव विचारका न विचार विमश प्रारम्भ किया । उनम विवेलमन ( १७१७-१७६७ ई० ) वाट ( १७०८-१८०५ ई० ) तथा मन्नेलसाह्य ( १७२६-१७८६ ई० ) प्राय सभी वामगाटॉन के समकालीन विचारक हुए । किन्तु इन जाद्य विचारका एव दाशनिका क पश्चात वस्तुन सौन्दर्य शास्त्रीय परिान वा पाश्चात्य दशन एव साहित्य ममीक्षा म सम्पक् निरूपण करन वाले कवि-दाशनि-कलाविद गेट (जाहेन वाल्फगॅंग वान गट) हुए, जिनका समय (१७४८-१८३२ ई०) पिछली शताब्दी के प्रथम चरण तक पहुँच जाता है । उनकी अभिान शाकु-तलम् की भाव विमोर प्रशस्ति के कारण उनका नाम अनक भारतीया का स्मृति म रहा है । वस्तुत रमणीय तत्व सम्बन्धी भारतीय वाङ्मय का सबप्रथम अनुशीलन करन वाले यूरोपियन विद्वान गेटे ही कह जा सकत है । गेटे का विचार है कि—

सौन्दर्य व्याख्यातात है और सुन्दर’ एक तात्विक दृश्य है । वह क्वापि भूत नहा हा सकता । किन्तु उसका प्रतिबिम्ब मृष्टा एव दृष्टा की सहस्रावधि विभिन्न अतर्प्रेरित तान की अभिव्यक्तिया म, दृश्यमान हाता रहता है तथा उसकी विभिन्न रूपता प्रकृति के ममान ही असह्यरूपा है ।’

गेटे क उक्त कथन का अभिप्राय यह है कि सौन्दर्य एक रहस्यमय जन्मत तत्व है एव एक सहज प्रतिमा सम्पन्न कलाकार की कृतिया म ही उसके विविध रूपा वा प्रतिबिम्ब प्रतिभासित हाता है । गेटे कला का प्रकृति की मात्र प्रतिकृति नही मानत— कला का नाम कला इसीलिय है कि वह मात्र प्रकृति नही है ।

१ एस्थेटिक्स इज ए जूनियर एमग दि फामन साइसेज । इट वाज विगाटन -न दि मिडिल जाफ एट्रीय सेचरी वाइ वामगाटॉन एण्ड दसटॉड इट्टु दि स्टडी जाफ सेसरा परमपान ।’ —हैरल्ड जॉरान थियरी जाफ ब्यूटी (प्रस्तावना, पृष्ठ १) (प्र० रटलेज एण्ड कौगन पाल, लन्दन, १९५२ इ०) ।

गेटे के पश्चात् अनेकानेक दार्शनिक न, अपनी अपनी भावनाओं के अनुसार, सौन्दर्य-तत्त्व की प्रासंगिक विवेचना की है किन्तु उनका चिन्तन मूलतः दार्शनिक एवं रहस्यपरक ही था। उस विशुद्ध कलात्मक एवं वास्तव्यमीन कोटि का विचार विमर्श नहीं माना जा सकता। जर्मनी दशनशास्त्र की विगत दश शताब्दियों में नान भूमि रहा है। शिलर ( १७५६ १८०५ ई० ), हीगल ( १७७० १८७१ ई० ) तथा लाज ( १८१७ १८८१ ई० ) प्रसिद्ध एवं प्रख्यात नामा दार्शनिक हुए हैं। किन्तु प्रायः समान परंपराकृत अथवा जाध्यात्मिक सौंदर्य तत्त्व पर ही चल दिया है।

जर्मनी के उपरान्त उसी के पड़ोसी राष्ट्र फ्रांस में भी सौंदर्य विवेचन की चर्चा चल पड़ी और वस्ता ( १७१३ १७८० ई० ) दिदरा ( १७१३ १७८४ ई० ), ए० सी० क्वानियर दि क्विंसी ( १७५५ १८४६ ई० ) तथा कजिन ( १७८२ १८६७ ई० ) के नाम इस प्रसंग में विशेषतया लिए जाते हैं। इन सभी में अन्तिम जगत् विवेक कजिन ने सन १८१८ ई० में अपनी प्रख्यात 'याग्यानमाला' यु र, द्यु वा एत द्यु वीन ( सत्यम् सु दरम् शिवम् ) द्वारा सत्यम् शिवम् सुदरम् मूत्र का, पश्चात्त्य साहित्य समीक्षा एवं कला समीक्षा में समावेश किया था। एक स्थल पर उन्होंने यह भी कहा था कि सौंदर्य विभिन्नताओं में एकता का प्रतीक है तथा एकता में विभिन्नताओं का भी परिचायक है। कजिन का तात्पर्य यह है कि अखिल प्राकृतिक 'यापार' में यदि हम किसी समान तत्त्व अथवा चेतना का अनुमान करने के लिये उत्सुक हों, तो हम सौंदर्य के ही माध्यम का आश्रय लेना होगा।

कजिन के ही समकालीन क्लाममन टन के अनुसार कला का सम्बंध सामाजिक, जातीय एवं भौगोलिक परिस्थितियों से भी पाया जाता है। इसका अन्विष्टा यह ही है कि यद्यपि कला कृतियों में विश्वजनीन समानताओं की प्रस्थापना का जा सकती है किन्तु फिर भी उन पर, किसी समाज विंगत, जाति विशेष, अथवा भूभाग विशेष का प्रभाव अनिवाय है। इस भाँति, टन ने यूरोपियन कलाविद्या में सर्वप्रथम कला मज्जत 'यापार' के मूल में, सामाजिक, जातीय एवं भूभागीय विनिष्टताओं एवं समानताओं का परिलक्षित किया है। टन ने आगे चल कर यह भी बताया है कि—

यह ता ठीक है कि कलाकार भौतिक जगत के पदार्थों की अनुकृति तो प्रस्तुत करता है किन्तु उसकी कला कृति, सवाग में अनुकृति मात्र नहीं होती। वह निरंतर अपने विवेक द्वारा उसमें संचयन करता रहता है तथा वह उसके सार मात्र का ही उद्घाटन करता है।

चाल्म ला नामक एक जय फ्रांसीसी कलासमाक्षक भी अपनी कला सम्बंधी उद्भावनाओं में सौंदर्य बाध के विषय में इस प्रकार लिखते हैं —

सौंदर्य का निवास मानव मन मात्र में है तथा कलाकार स्वयं प्रकृति से भी अधिक महान है, क्योंकि उस सौंदर्य का परिचय है जब कि प्रकृति में तो कवल

अपने प्रकाशन की ही क्षमता है। यही नहीं कलाकार, प्रकृतिगत कुरूप अपवादों का र करके उनमें निहित विगुण यथाथ का भी परिशोधन करता है और इस भाँति त्र स्वर्ण का उसकी मित्रावृत्त से विलग करता है। कलाकार का काम, जीवन का सत्करण मात्र नहीं है, प्रत्युत वह 'शाश्वत' का भी अनुभव करना है तथा साथ ही उसका उद्घाटित भी करना है। प्रकृतिगत सौन्दर्य, नश्वरता से प्रभावित है कला अपने समय और काल पर विजयी होकर अपने आपको उससे उच्चतर क्षमता पर प्रतिस्थापित करती है।

बेलेट नामक एक अत्य प्राचीनी कलाविद् न सौन्दर्य के पाँच उपकरणों अथवा उपादानों का विश्लेषण भी किया है। उसके अनुसार— प्रकृति की व्याख्या करना, तथा उसका पुनराकरण करना ही कला का जन्मभूमि है। सौन्दर्य के पंचतत्व ये हैं— विभिन्नता, सम्पूर्णता, एकता, सानुपातता तथा परमा शोभा।

यूरोपियन सांस्कृतिक एवं कलात्मक चेतना में इटली का भी पर्याप्त योग रहा है। साथ ही साहित्य एवं कला समाक्षा के क्षेत्र में भी वहाँ के दार्शनिकों ने, विगत तीन चार शतिका से गभीर चिन्तन किया है। बलारी (१६१६-१६६१ ई०) नामक लातीनी कलाशास्त्री के अनुसार—

'कलाकार, प्रकृतिगत सौन्दर्य से प्रेरित भाव रूपा का, अपनी कला के माध्यम द्वारा, साक्षात् करने का उद्योग करता है क्योंकि सम्पूर्ण सौन्दर्य ही उपलब्ध प्रकृति में कदापि समा नहीं पाती। प्रकृतिगत सामग्री की पार्थिव अपूर्णता के कारण, यह सम्भव ही नहीं है। कला प्रकृति से उत्कृष्टतर है। इस भाँति कलाकार प्रकृति से भी आगे बढ़ कर कला का सृजन करता है।

वास्तुविद् यूरोप के दार्शनिकों एवं सौन्दर्य शास्त्रियों में श्रोच का स्थान महत्त्वपूर्ण माना जाता है। सन् १६०१ में नेपल्स नगर में उन्होंने अपने 'सौन्दर्यशास्त्र' (एस्थेटिक) नामक महाग्रन्थ की रचना की थी जिसने कि एक प्रकार से उस काल तक प्रचलित पारिचायक सौन्दर्य शास्त्रीय सिद्धान्तों एवं धारणाओं में, पर्याप्त उत्पत्ति उपस्थित कर ली थी। श्रोच के उक्त ग्रन्थ के जर्मनी में स्थापितकला डगलस एम्सली ने अपनी भूमिका में श्रोच का परिचय निम्न शब्दा में दिया है—

वेनदत्ता श्रोच का जन्म इटली के एक्विला प्रांत के एंजो नामक स्थान पर सन् १६६६ में हुआ था। फिर भी उन्हें नेपल्स निवासी ही मानना होगा जहाँ कि वे बचपन से रहते आए हैं। नेपल्स नगर उस जादुई सागर के तट पर बसा हुआ है जहाँ कि कभी (हामर के कायनायक) यूलिगिस ने अपनी नौका पर पालें चलाई थीं। तथा जहाँ कि आज भी अमाल्फी के निरुद्ध हम माइरना (सम्मोहक जलपरिया) का संगीत सुन सकते हैं। किन्तु किसी भी साइमन के संगीत से भी अधिक विस्मय



कारी ता मुझे 'दियोरी आफ एस्थेटिक एक्सप्रेसन जार द साइम आफ एक्सप्रेसन' (अभिव्यजनावाद का सौंदर्य शास्त्रीय सिद्धांत) नामक कृति जान पड़नी है।<sup>१</sup>

श्रोचे न उक्त ग्रंथ को दो प्रमुख भागों में विभाजित किया है। उनमें से प्रथम भाग शास्त्रीय व्याख्या है जो वस्तुतः महत्व का है। सन १९०० में फरवरी से मई मास के बीच नपल्स स्थित, 'एकेडेमिया पाटिनियाना' नामक विद्वान परिषद् में वह प्रबंधक रूप में दो बार म. पढ़ा गया था जिसका शीर्षक मूलतः था 'अभिव्यजना विधान—साधारण भाषाशास्त्र का एक सौंदर्यशास्त्रीय मूलाधार जोर वह उक्त एकेडेमी की तामची जिल्द में तभी प्रकाशित भी हुआ था।

श्रोचे के मतानुसार ज्ञान के दो रूप होते हैं—एक अंतर्प्रेरित ज्ञान दूसरा तत्सिद्ध ज्ञान। अंतर्प्रेरित ज्ञान कल्पना शक्ति से प्राप्य है तथा तत्सिद्ध ज्ञान बुद्धि तत्त्व से ग्राह्य है। मानव जीवन में निरन्तर ही अंतर्प्रेरित ज्ञान से काम पड़ता रहता है। श्रोचे के अनुसार—

"अंतर्प्रेरणा, सत्य की अस्तित्व की, भद्रभाव रहित एकता है जोर सम्भाव्य की, सरल जाहृति है। अपना अंतर्प्रेरणाओं में हम तांत्रिक प्राणियों की भांति बाह्य सत्य से सगडत नहीं रहते—प्रयुक्त हम अपने सस्मरणा को सरलता से स्थापित करते रहते हैं, चाहें वे कस भी हों।"

श्रोचे का यह उद्भावना पटितराज जगन्नाथ के भस्कार सिद्धांत की अनुवर्ती जान पड़नी है कि कलाकार, साहित्यकार अथवा कवि सौंदर्य के भस्कार का ग्रहण करता है जोर फिर समयान्तर में वह उन्हें ही अपनी कलाकृति में पुनः अवतरित कर डालता है।

श्रोचे की उक्त कला-भरिभाषा द्वारा कला कृति के रूप में उपयामगन वणन प्रक्रिया पर भी कुछ नूतन प्रकाश पड़ता है। कला कृति की दृष्टि से उपयामकार की वणन प्रक्रिया की मूलभूत चेतना सहेज अंतर्प्रेरणा ही है न कि दार्शनिक तर्क वितक युक्त (शास्त्रीय) शास्त्राय प्रेरणा। यह अंतर्प्रेरणा मानव मानस की सत्त्व वणनात्मक कथा प्रवृत्ति से अनुबद्ध है। वस्तुतः कथा कहने जोर सुनने को सहेज मानव अंतर्प्रेरणाएँ ही समग्र कथा साहित्य का उत्स हं। ये सहेज अंतर्प्रेरित कथा कथन प्रवृत्तियाँ जितनी ही सरल अथवा स्वाभाविक होगी उतनी ही वे कथा साहित्य में चिर रजिनी वणनात्मक कला की श्रीवृद्धि करेंगी। कलात्मक वणना द्वारा ही कथात्मक मानव प्रवृत्तियों का, सरल वाडमयीन अभिव्यजना मिलती है।

१ 'एस्थेटिक (अन्तर्प्रेरणा श्रोचे) अग्रजा में अनुवादक डगलस एसनी लिखित प्रस्तावना भाग पृष्ठ १६ से उद्धृत। प्रथम प्रकाशन १९०६ ई०। वर्तमान संस्करण १९५३ ई० (विजन प्रेस पीटर जावन लंदन)।

२ वही, (वनेदेत्तो श्रोचे) प्रस्तावना भाग, पृष्ठ ४

शोचने का अभिव्यक्ततावाद यूरोपीय गमोशा जात में एक प्रशिद्ध समीक्षा-पद्धति का सूत्रपान करता है। यहाँ बना उसमें कुछ पत्रक एवं सप्रमग तथा का ही उल्लेख किया जाना सम्भव है। एक स्थल पर प्रायेण कहा है—

'अन्तर्प्रेरित मानसिक प्रक्रिया जत्र पयाप्त मात्रा में भाव चित्रा का अपना लेती है तभी वह उह अभिव्यक्तता देने में समर्थ है। जत्र अन्तर्प्रेरणा शक्ति अभिव्यक्तता की ओर प्रवृत्त होती है तो भाव चित्र जयत्र सम्मरण शक्ति के माध्यम द्वारा, आत्मा के धूमिल प्रदश में स मनशाशील वतय मनाराज्य में उभर जात है।'

इस प्रकार प्राचने अभिव्यक्तता का तीन प्रक्रियाओं का परिणाम माना है— सवप्रथम, अन्तर्प्रेरणा शक्ति द्वारा चित्रा अथवा सम्मरण का रूप में कलाकार के अन्तस्थल में धर कर लेना जयत्र उसी में रम जाना—त पश्चात् अभिव्यक्तता प्रेरणा से आदोलित होकर उनका शब्द रूप में (अथवा भाषा के माध्यम द्वारा) चोय मनाराज्य में स्पष्ट तथा उभर आना—तथा अन्त एव फलत उही का बना मृष्टि के रूप में प्रकट अथवा अभिव्यक्त होना। इसी मूल्य मानसिक-व्यापार का प्राचने निम्न शक्ति में भी पुन व्यक्त किया है 'सौन्दर्यानुभूति के प्रमग में मानव स्मृति में प्रमुक्त भाव चित्रा अथवा सम्मरण का ही माना पुन नवागीकरण जाना है। उम जल की भाँति, जो परिशोधन प्रणाली में होकर पुन निरमित जाना है जाग फिर भी जिनमें निचि मात्रा सूक्ष्म अन्तर ही ही जाता है।'

सत्रहवीं-अठारहवीं शती के कुछ जाग विद्वानों ने भी साहित्यमृज्जन का प्रक्रियाओं तथा तत्गत कलात्मक उद्भावनाओं के सम्बन्ध में कुछ मौलिक विचार प्रस्तुत किए हैं। उदाहरणार्थ—एथाना ऐशले वूपर (यड जल जाफ शपटमबरी) ने प्रवृत्ति-यत् महानता एवं विशालता, और उसरी मयानता एवं कठोरता को भी कलात्मक प्रेरणा एवं सौन्दर्य मृष्टि का उद्भावक माना है। उयक अनुमार—

'प्रवृत्तिगत महान एवं विशाल तत्व ही नहीं बरन मयानता एव जपर्य पक्ष भी, कलात्मक एवं सौन्दर्य मृज्जनात्मक प्रेरणा के उपायक जान है। जयिल प्रवृत्ति मयान का कल्याणकारी एवं उदार रूप का अन्तर्दशन है। तथा प्रत्यक तत्व यद्यपि सुन्दर न भा है तथापि वह कलात्मक सौन्दर्य मृष्टि के निमित्त सूयबाग अवश्य है।'

१ फीलिक्स जार इम्प्रेसस पास वाग मीस जाफ वडू स फ्राम नि जा स्त्रोर राजन जाफ साल इडू नि कोरिडी बाफ नि क्टेम्पेटिक स्पिरिट। —वनदत्ता शोचने, 'एस्थेटिक' पृष्ठ ८६ (अप्रजी सस्करण से)।

२ 'एस्थेटिक' (शोच) अध्याय २, इट्यूशन एण्ड जाट पृष्ठ ११।

३ नाट आनली नि ग्रेट एण्ड आ इस्पायारिंग वट इविन दि टरिन् एण्ड जग्ली जास्पकटम जाफ नचर मस्ट हैव ए एस्थेटिक लील। दि हाल बाफ नचर इज ए रिचीलीशन जाफ गाडस मुडनम ए बाउटा एण्ड एवार्थिंग मस्टबी, का नॉट व्यूतीफुल, ए स्मिस्ट एस्थेटिकली वल्यूएबल। —एथानी एण्डने वूपर (जार० एल० ग्रेट वृत्त— दि थड अल आफ शेफटेस्वरी (प्र० प्र० १६११ ई०) पृष्ठ १६१।

शपटनबरी की यह उद्भावना एउ प्रतिभाशाली ममीक्षक की लेखनी स प्रभूत एउ मौलिक सूत्रों की उक्ति है। उप-याम म वणनात्मक-बला क विनास म 'प्रवृत्तिगत महानता, विशालता भयानकता, एव कठारता का भी वलात्मक उपादान मानने वाली बात क, हम उत्तम उप-यासकारा की गुक्तिया म पयाप्त उगाहरण मिलत है यथा—स्वर्गीय श्री ब्रदायलाल वर्मा जउ अपन वजुराहा क खडहरा स सवधित उप-याम कीचड और कमल की इगिटतात्मक सामग्री जुटान जीउ अपने दुर्गावता' उप-यास की पष्टभूमि का साक्षात् निरीक्षण करन कालिजर के दुग म पहुँचे तो वहा क भगवती दुर्गा की एक अपूव मौ-य स युक्त प्रस्तर प्रतिमा का दमवर—मध्रमुग्ध अवस्था म बहुत दर तक मूर्ति क दशन म ही निमग्न खडे रहे। जत म उनक मुग स स्वन उगागारित हुआ भीषण सौ-य की यह रूपसी प्रतिमा है। कलाकार ने भीषण भाव का (अपनी छेनी की सौ-य की रसात्मक गहराइया म डुबो कर) माना मुत्तर मौ-य प्रदान किया है।' श्री वर्माजी प्रवृत्ति क विशाल दृश्यपट पर इस भीषण सौ-य-तत्व के वणनात्मक चित्रण क बडे ही सिद्ध कलाकार उप-यासकार के इस तथ्य से उनके सभी पाठक सुपरिचित है।

शपटनबरी क समकालीन साहित्यकार एव ममीक्षक जोसफ एडीसन(१६७२ १७१६ ई०) न भी सौ-य शास्त्र सम्ब धी कुछ समाक्षात्मक निबध लिखे है जा तत्कालीन कला समीक्षा का दृष्टि स उल्लगनीय मान जात थ। एडीसन स्वय एक सुलक्षक थ। उहान स्वय उप-यास रचना ता नही का कि-तु कथात्मक एव वणनात्मक निबधा म क अपनी इस विधक परिचित सौन्दय-सजन प्रनिया क उत्तम मूक्त प्रयोग प्रस्तुत कर चुक है। एडीसन न प्रवृत्तिगत महानता एक उगात्ता क सवध म अपन विचार यक्त करत हुए कलात्मक मृजन म उनका प्ररणा की इस भाति विवेचना की है—

हमारा कपना कित्सा ऐस पलाय क द्वारा अभिभूत हा जाना चाहती है अथवा उसे अवधारित कर लेना चाहती है जो उसकी क्षमता स वही अधिक विशाल एव महान हो। ऐस जसीम दृश्या का दख कर हम हृपमिश्रित विस्मय म मग्न हो जात ह तथा उनका आत्मा द्वारा मनन करन म हम एक आनन्दमयी शक्ति एव विस्मय विमुग्धता का अनुभव करत ह। मनुष्य का मन प्रवृत्त्या उन सभी पदार्थों क प्रति विराग अनुभव करता है जिनसे कि उसका चित्तन अवगद्ध एव वदी हाने जसा अनुभव करता है। दसक विपरात प्रवृत्ति का विशाल क्षितिज उसके लिय,

स्वाधीनता की प्रतिमूर्ति के समान, जान पड़ता है जहाँ कि उसकी दृष्टि का पथ निबाध एवं विचारा की गति गहनतम, हाने में समर्थ है।

एक अन्य प्रतिभाशाली आगल समीक्षक एडमंड बक (१७२०-१७६७ ई०) अठारहवीं शती के एक सवतामुखी प्रतिभा-सम्पन्न, राजदर्शी कला एवं जालाचन के रूप में प्रसिद्ध हुए। सन १७५७ में उनके प्रबंध आन लि सान्नाइम एण्ड दि ब्यूटिफुल के प्रकाशन ने, तत्कालीन साहित्य में कला शोना में पर्याप्त हलचल पैदा कर दी थी। यह जालाचन-आत्मक श्रुति बक के लगभग सव वर्षों के अध्ययनपूर्ण अध्ययन का परिणाम थी। अपने उक्त प्रबंध में बक ने आजापान इस तथ्य पर बल दिया है कि साहित्यिक प्रभाव, तब के माध्यम द्वारा आम्बाद्ध नहीं है बरन उसकी मूलभूत प्रेयता मनाभावा का प्रभावित करने में ही है। बक ने वर्णनात्मक कला के विविध पक्षों पर भी अपने विचार व्यक्त किये हैं। उहाने शाश्वत वर्णन जयवा यथाय वर्णन मात्र को अपर्याप्त एवं निवृत्त माना है।

शब्दश वर्णन यदि नग्न वर्णन होकर रह जाय तो वह अपने वष्य विषय की अमिच्छजनता में अपर्याप्त एवं दरिद्र हा सिद्ध होगा। विना भावना यजक मजाव एवं सशक्त वर्णन शली के माध्यम के, वर्णन में रचमात्र भी प्रभावात्पात्मकता नहीं आ सकती।

एडमंड बक के सौन्दर्य-तत्त्व एवं वर्णनात्मक कला में विचारों का, आगल समीक्षा में पर्याप्त उत्तर प्रभाव पाया जाता है। विनैपतया साहित्यगत उदात्त तत्त्व पर बक का विवेचन महत्वपूर्ण है। उदात्त तत्त्व के विविध विभेद का समझाने हुए बक ने आतक (टरर) भक्ति (सॉलिमिटी) रहस्य (आन्वकारिटी), मन्त्रासक्ति (पावर) एक्वांति (प्राइवशन) व्यापकता (वाम्पनस), शाश्वतता (इनफिनिटी), दुःखता

१ "अवर इमेजिनेशन लॉस टु वा फिन्ड विण एन आव्जवट आर टु ग्रास्प एट एनीथिंग, दट इज टू विंग फार इटस कपसिटी। वी आर फलग इटु ए प्लोजिंग एस्टानिगमट एट सच अनवाउडेड ब्यूज, एण्ड फीन ए डिलाइटफुल स्टिलोस एण्ड जमजमट इन दि सात, एट दि एप्रोहेशन ऑफ दम। डि गारण्ड ऑफ मन नचुरती इटस गवरीथिंग दट लुक्स लादक ए रस्ट्रेट अपान इट, एण्ड इज एट टु फ सी इम्पल्स ऑडर ए साट ऑफ काफाइनमण्ट जान दि वाट्रेग ए म्पशस हाराइजन इन एन इमज ऑफ लिजनी, व्हेयर डि जाड हैन म्म टु रेज एगड टु एक्सपेशिगटस एट वाज जान दि इम्पसिटा ऑफ इटस ब्यून।"  
—जोसेफ एडीमन, स्पेक्टेटर, सरया ४१२

२ एडमण्ड बक—'ए फिलासॉफिकल ए स्वाइरी इ टू डि जोरिजिन आफ अवर आइडियाज ऑफ दि सव्ता-म एण्ड ब्यूटीफुल (प्रथम प्रकाशन सन १८१७ ई०—प्रस्तुत संस्करण १६५८ ई०) थी ज० टी० बोल्डन द्वारा सम्पादित तथा नाटिघम विश्वविद्यालय का आर से रटलेज एण्ड कींगन पाल, लंदन द्वारा प्रकाशित। जिल्द ५, पृष्ठ १७५

महाकाव्या की मृष्टि म, रत रत्न ररनी है । य अभियजनाएँ जितनी ही विविधरूपा होती हैं, तथा जितनी ही अनूठी एव मौलिक होती हैं, उतनी ही वे, उपयास के रसात्मा पथ का सजल तानन म समथ हानी है ।

विक्टर कजिन नामा फ्रांसीसी कला समीक्षण का द्युर, द्युबो एत द्युवीन मूल, भारतीय साहित्य राना जाणों स पयाप्त मल ग्याता है । जहाँ एक ओर रस मिद्ध कलाकार अथवा उपयानकार क लिए अपने जागपास फले हुए रसविश्व म गणववा मत्य के दशा क लिए निरीक्षण विमक की सता ही आवश्यकता होनी है, वही उाके लिए उस सत्य शोधन का रमणीय तत्व क साथमेल बठाना भी जरूरी हो जाता है । रमणीय तत्व स निरन्त सत्य की अभियजना साहित्य रचना के मूलभूत उद्देश्या की सिद्धि नहीं कर पाती और फिर उपयासकार के लिए अपने निजी विवेक द्वारा चुने गए रमणीय तत्वा के मागनित पक्ष पर भी दृष्टि रचना आवश्यक हो जाता है । जिम मत्य के कमनीय जयवा रचिकर हान पर भी लाक मगल के अनुष्ठान म बाधक हान की जागवा रहनी है उस उपयासकार को प्राय जनदेवा करके ही छोड देना होना है । इसालिए उपयुक्त सत्य सुंदर और शिव के सम्यक समवय म ही उपयासकार की वणन प्रतिमा तसीठी पर कसी जाती है । नि सन्नेह यह काय बटा ही दुष्कर है किंतु यह बात ता प्रत्यक साहित्य विधा की शाश्वत माहित्यिक गरिमा के लिए अनिबाय भारी ही जानी है ।

एक जय फ्रांसीसी समीक्षक टेन न कला-सजन प्रत्रिया म, सामाजिक, जातीय एव भौगोलिक परिस्थितिया क योगदान पर भा विशद विचार विवेचन किया है । आज के हिन्दी उपयास की प्रवृत्ति रना तीव्रता से इसी ओर उमुख जान पडती है । जाचितक उपयास उपयुक्त विशिष्टताओ क सम्यक आलेखन एव वणन साफल्य का ही प्रत्यक्ष रूपायन है । टेन न उपयुक्त परिस्थितिया क वणन करते समय कलाकार क धयन विवक के महत्व पर बल दिया है । वस्तुत वही अपने देशकाल को मूलरूप देने वाले उपयासकार क लिय सदास अधिक जोखिम का काम है । धयन विवेक के बिना ही अनेक आधुनिक उपयास, शाश्वत वाक्य का कोटि को छूने म असमथ रहे हैं ।

कलात्मक साहित्य मृजान म न्दिय सौन्दर्य मृष्टि से नमृद्ध होन के कारण उत्तम कलाकार प्रकृति की अनूठी एव सम्मोहक महामृष्टि से भी थरुठतर सुससकृत रसविश्व की जद्भुत सजना म भी समथ होना है । अन एक अय फ्रांसीसी कला विद् चार्ल्स ब्ला न कलाकार का 'प्रकृति से भी बड कर वरिष्ठ सष्टा माना है । उसका यह भी विश्वास है कि प्रकृतिगत मनोरमता तो क्षणमगुर एव कालप्रवाह म वह जान वाली होती है किंतु उसकी क्षणयापी परमशोभा का अपनी वणनात्मक प्रतिमा द्वारा, कलाकार तथा साहित्यकार, सदा सवदा के लिए शाश्वतता प्रदान

करने म समथ होता है । उप यास-खण्डा की यदी महत्वाकांक्षा उस सदा ही, एक से एक अनुठी प्राकृतिक छविआ की शोध एव पुनसजना म, प्रवृत्त रखती है ।

जवकि बेलेट नामर फ्रासीसी समीक्षक ने सौम्य तत्व के प्रमुख उपादाना मे अनुसधान किया और उसने—“विभिन्नता, सम्पूणता एकरता, सानुपातता तथा परमा-शोभा इन पाच तत्वा के समन्वित रूप की ही सौम्य जखवा रमणीयत्व बताया तो आग्ल कला प्रेमी एडमण्ड जेक न माहित्यगत उदात्त (सल्लाइम) तत्व के विभेदो की शोधकरते हुए वणन प्रतिभा म प्रवृत्त सृजनात्मक साहित्यकारके गिण, आतक (भक्ति) रहस्य (रहस्यानुभूति) शक्ति एकात्मता, व्यापकता शाश्वतता, प्रच्यनता तथा महनी जानवान की, प्रेरणा के मुरप साना के रूप म विवचिन किया । प्रगट रूप स य समी प्रेरक तत्व, उत्तम उपयासकार के लिए सग ही सहायक सिद्ध हाने रहत हैं ।

कहना न होगा कि जाग्रत नमीभक्त एवानी एशले कूपर (जन आफ शफ्ट-स्वरी) की यह कला विषयक गूँझ कि प्रकृतिगत सुकुमार मनमाहक शोभा ही केवल कलात्मक प्रेरणा की स्रोत नथी बननी, जिसकी कि परपरा से हमारे कवि एन साहित्यकार अपने वणना म प्रशस्ति गात रत है ) वरन प्रकृति म, जो उसका असीम महत्ता एव विशालता के कारण मयानवता एव कठोरता दिगायी देती है यह भी कलाकार की कलासाधना म एक एमी भययुक्त आसक्ति की जनक हानी है जो उसने अपरूप एव भयद बभव का भी कलात्मक रमणीयत्व म परिणत कर देती है । इस प्रसंग म महान हिंदी उपयासकार स्व० श्री वृत्तवालाजी वमा की निजी धार गाजा का उल्लेख किया ही जा चुका है ।

प्रसिद्ध लागीनी समीक्षक एव दाशनिक जोचे के सम्प्रथ म तत्सम्बन्धी विवरण म ही पर्याप्त व्याख्या कर ली गयी है । उमक अभिनयजनावाद का, साहित्य सजन मे एक ऐसा पक्ष विशेष भी है जा हमारे युगप्राचीन सस्कार सिद्धान्त की जाधुनिक व्याख्या म सहायक सिद्ध हो सकता है । पाश्चात्य कला समीक्षा एव वणनात्मक कला से सम्बन्धित उपयुक्त गिने चुने तथ्य हमार अपने नवमजन एव नवमानीकरण मे भी अपनी अपना दृष्टि से उपयागी बनाए जा सकने ह किन्तु उह भारतीय समीक्षा सारणी म पचा कर जनाने का काय अत्यंत जाखिम मरा है जीर कभी-कभी उत्तम समीक्षक भी, इस पाश्चात्य समीक्षात्मक जजाल म उलझ जाने स अपने की बचा नही पाता । पाश्चात्य समीक्षात्मक परिणान का हम इसीलिए केवल अपनी समीक्षात्मक दृष्टि की अधिक उदार, व्यापक जीर अभिनव जनान म ही उपयाग कर सकते है । वही श्रवस्कर भा है ।

साहित्य मजन प्राक्रिया मे—विशेषतया उपयाग नियोजना म वणनात्मकता का यागदान क मन्वय म पाश्चात्य समीक्षा शास्त्रिया एव रमणीयत्व विवचका की कनिष्य सामिप्राय एव सप्रसंग उद्भावनाजा की उपयुक्त परिचयात्मक समीक्षा के

उपरांत भी यही तथ्य विचार-त्रिमण का सतह पर बरवस ही उमर आता है कि वणनात्मक कला का साहित्य मृजन प्रतिभा म—विगपनया श्रद्ध्य-काय अथवा पाठ्य वाच्य की परियोजना म, पयाज महत्वपूण यागदान रत्ता है। फिर भी वणनात्मक कला को प्राचाय दन हुए अद्यावधि पाश्चाय साहित्य ममीथा अथवा रमणीयतत्व परिणाधना म भा निमा गुणिर्धारित सिद्धान्त का निरूपण नहीं हो पाया है।

पाश्चात्य ममीक्षा शास्त्र क विकासस्तर पर पहुँचने क काल स लग भग दा महस बप पूज भारतभूमि क साहित्य मृष्टाजा एव शास्त्रकर्त्ताजा ने प्राय निरंतर ही वणनात्मक कला के द्विविध पक्षा पर समय समय पर बहुमूल्य प्रकाश जाता है। सत्रहवीं शता ईस्वी तक पहुँचते पहुँचते पंडितराज जगन्नाथ न वणनात्मक कला के रमणीयतापरक स्वतंत्र अस्तित्व पर प्रकाण्ड पांडित्य एव गहन भावनापरकता के सुसामञ्जस्य द्वारा जा सुविवचित सिद्धान्त पतिष्ठापित किया उससे हम अपने नय युग की प्रचलित साहित्य विद्याजा तथा उनके सतत् नव नय उमपा को दृष्टि म रखते हुए एक गुनिर्वाग्नि एव सदागीण वणनात्मकता मूलक समीक्षा सिद्धान्त के निरूपण क निमित्त, एक ठाम आधार प्राप्त हो जाता है इसम सदह नही।

पटिनराज जगन्नाथ न तत्र साहित्य शास्त्र क प्रकाण्ड पण्डित थ बरन वे सजनारमक साहित्य क्षेत्र म भी अत्यन्त प्रतिभाशाली कविवर भी थे। यदि वे हरि औष' के युग म हात तो वे उनक समान भाव भरे एव वणनात्मक कला से मनोभिराम उपयास रचना म भी अवश्य प्रवृत्त हाने। किन्तु पटिनराज का समय गद्य रचना के उतना अज्ञान नहीं था और दादशाही अथवा सामंती दरवारा म उन दिनो किस्सा मोई की उतनी पूछ नहीं थी जितनी कि वाग्मदग्ग्य युक्त गृत्तिया की। किंतु हरिऔष जी तथा जाचाय रामचंद्र गुक्त के समय तक पहुँचते पहुँचते केवल दो शक्तिया म ही भारतभूमि म थी नही विश्व मर की राजनिक, सामाजिक एव सांस्कृतिक परिस्थितिया म एक के पश्चात् एक क्रान्तिया की लहर उठनी रही तथा धीरे धीरे पद्य की साधनीम प्रतिष्ठा के स्थान म गद्यात्मक वाङ्मय का अभिनव अभ्युदय, एक एतिहासिक सत्य क रूप म, प्रत्यक्ष हो उठा।

वस्तुतः इस भाति पटिनराज जगन्नाथ की रमणीयता तत्व प्रतिपादक वणनात्मक कला की स्वतंत्र प्रस्थापना के पश्चात् उसका आधुनिक साहित्य समीक्षा म महत्वपूण परम्परा की श्री हरिऔष एव श्री गुक्लता ने इतना बुद्ध आग बढ़ा दिया है कि हम उस पर एक नयी वणनात्मक कलामूलक समीक्षा पद्धति का अभिनव निर्माण मली भाति कर सकते है। प्रस्तुत हि नी उपयासा म वणनात्मककला का मूल्यांकन इसी निशा म एक अत्यंत विनम्र पयास मान ही है।

वणनात्मक कला वस्तुतः एक उमयमुखी कलापरक सजन प्रतिभा है। एक ओर उसका नितास वाङ्मय क थ य भाय एव पाठ्य-काय के क्षेत्र म दखा जा सकता है तथा दूसरी ओर इसकी इन्द्रधनुषी छटा, साहित्यतर ज य सलित कलाओ म, रत्ता, रग,

तलिका, छेनी और नाद-सत्री के विविध योग-ज्ञान द्वारा विराण होनी रहती है। तथापि जितना समय एवं अवधिपूर्ण विकास, वर्णनात्मक कला को उपयास विधा में मिल पाया है उतना अथ वर्णनात्मक कला प्रवृत्तियाँ भी समाव्य नहीं थी, इस तथ्य पर विचार-वितक की भी अपेक्षा नहीं है। फिर भी यदि हम किसी वस्तुतः सुनिर्धारित वर्णनात्मक-कला मूलक साहित्य-सिद्धांत का निरूपण करना चाहें तो हमें साहित्य-क्षेत्र अथ ललितकलाओं के समीक्षा-क्षेत्र में पर्युक्त शब्दावलियाँ एवं सजन-प्रक्रियाओं के सूक्ष्म विवेचन की ओर भी उन्मुख होना होगा। इसके बिना सुस्पष्ट वर्णनात्मक विवेचना की भ्रांतियों एवं अस्पष्टताओं का निराकरण नहीं किया जा सकेगा। इसी दृष्टि से प्रस्तुत विचार-विवेचन सरणी को वाङ्मय एवं उपयास के वर्णनात्मक क्षेत्र से मोड़ कर कुछ समय के लिए हम उसे जगत्-समीक्षा के क्षेत्र में ले जाना होगा।

कलागुरु, स्व० आचार्य नदलाल बसु ने अपने अति-उपादेय एवं महत्वपूर्ण कला-विवेचन ग्रन्थ 'आन आट' में, इसी प्रश्न में कुछ विशेष-मननीय विचार प्रस्तुत किए हैं। अपने उपयुक्त ग्रन्थ के प्रारम्भिक भाग में उन्होंने कलाकृतियों के अद्यतन वर्णनते हुए मानो एवं प्रवृत्तियों को दृष्टि में रखते हुए कुछ मूल्यवान् इंगित दिए हैं। वे साहित्य-समीक्षा के पक्ष में भी उतने ही सत्य-सिद्ध होते हैं जितने कि चित्रकला आदि अथ ललित-कलाओं के नवमानीकरण के प्रसंग में। आचार्य बसु का कथन है कि—

"नये मानो एवं नई परम्पराओं के उद्भव एवं प्रचलन के कारण दोहरे हुआ करते हैं। एक तो नई समीक्षा-सामग्री प्रस्तुत होने पर उसकी शास्त्रीय एवं वर्णनात्मक समीक्षा में आने वाली अडचना से पार होने की अभिवाधा तथा दूसरे, उसके समुचित प्रणय एवं अभ्युत्थिति में योगदान की प्रेरणा। इसीलिए उनकी शब्दावली एवं तदनुसार उनकी समीक्षागत भाषा हम ऐसी अटपटी लगती है मानो वह किसी सचा-वेपित जगत में बोला जाने वाली कोई अभ्युत्थित वाणी होवे।"

जसा कि पूर्व-निर्वाहित किया ही जा चुका है, कला एवं वाङ्मय का यह अन्वया-याथिन-पुरातन एवं घनिष्ठ-संबन्ध सत्ता ही बला-जाया है। यदि इस दृष्टि से हम कला-समीक्षा के ग्रन्थों का पर्याप्त-विवेचन करें तो हम उनसे अपनी वाङ्मयगत कला की सूक्ष्मताओं का जाचने में पर्याप्त-सहायता मिल-सकती है। इस-सम्बन्ध में स्व० डा० राजवली पाण्डेय के निम्न-विचार भी विनोद-तया-मननीय हैं—

कला-मूल-रूपों में, प्रायः उही-विषयों और भावों का निरूपण और

१ यू.के.वेशम श्री, एज. वल. जाउट. आफ. एन. एंटेन्ट. एट. यूजिंग. सम. यू. मेट्रीरियल. एण्ड. दि. नीड. ऑफ. जावरकमिंग. एना. टकनीकल. डिफिकल्टी. इट. में. बी. प्रेसेन्टेड. वाइ. इट. इट. इज. लाइव. ए. यू. लैंग्वेज. स्पेसिफ. इन. ए. यू.टी. डिस्कवर्ड. लण्ड.।"—कलागुरु स्व० नदलाल बसु 'आन आट', पृष्ठ ४१



अभिव्यञ्जन करती है। गिनका निरूपण और अभिव्यञ्जन, साहित्य, शब्द चित्रा के सहारे करता है—अतः दोनों का बहुत निकट का संबंध है।<sup>१</sup>

भारतीय साहित्य शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा की भांति ही, भारतीय कला के उदभव एवं विकास की धमधमयी परम्परा, सहस्रा वर्षों में फनी हुई है। भारतीय कलाओं के विशाल एवं आतंकि कर देने वाले प्रथम प्रभाव से विदेशी पद्यक एवं प्राच्यविद, पाय वाग्विमूढ हा जाते हैं। डा० भगवनशरण उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में हिन्दी साहित्य का बहत इतिहास (प्रथम भाग) के चतुर्थ खण्ड में ११३ पृष्ठों में एक अत्यन्त स्मरणीय रूपरेखा प्रस्तुत की है जिससे कि भारतीय कलाओं के इस विराट रूप की भांकी मिल जाती है। यहाँ उसी स कतिपय साभिप्राय अवतरण देने से ही उनकी अनुमिति हो जाती है —

भारतीय कला का विस्तार बडा है—प्रायः पांच सहस्राब्दियों तक और इस काल प्रसार में जितना और जसा उसमें मिरजा है, वह कला समीक्षक या इतिहासकार के लिए समस्या प्रस्तुत कर देता है। भारतीय कला के इतिहास में, मध्य काल का प्रसार ६५० विक्रमीय (सन ७०० ई०) से १२५० वि० (ई० सन् १३००) तक माना जाता है। उसकी पूर्व मध्यकाल (६५०—६५० वि०) एवं उत्तर-मध्यकाल (६५०—१२५० वि०) तक के दो विभागों में विभाजित किया जाता है। उक्त काल विमान मूर्तिकला के सत्रय में विशेष सायक है क्योंकि स्थापत्य में मन्दिर निर्माण और उसकी कला का मध्याह्न तो वस्तुतः १२५० वि० (सन् १३०० ई०) के बाद ही आता है। चित्रकला भी जजना और बाध के पश्चात् फिर से उस काल के (अर्थात् सन् १३०० ई०) के बाद ही तारण्य धारण करती है। संगीत के पक्ष में तो यह और भी सती है। संगीत नि सदेह, भारत में अति प्राचीन काल से, प्रौढ रूप में चला आता है पर उसकी काया भी मध्ययुग में यथाथत तां उमके पश्चात् सजती है। संगीत के अधिवास प्रथ मुस्लिम काल में लिखे गये। गायन की अनेक शलिया हिन्दी भाषा और साहित्य की भांति मुस्लिम सयक से और अधिक विकसित हुई। संगीत-सम्बन्धी आविष्कारों की यह परम्परा सत्रहवीं-अठारहवीं शती तक जट्ट चन्ती रही। मोर्मादर कला चित्रणकला और संगीत का यह पिछला युग ही, सही सही (प्राचीन और मध्यकालीन) हिन्दी का प्रभावकारी समानान्तर युग है।<sup>२</sup>

१ डॉ० राजवली पाण्डय (बहत इतिहास) प्रथम

२ 'हिन्दी साहित्य का बहत कला प्रस्तावना भाग (प्र०) (डॉ० भगवनशरण उपाध्याय द्व

इस भाँति हिंदी साहित्य एवं भारतीय कलाया का जन्मुदय एवं विकास, सम सामयिक होने के कारण परस्पर घनिष्ठरूपेण संपृक्त है। द्मीत्रिए भारतीय कला समीक्षा एवं हिंदी साहित्य समीक्षा भी परस्पर घनिष्ठरूपेण सम्बंधित हैं। अपनी सुदीर्घ एवं महाभिराम परम्पराओं द्वारा इस भाँति हमारी कला एवं वाङ्मय उप अधिषया किसी भी आधुनिक साहित्य-कला शाखय को चकरा देने के लिए पर्याप्त हैं। पुरातन के स्थान पर नवीन की प्रस्थापना भी एत शाश्वत सत्य है पर वह एक सर्वांग सत्य नहीं है। पुरातन एवं नवीन कभी भी एक दूसरे से पृथक् अथवा स्वतंत्र रूप में नहीं परखे जा सकते। इस सम्बन्ध में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के कुछ विचार विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

‘कला अतीत की उपलब्धियों की अनुकरण मात्र ही नहीं होती, कला की परम्परा में विकास के नये मौलिक तत्व कला स्वयं ही जोन्ती चलती है साथ ही कला, अपनी अतीत की परम्परा को सहेज कर आगे बढ़ती है। कलाकार को सहसा धप की समस्या और साधना का पत्र ज्ञायास ही मिल जाना है। वह रखाया से नय चित्र गजाता है रगा के सवथा अप्रुव मेल वह दिखाता है। मौलिकता और परम्परा कला के दो अभिन्न पक्ष हैं। आज की कला में यह शोता एकप्राण होकर प्रकट होने हैं।’

‘अजन्ता और एलोरा के गुहा मंदिरों की सृष्टि में अनेक पीढियों का योगदान था। जिस पीढी ने इनका आरम्भ किया, वह अन्त में देख सकी, जिसने इनके शृंगार में अन्तिम बार छनी अथवा तुलिका चलाई उसने उनका आरम्भ न देखा था। यद्यपि व्यक्ति की मौलिकता कला कृति में नये प्राण फँकती है, एक व्यापक अर्थ में, यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं कि मानव की सम्पूर्ण कला ही सदिया पयन्त उसका सामूहिक साधना का पत्र है। शकुन्तला के पीछे एक दीर्घकाल की साधना और परम्परा का इतिहास है। बिना एक लम्बे इतिहास और प्रयास के, अनायास ही, इस प्रकार की उत्कृष्ट कला के दर्शन, मानव नहीं कर सकता। एक प्रकार से कला में हम सवथा नवान और मौलिक, कुछ भी नहीं मिल सकता। वसी प्रकार उत्कृष्ट कला, सवथा प्राचीन भी नहीं हो सकती।’<sup>१</sup>

“कला की गति जीवन के समान होती है। जीवन के समान, कला में भी प्राचीन और नवीन एकरूप होकर प्रकट होते हैं। आधुनिक कला बड़े मनोयोग से, अतीत से दूट कर नये मौलिक रूपों में सृजन का प्रयास कर रही है। यह प्रवृत्तिया हम काव्य नाटक, उपन्यास चित्रकला, मूर्तिकला, मंगीत आदि सभी

१ ‘आज का हिंदी साहित्य’ (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त) अध्याय ३, (कला और परम्परा) पृष्ठ १२-१४। (प्रथम प्रकाशन १९६६ ई०, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ७)।

अभिव्यञ्जन करती है जिनका निरूपण और अभिव्यञ्जन साहित्य, शब्द चित्रा के सहारे करता है—जत दोनो का बहुत निकट का संबंध है।”

भारतीय साहित्य शास्त्र की सुदीर्घ परम्परा की भाँति ही भारतीय कला के उदभव एवं विकास की बमबमयी परम्परा, सहस्रा वर्षों में फनी हुई है। भारतीय कलाओं के विशाल एवं आनकित कर देने वाले प्रथम प्रभाव से विदेशी पण्डित एवं प्राच्यविद, पाय वाग्बिमूढ हो जाते हैं। डॉ० भगवनशरण उपाध्याय ने इस सम्बन्ध में ‘हिन्दी साहित्य का बहत इतिहास (प्रथम भाग) के चतुर्थ गण्ड में ११३ पृष्ठों में एक अत्यन्त स्मरणीय रूपरेखा प्रस्तुत की है जिससे कि भारतीय कलाओं के इस विराट रूप की भाँकी मिल जाती है। यहाँ उसी से कतिपय सामिप्राय अवतरण देने से ही उसकी अनुमिति हो जाती है —

‘भारतीय कला का विस्तार बडा है—प्राय पाँच सहस्रादियों सम्बन्ध और इस काल प्रसार में जितना और जसा उसमें मिरजा है वह कला-समीक्षक या इतिहासकार के लिए समझा प्रस्तुत कर देता है। भारतीय कला के इतिहास में मध्य काल का प्रसार ६५० विक्रमीय (सन ७०० ई०) से १२५० वि० (ई० सन् १३००) तक माना जाता है। उसके पूर मध्यकाल (६५०-६५० वि०) एवं उत्तर-मध्यकाल (६५०-१२५० वि०) तक के दो विभागों में विभाजित किया जाता है। उस काल विभाजन मूर्तिवत्ता के सङ्घ में विशेष साधक है क्योंकि स्थापत्य में मन्दिर निर्माण और उसकी कला का मर्यादा तो वस्तुतः १२५० वि० (सन १२०० ई०) के बाद ही आता है। चित्रकला भी जजता और वाच के पश्चात् फिर से उस काल में (अर्थात् सन १३०० ई०) के बाद ही तारण्य धारण करती है। संगीत के पक्ष में तो यह और भी सही है। संगीत निम्नदे, भारत में जति प्राचीन काल से प्रीरूप में चला आता है पर उसकी वाया भी मध्ययुग में यथाथत तो उसके पश्चात् सजती है। संगीत के अधिनाश ग्रन्थ मुस्लिम काल में लिखे गये। गायन की अनेक शक्तियाँ हिन्दी भाषा और साहित्य की भाँति मुस्लिम सपक से और अधिनाश विकसित हुई। संगीत-सम्बन्धी जाविपनारा की यह परम्परा सत्रहवीं-अठारहवीं शती तक जदू चलता रही। गाँव में मन्दिर बना चित्रणकला और संगीत का यह पिछता युग हाँ सही सही (प्राचीन और मध्यकालीन) हिन्दी का प्रभावकारी समाप्तान्तर युग है।’

- १ डॉ० राजवती पाण्डेय (सम्पादकीय प्रस्तावना) पृष्ठ ८ (हिन्दी साहित्य का बहत इतिहास) प्रथम भाग (प्र० नागरी प्रचारिणी सभा वागा १६५७ ई०)।
- २ ‘हिन्दी साहित्य का बहत इतिहास (प्रथम भाग) गण्ड ४ (पृष्ठ ५६३-६७६) ‘बना प्रस्तावना भाग (प्र० वागी नागरी प्रचारणा सभा सन १६५७ ई०) (डा० भगवनशरण उपाध्याय द्वारा लिखित)।

इस भाति हिन्दी साहित्य एवं भारतीय कलाओं का अम्युच्य एवं विकास, सम सामयिक होने के कारण परस्पर घनिष्ठरूपेण मपृक्त है। इसीलिए भारतीय कला समीक्षा एवं हिन्दी साहित्य समीक्षा भी परस्पर घनिष्ठरूपेण सम्बन्धित हैं। अपनी सुदीर्घ एवं महाशिराम परम्पराओं द्वारा इस भाति हमारी कला एवं वाङ्मय उपलब्धियाँ किसी भी आधुनिक साहित्य-कला शाख को चकरा देने के लिए पयाप्त हैं। पुरातन के स्थान पर नवीन की प्रस्थापना भी एक शाश्वत सत्य है पर वह एक सर्वांग सत्य नहीं है। पुरातन एवं नवान् कालों भी एक दूसरे से पृथक् अथवा स्वतन्त्र रूप में नहीं परखे जा सकते। इस सम्बन्ध में श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त के कुछ विचार विशेष ध्यान देने योग्य हैं—

“कला जनीन की उपलब्धियाँ की अनुकरण मात्र ही नहीं होती, कला की परम्परा में विकास के नये मौलिक तत्व, कला स्वयं ही जानना चाहती है, साथ ही कला, अपनी अतीत का परम्परा का महत्त्व बर आग बढ़ाना है। कलाकार को महत्वाक्षय की तपस्या और साधना का फल अनायास ही मिल जाता है। वह रसाभासे नये चित्र गजानत है रंगा के सवथा अपुव मेले वह दिखाना है। मौलिकता और परम्परा, कला के दो अमिन्न पक्ष हैं। आज की कला में यह दोनों एकप्राण होकर प्रकट होत हैं।”

‘अजन्ता और एलोरा के गुहा मन्दिरों का मृष्टि में अनेक पीढ़ियों का योगदान था। जिस पीढ़ी ने उनका आरम्भ किया, वह अन्त में दग मरी, जिसने इनके शृंगार में अन्तिम बार उनी अथवा तुलिका चलाई उसने उनका आरम्भ न दवा था। यद्यपि यत्ति की मौलिकता कला-कृति में नये प्रायः फूलवती है, एक व्यापक अर्थ में, यह कहना भी अनिश्चयताक्ति नहीं, कि मानव का सम्पूर्ण कला ही, मन्थिों पयन्त उसकी सामूहिक साधना का फल है। शकुन्तला के पीछे, एक श्रेयान्त की साधना और परम्परा का इतिहास है। बिना एक तम इतिहास और प्रदान के, अनायास ही इस प्रकार की उदृष्ट कला के अन्त, मानव नहीं कर सकता। ... एक प्रकार से कला में हम सवथा नवीन और मौलिक, कुछ भी नहीं मिल सकता। इस प्रकार उदृष्ट कला, सवथा प्राचीन भा नहीं हो सकता।”

“कला की गति जीवन के समान है। जीवन के समान, कला में भी प्राचीन और नवीन एकसा होकर प्रकट होते हैं। आधुनिक कला बहु मनोयोग से, अतीत से दूर कर, नये मौलिकता में मन्त्र का प्रयास कर रही है। यह प्रवृत्तियाँ नये काव्य नाटक, न्याय, चित्रकला, मूर्तिकला गजानत आदि समान

१ ‘आज का हिन्दी साहित्य’ (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त) अध्याय २, (‘कला और परम्परा’) पृष्ठ १२-१४। (पुस्तक ‘साहित्य’ १९६६-६७, नवम्बर परिशिष्टक द्वारा, दिल्ली-७)।

है। इनमें रमध्वनि की प्रमुखता होने के कारण 'स' की ही वज्रानुभूति मान लिया गया है। पश्चिम में कलात्मक सौन्दर्य का बुद्धिग्राह्य ही माना गया है। और वहाँ अलंकार ध्वनि की भूमिका पर ही, रसानुभूति की स्थापना की गई है।<sup>१</sup>

उक्त परिभाषा 'कला के अध्ययन-अनुसंधानगत प्रस्तुत प्रसंग में कुछ मूल्यवान् तथ्या पर प्रकाश डालती है, यथा —

(क) मानव द्वारा श्रेष्ठ सस्वार के रूप में सौन्दर्यवाचक का प्राप्ति का अन्तर्भाव 'कला' शब्द के अन्तर्गत पाया जाता है।

(ख) कला विशिष्ट मानसिक सौन्दर्य की योजना है।

(ग) सौन्दर्य की मूलभूत प्रेरणा प्रकृति के रमणीय दृश्या की प्रेरणा तथा उन्हें अपनी कला साधना के माध्यम द्वारा पुनः स्वतन्त्र निमाण करने की सुसंस्कृत उत्पत्ति एवं तज्जनित कलात्मक उपलब्धि ही, कला है।

(घ) कला को क्षाम एवं श्रम का परिहार एवं मन का रजन और उद्बोधन, अशीष्ट है। विशिष्ट ज्ञान के उपलब्धि उसका लक्ष्य है।

(ङ) कला का आनन्द भावनात्मक मूल, सरल ग्राह्य सावजन्य, समग्र दर्शन को अपने में अकार लेन में सक्षम एवं लाकोत्तर ब्रह्मानन्द सहोदर स तुलनाय रसात्मक विलास है।

(च) प्राच्य ध्वनिसिद्धान्त, पाश्चात्य बुद्धिग्राह्य सौन्दर्य ज्ञान की अपेक्षा कहीं अधिक सम्पूर्ण एवं वैज्ञानिक कलानिरूपण है।

इस भाँति उपयोगितागत वणनात्मक कला में, हिंदी साहित्य कोश गत उक्त कला परिभाषा का ही [प्रस्तुत शोध प्रबंध में प्रभावित] वणनात्मक लालित्य पक्ष का, बहुत कुछ आधार माना जा सकता है।

साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश में 'कला की व्याख्या एवं परिभाषा भी पर्याप्त ध्यान देने योग्य बन पड़ी है —

कला — प्रतिभा शक्ति और कल्पना (दो यद्वा) कौशल से कतिपय रूपों में, स्वान्त सुखाय या मनोरंजन और उपदेश के लिये किया गया जीवन का अनुकरण।

नाट्यशास्त्र (१/११३) में शिल्प के साथ और काव्यालंकार (१/२) में काव्य और चतुर्वर्ग पदों के साथ। काव्य सामान्यतः इसे उपविद्या मानते हैं। मूत्र श्लोक 'जात शब्दों में कौशल के अर्थ में था और श्रेष्ठ, जन्म मायाया में भी इसी के अर्थ में पाये जाते हैं। अठारहवीं शताब्दी तक यही धारणा रही। तत्पश्चात् 'उपयोगिता' और 'ललित' इन दो भेदों में बाँट दी गई।

१ हिंदी साहित्य कोश, पृष्ठ १६६ से २०२ (प्र० ज्ञानमण्डल काशा, प्रथम संस्करण स० २०१५, सन १९५८ ई०)।

‘प्रसादजी के मत से कला की रेखाएँ एक निश्चिन्न सिद्धांत तक पहुँचा देनी है। हीगेल, पाचा ललित कलाजी मे, अमूर्त-आधार का मात्रा के अनुसार, उनकी श्रेष्ठता बताते हैं। वास्तु कला मे मूर्त आधार सबसे अधिक रहता है, वह सबसे निचली है। दूसरे क्रम पर मूर्तिकला है क्योंकि उसमें मूर्त आधार और कम हो जाता है। तीसरे क्रम पर, चित्र और चौथे पर, समीन-कलाएँ आती है। और अंत म काव्य। श्री रामकुमार वर्मा पहली चार तो सुंदरता मूर्तक और पाँचवी (का य) की रमणीयता मूलक बता कर उनका भेद करते हैं। पर ‘प्रसाद’ ने यह वर्गीकरण, पौराणिकों के लिये, पाश्चात्या जितना, सुगम नहीं माना है।

‘महादेवी वर्मा ललित कला और उपयागी कला म गुलकद और गुलाब की उपयोगिता जसा अंतर बताती हैं।

‘शिवतंत्र म उल्लिखित ६४ कलाएँ जिनको ‘उपयागी कलाएँ मानना चाहिये, ये हैं। १’

‘पारिभाषिक शब्दावली’ मे ‘कला’ के कुछ ऐसे तथ्या का भी दीपित किया गया है जा उपयासगत वर्णनात्मक कला के परिशासन मे हमारा पथ निर्देशन कर सकते हैं। उपयुक्त तथ्या म से, उपयासगत वर्णनात्मक कला मे प्रथम ताना तथ्य, प्रगटत, समाहित हैं। शिवतंत्र म वर्णित ६४ कलाका का समग्र क्षेत्र, केवल उपयासगत वर्णनात्मक कला की सुयापक परिधि म ही समाविष्ट हो जाना सम्भाव्य है।

‘आधुनिक संस्कृत हिन्दी कोश म कला शब्द की कुछ नूतन परिभाषाएँ भी दी गई है जा उपयुक्त परिभाषापात्रा म कही भी नहीं आ पाइ है। यथा —

‘कला—(श्री०) भाग चंद्रमा की सालहकलात्रा मे से एक राशिका तीसवा भाग, किसी काम का नियम अनुसार करने की विद्या, नृत्य का एक भेद, नौका जिह्वा, विभूति, तज, शोभा, लीला।’

कामशास्त्र के अनुसार ६४ कलाएँ ये हैं — १ गीत, २ वाद्य ३ नृत्य, ४ नाट्य ५ चित्रकारी, ६ तिलक क साचे बनाना, ७ चाबला और पूला का चौक पूरना, ८ कला की सेज विद्याना, ९ दाता कपडा और अंग को रगना, १० ऋतु क अनुकूल घर सजाना, ११ पलङ्ग विद्याना १२ जलतरंग यजाना १३ पिचकारी और गुलाबपाश का उपयाग, १४ चित्र इकटठ करना, १५ माला गूथना, १६ सिर क बाला म पून लगा कर गूथना, १७ वस्त्राभूषण धारण करना, १८ काना के लिए आभूषण बनाना, १९ इत्र निवालना, २० भूषणों की याजना, २१ इन्द्रजाल,

१ साहित्य शास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोश (राजेंद्र द्विवेदी एम० ए० शास्त्री, साहित्यरत्न) पृष्ठ ६२ ६३ (प्र० आत्माराम एण्ड सन्स, दिल्ली, १९२५ ई०)।

२२ कुम्पको सुदरकरना २३ हाथ की सपाईं २४ जनक प्रसार व खाने व पदाव बनाना, २५ पीन व लिय शत्रुन अक तथा शराव बनाना, २६ सीना पिरोना २७ रफगरी जोर तसीदा २८ पहलियां हल करना २९ अत्याक्षरी, ३० कठिन पदा का तात्पर्य निकालना ३१ पुस्तक वाचन, ३२ नाटक दयना ३३ काव्य-सम स्यापूर्ति ३४ निवाड या ब्रंत से चारपाई बुना ३५ तज करना ३६ बढई या मगनगण वा काम ३७ घर बनाना ३८ माना चाग्नी और रत्ना की परीक्षा ३९ मिली धातुआ का अलग जनग करव साफ करना ४० रत्ना के रगो की पह चान ४१ सानो की विद्या ४२ दृक्षा का ज्ञान चिकित्सा और उह रापन की विधि, ४३ मेढ़े वटेर बुलतुन लगाने की विधि, ४४ ताता मना पढाना ४५ उवटन लगाना जोर पैर सिर जादि दवाना ४६ घाला का मलना जोर तल लगाना, ४७ अक्षरा का मुष्टिका स (बात) बताना ४८ विदशी मापाआ का ज्ञान ४९ दवा लक्षण जस बादल की गरज जादि दख कर जागामी घटा के लिए भविष्य-वाणी कहना ५० देशमापा ज्ञान, ५१ यत्र निमाण, ५२ यादशाशन बढाना ५३ दूसर को पढन सुन कर उस उसी तरह पढ रना, ५४ दूसरे का अभिप्राय समझ कर, उसक अनु सार तुरत कविता करना ५५ क्रिया व प्रभाव का पलटना, ५६ छल करना ५७ अभिधानकीप, एव छत्र ज्ञान ५८ वस्त्रा का रिफाजत से रखना ५९ जुआ खेलना ६० पासा फेंकना ६१ बच्चा का गिलाना, ६२ विनय जोर शिष्टाचार ६३ विजय मन्वधी विद्या का ज्ञान ५४ वेताला की विद्या का ज्ञान ।<sup>१</sup>

आधुनिक संस्कृत हिंदी कोश' म जाई हुई जोक व्याख्याए एव परिभाषाए उपयासगत वणनात्मकता के कतिपय नूतन पक्ष पर प्रकाश डालती हैं । चंद्रमा की सोलह कलाजा नृत्यकटा नौका जिह्वा विभूति तज शामा नीला आदि स किसी न किसी अथ म उपयासगत वणन सम्बद्ध है । जना कि पूर्वोक्तिवित परिभाषा की टिप्पणी म कहा जा चुका है — कामशास्त्र क जतगत जाई हुई ६४ कलाजा का मुव्यापक क्षेत्र उपयासगत वणनात्मकता म ही समाया जा सकता है ।

आचार्य राजशेखर वृत साहित्य शास्त्रीय ग्रंथ कायमीमासा म कला का ध्यारया निम्न प्रसंग म आइ है —

श-दाथयोय गवत्सहभावन विद्या साहित्यविद्या । उपविद्यास्तु चतुषष्टि ताश्च कला इति विम्बघवात् । स प्राजीव का यस्य । तमोपनिषदिक वध्याम ।

इत्यन्ततो भिपुक्तानामा सरम्भविस्तर ।

त्यक्तो निपुणधीगम्भो प्रथगौरवकारणात् ॥<sup>२</sup>

१ आधुनिक संस्कृत हिंदी कोश — (सपादक — ऋपाशरनाथ मट्ट)

(प्र० रामप्रसाद एण्ट सस आगरा, प्रथम प्रकाशन १९५५) पृष्ठ १२३ स्तम्भ २

२ कायमीमासा (राजशेखर) (जयाय द्वितीय, शास्त्रनिर्देश, पृष्ठ १३।)

(अर्थान्त—'शब्द और जब इन दोनों के परस्पर सहभाव अथवा समान अशा म परस्पर सहयोग के द्वारा, विवर्धित की गई विद्या का, साहित्य विद्या कहा जाता है। उसी के अन्तगत १४ उपविद्याएँ और हैं उनमें कला भी एक है एसा साहित्य समझना का मत है। वह समग्र साहित्य के लिए सम्पूर्ण आजीव अथवा निर्मायक सामग्री जुटाती है और वस्तु मांति वह वाक्य का प्राणधार है। इस तथ्य का हम उपनिषदा म की हुई व्याख्या के अनुसार समझें। इस प्रकार जनन प्रकार के उपादान का यहाँ सविस्तार वर्णन प्रारम्भ किया जाता है जिसको कि अभी तक अर्थ निपुण साहित्य समझने ने छूट गया था।)

आचार्य राजगोपाल के मत से साहित्य विद्या के अन्तगत ही कला एक उप विद्या है। वह एक प्रकार से समग्र वाक्य के लिए 'उपजीव भी जुटाती है। यह व्याख्या उपन्यासगत वर्णनात्मक-कला के सबसे निकट जा जाती है।

वेस्टम डिक्शनरी म (जो कि अंग्रेजी भाषा का सर्वाधिक पुराना एक प्रामाणिक शब्द-कोष माना जाता है) कला के अंग्रेजी भाषा म प्रयाय शब्द 'आर्ट' का व्याख्या इस प्रकार दी गई है —

आर्ट—(१) कौशल, हाथ का सफाई विशिष्ट कार्यों का सतत अभ्यास द्वारा दिखाने का क्षमता, स्वाध्याय के बौद्धिक यावहारिक बुद्धि। (२) मानव उपयागाथ प्राकृतिक पदार्थों म उपयुक्त परिवर्तन करन का चातुर्य मानव कारीगरी का कारणमा। (५) गान की किसी भी शाखा अथवा किसी समुच्चय कला-कौशल के साधारण सिद्धांत। (६) किसी अभीप्सित ध्येय का प्राप्ति के लिए गान अनुभव, अथवा कौशल का विधिवत उपयोग। (६) किसी उपन्यास के अर्थ सुरचि एवं सौंदर्य के साथ कौशल का प्रयोग साहित्य अथवा सौन्दर्यत्व-सम्पत्ती सिद्धांत, किसी शास्त्र अथवा विज्ञान के आधार पर आज्ञाविका का कोई प्रणाली सौंदर्य-वाच के पक्ष म सुरचि का वाचक—जो रूप, रंग, ध्वनि वाणी अथवा लय गति से सम्बद्ध हाव।'

उक्त वाक्य के अनुसार आर्ट (कला) व अर्थ एवं उनका व्याख्या इस मांति परिलक्षित होती है —अथमख्या १ के अनुसार—विशिष्ट कार्यों का सतत अभ्यास द्वारा कर दिखाने की क्षमता—वर्णनात्मक कला के कलाभिराम उपयासगत वर्णना म देखा जा सकती है। सतक के पक्ष म उत्तम वर्णना की परिकल्पना के लिए मानव एक प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण की अपेक्षा सदैव ही बनी रहती है।

अथसरया २ म यदि वर्णन को भी हम स्थूल वाक्य-व्यापार के रूप म हा ग्रहण करें तो उपयासकार, प्रकृति एवं पुरप, दाना का ही अपनी कलात्मक सिद्धि अथवा उत्तम वर्णनकला की सामग्री के रूप म उपयोग करता है किन्तु वह इस नसर्गिक वष्य वस्तु निधि म अपने विवरण एवं बुद्धि के अनुसार, उपयुक्त परिवर्तन कर दन के चातुर्य





‘कुछ ऐसे उपयाम भी हैं, जिनकी चित्रण शली (अथवा ‘पैटन’) इतनी सुस्पष्ट एवं चित्रात्मक है कि व्यक्ति एवं दृश्य, एक तम चित्रों के जलबम की भाँति, सामने से गुजरते चले जाने हैं। यथा पर्सी लरक कृत उपयास ‘रोमन पिक्चस’। और फिर अनातोले फ्राम कृत ‘ताया’ को ही नें नें—उसमें चित्रकला का पैटन-तत्त्व जो इतना स्थिर एवं सीमाश्री में जकड़ा हुआ है उपयासगत वातावरण में घुल मिल जाता है—वह सब का सब ही द्रवमान है। यदि हम पर्सी लरक के उपयास ‘रोमन पिक्चस’ को वर्णनात्मक कलापरक चित्रवत शली का उपयास बताएँ और अनातोले फ्राम कृत ‘ताया’ को, ‘लयात्मक शली का वर्णनात्मक उपयास कहें, तो हम अपने उपयुक्त अमिप्राय की कुछ-कुछ अमिष्यजना कर पायेंगे।’

‘इस भाँति, हम उपयास विधा में एक ऐसे तत्व की ओर, सहसा आकर्षित होने हैं जिमके बारे में, यदाकदा समीक्षक महोदय चर्चा तो करते रहते हैं, किन्तु उनका शब्दों का प्रयोग वे कब-कब उम तत्व को व्यक्त करने के प्रयत्न में ही किया करते हैं जिसको वे, शब्दात्मक व्यक्त नहीं कर पाते।’

हम इस सम्बन्ध में केवल इतना ही और कहना चाहेंगे, कि यह चित्रतयात्मक वर्णनात्मकता, उपयास विधा का, सौन्दर्य-बोधनात्मक, चारित्र्य अथवा लालित्य तत्व (एस्थेटिक आस्पेक्ट) ही है। इस तत्व का पोषण, उपयास में वर्णित प्रत्येक वर्णवस्तु के द्वारा समाप्त है—कभी पात्र, कभी दृश्य एवं बहुधा कथाव्यञ्जना अथवा घटनाक्रम के बीच आने वाले वर्णनात्मक माध्यम द्वारा वह अपनी पोषक सामग्री, प्राप्त करता चलता है। इस भाँति उपयास के कथानत्व में, लालित्य (सौन्दर्य) के योग से ऐसा मान हीना है माना सौन्दर्य की ऐसी स्वयं अपने रूप माध्यु को दिया कर अपने आप भी सहसा हृदय विस्मित हो उठी है।

श्री फास्टर ने उपयास विधा में परिष्कृत वर्णनात्मक तत्त्वगत लालित्य के परिशोधन में जिस मौलिक समीक्षात्मक प्रतिभा एवं सुखबुद्ध का परिचय दिया है, वह अपने में स्वयं एक समीक्षात्मक दृष्टिकोण माना जा सकता है। निश्चय ही वह श्लाघ्य है परन्तु इतने महान उपयासकार एवं उपयास समीक्षक होते हुए भी वे, इस तत्व का नामकरण निर्धारित नहीं कर पायें। उन्होंने केवल इतना संकेत भर दिया है कि फिलहाल वे, उसकी मोटीपाटी परिमाणा करके ही छुड़ देते हैं। संभव था यदि श्री फास्टर का अधूरा संकल्प पूरा हो जाता तो वे, अपने इस चित्रलयात्मक तत्व का नाम उपयासगत वर्णनात्मकता ही बना जाते। फिर भी इस ओर उनकी सूक्ष्म नज़र ही, सबसे अधिक मौलिक एवं कुशाग्र थी, इतना तो स्वीकार करना ही होगा।

उपयास विधा में वर्णनात्मकता के महत्त्व पर यथाकृता फ्रांसीसी समीक्षकगण

भी पाठा वृत्त विचार कर चुके हैं। जिस भाँति श्री ई० एम० फास्टर ने चित्रकला से 'पटन' तथा समीक्षकता से 'रिदम' शब्द लेकर अपनी मौखिक मूकशुद्धि के द्वारा उप-गंगा विधा की वणनात्मक विशिष्टता में सबसे प्रथम खोजीन प्रारम्भ की थी, उसी भाँति सन (१९६६) ई० में ही फ्रांसीसी भाषा के साहित्य-शास्त्र में, भी चित्रकला से वणन सम्बन्धी एक मुद्दावरे को उठा लिया गया था और वह था 'बलर लोवेल (स्थानीय रग)। इस सम्बन्ध में पूर्वोक्तलिखित फ्रांसीसी साहित्य एवं भाषा के इतिहासकार श्री एफ० ब्रुनो ने, अपने महत्वपूर्ण ग्रन्थ फ्रांसीसी भाषा का इतिहास में या चित्रा ही था —

'बलर लोवेल (स्थानीय रग) वस्तुतः एक चित्रकला सम्बन्धी तकनीकी मुद्दावरा, था। फ्रांसीसी भाषा में इसका प्रयोग सन १९६६ ई० से मिलता है और अंग्रेजी भाषा में कुछ ही वर्षों के बाद उसका प्रचलन पाया जाता है। तब उसका अर्थ था हर चित्रित वस्तु की अथवा चित्र के हर अंश विशेष की (उसकी सहज पृष्ठभूमि की छोटक) गणना स्वाभाविक रग नियोजना।' द्वितीय अध्याय में इस तथ्य की चर्चा की ही जा चुकी है कि 'गटारिया नामक एक फ्रेंच यात्री ने उसका आधुनिक (साहित्यिक) अभिप्राय में सबसे प्रथम प्रयोग किया था और अपने परिसर से जबरजस्ती का याना 'इताल' नामक ग्रन्थ में — उन्होंने अपने पसंदा क्षेत्रों के स्थानीय रग को अपने पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए इस शब्द (बलर लोवेल) का प्रयोग किया था।'

डॉ० स्टीफेन जर्मेन पी एच० डी० डी० लिट० ने अपने स्टाइन इन द फ्रेंच नॉवेल नामक ग्रन्थ में स्थानीय रग सम्बन्धी एक पृथक् अध्याय में शब्द की उत्पत्ति एवं प्रयोग के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से विवेचन किया है। उन्होंने फ्रांसीसी अकादमी द्वारा प्रस्तावित वाक्य के १८०२ ई० के सम्मरण में स्थानीय रग (बलर लोवेल) के प्रयोग के आधुनिक अभिप्राय का रहने पर बल देते हुए लिखा है कि सन १८३५ ई० के सम्बन्ध में ही पहली पहल उसकी साहित्यिक समीक्षात्मक अर्थों में व्याख्या मिलती है। उसमें उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि सन १८०२ ई० एवं सन १८३५ ई० के अन्तराल में यह मुद्दावरा (स्थानीय रग)

१ 'एक्सप्रेशन' बलर लोवेल बाज आरिजिनली ए टैक्निकल टर्म यूज्ड इन एरिथिंग। एट जाक्स इन फ्रेंच एज अर्थी एज १९६६ एण्ड इन इंग्लिश ओनली ए फ्यू ईयर्स लटर एण्ड इज डिफाइनड एज दि बलर नचुरल टु ईट आ जवट, जार पाट आफ पिक्चर।—एफ० ब्रुनो—हिस्तरी द टा लेंगे फ्रेंचाय', जि० ६ पृष्ठ ७३८

२ ए ला पेन्सारे द से रियू सलेष्टे ने बलर लोवेल।—गटारिया इतिनेरेर द पारी ए जेरुसलेम', प्रथम प्रकाशन, सन १८११ ई०।

साधारण प्रयोग के रूप में प्रचलित ही नहीं हो गया था वरन् वह साहित्य-समालोचन की पदावली का एक विशिष्ट मुहावरा भी बन चुका था।

श्री उलमन का ही यह भी मत है कि न केवल 'स्थानीय रंग' पद फ्रांसीसी क्षेत्रों से आगल समीक्षा शब्दावली में समाविष्ट हुआ वरन् वह आगल भाषा के रोमानी (रोमांटिक) शैली के कविता एवं लेखका द्वारा रोमानीपत (रोमेन्टिसिज्म) के साथ साथ ही, उनकी कृतियाँ के सम्बन्ध में भी अधिकाधिक प्रयुक्त होनी लगी। इससे समीक्षकों के दोनों अभिन्यजनात्मक अभिप्राय सिद्ध हो जाते थे—'चित्र विचित्र वस्तु (कथा वस्तु) का आकषण तथा 'विशिष्ट एवं अनोखी वस्तुओं में अभिरुचि'। 'स्थानीय रंग के साहित्यिक प्रयोग के द्वारा, समाज के निम्न वर्गों, नागरिक मजदूरों, ग्रामीण कृषकों एवं गडरियाँ आदि के जीवन की, चित्रण सम्बन्धी नव नव सम्भावनाओं के वर्णन के लिए भी, एक व्यापक क्षेत्र मिल गया था।

स्थानीय रंग का हम अनेक पक्षों एवं कोटियों में विभाजित कर सकते हैं यथा 'आचलिक आभा' तथा 'बाह्य छवि'। आचलिक आभा में, स्थानीय वातावरण अथवा अचल विषय की प्रकृति का गानसिक दृष्टिकोण सूक्ष्म रूप से निहित रहता है तथा बाह्य छवि में पदार्थों के, चाक्षुष वर्णनात्मक विवरण, चित्रवत् प्रस्तुत किये जाते हैं। इस भाँति यदाकदा यूरोपियन समीक्षक अपने वर्णनात्मक अभिप्राय का व्यक्त करन के लिए चित्रकला एवं नृत्य मगीतकला से पदावली लेकर उसका साहित्य समीक्षा में आरोप करते हैं।

हमारे अपने देश में भी स्वान्त्र्यात्तर नव सांस्कृतिक जागरण के फलस्वरूप अनेकानेक प्रतिभाशाली लेखकों का ध्यान कला समीक्षा एवं साहित्य-समीक्षा के पारम्परिक अथवा याथित सम्बन्ध की ओर गया है। इनमें से कुछ ऐसे विशिष्ट लेखक भी हैं जिनका कार्यक्षेत्र साहित्यिक न होकर बला साधना परक रहा है। ऐसे ही एक विषय उल्लेख्य सुलेखक हैं—चित्रकला के प्राध्यापक श्री रामचन्द्र शुक्ल। वे चित्रकला के साधक होने पर भी साहित्य में गहरी रुचि रखते हैं। अपने ग्रन्थ कला और आधुनिक प्रकृतियाँ में उद्धान कला और सौन्दर्य' शीर्षक अध्याय में सौन्दर्यत्व सम्बन्धी अपने निजी विचारों की विशाल व्याख्या दी है। उनका एक अन्य ग्रन्थ 'चित्रकला का रसास्वादन' भी चित्रकला-समीक्षा का एक रोचक एवं पठनीय ग्रन्थ है। चित्रकला के विविध सिद्धान्तों का संक्षिप्त एवं सरल रूप में निरूपण करते हुए उन्होंने रंग एवं वर्णों के नियोजना सम्बन्धी सिद्धान्त का उत्तम प्रतिपादन किया है।

जिस भाँति उपर्युक्त में उपर्यासवार अपनी वृण्यवस्तु का चुनाव पर्याप्त

१ स्टाइल इन द फ्रॉन्ट नावेल' (डॉ० स्टीफन उलमन पी एच० डी० डी० लिट०) प्रथम अध्याय पृष्ठ ४१ (प्रथम प्रकाशन १९५७ ई० केम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस) तथा 'ता मथोडे एन लेक्सिकोलॉजी' (मातारे) पृष्ठ १०३

भूभूतक के साथ करता है, उसी भाँति चित्रकार की चित्रण-योजना भी बहुत कुछ उसकी तूलिका एवं रंगों के चमत्कारकारी कलात्मक प्रभाव पर ही आधारित रहती है।

भारतीय परंपरा के अनुसार चित्रकार को अपने हर चित्र की वणनयोजना या रंगों के विन्यास को, दशकों अथवा सत्रहवाँ की अभिरुचि के अनुसार रखना चाहिए। उपन्यासगत वणनकला की त्रियात्मक साधना के अंतर्गत कलाकार या उपन्यासकार के लिए 'यक्ति जालेख्य प्रकरण (जयवा पोर्ट्रेचर) तथा दृश्यपट जालेखन, (लण्डस्वप) दोनों ही प्रकार की वण्यवस्तु के लिए उपयुक्त रंगों का चुनाव अत्यावश्यक हो जाता है। रंग हमारे नयनों पर तात्कालिक एवं गहन प्रभाव डालते हैं। अतः उपन्यासकार को भी स्वभावतः वणन विवेक में प्रवृत्त होकर अपने भावों के ही समान वणन के विविध हल्के रंगों के अंतरा अथवा गेटन पर पूरा ध्यान देना पड़ता है। उदाहरणार्थ हम उपन्यासकार को उस कठिनाई पर विचार करें जो उसके मन में शुभ वणन की अनेक प्रतीकात्मक वण्यवस्तुओं का ध्यान करने पर आती है। उसे वणन विवेक के जवसर एवं उसके समवेत प्रभाव पर ध्यान देने के लिए निजी विवेचन प्रतिभा से विचार करना होता है। श्री शुक्ल ने इस तथ्य को या सरल-यारया की है —

जिस प्रकार का स्वरंग आहार तथा सज्जा हम अधिक पसंद आती है। इस में रंग नहीं होता वह धवल होता है। पर इस हमें पसंद है। यहाँ रंग उतना आवश्यक नहीं जितना रूप और उसकी गन्धिमानता पर ध्यान रखा जाना है। सवेद रंग की चार वण्य वस्तुओं अर्थात् हंस, चम्पक पुष्प खरगाश तथा चादनी में से किसी को कुछ पसंद है किसी को कुछ।<sup>१</sup>

उपन्यासकार को पाठकों की रुचि पर ही नजर नहीं रखनी पड़ती बरन उस वण्य जवसर में प्रयुक्त रंग अथवा सूक्ष्मतर भेदों की अनुकूलता पर भी विशेष ध्यान देना होता है —

'कलाकार के सम्मुख यह प्रश्न नहीं है कि कौन वस्तु कम सुन्दर है और कौन अधिक, बरिक्त यह कि कोई वस्तु क्या सुन्दर है? अर्थात् प्रकृति का वह कौन सा आधार है जिस पर वह कौन-कौन प्रकार की अपूर्व सुन्दर वस्तुओं की रचना करती रहती है? कलाकार के लिये यही ज्ञान प्राप्त करना अति आवश्यक है। यह ज्ञान हमें या कलाकार को इन दो प्रकार से ज्ञान होता है—१ प्रकृति निरीक्षण से २ प्रकृति

१ 'चित्रकला का रसास्वादन' (रामचंद्र शुक्ल एम० एड० पी० डि० प्राध्यापक कला विभाग काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) अध्याय ६ कला का सावर्भौम स्वरूप पृष्ठ ५४-६६ (प्र० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी १, प्रथम संस्करण १९६२)।

के अनुसार चलने से, ३ प्रकृति व रहस्य पर मनन करके से ४ प्रकृति और अपने कार्यों में एवना लाने से । "

जपन उपयासी में वणना की योजना में उन प्रासकार को भी वण्यवस्तु के प्रति पाठको के आकषण एवं अभिरुचि का सदव ध्यान रखना पडता है । इसके लिए व्यापक प्रकृति निरीक्षण भी उपयासकार के लिए मूल्यवान सुशास्त्र देने वाता सिद्ध हाता है । विद्वानकला विवेचक के श्रुति में इस प्रश्न पर बारबार विचार करना प्रत्येक कलासजक के लिए आवश्यक है —

कौन सी चीजा का देख कर दशक आसानी से 'अहा हा !' कहते है, यह भी महत्वपूर्ण बात है जब हम विशाल तथा अनन्त नीले आकाश पर एकाग्रचित्त होत है या विशाल अनन्त समुद्र, वनो के समूह, जगल, रेगिस्तान पहाड, हरियाली सूर्य का प्रकाश, जनसमुदाय ऐसी वस्तुओं पर एक साथ, एक समय, एक स्थान पर, अनेक वस्तुओं का समूह देखत है या एक ही रंग एक ही रूप को, अनन्त रूप में, विस्तृत हाते देखते है, तो हमें सौ दर्यानुभूति होती है । "

'निरन्तर एक गति से बहती नदी, या भरन का बहने देख कर हम सौदयबोध होता है, एकता नजर आती है, अनन्त का बोध होता है । पहाडों या पेडों को जब हम अनन्त रूप से फले हुए देखते हैं समुद्र की जलराशि को जब हम अनन्त रूप से विस्तृत देखते हैं सूर्य की लाल लाल किरणों को, समुद्र के किनारे अनन्त रूप से फैलत हुए देखते हैं किसी लम्बे चौडे मदान में जब घास की हरियाली अनन्त रूप से फैलती दिखाई पडती है तो हम एकता, सावभौमिकता और सौदर्यानुभूति का एक साथ अनुभव होता है । "

रंगों का चुनाव वणनात्मक चित्रकार एवं वणनात्मक उपासकार दोनों के लिए ही महत्वपूर्ण है । इसी प्रसंग में श्री शुक्ल ने कुछ निम्न रोचक तथ्यों का भी विवरण दिया है—

'आधुनिक मनाविगान तथा भौतिकविगान के द्वारा रंगों के प्रभावों पर और भी महत्वपूर्ण तथ्य सामने आ रहे हैं । प्राचीन समय में भी रंगों के बारे में, बहुत सी बातें प्रचलित थीं । आज भी मस्कारगत भारतीय घरों में रंगों के बारे में बहुत सी भाषणार्थ चलती है । शान्ति या अन्य गुण अवसरो पर लागू करने नीले या हरे रंग के वस्त्र नहीं पहनना । (पाश्चात्य देशों में लोग) अनि शुभ घटना के अवसर पर काले वस्त्र पहनते हैं ।

'लाल तथा पीला रंग भारतीय घरों में शुभ समझा जाता है । सजासी सानु रात में रखा वस्त्र ही अपने लिए उचित समझते हैं । भारतीय गृहस्था में यह भी चलन

१ ३ 'विश्वकला का रसास्वादन' (रामचन्द्र शुक्ल) अध्याय ६, पृ० ६१ तथा ६४ ६५

४ यही—पृष्ठ २, अध्याय १ ('रंग'), पृष्ठ ८१

है कि यदि नया संपेद वपना, दास कर धाती पहानी हानी है तो उसमें एक बोन प हली लगा दत है । (वगल म ता बुनकर भी रसका ध्यान रगत है ।)<sup>१</sup>

उपन्यासों में आधुनिक स्वरूप में प्रकृत है, इसीलिए उपन्यासकार के लिए, एक स्वरूप प्रकृत रग सम्बन्धी धारणाओं पर अधिक ध्यान देना अनिवार्य होता है । जो चित्रकला-सम्बन्धी इन तथ्यों के बारे में भी विशेष ध्यान रखना होता है । 'यातिप शास्त्र आदि में भी रगों के विषय में पर्याप्त चिन्तन किया गया है । लेखक महादय के शब्दों में—

ज्यातिप शास्त्र में इस प्रकार की अनेक बातें मिलती हैं जैसे—ग्रहा का शास्त्र के लिए विभिन्न रगों के हीर माने मूंगा पत्थर या काच पहनने को कहते हैं और विभिन्न देवी-देवताओं या ग्रहों के लिए विभिन्न प्रकार के अनुकूल रग वर्णित हैं और उह अनुकूल वनाथ रगत के लिए उसी रग के वस्त्र का प्रयोग किया जाता है । (धार्मिक कृत्यों में), फूल, जल तथा वस्त्र के प्रयोग में रग का ख्याल बहुत किया जाता है ।<sup>२</sup>

चित्रकला की परम्पराओं में चिरकाल से वर्णों का मानव भावनाओं के व्यञ्जक के रूप में माना जाता रहा है । जत प्रसंगों के अनुकूल यदि विभिन्न रगों के प्रभाव का भी ध्यान रखा जाए तो उचित होगा । भारतीय चिन्तन धारा एवं चित्रकला की परम्परा के अनुसार विभिन्न वर्ण विभिन्न गुणों के परिचायक हैं यथा—

पीला—तीव्र बुद्धि विवेक	कश्मीरी—स्वाध
नीला—मुक्ति	विरमिची—लालच
बगनी—आत्म विवर्ण घमणता	लाल—शोध
गुलाबी—प्रेम, उदारता	लाखी—विषय वासना
हरा—करण सहानुभूति	तूथी न्वाकी—भय, उदासी
नारंगी—अभिमान	काला धूमिल—क्रूरता या द्वेष <sup>३</sup>

उपन्यासकार का उपयुक्त अवसरों के अनुकूल पात्र पानाओं की वेश भूषण के वर्णाल आयाजन को भी ध्यान में रखना होता है । अनुकूल वर्ण चयन द्वारा वर्णन की प्रभावत्वादकता भी बढ़ती है और उसका कलात्मक बहिष्करण में भी वृद्धि होती है ।

केवल पात्र-वर्णन में ही नहीं—प्रकृति चित्रण के प्रसंगों में भी रगों का चुनाव बड़ा विलक्षण प्रभाव डालता है । विभिन्न ऋतुओं के अनुकूल प्रकृति वर्णन अपना पट

१ चित्रकला का रसास्वादन (रामन द्र शुक्ल) अध्याय १, पृष्ठ ८३

२ ३ वही पृष्ठ ८३

४ वही, खण्ड २, अध्याय १ (रग), (पृष्ठ ८१ ६१) पृष्ठ ८१

परिवर्तन करती रहती है। यह परिधान, पेड़-गोत्रो जलाशयो के बदलते हुए रूप रंग द्वारा नित्य बदलता रहना है। भारतीय जलवायु की अनुकूलता को ध्यान में रख कर लेखक को न केवल कुछ प्रतीकात्मक पेडा, फूल तथा घरती की रणयोजना (यथा मिट्टी का रंग और घास की चाटर की वणगत भंगिमा) का ध्यान रखना होता है वरन उसे अपनी वणगत दृश्यपटिया के उतारन में भी, वणयोजना के प्रतीकात्मक प्रयोग का सहारा लेना पडता है—

इसी प्रकार जस किसी चित्र में हरे मरे विस्तृत मैदान में, हरियाली में मध्य में लाल रंग का कोई वस्तु जो उस जनत हरियाली में, अयवर्णा होने के कारण, केन्द्रित हो जाती है सो दय का और बढा देती है।<sup>१</sup>

उपयासो में वर्णनात्मक कला के नियोनन में हम भाति, चित्रकला के कुछ विशिष्ट अंशों का सम्यक अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। वर्णनात्मक बना प्रधान हान के कारण, उपयास, स्वभाव से ही चित्रात्मकता प्रधान ही होते हैं।

‘कालिदास की लालिय-याजना में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कलाकार का जिस समाविश्व अथवा सबस्य अवस्था का विशद विवरण दिया है उसी को चित्रकला के समी ममन में अनुभव करते हैं। कलाचार्य गुवन न भी कलाकार की साधनावस्था का निम्न शब्दा में विवचन किया है जा उनकी चित्रकार की निजी अनुभूति पर भी आधारित है —

यदि सारी इन्द्रियाँ शुद्ध रूप में प्रसर हा, उनको नित नय अनुभव प्राप्त होते रहें तो भावना या उद्वेग के रूप में, व परिष्कृत होते जात हैं और मस्तिष्क, विभिन्न प्रकार की अनुभूतियाँ को ग्रहण करने में, सफल होता है।

जिन व्यक्तियों की इन्द्रियाँ कुशलतापूर्वक, समार से प्राप्त विभिन्न प्रकार के अनुभवों का मस्तिष्क तंत्र पहुँचाती रहती है और मस्तिष्क में जन्मित अनुभूति को कुशलता पूर्वक व्यक्त करने में, समर्थ हानी हैं यही व्यक्ति कलाकार बन जाता है। यह विधान ही गृष्टभूमि है कला की रचना की जिसका मस्तिष्क शीघ्र ही भाति अनुभव का साफ साफ ग्रहण करता है, और वस ही उसकी अभिव्यक्ति करने में भी समर्थ हाना है वहा कलाकार बन जाता है।<sup>२</sup>

हमारे देश में, कला साधना का भी, जय जायात्मिक साधनाओं के समान एक उच्च स्तरीय, उन्नत एवं तटस्थ रचनात्मक प्रतिभा का क्षेत्र माना गया है। भारतीय विचार धारा के अनुसार, कला, ज्ञान का अभिव्यक्ति है तथा वह अपने विविध माध्यमों द्वारा, हमें ज्ञानदानुभूति का व्यक्त करने में सिद्धि प्राप्त करती है।

१ चित्रकला का रसास्वादन (रामचन्द्र गुवन) अध्याय १, पृष्ठ ८३

२ यही—गण्ड १ अध्याय १० (पृष्ठ ६७-७०), पृष्ठ ७१



इसीलिए विविध ललित कलाएँ यथा चित्रालेखन मूर्तिकला स्थापत्य एवं संगीतात्मक कला-साधनाएँ मूलतः जनक मौलिक समान आधार भी रखती हैं।

कलाकार अथवा साधक, किसी भी प्राकृत पन्थ द्वारा, अपने कलात्मक चानामेप की मानसिक परिकल्पना करता है और मनन चिन्तन एवं निरन्ध्यामन द्वारा वह परिकल्पना एक मूलतः एव सजीव अस्तित्व ग्रहण कर लेती है। उस अनिवचनीय एवं जात्मविभोर आनन्दानुभव के क्षणों में, कला साधक का मन में उपयुक्त माध्यम की खोज सम्बन्धी प्रेरणा, उत्पन्न होती है और समयानुरूप वह इतनी बलवता हा जाती है कि उसकी अभिव्यक्ति के बिना कलाकार प्रवृत्तिस्थ नहीं हो पाता।

साहित्य सृजन भी अथवा कलाओं की भाँति मानस प्रेरणा एवं कलात्मक परिकल्पना का ही एक मूल रूप है। भाषा के माध्यम के कारण साहित्य की यजना सामर्थ्य सभी अन्य ललित-कलाओं की अपेक्षा सर्वाधिक क्षमता सम्पन्न है। उसकी प्रक्रिया परिधि भी इसीलिए अनंत एवं अपार है। वणनात्मक कला, व्यावहारिक विकास है, वाङ्मय की इसी यजना सामर्थ्य का। इसीलिए कला में वणनात्मकता का जब तरण, विकास एवं उसकी विविधा प्रक्रियाएँ आद्योपान प्रेक्षणयोग्य एवं मननीय है। साहित्य का सभी विधाएँ यूनानाधिक रूप से, वणनात्मक हाती है कि तु उपन्यास के लिए तो वणनात्मकता मरदण्डक समान ही है। बिना वणनात्मक-कला की मिट्टि में, कोई भी उपन्यासकार रचाननामा नहीं हो पाया और न कोई विश्व उपन्यास हा ऐसा है जा बिना वणनात्मकता की सामर्थ्य के स्थायी साहित्यक स्तर को प्राप्त कर सका हा।

वणनात्मक कला साहित्य की एक प्रवृत्ति विशेष का नाम है, जिसकी परिधियाँ माध्यम के अन्तर द्वारा अन्य ललित कलाओं तक भी फैली हुई है। सभी कलाओं के मौलिक उद्भवक अनुसंधान वणनात्मकता लक्षक अथवा कलाकार की कलाभिराम परिकल्पना में जम लेती है। यह कलाभिराम परिकल्पना कलाकार के मानस में तभी उदित हाती है जब कि वह आनन्द की सायनावस्था में जात्मविभोर, अन्तर्लीन एवं आत्मसन्तुष्ट अवस्था में हाता है। उस ही कुल कलाशास्त्री 'कला समाधि' भी कहते हैं। कलाकार के मानस की यह निर्विकल्प निश्चाम अवस्था ही भाव्य और दिव्य चिरस्मरणीय तथा चिरचमत्कारमया वणना की सृजनाभूमि बनती है। कलाकार की कलाभिराम परिकल्पना का प्रेरणा, संचराचर विश्व की किसी भी गण्य जयवा जगण्य इकाई द्वारा, जादोलित व प्ररित हा सकती है।

कलाभिराम परिकल्पना की सहज परिणति वणना में हा हाती है। इस मानस लघुकथा से लेकर उपन्यास तक समस्त कलात्मक साहित्य हा वणना की एक अद्वैत श्रुतता के समान जान पडता है। कथात्मकता मानव की सत्त्व साहित्यिक रूति है तथा जो कथासाहित्य, अनाल-नाम तुलशील लोक समुदाय द्वारा प्रचलित है वह सभी वणनात्मक है। दूसरे शब्दों में कथात्मकता की भाँति वणनात्मकता को भी, मानव

मात्र की सहज प्रवृत्ति का परिणाम कह सकते हैं। किन्तु जब कलाकार की कलाभिराम परिवर्तन द्वारा वही वर्णनात्मकता पुनर्कल्पित रूप में समक्ष आती है तो उसमें एक ऐसी कलात्मक रमणीयता की आभा शोभा अथवा छटा छहराने लगती है जो साधारण से साधारण वर्णना का भी, कलात्मक अभिरामता प्रदान कर देती है। अतः मात्र-वर्णन एवं कलाभिराम वर्णन के बीच के अंतर को पहचानना, प्रत्येक साहित्य रसिक के लिए आवश्यक हो जाता है।

मात्र-वर्णन एवं कलाभिराम वर्णन के बीच का विवेक हम वर्णनात्मक कला के विविध उपादानों के अनुभवान में प्रयत्न करता है। प्रत्येक कलाभिराम वर्णन, लेखक की आनन्द विमोह रमणीयता अभिभूत परिवर्तन का परिणाम, होता है। अतएव ऐसा प्रत्येक वर्णन स्वयं अपने में एक कलात्मक इकाई है। उसकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता भी है तथा यदि उसे उपयाम के कलेवर से पृथक् भी परखा जाय तो निश्चय ही वह पाठक को स्वयं, स्वतन्त्र रूप से भी आनन्दित करेगा। किन्तु उपयामगत वर्णन की कथारसता, उस एक अनोखापन प्रदान करती है। उपयामकार के हृदयगत कथारस, एवं वर्णन का उसकी अपनी निजी कलाभिरामता, पाठक के मन का भी एक अनिवचनीय कलात्मक अनुभूति का दाध करा जाती है।

क्या प्रवाह म, किम भानि काइ स्वतन्त्र अस्तित्व रखन वाला कलाभिराम वर्णन, कथाप्रसंग का स्मरण जाते ही साहित्य विदग्ध पाठक को रोमांचित कर जाता है यह तथ्य अनुभवगम्य है—शक्य नहीं। उदाहरणार्थ जब मात्र की प्रसिद्ध सूक्ति 'क्षणे क्षणे यत् नवतम उपति तदव रूपम रमणीयताया हमारे सम्मुख आती है तो हमारे समक्ष, रमणाय अथवा सौन्दर्यत्व का एक किन्नरमिलाता किन्तु चमत्कारी चित्र, आ उपस्थित होता है। यह सूक्ति जगत् रमणीय एवं वर्ण्य पदार्थों का विशिष्ट एवं शाश्वत धर्म है। इसलिए वह जब एक साहित्यिक कथावस्तु (सूक्ति) बन चुकी है। यदि हम इस सूक्ति का शिशुपाल वध के रवतन्त्र पर्वत वर्णन के प्रसंग में पढ़ें और श्रीकृष्ण के कलापिपासु नयना द्वारा, एकटक, रवतन्त्र पर्वत का निहारा जाता हुआ देखें तो हम भी (श्रीकृष्ण के समान ही रमणीय रवतन्त्र का दल कर) कम हृदय विस्मय का अनुभव नहीं होगा। बारबार श्रीकृष्ण ने इस रमणीय शक्ति के नसगिक सौन्दर्य का बरसा निरारा था, किन्तु आश्चर्य तो इस बात का था कि हर बार वह 'कुछ और ही नजर आता था।

इसी बात का भाव के लगभग बारह सौ वर्ष बाद एक अन्य नसगिक छटा के लुब्ध द्विती महाकवि, आर्य पाठक ने अपनी काश्मार सुभा नामक वर्णनात्मक कविता में भानो निम्न शब्दों में पुनः स्मृत सा कराया था—

'प्रवृत्ति इहाँ एका न बठि निज रूप सवारति ।

पल पल पलटति वेप, छनिव छवि दिनु छिन, धारति ॥ १

उक्त वाय प्रसा म नसर्गिक शाना के साथ वाश्मोर का रोमानी नामरूप जुड जाने पर, वन पक्षिना का रोमानी जाडू कती अधिच बढ जाता है । फिर भी व अपने म ही, क्या कम है ?

उपयासों मे तो ऐसे प्रमग, तने घट्टमरयक है कि उनका सविस्तार उल्लेख आगे आने वाते तत्सङ्घी पृथक्परिच्छेद म समाय लगा । इस दृष्टि से श्री नानाकन लाल वमा द्वारा (मृगनयनी म) चित्रित चादनी रात म ना प्रकृति दृश्यपट वणन भी अपन म एक स्वतंत्र कलाभिराम कृति है । वह बिना किसी कथा प्रसग क भी, स्वत रमणीय है

खेत से थोडी ही दूर नदी वह रहा थी । नाहर स डरे हुए सामरो और चोतला की कभी ताक्षण जोर कभी मद पुकारें ! (इम समग्र वणन का मृगनयनी उपयास के विगत वणनात्मक विश्लेषण म सपूण रूप से उद्धृत किया गया है ।)

यदि किसी उपयास रसिक पाठक का उपयुक्त वणन का क्या प्रमग भी पुन स्मृत हा जाए जोर प्रकृति क इस निस्तब्ध दृश्यपट क साथ हा साथ निनी अथवा भावी गूजरी रानी मृगनयनी का, रामानी रूपछवि भी स्मृति-मट पर उभर आए तो इस वणन के कथारम म यागदान वाते पक्ष का भा जानास मिल जाता है । इस प्रकार के बिनन ही अविस्मरणीय वणन स्व० श्री वमाजी के उपयासा की एक बडी एव निजी विशिष्टता है ।

वणनात्मकता के अभिव्यजना सामध्य का प्रमुख आधार शब् है । साहित्य से इनर ललित कलाआ म जिन माध्यमा का प्रयाग हाता है । जबकि शब् का उपयुक्त चयाद्वारा लेखक अपन वणना म चित्रालेखनकी साक्षात छत्रि तथा संगीतकी वण मधुरता युक्त नादबनि टोना का समावेश करने म समय होता है । शब्दा द्वारा ही वह मूर्तिमला रथापत्य कला जादि क भव्य चित्र भी अपने पाठक के समक्ष, समुपस्थित कर सकता ह । दृश्यपट जानखन म लेखक शब् का वण व्यजना का कलानुरूप ममावेश करना है जिसक द्वारा उसक प्राकृतिक दृश्यपट विविध नयन रजक एक चित्र विचित्र छत्रिया द्वारा रग तात है ।

शब् की व्यजना शक्ति विनक्षण सामध्य रखना है । शब् की कलारचि परक व्यजना द्वारा नवन रूप रम गंध स्था ध्वनि के सूभनम विभदा क सञ्चार द्वारा पाठक क मन म रसात्नावित कर दता है तथा उन सूक्ष्म अनुभूतिया का जो उस पहन कभी अज्ञानन कर चुका है कलात्मक पदावली क द्वारा अपन पाठका तक पहुँचान म आर उह रसाञ्चिन करने म वह सफन हाता है ।

यज्याथ के अतिरिक्त कामल वात पलावला एव श्रुति मधुर शब् का चयन द्वारा लेखक अपनी वणनात्मक शलो म एक सुगुमार कलाभिरामता का समावेश कर पाता है । इसक विपरीत कठोर प्राकृतिक दृश्या तथा ज य कोलाहलयुक्त वाता वरण का यकन करन क लिय वह परपा दृष्टि का भा अवलम्बन लेता है ।

प्रत्येक लेखक की वर्णन शैली की अपनी निजी विशेषताएँ भी रहती हैं, यथा कुछ लेखक समस्त पंजी का प्रयोग करने में पटु होते हैं जिससे कि भावाभिव्यक्ति में बड़ी सहायता मिलती है। वातावरण की प्रतीयमानता में अभिव्यक्ति के हेतु स्थानीय, प्रादेशिक, जाचलिक या शब्दों का भी प्रयोग किया जाता है, जिससे स्थानीय वातावरण, पाठक के समक्ष, साक्षात् हा उठता है। इसी भाँति भाषागत कलाभिरामता के लिए वाक्या के सुघट विन्यास के साथ ही साथ उसमें सरलता, सुबाधता एवं वृत्तात्मकता भी अभिव्यक्ति में होनी है।

उपन्यास में वर्णनात्मक कला का मूलाधार रूप, रस, गंध, स्पर्श एवं ध्वनि के एक नानेन्द्रिय के साथ-साथ पर आश्रित हान के कारण, संपूर्णतः वैज्ञानिक एवं तकमूल माना जा सकता है। ज्ञानबोध की इन पाँच विविध सरणियों में, वर्णनात्मक कला में प्रगत रूप वाच्य सर्वाधिक बहुप्रयुक्त कला प्रयोग है। रूप तत्त्व के संवय में हमारे प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने पर्याप्त विवेचना की है जो याग के सिद्धान्त निरूपण से लेकर, कानिदास के काव्या एवं नाटका में पाई जान वाली मार्मिक उद्भावनाओं तक, फली हुई है। पाश्चात्य कला-साहित्य समीक्षा में भाष्य-बोध की बहुत कुछ चर्चा की गई है। पाश्चात्य समीक्षाशास्त्र में इस प्रसंग का रूपगत चतुःसिद्धान्त की सना प्रदान की गई है। यहाँ उसका भी संक्षिप्त उल्लेख उपादय एवं समीचीन होगा।

श्री श्रीराधर गुप्त ने अपने पाश्चात्य साहित्यानुभव सत्रधी उत्तम ग्रंथ में इस प्रसंग का चर्चा चतुर्थ प्रकरण में 'एस्थेटिक अनुभव' (सौन्दर्यानुभूति) शीर्षक उपविभाग में इस भाँति की है—

रूप को समझने में आलाचना, बड़ी विभिन्नता दिखती है। कोई कलाकार उस विधा अथ में लता है, कोई किसी और अथ में। यही नहीं एक ही कलाकार, भिन्न भिन्न अवसरों पर उस भिन्न भिन्न अथ में लता है। पहला रूप, शास्त्रीय अथवा परम्परागत हो सकता है—आवृत्ति स्वरूप अथवा साधारण विधि। ऐसे रूप का निर्धारण कलाकृतियों के निरीक्षण और अध्ययन से होता है। कलाकार उनके निर्धारित रूपा का नमून (या माडल) के रूप में ग्रहण करके, गदी रचनाओं का गृह्य करत है। दूसरे रूप में किसी वस्तु का वास्तविक नार अथवा उसके अस्तित्व की पूर्ण के नियम का समझा जाता है। इस व्यापार में कला हमें सत्य का अधिक सरल दर्शन देता है और प्रकृति और मानव जीवन के हमारे ज्ञान को दृढ़ बनाती है। तीसरे रूप में अभिप्राय है आत्मरूप से। कला एक दूरने परिवर्तित सत्ता की गृह्य करती है जिसका प्रयाज, एक एमी तुष्टि शक्ति है जो निर्णय तथ्य की तुष्टि से भिन्न होता है। चौथे और अन्तिम रूप में रूप कलात्मक रूप होता है। यही वास्तविक रूप है जिसमें माध्यम द्वारा कलाकार के प्रकृति और जीवन विषयों की निजी दर्शनकी अभिव्यक्ति प्राप्त होती है।

समगाया है कि स्वयं कविकुलगुरु कालिदास विद्वत् चित्रण-कला अथवा हूबहू आलेखन का 'श्रेष्ठ कला नहीं मानते थे। मालविका का चित्र भी ऐसा ही रहा होगा, किन्तु राजा ने जब अनुकाय देखा, तो अनुकरण की भूल उसकी समझ में आ गई। विद्वत् चित्र भी ठीक ठीक इस कारण ही उनका क्योंकि चित्रकार शिथिल समाधि' हो गया था। कालिदास स्वयं कहीं भी शिथिल समाधि होगा पसन्द नहीं करते। जहाँ कहीं कलाकार की समाधि शिथिल हुई, वह अपने लक्ष्य से भ्रष्ट हुआ।

आचार्य द्विवेदीजी का अभिमत है कि कालिदास ने कलाकार अथवा साहित्य साधक की इस समस्या पर काफी गहराई से विचार किया था। आगे इसी प्रसंग पर कविकुलगुरु का वणन कला सवधी दृष्टिकोण विद्वान विवेक के निम्न शब्दा में अवधारणीय है—

कालिदास विधाता को भी एक कलाकार ही मानते हैं। जब वह सचमुच कोई सुन्दर रचना करता है तो समाधिस्थ होता है। दिलीप की रचना करते समय निश्चय ही उसने महाभूत समाधि धारण की होगी—'तम वेधा विश्वे नूनम महाभूत समाधिना।' वस्तुतः कालिदास बहुत कम जवसरो पर विधाता के पूण समाधिस्थ होकर रचना करने का उल्लास करता है। विधाता की सृष्टि में भी सब वस्तुएँ समान रूप से सुन्दर नहीं बनीं। कालिदास बड़े ही (सु) सम्मृत चित्त के कवि थे।

अभिज्ञान शाकुन्तल में राजा दुष्यन्त ने कहा था—ब्रह्मा ने सबसे पहले शकुन्तला के रूप की मानस उत्पत्ता की होगी। उस समय उसके चित्त में सौन्दर्य का उपान रहा होगा। उसने चित्त का पूणमत्वस्थ या समाहित किया होगा। फिर उसने पुराने बौद्ध रत्नों से भिन्न इस स्त्री रत्न की सृष्टि की होगी ऐसा मुझे प्रतिभास हो रहा है। यह रात मरे मन में इसलिए आती है कि एक ओर उसके मनोहर रूप को देखना और दूसरी ओर विधाता का अपार सामर्थ्य (उसकी विभुता)।'

विधाता के वहाने कालिदास ने यहाँ मानव कलाकार की रचना प्रक्रिया की ओर ही इंगित किया है। मनुष्य अपने रूप में ही विधाता को देखता है। कालिदास ने स्वयं रचना प्रक्रिया को जसा अनुभव किया होगा उसी को विधाता में घटित कराया होगा यह अनुमान असंगत नहीं है। कालिदास उत्तम रचना के लिए समाधिस्थ चित्त को बहुमान देते हैं। मेघदूत के एक ही प्रसंग में चिन्तकता के सात्त्विक और रासिक भाव का बड़ा ही कमनीय चित्र प्रस्तुत किया है। यत्र विग्रहावस्था में अपनी प्रणय कुपिता प्रिया का चित्र बनाता है। चित्र बनाने

१ चित्तनिवेश्य परिकल्पित सत्त्वयागाद् रूपोच्चयेन मनसा विधिना कृता नु।

स्त्रीरत्न मृष्टिरपरा प्रतिभाति सा मे धातुविभुत्वमनुचित्य वपुश्च तस्या ॥

—'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' (महाकवि कालिदास)

की स्थिति में उतका चित्त पूण सत्वस्थ रहता है परन्तु चित्र देख कर वह राजस भाव का शिकार हो जाता है। उसकी आंखों से अविरल अश्रुधारा बहने लगती है।<sup>१</sup>

कलाकार के रूप में यक्ष सत्वस्थ रहता है। दृष्टा के रूप में राजस भाव में—रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत चित्त से प्राणवन्त सुकुमार सौंदर्य नहीं निकल सकता—यह कालिदास का निश्चित मत है—'न प्रमातरत्नम् ज्योतिरूपति वसुधातलात् (धरती की सतह से प्रमा चंचल ज्योति का उदय नहीं हो सकता)।

आचार्य द्विवेदीजी के उपयुक्त कालिदास के लालित्य सिद्धान्त का एक मुख्य आधार है—कलाकार अथवा साहित्य-माधक की यह सत्वस्थ समाधि अवस्था। जो समस्या वर्णनात्मक काव्यकर्ता की है ठीक वही—बल्कि उससे भी कहीं अधिक व्यापक अर्थों में, वर्णनात्मक उपायासकार की भी है।

जिस समय उपायासकार की सत्वस्थ समाधि-अवस्था में, अथवा उसकी आत्ममग्न तत्स्थ दार्शनिक एकाग्र तमय अवस्था में, एक से एक विलक्षण कलाभिराम वर्णन निःसृत होने लगते हैं तो उसका उपायास, काव्य की श्रेष्ठावस्था में ही पहुँच जाता है। जिस समय हम किसी श्रेष्ठ उपायासकार द्वारा चित्रित कलाभिराम वर्णनों में अपने आपको खोया हुआ सा अनुभव करते हैं तो कथारस के अतिरिक्त, उन्हीं क्षणों में एक अपूर्व अनिवचनीय काव्यरस की भी अनुभूति कर पाते हैं जिसके कारण ही वस्तुतः हम साधारण उपायास एवं श्रेष्ठ कलात्मक उपायासिक कृति के बीच का अन्तर स्पष्टतया समझ पाते हैं। निश्चय ही यह सब जान-दानुभव मात्रा तो पाठक की निजी सस्कारयुता अभिरुचि की, सानुपातिक रहती है, फिर भी वर्णनात्मक कलाभिरामता-सयुक्त वर्णन एवं साधारण वर्णन के बीच का अन्तर समझने पर, उपायास विवेक का केन्द्रीय सूत्र, हाथ में आ जाता है।

जो उत्तम वर्णन हम उपायासा में पाते हैं, व समी उपायासकार की समस्त मानसिक प्रवृत्तियों के अपने वर्ण्यविन्दु पर केन्द्रित हो जाने से ही शब्दरूप ग्रहण कर पाते हैं। ऐसे वर्णना की अवतारणा करने समय उपायासकार एक सबथा तटस्थ दृष्टा का रूप ग्रहण कर लेता है और स्वयं भी वह एक प्रकार से अपने वर्ण्य पदार्थ अथवा वर्णनाकर पर ही मनसा जा पहुँचना है। उस समय उसे अपने पार्थिव अस्तित्व का भी ध्यान नहीं रह पाता और वह अपने आसपास के वातावरण एवं अवरोधक परिस्थितियों के प्रभाव से सबथा परे, अपनी रचनात्मक प्रतिभा से प्रसूत 'रसविश्व' का

१ त्वामालिङ्ग्य प्रणयं कुपिताम घातुरागं शिलायाम् ।  
आत्मानाम् ते चरणं पतितम् यावदिच्छामि कर्तुम् ॥  
अस्य स्तावन् मूर्च्छपचिन्तं दृष्टिरालुप्यते मे  
नूरस्तस्मिन्मि न सहन् सगमम नो विधाना ॥

नागरिक ही हो जाता है। इसी को कालिदास कलाकार की सवस्थ अध्यात्म अवस्था अथवा समाधि की अवस्था मानते हैं।

उपयुक्त कालिदास लालित्य योजना की एक अन्य विशिष्टता जो सीधी चित्र कला से भी सम्बंध रखती है, वह है 'चित्रितय के भावों को लेख और रगों में फिर से प्रवेश करा देना। इसे चित्रकला की शब्दावली में 'भावानुप्रवेश कहते हैं।' प्रसंग है फिर 'जमिन्नान शाकुंतलम्' का। दुष्यन्त ने शकुंतला का चित्र बनाया था, 'उसमें रगा के भरने से जो उच्चावच प्रवेशों की शोभा निलर आई थी, उसे देख कर विदूषक ने कहा था—वाह सखे! तुमने यह चित्र बहुत ही सुंदर बनाया है और प्रत्येक अंग में भावानुप्रवेश दगनीय है।'

उपन्यासगत वणनात्मक कला का एक अंश है, अथ ललितकलाओं की वणनों के माध्यम द्वारा यथस्तथ अनुभूति कराना। इनमें से एक विशिष्ट कला है नृत्य (एवं उसने सहचर वाद्य संगीत आदि)। जाचाय द्विवेदीजी ने नृत्यकला में भावानुप्रवेश के उदाहरण के लिए कालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्र' के लिए नृत्य प्रसंग को उदाहृत किया है। मालविकाग्निमित्र के द्वितीय अंक में आए हुए जाठवें श्लोक के इस नृत्यात्मक भावानुप्रवेश को 'रागवध सज्ञा दी गई है जिसमें औपन्यासिक रूपांतर श्री द्विवेदीजी ने अपने प्रस्ताव उपन्यास—वाणमट्ट की आत्मकथा' में किया है—

मातृविका के अंग के भीतर वाणी द्विपी हुई थी। उसके चरणा के विन्यास लय व साथ साथ चल रहे थे। गीत के रस में भी वह तमय हो गई थी जो भाव जय विषयो से मन को विरत करें और जिसमें नक्तकी टिखाए जाने वाले भाव में स्वयं प्रसंग कर जाए वही रागवध उत्तम होता है।'<sup>१</sup>

जाचाय द्विवेदीजी स्वयं अनेक श्रेष्ठ एवं कलाभिराम उपन्यासों के स्रष्टा भी हैं। जत उनके प्रत्येक उपन्यास में ललितकलाओं के चिद्विनास की जसी रमणीय भावियाँ देतन को मिलती हैं वसी समवतया किसी भी अन्य उपन्यासकार की कला कृतियां में दुर्लभ ही हैं। वाणमट्ट की आत्मकथा' (१९४५ ई०) की पात्रा निपुणिका के नृत्यां में यह भावानुप्रवेश रमणीय वन पढा है। उपन्यास की चरम परिणति प्रायः उसी

१ 'कालिदास की लालित्य योजना (आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय ६ भावानुप्रवेश यथालिखितानुभाव, पृष्ठ ६२-६८

२ अग जतनिहित वचन भूचित सम्भगथ  
पात्पासी तथमनुगत तमयत्वम रसम्य ।  
शात्पायोनिभ दुरमिनम तद् विक्ल्पानुवती  
भावो भावम नुदति विषयद् रागवध स एव ॥

— मालविकाग्निमित्र (महाकवि कालिदास) द्वितीय अंक, श्लोक ८

नृत्य के द्वारा हुई है। 'चार चद्रलेख' (१९६३ ई०) के अन्तगत 'नाटी माता' (नागर नत्नी) की नृत्योपामना में यह नृत्यकलागत भावानुप्रवेश पद्धति ही बनता है। तथा उनके उपन्यास 'पुनर्नवा' (१९६१-६६) में वर्णित मञ्जुता के नृत्य में, मञ्जुला की नृत्य-छवि उपयुक्त मानविका की नृत्य छवि का, सहमा स्मरण सा करा जाती है।

यह भावानुप्रवेश हिंदी साहित्य के अनेक कलापू्ण उपन्यासों में, वर्णना द्वारा ही स्थापित हुआ है यथा 'मृगनयनी' में गूजरी रानी द्वारा नृत्यकला का प्रदर्शन।

चित्रकला एवं नृत्यकला के अतिरिक्त अथ ललितकलाओं को वर्णित करने वाले उपन्यासों में भी भावानुप्रवेश-पद्धति (भवन निर्माण कला एवं स्थापत्य के क्षेत्र में भी) सफलतापूर्वक स्थापित हुई है। यथा—'मृगनयनी' (श्री वंदावनलाल वर्मा) में, गूजरी महल एवं मानमंदिर की भवननिर्माण-कला के, उत्कृष्ट एवं कलाभिराम वर्णनात्मक प्रसंगों में 'स पद्धति का विकास एवं विलास दर्शनीय है। वहाँ यह भावों का वाशप रूप होने की प्रक्रिया, स्थापत्य कला के क्षेत्र में भी जा पहुँची है।

इसी प्रसंग में आचार्य द्विवेदीजी ने चित्रकला की एक अन्य पदावली 'यथा-लिखितानुभाव' का भी उल्लेख किया है। यह महदय दशक या पाठक की ओर से अनुभूत, भावदशा का ही एक अन्य नाम है, जबकि 'भावानुप्रवेश' पद, कलाकार की ओर से अपनाई जान वाली प्रक्रिया के रूप में प्रयुक्त किया जाता है।

आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपयुक्त ग्रंथ के सातवें अध्याय में चित्रकला से मगधित विशिष्ट शब्दावली का विशद विवेचन भी किया है। यहाँ साधारणतया चित्रकला सम्बंधी आलोचना में व्यवहृत हुआ करते हैं, यथा—विनिवेशन, अपवाकरण और अवयन—य तीनों शब्द साहित्यिक कृतियों की आलोचना में जब व्यवहृत किये जाते हैं तो उनके अर्थ तनिक भिन्न तो हो जाते हैं, किंतु वर्णन क्रिया के संबंध में यह पदावली स्वयं महाकवि कालिदास ने प्रयुक्त की है और उससे उनके काल में जाए हुए वर्णना की साधकता बढ गई है।

सबसे पहल विनिवेशन शब्द पर विचार किया जाय—कलाकार या चित्रकार अपने भाव की व्यंजना के लिए जिस सामग्री का उपयोग करता है उसे 'उपादान' कहा जाता है। मूलिका, छनी, आदि जोड़ारो अथवा उपकरणों को, कला की भाषा

१ 'वाणभट्ट की आत्मकथा' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), अध्याय २०, पृष्ठ ३७५-३७६ (प्रथम प्रकाशन १९४५, पंचम संस्करण १९६३, हिंदी ग्रंथ रत्नाकर वार्मानिय, बरई ४)।

२ 'चार चद्रलेख' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय २३ पृ० ३०८-३२५, (राजमल प्रकाशन, प्रथम प्रकाशन १९६३ ई०)।

३ 'वत्पना (मासि) हैरावा' (दक्षिण) में धारावाहिक रूप से प्रकाशित सख्या १६५, वय १६ अंक ७ जून १९६५, पुनर्नवा, अध्याय १, पृष्ठ १६५/१६ (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी)।



म 'करण' बहो ह। जाचाय द्विवेजी ने इन्द्रियशक्ति के सहायक जीजार जादि को उपकरण तथा कला माधन पद से अनुशासित, शिक्षित इन्द्रिया को, 'करण सना दी है। कालिदास ने कुमार-सम्भवम के प्रथम सग म पावती के रूप वणन पर एक श्लोक, कहा है जिसका अमिप्राय है—ऐसा जान पडता है कि विश्व मट्टा (अथवा विधाता) सपूण सौदय को एक ही स्थान पर देसना चाहन थे। इसीलिण उहाने उपमा के योग्य समी वस्तुजा को एकत्र किया उहे यथास्थान सजाया और उनकी सहायता से प्रयत्नपूर्वक पावती के रूप का निर्माण किया।'

इस श्लोक म कालिदास ने, 'विनिवेशन' शब्द का प्रयोग किया है जिसका अथ होना है, कला की सामग्री का व्यवस्थित रूप म, रक्खा जाना।

उपयामा मे अपने वणनो के कलात्मक नियाजन के लिय उपयामाकार को भी यथावसर विनिवेशन करना पडता है। अर्थात् उपयुक्त शब्दा का, तथा उपयुक्त वण्य वस्तु का जुटाना तथा फिर उनका कलाकारोचित विवेक एवं सूक्ष्म बुद्धि के साथ, प्रयोग म लाना।

'अयथाकरण' शब्द का प्रयोग तब किया जाना है जब कि चित्रकार का ठीक ठीक चित्र अकित करने के लिय वाह्य जगत से गृहीत सामग्री का 'अयथाकरण' करना पडता है अर्थात् उसमे कुछ छोडना पडता है कुछ जोडना पडता है और कुछ बदलना पडता है। इस कौशल को 'अयथाकरण' कह सकते हैं। अर्थात् जा जसा है उसे वसा ही न रहने दना।

उपयामाकार को भी अपने वणनो की योजना मे स्थान स्थान पर अयथाकरण करना आवश्यक जान पडता है। यह सत्य है कि उपयामा म वणित समी दृश्य एवं व्यक्ति उपयामाकार वास्तविक जगत से लेकर चित्रित करता है। फिर भी अपनी वण्यवस्तु का कलाभिरामता प्रदान करने के लिय यत्किंचित परिवर्तन भी करना उसके लिय आवश्यक हो जाता है। क्योंकि वास्तविक जगत के जा पन्थ है उनमे कोई न कोई तो खामी रह ही जायगी जिसकी वणनकार भात्रो संपूर्ति करता चलता है।

अवयन शब्द भी जब चित्र के अथ म प्रयुक्त होता है तो उसका अथ यह होता है कि चित्रकार परम्परागत चित्रण शली को अपनाते हुए भी अपनी ओर से उसमे कुछ सूक्ष्म विशिष्टता का अवयन करता है।

उपयामा म वणनात्मकता के विवेचन म भी जब उपयामाकार वास्तविक जीवन का यथा तथ्य चित्रण करता है तो वह अपने वणन को कलात्मक सौदय प्रदान करने के लिय उसे सूक्ष्मतया कुछ और तरह का यक्त कर देता है। तभी तो

१ सवापमा द्रव्य समुच्चयेना यथा प्रवेशम, विनिवेशितम्।

सा निमिता विश्व सजा प्रमानाम, एकस्थ सौदय दिदक्षयेव ।।

वह 'कलात्मक वर्णन' कहलाता है। इस प्रकार के सभी वर्णना में, मानो कलाकार, प्रच्युत रूप से सूक्ष्म 'अवयव' में, अवस्थित हो जाता है। चित्रकला की भाषा में 'जीवन के दृढ़ चित्रण और 'अवयवित चित्रण' का प्रमाण 'द्विचित्र' और 'रसचित्र' भी कहा जाता है। तदनुसार साहित्यिक कृतियों के कलात्मक वर्णन रसचित्र होने हैं मानचित्र (द्विचित्र) नहीं।

उम भक्ति यदि हम कालिदास द्वारा प्रयुक्त कुछ ऐसी विशिष्ट पावली का, उपयोग जैसी वर्णनात्मक कृति की विवेचना में, प्रयोग करें, जिसका कि कालिदास काल में चित्रकला जादि अथ तलित कलाशा के प्रसंग में प्रयोग होता था, ता निश्चय ही, वर्णना की कलात्मकता की सुस्पष्टता प्रदान करने, तथा कलात्मक वर्णना के विशिष्ट्य प्राप्त आदि में उनसे पर्याप्त सहायता मिलेगी।

'सौन्दर्य तत्व के विद्वान प्रणेता एवं प्रख्यात भारतीय कलाविद् आचार्यप्रवर स्वर्गीय डा० सुरद्रनाथ दासगुप्त ने 'भारतीय चित्रकला पद्धति' नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ भी रचा था। उक्त ग्रन्थ में, विद्वान लेखक ने, भारतीय शिल्प, चित्रकला-पद्धति, और उससे संबंध रखने वाले सौन्दर्यतत्व का विशद विवेचन भी किया है। वे उक्त ग्रन्थ की प्रस्तावना में अपने अन्तिम प्रायः का या समय पर कहते हैं —

कवल शिल्प ही सौन्दर्यानुभूति का आधार नहीं है। बाह्य जगत्, तर, गुल्म, लता जादि तुषार किरिटी अश्रुभेदी गिरिशृंग, सानुवाहिनी कलत्रलनादिनी निम्फरिणी, विस्तृत शम्भुश्यामला भूमि प्रवाहित नदी, प्रभातकालीन पूव गगन की अक्षयिणी साध्य गगन का शोण उल्लाम, पशु-पक्षी कीट पतंग व शरारावयव और नर नारी के मुखमङ्गल या देह पर दमकता लावण्य आदि में यदि हम सौन्दर्य का अनुभव नहीं कर पाते ता सौन्दर्य की सृष्टि ही असम्भव हो जाती। सब ता यह है कि जिस प्रकार मनुष्य व मनोबोध के बिना सौन्दर्य की उपलब्धि नहीं हो सकती, उसी प्रकार, विषय का ज्ञान भी नहीं हो सकता। फिर भी सौन्दर्य का केवल चित्त का धर्म नहीं कह सकते। वस्तुतः सुन्दर वस्तु में कोई ऐसी अन्तर्निहित शक्ति होती है जिसका कारण, उम वस्तु विशेष से हमारा अंतर का, पविष्ट सम्बन्ध हो जाता है और हम उस 'सुन्दर' कहने लगते हैं।

'इसी कारण यह स्वीकार किया जाता है कि कवि और चित्रकार हम प्रकृति का मनाग्मता दखने के लिए शिथिल करते हैं और अभ्यस्त बनाते हैं किन्तु कवि या शिल्पी, प्रकृति में जिस सुषुप्ता का वर्णन करता है प्रधानतः उसी का, अपने चित्त में के द्वारा एक रूप प्रदान कर देता है। साधारण मनुष्य और कवि या चित्रकार की दृष्टि में भिन्नता हानी है। समस्त इसातिष्ठ प्रत्येक व्यक्ति, हर समय प्रकृति का सौन्दर्य ग्रहण नहीं कर पाता। साधारण मनुष्य, किसी चित्र की सुन्दरता को उपयुक्त और यथाथ प्रतिष्ठा देना नहीं जानता। चित्र रचना के समय, चित्रकार के अन्तर में, एक

प्रकार की ध्यानत्रिया चलती रहती है और उमी क साथ उस सौन्दर्यबाध भी हाता रहता है किन्तु प्रकृति दशन के समय इन बातों क लिए अवसर नहीं रहता। फिर भी प्रकृति के सौंदर्य को दख कर मुग्ध होन वान कविया तथा चित्रकारा की सख्या बहुत अधिक है। यथाय द्रष्टा के चित्त म, प्रकृति के दशन क अतिरिक्त अन्य समय म भी एक प्रकार की ध्यानावस्था उपस्थित रहती है। इसी तमयता के कारण, जैसे प्रकृति क साथ कवि या चित्रकार क मन की नाना प्रकार की रेखाया और वर्णों का सामजस्य उपस्थित हाता है वसे ही प्रकृति के नाना व्यापारा के साथ, मनुष्य के नाना व्यापारा का सादृश्य और सामास्य घटित हाता ह।<sup>१</sup>

श्री दासगुप्त के उपयुक्त अवनरणों म जो कवि शाप जाया है उस के स्थान पर हम प्रस्तुत प्रसंग की दृष्टि से 'उपयासनार गल को रखना होगा। उपयास कार जब अपने उपयासा म वणन प्रमग लाता है तो वह भा मानो कवि या चित्रकार ही बन जाता है क्योंकि तभी ता वह अपनी कल्पनाप्रधान रमणीय वणन चित्रपटियाँ उपस्थित करन म कृतकाय हा पाता है जिनस कि उसने उपयास क कलात्मक बभव म, बद्धि हाती है। उस अवस्था म एक उदार एव उदात्त रमणीयतत्व स उपयास का परिवेश आवत्त हा जाता है। क्या काय, और क्या उपयास साहित्य का सभी वणनात्मक विधाया को कलाभिराम गरिमा प्रदान करन म, नसर्गिक शामा स सम्मोहक वणन प्रमगा द्वारा, कितना गहन और निर्णायक योगदान मिलता है वह वणनातीत है।

रूप सौन्दर्य एव नाद सौंदर्य स जालाकित एव प्रतिध्वनित उत्कृष्ट वणना के व स्थल विशेष ही—जिनका समावेश उपयासा को उत्कृष्ट साहित्य' के जगत परिगणित कराता है—उपयास विधा गत प्रीतितत्व अथवा 'रमणीयता' का सर्वांश म प्रतिनिधित्व नहीं करते। एक अन्य पक्ष भी साहित्य गत शाश्वत तथ्य का जपन म समावेश किए रहता ह किन्तु हम उसे रमणीय अथवा सुन्दर सना स जमिहित नहीं करते। इस साहित्यगत सवयापी तत्व का हमारे आचार्यों न माधुय' सना दी है—सवावस्था विशेषेणु माधुयरमणीयता।' (ज्यात हम जहाँ कहीं भी जपन आसपास के जगत म रमणीयतागत मनस्तुष्टिवारक कोई तत्व निखायी देता है अथवा सुनाई देता है तो हम उसे माधुय सना म जमिहित करन हैं।)

जिस माधुय गुण को प० विश्वनाथ न सर्वावस्था पाप्य माना है उसके धारण करन वाले पदाय अथवा परर के लिए यह आवश्यक नहीं हाता कि वह जसा माय, अलौकिक अथवा जयमगाता हुआ ही होव। वह तो विश्व की सामाय स

१ भारतीय चित्रकला पद्धति (डा० सुरद्रनाथ दासगुप्त) (हिंदी रूपांतर) सौंदर्य तत्त्व', पृष्ठ २२८-२२९

२ साहित्य दपण (प० विश्वनाथ) पच्छे ३ श्लोक ६०

सामान्य तथा तुच्छ से तुच्छ वस्तुओं को एव दृश्यो में भी पाया जाता है। स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उक्त 'माधुर्य' गुण के उदाहरण के रूप में, महाकवि कालिदास के अमर गीत-काव्य के पूर्वमघ खण्ड से कुछ अविस्मरणीय वर्णनात्मक प्रसंगा का निम्न शब्दा में उल्लेख किया है —

'महाकवि कालिदास ने वरसात में चारा जोर दिखायी पढ़ने वाले, गुमो के पीघा, तुरन्त के जुत खेता की सोधी मिट्टी, और भ्रूविलास से अनमिन—गाँव की सीधी सादी स्त्रियाँ और पुरानी कहानी कहते हुए, बड़ो तक में, इस माधुर्य का सामान्यार किया है।'

आचार्य शुक्लजी ने काव्यगत सौन्दर्य अनुभूति के माधुर्य पक्ष की व्याख्या, आगे चल कर जीरे भी सुवाच शब्दों में प्रस्तुत की है —

'जतीत की स्मृति में, कौमार अवस्था के परिचित पुरान पडा और उजाड टीला में, किसानों के झापडा में, काँई और कीचड भरे ताला में चर कर लौटती हुई गायों के, धूल उडाने हुए भुण्ड में गडरिया और ग्वाला का कमली में, उत्तर की पग डडिया में, मन को लीन करने वाला जा गुण है, वही माधुर्य है।'

स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने शब्दों या वाणों के माध्यम से, रूपविधान की सूक्ष्म प्रक्रियाओं का बडा ही कान्ति किन्तु सरस निरूपण किया है जो वस्तुतः उही के शब्दों में पठनीय है —

'जानेन्द्रिया से समन्वित मनुष्य-जाति, 'जगत् नाम' अपार और अगाध रूप समुद्र में छोड दी गई है। इसी की रूपतरंगों से ही, उसकी कल्पना का निमाण हुआ है। उसी की रूप गति से, उसके भीतर विविध भावा या मनोविकारा का विधान हुआ है। हमारे भावा की प्रतिष्ठा करने वाले—मूल आलबन, बाहर ही के है—इसी चारों ओर पड़े हुए रूपात्मक जगत् की ही है।'

'अब हमारी जाँचें देखने में प्रवृत्त रहती हैं तब 'रूप' हमारे बाहर प्रतीत होते हैं (इस हम प्रत्यक्ष रूप विधान' की सजा दे सकते हैं)।

जब हमारा चित्त अन्तर्मुख होती है, तब रूप, हमारे भीतर दिखाई पड़ते हैं। (इसमें हम 'स्मृत रूपाविधान' का सजा दे सकते हैं) बाहर भीतर दोनों धार रहते हैं, रूप ही।'

मानसिक रूप विधान का नाम ही 'समावना' या कल्पना है। मन के भीतर यह रूप विधान का तरह का हाना है —

१ रसमीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ८५, ८६ अध्याय २। ('पूर्वमघ, कालिदास शताक ११ १६ एव ३२) से उद्धृत

२ वही—अध्याय २ पृष्ठ ८६

३ वही—अध्याय ४, पृष्ठ २१६

(१) प्रत्यक्ष देगते हुए पदार्थों के रूप, रंग, गति आदि क आधार पर सजा किया हुआ नया वस्तु व्यापार विधान, (२) प्रत्यक्ष देखी हुई वस्तुओं का ज्या का त्या प्रतिबिम्ब । प्रथम को हम 'कल्पना या 'सभावना' कहते हैं तथा दूसरे का हम 'अभ्यांतर रूप प्रतीति' या 'स्मृति कहते हैं ।'

इस भाति 'रूप विधान' के हमारे वाग्मगत अथवा साहित्यगत पुनसजन के तीन पक्ष हुए—(१) प्रत्यक्ष रूप विधान (२) स्मृत रूपविधान, (३) समावित या कल्पित रूप विधान ।

उपयास विधा मे प्रबट रूप से उक्त तीनों प्रकार का मानसिक प्रक्रियाएँ उपयासकार की वर्णनात्मक प्रतिभा को अभियजना देती रहती हैं । क्या आसपास के परिवेश या देशकाल वातावरण म, जथवा क्या पात्रा अथवा चरित्रा क यत्तित्व के विकास-सबधी रूपविधान म उपयासकार अपनी वर्णन प्रक्रिया म उक्त तीना ही मानसिक प्रणालियों के सहार हम आचाय शुक्लजा द्वारा परिलक्षित जगत' नामक अपार और अगाध रूप-समुद्र का जवगाहन कराता रहता है । इस प्रिया प्रक्रिया म वह निरंतर ही अपनी वर्णन-कला की प्रतिभा का अभिव्यजित करता चलता है ।

वर्णनात्मकता म कला शोधन के इस प्रलम्बित विचार विमर्श क पश्चात, वर्णनात्मक कला के उपादाना के सबध म भी कोई निर्धारित माग बीचिका अपनाती हागी तथा कला की दृष्टि से वर्णनात्मकता की सफलता क निकप का भी शोधन करना होगा । उपयासगत सभी प्रकार क वर्णनो पर यदि विह्वम दृष्टिक्षप किया जाय तो उनके कलाभिराम एव साहित्य स्तरीय वर्णना को, हम दा भिन काटियों का पाएँगे । एक तो उपयास के दस मायावी जगत म बसने वाले असत्य लाव समुदाय मे से उमर कर आन वाला कुछ विशिष्ट नर नारियों का म्पाकृतिया हैं, जिन पर कि उपयासकार क अंतर म बसने वाले चित्रकार एव कवि की रूप छवि-जकन समुत्सुक तथा उद्भावनाजास चंचल नयन जा टिकन ह । और दूसरी जार व प्रकृति पट पर पल-पल बदलने वाली रमणीयता का विविध रूप छवियाँ जिनकी असत्यता एव अक्षयता, उपयासकार का सदव ही वर्णन धनी बनाए रखती है ।

उपयास मे प्राकृतिक दृश्यपटा का समावश वस्तुत वर्णनात्मक अभिव्यजना का एक प्रभावशाली माध्यम है । विगपनया वहाँ जहा पात्र पात्राओं के जात्मलीन आत्मविचार भावप्रवण सवेदन शाल एव क्लो मुग्य आन द अनुभूति के क्षणा का लेखक बाध देना चाहता है । वहा प्रकृति क य रमणीय एव भाय दृश्यपट नखक की कृति का एक अनुपम कला वशिष्टय प्रदान करत हैं । रूप छवि तथा दृश्यपट आलेखन दोना ही, वर्णना म सागोपागिता का समावश, एव कला का गौरव वद्धि करत है ।

इस भाँति के दृश्यपटा मे, अनेक स्थलो पर लेखक, ध्वनि गति जादि का समावेश करके दृश्यपट की रसविश्वता को, वास्तविकता प्रदान करता है। सभी प्रकार के चित्रात्मक वर्णनो म, वर्णा, पदार्थो, ध्वनियो आदि की समरसता अपेक्षित है। कुछ कला समीक्षको ने तो इस 'समरसता' की ही रमणीयता भी कहा है।

कलात्मक-वर्णन, जीवन की सच्ची प्रतिलिपि नहीं होता और न वह प्रकृति की 'यथातथ्य अनुकृति' ही हाता है। वस्तुतः वह तो कलाकार की जात्मलीन आनन्दानुभूति के क्षण विशेषा को, बाध लेने का प्रयास मात्र है। यही नहीं, वह कलाकार की भावानुभूति का प्रतिनिध्व भी लिए रहता है। उसम हृष विपाद की छाया भी बनी रहती है। इस भाँति वह अनुकृति नहीं एक विशिष्ट कलाकृति होती है। इसे वर्णनात्मक कला में, प्रतिभास निबधन' कहेंगे क्याकि राजशेखर ने भी इसी पद का प्रयोग किया है।

राजशेखर के मन मे यह विवेचना, जानदबद्धन के ध्वयालाक' क अतगत, निम्न अवतरण का दृष्टि म रख कर, उदित हुई थी —

अपार काव्य-संसार म एक मात्र कवि ही प्रजापति है। उसे जसा रचता है, वैस ही वह अपन विश्व म, परिवर्तन कर देता है।'

राजशेखर ने 'काव्य मीमासा' म उस पर या विवेचना की है, कि कवि अपने चित्रित जगत मे, मनमाना परिवर्तन नहीं करता, वरन वह तो, 'प्रतिभास प्रणाली' से काम लेता है। राजशेखर के मतानुसार, काव्य के अर्थ, और शास्त्र के अर्थ भूलतः भिन्न हैं। अतएव एक का सत्य एव दूसर का असत्य बनाना उचित नहीं है। काव्य का प्रयोजन, मान-स्वरूप वर्णन नहीं होता। विश्व म विषय जैसे दीखत हैं, उसी प्रकार काव्य म कवि उनका वर्णन करता है। शास्त्रीय वर्णन 'स्वरूप निबधन' हाता है, काव्य म वर्णन प्रतिभास निबधन होता है।

कालिदास आकाश की अतिश्याम कहन हैं और वाल्मीकि उसी का 'नीलोत्पल-सुति' बनात है। यह आकाश का स्वरूप वर्णन नहा है आकाश का प्रतिभास निबद्ध वर्णन है। कवि को जसा वह प्रतीत हुआ, वसा हा उसने उसे प्रस्तुत किया। प्रतिभास का वस्तुओं स तान्त्रिक्य संबध नहीं होता। यदि ऐसा होना तो हमारी आँखें, जो सूर्य या चंद्रमा के बिम्ब का, थाली के आधार से देखती हैं उन बिम्बों को शास्त्र म कह गए, पृथ्वी स बड़े आकार म देखती। वस्तुओं के यथाप्रतिभास रूपा का महत्त्व, शास्त्रो म हाता है—काव्य म वर्णन तो पूरणरूपेण प्रतिभास निबधन' होता है—

न स्वरूपनिबधनमिदं रूपमाकाशस्य मरित्सलिलादर्वा किंतु प्रतिभास निबधनम। न च प्रतिभासस्तात्पर्येन वस्तुयवतिष्ठते यदि तथा स्यात्सूया चंद्रमसौ मण्डले दृष्टया परिच्छिद्यमानद्वादशानुलप्रमाणे पुराणाद्यागनिवन्तिधरावल्लयमात्रे न स्त

इति यायावरीय । एव गक्षत्रादीना सरित्सलिला दीनाम वेपा च । यथाप्रतिभास च वस्तुन स्वरूप शास्त्रवाच्ययानिच घापयोगि । शास्त्र यथा— प्रणतजलभक्त्यके विमल विषदम्भसि । ताराकुमुदसम्बन्धे हस्तायत इवापुराट ।’<sup>१</sup>

कलात्मक वणना में, लेखक की कलात्मक उद्भावना की विशिष्ट छटा जहाँ दिखाई देती है वहाँ हम वणन के उस विशिष्ट एवं विलक्षण पक्ष को ‘मणिनि वचित्र्य (स्ट्रुक्चिंगनस आफ एक्मत्रेशन) कहने हैं । वणनो में वण्यवस्तु का समान हो जाना सहज है किन्तु प्रत्येक मौलिक उद्भावना समन्वित प्रतिभाशाला लेखक, गता नुगत अथवा रीतिगत रूढ़ता का अवलम्बन नहीं करना चाहता ।

वणनात्मकता में सिद्धि प्राप्त करना ही सुकवि अथवा उत्तम लेखक का विशिष्टता है । इस सम्बन्ध में काव्य मीमांसा कार राजशेखर ने बहुत कुछ विचार किया है । अपने उक्त ग्रन्थ के अर्थानुशासनम् नामक नवें अध्याय में उन्होंने यह स्पष्ट रूप से बताया है कि रस, वस्तुन पदार्थ में न हाकर कवि-वचन में, रहता है । यह सुकवि का माहात्म्य है कि वह नीरस पदार्थ को भी सरस बना दे । इसी को समझात हुए उन्होंने कहा है कि —

असत् कवि, विप्रलम्भ से भी रसवत्ता का निकाल देता है । वान यह है कि वस्तु में रस हो या नहीं किन्तु वह तो कवि वचन में ही ।<sup>२</sup>

वणनात्मक कला में प्रतीका का समावेश जनि यजना में चमत्कार एवं प्रभावात्पादकता ला देता है । किन्तु इससे भी अधिक कभी कभी कुछ विशिष्ट प्रतीका की प्रतिध्वनि, समस्त उपन्यास में प्रति वनित होती हुई भी जान पड़ती है ।

सब मिला कर वणन का समग्र प्रभाव पाठक के मन में प्रतीयमानता की प्रतिष्ठा करता है । इसा के लिये उपन्यासकार को उपयुक्त कलात्मक उपादानों का प्रश्रय लेना पड़ता है ।

जिस भाँति कलाभिराम परिकल्पना द्वारा वणन का मानसिक उद्भव कलाकार के मनाग्न में होता है उसी भाँति कलात्मक वणन के अनुशीलन द्वारा उक्त सभी कलात्मक उपकरणों एवं उपादानों के समष्टिगत प्रभाव के परिणामतः पाठक के मन में कलात्मक अनुभूति का उदय होता है जो कि वणनात्मकता की चरम सिद्धि है ।

वणनात्मक-कला यद्यपि एक उ मुक्त कला मृत्ति की प्रक्रिया है तथापि कलाशा एवं साहित्य रूपों की रूढ़ एवं परम्परागत परिभाषाओं में उसे अपना स्थान नहीं

१ का प्रमीमांसा’ (राजशेखर) नवम अध्याय — अर्थानुशासनम् (अथ याप्ति) पृष्ठ ११८

२ कुकविप्रलम्भेऽपि रसवत्ता निरस्यति ।

अस्तु वस्तुपु मा वा भूत कविवाचि रस स्थित ।

मिल पाया। इसका एक कारण यह भी है कि उप-यास के सौ-दयबोध-आत्मक लालित्य पर, विगुद्ध रूप से चिंतन करने की, ज्यादािक कोई परिपाटी नहीं रही है। रूढ़ मानो एव नियमावलिया के बल पर, यथातथ्य शास्त्र निरूपण समभव नहीं है। ललित कलाएँ, समी सबधा निरपक्ष, एव नीति अथवा उपयागितावाद से परे रहने वाली रचनात्मक गतिविधिर्था है। तदनुसार वर्णनात्मकता को भी सादेश्य अथवा निर-दृश्य के पक्ष में पडना उचित नहीं है। सरल वर्णनात्मक कला के मुख्य आधार, रजन एव वर्णना—ये उभय प्रक्रियाए ही है।

उप-यास विधा गत वर्णनात्मक कला, अथ ललितकलाआ की भाति, मात्र अभिव्यजना नहीं है वरन उप यासकार की दी हुई रस विश्व की, एक अभिनव व्याख्या भी है। इसीलिए उप-यास विधा की साभिप्राय एव सम्पूर्ण सबतामुनी धारया का दृष्टि से, वर्णनात्मकता का बडा महत्व है।

वर्णनात्मक कला, उप-यास विधा गत सौ दय अथवा लालित्य तत्त्व की, सबसे रमणीय एव सरस व्याख्या है। वर्णनात्मक कला के वर्णन क्षेत्र से बाहर, विश्व का कोई भी कक्ष या पक्ष नहीं है। जहा भी विश्व म सौ-दय अथवा लालित्य है, वही वर्णनकला का चमत्कार दर्शनीय है।

कला का उक्त निरूपण एव व्याख्या विमश, साहित्य क, अथ ललितकलाआ क साथ, रागात्मक सबध के बारे म, हम कुछ मूल्यवान इंगित दता है। कला, अखिल विश्वव्यापी छ-दोबद्धता, लयात्मकता, लास उल्लासमयी रमणीयता के प्रति, मानव मन, बुद्धि एव आत्मा की, आन-दमयी अनुरक्ति की, एक अभिव्यजना मात्र है। इस रमणाय शास्त्र (कला विधा) का भी सरस मनारम सरल (कथा एव वर्णन की प्रवहमानता लिए हुए) सबस रम्य रूप है, 'उप-यास'। उप-यास, और साहित्य की अथ विधाआ के बीच, जिस भाति, वर्णनात्मकता ही एक सवाधिक व्यापक एव कला रमक बडी है—उसी भाति अखिल कला माला के साथ ही साथ वह साहित्य कला का सबसे सहज एव प्रभावपूण सहभाव भी है। इस भाति वर्णनात्मकता, अखिल रमणीयता रत्नाकर म छलछ्यान वाला रसात्मकता की लहरिया के बीच, प्रकाश और छाया का वह चिरतन लीला है, जा अखिल रसविश्व उदधि का प्रवहमानता एव गतिशीलता को सदा ही अभिव्यजित करती रहती है। इस अभिनव दृष्टिकाण से, वाग्मय क बभव को निहारन का ही यहा, एक मौलिक एव वर्णानिक आयास किया गया है। वस्तुत वर्णनात्मक कला के मूलाधार पर ही, एक अभिनव साहित्य-सहिता की स्वरुपा तयार की जा सकती है जिसकी जोर बिन साहित्य-ममीक्षका का ध्यान आविपित करने के उद्देश्य से ही, प्रस्तुत शोधप्रयास म प्रबलत हाना पडा है।

उप-यास की सबसे मूलभूत एव निजी विशिष्टता है, उसकी वर्णनात्मक प्रकृति। वहा उसकी रमणीयता का 'सहज स्वरूप है तथा उसी का कलात्मक



सौष्ठव, उसकी माहित्य सम्पत्ति है। अतएव उप-यास की एक अभिनव मानीकरण संहिता, उसकी वणनात्मक विशिष्टताओं तथा उसके कलात्मक पक्षों की दृष्टि में रखते हुए तयार की जाय यह आधुनिक समाक्षा जगत की एक अत्यन्त चिर अपेक्षित आवश्यकता है। इसी दृष्टि से यहाँ एक अभिनव मानीकरण संहिता का नियोजन, उप-यास विधा के निम्न छ वणन-कला तत्वा के आधार पर किया गया है— वण्य वस्तु वणन शली, वणन प्रकृति, भाव संपत्ति वणन अनुभूति, तथा वणन गत रस सस्पश।

### (१) वण्य वस्तु

वण्यवस्तु उप-यास विधा की बाह्य वण्य सामग्री है। कलामिराम उप-यासा म केवल वण्य सामग्री का नियोजन पर्याप्त नहीं माना जाता—आवश्यक माना जाता है वणन विवेक। वण्यवस्तु की नियोजना के दो पक्ष हैं—(१) उप-यास में भाग लेने वाले व्यक्ति, तथा उनकी वणनात्मक रूप-रवि तथा (२) वह अग्रभूमि जहाँ हम उन्हें गतिमान एवं प्राणवान काय-यापार में प्रवृत्त पाते हैं।

अतः सर्वप्रथम यहाँ वण्यवस्तु के अतगत आन वाले कलात्मक वणनों का विवेचना क्रमशः क्रम, अग्रम सागोपाग विकीण 'सवण विवण' सस्वन निस्वन, सगति, अगति, चचल, अचचल आदि प्रमुख गुणों के आधार पर की जाती है।

सक्रम—एक दृश्यपटल में वणन सौष्ठव की एक विशिष्टता सन्नमता हानी है। सक्रम वणना में उप-यासकार अपना वण्यवस्तु का दृश्यात्मक सभ्रम-सम्मन नियोजना प्रदान करता है जिसके पत्रस्वरूप पाठक व कल्पना जगत में वह अपन वाछित दृश्य की पुनर्मृष्टि में वृत्तकाय हाना है। सक्रम वणना की विशेषता यह होती है कि उनमें धरातल की ऊँचाई-नीचाई अथवा दूरी व अंतर का दृष्टि में रखते हुए वण्यवस्तु की नियोजना की जाती है। यथा गगनचुम्बी पर्वत शिखर का पृष्ठभूमि में वनप्रदेश उपत्यका नदी निम्न मरोवर, हरित वृणदल तथा उस पर विचरन वाले जीवजंतु क्रमशः वर्णित होते हैं।

अक्रम—जिन वणना में पृष्ठभूमि की व्यापकता विस्तृतता एवं दूरी अमाधारणतया सुनीध नहीं हानी तथा दृश्य सामग्री का चातुप विस्तार अधिक नहीं हाता वहाँ वणन की सन्नमता अनिवाय नहीं हाता। वण्यवस्तु की प्रस्तुतकारिणी दृष्टि सहज एवं साधारण रहती है तथा यथादृष्ट पन्थ वणन का अनुसरण किया जाता है। इस प्रकार व वणना की यद्यपि विवेचन भासा की स्थापना का दृष्टि से, अक्रम कहा जा सकता है किन्तु उस भासा के वणनों में वस्तु चयन विवेक एवं निरीक्षण प्रखरता अधिक अपेक्षित हाती है।

सागोपाग—वणनात्मक कला की उत्कृष्टता हम ऐसे स्थला पर अनुभूत होनी

है जहां उपासकार ने प्रस्तुत वणन की अपनी कलापरक प्रतिभा से प्रेरित होकर, कलात्मक सौन्दर्य की सम्पूणता अथवा सागोपागिता पर दृष्टि रखी है। निश्चय ही ऐसे वणन विरल हात हैं किन्तु उनमें लेखक की वणनात्मक क्षमता एवं कलात्मक सूक्ष्मदर्शिता का सुस्पष्ट परिचय मिलता है। मानो लेखक ने अपने व्यक्ति दृश्य का, वास्तुकार पयवेक्षण किया है और उसे यत्न एवं सावधानी-पूर्वक वारम्बार सवारा है अथवा परिमार्जित किया है। मानो वह तब तक अपने दृष्टात्मक प्रवाह में अग्रसर नहीं होना चाहता, जब तक कि वह स्वयं आश्वस्त नहीं हो जाता कि उसका वणन, उसके निजी प्रतिभास निवन्धन का साक्षात् कराने में कृतकृत्य हुआ है।

सागोपाग वणनमें लेखककी दृष्टि, वण्य वस्तु के विवेक अथवा सक्रमत्व पर ही नहीं रहती, वरन उसकी दृष्टि में, वणन का समवेत प्रभाव सर्वोपरि रहता है। इसी-लिए वण्य पदार्थ के विविध अंगों पर उनका परस्पर प्रभावात्मक सम्बन्ध एवं सामञ्जस्य पर भी, उसका ध्यान रहता है। इसीलिए सागोपाग वणनों में वण्य वस्तु की सकुलता अथवा विविधता का नियोजन पर ध्यान न देकर लेखक, वणन के विविध अंगों के समवेत मौ-दर्मात्मक प्रभाव अथवा चमत्कार पर विशेष रूप से ध्यान देता है।

**विकीर्ण**—यद्यपि अत्रम वणन एवं विकीर्ण वणन दोनों में ही वण्य वस्तु की मयाय नियोजना एवं अभिनयजना, प्रधान रहती है तथापि उनके बीच का प्रमुख अंतर, दृश्यपट की व्यापकता का विस्तार भेद है। विकीर्ण वणन की प्रकृति सक्रम वणन से विस्तार साम्य रखती है अर्थात् विकीर्ण वणन का दृश्यपट भी व्यापक एवं विस्तृत होता है। किन्तु लेखक इस प्रकार की वणन योजना में पाठक के समक्ष, एक अविस्मरणीय छत्रित्त (लण्डस्केप) प्रस्तुत करने की चिन्ता में न रह कर अपने पाठक को एक ऐसी दृष्टात्मक रंगभूमि में ले जाना चाहता है जिसकी उपासक गत रूपामा का परिवेक्षण से वह उसे परिचित कराना चाहता है। इसके लिये वह चाहे तो एक आरंभ वन उपत्यका निर्भर शक्ति का चित्रण भी कर देता है तथा साथ ही साथ, वह सुविम्बाना व्यापक दृश्य मंच पर खनी प्राणी पशु चारुण ग्राम कुटीर आदि की नाकियाँ भी सजो देता है। वण्यवस्तु के नियोजन में वह किसी वस्तु विशेष पर, अथवा किसी दृश्य विशेष पर ध्यान नहीं देना चाहता वरन वह मात्र प्रतीयमान दृश्य वणन में ही प्रवृत्त रहता है जिसमें किसी सक्रमता अथवा सागोपागिता की ओर उसका ध्यान नहीं रहता।

**दिवण**—मन्त्रा एवं दिवण वणनों की प्रकृति में लगभग उसी भाँति का अन्तर दृश्यमान रहता है जमा कि रेखाचित्र एवं नैत्रचित्र में। चित्रकार के समान ही सबण एवं दिवण वणन नियोजन करते समय, लेखक की दृष्टि, वण्य-वस्तु की सुवणना अथवा वण उदासीनता से नियोजित रहती है। यही दृष्टि उसके वण्य वस्तु विशेष में भी निभायक रहती है। दिवण वणन, या तो कथा प्रवाह के बीच ऐसे स्थलों

शली के माध्यम द्वारा यथास्थित एवं अनोपस्थित रूप में, व्यक्त करने को आकुल हो उठता है। इस भाँति यह प्रगट है कि वणनवस्तु के नियोजन के पश्चात्, प्रत्येक वणन की कलात्मक सफलता, शब्द विवेक एवं शली तथा भणिति विशिष्ट्य पर ही निर्धारित रहती है। इस वणन शली की विवचना, निम्न प्रमुख गुणों एवं प्रकारों के आधार पर की जानी चाहिए — प्रसगानुकूल शब्द चयन 'कोमल कान पदावली', 'शब्दालंकार', 'प्रतीकात्मक शब्दावली', 'वणवृत्तात्मक शली', 'युक्तिमय शली 'आलंकारिक शली' आदि।

**प्रसगानुकूल शब्द चयन**—यह सब विदित है कि एक ही वस्तु के लिये शब्द कोष में अनेकानेक पर्याय पाए जाते हैं क्योंकि भाषा के समझों से यह तथ्य छिपा नहीं है कि तथाकथित पर्याय वस्तुतः 'पर्याय' नहीं होते—बस तो मात्र स्थानापन्न हो सकते हैं। अर्थात् जब लेखक को उपयुक्त शब्द नहीं मिलता तो वह उसके पास पास एवं निकटतम भाव व्यंजक शब्द का ही आश्रय लेता है। लोक व्यवहार में तो यह प्रक्रिया सदैव ही प्रचलित रहती है किन्तु साहित्य क्षेत्र में उपयुक्त शब्द का महत्व बहुत अधिक गण्यमाय है। जब कभी भी साहित्यिक वृत्ति बना वृत्ति के स्तर को स्पष्ट करती है तो शब्द-सम्पत्ति ही निर्णायक मानी जाती है। सिद्धहस्त साहित्यकारों की लेखनी की नोक से शब्दों की निष्करिणी अजस्र रूप से प्रवाहित रहनी है तथा कभी कभी तो लेखक को अनेक मनोरम शब्दों के बीच प्राथमिकता देने में स्वयं भी कठिनाई अनुभव होती है। ऐसी स्थिति में वह अनेक बार मनोमग्न शब्दों की लड़ियाँ गूथता सा चलता है और कभी कभी वह उनकी आवृत्ति में भी प्रवृत्त होता है (यथा आवरे के आवरे)।

**कोमल कान पदावली**—शब्दों की रूप एवं ध्वनि भी, उनके चयनविवेक में लेखक की दृष्टि से निर्णायक सिद्ध होती है। उच्चारण सहज सरल लघु-आवृत्ति वाले वणनधुर प्राजल शब्दों का वणन-कला की समय दृष्टि वाला लेखक बहुल प्रयोग करता चलता है क्योंकि वणनकला की विशिष्टता में उसकी सादगी, सरलता प्राजलता एवं मनोहारिता निर्विवाद गुण हैं। शब्दों का रूपलावण्य एवं ध्वनि माधुर्य अनेकानेक शब्दालंकारों का स्रष्टा बना है अतएव कलात्मक वणन में पद लालित्य तथा कोमलकान पदावली के अतिरिक्त शब्दालंकार, वणनवृत्ति, अनुप्रास आदि का भी पर्याप्त प्रयोग पाया जाता है।

**प्रतीकात्मक शब्दावली**—प्रसगानुकूल शब्द चयन के अंतर्गत ही, लेखक द्वारा ऐसे शब्दों की खोज एवं उनका प्रयोग भी आ जाता है जो किसी भाव विशेष का इंगित करते हैं। मूल्य पदार्थों द्वारा जन्म गेणुणों जयवा भावनाओं को सकेनित करने की प्रणाली को 'प्रतीकात्मक अभिव्यञ्जना' कहा जाता है। प्रतीकात्मक शब्दावली का प्रयोग, वणनात्मक कला को एक गहन सायकता प्रदान करता है तथा जो बात वर्णित

नही की जा सकती, उसे लेखक, प्रतीका के माध्यम द्वारा, संकेतित करता है। इस भाँति वह अपने पाठक का, एक कलात्मक आनन्द भी प्रदान करता है—साथ ही वह अपने वर्णन को, अथ गाम्भीर्य से भी, समचित करता चलता है।

वर्णनात्मक कला के मूल्यांकन म लेखक द्वारा उपयुक्त शब्दों का चयन तो विवेक म रहता ही है किंतु प्रत्येक कुशल लेखक की अभिव्यजना एव वर्णना का प्रकार उसकी निजी विशिष्टताओं से युक्त रहना है, उसी को हम शली' नाम से भी अभिहित करते हैं। वष्य वस्तु योजना विवेक तथा शब्द चयन क्षमता के अतिरिक्त, प्रत्येक वर्णन म लेखक अपने अभिप्राय को किस भाँति व्यक्त करता है कलात्मक मूल्यांकन म उसका भी, अत्यंत महत्व है। उपादान लेखक की वर्णनात्मक शली का हम मुख्यतः तीन उपतत्वा म विभाजित कर सकते हैं —

**वर्णवृत्तात्मक शली**—उपादानकार का प्रथम कर्तव्य एव वृत्तित्व-कथा को वह सुनाना है। अपने इसी वृत्तान्त म वह बुद्धि स्थली पर कुछ ऐसे वर्णन प्रस्तुत करता है जो वृत्तान्त का अंश होने हुए भी अपनी वर्णनात्मक विशिष्टताओं के कारण, अपना स्वतंत्र कलात्मक महत्व भी रखते हैं। इनम लेखक, दृश्य अथवा वष्य-वस्तु को, अपने वर्णन विवेक के द्वारा इस भाँति व्यक्त करता है मानो वह उसके समक्ष साक्षात् ही होवे। वह अपनी सरल एव वृत्तात्मक प्रणाली द्वारा उह अंकित करता है। उसका दृष्टिकोण बहुत कुछ कमरा द्वारा ग्रहीत, दृश्य छवि को अंकित करने के समान, माना जा सकता है।

**युक्तिमय शली**—वर्णनात्मक कला के अन्तर्गत अभिव्यजना शली म, अनेक लेखक, युक्तिमय प्रणाली का अनुकरण करते हैं। लेखक प्राकृतिक दृश्या को चित्रित कर देने से ही सतुष्ट न रह कर उनके परिवर्तना का काय-कारण-युक्त स्वीरा भी प्रस्तुत करना चलता है। सांसारिक व्यापारों एव दृश्यों के चित्रण म भी वह, अपनी युक्तियाँ के सहित उनके काय कारण आधार की भी व्याख्या करता चलता है। इन दृश्या म प्रस्तुत वष्य गाम्भीर्य म, परस्पर एक प्रकार का तांत्रिक सम्बन्ध बना रना है।

**आलंकारिक शली**—वर्णनात्मक कला के अन्तर्गत शली के मूल्यांकन म, आलंकारिक वर्णना का भी विशिष्ट गौरव माना जाता है। इन वर्णनों म न केवल लेखक, अलंकारों के माध्यम द्वारा, अथ वर्णन को चमत्कार एव भणित-वचिष्य प्रदान करता है बरन साथ ही उसम वह, अपनी गह्रा दार्शनिक निरीक्षण दृष्टि का समावेश भी करता चलता है। इस भाँति आलंकारिक वर्णन शली, गद्य को काव्य स्तर प्रदान करती है तथा उसकी साहित्यिक सम्पत्ति को अपने पाठक के समक्ष, मनोमय रूपों म साक्षात् भी करती है।

### (३) यर्णन कोटि अथवा यर्णन प्रकृति

उपायार्थ विधा में यणनकता की गणना के मौलिक उपायार्थों में वष्य वस्तु के नियोजन उपायार्थ शर्तों के चयन, समीचीन शर्तों में यणन निर्वाह आदि के परचाय कलात्मक यणना की विशिष्ट कोटियों अथवा उनकी प्रकृतियों पर भी विचार दिया जाता समीचीन होगा। समीचीन यणनकता से युक्त यणन पाठक के मन पर गहन प्रभाव डालते हैं। किन्तु फिर भी उनमें सेलव अपनी यणन कला में प्रभावोत्पादकता-तत्त्व की, विविध प्रकृतियों का प्रयोग करता है। यह कोटि निर्धारण, निम्न मुख्य जापारा पर दिया जाना समीचीन होगा। विशाल अविशाल' रहस्यावृत्त वरूपना उद्देश्यी', महत्त्वपूर्ण प्रधान ध्यनित्व युक्त, दृष्टि वस्तुत्मक, एवं 'यत्रचित्रयत्न'।

विशद—यणन के बतियम स्थलों पर हम यणन की विशदता से प्रभावित होत हैं। लेखक अपने यणन में वष्यवस्तु के प्रत्येक सूक्ष्म से सूक्ष्म अंग एवं पक्षों पर प्रकाश डालना चलता है। यहाँ तक कि जान पड़ना है माना वष्यवस्तु का हम स्वयं ही माक्षात् कर रह हैं। यर्णन के उपरान्त निम्न वातावरण में जसी दृश्य सी विशालता आ जाती है कुछ ऐसी ही विशालता हमें विशाल यणनों में मिलती है जो कि यणनकता कला की सिद्धियों में से एक है।

अविशद—उक्त विशदयणना से भिन्न बतियमयणन ररिस्थितियाँ एवं प्रसंगों की भिन्नता के कारण जानबूझ कर कुछ अस्पष्ट एवं धुंधले चित्रित किये जाते हैं। इनमें यणन के जबसर अथवा आत्ममग्नता दार्शनिक तटस्थता जादि मनस्थितियों के तात्कालिक प्रतिष्ठा पाए जाते हैं। इस प्रकार अविशदता भी यणनकता की आयाजना में एक विशिष्ट गुण माना जाना चाहिए।

रहस्यावृत्त—अविशद प्रकृति के यणनों से मिलती जुलती ही एक और यणन कोटि है जिसमें नेगक जानबूझ कर कभी तो उक्त यणन-वशिष्टय का अनुकरण करता है तथा कभी यह वष्य-वस्तु के नियोजन में कुछ ऐसे तर्कों का समावेश करता है जिससे पाठक के कौतूहल औरतुल्य एवं दार्शनिक जिज्ञासा को उत्तजना मिलती है। ऐसे यणना के लिये वह निजन प्रदेश में स्थित विम्बृत देवस्थानों समाधियाँ खण्डहरा अथवा शमशाना आदि की पृष्ठभूमि का भी प्रयोग करता है। इस प्रकार के यणनों द्वारा लेखक के विविध अभिप्रायों की सिद्धि होती है। माना वह किसी नाटकीय घटनाक्रम का अवतरण करना चाहता है अथवा वह परा प्राकृतिक तत्त्वा का भी जाभास द देना चाहता है। इसी प्रकार के उच्च कोटि के यणना द्वारा रहस्यावृत्त जस्पष्टता के माध्यम से लेखक, पाठक की गहनतम दार्शनिक उत्सुकता को आदोलित करता है। इस प्रकार की यणनकोटि को रहस्यावृत्त यणन सजा दी जाती उचित होगी।

कल्पना उद्रेकी—रनात्मक वर्णना में वर्णवस्तु का नियोजन करते समय, कल्पित स्थला पर, लेखक ऐसी दृश्य पटिया की अवतारणा करता है जिनके समक्ष आते ही, पाठक की कल्पनावृत्ति में, उत्तेजना अथवा आंदोलन जागने से जान पड़ते हैं। ये वर्णन बहुधा, प्राकृतिक परिवेश से सम्बन्धित रहते हैं क्योंकि तभी लेखक, पाठक को, लाज-यापार से सुदूर ले जाकर, उसकी प्रसुप्त कल्पनाशीलता एवं तज्ज नित्त सवेदनशीलता को जगाने में सफल होता है। इस प्रकार के कल्पना उद्रेकी वर्णनों की अवतारणा का अभिप्राय कथाप्रवाह के आवेग अथवा रेलों से, पाठक को क्षणिक विधाम प्रदान करना भी है—साथ ही—वह अपने अमोक्षित काव्यात्मक एवं कलात्मक अभिप्राय की सिद्धि के लिये भी पाठक के मन में, उपयुक्त अवधारणात्मक स्थिति लाना चाहता है। स्व० श्री बंदावनलाल वमा के ऐतिहासिक उपन्यासों में, इस प्रकार के प्रकृति-वर्णन, विशेषतया प्रभावोत्पादक रूप में पाये जाते हैं।

महत्त्वकल्पनायुक्त—वर्णनात्मक कला में कल्पना प्रतिमा के महत्त्व की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। कुछ स्थला पर लेखक अपनी मध्य कल्पना प्रतिमा के चल पर, एक विनक्षण एवं प्रभावोत्पादक प्रतीयमान वर्णवृत्त उपस्थित करने में सफल हो जाता है। कलात्मक भूत्पावन की दृष्टि से इस वर्णन-कोटि का भी महत्त्व स्वीकार किया जाना अनिवार्य है। ऐसे वर्णना की वर्णवस्तु दृष्टि आकर्षक अथवा नयनाभिराम रूप से नियोजित की जाती है तथा प्राकृतिक एवं लोक-व्यावहारिक, दोनों ही धरातलों पर, उसका मृष्टिविधान, निर्मित किया जाता है। प्राकृतिक क्षेत्र में विशाल नदी प्रवाह विस्तृत धीलों उत्तुंग शिखर एवं ढाँचे, महत् शिला-खण्ड अथवा गण्डगल, जनप्रपात आदि त्वरित दृष्टिग्राहक प्राकृतिक वर्णवस्तु का नियोजन, विषय अभिप्राय से किया जाता है। साथ ही लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में मध्य स्थापत्य कला के धानक राजमंदिर, दुर्ग अथवा दरवाज़े, महासमारंभ युक्त राजदरवार अथवा लोकोत्सव आदि के समावेश द्वारा भी, यह वर्णन-कोटि सहज ही पहचानी जा सकती है।

व्यक्तित्वयुक्त—वर्णन की पृष्ठभूमि की विस्तृतता एवं व्यापकता के आधार पर जब लेखक प्रतिमास निरचन गरी का अनुसरण करता है तो वह, मुख्यतया दो—चातुर्ष्य अथवा दृशात्मक, वर्णन प्रकृतियों का जाग्रत लेता है। 'दही में से एक है व्यक्तिवत्त युक्तता'। प्रकृति व चित्रण में, उसके विविध अंगों का, जड़ोद्भूत न मान कर जब लेखक अपनी आत्मोपमा एवं कल्पना शीलता में माध्यम द्वारा, उन्हें एक निजी व्यक्तित्व अथवा सजीवता से समन्वित करता है तो वर्णनात्मक कला एक अनुपम विविधता एवं रमणीयता से चमक उठती है। व्यक्तिवत्तयुक्त वर्णना में सब श्रेष्ठ स्थान के शक्ति हैं—जहाँ कि सागापाग रूपक प्रणाली का अनुसरण करने हुए अतिस प्रकृति को ही वृत्तिवार एक समवेत विधान एवं मध्य व्यक्तित्व प्रदान करने में सफल होता है।

**छवि-व्यक्तात्मक**—व्यवस्तु के नियाजन के प्रसंग में यह इंगित किया ही जा चुका है कि अनक अवसरों पर लोग भी ठीक वही कार्य करता है जो एक दृश्यपट का चित्रित करने वाला चित्रकार, अपने आलेखनपट पर विविध रंगों एवं तूलिकाओं के द्वारा करता है। उपन्यासों में ऐसे छविवत् भी उसकी वणनात्मक कला को, ऊँचा उठाया जाने सिद्ध होते हैं और ये कृति को दार्शनिक एवं रमणीय, दाना ही प्रकार का कलात्मक स्वीकार प्रदान करते हैं। इन छविवत्ता की सश्रम एवं अश्रम योजना के सम्बन्ध में, पूर्वोक्त विद्या ही जा चुकी है। इसका अतिरिक्त रतना और कट्ट दत्ता आवश्यक होगा कि मुख्यतया छविवृत्तात्मक वणन दो उपभेदों में बाँट जा सकते हैं— विहगावलीकन और चलचित्रवत्।

**विहगावलीकन (बडम आइ यू)**—किसी पर्वत शिखर पर जाकर जब लेखाक अपने पात्रों के माध्यम द्वारा, सामान्य फली हुई मनोरम घाटी पर दृष्टिधोष करता है तथा उसका शक्ति में चित्रण करता है—तब वह अपनी व्यवस्तु को, एक विशिष्ट रूप में एवं समवेत रूप में, प्रस्तुत करता है। मानो वह पश्यत जलिल प्रकृति 'सूना' धिक एकारण हो गई हो। इस विहगम छविवत्ता की सत्ता दे सकते हैं क्योंकि जादाश माग से पयटन तत्त समय विहग अथवा पशु का भी उसे देखकर कुत्र इसी प्रकार की चाधुप अनुभूति हानी होगी।

**चलचित्रवत्**—प्रकृति अथवा लोकन्यापार लोना में ही कतिपय वणना के म्यल ऐसे भी पाए जाते हैं जहाँ विशाल दृश्यपट पर सगति व्यवस्तु योजना के अनुसार एक मत्तान कि तु गतिशील यवतिका की दृष्टि पथ से गुजरती है। पाठक को कुछ इसी भाँति का आभास सा होता है। इस भाँति के वणना में चलचित्रवत् छविवत् (पनोरमिक) बट सकते हैं। लौकिक व्यापार के क्षेत्र में राजकीय शोभा यात्रा महात्सवों का समाराह जाति का आँखा देखा वत्ता त सा ये छविवत् प्रस्तुत करते हैं।

#### (४) वर्णन चेतना अथवा भावसम्पत्ति

वणनात्मक कला के भावात्मक पक्ष पर विचार करने पर प्रत्येक कलात्मक वणन में एक उत्तरेत्तना परिचाप्त रहती दिखाई देती है जो विविध रूपों में पाठक का प्रभावित करती है। उसे हम भावसम्पत्ति अथवा वणन चेतना कहते हैं। यह भावसम्पत्ति या वणन चेतना निम्न प्रकारों की होती है—उत्तेजक या दाननकारी, दार्शनिक और गहन।

**उत्तेजक**—कतिपय वणन समवेत प्रभाव की दृष्टि से 'उत्तेजक' कह जा सकते हैं। ये वणन व्यवस्तु के नियाजन एवं वणन शली के सहारे पाठक के ममक्ष ऐसे वणवत्ता का प्रस्तुत करते हैं जिससे उसके मन पर उत्तेजक प्रभाव परिलक्षित होता है। यह प्रच्छन्न भाव सम्पत्ति, प्रसंगानुसार, विविध रसात्मक प्रतिक्रियाओं का जन्म

देती है जो पाठक के भावात्मक जगन म तद् विषयक भावुकता को जगाती है। स्व० श्री वृंदावनलाल वर्मा वृत्त 'मृगायनी' म यह गुण, विशेष रूप से उभर कर समक्ष जाया है।

**आंगोलनकारी**—वर्णनात्मक कलागत, भाव सम्पत्तिमय वर्णना का एक और पक्ष उपयुक्त प्रकार से भी अधिक बलशाली हाता है जो वर्णनात्मकता के माध्यम द्वारा पात्र विशेष के मन मे, भारी उद्वल पुयल मचा देने की क्षमता रखता है और उसे एमे सकल्प म प्रवृत्त करता है जा उसके जीवन प्रवाह को, एक नई गति प्रदान करता है।

**दाशनिक**—वर्णनात्मक कलागत भाव सम्पत्तिमय वर्णना का एक और भी पक्ष है—दाशनिक। इस तत्व के अतर्निहित रहने पर वर्णन विशेष, जीवन जयवा प्रकृति को, तटस्थ रूप से देखने और समझने के लिये, तात्कालिक विराम देता है। इस प्रकार के वर्णन क्षण ज्योप (उदयशङ्कर मठ) म विसपतया पाए जाते है।

**गहन**—उपरोक्त तीना प्रकार की भाव-सम्पत्तिया की अपेक्षा, वर्णनात्मक कला के अतर्गत, एक ऐसे अतर्निहित प्रभाव का उल्लेख करना भी आवश्यक है जिसे पृथक स्वीकार किया जाना भी उचित है। कल्पित वर्णना की भावात्मक गहराई, अथाह सी जान पड़ती है और उसको पढ़ने पर पाठक का, एक अभूतपूर्व आध्यात्मिक अनुभव होता है। स्व० श्री वृंदावनलाल-वृत्त 'दूरे राटे' मे इस प्रकार के वर्णन विशेषतया पाए जाते हैं।

### (५) वर्णन अनुभूति

वर्णनात्मक कला की परिणति, अनुभूति म हाना है जीर वहाँ उसका लक्ष्य भी है। उपरोक्त सभी उपादाना के विवकमय समन्वय द्वारा, वर्णन को अनुभूति कीटि प्राप्त होनी है।

अनुभूति का सर्वप्रथम रागात्मक आधार सी दयबोध है। यह पद बहु विवादिन है। किन्तु यहाँ इसका तात्त्विक अर्थो म ही प्रयुक्त किया गया है। साहित्य जयवा काव्य का रमणीयता प्रदान करने म, सी-दयबोध ही रसात्मक साधारणीकरण का माध्यम बनता है। रमणीय म अनुरक्ति मानव जान की सहज चेतना है तथा उसके घनना माध्यम चाक्षुष, श्रव्य आदि पंच ज्ञानेन्द्रिया के सापार ह। इसीलिए यह अनुभूति, मुख्यतया, कलात्मक वर्णना के परिणामस्वरूप निम्न प्रकार की होनी है—चाक्षुष, श्रव्य भावगत 'अध्यात्मगत जीचित्य रोधात्मक' मुग्धकर जाव गान्धिक विवक बनन वाली' जीर आध्यात्मिक।

**चाक्षुष**—इनम भी चाक्षुष माध्यम, वर्णनात्मक कला के विविध उपादाना म सर्वाधिक महत्व रखता है क्योंकि अधिकश घनात्मक सापार लक्षण के चाक्षुष अनुभव के प्रवृत्ता (प्राज्ञगन) का ही परिणाम है। चाक्षुष सीत्यबोध गहन एव



त्वरित होता है, क्योंकि मनारमता अथवा विरसना, प्रथम दर्शन में ही निर्धारित जाती है। चाक्षुष ज्ञान, चेतना-व्यवस्था सुवर्णता एवं सुडीलता द्वारा, मुख्यतः प्रकृत होना है और उसी पर उसका राग अथवा विराग गुण आधारित है।

श्रव्य— चाक्षुष ज्ञान चेतना के पश्चात् वणनो की वण्यवस्तु नियोजना में श्रव्यात्मक अथवा श्रव्य चेतना पर आधारित वण्यवस्तु का, बड़ा महत्वपूर्ण स्थान रहता है। जब वणनात्मक रसानुभूति, सहस्र्य अथवा पाठक के मन को अनुरक्त करता है तो वह भीति-चक्षु चेतना के स्थान में मानस चक्षु ज्ञान चेतना द्वारा भी प्रभावित होता है। सहृदय की मानस चेतना में यदि श्रव्य ज्ञान चेतना का योग होवे तो सहृदय की चाक्षुष सौंदर्यानुभूति अधूरी ही बनी रहती है। अतएव चाक्षुष एवं श्रव्य, युगल ज्ञान चेतना का समन्वय, वाञ्छित सौंदर्यबाध के लिये अनिवार्य हो जाता है।

मानव चक्षु चेतना की परिधि एवं क्षमता सीमाबद्ध एवं अपेक्षाकृत अल्प सामर्थ्य है किन्तु श्रव्य ज्ञान चेतना सूक्ष्मातिसूक्ष्म होने के कारण नितान्त सवेद्य है। विज्ञान सम्मत सिद्धान्त के अनुसार भी नाद का परिधि असीम है क्योंकि वह सतत प्रवहमान है। प्राण स्वाद एवं स्पृश ज्ञान चेतनाएं भी वणनात्मक कला में सौंदर्य बोधात्मक योगदान करती हैं किन्तु वे अपेक्षाकृत चाक्षुष एवं श्रव्य के समक्ष गौण हो जाती हैं।

भावगत— सौंदर्यबाध की अनुभूति एक अत्यंत सूक्ष्म मानस व्यापार है और वह लौकिक जगत् एवं माव जगत् दोनों ही की जोर उभयमुखी है। वणनात्मक कला में लक्ष्म, दाना ही उभयमुखी रमणीय बोधात्मक अनुरक्ति का पृथक् पृथक् अथवा समन्वित उपयोग करता चलता है। भावात् सौंदर्यानुभूति लौकिक सौंदर्य बोध की अपेक्षा अधिक गहन एवं सवेद्य है। अतः वणनात्मक कला के मानीकरण में उसका गौरव बहुत ऊंचा है।

अध्यात्मगत— अध्यात्मगत सौंदर्यबाध की अनुभूति मानव मन की मानव सीमाओं से परे रहस्यलोक में ज्ञान की महज जिज्ञासा से अनुप्राणित होती है। अतएव जिज्ञासा की तीव्रता के कारण उसकी रमणीय बोध चेतना भाँ प्रखर एवं गहन रहती है।

औचित्यबोध— औचित्य-बाध का भी कलात्मक अनुभूति में अपना विशय महत्व है। दशकाल पात्र के अनुसार वणन का उचित पाया जाना कलात्मक अनुभूति की दृष्टि से एक बड़ी विज्ञेयता है। अतिरिक्त जबकि सत्ताश्रु स प्रभावित वणन अपना औचित्य खो देता है जो वणन प्रतीयमान नहीं होते एवं मनगडत एवं मनमान रूप से चित्रित किये जाते हैं उनकी कलात्मकता में बाधा पड़ती है।

मुग्धकर— वणन के पारायण के पश्चात् जब पाठक अपना सुधबुध भूल कर आत्म विमोह हो उठता है, तथा बारम्बार वह उसकी पुनरावृत्ति करने को प्रेरित होता है तो उसे 'मुग्धकर' अनुभूति प्रदान करने वाला वणन कहा जाता है।

**आवसादिक**—जिन वर्णनों के पढ़ने पर पाठक का मन खिन्न हो उठता हो तथा वातावरण में, अवसाद की परिव्याप्ति हो जाती हो, उनको 'आवसादिक अनुभूति' से युक्त वर्णन, कहा जायगा।

**विकल करने वाली अनुभूति**—कतिपय ऐसे वर्णन भी पाए जाते हैं जिनके पढ़ने के पश्चात् पर्याप्त काल तक, पाठक का मन, व्याकुलता अनुभव करता है तथा 'याकुलता' का, वह काय कारण समाधान भी चाहता है। विकल करने वाले वर्णन बड़े प्रभावशाली होते हैं तथा वे पाठक के मन पर एक असह्य एव बेचनी छाड़ जाते हैं और इस भाँति वे पाठक की निर्धारित विचार धारा में, एक प्रकार की उथल पुथल सी मचा जाते हैं।

**आध्यात्मिक**—आध्यात्मिक अनुभूतियों को व्यक्त करने वाले वर्णन भी पाठक के मन में एक अनोखी अनुभूति छोड़ जाते हैं जो लौकिक जगत से परे, एव पराप्राप्त तत्त्वों से युक्त होती है।

### (६) रस सस्पश

रस-सस्पश, वर्णनगत रसानुभूति की ऊँचाई तक पहुँच जाने का सूक्ष्म भाव का, संकेत है। यद्यपि किसी भी वर्णन विशेष में, स्वतंत्र रूप से रस के परिपाक की क्षमता सम्भाव्य नहीं है, फिर भी उत्तम उपयोगकार के उत्तम वर्णनों में एक ऐसी स्थिति या सामान्य स्पश की जाती है जहाँ कि वर्णन, रस कोटि में पहुँच जाते हैं। उदाहरणार्थ जब चार चन्द्रलेख' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) का कथानायक सातवाहन मगधोने का पीछा करते करते, भाड भूवाड से भरी बनगण्डी के बीच, चन्द्रलेखा के सहसा आमने-सामने आ जाता है तो उस स्थल पर पाठक को भी सहज ही वर्णनगत रस सस्पश की अनुभूति हावी है।

उत्तम वर्णनों का, उपयोग में, अपना निजी अस्तित्व भी है तथा उनका प्रसंगवद्ध कथात्मक अभिप्राय भी रहा करता है। जब कथात्मक प्रसंग वदना के कारण कोई उत्कृष्ट वर्णन, उपयोग की रसात्मक सिद्धि को रूपायित मा करता जान पड़ता है तो हम उसे 'रसात्मक वर्णन' की सजा दे सकते हैं। वस्तुतः रस-सस्पशात्मक वर्णन प्रत्येक उत्तम उपयोग में गिने चुने ही होते हैं। उनमें मानो उपयोगकार अपना वर्णनात्मक प्रतिभा को ही द्योष्टाकर कर डालने को, आतुर दिखाई पड़ता है। कभी कभी ऐसे रस-सस्पशान्वित उत्तम वर्णनों की उपयोग में घटी सी लग जाती है और लेखक के समान पाठक भी उनमें रस विभोर अवस्था को प्राप्त हाकर निमग्न हा जाता है। ऐसे वर्णन पाठक के मानस-पट पर, सदा के लिए अंकित हो जाते हैं और उपयोग विशेष का नाम उचरित होने ही इस भाँति वे वर्णन, सहसा उसके मानस पट पर माना प्रणीत से हो उठते हैं।

'वण्यवानु', 'वणन शली', 'वणन कीटि', 'वणन वेतना', 'वणन-अनुमूति', एवं 'वणन-गत रस-रास्पण', इन छ मूलभूत वणनात्मक तत्वा के आधार पर जिस वणनात्मक कला के मानीकरण की एक सक्षिप्त रूपरेखा, उपयुक्त अनुच्छेदों में प्रस्तुत की गई है उसमें, एक बहुसंख्य अभिनय सनात्मक पदावली का समावेश पाया जाता है। पत्यक उप-यास का, उपयुक्त संरणी पर वणनात्मक मानीकरण करण समय, हमें, इस लम्बी सनात्मक पदावली से पत्र-पद पर काम पड़ता है। अतः उसे यहाँ एक मानीकरण तालिका के रूप में प्रमवद्ध किया जाना आवश्यक माना गया है।

उपयुक्त वणनरत्ना गत मानीकरण-पद्धति के प्रत्येक सनात्मक पद को व्यक्त करने के लिए एक अक्षर विनोप का निर्धारण कर लिया गया है। प्रत्येक वणन में, जो-जो वणनात्मक कलात्मक विशिष्टताएँ वतमान हैं उनका सूत्रात्मक आमास, हम निम्न साकेतिक अक्षर माला द्वारा मिल सकता है। अधिक कलाभिराम वणना में, अधिकाधिक सत्या में ये साकेतिक अक्षर पाए जायेंगे। उनकी सख्या एवं विविधता से ही, हम वणन विनोप की कलात्मक गरिमा का अनुमान, एक ही दृष्टि में कर पायेंगे। यहाँ इस समस्त सनात्मक पदावली की अक्षर-साकेतिक तालिका दी जा रही है—

वणन कलाभिराम उप-यासा में समाविष्ट—कलात्मक वणना की, सनात्मक पदावली की—अक्षर साकेतिक सूत्र-तालिका

#### वणन विवरण

प्राकृतिक	—	प्रा
शरीर (जाति निदान)	—	श
स्थापत्य	—	स्था
राजकीय	—	रा
नगर शोभा	—	न
वाजार वणन	—	वा
दुकान वणन	—	दु
वेष भूषा	—	व
साज सज्जा	—	स
यन्त्रादि	—	य
वण्यवस्तु (व)		
सत्रम	—	स
अत्रम	—	अ
सागोपाग	—	सा

विकीर्ण	—	वि
सवर्ण	—	स
विवर्ण	—	वि
सस्वन	—	स्व
नि स्वन	—	नि
सगति	—	ग
अगति	—	ति
चचल	—	च
अचचल	—	स
वर्णन प्रकृति (वृ)		
व्यक्तित्वयुक्त	—	व्य
द्विविधतात्मक	—	द्व
विशद	—	द
अविशद	—	अ
कल्पना उद्वेगी	—	की
महत्कल्पना प्रधान	—	म
रहस्याश्रित	—	र
वर्णन शैली (श)		
आलंकारिक	—	आ
युक्तिमय	—	यु
वर्णवृत्तात्मक	—	वृ
प्रसंगानुवृत्त शब्दचयन	—	प्र
शब्दालंकार का आश्रय	—	श
कामलकांत पदावली	—	प
प्रतीकात्मक शब्दावली	—	ती
परम्परागत	—	पग
प्रतिभास निबन्धन	—	प्रनि
वर्णन-गत रस सस्पश (रस)		
शृंगार	—	शृ
वीर	—	वी
करुण	—	क
अद्भुत	—	भु

वणन चेतना अथवा भाव सम्पत्ति (ति)

उत्तेजक	—	उ
जादालनकारी	—	जा
दाशनिक्	—	दा
गहन	—	ह

वणन अनुभूति (नु)

(१) सौ श्यबोध [सौ]

चाक्षुष	—	चा
श्रव्य	—	श्र
मावगत	—	मा
अध्यात्मगत	—	त
(२) औचित्यबोध (मी)	—	
(३) मुग्धकर (मु)	—	
(४) आवसान्निक् (नि)	—	
(५) विकल करने वाली(ली)	—	
(६) आध्यात्मिक (ध्या)	—	

अक्षर-साकेतिक सूत्र-तालिका की व्यावहारिक  
मानीकरण-पद्धति

उपयुक्त अक्षर साकेतिक सूत्र-तालिका का व्यावहारिक पद्धति का, कलात्मक औपचारिक कृतिया के मानीकरण म किस प्रकार (व्यावहारिक) प्रयोग किया जाय ? इसके उदाहरण के रूप म यही एक श्र ५ टिप्पणी उपयाग (धी शृणावनलात वमा कृत मृगनयनी) का उपयुक्त अभिनव पद्धति पर परी ल किया जा रहा है । इनके द्वारा यह समझने म सरलता होगी कि प्रत्येक उपयास का एक अभिनव-पद्धति पर किस भांति व्यावहारिक मूल्याङ्कन किया जा सकता है ।

सबप्रथम वणनारम्भ कला का उपयुक्त मानीकरण कमी १ पर पराक्षित उपयाग के समस्त कलात्मक वणना का एक प्रथम तालिका वणना व जवमरा व उत्प्रेग व साथ तयार की जाय । यह मानीकरण पद्धति का प्रथम परा ल स्तर है ।

सत्यवधान सभी यणना व ितीय परी ल द्वारा कलात्मक तत्त्वा व जाधार पर पराक्षित उपयास व सभी वणना पर साकेतिक विज्ञा द्वारा मूल्याङ्कन व माना का अर्थित किया जाय । यह मानीकरण पद्धति का द्वितीय स्तर है ।

तृतीय परा ल द्वारा यह स्पष्ट होगा कि कलात्मक साहित्य का दृष्टि म कुछ इनगिने वान सर्वोत्कृष्ट काटि म एक जान योग्य है । वरानि उनम कलात्मक

विशेष परिष्कार द्वारा प्राप्त की गई है। यह प्रतीति का भी अर्थ है।

गणना का अर्थ है कि विशिष्ट वर्गों के बीच का अंतर का अर्थ है। गणना का अर्थ है कि विशिष्ट वर्गों के बीच का अंतर का अर्थ है।

परिष्कार गणना का अर्थ है—'गणना'। (यही गणना का अर्थ है)।  
 के अर्थ है कि विशिष्ट वर्गों के बीच का अंतर का अर्थ है।

वर्ष सं०	वर्ष का अर्थ	गणना
१	प्रारम्भिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
२	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
३	द्वितीयक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
४	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
५	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
६	द्वितीयक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
७	द्वितीयक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
८	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
९	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
१०	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
११	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
१२	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
१३	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
१४	द्वितीयक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
१५	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
१६	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
१७	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
१८	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००
१९	प्राथमिक वर्ग (आरंभ के बाद)	१००

२०	सध्या वणन (वपा) (प्रा०)	अ० ४५ पृ० ३४०
२१	गूजरी महल की मानस पृष्ठभूमि (स्या) (साम्य सवेत ८)	अ० ४५ पृ० ३४१
२२	रात्रि वणन (मानसिंह का गूजरी महल बनाने का मानस सक्ल्प) (प्रा०)	अ० ४५ पृ० ३४२
२३	गूजरी महल—(भवन निर्माण कला) (स्या०)	अ० ५६ पृ० ४०७
२४	ग्रह प्रवेश उत्सव—(गूजरी महल)	अ० ५६ पृ० ४०८
२५	मानसिंह वणन (स्या०)	अ० ५६ पृ० ४०८
२६	गूजरी महल (मानस कल्पना की परिणति) (स्या०)	अ० ५६ पृ० ४०९
२७	नटराज की प्रतिमा का वणन—(भारतीय कला के प्रतीक) (मूर्ति कला)	अ० ६० पृ० ४१५
२८	भूकम्प वणन	अ० ६३ पृ० ४३७ ३८
२९	भूकम्प वणन (ग्वालियर-गूजरी महल)	अ० ६३, पृ० ४३९ ४०
३०	दुग वणन (राई की गढी)	अ० ६६ पृ० ४५४
३१	दुग वणन (राईगढी)	अ० ६७ पृ० ४६२
३२	पात्र वणन (मृगनयनी) (श०)	अ० ७० पृ० ४७६

‘मृगनयनी’ उप यास के कलात्मक तत्वों के आधार पर साकतिक चिह्नो द्वारा, मूल्यांकन मानों का, सूत्रात्मक अंकन (मानिकरण पद्धति का द्वितीय स्तर)

### १ ग्राम वणन

आसपास और दूर दूर तक के गाव उजट चुके थे। खेती का नाम निशान तक न था। बीच बीच में जगत भी काट डाला गया था। पर कटे हुए पेटों की जड़ों से नहीं शाखें फूट निकली थी और भूमि इन शाखा से ढक गई थी।

वि। ज। वृ। -। -। सौ चा (अ० १ पृ० १)

### २ ग्रामवणन—[राई ग्राम]

ग्वालियर के पश्चिम दक्षिण में लगभग छः कास की दूरी पर साक नदी के किनारे, राई नाम का गाव था। इसमें मंदिर के साथ ही बधजले और जधट्ट घरों की भी, फूस से छा लिया गया। बाकी गाव में खण्डहर बिल्वर क बिल्वरे पड़े रह गये। फसल काट कर घर में या गडढा में रखने की उतावली थी। परंतु

१ ‘मृगनयनी’ (श्री ब्रदावनलाल वमा) प्रथम प्रकाशन १९५० ई० (प्रस्तुत संस्करण सातवीं जाहृति १९५५ ई०) स्वाधीन प्रेस भासी।

अन्न अभी कहीं कहीं हरा था। पौधा की लहर को देख कर, उतावला किसान, हाथ में हंसिया लिए हुए, रह रह उठता था। हरी दान को कैसे काट हाली जलाने तक तो ठहरना ही पड़ेगा।' अ०। छ। ती।। सी चा (अ० १, पृ० ३)

### ३ उरसव वपन (होली)

'सवेरा होत ही कुछ लोगो ने हल्दी की थोटी सी गांठ को बाटकर, रंग तैयार किया और भीकने भीकते हाली खेल ली। जिनकी गांठ में रंग नहीं था उन्होंने रास्ते की घूल बटोरी और पानी में घोली। पिछली विपदाओं को भूल कर, कम से कम कुछ घण्टों के लिए मतवाले हो जाने की ठान ली।

अ०। अ। छ।।। दि (अ० १, पृ० ४)

### ४ पात्र वपन (श०)

'अत हटटा कटटा युवक था। जैसे भीग चुकी थी। सिर के बाल लम्बे थे। इसलिए सारी आकृति में भीमना आ गयी थी। कई साल के कठोर जगली जीवन ने उनमें लम्बे बहरे की गम्भी नाक को कुछ और लम्बा कर दिया था।'

सा। २। छ।।। जी० (अ० ३, पृ० १३)

### ५ रात्रि वपन [चांदनी सेत] (प्रा०)

'चंद्रमा का उदय हो जाया था जब चांदनी छिटक चली। पास के और दूर के सेतो में रगवाला की 'हा हा' हूँ हूँ सुनाई पड़ने लगी। टण्टी हवा उन से मार कर सरमराने लगी। (निनी ने अपनी मोटी चादर लपेटी और जटल को दूसरी उड़ा दी) निनी हा हा हूँ हूँ नहीं कर रती थी। तुपुपाग बठी हुई सेत के कोनों पर आग पसार थी। पवन के लोको के कारण कभी-कभी सेत के छाटे छाटे टाड भकूटे, हिल जाते थे तो उससे, किसी बय पशु के जा जान की शका हो जाती।

दा पहर रात गय, आसपास के सेता की हा हा हूँ-हूँ कम हो गयी और दूर के सेता की बहून क्षीण। चाँदनी छिटक जाई कि दूर का भी स्पष्ट निलाई पड़ने लगा।' सा रव ग। छ अ की। छ प्र।। ह। मौ रा (अ० ३ पृ० १४)

### ६ वन वपन [रात्रि चाँदनी] (प्रा०)

सेत से धाड़ी ही दूर ननी बह रही थी। उसके एक सिर का पानी बहता हुआ चित्ताई पन रहा था। चंद्रमा की स्पष्टता हुई, भ्रमिभ्रम, जान पड़ती थी, माना चाँदी की चादरों में आवरा पर आवरे, चित्रवित्रा, रह हा। छोटी छोटी सी आधी सीधी सहरे उठ उठ कर, इन आवरा का पहा पहा लेनी थीं। सम्पूर्ण सहरा का समूह चाँदनी की उन चादरों का पाड लेने की, हाड सी लगा रहा था। पवन के आने जाने वाले तकभीरे इन आवरा का और भी चंचल कर रहे थे। सहरा की बल-बल, हाका परनाचरी ऐसनी हुए सेता के हर पौधा की अधपरी बालों को, अपनी बीमन



उंगलियो से खिला सा रही थी। हरी पत्तियां पर जम हुए, ओस-वण, चमक चमक कर बिखर बिखर जा रहे थे। निकटवर्ती जगन के लवकाय वृक्षों के बड़े-बड़े पल्लवों को खरभरा कर, पवन मानो किसी दूर देश को चला जा रहा था। कमी सनसनाहट और कमी सड सडाहट, इन्हीं ध्वनियो में होकर नाहर से डरे हुए सामरो और चीतला की कमी तीक्ष्ण और कमी मन् पुजारें ।' (अ० ३, पृ० १५ १६)

स सा स स्व ग च । व्य छ अ की र । वृ प्र श ती । भु । ण ह । सी चा थ भा मु  
७ घन वणन (रात्रि चादनी — दृश्यावली) प्रा०

'पवन धीरे धीरे मदपडा। नदी की लहरो के ज्वगु ठन छोटे पड गए, और चांदी की चादरें सी तनने लगी। खेत के पौधों की भूम, हलकी पड गई, जैसे सो गए हो। निकटवर्ती बड़े पेड़ों की खरखराहट भी निरंतर न रही।

एक दिशा में उन रजत लहरो के उस पार, छोटी छोटी पहाडिया के ऊपर, एक ऊँची पहाडी सिर उठा कर धूमिल नेत्रों में चादनी को भर लेना चाहती थी। ऊँची पहाडी का शिखर घुँघुँ का स्थिर पुज सा जान पडता था। नदी के उस पार दूसरी दिशा में विशाल वृक्षों की सज के पीछे एक ऊँचा पहाड चन्द्रमा को मानो नीचे उतर जाने के लिये आवाहन सा दे रहा था। बीच बीच में पतोखी, टी टी 'ची ची कर दती थी, जिससे न तो चादनी विचलित हो रही थी और न पवत के ऊँचे शिखर का ध्यान ही। निनी की दृष्टि कभी खेत की ऊँघती हुई बालों पर कभी नदी की चमकती हुई चंचल उर्मियो पर, कभी दूरवर्ती धूमिल पहाड पर और कभी निकटवर्ती पहाड के शिखर पर जा रही थी। (अ० ३, पृ० १६ १७)

स स्व ग ल । व्य छ अ की म र । व प्र प ती । भु । दा ह । सी चा थ भा मु ।  
८ नश प्रकृति (रात्रि चादनी) (प्रा०)

निनी मुस्कराई और खेत के ऊँघते हुए पौधों पर दृष्टि फेरती हुई नन्गी की उर्मियो का, चादनी के साथ खेल दाने लगी। हवा और भी ठडी हो गई। पहाड की ऊँचाइयों जंगल के विशाल वृक्षों के बदनवारा बड़े बड़े हरे पल्लवों के झरोखा, इन चमकीली चदीली लहरों, और पतोखी की उन बोलियों को कैसे एक ही स्थल पर इकट्ठा किया जाय। और उस पतोखी की बोली ? मैं गाऊँगी—'जाग परी जब मैं पिय के जगाए। (अ० ३, पृ० १८)

स स्व ग च । छ द की म र । आ प्र प । थ । आ । सी । चा थ मु

९ हेमन्तोत्सव वणन

"दूसरे ही दिन दोज थी पुजारी ने थोडा सा लाल रंग पहले ही घोल रक्खा था। सब लोग न शोज का पूजा की। नई लाई हुई छोटी सी मूर्ति को प्रणाम किया। पुजारी ने धी की दो चार बू दो से होम किया और फिर से प्रसाद रूप लाल रंग के थोड़े स छोटे सत्रके छिटके। निनी के ऊपर टोटे डालने में उसका हाथ

भिन्नका। उसनी कसर का लाखी पर पूरा कर दिया। दो एक छीटे, उसके गाला पर जा पड़े। पुजारी ने अपने बेसुरे गले से एक होली गाई।

वि। अ। व। । । (ज० ४, पृ० २२ २३)

### १० दुग वर्णन (ग्वालियर का किला) (स्थान)

'बीचे पहर का घटा वजते ही फाटक खुल गए। कोट की ऊंची दीवार के भीतर कई छोटे छोटे कोट जिनमें सैनिकों का आवास था। प्रत्येक फाटक पर सनद्ध सावधान पहरे। दक्षिण दिशा के मदान के छोर पर सास-बहू और तेली के मंदिर थे। वहां फूस के छोटे छोटे झोपड़े ढाले हुए, कुछ निवासी, विपद के दिन काट रहे थे। राजा का भवन उत्तरवर्ती कोट के भीतर था।

अ० वि० । । व। । । - (ज० ४, पृ० ४१ ४२)

### ११ पात्र वर्णन (आकृति) (श)

राजा मानसिंह युवावस्था के आगे जा चुका था। बड़ी काली आँखें, भरी मोह सीधी लम्बी नाक, चेहरा भरा हुआ कुछ लम्बा, ठोड़ी दृढ़, होठ सहज मुस्कान वाले। सारा शरीर, जसा जनवरत व्यायाम से तपाया जीर कसा गया हो। कद लम्बा और छाती चौड़ी घनी नोकदार मूँछें।

सा। द। । । । जी (ज० ४, पृ० ४२)

### १२ आखेट वर्णन

'दोना (नामी निनी) चन पत्नी। जगन गाव से लगा हुआ था। दूसरी ओर नगे। तेजी से बहती हुई धार कलोल कर रही थी। उसकी देख कर उनकी आँखें ठण्डक पा रहीं थी। इसी प्रवाह के कहीं समीप ही सूअर और जंगली भसे पड़े होंगे। यह सांच सांच कर, दोना हुलसा रही थी। वे दोनो नदी के किनार को छाट कर जंगल में धँस गईं। दोना ने एक हाथ में बमान और दूसरे में तीर ले लिया। जंगल में धीरे धीरे जाहट लेती हुई दोना बढ रही थी।

सा ग नि । द। वृ। । उ। जी (अ० ७, पृ० ४६)

### १३ पात्र वर्णन (विषमूषा) (वे)

लू के भंकोर से भूमि के वारीक कबड जीर विछ हुए सूये पत्ते उड उड कर निनी के तपे हुए गोर और लाखी के सावने गालों पर पड पड जा रहे थे। उन दोना न थोत्नी की सिर से नगट रक्खा था। घुटना तक माटे लग्न का कच्छ। उरोज कचुकी से ढके हुए पीठ से लगे हुए पेट उघाटे। गने में मूगी और कंच के छोटे बड़े दानों की माला। कानाइयो पर कंच की दा दा मोटी छूटियाँ। पैरा में बांस या पीतल तब का कटा नहीं। शरीर का पनीना, पिडलिया की घून पर मोटी पतली रेतारण बनाता हुआ जा रहा था। लू से उनको ठण्डक मिल रही थी। निनी की बड़ी बड़ी और लाखी की कुछ ही छोटी काली कजरारी आँखें, घने पत्ते के

पीछे, ध्यान के साथ कुछ टटोल रही थीं। सिर और कंधे झुके हुए माना उछल कर किसी पर टूटने वाली ही हो। वे दानो ऊबड़-खाबड़ जंगल में, कुछ दूर निकल गई। नदी का किनारा छूट गया था, निनी के हाठ सूखने लग।

सा स ग। द की। व। वी। उ। सी चा औ (अ० ७, पृ० ४६)

१४ घन वणन (मध्याह्न) (प्रा०)

'दोनों उसी तौल के साथ आगे बढ़ती गई। आगे एक छोटी सी पहाड़ी की ओट मिली, जो, लम्बाई में नदी की ओर गई थी। पहाड़ी के नीचे, साल सागौन, महुए और अचार के बड़े बड़े लंबे पेड़ थे। पहाड़ी के ऊपर करघई की घनी हलकी, करघई रंग की झाड़ी थी। दोनों इस पर चढ़ कर, उस ओर के नीचे के मगान के जंगल की निरल करना चाहती थी। परन्तु पहाड़ी की घड़ी करघई में घँसने के लिये, पतली पगडंडी भी नहीं थी।

स स। छ द की। व। -। उ। सी चा मु (अ० ७, पृ० ५०)

१५ पात्र वणन (आकृति) [श० वे०]

दोनों ने अपने सहगो को घुटने के ऊपर समेट कर बस कर कच्छ बाधा, दोनों की गोरी गोरी जाँघें आधी उघड़ गईं। लान्बी की पतली सुती हुई सी थी। और निनी की मांसल पट्टो वाली जैसे बठकें लगाने वाले किसी पहलवान की हो। दोनों करघई की घनी बाड़ी में घुस जाने के लिये सक्के छाटे से ही माग की तलाश में, झुक झुक कर हाफ हाफ कर, सास साध साध कर फिरने लगीं। एक हाथ में कमान और दूसरे में, सूय की प्रखर किरणों में चमक चमक जाने वाला लोहे का तीर साधे हुए। निनी के होठ सूख रहे थे। ततूरी के मारे ताखी के पर जल रहे थे।' सा ग। द की। व यु। वी। उ। सी चा जी (अ० ७ पृ० ५०)

१६ आखेट वणन

वे दोनों वहीं बठ बठ कर, वहीं लेट-लेट कर, रँगने लगीं। ऊँची छातिया पत्थरो जीर करघई के माटे नाटे से टकरा टकरा जा रही थी। करघई की टेढ़ी मेढ़ी डालें सिर से बांधी हुई ओढनी में अटक अटक जा रही थी। गोरी सलोनी बाहा में कटि खरोच कर रक्त की पतली लीकें निकल रही थी। धूल जीर धूप उनकी सुखाकर मरहम का सा काम कर रही थी। उन दोनों ने करघई की डालों से उलथी हुई ओढनी को सुलझाया और कमर में बस लिया। बिना तेल के लम्बे काले केश कुतला में आधी के एक दो झोको में ही धूल और करघई के छोटे छोटे सूखे पत्ते भर दिये। करघई के एक बड़े भांड के नीचे दोनों तीर कमान साधकर खड़ी हो गईं। ग। द की। व। वी। उ। सी चा जी (अ० ७, पृ० ५१)

१७ सध्या वणन (प्रा)

उसी दिन सवरे से ही यवायक ठण्णी हवा चली और तीसरे पहर तक

चलती रही। चौथे पहर यथावात तो रका परतु ठण्ड बढ गई। पश्चिमी पहाडियों के ऊपर, सूय दमन्माती हुई, बडी वि दी की तरह, लग रहा था। ग्वालिपर के उत्तर पूव और उत्तर पश्चिम की पहाडिया घुमर जुहासे म रहस्यमयी हो रही थी। पूव की जिगा की जाडी पहाडिया तक मैदान म किरणो ने माता सुनहरी रज छिन्क दो हो।

मृगनयनी जीर मानसिह महल की छन पर थे। ऊंची मुडेरु की विडकिया, और क्रिभरिया मे होकर किरणा के चौक से पुर रहे थे। तुम्हारी मुक्कानी के साथ सूय की किरणें क्या खेनने लगनी है। (अ० ३२, पृ० २४५)

अ स नि । य छ अ की र । आ प्र प । शृ । ह । सो चा भा मु

### १८ सध्या घणन (प्रा०)

शरदी अपने यौवन पर थी, अस्तावल की ओर जाने वाले सूय की किरणें, धीणता पर। उन किरणो स गरमी पाने की बाछा करने वाने को ठिकुरन जीर भी अधिक मिल रही थी। अपन कक्ष की छन पर झरोखे के सहारे, मृगनयनी खडी हो गई। नाय मे गावी। सूय के डूबने मे अभी दो घडी का बिलम्ब था। मृगनयनी की हृष्टि, पश्चिमी पहाडिया क पीछे की किसी पहाडी, किसी नन्ी और किसी गाव की तरफ गई। राई म क्या हो रहा होगा?—वह सोच रही थी। फिर महल के उत्तर बर्तीय बगाचे पर आँख जा पडी। केने के बडे बडे पत्ता की गहरी हरियाली पर, किरणें किनोन सी कर रही थी। उसकी लगा पत्ता की घीणा सी बज रही है।

(अ० ४१ पृ० ३११) अ म । छ ज की । आ । क । ह । सो चा भा दि

१९ पात्र घणन (जात्रति-येपभूपा) [श के]

वे दोनो हँम पनी। गेनी के दाँत मोती जमे। हँसी जैसे शरत्कालीन नन्ी की निमन धारा। आँचो म जल्हापन। अगा की यिरवन जैसे किसी राग की सीधी गच्चो तान हो। धीमी भूम वाल कदली पल्लवी पर से मृगनयनी की आँख लाखी क वस्त्रालकारों पर गई। रेशम के वस्त्र, सोने और माती के गहने। लाखी खिल रही थी। (अ० ४१ पृ० ३१३) अ म । अ । आ । शृ । - । सो चा मु ।

### २० सध्या घणन (वर्षा) (प्रा०)

सौंफ स हो बात्ल पिर आए। बिजली की कडक-तडक हुई और गरगराहट क साथ पानी बरगन लगा। चन्द्रमा एसा जिगा वि धोर अमात्रस्या की रात प्रतीत होने लगी। मृगनयनी और मानसिह, वणमहल के एक ऊपरी कक्ष की पिडली के मामन मन पर बडे हु थे। मानसिह कुछ चिन्तित, मृगनयनी हृषमन जीर प्रपुन्न।

(अ० ४५ पृ० ३४०)

वि रर । छ अ । ता यु । श । । सो भा

२१ स्थापत्य कला (स्था०)

'चादनी म चमकती नदी की दमन को समेट कर, अचलमे बाँधलूँ, सेनकी ऊँपती हुई बालो औरपहाड की उसऊँचाई का एकही तीरपर, इकट्ठा करलूँ । बडे बडे पडा के बदनबारा बनाऊ और डालिया और पत्तो के हारोखे सजाऊँ । उन धरोखो म होकर, मोतिया के हार सी पहने हुए, नदी की लहरो को गीत सुनाऊँ और फिर एक ऐसा घर बनाऊँ जिसमे, ये सब आ जाँय । (अ० ४५, पृ० ३४१)

स सा ग । व्य म र । आ ती । शृ । दा ह । सौ भा औ मु

२२ रात्रि-वणन (वर्षाकाल-चादनी) (प्रा०)

'बादन फट गए जोर चान्नी धुली धुली छिटक आई । पानी कुछ पहले रुक गया था । प्रकाश मे निकट की पवत श्रणी स्पष्ट दित गई । दूर क पहाड घूमिल ऊँघते-सोते स । मानसिंह ने कहा मवन को सौदय, लालित्य, और आस्था का मन्दिर बनाऊँगा । (अ० ४५ पृ० ३४२)

अ नि । छ अ र । आ । । ह । सौ चा भा

२३ भवन निर्माण कला (गूजरी महल) (स्था०)

ग्वालियर किने की पहाडी का उत्तर पूव वाला छोर नीचे की ओर कुछ छत्र गया है । चार वष म उसके ऊपर मृगनयनी का गूजरी महल बन गया । ऊपर के कोट से इसवे कोट का भी सम्बन्ध जोड दिया गया । नीचे बाल कोट के नीचे से राइ गाँव वाली साँव नदी की ढकी हुई नहर गूजरी महल के नीचे वाले खण्डा म जा गई और उमके पानी के निकास का भी प्रव ध हो गया । गूजरी महल लगभग डेड सौ हाथ लम्बा और सवा सौ हाथ चौडा । दो खण्ड ऊपर दो खण्ड नीचे । नीचे के खण्ड के बीच बीच साँव नदी की नहर के जल क लिये हीज और चारो जोर दोखण्डी दालानें । ऊपर के खण्डों के बीच म विस्तृत आगन चारों जोर सुरम्य जटारियाँ और छतें । बाहर और भीतर म मृगनयनी क रूप सरूप का प्रतिबिम्ब प्रबल साधा सलाना जोर छबीला । बक्षा के द्वार विवाह मण्डप के लता वितान और बदनबारा के चोतक । पूरे मवन म बसी गोर्ने मरियाँ और साज जसे घोडे और सु दर आभूषण वह पहनती थी । पूरा मवन थोडे से अलकारो से सँजोया हुआ थोड मे जलकारो से पूरा मवन सजाया हुआ । (अ० ५६ पृ० ४०७)

स० सा० ति० ल० । द० । आ० । । । सौ० चा० ।

२४ गूजरी महल (गृह प्रवेश उत्सव)

गृह प्रवेश के लिय होनी क उत्सव की रगपञ्चमी का गृहस्त रक्खा गया । हाली के उत्सव म जनता, वस ही मन्त थी रगपञ्चमी के उत्सव के दिन तो मस्ती मे डूबने उतराने ही लगा गृह प्रवेश का गृहस्त आने को हुआ । सनिका ने वेसरिया साके बाये जा मानसिंह के सूय ध्वजो ऊच वेसरिया ऋण्डे से, हाट सी लगा रहे थे ।

नगर की स्त्रियाँ रंग विरगेपन में, फूट पड़ीं। गायक वक्त्र ने नय कपड़े पहनत पहनत पुराने पहन लिये। वीणा का पाछा, माँजा, पत्ता में सजाया और सरस्वती का पूजन किया। (ज० ५६, पृ० ४०८)

वि० स ग० । १० । प्र० । - । - । ता० मु० ।

२५ मान मन्दिर वर्णन (स्था०)

मानसिंह मृगनयनी का, गूजरी महा से, मान मन्दिर में ले आया। बीच से मान मन्दिर, ऐसा लगता था जैसे गगनचोरी कदनी-कुञ्ज में, विष्णु ने, मुम्बान के साथ, वरद हस्त पसार दिया था। केतव पत्ता के यथावत रंग और चित्रण ने, पत्थर की जालियाँ म हाथी नाहर और अन्य पशुओं ने वेगाने विहार में, मृगनयनी को यही कल्पना दी। भीतर पहुँच कर ऊपर क मण्ड के पहले जौगन में, पश्चिम की ओर, विष्णु का मन्दिर। उसके चारों ओर पत्थर में मूर्तम अनुपात की, विविध प्रकार की जालियाँ, आगन के दूमरी ओर, विशाल पुष्पकान्त और तीमरी ओर, समा भवन जिसमें गायन वाद्य इत्यादि हाना था। विष्णुमन्दिर के सामने दूसरा कक्ष था, जिसकी बाजार, साज सिंगार, पहन स कुछ भिन्न थी परन्तु उतनी ही, सुन्दरता में गुंथा हुआ। (अ० ५६, पृ० ४०८)

स० स । द० की० म० । जा० । - । दा० ह० । सी० चा० ।

२६ गूजरी महल (स्था०)

मृगनयनी को अपनी उम कल्पना की याद आ गई। रात का समय, महान पर खेन की रखवाओं के तिय बँठी हुई चालनी में निवट वहने वाली नदी की लहरों की चमक, और जनाज की ताला की उँवनी झूम। पीछे ऊँचे पहाड़, हरे भरे विशाल वृक्षा के कुञ्ज, और जगत में स्वच्छ घूमने वाले पशु। ऊपर के कलश ऐसे जगन हैं जैसे पहाड़ के लम्ब, समतल पटपटे पर गुम्बट बाँधे हुए अचार और गिरनी के पड हैं। मृगनयनी आनन्द मग्न हो गई। मानसिंह ने देखा, उसके चहर पर जीवन का लावण्य और माना का सौंदर्य एक दूसरे से होठ में लगा लगा कर परस्पर घुल रहे हैं। (ज० ५६ पृ० ४०९)

ज० । की० म० र० । - । श्रु० । ह० । सी० भा० मु० ।

२७ नटराज प्रतिमा वर्णन (मूर्ति-कला)

नटराज की मूर्ति एक विकसित कमल पर रखी थी। गायानार कागज की पलुरिया से भरती हुई आमा का एक मण्डन बनाया गया था। उस मण्डन में मूर्ति के दोना ओर ली निवतनी हुई रची गई थी। मूर्ति जगभूत थी। एक हाथ हाथ में डमरू दूसरा बाँया हाथ चरण मुग्न में। अर्ध चाल चलता था, हाथ और पाँव आमा की ली छ रची थी। एक हाथ हाथ में अग्नि द्युग्न कागज। पाँवों में पद्म

एक बौने की ओर सकेत करता आगे वाले हाथ को, दूसरे पाश्व की ली छू रही थी। कमर म मणियो की करघनी। बंधे पर जनेऊ। एक कान म पुण्या का जसे कुण्डल। दूसरे मे स्त्रिया की जसी वाली। केशजूट म मुक्तामाला। एक लट् अलग झूलती झूलती हुई। एक जटा म साढे चार कुण्डलिया मारे हुए नाग। छोटा सा मुण्ड और गंगा का प्रतिबिम्ब और ऊपर चौथ का चन्द्रमा। शरीर के आधे भाग पर व्याघ्र चम।

(अ० ६०, पृ० ४१५)

स० सा। द० की० म०। ती०।। ह०। सौ० चा०। घ्या०।

### २८ भूकम्प वणन

सारी छावनी म वही लौट पीट मची हुई थी। हाथी थानो पर से साकलें तोड कर चिघाड रहे थे। घोडे विनविला रहे थे और आदमी लुडक-मुटक कर हाथ तौबा मचा रह रहे थे।

पहाडों से पथर टूट टूट कर ढट्टहाते हुए लुडक रहे थ। पेड जडा से उखड उखड कर चरटि के साथ गिर रह रहे। नदिया और सरोवरा के पानी म खनबली मच गई।

भूकम्प अपने प्रचण्ड वग पर था।

(अ० ६३, पृ० ४३८)

स्व० ग० च०।। भु०।। ली०।

### २९ भूकम्प वणन

'मानसिंह मानसिंह स गूजरीमहल को आ रहा था। चन्द्रमा के धुपने प्रकास म मान मरि दर ऐसा प्रतीत हुआ जैम घ्यानमग्न हा।

उमी समय गरगराहट सुनाई पडी। दोनो सुनने लगे गूजरीमहल बापने लगा। बदनवार बाने द्वार भूमन लग। ऊपर की सीधी गनी पहाणी के ऊपर सीधी दीवारें झूला सी झूलन लगा।

प्रलय जा रही है।—मानसिंह क म्ह से निवला। वे दाना एक दूसरे से उतके हुए गिर पडे। मानसिंह की आँवें मिच गइ। मृगनयनी की खुली थीं। दृष्टि स्थिर। आठ सट हुए। मुटिठियाँ कमी हुई। " भगवान की मुस्कान का घ्यान करिय

(अ० ६३ पृ० ४२६ ४०)

अ० स्व० ति० च०।। दा० ह०। ली० घ्या०।

### ३० दुग वणन (राई की गनी)

मानसिंह के उस तरफ मुठे ही मित्र-दर ने अटन की टुकनी को, राई गड म घेर निग। गनी ऊँची पहाणी की चोटी पर थी। उमके दाना ओर गहरी सोहें थी। पूव की ओर गाँव और, साक नदा का तरफ गठी ऊँचाई थी। दग्ग, उत्तर

और पूव इस प्रकार सुरक्षित थे, परन्तु पश्चिम की दिशा म गढी के नीचे भूमि बहुत नीची न थी । उसी यही दृढता के साथ सामना करने का निश्चय किया ।

(ज० ६६ पृ० ४५४)

वि० । । । । । - ।

३१ दुग वणन (राई गढी)

'गढी म इस ठिये के नीचे एक थडा पेड था । जिसकी गुम्मत जीर शाखें ऊपर तक जाई थी । इसकी छाया म व विमान पहरा देत देने मा उठे थे । लावी उत्सुकता के साथ वठ गई । थोडी देर बठी रह कर वह खडी हो गई । कगुरो के भरोयो म होकर नीचे की ओर देया । अतुल अघकार । निबिड वन का कोई भी अश नही दिखलाई पड रहा था । ऊपर तारे छिटके हुए थे । दूर की पहाडियां लम्बी ताने सोती सी जान पडती थी । टेढी तिरछी बहती हुई साक नदी की पतली रेखा, जरूर झाई सी मार रही थी । दूरी पर घेरा डालने वाली के डेर की आग सुलग-सुलग कर राई गढी के सक्ट को जगा जगा दे रही थी । वसे राई की डाग म नाहर इत्यादि जगली जानवर रात मे प्राय बोला करते थे, परन्तु आक्रमणकारियो की रोगरोगी के मारे के बहुत दूर खिसक गए थे । सिवाय भीगुरो की चीची के और कुछ नही सुनाई पडता था । सुनसान को छेदती हुई कभी-कभी गढी के भीतर जागते रहो जागते रहो ।' की पुकारें, सुनाई पड जाती थी ।

लासी को उन शूयवेधी पुकारो के ऊपर कगुरा के नीचे सघन अघकार के पट म, कुछ खरपरहट सुनाई पडी । दिखलाई ता कुछ पड नही रहा था ।

(अ० ६७, पृ० ४६२)

सा० वि स्व० नि० । द० । द० प्र० ती० । - । । ली० ।

३२ पात्र वणन (भृगनयनी) (श०)

भृगनयनी की अवस्था ढल रही थी । पर तु सौदय बढ रहा था । ऊपर का लावण्य स्थिर हो गया । भीतर का बन्ना हुआ सौदय जाला म छा गया ।

(ज० ७० पृ० ४७६)

सा० । - । यु० । शृ० । । सी० मा० ओ० ।

सर्वोत्कृष्ट प्रतीकाङ्कित वर्णन चयन

(मानिकरण पद्धति का तृतीय स्तर)

वणना क उपयुक्त सूनात्मक अङ्कन द्वारा, यह ज्ञात हुआ कि वणन सरया ६ ७, एक न अपनी कलात्मक विशिष्टताआ क कारण समग्र उपयास म, सर्वोत्कृष्ट है क्याकि उनके साकतिक अक्षर चि हा की सरया मा अमश २३ २२ तथा १८ है । अत इन तीना वणना को व्याख्यात्मक आलाचना के समुपयुक्त माना गया है ।



## व्याख्यात्मक आलोचना

(मानीकरण पद्धति का चतुर्थ स्तर)

'मृगनयना उपयास श्री टावालाल वमा के समग्र उपयास साहित्य म उपयाम-तत्त्व एव उसने वणनात्मक कला पक्ष दाना ही की दृष्टिसे श्रेष्ठ है। उसम भा कतिपय वणन, उप यास का विनोपतया साहित्यिक गरिमा प्रदान करते हैं। प्राय उपयास के प्रारम्भ से ही श्री वर्माजी ने अपनी उक्त विशिष्ट प्रतिभा का परिचय दिया है। प्रथम बीस क लगभग पृष्ठा मे (तीन अध्याया म) श्री वर्माजी ने उपयास की प्रधान नायिका निती के 'यत्तित्व' को एव जिस वातावरण मे वह अनुपम 'यत्तित्व' रूपायित हुआ है (था) उसका, अपनी कलामिमुख वणन प्रतिभा द्वारा, पाठक के समक्ष मजीव एव साक्षात् कर दिया है। स्वातियर राज्य की भावी गुजरी रानी मृगनयनी समस्त राजवश एव राजपुत्र म इसलिय साककथाजा की नायिका बन पाई, कयाकि उसका व्यक्तित्व प्रवृत्ति क उ मुक्त वातावरण म विकसित हुआ था।

निती का 'यत्तित्व' शाश्वत एव अग्निश्वर ग्रामीण सस्कृति की ही एक इकाई था जा जकास महामारी राज्य विप्लव की आधिया गुजर जान के बाद भी फिर वार वार लहनहा उठता है। वणन सख्या ५ म जिसकी जाय भूमिका है उ हा राइ नना क तटवर्ती खेत का निकटवर्ती बना तर स अग्नि न नाता है यह वणन सख्या ६ एव ७ म अंकित है। प्रवृत्ति बभब लीकिक जाधि याधियो से जहूना रहता है और वह मानव जाति से भी पुरातन है वह अजर अमर ह।

वणन सख्या ६ म हम उक्त दाना ही शाश्वत इकाइया क दशन होत है ग्रामाण सस्कृति एव प्रकृति बभब। इा दाना के ग्रीच जा नाम भाग का अ तर, सूय के तीव्र प्रकाश एव स्नि की मानपाय दीड धूप क वारण परिलक्षित भी हाता है, उस रात्रि का अंधकार हर लेता है एव उ ह चातनी का स्निग्ध प्रकाश एक समान चाँदी की चादर से, ढक लता है। ततो एव बनान्तर की यह अखिल सृष्टि एर रामानी एव धूमिल छवि धारण कर लती है। नि ना क मन से थाडा हा दूर वहन वाली नदी की धारा पर चन्द्रमा की रिपटनी हूइ भिलमिल एसी जान पडती थी माना चाँदा की चादरा क जावरा पर आवर चित्रचित्रा रहे हा ।

वणन सख्या ६ एव ७ एक प्रकार से एक ही कलाकार की तूलिका द्वारा चित्रित एक ही बन प्रदश की कुछ ही प टा क अनुराय म चित्रित दो चित्रपटिया ट जिनमे स प्रत्येक का अपना अपना, निता महत्व भी है एव वणन कला के पारखा क लिय उन दानो म, तुलनात्मक साम्य बपम्य भी है। जब पहल वणन सख्या ६ म अंकित चित्रपटी पर दृष्टिक्षेप करें।

वणन की वण्य वस्तु खना म लेकर पवत शिखर तक फली हुई है। उसका क्रम इस भाति ह—खेत नगी का धारा निकटवर्ती जगल, लम्बजय वृथो की लम्बी दूर

तक चली जा रही पक्ति, जो रह रह कर पवन के बकोरो से सनसना उठती है। उनकी गहन जपेरी छाया म, सांमरो और चीतलो की प्रस्त दौड खरमराहट और कमी तीक्ष्ण और कमी मन्द पुकारें, और सबके पीछे ऊँची पवत माता।

उक्त चित्रात्मक, त्रि-तु सजीव वर्णन, रगा एव तुलिका की वृत्ति मान ही नहीं है, बरन साथ ही वह गतिमान, शब्दायमान एव चलायमान नश प्रवृत्ति के श्वास प्रश्वास से युक्त भी है। यही उपायासकार की चित्रकार पर निर्विवाद महत्ता है।

लखक ने अपन इस दुप्कर बना सजन के लिये, विशिष्ट प्रतीकात्मक शब्दावली एव वाक्यावली का उपयोग किया है जिनके द्वारा वह अपने वर्णन को, यथायथा के अतिरिक्त सप्राणता एव सजीवता प्रदान करने म भी समर्थ हुआ है— यथा चन्द्रमा की रिपटती हुई झिलमिल चाँदी की चादरो के जावरा पर आवर लहरो की कलकल— साका पर नाचती खेलती हुई हरी पत्तियां पर ओसकण, चमक पर बिखर-बिखर जा रह थे, दृशो के बड़े बड़े पल्लवा को खरमरा-खरमरा कर, पवन मानो किसी दूर दश को चला जा रहा था, कमी सनसनाहट और कमी सडसडाहट, इन्ही ध्वनियां म होकर कमी तीक्ष्ण और कमी मन्द पुकारें।

उक्त शब्दावली एव वाक्यावली एक सागोपाग एव सर्वांगीण वर्णन की परिचायक है। रूप, रस, स्पश ध्वनि आदि विविध ज्ञान अनुभूतियों क प्रतीक शाब्दिक इगितो द्वारा लखक, चाँदनी से प्रकाशित पहले प्रहरो म, रात्रिकालीन बनान्तर को, साक्षात् प्रस्तुत करन म सफल हुआ है।

निकटवर्ती जगल क पवन किसी दूर दश को चला जा रहा था उक्त वाक्य म, लेखक न जपनी दृश्यपटी को, सुदूर विस्तार प्रदान करन म सफलता पाई है। साथ ही बनान्तरगत शब्दायमानता के विविध पक्षा को पृथक पृथक लक्षित करन म भी लखक का सफलता मिली है यथा— सनसनाहट शब्द स पेडा क शिखरा म हाकर कामल पत्ता को आ दालित करत हुए, वायु वेग का सूचित किया गया है तथा सडसडाहट द्वारा, अपेक्षावृत्त कठारता लिये हुए मत्ता टहनियां तथा ककरीली पग ढटियां पर दौडत हुए सांमरो एव चीतला आदि बन-जंतुओ का चित्र समुपस्थित हो उठता है। इसी भांति कमी तीक्ष्ण और कमी मन्द पुकारा स बन जंतुओ का निकटता और दूरी का अनुभव हाता है। छोटी छोटी सी आडी-सीधी लहरें पहन पहन सेती था। स यह यक्त होता है कि उस समय तक, बनान्तर, स्तब्ध एव शांत नहीं था और जल थल समी म, चंचलता एव आन्दोलन समुपस्थित था, जो वर्णन सख्या ७ का तुलना म प्रेक्षणीय है।

कला सृजन का एक मुख्य अमिप्राय यह है कि प्रेक्षक अथवा पाठक को उसके अतिसाधारण एव अमिप्राय यथावहारिक जगत एव उसकी विविध विचिन्ताओं स हठात विलग करके अपने स्वकीय रस विश्व मे ले जाय, जो सदब आनंद स्रोत एव रसात्मक बना रहता है। उक्त वर्णन द्वारा लेखक को इस अमिप्राय म पर्याप्त

सफलता मिली है। मसि एव लेगनी व माध्यम द्वारा, एक अनुपम रोमानी सृष्टि वा यलात्मक नवसजन सगव की रमणिकता वा परिभाषक है। बहू पाटा की मनोगत कलापरक सूक्ष्म उदभावाशा वा गगन करन म समथ हुआ है जिनस प्रेरित हाजर, पाठन अपन निजी जावन व तादृश पूर्वानुभवा व श्रुतिकारा की सहामता से, नेसक द्वारा शिद्धित वातावरण के, साक्षात दशन पर पाता है।

वणन सख्या ७ को बस्तु वणन सरया ६ के मिलमिले म ही पढा जाना उचित है। यथापि गरी एव आर लम्ब ने वणन सख्या ६ म ही वर्णित एव निगिा, वण्य भूमि वा ही, एक दूगरा गितु भिा व श्यपट प्रस्तुा रिया है, वही उसन उसम अपनी कलाभूति की सूक्ष्मता द्वारा, वणिपय गवीन तत्वा रगा एव ध्वनियो वा भी समावश किया है। किन्तु इस दृश्यपट वा विभिन करन वा मुन्न अमिप्राय बुद्ध भीर ही है जिनके कारण कि इस वणन का अपना निजी विनिष्ट महत्व है।

उवन वणन रागि-वालीा वातावर वा स्त-धावस्था वा एक अनुठा श-चित्र है जो स्वय वमाजी व जागामा म जयत्र दुलम है। वणन सख्या ६ के समान नशत्रन प्रकृति के सूचक वणन ती आ वमाजी, एव अय उप-यासकारो की कृतिया म भी मिल जात है किन्तु त्रिम सूक्ष्म निरीक्षण एव श-एव वाक्यो व ठीक नये-तुले प्रयाग दाा, लेगक प्रस्तुन वणन म नश प्रकृति की गहन गम्भीर स्त-धता व क्षणों वा बांध सवने म समथ हुआ है वट मूल वणन के पाठ द्वारा ही यथातथ्य रूप म अनुभाव्य है।

लेखक ग, पवन के धीरे धीरे म-पडने की सूक्ष्म प्रक्रिया व उल्लेख द्वारा इस वणन का प्रारम्भ किया है। जिस धीमी धीमी गति से पवन म-द पडता गया, उसी के अनुरूप नदी की लहरो के अङ्गुष्ठन भी छोटे पडते गए तथा आवरो पर आवरो वाली चाँदी की चारों पवा व धीरे धीरे म-द पडने से तनने लग गई। तभी खेत के झूमने वाले पीघो की नतन गति हलकी पडनी गई जब तक कि वह इनको म-द न हो गई कि वह निद्रावस्था निगमन से जान पडन लगी। वन के ऊचे वृक्षा का खरखर ध्वनि भी, धीरे धीरे व-हा गई।

लेखक ने आग चल कर जा दृश्य पट उपस्थित किया है उसक द्वारा श-दा लखन के अतक अमिप्राय मिद्ध हुए हैं यथा दृश्यपट वा विशाल विस्तार प्रदान करना, एव अनस्पति एव नश प्रकृति की जात्मा की त-द्रावस्था का यत्नाकरण। नदी की जलधारा मां वायु व धम जान स तरपायित नही रही अतएव अब वह, झिलमिलाना ब-करक, माना एक दूर तक बिटाए हुए चांग व गाट की चौड़ी पट्टी जसी दीख पडो लगी। यह रजत तार दृश्यपट की अग्रभूमि म खेंकी गई है जोर उसन पीछे छाटी छोटा पहाडिया और टकरिया आलेखित की गई है जोर उन मभी के पीछे एक ऊँचा पवत शिखर उनीदा सा शितिज की शीप सीमा बना रहा है। शितिज क ऊपर रात्रि के ढलत हुए प्रहरो के चाद (जिसकी दूरा जस्तामिमुष हान के कारण, शिखर स कम हाती जाती है) का दसकर ऐसा जान पडता है मानो

वह पवत शृंग अपने धूमिल नेत्रों में उसकी ज्योत्स्ना को, भर लेना चाहता है। शिखर की निद्रित अवस्था का सूचित करन के लिये उस 'धुँएँ का स्थिर पुञ्ज सा बताया गया है। इस ऊँची पहाड़ी के भी जार जाग एक उससे भी ऊँचा पहाड़ गगन में सिर ऊचा किए खड़ा है जा चाद का अपनी धार बुलाता सा जान पड़ता है।

मानो वन प्रकृति की उक्त नैश स्त घना का दृश्यपटीकृत करन स लखक का सताप नहीं हुआ, जतएव उस रानि की स्तब्धता का और अधिक गहराई देने के त्रिय, अपने वण पात्र जीर तूलिका का रख कर, नाद का आश्रय लेना पडा। इस अग्निप्राय के अथ उस पत्तारी की रह रह कर टी टी चीं चीं का सहारा लेना पडा। पर फिर भी, 'न तो चादनी हो विचलित हा रही थी और न पवन के ऊँचे शिखर का ध्यान हा।'

इतना सब कर लेने के पश्चात् लेखक का ध्यान अपने उपादान की नायिका निम्नी पर गया, जो मचान पर बठी हुई अपने खेत की रखवाली करन के लिये जाग रही थी। मानो इस समय प्रकृति की महानिद्रा के दृश्य न उसे इतना मन मुग्ध कर दिया था कि उसकी नींद न जान कहीं उड गई थी। और वह उस जागरण म भी एक अनिवचनीय आनन्द का अनुभव कर रही थी। वस्तुतः वर्णनात्मक-कला द्वारा रस मिद्धि का, यही चरम स्थल है, जिसका कि लेखक ने जाग चल कर नि नी के मुख से ही उग प्रसिद्ध लोकगीत की टेक गवा कर व्यक्त कराया है जो उस क्षण में, उसके अन्तमन म सहसा ही गूज उठी थी।

नि नी की मत्र मुग्ध दृष्टि कभी अपने खेत की ऊँघती हुई बाला पर जानी था कभी नदी के रजत रिबन पर कभी दूरवर्ती धूमिल पहाड़ पर, और कभी निकटवर्ती पहाड़ के शिखर पर।

उक्त वर्णन सख्या ६ एवं वर्णन सख्या ७ के वर्णन युगल में उठाई गई प्रेतिकाओं के गूढ अर्थ का, लेखक ने वर्णन सख्या ८ द्वारा सुलभाया है जब कि निनी न अपने जीवन के उस चिरस्मरणीय जागरण क्षण म पाए हुए बनावर प्रकृति के उक्त मत्रमुग्धकारा स्तब्ध एवं भययुक्त आसक्ति (मक्ति) जगान वाले दशन को, चिरस्थायी बनान की सबप्रथम अमिलापा की थी। आम चल कर वही, उपादान के चरम सामास्यल गूजरी महल के रूप म साक्षात् हा पाया।

उक्त वर्णन, उपादानगत सनात्मक वर्णना म, अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। बहुत अशा म व नशा, वन, पवन के रात्रि-कालीन वातावरण का साक्षात् करने म सफल हुए हैं।

वस्तु वर्णन की आयाजना की दृष्टि स हम इस चित्रात्मक वर्णन कह सकत हैं किन्तु चित्रात्मकता का मना इन भाति के वर्णना का, सम्पूर्ण रूप स समावेश नहीं कर पाता। वर्णन म चित्रात्मकता के माय ही साथ रूप तत्व गति-व्यति, नाश, रस, तत्वा के प्रताकात्मक शक्ति एवं वाक्यों द्वारा लेखक ने समग्र बनावर-वातावरण, को हा सजीवना प्रदान कर दी है।

सफलता मिली है। मसि एव लेखनी के माध्यम द्वारा, एक अनुपम रोमानी सृष्टि का बलात्मक नवसजा, लयायी रमणमिदता का परिणायक है। वह पाठक की मनागत बलापरक सूक्ष्म उद्भावनाओं का जाग्रत करने में समर्थ हुआ है जिनका प्रेरित हानर, पाठक अपने निजी जीवन में तादृश पूर्वानुभवा के रमणिकाश की सहायता से, लेखक द्वारा वादित वातावरण के साक्षात् दर्शन कर पाता है।

घणन सरया ७ को वस्तुन घणन सरया ६ के मिलसिले में ही पढा जाना उचित है। यद्यपि जहाँ एक ओर सरया ७ में ही वर्णित एव चित्रित, वण्य भूमि का ही एक दूसरा चित्रण भी दृश्यपट प्रस्तुत किया है वहाँ उससे उत्तम अपनी बलानुभूति की सूक्ष्मता द्वारा कतिपय नवीन तत्वों रणा एक ध्वनिया का भी समावेश किया है। किन्तु इस दृश्यपट को चित्रित करना का मुख्य अभिप्राय, कुछ और ही है जिम्मे कारण कि इस वर्णन का अपना निजी विशिष्ट महत्व है।

उक्त वर्णन, रात्रि-वाली बनावट का स्त घावस्था का एक अनूठा चित्र है जो स्वयं बमोजी के उप-यासा में जयन्त दुलम है। घणन सरया ६ के समान नशवन प्रकृति के सूचक वर्णन तो श्री बमोजी एव जय उप-यासकारों की कृतिया में भी मिल जाते हैं किन्तु जिस सूक्ष्म निरीक्षण एव शब्दा एव वाक्या की ठीक नपे-तुले प्रयोग द्वारा, लेखक प्रस्तुत वर्णन में नश प्रकृति की गहन गम्भीर स्त घात के क्षणों को बाध करने में समर्थ हुआ है वह मूल वर्णन के पाठ द्वारा ही यथातथ्य रूप में अनुभाय है।

लेखक ने, पवन के धीरे धीरे मन्द पडने की सूक्ष्म प्रक्रिया के उल्लेख द्वारा इस घणन का प्रारम्भ किया है। जिस धीमी धीमी गति से पवन मन्द पडता गया, उसी के अनुस्वरुप नदी की लहरों के त्रिगुण्ठन भी छोटे पडते गए तथा जावरो पर जावरो वाली चादी की चादरों पवा के धीरे धीरे मन्द पडने से तनने लग गई। तभी खेत के भूमने वाले पीछा की नतन गति हलकी पडनी गई जब तक कि वह इतनी मन्द न हो गई कि वह निद्रावस्था निम्न सी जान पडने लगी। वन के ऊंच वृक्षा की खरखर ध्वनि भी, धीरे धीरे बन्द हो गई।

लेखक ने आम चल कर जो दृश्यपट उपस्थित किया है उसका द्वारा शब्द लेखन के अनेक अभिप्राय सिद्ध हुए हैं यथा दृश्यपट का विशाल विस्तार प्रदान करना एव वनस्पति एव नश प्रकृति की जात्मा की तन्द्रावस्था का यत्नाकरण। नदी की जलधारा भी वायु के समान जान स तरंगयित नहीं रही जतएव जब वह झिलमिलाना बन्द करके माना एक दूर तक बिछाए हुए चादी के गाटे की चौड़ी पट्टी जसा दीख पाने लगी। यह रजत लहर, दृश्यपट की अग्रभूमि में खेंची गई है और उसके पीछे एक ऊंचा पवत शिखर उनीचा सा क्षितिज की शीप सीमा बना रहा है। क्षितिज के ऊपर रात्रि के डगते हुए प्रहरो के चाद (जिसकी दूरी जस्तानिमुष हान के कारण शिखर से कम हाता जाती है) का दण्डकर एसा जान पडता है मानो

वह पवत शृंग अपने घूमिल नेत्रों में उसकी ज्योत्स्ना को भर लेना चाहता है । शिखर की निद्रित अवस्था को सूचित करन के लिये उसे दुर्बल का स्थिर पुञ्ज सा बताया गया है । इस ऊँची पहाड़ के भी और जाग एव उससे भी ऊँचा पहाड़ गगन म सिर उचा किए पड़ा है जा चाद को अपनी ओर बुलाता सा जान पड़ता है ।

मानो वन प्रकृति की उक्त नश स्तब्धता को दृश्यपटीकृत करन स लखक को सताप नहीं हुआ जतएव उसे रात्रि की स्तब्धता का जीर अधिक गहराई देने के लिये अपने वर्ण पात्र जीर तूलिका का रख कर नाद का आश्रय लेना पड़ा । इस अभिप्राय के अर्थ उसे पनासी की रह रह कर टी टी ची ची का सहारा लेना पड़ा । पर फिर भी, न तो चादनी ही विवर्लित हो रही थी और न पवन के ऊँचे शिखर का ध्यान ही ।

इतना सब कर लेने क पश्चात लेखक का ध्यान अपन उपयास की नायिका निनी पर गया, जो मचान पर बठी हुई अपन श्वेत की रगधाली करने के लिये जाग रही थी । माना इस समग्र प्रकृति की महानिद्रा क दृश्य न उस इतना मत्र मुग्ध कर दिया था कि उसकी नींद न जान कहा उड़ गई थी ' और वह उस जागरण म भी एक अनिवचनीय आनन्द का अनुभव कर रही थी । वस्तुन वर्णनात्मक कला द्वारा रस सिद्धि का यही चरमस्थल है, जिसका कि लेखक ने आगे चल कर निनी के मुख से हा उम प्रसिद्ध लाकगीत की टक गवा कर व्यक्त कराया है जो उस क्षण म, उसके अन्तमन म सहसा ही गूज उठी थी ।

निनी की मत्र मुग्ध दृष्टि कभी जपन श्वेत की ऊँघती हुई बाला पर जाना थी, कभी नश के रजत रिखन पर कभी दूरवर्ती घूमिल पहाड़ पर, और कभी निकटवर्ती पहाड़ के शिखर पर ।

उक्त वर्णन सरया ६ एव वर्णन सरया ७ के वर्णन युगल मे उठाई गई प्रहेलिकाओं के गूढ़ अर्थ का, लेखक न वर्णन सरया ८ द्वारा सुनभाया है, जब कि निनी न अपन जीवन के उस चिरस्मरणीय जागरण क्षण म पाए हुए बनाउर प्रकृति क उक्त मत्रमुग्धकारा स्तब्ध एव भयमुक्त आसक्ति (मविन) जगान बाल दान का चिरस्पायी बनान की, सबप्रथम अभिलाषा की थी । जाग चल कर वही उपयास क चरम सामास्थल, गूजरी महल के रूप म, साक्षात् हा पाया ।

उक्त वर्णन उपयासगत मनात्मक वर्णना म, अपना विविध महत्व रखती है । बहुत अशा म व नती वन पवन क रात्रि-बालान वातावरण का साक्षात् दर्शन स सापन हुए है ।

वस्तु-वर्णन की आयाजना की दृष्टि स हम उस चित्रात्मक वर्णन को महत्त्व देते हैं किन्तु चित्रात्मकता की मना द्य भानि क वर्णना का मुख्य अर्थ न ही नहा कर पानी । वर्णन म चित्रात्मकता के साथ हा साथ ही सत्यता का ध्यान रखा, तत्वा क प्रतीकारमन दृष्ट्या एव वाक्या द्वारा वर्णन समग्र वर्णन की ही सजीवता प्रधान कर ती है ।

वणन म प्रयुक्त निम्न शब्द एव वायव्य वादित प्रभाव उत्पन्न करने म सफल हुए—भिलमिल, आवरे लकड़ोरे पतकल, रारभराना, सनसनाहट, सडसनाहट आदि, चाँदी की चादरें आवरा पर आवरे । च द्रमा की रिपटती हुई भिलमिल जान पन्ती थी, मानी चादी की चादरो व, आवरा पर आवरे, चिलचिला रहे हा” ‘छाटी छोटी छाडी सीधी लहरें उठ इन आवरा को पतन पहा लेती थी ।’ लहरा की कलकल शोको पर नाचती भेलती हुई अधपकी बाला को अपनी कोमत अँगुलियो से तिला सा रही थी । पवन मान किसी दूर दश को चला जा रहा था आदि ।

अक्षर माकतिक सूत्र नालिका की उपयुक्त “यावहारिक” मानीकरण पद्धति की विविध प्रायोगिक प्रतिर्याशा को यहाँ केवल एक श्रेष्ठ हिंदी उप-यास मृगनयना को आधार बना कर समझाया गया है । प्रस्तुत अध्याय की परिसीमाओ का ध्यान रखत हुए यह सम्भाव्य नहीं है कि हिंदी के अनकानक अर्थ श्रेष्ठ उप-यासो से कुछ विशिष्ट चुने हुए वणना की भी उपयुक्त पद्धति द्वारा “यावहारिक” परीक्षा की जाये । अत इसी अध्याय के अंत म एक पृथक परिशिष्ट म कुछ सनात्मक तथा कला वैभव समृद्ध वणनो की माताकरण समीक्षा दी जा रही है । ये वणन प्रेमचंद काल (सन १९०४ ई०—१९३६ ई०) तथा प्रमचंदोत्तर काल (सन १९३७—सन १९६७ ई०) दोनो ही म रचे गये कुछ श्रेष्ठ हिंदी उप-यासो से चुके गये हैं । और व पर्याप्त अशो म हिंदी उप-यास की वणनकलागत रमणीयता के द्योतक हैं । इनम से कोई भी वणन ऐसा नहीं है जिसे प्रस्तुत ग्रंथ म अर्थत्र उद्धृत किया गया हा ।

## अध्याय ३ का परिशिष्ट

उपपात सख्या १, वणन सरया १

मह वरस कर जाकाश स्वच्छ हो गया । दोपहर के ढल जाने से घाम पीली पन्न लगी है । आकाश म अब बादल का एक टुकडा भी नहीं रहा है । हरे हरे पडो पर पीली-पीली धूप पड कर एक नय प्रकार क रग की परछाई डाल रही है । घास पात और लता पौधा से भूमि हरी होकर हरी मखमल का फरा सा बिछा हुआ मालूम जाना है । हरियाली फरा पर जगली बेला के रग विरग पुष्प, ऐसे मालूम हाते हैं रेशमी फरा, जगह जगह कडे हुए हा । परम वदनाथ, -वृष्णप्रिया, भगवती यमुना मे, मयङ्कर बाढ आ रही है यमुनाजी की तरल धारा से, किनारे ने करार, कट कट कर जल म गिरते और न जाने, एक ही क्षण म कहा चले जा रह है । यमुना तट क बडे बडे वृक्ष टूट टूट कर ज ड ड ड ड ड ड शब्द करते हुए, प्रवाह की शरण ले रह है । मगर जीर धडियाल बार बार, बहती हुई यमुना म सिर उठा कर, इधर उधर का दृश्य देखने क बाद, गात लगान जीर फिर बाहर निकल आत हैं । जल पक्षी यमुनाजी म तम्ने की उत्कट इच्छा होने पर भी प्रवाह का बग देख कर किनार पर बठ बठे टक्की लगा रह हैं । पाडु-व पक्षी इस आगा म पे पर बठे हैं कि, थोडी देर म जन का तरल शक्ति शात हो, तो हम मछली मारन का अवसर मिल । इसी उद्देश्य स बगुला भगत किनार पर एक एक टाग पर लखे-लखे तपस्या कर रहे है । पटा पर बठे हुए मारा न म्यात्रा-म्यात्रा की मुहावनी मीठी आलाप लगा कर उन जीवो को डरान पर कमर बाधी है जा पानी उतरने की राह दख रह है ।'

(बाढ-वणन) (प्रा०)

व०—मा० स स्व० ग० च० । वृ०—द० की० । श०—आ० वृ० प्र० श० ।  
रस—भु० । ति०—आ । नु० चा० ।

२२ 'सूय भगवान अस्त हान के लिय उनावला कर रह है और अपनी लालिमा को अपने स्थान पर छा जाने की इच्छा करते ह परतु नहीं वह लालिमा,

१ आत्तग सम्पत्ति (प० लज्जाराम शमा महता) प्रथम प्रकाशन १९०४ ई० ।  
प० सेमराज श्रीवृष्णनास बम्बई । अध्याय २६ पृष्ठ १२८ १२९



जो सध्या हान के पुत्र पढ़ते ही उनकी सेवा में उपस्थित होती है उका अनुकरण कर रही है और सार छाटता गरी चाहती। उस समय द्रव्य की उस निलिस्फी घाटी की कुछ विविध ही शोभा हो रही है। पहाटी की चाटा पर तालिमा की एक सुनहरी लकीर इस प्रकार की खिच गई है, माना मूय भगवान न इस वान पहाड की साने का मनोपवीत पहिरा लिया है जिसे देव चारा तरफ के गुलबूटे बहुत ही प्रसन्न हो रहे हैं।<sup>१</sup>

(संघ्या-वर्णन) (प्रा०)

४०—अ० स । वृ०—छ० की० । श०—आ० वृ० पग० । रस—भु० ।

३३ चमकता हुआ सूरज पच्छिम आर आकाश में, धीरे धीरे डूब रहा है। धीरे ही धीरे उसका चमकीला उजवा रंग लाल हो रहा है। नील आकाश में हलक लाल बादल चारों ओर छूट रहे हैं। और पहाड की ऊँची उजली चोटियों पर एक फीकी लाल, जोत सी फल गई है। जा घर की मुठेरा के ऊपर उठनी हुई घूप की पकड कर, किसी ने लाल रंग में रंग दिया है तो पेड़ों की हरी हरी पत्तियां पर भी साली की वह झलक है जो दलन से काम रमती है। लाल फूलों का लाल रंग, ही ओमर पाकर चटकीला नहीं हो गया। पीले चारूनीले फूलों, में भी ललाई की छीटसी पड गई है। नदी का हरी हरी दूबा, नदी, ताम्बाक पोखरा की उठती हुई छोटी छोटी लहरो बलबूटा और झालिया की गोम में छिपी हुई एक एक पत्तियों तक में ललाई अपना रंग दिगमला रही है। जान पड़ता है सारे जग पर एक हलकी लाल चांदनी सी तन गई है।<sup>१</sup>

(संघ्या-वर्णन) (प्रा०)

४०—सा० स । वृ०—द० द० की० म० । श०—आ० यु० वृ० प्र० श० प० ती० प्र० नि० । रस—भु० । ति०—ग० ह० । नु०—सी० चा० मा० मु० ।

४४ भागारथी के निमल जल पर प्रभात का शीतल पवन बालकों के ममान खेल रहा था—छोटी छोटी लहरिया के धरोदें बनते बिगडते थे। उस पार के वृक्षों की श्रणी के ऊपर एक भारी चमकीला जोर पीला बिम्ब था। रेत में उसका पीली छाया सुनहला रंग उडत हुए परिक्षयो के झुण्ड से आत्रात हो जाता था। (यमुना बजरे की सिटकी में से एकटक इस दृश्य को देख रही थी। जोर छत पर से मंगलदेव उसकी लम्बा उँगलिया से धारा का बटना देख रहा था।) बजरा धारा पर बह रहा था। प्रकृति चितेरी ससार का नया चित्र बनाने के लिये गंगा के ईपत नील जल में सफेदा मिला रही थी। घूप बडा हा चली थी।

१ 'भूतनाथ भाग १ (श्री देवकीनन्दन खत्री) प्रथम प्रकाशन १९०६ इ० । छठवाँ हिस्सा, ग्यारहवाँ अध्याय पृ० ७७ (लहरी बुक डिपो, बनारस) ।

२ 'अधिलला पुन' (श्री अयाय्यासिंह उपाध्याय हरिओध) सातवीं पलखी—पृष्ठ ७७ ७८ प्रथम प्रकाशन १९०७ इ० । प्र० खन्गविलास प्रेस, बाकीपुर, पटना ।

गगा की विस्तृत जलधारा के ऊपर सूर्य की उज्ज्वल किरणों का चिम्ब जैसे रात के तारा की पृथ्वी जलती जाह्नवी के शीतल वक्ष पर तो ने बिघेर दी हो ।

पीछे निजम बालू का द्वीप और सामने दूर पर नगर की सौध श्रेणी, यमुना आँखा में निश्चेष्ट कुतूहल का कारण बन गई । (गगा वणन) (प्रा०)

व०—अ० वि० स ग० । वृ०—की० । शं०—प्र० आ० । सि० दा० ।

मा० ।

५५ "रात्रि में यहाँ खड़े होकर चारों ओर दलने से, नीचे से ऊपर, अधिक र, बहुत बड़ी ऊँचाई तक आपको प्रकाश दिखाई पड़ेगा । मालूम होगा कि आप की पर खड़े है और अनेक ग्रहों के निगासी अपने अपने लोक में प्रकाश कर रहे बात यह है कि पहाड़ पर जहाँ जिसको मौका मिला बाठियाँ बना ली । पर्वत की गोठ में छुपे हुए वे छाटे गटे मयन आपके बड़े बड़े महलों से उड़े लगते हैं धूप निकली हुई है लेकिन अचानक बादल घिर जाते हैं । मन्द-पुहारों बरस कर चल देते हैं । ननीताल में नौकाएँ नाच रही हैं और मोद पूण युवक युवती हँसते खेचते खेते चल जाते हैं ।"

ननीताल (प्रा०) (विहगम दृश्य)

व०—अ० । वृ०—की० । शं०—आ० वृ० । रस—भु० । नु०—सी० चा०

० मु० ।

६६ ' गगातट व दूब के घडाके से मुपरित हो गया । वज्रों कुतूहल से भोपनी याहर चली आई । वहाँ एक घिरा हुआ मदान था । कई शीघा की समतल भूमि मके चारों ओर, दमलण्डे की चौकी, भाडिया की दीवार थी जिसमें कितने ही सिरिस आ, नीम और जामुन के वृक्ष थे —जिन पर घुगची सनावर और करञ्ज इत्यादि लतरें झूट रही थी । नीचे की भूमि में मन्स के चौड़े चौड़े पत्ता की हरियाली । बीच बीच में बनपेर न भी अपनी कंगाली टाओं को इट्टी सवो से उलथा या था ।

' वह एक सघन भुरमुट था जिसे बाहर से देख कर यह अनुमान करना कठिन है, कि इसके भीतर इतना लम्बा चौडा समतल मदान हो सकता है ।

देहात के मुख आकाश में, थ वकार धीरे धीरे फन रहा था । अभी मूय अस्तकालीन सान्निमा आकाश के उच्च प्रेशेन में स्थित पतले बादलों में गुलाबी रमा दे रही थी ।

'कनाल' (जयशकर प्रसाद) प्र० प्र० १९१९ ई० । खण्ड १ अध्याय ७, पृ० ८७ ८८ । भारती मण्डार प्रयाग ।

'कल्याणी' (मदन द्विवेदी गजपुरी) प्रथम प्रकाशन १९२० ई० । अध्याय १४, पृ० २१९ । प्रकाशक सरस्वती प्रथमाला कार्यालय, बेलनगज, आगरा ।

[“वज्र का बंदूक का शब्द सुन कर बाहर तो आई, परन्तु वह एकटक उसी गुलाबी आकाश को देखने लगा।] काली रेगाआ से मयमोत बराकुल पक्षियों की पत्तियाँ करररर—कर करती हुई सान्या की उस शांत चित्रपटों के अनुगम पर कालिमा केरने लगी थी।”

सध्या वणन (प्रा०)

व०—स स्व० ग० । वृ०—छ० द० । शं०—वृ० प्र० प० ती० ।  
रस—भु० । सि०—दा० । नु०—सौ० चा० भा० मु० ।

७७ गंगा के उत्तर-तट पर दत्तमऊ महानगर धवल धामा के मयूख दल वाले विशाल पुष्प जसा गिला हुआ है। ऊपर बसंत की दिग्गत यूपिनी ज्योत्स्ना प्लाविन हो रही है—वसन्त के समय साक्षात् लक्ष्मी की स्नेह दृष्टि जैसी। माना की गोद पर शिशु जगा शहर सुख की मृदुल छाँह में बाहें खोले ऊँच दृग हा रहा है। कल कल हासिनी स्वच्छ जल वाहिनी जाह्लवी एक ध्वनि के अनेक ज्यों की ओर इंगित करती हुई, तरंगित हा रही है। वस जब गौरव को न समझने वा साधारण पुरपा के चरणा पर चढ़ी पुष्पाञ्जलि से जैसे अनेक घाट युक्त हो रहे हैं। अनेक भावा से क्षुब्ध जीवन प्रवाह में ऐसी ही बहती रहने की मधुर इच्छा लिय हिलत हलके हृदय वाली वाहिकाएँ भी के दीपक जला जलाकर गंगा वक्ष पर प्रवाहित कर रही हैं। नगर के अगणित मंदिरों से साध्य जारती के मृदग मुग्ज मञ्जीरादिका रव दूर प्रात तक के हृदय को ध्वनित कर रहा है। यवसाय देव दशन और स्वास्थ्य लाभदि अनेक कारणों से आये हुए जा रहिया का लिय, नावें सध्या की इस अपार शांति में लीन हैं। पश्चिम जा विशाल दुग नगर की रक्षा का मार लिये सक्षम सेनापति जसा खडा है। वहा से दूर तक फली गंगा की विपुल नील शाभा पार्थिव ऐश्वर्य के प्रिय जड जाल से जैसे चिन्काल के लिए प्राणी का बाध लेती है।”

गंगातट वणन (प्रा० न०)

व०—स० सा० म्व० ग० च० । वृ०—य० छ० वि० की । शं०—भा० वृ०  
प्र० शं० ती० । सि०—टा० ह० । नु०—सौ० चा० भा० मु० ।

८८ इरावती चिल्ला कर पीछे हटी गिरी और मूँछिन हो गई।

टीक उसी समय क्या है? कहती हुई कालिदी बहा आ कर गयी हो गई।

कालि की के चरणा में अनक्तक जोर नूपुर—राग जोर सगीत बिसेर रहे थे। काशी का बना स्वर्ण तारो से राचिन, नाला नहगा जिसके ऊपर मेखला की

१ 'नितली (श्री जयशंकर प्रसाद) प्रथम प्रकाशन १९३३ इ० खण्ड १ परिच्छेद १, पृ० १० भारतीय भण्डार प्रयाग ।

२ प्रभावती (सूयवात्त निपाठी निराला) प्रथम प्रकाशन १९३६, अध्याय २, पृ० १५ १७ । प्र० कृताव महन प्रयाग ।

सतलडी विश्रुखल हो रही थी। मणिजटित, कुज पट्ट उमरे हुए वक्षस्थल पर, पीछे बधा था। मरवत का हार अपनी हरियाली की छाया, उस बम्बु कण्ठ पर डाल रहा था जिम्मे दोनो ओर दो बड़े बड़े मोती लटक रहे थे। जधरा पर ताम्बूल राग खिला पढता था। अपाग मे नीलाजन वो रेखा धुधराली वेणी के ऊपर एक महीन उत्तरीय। एक हाथ म कुसुमस्तवक दूसरा गुज के द्वार पर। मादन चित्र। सम्राट जैसे अप्रतिम हो रहे थे। "यह रूप। मेरे ही अन्तपुर म।"

कालिन्दी की दुबल काया, उसके लावण्य मे छट्टि कर रही थी। बहूय के कवण स किरणें निकल रही थी। कालिन्दी अपने नील वसन म आकाश मे चादनी सी खिल रही थी। विच्छिद्रतिपूण शृंगार, कला की सृष्टि कर रहा था।"

(साज सज्जा) (रूप वर्णन) (श०)

व०—सा स। वृ०—छ० द०। श०—आ० प्र० प० पग०। रस०—शृ०।  
ति उ०। नु०। सौ०। चा०। जी०। मु०।

६६ सभ्या होने लगी—पथ पर दोनो ओर लग बृशो की लम्बी लम्बी छायाएँ पड रही थीं। जब समुद्र का गम्भीर नाद सुन पडने लगा तब सभ्या हो चुकी थी और आकाश मे लालिमा अधिक घनी होकर ज्यातिहीन होन लगी थी।

थोड़ी देर म तट पर पहुँच कर एक चट्टानकी आड म समतल रेत पर बैठ कर सहारा की ओर देखने लग। देतते देखते आकाश मे सभ्या का अन्तिम प्रकाश भी बुझ गया।

पवन के निश्चल होने पर भी समुद्र मे एक गहरा असंतोष सा था। केनिल लहरें दूर म भागी हुई नहीं आ रही थी। लेकिन दूर केनहीन हलचल थी। और तट के पास पास निरन्तर केन का असे कराह उबल रहा था, फुफकार रहा था घड रहा था। जीर जाने कहां से वह विशाल गम्भीर घोष सा हो रहा था लहरा के स्वर से अधिक भारी घोर।

उस दिन पूर्णिमा था और समुद्र के पार पूव म चन्द्रोदय होने वाला था। उसकी अगुवानी करने को एक अकेला बादल, चारा ओर एक चाँदी की भातर से विभूषित, क्षितिज पर खडा था और उसके पीछे शीघ्र प्रगट होने वाली किसी अभूत-पुत्र सौम्य राशि की आत्मा जाग फूटी पडती थी।"

(मागर वर्णन) (प्रा )

व०—म०। सा०। स स्व०। ग०। च०। क०—य०। छ०। अ०। म०। शै—  
यु०। दृ०। प्र०। ती०। प्रनि०। रस०—भु०। सि०—ग०। ह०। नु०—सौ०। चा०।  
भा०। मु०।

१ इरावती (श्री जयशंकर प्रसाद) प्रथम संस्करण १९३७ ई०। अध्याय ७ पृ० ७६-८०। भारती मण्डार प्रयाग।

२ शैलर एक जावना (श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अनेय) प्रकाशन १९४० ई०, भाग १ पृ० २०७, प्र० सरस्वती प्रेस, बनारस।

१०१० पहर तिन चढ़े उस मनोरम बसत के प्रभात में नीलपदम प्रासाद से देवी अम्बपाली की शोभायात्रा चला। उसका विमान, विविध वण के फला से बनाया गया था। उस पर दसो अम्बपाली केवल जवासक और उत्तरीय पहने, लज्जावनत बठी निरामरण हाने के धारण तारिकाहीत उपा की सुपमा धारण कर रही थी। वह फूलों के ढेर में, एक सजीव पुष्प गुच्छ सी प्रतीत हो रहा थी, लज्जा और मन्त्रोच से जैसे उसकी आँखें, झुकी जा रही थी। उसका मुह रह रह कर लाल हो रहा था। उसकी मुडीन शुभ्र श्रीवा, उज्ज्वल उन्नत वक्ष, और लहरात हुए चिक्कण मुत्तल उसमें गये हुए ताजे विविध रंग के कुसुम इन सब की शोभा अपार थी।

शोभायात्रा में आने वाला बज रहे थे। उसने पीछे हाथिया पर ध्वज पताका और निशान थे। उसके पीछे उज्ज्वल परिघा पहने दामियाँ स्नान और पूजन की सामग्री लिए चल रही थी। इनके पीछे अम्बपाली का कुसुम विमान था। उसे घेर कर वशाली के सामन्तपुत्र और श्रेष्ठिपुत्र अम्बपाली पर पुष्प गंध की वर्षा करते चल रहे थे। नागरजन अपने-अपने मकानों से पुष्प गंध फेंक रहे थे। चारों ओर रंगीन पताकाएँ ही पताकाएँ चमक रही थी और सबके पीछे नागरिकजन चल रहे थे।<sup>१</sup>

(शोभायात्रा वणन) (ग० वे० स०)

ब० — स० सा० स ग० । वृ० — छ० द० । श — आ० प्र० प० पग० ।  
रस० — शृ० । ति० — उ० । नु० — सी० चा० औ० मु०

११११ दूसरा दृश्य वह था जब हम देवदारु के वन में पहिले पहल प्रविष्ट हुए। वह दुनियाँ का सुन्दरतम वृक्ष है, इसमें सदेह नहीं। प्रकृति लक्ष्मी का वह जयस्तम्भ है। उसकी सीधी सरल घण्टि, जिससे निकल कर, सामने की ओर फने हुए, महत्त्वा हाथ, हाथ भी वैसे क्रम से, नीचे से ऊपर की ओर छोटे-छोटे होते होते अंत में वक्षगज की नुकीले शिपर का रूप धरते हैं। उन घाहरित पत्तियों पर कमी पतझड़ का प्रभाव नहीं पड़ता। उनमें सदा बसत थी बसा करती है। नीचे तो जान नडता है वन दबी ने परिमनवासित वनशो से, सारी अरण्यानी की सींच दिया है। शताब्दिया से उसने नीचे चढ़ कर एकत्रित होते हुए सूचीपत्र, नीचे की भूमि को मृदुता जग्या का रूप देते हैं। इस भूमि में गाव नदी दिखलाई पड़े। कहीं कहीं एकाध घर मिल जो अधिकतर पशु पानों के जब पत्र ठहरने के स्थान थे।

(देवदार वणन) (प्रा०)

ब०—सा० । वृ०—य० छ० द० की० । श०—आ० ट० प्र० । ति०—  
दा० ह० । नु० सी० चा० मु० ।

- १ वशाली की नगरवधू (आचार्य चतुरसेन शास्त्री) पूर्वाध, अध्याय ४ पृष्ठ ३५-३६, —प्रकाशन तिथि १९४२ ई० अपर इण्डिया पब्लिशिंग हाउस, लखनऊ।
- २ जय योदेय (श्री राहुल साहृत्यायन) अध्याय ७ पृ० ६३ प्रथम प्रकाशन १९४४ ई०, किताब महल—इलाहाबाद।



दिग्मण्डल, वृद्ध रव मृग की रोमराजी के समान पाण्डुर हो उठा। हाथों के रक्त से रजित सिंह के सदागार की भाँति, बिना लोहित वण लाभारस के सूत्र के समान, मूय विरणे आकाश रूपी वनभूमि से, नक्षत्र रूपी पूजा को इस प्रकार भाड़ देने लगी, भागा ने गमराग मणि की शलाका-जा से बनी, चाड़ू हो। तारिकाएँ लुप्त होने लगीं। दो एक जो अब भी बच रही थीं वे पश्चिमाकाश रूपी समुद्र-तट पर, सापिया व उमुक्त गुग से त्रिवरे हुए मुक्ता पटन की भाँति, दिख रही थीं। पूज की ओर, प्रकाश जाविमूत होने लगा। धीरे धीरे शिशिर बिन्दु को बहाने करता हुआ पञ्च-वन की प्रजापितृ करता हुआ परिश्रान्त नगर रमणिया के घम बिन्दुओं को विलुप्त करता हुआ, वय महिषों के पैर त्रिदुजा से सिंचा हुआ, कम्पमान पत्तकों और लतासमूहों को नृत्य की शिक्षा देना हुआ। प्रस्फुटित पक्षों का मधु बरसा कर पुष्प सौरभ से भ्रमण को सन्तुष्ट करके मन्त्र-मन्त्र संचारित प्रभात वात बहने लगा।<sup>१</sup>

(प्रभात-वर्णन) (प्रा०)

व०—सा० स ग० । वृ०—य० छ० की० । शै०—जा० वृ० ती० पग० ।  
ति०—दा० ह० । नु०—सौ० चा० मा० दि० ।

१३१५ शिविकाआ व निक्लते निक्लत गाधूलि काल हो गया। विलम्ब का कारण मैं ही था। गगा तट की नौका व्यवस्था देखे बिना मट्टिनी को वहाँ भेजना मुझे ठीक नहीं जचा। गगातीर से जब मैं लौटा तो त्रिवस क्षीण हो आया था। स्य मण्डल परिणत प्रियगुमजरी के केसर के समान पिजरिमा स रगा हुआ पश्चिम समुद्र की आर लटक चुका था। अस्तकालीन ध्रुव दिग्बधुओं के मुस पर पड़ी हुई एक ऐसी महीन चान्दर व समान दिग्ग रही थी जो कुसुम रस की अविरल वर्षा से लाल और कामल हो गई हो। आकाश की नीलिमा बहुत कुछ दूर हो गई थी और वह चकोर की नयन तारा के समान पिगल वण की वाति से विलिप्त हो चुका था। कोकिल के विनोचना व समान वध्रुवण विरणों समस्त भुवनमण्डल का जन्पायित कर रही थी। अधिक प्रवागयुक्त एकाध नक्षत्र पूज गगन में उर्मिपित होते से दिख रहे थे जीर सारो सन्ध्या माहलवेश गौरिकधारिणी किमी भरवी के समान चण्डी मण्डप में उतर रही थी।<sup>१</sup>

(सन्ध्या वर्णन) (प्रा०)

व०—स० सा० स नि । वृ०—य० छ० द० म० । शै०—आ० वृ० प्र० प० ती० प्रति० । ति०—दा० ह० । नु०—सौ० चा० मा० दि० ।

१४१६ अमिजात पुरुष एक कुलस्त्रियाँ, पव (मधुपव) के योग्य और अपने वण के अनुकूल वस्त्राभूषण धारण किए थे। ब्राह्मण स्वर्ण के तार से कडे,

१ बाणमट्ट की आत्मकथा (हजारीप्रसाद द्विवेदी), प्रथम प्रकाशन १९४४ ई०। चतुर्थ उच्छ्वास पृ० ३७। हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय बम्बई।

२ वही—पठम उच्छ्वास, पृष्ठ ६२

लाल रेशम के उष्णीप से सिर के केशों को बांधे थे । उनके मस्तक और भुजा पर श्वेत चन्दन का खीर था । शम्भु मुड़े हुए थे । उनके कण्ठ की मालाओं मे वृष्ण रुद्राक्ष शोभित थे । कानों से लहराने हुए उत्तरीय के नीचे स्पष्ट झनकनी रखा, कटि से नीचे, स्वच्छ जतवामन पर पीन यनोत्रीन के रूप मे प्रकट थी । स्वच्छ धनवसाक पदनाण का स्पश कर रहे थे ।

बुद्ध स्त्रियों के प्रसाधन और वश वियास मे विशेष लालित्य था । मुक्ता लङ्घिओ द्वारा, विविध प्रकार से गूथे हुए उनसे केशों पर पुष्पा के अत्र चन्द्र किरीट शोभायमान थे । अनेक बल्लवाये, भीने उत्तरीय के नीचे पीठ मे कण्ठ पर कसे कञ्चुन वस्त्र, सम्मुख की ओर फनकर, सुचिह्नक वतुलो मे उभर जाए थे मेखला व घ से उनसे शाटक मयूरपुच्छ के रूप मे, फलवर जालक रजित और जाभूपणो मे वेष्टित चरणा के नीचे त्रिदश आस्तरणा का स्पश कर रह थे ।

(वेशभूषा साज सज्जा) (व० स०)

व०—सा० स । कृ०—द० । गै०—आ० । व० प्र० श० प० पग० । रम—शृ० । नु०—सौ० चा० औ० ।

१५ १७ आसमान पर डरावनापन छाने लगा । आरा और भयानक खूनी रंग बीस रहा था । जैसे आकाश मे सवन रक्त बूद बूद करके इकट्ठा हो गया हो । नगरवासियों ने घरा से निकनकर देखा । समझ नही सने यह क्या था । ऐसा तो पहले कभी नही हुआ ।

स्त्रियों का हृदय भय से सहम गया । इसके बाल पीना अवेरा छा गया । आकाश की ललाई अपने आप पीनपन मे बदल गई । जमे अत्र पृथ्वी और आकाश एकदम डर गए थे । सिंधु का गम्भीर जल भी एकदम कपिश दिखाई देने लगा । दूब पीला हा गया था । चावल पीले हो गए थे । क्या था जो एकदम पीना नही था ।

मद्य की दूकान मे बठे विलासी भी डर गए थे । चचला की बडी बडी आँवों मे भी सकेनी के स्थान पर पीलापन छा गया था । उसकी पीली लीली आँवें भयानक लग रही थी । और फिर हवा तेज हाती जा रही थी । कभी कभी घूल सरसराती । दूर पडा क हिनने का शर मुनाई देता और लगता जहेरी की भाति प्रनजन जपन मिनी शिकार ना वेग से पीडा करता मागता चला जा रहा है ।

(आधी वणन) (प्रा०)

व०—ज० म स्व० ग० । कृ०—य० । श०—नी० । ति०—ना० । नु०—नि० ली० ।

१ दिव्या (यशपाल) प्रथम प्रकाशन १९४५ ई०, प० ६-१० । विप्लव प्रकाशन लगनऊ ।

२ 'मुनी का टीका' (राय राधव), प्रथम प्रकाशन १९८६ ई०, अध्याय १६, पृष्ठ ४१० । किताब महल इलाहाबाद ।



१६१८ चैरापूजी विचित्र स्थान जान पडा। आकाश टँबा रहता था, बादल से और बादल ऐसे बसे नहीं—घनपार घटाएँ निरन्तर दोन्ने वाली, गरजनेवाली घमकने वाली, बरसने वाली। ये बादल आकाश में ही नहीं पहाड़ों, दृष्टों, मकानों यहाँ तक कि चलने विरत प्राणियों के गिरा पर भी छा जाते। दौड़ते शौचत ये बादल, पहाड़ों पर ही नहीं धरो तक में, घुमे आने बमरों के अन्दर बरस कर यहाँ की सब वस्तुओं को भी गीला कर जाते। कभी-कभी घुमने हुए दम्पति के बीच में भी ये मेघ आ जाते और कुछ क्षण एक दूसरे से अदृश्य कर देते। गरजन तो ये भय दग गम्भीरता से कि मामूम हुआ कि पयरो का वर्षा ही नहीं हो रही है पर पयरा के ऊँचे ऊँचे गिरा सुड़बाण जा रहे हैं। घासा की घमक, घन-घन पर तारा की चकाचीक कर उन्हें पलका की गरज भेने को बाध्य करती है यथा भा निरन्तर होती रहती और शक्ति का यह वारि अगणित जन प्रपाना का रूप य चैरापूजी की पत्रतमाताओं से लगातार गिरता रहता।<sup>१</sup>

(पाठक यथा-यथन) (प्रा०)

य०—अ० स २५०। दृ०—अ० अ०। गी—१०। पु०—पा० १०।

१७१६ यह पहाड़ पर ली चढ़ने लग। फिर पहाड़ की चढ़ाई का साथ साथ समभाग पर। दिन हमखास था। थोड़ी दूर में कुछ पहाड़ों का आट हावर दिख जायगा। यथा न बहा यथा सुसंगत पकड़े, दगा हाप पकड़े-पकड़े दीर्घा गल। पानी के गिर के पीछे कुछ दिख रहा हुआ।—यथा गरी ५—एक तारादीप्त गल साथ रविबिम्ब हा विचित्र की आर हो गल हाया। ... पर पहाड़ी के मोड़ तक पहुँचने पर पहुँचने हुए दिख गया। एक हुए हाप मगा किमी दूर पर गल स साथ आकाश पीक गया। प्रकाश अब तो था पर माया किमी गल स चहुँप नहीं निश्चयन जायगा म गला गा ... जहाँ कुछ दूबा था यहाँ एक छोटी सी सान साह था। तीन दिना। निश्चय निग कर गल पर जल गी का पुच्छा सग भी हो।<sup>२</sup>

(पाठक यथा-यथन) (प्रा०)

य०—अ० स ११०। दृ०—अ० अ० ६० की०। गी—प्रा० पु० गी० प्री०। गी०—पा० १०। गी०—गी० पा० प्रा० १०।

१ यथा-यथन (यथा-यथन) प्रथम भाग पर १९५० ई०। अथवा ३० पु० ११-१२। यथा-यथन दृष्टिगतता का अर्थ-यथा-यथन दिखने का अर्थ।  
 २ यथा-यथन (यथा-यथन) प्रथम भाग पर १९५० ई०। अथवा ३० पु० ११-१२ (यथा-यथन) अथवा ३० पु० ११-१२।

१७२० तीसरे पहर फिर, घूमने पहाड़ पर जाजान की बात थी।

पर उठाने दगा, बादल का एक बड़ा सा सपेद साप भीत के एक किनारे से, उमड़ कर आ रहा है और उसकी बेडौल गुञ्जलक, धीरे धीरे सारी भील पर फैली जा रही है। घाड़ी दर में वह सारी भील में बठ जायगा, जोर फिर शायद उसका पन ऊपर पहाड़ की जोर बढ़ेगा। बादल धीरे धीरे भीत पर छाते हुए। जब वह घाटी से उमड़ कर जाया, तब उसका बड़ा स्पष्ट आकार था। पर भील पर आकर वह विखरने लगा था। बादल की जपेक्षा एक धुंध की तरह ही भील की सतह को दुलराता हुआ भील बिलकुल छिप गई केवल एक सपेद धुंध की दीवार, कहीं कोई शिशा नहीं, भित्तिज नहीं दोनों धुंध में खो गए तम्बू का चढ़ावा जोर धुंध धुंध, व्यापक धुंध।<sup>१</sup> (कोहरा वणन) (प्रा०)

व०—वि० वि० नि० ग०। कृ०—व्य० अ० की० र०। शै०—यु० प्र० प्रति०।

रस—भु०। त्ति—दा०। नु०—चा० भा० दि०।

१८२१ 'साधु की अँगुली के साथ ही भीगुर की दृष्टि गंगा पार सामने की ओर घूम गई। समूचा किता दीपावली मनाता हुआ आसोक स्नान कर रहा था। कांतिक कृष्ण अष्टमी की सन्ध्या थी। पश्चिम में अग्निगोलक तिरोहित हो चुका था, परन्तु पूव में अमी स्वर्णगोलक की रेखा भी प्रगट न हो पाई थी। गोधूलि समाप्त होते होते अधकार छा गया। उस वाली पृष्ठभूमि में प्रकाशोज्ज्वल किला, उस चित्र के समान दिखलाई पड़ रहा था जिसमें, कृष्ण बेशो की व्यापक सघनता में चिन्मय न किसी सुन्दरी के चन्द्रमुख का जालेखन किया हो।'<sup>२</sup>

(गंगा पार का वणन) (प्रा०)

व०—च० ल०। कृ०—व्य० छ० की०। श०—आ० वृ० प्र० ती०।

ति०—दा० ह०। नु०—सौ० चा० भा० मु०।

१९२२ 'कान्ती के बाग में, गुलमुहर की बड़ी बड़ी डारिया लाल लाल फूलों से जलता हुई हवा के हल्के भोका में हिलडुल रही थी। अमलतास के पीले फूल, नववधू की पीली जाडनी की याद दिला रहे थे। योजनगंधा शाम की हवा में पागलपन बिखेर रही थी। शिरोप के फूलों की पल्लुरिया मगल जाशीप की तरह झड़ रही थी।

'चत की गोधूली में, अपनी सारी तेजी खोकर सूरज न श्याम सलाना सध्या के आचल में अपना मुह छिपा लिया था। दूर तक फली हुई, ताप की पत्तिया

१ नदी के द्वीप (श्री सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'जनेय'), प्रथम प्रकाशन १९५१ ई० (भुवन) पृ० १४६। सरस्वती प्रेस इलाहाबाद।

२ 'वहता गंगा (शिवप्रसाद मिश्र 'रुद्र काशिकेय') प्रथम प्रकाशन १९५२ ई०। पृ० १६४-१६५ राजबमल प्रकाशन मन्दिर, लिला।

बुद्ध मटमली, बुद्ध सिद्धरी सी पृष्ठभूमि म गदन ऊँची करके, सूरज का, जतन गहराई म झुकते देग रही थी। गाय और बला क साथ पर लौटत हुए चरवाह सावित्री नाच का गीत गा रह थे। ' ' (वसन्त वणन) (प्रा०)

व०— सा० स स्व० ग० च० । वृ०—छ० द० वी० व्य० । श०—आ० वृ० प्र० प० ती० । ति०—दा० । नु०—सी० चा० भा० मु० ।

२० २३ 'मुझे दीप्ति का घ्यत्तिव जाने कयो बहुत प्रिय लगता था। वह बड़ी ही हममुग्ध, नीठ स्वस्थ और सुन्दर लडकी थी। अपनी माँ से उमन घोड़ी सा मोटाई पाई थी और अपा पिता स तम्बाई। उसना गारा सा नेहरा भी उपयुक्त अनुपात म, गाताई तिय हूण लम्बा था। एक परबल का तम्बा चीरने पर जो दो फकि बन जाती हैं वनी ही बड़ी और तनी नुई उसरी दा उच्चल अलिं दा सुडौल मोहा की छन छाया क नीच जठनेलिया करती थी। नाक लम्बी उमरी हुइ और बुद्ध-बुद्ध नुकीती था। दाँता की दो सफेत्त पत्तियाँ सीधी और सामजस्यपूण थी। आठा की दो पतला रम्पाएँ ६३ के अक की तरह जान पडती थी। पर उसका वास्तविक सौन्दर्य उसक मुख की इस सुन्दर सजावट और बनावट पर निभर नहीं करता था। उमक बुण्डा रहित उदार और भावपूण जतर का जो जयक्त छामा उसक चहरे पर पडती थी वह किसी विशेषत दशक पर गहरा प्रभाव छाड बिना न रहती। जब-जब मैं उस दपता था तब-तब मुझे एसा लगता था जैसे कोई जज ता की कसा गुफा से कोई सुन्दर चित्र सजाव, बनकर सामने सचरण कर रहा है।

(एप वणन) (श०)

व०—स० सा० । वृ०—व्य० छ० । श—जा० यु० वृ० प्र० ती० । रस—शृ० । ति०—ह० । नु०—सी० भा० मु० ।

२१ २४ मुझ वह सब बिलकुल तो याद नहा है। पर वह रान का वक्त था। चादनी पहान क ढाला पर खिसकती हुई आकर भगान म फल गइ। कास क बिलकत पक पील सपन म भुरपुरे उडा पर पउ कर वह खितनी बहोश सा दिखलाई देती थी कि मुझ और बुद्ध नहीं माना था ।

पूरा चाद निकला हुआ था, भील म उत्तर आया था बईमान चादी की नाव बना कर, जिस पर किरणा की लटकिया बठ कर जाइ थी। पानी की लहरा म आकर जस नाव हूव गई थी। और वे लटकिया लटरा पर बहन लपी थी।

१ मला अचिल (श्री ण्णीश्वरनाथ रगु) प्रथम प्रकाशन १९१४ ई० । जय्याय २८ पृष्ठ १९३ । राजकमल प्रकाशन दिल्ली ।

२ 'जहाज का पट्टी (श्री इलाच द्र जोशी) प्रथम सस्करण १९५५ ई० पृ० १६० । राजकमल प्रकाशन दिल्ली ।

“रमण के पैरों के पतले पतले, पत्तों के पीछे से जय में देवता तो दूर तरफला हुआ जगल बहुत ही खूबसूरत दिखाई देता।”<sup>१</sup> (चादनी वणन) (प्रा०)

व०—वि० नि च० । वृ०—य० छ० की० । श०—जा० वृ० प० ती० ।  
ति०—उ० दा० । नु०—सौ० चा० मा० मु० ।

२१ २५ दोपहर की धला ढलने लगी थी। गाव थका सा पड़ा था। दगरो में कीचड़ थी। क्याकि पानी बरस चुका था और उनमें गाड़ियों के पहियों के चलने में गहरी लीचों पड़ गई थी। जिनमें पानी भर कर स्थिर हो गया था। पानिहारिने जब निबलती तो घुटनों तक कीचड़ में सन जाती। मेघों ने अंधरा कर रक्का था। ऊने ऊने धन धने दल के दल छा गए थे। सारा आकाश ढक रहा था। कमी-कमी उनमें गजन हो उठता। बादल अलग अलग दिखाई नहीं देते थे। वहा तो आसमान ही बादल हो गया था। एक धीरे से दूसरे धीरे तक फैल कर जैसे जनत वारि राशि से वह अछोर हो गया था। जैसे निराश व्यक्ति के सामने विपत्तिया ही विपत्तिया छा रही हो। सर्दों कडकडाती पड़ रही थी—जगह जगह अलाव जल रहे थे। लोग आग सीने से लगाए बैठे थे। बाहर जाने का धम नहीं था। क्याकि हवा चीरे डालती थी। और दात से दात बगाती हुई वह अपनी श्वासी सी बजाती पेड़ों में लात मार मार कर ठहाके लगानी थी। फिर कमा बरसत मेघों की गिरती जलधारा को पकड़ने जाती तो ये बौछारें तिरछी हो जाती और धरती पर सीधी चाट न कर, आड़ी हाकर मारने का प्रयत्न करने लगती। वील पर धुआंमा छा गया था। वह लबा लबा भर गई थी। यह महावट आइ थी। चना का उबारने नहीं, विला भीग कर और लाल निकल आया था। हरे पट ठिठुर हुए से भीग रहे थे। जिन पर कमी कमी मोर कमा बजो करके बिरता उठत। और फिर वही दमघाट नीरवता काटने लगती।<sup>१</sup>  
(शीतकालान वषा वणन) (प्रा०)

व०—अ० वि० वि स्व० ग० । कु०—य० अ० । १०—प्र० ती० । ति०—दा० । नु०—चा० थ० भा० दि० ।

२२ २६ गहरा तरनरी सरीखा गुणमग अमी नीर क गुमार में साया हुआ था। घानी घान की मगमल मुगह क भुगुट म मूगी के रग की गहरा हरा शिनाद दे रहा थी। मग का नाना घास क उम मंगन में अजगर ता साया

१ 'वज्र तल पुस्तक' (राजय राघव) अध्याय ० पृ० १३-१४। प्रथम प्रकाशन १९५७ ई०। राजवान गण्ड मंग शिना।

२ वहा अध्याय ३५ पृ० ६२५-६२६।

पड़ा था। पगडण्डियाँ घास में सोई छाईं सी बेहोश थीं। सामने खालसा होटल, और परे दाइ जोर बाजार की एक जमीं दूकानों की कतार स्तब्ध सजाटे में मौन थी। जोर बाईं जार अफरावट के नीचे से नाला की दूधिया नहरें उन तबियाँ सी मौन उदास लटी थीं जिनकी स्वप्निल खुली जासों में, प्यार की निगाहों में अभी न भका हो।”  
(पवत वणन) (प्रा०)

ब०—ब० वि० स नि ति० । वृ—व्य० छ० की० । श०—जा० यु० प्र० प० ती० । ति०—दा० ह० । नु०—सौ० चा० भा० मु० ।

२३ २७ सामने कतार में खड़े पहाड़ बर्फ की भालरदार पोशाक पहन सटे दिखाई देते। किन्नर की गंधर्वों के उस प्रदेश में हवा थिरक कर जाती नाचती दिखाई देती। जल की लहरियाँ ताल दतीं। वनराजि भूम कर प्रशंसा करती। वश वृक्षों से नफीरी वज्रता एक विस्तृत जानद चारा जोर लहराता। जगती पशुओं के स्वतंत्र विचरण से लगता जस प्रकृति न रोएदार माट कपड़े पहना कर चिन्तामुक्त कर दिया। चमरी मृगों मस्त और मत्त चाल से चलन वाली बकरियों गायों से वह प्रदश ऐसा लगता जैसे प्रकृति के जलावा और किसी का बोलना यहाँ मना है। वर्षात पहाड़ों पर सूय की किरणें उतर कर ठण्डलियों में बड़े इन्द्रधनुष बनाती और मिटा देती। लगता जस बड़े प्रकार के रंगीन कपड़े पहनान पर मा उनका जी नहीं भर रहा है। ऊपर जान पर तालाबों में बर्फ के तीरे घाटों का निर्माण करते। सारे पानी में जैसे सफेद चादर किसी ने बिछा दी। इतना सौंदर्य इतना शान्ति इतनी निजनता, इतना नीरवता देख कर कमल का मन प्रफुल्ल हो उठा, वह कल्पना में देखा, यही स्वप्न है।<sup>१</sup>  
(पावत्य शोभावणन) (प्रा०)

ब०—सा० स स्व० ग० च० । वृ०—य० छ० द० की० म० । श०—आ० वृ० प्र० श० प० ती० । रस—भु० । ति०—दा० ह० । नु०—सौ० चा० थ० भा० त० ।

२४ २८ विश्वनाथजी के मन्दिर के स्वर्ण काश पर अस्ताचलगामी अणु माली की हिरण्य उज्ज्वल किरणें जस दिव्यता बरसा रही थी कम से कम उस पार प्राय स्थिर खड़ी नौका पर विजया की तरंग में प्राय स्थिरभाव से बैठ लीलाधर कथक के भादुक मन को ऐसा ही लग रहा था। उसने दाना हाथ जाड़े। मन्दिर के दिव्य कलश को पहने नमस्कार किया और फिर टीप स्वर में—सघनाट में मीला तक मुनाई पड़े, एस स्थिर अकम्पित स्वर में जावाज—लगाई  
म हा दे व !

१ पत्थर अल पत्थर (उपद्रवाय अक्ष) पृष्ठ १२२ प्रथम प्रकाशन १९५७ नीलाम प्रकाशन आहाबाद।

२ गण अणेष (उपदेशक मट्ट) पृष्ठ ३१२ प्रथम प्रकाशन १९५८ २०, प्रकाशन—भारती साहित्य मन्दिर दिल्ली।

इस पर सबटा गोवाआ स पटी आवाज प्रतिध्वनि हुई—

म हा दे व

और उम पार मानी कापीवाने तट पर अग्नीपाट मे रागपाट तक महान मायामय मोहक मला मा पला हुआ ऐसा लगता था जब आनन्द, उल्लास और रस की नौवावाहिनी सारा न वातरग पर चढ़ा कर दी हो और उसे गुद गुदा गदगन्ति कर दशोन सा लिया हो । विना राग विरगा मना मातूम पन्ता था जग साध्यमगन से उतर कर द्रुधनुव काशी के पण्ड म इसी हैतनी-सा मुगोमित हो गया हो । चारों तरफ तट पर गोवाआ पर अत न दीप राशिवा जगमगा रही थीं । जैसे मगन मगन क धमक सिनात्र विराभाधेश्वरी की शामा दमन वा उतर आए हो । कोलाहल यो हो रहा था मानों राजा क घर महाराजा की घारात जाई हो । पचासो पटी हुई नौवाआ पर नाच गान का विधान, रग रग क मनोरजन का सामान राशन चौकी शहनाई, कथपाआ का नाच, भांड नोटकी और सब के ऊपर काशी की मजब गलबाज गायिकाआ का गंधव विमोहक गान । उम पर इतना आनपण था इतना कि इस पार वाला की नौवाआ क रसिया बन रगिया अनायास ही उधर गिजे जा रह थे जस शक्तिशाली चुम्बक स साह क धूर जाकपिन हा । ध्यान नहात उनके महामोही प्राण मल मे ही थ । उम सात क बुढ़वाभगल क मले का वह अंतिम मगल और मला था ।<sup>१</sup>

(काशी, बुढ़वाभगल, गुर गोमा-वणन) (न०)

व०—स० सां० स स्व० ग० । ट०—छ० द० । शै०—आ० यु० ट० प्र०  
ग० प० । रम—श्रु० जु० । ति०—उ० । जु०—सो० चा० श्र० मा० मु० ।

२५७ रात अयेरी थी और गदी का पानी बिलकुल काफ़ा हील रहा था । सिफ़ लाउटेन की पाला रोगनी इस रग म, गज दा गज क तिए भेद पैदा कर रहा थी । कहा-कही लग्ना रते पन् गई थी । रात म वह भी कान सपाट मगन की तरह बीखती । पानी का हलपा रह रहार एक प्रकार का आवाज पदा कर दता था । कभी कभी ता परबतिया का लगता कि नाव टाडी है और पानी चल रहा है । डाली क भीतर उमम एक बार अपनी चाटी दली जिसम सोहाग के कई लाल पीले तारे लग थे और जिनके छार पर कई पत्ने भूल रह थे ।<sup>२</sup>

(नौवा यात्रा-वणन) (प्रा०)

व०—ज० स ग० च० । वृ०—छ० द० की । श०—वृ० प्र० प० ती०  
आ० । ति०—उ० । नु०—सो० चा० भा० मु० ।

१ फागुन के दिन चार (पाण्डेय राजा शमा उग्र) अध्याय १ पृष्ठ १-२ । प्रथम प्रकाशन १९२९ ई० । (प्र०) रणजीत प्रिंटस एण्ड पब्लिशंग, दिल्ली ।

२ नदी फिर वह चली' (श्री हिमागु श्रीवास्तव) अध्याय १ पृष्ठ ३, प्रथम प्रकाशन १९६१ द० हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।

२५ ३० सड़क की जगह बगल में जा पड़ थे उन पर पड़ी चट्टानों ने लग थे। वे बार बार अपने इन फटफटते आगे बढ़ने की गति में जोर काव काव करन लगे थे। बैलगाड़ी जाग बढती जा रही थी जोर पूरब के आसमान पर मूरज की लाली ऐसी चमक रही थी जैसे रात की रानी ने एक चुटकी से दूर छितरा दिया है। सुनहरे का मुहावना वक्त ऐसा लग रहा था जैसे घरती के कचरे धाल में मूरज के स्वागत के लिये बंधर चमकने भर गया हो। दूर दूर तक हल्का हल्का कुहामा फैल गया था जैसे आरती के लिये घरती ने इतनी गंधे रुई बटोर रखी है। छबीला बार बार बता की ललकारता और चल भूमते हुए आगे बढ़ रहे थे जोर चलने चलते मेला नजदीक दिखलाई देन लगा। उधर से मूरज का लाल गाला भी पूरब के आसमान का फाटना हुआ निकला जा रहा था।<sup>१</sup>

(प्रभात वणन) (प्र०)

व०—वि० स स्व० ग०। वृ०—द०। श०—आ० व० ती०।  
नु०—सौ० चा० श्र०।

२६ २१ नीचे की आँखें गीली हो उठी। उसने गीली आँखों को सध्या के ऊपर विद्या दिया। सिन्धु बमकीला मुह जिस पर चान्नी चिछल रही थी। बड़ा बड़ी मामूम आँखें जिनमें मुकुम का रंग घल गया था। अबीर की हलकी हलकी आभा से रजिन बड़े बड़े बाल कान बंध जा उगका पीठ के साथ अगल बगल लहरा कर पन रहे थे। स्वस्थ गारी गारा देह, जिस पर एक महीन वामकी साडी पिल रही थी जिस पर रंग के गुलान उमर आए थे। वह मुस्करा रही थी मांगो ज्योत्स्ना में नहाती हुई स्वयं सत्या हो उतर आई है।<sup>२</sup>

(स्पर्शन) (प्र० व०)

व०—सा० स। वृ०—व्य० छ०। श०—व० प्र०। रस—वृ०। ति०—  
उ०। नु०—सौ० चा० जी० मु०।

२६ ३२ पानी नहीं बरसा किन्तु विमान के तल इतना करत बादल का। जलती धूल में ही धीन छीटन लग बयाकि वायव्य का मौसम बाध रहा था। किन्तु आन मुयह से ही मौसम कुछ रंग बनल रहा था। हवा चलन लगी थी और आसमान भी कुछ श्यामन आभा से रजित हो रहा था। निजहर हान हान बानल फिर आए। सनसना कर हवा लहर गयी जोर आसमान घरती की छाती पर अपने का निछावर करन लगा। भर भर कर फुगारा नैन पान में उमान का निगा दिया। बानला की ठडी-ठडी तरल परछायाँ सिसाना की आँखा में उतरने लगी। पशु पक्षी आन

१ नया फिर वह घली (हिमागु आवाहन) अध्याय २१ पृष्ठ १५८, प्रथम संस्करण १९६१ ई०। (प्र०) हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय वाराणसी।

२ 'पानी के प्रचार (आवाहन) अध्याय २ पृ० १८ प्रथम संस्करण म० १९६७ ई०। हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी।

से हूँकन बूकने लग । पानी के स्पण से ब्याकुल प्राणिया के रोयें खिल गए । भर घर घर फुहारा ने आसमान का नुहरे के समान ढर दिया । धरती से साधी साधी मुग्ध फलन लगी । पानी बरसना रहा बरसता रहा । पानी की मांगे मोटी धाराएँ गलियों और नातिया से हगहगती हुई गड्डा और पांगरो की ओर लौटने लगी और देखते देखते ताल भर गए ।<sup>१</sup>

(वषा वणन) (प्रा०)

व०—स० सा० स्व० ग० । वृ०—छ० द० । श०—यु० व० प्र० श० प० ।

मु०—चा० जी० मु० ।

२७ ३३ यमी ही सूखी सी, बठार और निस्सन्ध पडी थी वह घाटी, जमी मेजर नाहरसिंह न पिछनी बार नेगी थी, वसा ही प्राणहीन जोर सहमा हुआ सा वातावरण । उस पथरीली घाटी म नदी के मूखे और पथरीले तल पर, लम्ब लम्ब ढग रखते हुए, मगर नाहरसिंह चले जा रहे थे

'फून्ने वाली घाटी म जब वह पहुँच, तब उह लगा कि वहाँ की म ध और प्रखर हा गई है । वहाँ से वह जाग बढ, तेजी के साथ और प्राय पाँच मील चलन क बाद उह अपना रास्ता राके हुए, ढूँढे पहाडा का एक अम्बार ना िखा और मेजर नाहरसिंह वही लडे होकर, प्रवृत्ति क उस रौद्र रूप को देखने लगे । उनके बायें हाथ वाला ऊँचा सा पहाड आधा लटका खडा था और आधा लण्ड-लण्ड होकर राहिणा के तट पर जा गया था, उनके दाहिने ओर वाले पहाड से सम्पक स्थापित करत हुए । किना भयानक दृश्य था वह ।

मजर नाहरसिंह न अपना सर उठा कर ऊपर की ओर दगा, वहाँ से दाहिना ओर, उस अम्बार क ऊपर, देखकर खडा था यहाँ जादय ! मजर साहज ! देखिय कितनी बडा भील बन गई है । यहाँ पर—विलगुल एक समुद्र की भाँति । जहाँ तक दृष्टि जाती है एक अपार जनराशि । दक्षिण आकर किना सु र दृश्य है यहाँ ।

बडे परिश्रम क साथ रगते हुए मगर नाहरसिंह ऊपर चडे दूसरी ओर राहिणी नदी एक बहुत बडी झील के रूप म, तीन जोर पहाडा की बदिनी थी । माला तक अपार जलराशि फली हुई थी । स्वच्छ निमल जल अपन अक म आकाश की नीलिमा का भर हुए, जहाँ तहाँ उजला जल नीचे क बिलापण्ड मी दिख रह थे ।<sup>२</sup>

(नदी घाटी वणन) (प्रा०)

व०—अ० सा० दि० स नि ल० । कृ०—य० छ० द० व० म० र० ।

श०—व० प्र० ती० । रस— जु०। ति—जा० दा० ह० । मु०—गौ० चा० भा० ली० ।

१ पानी क प्राचार (श्री रामदरश मित्र) अध्याय २३, पृ० १३२ । प्रथम सस्करण सन १९६१ द० । हि दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी ।

२ 'सामा और सामथ्य (श्री भगवतीचरण वर्मा खण्ड ६ अध्याय ५, पृ० २५६ ६०, प्र० प्र० १९६२ इ०) राजकमल प्रकाशन, दिल्ली ।



२८ ३४ "सूरज ढूँध गया : चादनी की आभा छागई । चन्दन और गुजा हरी दूब से भरी टुड़ करईल माटी की बड़ी चौड़ी छवरी से चलने लग थे । बलिहार अभी डेढ़ मोल था । सप्तमी की चादनी छपरि के दाना ओर, जौ गेहूँ के पके हुए खेतो पर पूरी तरह छागई थी । शात, सिर, वातावरण म हल्क हवा क नीचे, खेतो मे सड़े अनाज के पके डठला की तरह कर, खनखना देन थे । दूर दूर तक फले हुए करईल माटी के खेतो म, बराबर ऊवाई तक उगी हुई फसलो पर यदि धाली सरका दी जाए, तो कुछ दूर तक बिना गिरे वालियो पर फिसलती चली जाए । ऐसे थे दूर तक फले हुए, पत्र चले अनाज क लहराते भरे खेत जिनम जहा तहाँ सड़े छोटे छोटे बबूल के पड पहरेदारो की तरह लगते थे ।" (शुपि वणन) (प्रा०)

व०—अ० सा० स स्व० ग० च० । वृ—छ० द० । शै०—आ० यु० व०  
प्र० । नु०—सौ० चा० जी० मु० ।

## भारतीय साहित्य में उपन्यास-साहित्य का सर्वेक्षण

### प्रथम प्रकरण भारतीय उपन्यास-साहित्य का आदिकाल

भारतीय साहित्य में उपन्यास विधा की परम्परा भी पर्याप्त पुरातन एवं बमबमयी रही है। यदि हम विश्व उपन्यास का सम्बन्धक इतिवृत्तात्मक आकलन अथवा अवधारण करना चाहे तो केवल भारतीय उपन्यास साहित्य ही उसके अध्ययन अनुसंधान का मूलाधार बन सकता है। वह दिन दूर नहीं है जब कि भारतीय वाङ्मय की इस विशाल एवं व्यापक विभूति निधि का विशेष अध्ययन एवं अनुशीलन, विश्व भर की अध्ययन संस्थाओं में विशेष मनोयोगपूर्वक किया जाने लगेगा। भारतीय उपन्यास साहित्य की वर्णनात्मक कला की दृग्द्रव्यनुगी छवि तो अरसिक से अरसिक पाठक अथवा श्रोता को भी, रसविभार करने में सक्षम है। निश्चय ही इस दृष्टि से तो वह विश्व उपन्यास साहित्य की मुकुटमणि कहलाने योग्य है। मात्र उल्लेख तथा सार कथन द्वारा तो वह अनुमेय भी नहीं है।

भारतीय कथा-साहित्य विश्व भर में प्रचलित कथाओं का, जादिस्रोत रहा है। उसकी अजय्य प्रवहमान परम्परा हमें प्रागैतिहासिक काल से अद्यावधि समुपनन्द्य है। इस विशाल एवं प्रभूत कथात्मक साहित्य के दा उन्नतस्वनीय अंग रहे हैं—वैदिक उपनिषद्-कथाचक्र तथा यौद्ध जातक कथाचक्र। ये कथाएँ बहुत ही प्राचीन हैं। इनमें से कुछ स्वतंत्र कथाएँ हैं जिनमें आध्यात्मिक विषयों की व्याख्या का प्रच्छन्न जन्म प्रायः सन्निहित रहा है। कुछ कथाएँ, एक समान कथा की विविध कड़ियाँ के रूप में एक दूसरे से सूक्ष्म कथासूत्र द्वारा, संयोजित हैं एवं कुछ ऐसी कथाएँ भी हैं जो बाधुनिष्ठ उपन्यास प्रणाली का आद्यरूप मानी जा सकती हैं। इनमें मुख्य कथा अपनी सहायक कथाओं के प्रवाह का लेकर, अप्रसर हाती है।

भारतीय कथा वाङ्मय के उक्त दाता प्रधान कथाचक्रों में भी उपनिषद् कथाएँ विश्व की सभसे अधिक प्राचीन कथा निधि मानी जाती हैं। उनकी साहित्यिक

एक दार्शनिक गहराई को देख कर, पाश्चात्य विद्वान तो इसके बक्के से रह जाते हैं। इनका आद्य रचनाकाल इतिवृत्तकारों ने ईसवी पूर्व ८०० के लगभग माना है। किंतु आजकल जिन १०८ उपनिषद् का सकलन हमें उपलब्ध है, उनमें से केवल ईश, कठ, केन, प्रश्न श्वेताश्वतर, मुण्डक माण्डूक्य बृहदारण्यक छांदाग्य ऐतरेय, तत्तरीय, मनायण और कोपीतरी तो निश्चय ही उतनी प्राचीन कृतियाँ हैं ही। शेष उपनिषद् एक उनमें आई हुई कहानियाँ ईसवी पूर्व ८०० से ईसवी सन के प्रवृत्त काल तक ही मानी जाती हैं।

आचार्य प्रवर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस उपनिषद् साहित्य का ब्राह्मण ग्रन्थों का उपसंहार रूप माना है। उनके मत में आरण्यक एक उपनिषद् दोनों प्रकार के कथा साहित्य, वस्तुतः ब्रह्मिक साहित्य के आख्यात्मक आख्यान ही है। उन्होंने अग्निल वदिक वाङ्मय के तीनों उपभेदा पर विचार करते हुए उनके पारस्परिक सम्बन्ध की भी विवेचना की है —

‘ब्रह्मिक साहित्य को षण्डिता ने तीन भागों में विभक्त किया है—संहिता (मूल वेद—ऋग साम यजुष तथा यजु) ब्राह्मण और उपनिषद्। ब्राह्मण’ ग्रन्थ में लिखे गए हैं इनमें कमकाण्ड की प्रधानता है तथा इनमें जगह जगह ऐतिहासिक और परम्परा प्राप्त कहानियाँ भी हैं जो बाद में चल कर पुराण और इतिहास का रूप धारण करती हैं। ब्राह्मणों के अन्त में दार्शनिक अध्यायों के रूप में, ‘आरण्यक’ और उपनिषद् हैं। इनमें आध्यात्मिक बातों का बड़ा गम्भीर विवेचन किया गया है। उपनिषदों की संख्या बसे तो बहुत (१०८ तक) है, पर १२ प्राचीन हैं—ऐतरेय और कोशीतकी (ऋग्वेद से सम्बन्धित) छान्दोग्य और केन (सामवेद से सम्बन्धित) तत्तरीय कठ और श्वेताश्वतर (यजुर्वेद से सम्बन्धित), बृहदारण्यक, इग (यजुर्वेद से सम्बन्धित) तथा प्रश्न मुण्डक तथा माण्डूक्य (यजुर्वेद से सम्बन्धित) हैं। महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री का विचार है कि ईसवी सन से एक हजार वर्ष पूर्व तक यहाँ तक का साहित्य निश्चित रूप में रचित हो चुका था।’

ईसवी पूर्व ८०० के आसपास रचित इस उपनिषद् साहित्य में हम अखिल भारतीय कथा साहित्य एवम् उपन्यास साहित्य के बीज रूप उपलब्ध होते हैं। भारतीय भाषाओं के अतिरिक्त विश्व के प्रायः सभी उन्नत एवं विकसित कथा साहित्यों में उपनिषद् साहित्य की प्रेरणा एवं अंतर्वेदात् दूर दूर तक परिचायक है। उदाहरणार्थ, सोमरसेट माम का प्रख्यात उपन्यास द राजस एज (शुरुस्य धारा) कठ उपनिषद् से एक आख्यान एवं एक सूक्ति वचन की प्रेरणा से ही प्रतिफलित हुआ है।

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) परिशिष्ट १, ‘संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त परिचय (पृष्ठ १२७-२८) (सातवा संस्करण १९६३ ई०), प्र० हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई।

भारतीय कथासाहित्य के बीच इतिवृत्त की दूसरी कड़ी मानी गई है—बौद्ध कथाओं एवं आख्यायिकाओं की बृहद संहिताएँ। इन्हें भी जातक एवं अवदान नामक दो विभागों में विभक्त किया जाता है। जातकमाला की कथाएँ, एक हल्के एवं सूक्ष्म समान कथातन्तु से सम्बद्ध हैं क्योंकि सभी कथाएँ बुद्ध की कर्मणा आप्लावित आत्मा की अनवरत साधना को व्यक्त करने के उद्देश्य से ही लिखी गई हैं। अवदान कथाएँ वस्तुतः गौतम बुद्ध एवं उनके कनिष्ठ एवं अंतरंग सखाओं एवं अनुयायियों के साक्षात् जीवन से सम्बद्ध हैं। कुछ अवदानों के सफलता में हम घटनाक्रम का संयोजन, जीवन चरित्रात्मक उपन्यास साहित्य की शैली से मिलता जुलता दिखाई पड़ता है।

उपरोक्त बौद्ध कथासाहित्य का प्रवृत्त गौतम बुद्ध के जीवन काल में ही माना जाता है। इतिवृत्तकार, भगवान् बुद्ध का जन्म सन ५२६ ई० पू० में मानते हैं एवं उनकी निधन तिथि ४८६ ई० पू० मानी जाती है। तदनुसार हम बौद्ध कथा साहित्य का प्रवृत्त इसवी पूर्व पांचवीं शती के उत्तरार्ध से ही मानते हैं। जानाभ्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस कथासाहित्य के प्रवृत्त क काल के सम्बन्ध में विशेष खोज की है—

एक श्रेणी के बौद्ध लोगों का विश्वास है कि गंगा स्याम ब्रह्मा आदि देशों में प्रचलित जीव पात्री भागों में निहित, जो बौद्ध ग्रन्थ मिले हैं उनमें से प्रधान प्रधान बुद्धदेव के शीमुख से उच्चरित हुए थे। लेकिन ज्ञान तो उक्त ग्रन्थों से भी स्पष्ट है कि बुद्ध स्वयं कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। उन्हीं से यह भी पता चलता है कि वे सग्रह समय समय पर जाते बौद्ध संगीतियों (महासम्मेलनों) में बड़े बड़े आचार्यों के निणयानुसार संप्रहीत हुए थे। पाली ग्रन्थों में कुत्र मिला कर ऐसी नौ संगीतियों का उल्लेख है। प्रथम संगीति, बुद्धस्वयं के महानिर्वाण के कुछ ही दिनों बाद राजगृह में स्थित महाशासण के उद्यान में हुई थी। दूसरी महत्वपूर्ण संगीति बुद्ध निर्वाण के दो वर्ष बाद यमानी (वशानी) में हुई थी। तीसरी संगीति सबसे महत्वपूर्ण है जिसे शोक संगीति भी कहते हैं। [यका की परम्परा के अनुसार यही तीसरी संगीति है।] इसमें निस्स (गिष्थ) ने चुने हुए एक हजार भिक्षुओं की समावृत्ति थी जो नौ महीने के बाद तीन पिटकों का सग्रह करने में समय हुई।<sup>१</sup>

उक्त विचार विमर्श से यह प्रकट है कि पाली में रचित प्राचीनतम बौद्ध कथा साहित्य का काल इसवी पूर्व पांचवीं शती से तीसरी शती तक का है। आगे चल कर संस्कृत भाषा में भी, पाली ग्रन्थों के स्फूर्ति होते चले गए। संस्कृत भाषा में उपलब्ध बौद्ध कथा-साहित्य का एक महत्वपूर्ण अंग है अवदान साहित्य, उनमें भी

१ हिन्दी साहित्य की भूमिका (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) परिशिष्ट ४, 'बौद्ध साहित्य', पृष्ठ १५१-१५२

'महावस्तु अवदान', बौद्ध धर्म की हीनयाग भागा वा, एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ माना जाता है। 'महावस्तु अवदान' के बारे म आनाम द्विवेदीजी ने 'मिम्न परिचयारमक टिप्पणी दी है—

"यह पुस्तक महागाधिक सप्रणय की लोकोत्तरवाणी भागा वा 'विनयपिटक' है। लोकोत्तरवाणिया ने गा स बुद्ध लोकोत्तर चरित्र के पुम्प हैं। य वेत्त लीला के लिए शरीर ग्रहण करत हैं परमाथत नही। 'महावस्तु अवदान' म वस्तु बुद्धदेव वा जीवण चरित्र ही ग्रथित है। साग ग्र य बुद्धदेव के लोकोत्तर चरित्र और उरा मातो वार्यो स भरा है। यद्यपि यह पुस्तक बुद्धदेव की जीवनी है पर यह जीवनी सिलसिलेवार नही लिखी गई है। बीच बीच म जाना की कहानियाँ और धार्मिक व्याख्याएँ बादि प्राप आते रहते हैं। दग ग्र य म ऐसी जातक और अवदान कथाएँ भी पाई जाती है जिनका पाली (बौद्ध साहित्य) म कोई पता नही चलता।

'अवदानो' म भी जातक कथाओ की भाति ही बुद्धदेव के पूर्ववर्ती जन्मो की उल्लेख-योग्य घटनाओ वा निरूपण हाता है। अवदान शतक म लो अवदान सग्र हीत हैं। इस ग्रन्थ वा अनुवाद ईसवी सन के प्रवतन व दो सी वष बाद चीनी भाषा म हा गया था। कहानियाँ अधिकतर सरुत गद्य म लिखी गई हैं। अनुमान है कि इमगा वतमान रूप अतिम बार ईमवी सत् की चौथी शताब्दी म निश्चित हो गया हागा। 'मद्रकन्पावणा' म उपमुत्त और अशोर की ३४ कथाएँ हैं। अवदान शतक की कहानियाँ को अधिकांश म उपजीव्य मान कर लिखी हुई एर अय पुस्तक है चित्रावदान। अवदान-मात्रिय वा अन्तिम महत्त्वपूर्ण कृति प्रसिद्ध काश्मीरी कवि क्षेमद्व की 'अवदान कल्पना' है जा ग्यारहवीं शताब्दी म लिखी गई थी। तिब्रत म इस पुस्तक वा बहुत भाग है।<sup>१</sup>

बौद्ध साहित्य के सम्बन्ध म प्राप्त तय प्रामाणिक विवरणो मे भी प्रकट है कि यद्यपि पाली भाषा म प्राचीनतम बौद्ध कथा साहित्य वा आद्य प्रवतन ईसवी पूर्व पाँचवीं शती से ईमवी पूर्व तीसरी शती के बीच हो चुका था किन्तु सरुत भाषा म उपलब्ध आद्य बौद्ध अवदान-साहित्य हम ईसवी सन के प्रवतन की प्रथम दो शतियो म ही उपलब्ध हाता है। सरुत गद्य म लिखा गया उमका सुविकसित एव परिष्कृत रूप ईमवी सन की चौथी शती वा भागा जाता है। यह बौद्ध कथा साहित्य, पर्याप्त काल तक सरुत उप-यास साहित्य के समानातर भी चलता रहा था।

'उपनिषद कथाचक्र' तथा बौद्ध अवदान साहित्य ने, भारतीय उप-यास के आद्य आविर्भाव तथा उसकी मुख्य प्रवतियो पर अपना अपना प्रभाव भी छोडा है। उपनिषद कथाओ ने भारतीय उप-यास साहित्य को सूत्रम दार्शनिक चिन्तन वृत्ति

१ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी) परिशिष्ट ५, बौद्ध सरुत साहित्य, पृष्ठ १६३-१६५

एक विचारगत गहनता प्रदान की है। आज भी यदि हम भारतीय उपन्यास साहित्य की, विश्व की अन्य भाषाओं में प्रचलित उपन्यास-साहित्य से तुलना करें, तो पता चलेगा कि अत्यदंशीय उपन्यास साहित्यों में, भारतीय उपन्यास साहित्य की तुलना में दार्शनिक गहनता कितनी विरल है। उपनिषद साहित्य में, एशिया के अन्य भाषा साहित्यों की उपन्यास विधा को भी, पर्याप्त चिंतनशीलता एवं गुरु गभीरता प्रदान की है। कथारमकी दृश्यमान कालकान्ठ के नीचे, गहन दार्शनिक चिंतन धारा की सूक्ष्म धिरकन के कारण ही, हम प्राच्य एवं पाश्चात्य उपन्यास के बीच के अंतर को, सहज ही पहचान जाते हैं।

जीवन और जगत के मरलतम सत्य ही, अस्तुत, मानव के लिए, जटिलतम पहलियाँ हैं। उपन्यासकार के इस दार्शनिक समाधान-यत्न को, उपनिषदों ने सरल सहज कथाओं द्वारा समझाया है। इन कथाओं की प्रणाली ही कुछ ऐसी है कि वे अश्रित हीन ज्ञान पढती हैं। चाहे हम उन्हें पृथक् कथा व्याख्यायें समझ लें, चाहे उन सब का परस्पर तारतम्य में रख कर, 'उपन्यास' मान लें। उनके पात्र, घटनाएँ एवं तथ्य, सावदेशिक एवं सावकालिक हैं। हमारा उपन्यास साहित्य भी इसी विशिष्टताओं के कारण गरिमामय है तथा वह, विश्व-साहित्य की चरम ऊँचाई का कोसूने वाला है।

उपनिषद कथाचक्र की भाँति बौद्ध अवगान साहित्य की भी अपनी निजी देन है। भारतीय उपन्यास साहित्य एवं विश्व उपन्यास साहित्य पर, बौद्ध कथा साहित्य के प्रभाव की एक निजी विशिष्टता है उपन्यास में अनेकानेक जन्म जन्मान्तरो की महागाथाओं का समावेश। उसमें मानव जीवन का विस्तार एवं वाय व्यापार उसके पार्थिव एवं सीमित नश्वर जीवन तक ही सीमित नहीं है वरन् उसके जीवन-सूत्र तथा कर्मसूत्र, अनादि और अनन्त हैं। यह रूप परिवर्तन, पार्थिव शरीर परिवर्तन से, कहीं अधिक गहन एवं मूलभूत है जिसकी जड़ें, अनश्वर आत्मा में जमी हुई हैं। इसी तथ्य का परिचायक है, बौद्ध कथासाहित्य।

मानव जीवन में उदात्त एवं सतीगुणी प्रवृत्ति के प्रदर्शन के लिए अनेक अवसर समुपस्थित होते हैं। यदि मानव आत्मा को धारम्भार भी जन्म लेना पड़े और उसे लोक विश्वास के अनुसार 'लख चौरासी जान' (चौरासी लाख योनियों—पार्थिव शरीर परिवर्तन चक्र) में होकर बहुमन्य रूप भी धारण करने पड़ें, तब भी उसकी देवी सम्पत्ति (परहित, सबभूत दया, परदुःख वातरता एवं आत्मोत्सग जैसे सद्गुण) सदा ही उसके साथ बनी रहती है। आत्मा की इसी अविनश्वरता एवं उदात्तता को, कथासाहित्य के सुत्र एवं मनोहर माध्यम द्वारा, मानव माय में परियाप्त करना ही, साहित्य की सर्वोत्कृष्ट चेतना है। बाण की 'बादरी जन्म जन्मान्तर की कहानी है। आधुनिक भारतीय उपन्यास साहित्य में भी, जन्म जन्मान्तर की कथा-परम्परा, निमूल

नहीं हुई है। उदाहरणार्थ, बंगला भाषा में विभूतिभूषण बसुपाष्याय कृत 'देवयान हिन्दी में श्री प्रेमचन्द कृत 'कायाकल्प' (एव अथ अनेक हिन्दी उपन्यास) तमिल भाषा में 'वल्कि द्वारा लिखित 'सोलमल की राजकुमारी' तथा कन्नड भाषा में रचित आचार्य के० वी० जय्यर कृत 'शान्तला आदि में, यह अजस्र परम्परा सद्यः ही अपनी उच्चतम साहित्यिक गरिमा से अलित, समुपलब्ध है।

बौद्ध कथासाहित्य के 'अवदान-साहित्य' को, भारतीय उपन्यास साहित्य की परम्परा में, जीवन चरित सम्बन्धी समस्त उपन्यास साहित्य का आद्यरूप कहा जा सकता है। ये जीवनिया लोकोत्तर विशिष्टताओं एव चमत्कारी काय कलाओं से विस्मय विमुग्धकारी है। महापुरुषों, राष्ट्रीय वीरों एव सन्ता की जीवनियों से सम्बन्धित, सभी भारतीय उपन्यासों में, उक्त सभी लक्षणा का, जाने या अनजाने, आ जाना स्वाभाविक ही है।

बौद्ध अवदान साहित्य, त्यागत के जीवन से सम्बन्धित घटनावली तक ही सीमित नहीं रहा तथा उसमें, उपगुप्त एव अशोक आदि के जीवन सम्बन्धी अनेक कथाप्रसंग भी समाविष्ट हो गए। लोकोत्तर चरित गाथाओं के पात्रों के समान उन्हें भी उदात्त एव चामत्कारिक परिवेश में प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार अवदान साहित्य ने (भारतीय उपन्यास साहित्य परम्परा में) मातृवीय पात्रों की जीवनियों से ली गई उदात्त एव लोकोत्तर घटनाओं की भूमि पर उपन्यास रचना की दिशा में मार्गदर्शन किया है। आधुनिक हिन्दी उपन्यास साहित्य में भी लोकोत्तर चरितों को व्यक्त करने वाली अनेक श्लाघनीय औपन्यासिक कृतियाँ रची गई हैं जिनमें स्व० श्री दत्तात्रेयलाल वर्मा कृत 'विराटा की पदमिनी' तथा 'भाँसो की रानी लक्ष्मीबाई' एव श्री हजारिप्रसाद द्विवेदी कृत 'बाणभद्र की आत्मकथा तथा 'चारु चन्द्रनेत्र विशेष तथा उत्प्रेरक हैं।

उपनिषद् कथा साहित्य तथा बौद्ध जातक अवदान कथा साहित्य के कथाचक्रों के पश्चात् संस्कृत भाषा में उपलब्ध महान सुविकसित एव सगृह्य उपन्यास-परम्परा के पूर्ववर्ती जपधर्म भाषाओं में प्रवृत्त, विशाल एव विलक्षण वृहत् कथा साहित्य को भी भुलाया नहीं जा सकता। इस विशाल कथा साहित्य ने शतियों तक, भारतीय जनसाधारण को, उत्कृष्ट साहित्यिक मनोरंजन एव सात्त्विक आनन्द प्रदान किया है। इसका प्रवृत्त-काल हम सातवाहन राज्यवश काल से (अथवा प्रथम ईसवी शताब्दी से) लेकर, ईसवी ग्यारहवीं शती तक मान सकते हैं। इस वृहत् कथा साहित्य ने भारतीय भाषाओं में प्रचलित उपन्यास साहित्य का ही नहीं, बरन् विश्व भर में प्रचलित कथा-साहित्य को भी असह्य कथानक प्रदान किए हैं।

प्राचीन भारतीय लोकभाषाओं में न जाने कितने रस सिद्ध कथाकारों ने अपनी अद्भुत एव विलक्षण महाकथाओं अथवा उपन्यासों की रचना की थी। किन्तु उस समग्र कथा रत्न माला के, गुणाढय सुमर माने जाते हैं। उन्होंने आज से लगभग द

सहस्र वर्ष पहले पशाची भाषा में, अपनी विश्वविभूत महागाथा 'बृहत् कथा' का प्रणयन किया था। वस्तुतः गुणाढ्य की यह अनूठी कृति भारतीय कथा वाङ्मय में एक नई परम्परा की प्रवर्तिका बनी। प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश भाषाओं में 'बृहत् कथा-कथावक्र' के अनेकानेक प्रयोगों की रचना, सुग्रीव काल तक होनी रही। स्वयं बृहत्कथाकार गुणाढ्य का सम्बन्ध में अनेकानेक देशों और विदेशी विद्वानों ने बहुत कुछ अनुमान किया है तथा उनकी कृति की अनेकानेक विशद-प्राप्तियाँ भी की हैं। आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने गुणाढ्य एवं उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा 'पशाची' तथा गुणाढ्य के देशकाल पर पर्याप्त विचार विमर्श किया है —

'लगभग दो हजार वर्ष पहले, पशाची प्राकृत में बृहत्कथा' नाम का कथाग्रन्थ लिखा गया था। यह मूलग्रन्थ खो गया है पर उसके संस्कृत रूपान्तर, (जिनमें 'कथा सरित् सागर', 'बृहत्कथा मञ्जरी', 'बृहत्कथा शनोक्तमग्नह' आदि मुख्य हैं) पाये जाते हैं। इन कहानियों का आश्रय करके संस्कृत में अनेक कथा ग्रन्थ लिखे गये हैं।'

पशाची भाषा, लोकभाषा थी और सम्भवतया वह 'आभीरी प्राकृत का ही अन्य नाम है। आभीरी प्राकृत का प्रचार, जिन प्रदेशों में अधिक वाङ्मय के साथ पाया जाता था वे थे—पंजाब का हरियाना प्रदेश (प्राचीन नाम 'टङ्क'), राजस्थान का मारवाड़ प्रदेश (प्राचीन नाम 'रण') गुजरात का सोरठ प्रदेश (प्राचीन नाम 'सुराष्ट्र') मध्यप्रदेश का बुन्देलखण्ड प्रदेश (प्राचीन नाम 'भादानक') आदि। जिस काल का प्रमाण प्रस्तुत है उसमें अपभ्रंश भाषा का नाम ही आभीरी था। आचार्य द्विवेदी जी आभीरी को प्राकृत की आदि भाषा ही मानते हैं —

अपभ्रंश भाषा सन ईसवी के प्रथम शतक में आभीरी नाम से लक्ष्य की गई थी और भारतवर्ष के पश्चिमोत्तर सीमान्त में बोली जाती थी। आभीरी का विशेष प्रकार का स्वर-वचिन्त्य, और उच्चारण-प्रावण्य, इसका प्रधान लक्षण था। यद्यपि यह आभीरी नाम से पुकारी गई पर भी वह प्रायः भाषा ही (आन्ध्रवासियों की आदिम भाषा नहीं)।

सन ईसवी छठी शताब्दी में इस भाषा को भामह और दण्डी जैसे आलंकारिकों ने भी उल्लेख-योग्य सम्भवा। तब भी यह आभीरी से विशेष रूप से सम्बद्ध मानी जाती थी। अनुमान है कि आभीरी के हाथ में राज्य सत्ता आने के साथ ही इसमें काव्य लिखे जाने लगे होंगे।'

१ 'हिन्दी साहित्य की भूमिका' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) परिशिष्ट १, संस्कृत साहित्य का परिचय पृष्ठ १-५ (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई)।

२ वही, अध्याय १, पृष्ठ २२-२३





कारण उसका जो कुछ बल यत्नाग्नि में झाका जाने से बच गया था वही, परम्परागत लोकसाहित्य में, चिरकाल तक प्रचलित रहा तथा ग्यारहवीं शती में थोमेन्द्र एव साम देव ने उन बिखरी हुई अगणित कथाओं को संस्कृत भाषा में संपादित एव संकलित कर डाला।

सौराष्ट्र के प्रख्यात लोकवाक्ताविद् एव राष्ट्रीय महाकवि श्री चवेरचन्द मेघाणी ने भी अपनी व्याख्यान-माला में, उक्त गुणाढ्य सम्बन्धी प्रसंग का बड़े ही मार्मिक एव भावुक शब्दों में उल्लेख किया है—

‘वह काल, संस्कृत, साहित्य एव संस्कृतिका सुवर्णयुग था। ब्राह्मणों के घरों में गुण सारिकाएँ तक, संस्कृत में वार्त्तालाप करती थीं एव राज दरबारा में भी उसी का आदर होता था। यहाँ तक कि वाद विवादा, शास्त्रार्थों, गण्पाण्टका, ज्ञान-भोष्टियों, गीता एव कथाओं में भी, एकमात्र संस्कृत भाषा के अतिरिक्त, किसी भी भाषा का माध्यम स्वीकार नहीं किया गया था। ऐसे काल में एक राजा की विद्वत मण्डली में एक व्यक्ति ने प्रवेश किया और वह व्यक्ति था पैशाची भाषा की लोककथाओं का प्रख्यात मालाकार गुणाढ्य।’

गुणाढ्य कौन थे? कहाँ और कब हुए? इस सम्बन्ध में अभी तक बहुत सी भ्रान्तियाँ एव अनुमितियाँ प्रचलित हैं। किन्तु ‘वहल्ल्या’ में पाए गए उल्लेखों के आधार पर, तथा ग्रथ में आमासित देशकाल के प्रतिबिम्बों को दृष्टि में रखा जाए, यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि गुणाढ्य प्रतिष्ठान (पठन महाराष्ट्र) के प्रतापी सातवाहन सम्राट् श्री शातकर्णी के काल में हुए थे। इतिहासकार भी इस बात में सहमत हैं कि वे एक सातवाहन राजा के दरबार में रहते थे।

गुणाढ्य की महान कथाकृति में पाए जाने वाले अन्तसाक्ष्य एव वहि साक्ष्य के आधार पर, यह भी माना जा सकता है कि वे मध्य देगवर्ती बुदलखण्ड के ही निवासी रहें होंगे और सम्भवतया वे अपनी कृत्तव्यता का लक्ष्य मन्त्रप्रथम, पाटलिपुत्र के काण्ववशीय राजा के दरबार में उपस्थित हुए होंगे। जशोव के पश्चान तथा ह्यासमान मौर्य सम्राज्य के पतन के पश्चान क्षुगवशीय एव काण्ववशीय राजाओं के काल में न केवल बौद्ध धर्म का ही तीव्र प्रतिरोध किया गया वरन् उनके द्वारा प्रास्ताहिन लोकभाषा जयान प्राकृत का भी तीव्र प्रतिरोध किया गया था।

१ ‘लोकसाहित्य नु समालोचन’ (द्वारक बसाजी माधवजी व्याख्यान माला १९४१-४२—अमरद विश्वविद्यालय द्वारा आयोजित) व्याख्याता—श्री चवेरचन्द मेघाणी, व्याख्यान प्रथम ‘काव्य भाषाणी साहित्य मीमांसा’, पृष्ठ १२ एवं १९४३

२ भारत का इतिहास पृष्ठ ११० (गिन्तारवरप्रसाद सिंह) हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, बनारस (१९५०),

पश्चात् विलासी एवं निवृत्त सम्राट, पुरुगुप्त के वृद्ध एवं निवृत्त हाथ में, गुप्त साम्राज्य का राजदण्ड विचलित हो उठा था। देश पर विदेशी आक्रमण के बादल मडरा रहे थे। सुबधु को इस संकटकाल में सहसा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य की याद दिलायी (जिनका निधन सन् ४६७ ईसवी में हो चुका था) अपने ग्रन्थ के एक ही प्रस्तावनागत श्लोक के द्वारा, मानो सुबधु ने अपनी कृति के रचनाकाल तथा उसमें परिव्याप्त घोर अराजकता, दोनों का ही पर्याप्त स्पष्ट संकेत दे दिया है

‘सा रसवता विहता, न चका विलसति चरति नो क्व ।

सरसीव कीर्तिशेषम गतवति भुवि, विक्रमादित्ये ॥ १० ॥

[जिस प्रकार सरसी या तलया के पक्कात्र या स्थलमात्र क्षेप रह जाने पर वह सारस पक्षियों से विहीन हो जाती है—यहाँ तक कि उसमें बगुन तक भी नहीं दिखाई पड़ते (श्रीऋष) और न ही वहाँ क्व पक्षी ही विचरत है, उसी प्रकार, पृथ्वी पर विक्रमादित्य के कीर्तिशेष हो जाने पर वह रसवता (रस में विभोर हो जाने की आत्ममग्नता) भी विनष्ट हो गई है। नय-नये कविगण (या अधिकारीगण) अपनी अपनी शान वधारन लग्यौ माण्डलिक राजागण अपना अपना गुणगान करने कराने लग्यौ मला जाज कीन किसको खा जाने को उत्सुक नहीं है ?]

‘विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाल तथा अश्वमेध यज्ञ द्वारा ‘द्विग्विजयी सम्राट’ बहाने वाले तीन महान नपति, गुप्त राजवंश में हुए हैं। उनके नाम क्रमशः ये हैं—चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त विक्रमादित्य तथा स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य। यदि सुबधु ने अपनी अनूठी औपन्यासिक कृति ‘वासवदत्ता’ की रचना उक्त तीनों प्रतापी गुप्तवंशीय सम्राटों में से पहल दोन में से किसी एक के राजत्वकाल में की हानी तो फिर उससे स्वर में इतनी महान निराशा तथा इतना घना विषाद कैसे पाया जा सकता था ? अतः उक्त प्रस्ताविक श्लोक के अंतर्साध्य के आधार पर ही यह बात निश्चयपूर्वक कही जा सकती है कि सुबधु की ‘वासवदत्ता’ की रचना, स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के निधन (सन् ४६७ ई०) के ठीक पश्चात् ही की गई थी। स्कन्दगुप्त विक्रमादित्य के निधन के बाद अथवा ईसवी सन् ४६७ ई०, से ४७६ ई० तक क्रमशः पुरगुप्त (स्वर्णगुप्त का भाई), नृसिंहगुप्त (पुरगुप्त का पुत्र) तथा कुमारगुप्त (द्वितीय) ये तीन सम्राट क्रमशः १ वर्षों के अन्तर में सिंहासनाह्वृत हुए। उनके पश्चात् बुद्धगुप्त, भानुगुप्त आदि अनेक गुप्त नरेश और भी हुए। भानुगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य केवल पूर्व में सिमित कर रह गया और अंत में

१. वासवदत्ता (सुबधु) टीकाकार प० गकरदय शास्त्री, प्रस्तावना विषयक प्रारम्भिक श्लोक १०) (चीनवा विद्याभवन बनारस १) (विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला २), २०११ विक्रमी (प्रथमावृत्ति)।

वह, आठवीं शती के अंत में, काल कवचित ही हो गया। सुबधु ने जब अपनी औपन्यासिक कृति 'वासवदत्ता' की रचना की, वह स्वप्नगुप्त के निधन के पश्चात्, गुप्त साम्राज्य की विपादमयी सध्या तो था ही, साथ ही वह राष्ट्र भर की सुरक्षा, शांति एवं जनजीवन के लिए भी, एक महान राष्ट्रीय सकट की बला भी थी। यही तथ्य, उक्त अत्यंत मार्मिक एवं साकेतिक प्रस्तावना गत श्लोक द्वारा, समर्थित होता है। इस भांति 'वासवदत्ता' की रचनातिथि निश्चित रूप से सन ४७० ई० के आस पास की ही थी।

'वासवदत्ता' में वृसुमपुर की राजकन्या 'वासवदत्ता' के स्वयंवर आदि के प्रसंग में, पाण्डु वीर्य एवं जैन साधुओं के प्रति, उपन्यासकार की तीव्र विरक्ति भी झलक आई है। इन्हीं के धार्मिक पडयंत्रों तथा उनके द्वारा फलाई गईं तंत्र मंत्र एवं लोकोत्तर सिद्धियाँ आदि की भ्रात धारणाओं ने ही विलासी पुरुगुप्त के राज्य सिंहासन पर आरूढ़ होते ही, अपना सिर उठाना प्रारम्भ कर दिया था। जागे चल कर ये पडयंत्र ही गुप्त-साम्राज्य के विनाश का एक प्रबल कारण सिद्ध हुए। धार्मिक असहिष्णुता, विदशियों के आक्रमण के द्वार खोल ही देती है। हूण अपने को बौद्ध बताते थे, अतएव बौद्ध भिक्षुगण सदैव ही उन्हें, गुप्त सिंहासन पर बिठाने में प्रयत्नशील रहें। वे अपनी अधी धर्म भक्ति के नगे में, देशभक्ति को मूल गए थे।

तत्कालीन गद्य महाकाव्यों या उपन्यासों के प्रारम्भ में श्लोकवद्ध प्रस्तावना एवं मंगलाचरण आदि रखे जाने की परिपाटी थी। सुबधु ने भी अपने उपन्यास के प्रारम्भ में १५ श्लोक आर्या छंद में रचे हैं और तब अपनी मूल कथा प्रारम्भ की है। प्रथम श्लोक में सरस्वती वन्दना द्वितीय में गोवधन पवत उठाने के कारण किंचित शिथिल भुजाओं वाले श्रीवृष्ण की श्रम सञ्कृति प्रवतक छवि का स्मरण, तीसरे में श्रीवृष्ण की वपुःशामा का वणन तथा चौथे में त्रिदशभूषण शिव की वन्दना है। शेष तीनों श्लोक प्रस्तावना रूप हैं।

इस प्रस्तावना भाग में सुबधु ने क्रमशः सज्जन स्तुति, पिशुन निन्दा, दुर्जन निन्दा, निन्दक भस्मना, सज्जना की कीर्तिवधन की आकांक्षा, विज्रमादित्य के निधन के पश्चात् भारत दुर्दशा का उल्लेख, रससिद्ध कविया की वाणी की प्रशंसा, उत्तम आलाचक्रा का गौरवगान तथा अंत में अपना वंश-परिचय दिया है। अपने परिचय में सुबधु ने कबल वतना बताया है —

सरस्वती दत्त धर प्रसाद चक्रे सुबधु मुजनैक वधु ।

प्रत्यक्षर श्लेषमय प्रथम विन्यास वदग्धय निधि निबद्धम् ॥'

[सरस्वती देवी ने अपने वरदान के द्वारा जिस पर अपना वृषामावृत्तियाँ हैं जो एवमात्र सज्जनो का ही वधु है उस (सुबधु) ने, प्रति अक्षर में,

श्लेषाथ को समर्पित करके, प्रथम वि-यास में, विदग्धा की निधि के समान इस 'वासवदत्ता' का निवर्धित किया है।]'

सुवधु ने इस भाँति अपने प्रस्तावना भाग के १३ श्लोकों में, प्रथम एवं अन्तिम श्लोकों में 'सरस्वती' की ही वदना की है। अतएव यह मान लेना सहज ही है कि सुवधु की मातृश्री का नाम 'सरस्वती' ही था। उक्त श्लोक से ही यह भी ध्वनित होता है कि उ होने अपने पिता का भी स्मरण माता के साथ ही साथ किया है। उनका नाम 'दत्तात्रय' था। श्लोक के अन्तिम चरण से यह भी जान पड़ता है कि सुवधु का पालन पोषण उनका माता ने ही किया था और पिता का आश्रय उह अधिक काल पर्यन्त नहीं प्राप्त हो सका। व जपन माता पिता के इकलौते बेटे थे और इसीलिए उ होने सुजना की ही अपना एकमात्र बंधु माना है।

उक्त अन्तिसाध्य के पश्चात्, 'वासवदत्ता' नामक इस अलौकिक एवं प्रतिभा प्रसूत आद्य उप-यासिका की अनोखी वणनात्मक कला पर भी ध्यान देना उपयुक्त होगा। मंगलाचरण का चौथा श्लोक इस वणन प्रतिभा का यत्किंचित आभास दिला जाता है —

'स जयति हिमकर लेखा चभ्रास्ति यस्थोमयो सुफातिहिता ।  
नयन प्रदीपकज्जलविरक्षया रजत शुक्तिरिव ॥'

[उस हिमकर लेखा (चन्द्रमा की सूक्ष्म रेखा) से अर्कित चन्द्रमाल शिव की जय होवे, जो उस रजत शुक्ति (चांदी की आभावाली सीपी) के समान जान पड़ती है जिसे भगवती गौरी ने दीपज्योति के समान प्रज्वलित मध्य के तीसरे नेत्र पर माना अपने नयनों में जाँजने के लिए काल उतारने की इच्छा से टिका रखी है।]

उक्त आर्या में हिमकरलेखा 'रजतशुक्ति' नयनप्रदीप पदों में जो दृश्यमान सौन्दर्य घाल दिया गया है उसका मर्म कोई कुशल चिन्तेरा ही समझ सकता है।

'वासवदत्ता' की कथा में अथ समी लोकाप्रिय लोकाकथाओं की भाँति ही एक राजा था।<sup>१</sup> स प्रारम्भ हाती है। राजा का नाम था चित्रामणि। व उन समी राजाचित्त गुणों से युक्त थे जो आदश माने जाते थे। उनका शासक काल सुखद एवं प्रतापयुक्त था। समी भाँति की सुख समृद्धि फली हुई थी। प्रजा निरापद थी। 'याय' आदश था। राजा में समी दिव्यगुण पाए जाते थे। और उने सुदक्षिणा

१ 'वासवदत्ता' (सुवधु), श्लोक १३

२ वही, श्लोक ३

३ वही—'अभूतपूर्वपूर्व सर्वोवीपिति राजा चित्रामणि नाम।—पृ० ७११

नामक अपूर्व रूपशील-सम्पना महारानी भी मिली थी। उसी के कदपकेतु नामक राजकुमार का जन्म हुआ।

वासवदत्ता' के कथाप्रवाह के बीच भी अनकानेक स्थलों पर ऐसे उल्लेख आए हैं जिससे कवि के देशकाल के सम्बन्ध में विविध रोचक तत्त्व समझ आते हैं। यथा वासवदत्ता के स्वयंवर वणन से ठीक पहले, दक्षिण पवन के संचरण मार्ग का विवरण देते हुए सुवधु ने कर्णाट (कर्णाटक) अपरांत (पश्चिमी घाट) केरल, आंध्र एवं मालव (मध्यप्रदेश) की रमणिया की विशिष्ट वेशभूषा एवं आकृति निदान सम्बन्धी अनूठे वणन प्रस्तुत किये हैं जिससे प्रकट है कि सुवधु ने दक्षिणापथ का धुर दक्षिण तक व्यापक भ्रमण देशाटन भी किया था।<sup>१</sup>

स्वयंवर के समय कुछ राजकुमार तो जपन बालशेप के लिए जमिनि के अभिमत की युक्तियों द्वारा बौद्धमत के खण्डन में प्रवृत्त थे<sup>२</sup> तथा कुछ बृहत्कथा' के प्रसंगों को सुना कर 'गुणाढ्य' होने का दावा कर रहे थे। उक्त दो उल्लेखों से दो तथ्य सामने आते हैं—देश में बौद्ध धर्म के ज्वलन्तियों तथा उनके मार्गदर्शक ढागी बौद्ध साधुओं के प्रति पर्याप्त आक्रोश था क्योंकि वे बहुधा धर्म का आचरण छोड़ कर राजनतिक पड्यत्रो में उलझे रहत थे। दूसरे इस बात का भी पता चलता है कि सुवधु के काल में भी गुणाढ्य एवं बृहत्कथा की लोकप्रियता अक्षुण्ण रूप से बनी हुई थी।<sup>३</sup>

फिर कथाकार राजा एवं रानी का गुणानुवाद छोड़ कर राजकुमार कदपकेतु के गुणगान एवं शीलप्रशस्ति में प्रवृत्त होता है। यह विवरण पर्याप्त ऊँचा पोहोचता है और पृष्ठ २१ से पृष्ठ ३१ तक प्रसरित है। इससे पश्चात् मुख्य कथा का सूत्रपात होता है। राजकुमार ने रात्रि के चौथे पहर में एक विचित्र एवं सुखद स्वप्न देखा। उक्त प्रारम्भिक जटिल एवं दुरूह चमत्कारपूर्ण आमुख के पश्चात् सुवधु ज्योही कथा कहने के रस से प्रभावित हाते हैं उनकी देखनी एक से एक उत्तरोत्तर नयनानिराम चित्रपटियाँ चित्रित करने में प्रवृत्त हो जाती है। सुवधु ने कथाप्रवाह के बीच बीच जिन वणनों का समावेश किया है उनमें से अधिकांश में हम कल्पना विलास एवं सौन्दर्य विभूति के भाग्य दशन होने हैं और वह लेखक की कलादृष्टि एवं भावप्रवणता दोनों का ही परिचायक है।

वासवदत्ता नामक गद्य महाकाव्य (उपन्यास) में आए हुए विशिष्ट वणनों एवं उनकी वणनात्मक कलागत विनोदनाओं का सामोपाग एवं विशद विवेचन ता

१ 'कदपकेतु' के सम्पत्त मलयमागत गयी।' वाला अवतरण, वासवदत्ता' पृ० १२०-१२२

२ केचित् जमिनि मतानुसारीणा इव तथागत मतवसिनः ।

— वही पृष्ठ १२७-१२८

३ केचित् बृहत्कथा अनुवाधन इव गुणाढ्या ।—वही, पृष्ठ १३१

सागरतटवर्ती ऋषि के आश्रम म जा पहुँची । उसके हरण कर लेने के प्रयास म दो दस्यु-लो मे भीषण युद्ध हुआ और आश्रम नष्ट भष्ट हो गया । इस घटना स शुभ ऋषि के शापवश, वामवदत्ता, प्रस्तर प्रतिमा बन गई । किन्तु जब कल्पकेतु ने मटकते मटकते उसे देखा तो उसके छूने ही वह पुन जीवित हो गई । इससे पूर्व वासवदत्ता की खोज मे मटकते हुए कल्पकेतु ने, जय सौराष्ट्र के तटवर्ती 'गिर' नामक महाकात्तार मे प्रवेश किया ता उसने देखा कि वह—

'नवीन हरे भरे नरकुल, उशीर कमलिनी चेत, सई, अशोक सरल, विन्ल, वयुल करज वेल आदि वृक्षा मे परि-याप्त प्रदेश था । प्रचुरता से बनी हुई मिन मिन प्रकार की पणशालाओ के आंगनो म, जगली मल्लिका की झाडिया फूलो से मरी थीं । सुदरी नामक वृक्ष के कुज उत्कठित भ्रमर दलो के गुजन से, मनोहर थे । मली भाति वेत्रलताओ से जावेष्टित एव प्रच्छन्न नवीन वरुण वृक्ष की शाखाओं पर भ्रमरावली शोभित हो रही थी । वृक्षो क अध स्थल गोलागुलो (लगुरों) द्वारा तोडे हुए मधु छत्रको से टपकते हुए मधु की वर्षा से भोग रहे थे ।

वहाँ लवग (लौंग) चम्पक (चम्पा) मधुक तमाल लोध, कर्णिकार (कनेर) बदम्व आदि वृक्षो के सघन बन थे । मुचकुन्द नामक वृक्षो के स्व-घदेश (तने) हाथियो के कपोल-मदन के कारण मदजल से स्नात हो रहे थे । अचिर प्रसूत कुक्कुटियो ने वहाँ कुटज कोटर को अपनी कुटिया बनाई हुई थी । चटका (चिडिया) से प्रेरणा पाकर वहाँ बकवादी और घुशामदी चाटक (चिडा) शोर मचा रहा था । वहाँ के शिलातल चकोर चकोरियो के गुमो की ब्रीडास्थली होने के कारण बिरयात थे । बड़ा शिला-गीत की ग घ स सुगन्धित शिलाओं पर खरगोश के शिशु आन-पूवक लेटे हुए थे । यहा गोवा (गोह) के शिशु रोपालिका के जटा छिद्रो मे, विश्वस्त होकर लोट लगा रहे थे । वहाँ रक नामक मृगा के समूह निशक होकर ब्रीडा मग्न थे । मनोहर पिक आम्र मजरियो का भाग लगा रही थी । उन आम्र कुजो के नीचे चामरी (चामर मग) नीलगाए जुगली कर रही थी ।

निकटवर्ती पहाडी ढाल पर से उतरते हुए झरनो के श्रुति मधुर श-ट को सुनने के कारण निद्रा के आनन्द से अलसाए हुए हाथी अपने वण-तालों से दु-दुमी जैसा शब्द कर रहे थे । कृष्ण मृगो के भ्रुण्ड वही पास म ही किन्नरियो क संगीत का रस ग्रहण करने म मुग्ध स्थित थ । बनेले सु-र के शिशु अपनी घूँघनी, हरिद्रा (हल्दी) के रस से पीनी कर रहे थ । वही कही घुघची (गुजा) के कुजो मे विडाल (वनविलाव) के बच्चे, एकत्रित हा रहे थ । पाटली (दास) लता क पुष्पवृत्तो म महराने बानी नहीं मधुमन्थियो के द्वारा काटे जाने के कारण, बानरा क बच्चे, उन्हें अपने तीखे नखो द्वारा नीच रहे थे । वही सघन बन के बीच कही बेसरी सिहा (बवर नेरा) के अयाल मतवाले जगली हाथियो के गण्डस्थना के रक्त कपो से, रक्त वि-दु-अकित पिखाई दे रहे थे ।'

महासागर के निकटस्थ ऐसे कच्छ नामक सागरतटीय जलहृद प्रदेश के पास, कदपकेतु ने कुछ दूर जाने पर सागर को देखा ।<sup>१</sup> सुव पु वर्णित महासागर का यह विलक्षण वणन सम्भवतया पुरातन भारतीय उपयोगों के वणनों में सबसे अनुपम एवं अनूठा है । वस्तुतः बहुत कम प्राचीन सस्त्रुत उपयोगकारों ने सागर-वणन का चित्रण किया है । इसे इसलिये चिरस्मरणीय वणन को एक अर्थ स्थल पर आगे चल कर (छठे अध्याय में) उद्धृत किया जा रहा है ।

पाँचवीं शती (ईसवी) के अंत में रचित 'वासवदत्ता' तथा सातवीं शती ईसवी के प्रारम्भ में रचित 'हृषिकेश' के बीच लगभग सवा सौ वर्ष के अन्तर में (सुबधु तथा बाण के बीच) भी अनेक प्रतिभा-सम्पन्न उपयोगकारों ने उपयोग साहित्य का प्रणयन अवश्य किया होगा । किंतु जब तक इस काल की प्रामाणिक औपन्यासिक कृतियाँ उपलब्ध न हो जाएँ तब तक केवल इस कालांतर की कुछ देशकालगत उन विशिष्ट परिस्थितियों पर ही विचार किया जा सकता है, जिनके कारण उक्त सवा सौ वर्षों के व्यवधान का कारण सहित समाधान हो सके ।

इतिहासात्मक तथ्यों से प्रगत है कि 'वासवदत्ता' के रचनाकाल (सन् ४६७ ई०) से लेकर, 'हृषिकेश' के रचनाकाल (६१६ ई०) के बीच का युग विशेषतया उत्तरी एवं मध्यवर्ती भारत के लिए बड़े ही राष्ट्रीय संकट का काल रहा था । सुबधु के समय से ही उत्तर भारत के एकमात्र सावभौम शासन (गुप्त साम्राज्य) पर विदेशी आक्रांताओं के आक्रमणों का दौर शुरू हो गया था जो लगभग तीन शतियों तक प्रायः निरंतर ही चलता रहा । किंतु वासवदत्ता के रचनाकाल के पश्चात् लगभग आधी शती तक तो भीषण राज्य विप्लवादि के कारण, एक प्रकार से साहित्य-संजन तो क्या, समग्र जनजीवन ही अस्तव्यस्त सा हो गया था ।

उस काल की जो भी साहित्यिक कृतियाँ आज हमें उपलब्ध हैं, वे गुप्तकाल के विच्छिन्न ही ज्ञान के पश्चात्, मुख्यतया तीन राज्यों के द्रोह से सम्बद्ध रही हैं । आधुनिक मध्यप्रदेश में स्थित मन्सौर में, (जो गुप्त साम्राज्य के मानवा प्रदेश की पुरानी राजधानी थी), यशोवर्मन ने, एक नवीन एवं सबल राज्य की स्थापना की थी । उत्तर प्रदेश के दक्षिण मध्य में स्थित, कायकुब्जा या कन्नौज में, मीखरी वंश के ईशानवर्मन ने एक प्रभावशाली राज्य स्थापित किया था, जिसका प्रसिद्ध राजा गृहवर्मा भी, मालवा के यशोवर्मन की भाँति विद्वाना का आश्रयगता एवं गुणी नरेश हुआ । खानेश्वर के प्रसिद्ध सम्राट हर्षवर्धन की बहिन राज्यश्री उसे ही ब्याही थी ।

१ महासागर कच्छाधानेन कतिपयमध्वानम गत्वा जलनि भीमपश्य । (मूल पाठ, पृष्ठ २३४-२३६) तुलनीय 'कच्छाधात' — जलप्राय मनुष्यम् स्यात् पुंसि कच्छ तथाविध (अमरकोष)



नई बात को जानने के लिए मेरे मन में, तुरंत ही, कुतूहल का ऐसा आवेग उठता है, कि मैं उससे स्वयं भी लाचार हो जाता हूँ।<sup>१</sup>

अजिरवती गली के किनारे बसे हुए मणितारा नामक ग्राम के सन्निकट पड़े हुए सम्राट हृष के समय शिविर में जब बाण, हृष से पहले पहल भेंट करने गए थे, तब वे सम्राट से भेंट करन के प्रसंग को भूल कर, सहज ही, हृष के प्रत्यात हाथी— 'दशशत को दगने चल दिए। केवल यह एक छोटी सी घटना बताती है कि बाण कितने विकट जिज्ञासु थे एवं जीवन के प्रतिक्षण निरीक्षण में दृढ़ श्रद्धा रखने वाले कसे अल्हड़ और घुमक्कड़ी प्रवृत्ति वाले, मनमौजी साहित्यकार कलाकार थे। वे निरंतर ही, ससार का, अपनी जाखों से देखा हुआ अनुभव प्राप्त करने को, उमत्त से हो उठते थे।<sup>२</sup> बाण की 'चित्रप्राहिणी बुद्धि का परिचय श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने इस गति दिया है।

'बाण की बुद्धि चित्रप्राहिणी थी। उस पर फोटो की भांति प्रत्येक नये चित्र की गहरी छाप पड़ जाती थी। और उसमें उन सब दृश्या का सागोपान रूप लेखा जा सकता था। सूक्ष्म दशन, बाण की विशेषता है बाण की सूक्ष्मावलोकन शक्ति और कवि सुलभ प्रतिभा के जैसे प्रमाण हम 'हृषचरित और कादम्बरी में मिलते हैं। यही यथ भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक सामग्री के लिये अमत्त के भरने हैं। सौभाग्य से बाण का समय निश्चिन्त है इसलिये यह शायी और भी अधिक मूल्यवान है। बाण वणनात्मक शली के धनी थे। बाण के वणन ही उनके काव्य की निधि हैं। कवि ने अपने वणना के द्वारा चित्र पट पर जा चित्र लिखा है उसकी प्रत्येक रेखा साधक है और चित्र का समग्र रूप प्रस्तुत करने में सहायक है। जिस प्रकार रगवल्ली की विभिन्न आकृतियों में भूमि सजाई जाती है उसी प्रकार बाण ने अपने काव्य की भूमिका मण्डन करने के लिये अनेक वणना का विधान किया।<sup>३</sup>

बाण की वणन शली भी अन्य सभी उप-यासकारों से अलग ही एक जन्नी है। वे अपनी उक्त दोनो मठाकथाओं अथवा उप-यासों में जिस वणन शली का प्रयोग करते हैं उसका हम तीन उपशालियों में विभाजित कर सकते हैं—(अ) दीघसमास शली अथवा उत्कलिका (आ) अल्पसमास शली अथवा चूर्णिका तथा (इ) समासमुक्त सरल शली अथवा आविद्ध। बाण ने अपनी महान कृतियों में उक्त विविध वणन

१ हृषचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल पृ० ६४

२ हृषचरित' (बाण मट्ट), प्रथम उच्छवास पृष्ठ १

३ 'हृषचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन' (डा० वासुदेवशरण अग्रवाल) प्रथम उच्छवास पृष्ठ २

शैलिया का किस भाति प्रयोग किया है इसको भी, श्री वासुदेवशरणजी ने इस भाति सारीकृत किया है —

‘चतुर शिल्पी की भाति बाण इन शैलियों को अल बदल कर, इस प्रकार काव्य में सजाते हैं कि वणन बोधिनवन कर कही पाठन के मन को आनात न कर दें। उनकी रीति है कि समास ग्रहण उत्कलिका शैली के बाद, फिर ढील छोड़ देते हैं। प्रायः बड़े बड़े वणना में उत्कलिका शैली का आश्रय लिया गया है। यथा— प्रचण्ड निदाघ कान (पृष्ठ ४६ ४७) उसम चलने वाली गम लू (४८ २०) और वन को जलाती हुई दावाग्नि (२० ५२) के वणनो में, उक्त शैली की अच्छी भाकी मिलती है।’

बाण मट्ट वगैरे ही व्यापक अनुभववाले सवतीमुखी कलाकार थे। उदाहरणार्थ उनके ‘हृषिकरित’ के प्रथम उच्छवास में ही भवन निर्माण कला सम्पन्नी, रावक पारिभाषिक शब्दावली उपलब्ध होती है। यथा—वाह्यस्थानमण्डप भुक्ताभ्यांन मण्डप राजद्वार जलित धवन गृह चतुश्शाल प्रप्रोवक चन्द्रशाला, प्रामादिकुम्भि, दीधिका (गैलरी) स्थानभूमि, प्रतीहार गृह, प्रनाली गवाभ आदि।

प्रकृति वणन में भा बाण अनुपम हैं। उदाहरणार्थ उन्हें सध्या वणन बहुत ही प्रिय था। उन्होंने साभ की विविध भाव भूमिमाओ को न जाने किने विविध रंगों में चिनिन किया है। केवल ‘हृषिकरित’ में ही कम से कम चार स्थाना पर, विस्तृत सध्या वणन आया है।<sup>१</sup> यहाँ उ दी म स एर अनुपम स या वगन उद्भूत किया जा रहा है —

तरुण की के मुख की भाति लाल मूय अस्ताचल को चने गए। जाकाश ऐसे लाल हो गया मानो विद्याचरी अमिसारिकाओ क चरणा में लग महावर से पुन गया हो। मन्त्रा की कुसुमी लाली दिशाआ को रगनी हुई रक्त चन् की भाति आकाश में विखर गई।। हम ताना में कमना का मधु पीकर छेके हुए ऊँधने रागे। रात की सास की तरह वायु में द मन् यहने लगी। पके तालफन की त्वचा की क्लाम मिला ललाई की भाति सध्या की लाली के साथ पहला अरेरा, धरती पर फैल गया। कुन के जगली फूलों की तरफ तारे नम म द्रिक गए। निशान्तरमी के वान में खोसी हुई चम्पा की कनी जस दीपक, बढने हुए अयेरे को हगने लग। चन्द्रमा क हलक और पीन उजाले स अ धकार क हटने पर पूर्वी निशा का मुख ऐसे निरुता माना मुखने हुए नीले वन के छटने से जमना का बाल

१ ‘हृषिकरित एक सांस्कृतिक अध्ययन’—डा० वासुदेवशरण अप्रवाल, प्रस्तावना भाग ‘क’।

२ वही पृष्ठ १४ १८, ८० ८१ २१८ २१९, २४७ २५८

भरा किनारा निकला हो। अंधेरा घटता हुआ आकाश छोड़ कर, धरती पर, नीले सिने कमला के मरोवरो में छा गया।<sup>१</sup>

वणनात्मक कला की दृष्टि से 'हृष्यचरित' का गौरव, वागवृत्त अथ किसी भी कृति से, 'यून नहीं कहा जा सकता किन्तु व्यक्तियों के भाग्य के समान ही ग्रन्थों का भी अपना निजी भाग्य होता है। 'कादम्बरी' इसका जीता जागता प्रमाण है। यह सत्य है कि 'कादम्बरी' विश्व साहित्य में, अपनी तरह की सवथा अनूठी औपन्यासिक कृति है, फिर भी जितनी रचाति 'कादम्बरी' को प्राप्त हुई उतनी किसी भी औपन्यासिक रचना को, वाडमयके अखिल इतिवत्त में, सम्भवतया कभी भी प्राप्त नहीं हुई। विश्व भर में 'कादम्बरी' ही पहला उपन्यास है, जिसे 'उपन्यास विधा' का पर्याय नाम प्राप्त हुआ है। 'कादम्बरी' शब्द आज भी अनेक भारतीय भाषाओं में, उपन्यास विधा का ही परिचायक माना जाता है।

कादम्बरी की रचाति वाण के अनवरत रचना धर्म एवं अभूतपूर्व वणन चमत्कार का ही प्रतिफल है। यह वाण की प्रौढ एवं महत्त आयोजना पर निर्मित एक ऐसी गद्य महाकाव्य शैली में रचित अनूठी औपन्यासिक रचना है जिसको पढ़ कर, पाठक जाह्लादित एवं चकित हो जाता है। विनयन इसे पढ़ कर, स्तम्भित रह जात हैं। पंडितजन लेखक की विद्वत्ता पर, इसलिए हैरान हैं कि भला किसी एक व्यक्ति की स्मृति में समग्र विश्व कोश कैसे ममा सकता है? वाण पर न जाने कितने विनयनों न कितनी चिरस्मरणीय उदमावनाओं की हैं। प्रख्यात प्राच्यविद वेबर ने वाण की 'कादम्बरी' को पढ़ कर अपने मनोभाव को निम्न शब्दों में यत्न किया था —

'वाण का गद्य भारतीय महा-अटवी के समान है। उसे भली भाँति समझ पाने के लिए पहले पाठक को, उसमें होकर, अपना माग काट कर निकालना पड़ता है। वाण के पास नूतनतम शब्दों का ऐसा अक्षय कोष है कि उनकी कृतियाँ में होकर गुजरने पर, विनयन पाठक के मन में भी यह आशंका सतत बनी ही रहती है कि किसी विचित्र वयं जन्तु की भाँति न जाने किस अनूठी एवं विचित्र शक्तिवली से उसका कब सामना हो जाए। वनस्पति एवं जीव जंतुओं के सम्बन्ध में वाण की वणन शैली, इतनी समृद्ध है मानो कोई भी सृष्टिगत पदार्थ ऐसा नहीं है जो वाण की अपनी दृष्टि से बना पाया हो। पौराणिक कथाएँ एवं लोककथाएँ, तो वाण की कृतियाँ में पद पद पर मिलती हैं। वे सचमुच ही इन सभी क्षेत्रों में वणन-कला के अधिपति हैं।'<sup>१</sup>

१ 'हृष्यचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन', पृष्ठ १६ प्रथम उल्लास।

१ 'ए हिस्टरी आफ सस्कृत लिटरेचर' (१० ए० मेडाडोनेल, एम० ए० पी० एच०डी०), प्र० मुशीराम मनोहरलाल, दिल्ली-६, पंचम संस्करण, १९५८ ई०, अध्याय ६ गद्य रोमांस, पृष्ठ ६८

वाण के विशेष अध्ययन स्व० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल ने 'हृषिकेश के समान कादम्बरी' पर भी एक बड़ा विद्वत्साधु एव मनोरम सांस्कृतिक अध्ययन ग्रन्थ रचा है। उन्होंने कादम्बरी' महा उपन्यास को एक रूपक द्वारा यों समझाया है — 'कादम्बरी' महाकवि वाण मट्ट की जन्म कृति है। 'चन्द्रापीड और कादम्बरी, इस सुवर्ण हंस के दो पक्ष हैं, जिनके बल पर कवि की कल्पना ने पृथ्वी और आकाश के बीच में ऊँचे उठने का प्रयत्न किया है। 'हृषिकेश इसी पृथ्वी की तथ्यात्मक आख्यायिका है, पर 'कादम्बरी', दिव्यलोक को भूतल पर लाने वाली, काय कल्पना है, जिसमें कवि का मानस, अपने युग के उस विराट मानस में अतर्लिन हुआ मिलता है, जब देव और मानव, एक दूसरे से मिलने के लिए, निकटतम आ गए थे।'

'कादम्बरी का जा सुरमित सौ दय है, उसमें, किसी देवलाक का अपूर्व सौर्गिक यश मिला हुआ है। सचमुच संस्कृति के उस विकास में, भारतीय मानव, देवों के विराट भाव का सस्पश कर रहा था। गंगा की अन्तर्बेदी में, कलास के उस अटटहास की साक्षात् उपलब्धि हो रही थी, जिसकी ओर पूर्वयुग के महाकवि ने राशीभूत प्रतिदिनमिव त्र्यम्बकस्माटटहास कह कर संकेत किया था। भारतीय मानस हंस, गंधर्वों के दिव्यलोक का अन्तरंग वरण करन के लिए आकुल थे।'

'कादम्बरी' के प्रस्तावना—भाग में (बारहवें श्लोक में) वाण ने सुवर्ण कृत 'वासवदत्ता तथा गुणादय कृत 'बहत्कथा का भी स्मरण किया है, और अपनी कृति को उन दोनों से बड़ा कर ही माना है। उनके शब्दों में यह कृति वासवदत्ता और बहत्कथा दोनों से, विशेष अतिशय रखने वाली (दोनों को मात कर देने वाली) है। सुवर्ण कृत 'वासवदत्ता' तथा वाण कृत 'कादम्बरी' की आयोजना शली में फिर भी अनेक अर्थों में साम्य है।

श्लेष प्रधान शब्दों की अदभुत योजना, वाण की शली की भी एक बड़ी विशेषता है। कादम्बरी के पूर्वभाग में पहले बीस श्लोकों में ग्रन्थ की प्रस्तावना दी गई है। प्रारम्भ के तीन श्लोकों में उन्होंने श्रमश ब्रह्मा, शिव और विष्णु की वन्दना की है। यह तत्कालीन भारतीय जन्मात्म के सांस्कृतिक समन्वय एव उत्तम भावना का प्रतीक है। इसी प्रस्तावना भाग में वाण ने इतिहास प्रसिद्ध मौलरी सम्राट का उल्लेख किया है जिनसे वह निजी तौर पर भी सम्बद्ध रहेंगे। इसके अतिरिक्त वाण ने अपने पूर्व पुस्तकों का भी स्मरण किया है। 'हृषिकेश' एव कादम्बरी' दोनों ही ग्रन्थों में वाण ने अपनी विद्यालयसनी कुल परम्परा का सौत्माह वणन भी किया है।

अपने गुरुवर तथा मत्सु की वन्दना करते हुए वाण कहते हैं कि मौलरी राजा

१ 'कादम्बरी'—एक सांस्कृतिक अध्ययन, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, अध्याय १, पृष्ठ १।

उनके चरण कमलों की पूजा करते थे। ये कनोज (काय कुब्ज) के शक वर्मा, अवन्ति वर्मा आदि नरक होकर चाहिए। इसी प्रकार वात्स्यायन-वश म उत्पन्न 'कुम्भर' नामक उनके पूजक की जाता, अनेक गुप्तवर्गी अधिपति न की थी। कुम्भर बाण व पितामह थे। उनका सम्मान देने वाले म गुप्त राजा मगध के उत्तर कालीन गुप्तवशी राजा थे जिनम कृष्णगुप्त, जीर्णितगुप्त (५४० ई०), दामोदरगुप्त (५७५ ई०), महासेन गुप्त (६०० ई०) और माधव गुप्त (६३०-६५० ई०) की राज्य-परम्परा इतिहास स प्रमाणित होनी है। माधव गुप्त, ह्य के मित्र थे। बाण न ह्यचरित म जो पूजक सची दी है वह काटम्बरा व उक्त शलाका म दी गई सूची स, बवल एक स्थान पर, भिन्न है। ह्यचरित के अनुसार कुम्भर पाशुपत अधिपति, चित्रमानु बाण यह नाम था। काटम्बरा का सूची व अनुसार नाम इस प्रकार है—कुम्भर अधिपति चित्रमानु बाण। बाण व प्रवितामह पाशुपत का नाम इसम टूट गया है।'

समस्त 'काटम्बरी' महा उपन्यास 'उत्कलिका' वणन शैली का आश्रय लेकर रचा गया है। उत्कलिका शैली तो बाण की निजी विशेषता या सफलता है। जिस प्रकार केमरे द्वारा कोई चलचित्र तयार किया जाता है उसी प्रकार समासों द्वारा अनेक लघुचित्रों का समष्टि स बाण अपने महाचित्र प्रस्तुत करते हैं। स्व० श्री वासुदेवशरण अग्रवाल न उनकी इन विशिष्ट शैली की निम्न शब्दा म विवेचना की है —

'विन्याटवी म सडे होकर कवि की चित्रग्राहिणी दृष्टि एक बार पृथिवी स आकाश तक घूम जाती है और सकडा सण्ड चित्रों की छाया कवि क मन पर, छप जाती है। उस ही हम समासों में अनुक्रम स सजाई पक्तियों म प्रत्यक्ष देखने हैं। जब हम इन वणनों के भीतर प्रविष्ट होकर उस चित्र को पुन अपने मानस पटल पर उतारने लगते हैं तो एक एक समासरूप वाक्य, अपनी रेखा नीर बि दुवतना से चित्र के स्वरूप का पूरा करता हुआ जान पड़ता है। इस स्थिति म पहुँचा हुआ सहृदय पाठक, लम्बे वणन से ऊँचा नहीं। उसे तो अपने चारों ओर व्यञ्जक रंगों का इंद्रधनुष सा फला हुआ दिखाई देता है।'

बाण मट्ट कृत काटम्बरी एक स एक उत्तमोत्तम वणनों की कलात्मक प्रदर्शनी सी जान पड़ती है। उपन्यास म जाण हुए कुट्ट चिरस्मरणीय वणन है। प्रथम कथा व अंतगत अनुच्छेद ३ म राजा शब्द की राजधानी विदिशा का नगरवर्णन तथा अनुच्छेद १७ म विन्याटवी का वणन द्वितीय कथा के अंतगत अनुच्छेद २० म पद्मा सरावर का वणन अनुच्छेद २१ २३ म शात्मली वक्ष का प्रसिद्ध वणन, अनुच्छेद २४

१ 'काटम्बरी' (एक सांस्कृतिक अध्ययन) डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, अध्याय १, पृ० १-१५

२ वही, पृष्ठ १२

प्रमात वणन, अनुच्छेद ४२ में सध्या वणन एवं अनुच्छेद ४३ में च द्रोत्र्य वणन बड़े ही मनोरम बन पड़े हैं।

तृतीय कथा के अंतगत अत्यंत उल्लेख्य एवं कलापूर्ण वणनो में अनुच्छेद ४४-४५ में उज्जयिनी नगरी का वणन, अनुच्छेद ७६-७७ में इन्द्रायुध अथ वणन, अनुच्छेद ९४ में सध्या वणन, चतुर्थ कथा के अंतगत अनुच्छेद १२७-१२९ में अछोद सरोवर वणन, अनुच्छेद १३१-१३२ में शिव मंदिर वणन, अनुच्छेद १३३-१३५ में महाश्वेता रूप-वणन, अनुच्छेद १६५ में च द्रोदय वणन, अनुच्छेद १८५-१८७ में (भवननिर्माण कला से सम्बद्ध) कुमारी अंतपुर वणन तथा अनुच्छेद १९० में श्रीमण्डप वणन अनुच्छेद १९१ में वादमुरी रूप वणन, अनुच्छेद १९८-२०० में मणिगृह तथा श्रीडा पवत वणन तथा अनुच्छेद २०३ में सध्याकाल के अत्यंत रमणीय वणन, पाठक के मन को आह्लादित कर जाते हैं।

पाचवी कथा भी वणना से समृद्ध है। उसके अंतगत अनुच्छेद २१५ में सूर्य महादवी का वणन, अनुच्छेद २१६ में महिषासुर मर्दिनी देवी मंदिर तथा उसके वृद्ध द्रविड पुजारी का भयप्रद वणन, अनुच्छेद २४४ में सध्या-काल वणन, तथा अनुच्छेद २८७-२८९ में काल जलद (वर्षा) वणन अधिक उत्तम बन पड़े हैं। छठी कथा में उत्तम वणना का अभाव है किंतु सातवी कथा में आदिवासिया (पक्वण या चाण्डाला) का वस्ती व विचित्र वणन तथा अनुच्छेद ३४३ (आठवी कथा) में, वसंत ऋतुवणन आदि वाण की अनूठी वणन प्रतिभा का, माना हम साक्षात्कार ही करा जाते हैं।

वाण ने अपनी इस महाकथा का समारम्भ, वह भय एवं नाटकीय ढंग से किया है, जो पाठक को सहसा ही 'कथारस' में विमग्न कर देता है। विदिशा नामक नगर में राजा सूदक का, जब टाटबाट से दरवार जुड़ा तो प्रतिहारी, राजा के समक्ष निवेदन करता है कि एक चाण्डाल-कथा राजदरवार में एक तोता लेकर, स्वयं उपस्थित होना चाहती है और उसकी रामकहानी (तोत की पूजाम-कथा) राजा के समक्ष सुनाना चाहती है। राजाना पाकर प्रतिहारी उस चाण्डाल-कथा का रात दरवार में ले आया। वाण ने उसकी वेपथूता और यत्नित्व का चित्रण चर्कीने रंगों में किया है जो भारतीय रंगों की परम्परागत याजना के अनुसार सम्पूर्ण बन पड़ा है। प्रसिद्ध भारतीय चित्रकार श्री रवि वर्मा ने इसी भय वणन को जपन प्रसिद्ध टमपट के त्रिप चुना था। वाण ने, शब्दा में, उसका या अनूठा चित्रालेखन किया है —

' साँके रंग की वह चाण्डाल कथा, विष्णु के उस मोहिनी रूप से मिलती थी जो उहोन अमुरा के हाथ में पड़े थे हुए अमृतपट की, वापस लाने के लिए धारण किया था। वह कथा कथा थी माना चलता फिरता नीलम की पुनसी थी। उसका शरीर, गुल्फा (टबुना) तक लटकत हुए नीले बचुक से ढका हुआ

था। उसके ऊपर उसने मजीठी रंग का रेशमी ओढ़नी (रक्ताशुक रचितावगुठताम) धारण की हुई थी। उसके एक कान में हाथी दाँत का पत्ता था। माथे पर कुछ कुछ पीले रंग की गौराचना का, तिलक था, जो माना तीसरे नेत्र की सी छटा दे रहा था। मानो स्वयं भगवान शिव के किरात वेश धारण करने पर, भगवती पावती ने भी किराती वेश धारण कर लिया होवे। वह विष्णु की देह काति से सावली हुई लक्ष्मी सी लगती थी, अथवा वह शिव की श्लाघाग्नि में दग्ध, कामदेव की धु धुआती देह से, मलिन बनी हुई रति सी, जान पड़ती थी। वारणी छके बलराम ने अपने हल से जब यमुना को खींचना चाहा तो वही कालिंदी माना भाग कर, यहाँ आ गई थी।

‘उसके पर, घने आलते के रंग में रंग हुए थे। उसके परा की लज्जाइ लिए हुए, जगुलिया के नख भी लाल थे जिनकी परछाई मणियों के फल पर पड़ रही थी। नात होता था कि कठिन भूमि में सुकुमार परा को टिकाने के लिए वह पल्लव विद्यती हुई चल रही थी। उसके नूपुरों की कुछ लाल-पीली रश्मियाँ शरीर को रजिन कर रही थी। वह अपने जघन भाग में मखला कठ में मुक्तापलों का उज्ज्वल हार काना में चंदन पल्लवों के अवतल और कई रंगों के जडाऊ कणामरण धारण किए हुए थी। उसके हाथ में सोलाकमल था। उसके रूप अछूता था। वह चित्रालिखित सी जान पड़ती थी। उसके कटिभाग अत्यंत विरल था मानो कामदेव की चापयष्टि हो। उसके सिर पर अलकावली सुशोभित थी और उसने अभी अभी जीवन के प्रारम्भ में पर रखा था।

‘भुवनालोक प्रासाद शली (स्थापत्य कला सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली) में चित्रित, प्रसिद्ध शाहमली वृक्ष का वणन ही मानो कादम्बरी की महाकथा रूपी अटवी में से आकाश मंडल में सिर उठाए खड़ा है। (भुवनालाक प्रासाद—प्रासाद की चोटी पर सबसे ऊँचे वृक्ष के लिए एक नाम था—जहाँ बैठ कर गृहपति चंद्रिका का आनंद लेते थे और विविध वस्तुओं में प्रकृति निरीक्षण किया करते थे।) शाहमली वृक्ष का यह अविस्मरणीय वणन आद्यापात ही पठनीय है —

‘इस भाँति आकाश में ऊँचा सिर उठाए हुए वह वृक्षराज ऐसा जान पड़ता था, मानो वन देवताओं ने, भुवना का लक्षण करने के लिए एक जवलीकन प्रासाद बनाया हो, अथवा वह दण्डक वन का राजा हो, या सब वनस्पतियों का नायक हो, या विद्या चक्र का सत्ता हो जिसने अपनी शास्त्ररूपी भुजाओं से, विद्याटवी का आलिखन कर रखा था।

‘सरोवर के पश्चिमी किनारे पर वह पुराना बड़ा शाहमली (मेमल) का पड़ खड़ा था। समीप में ही उसका साथी वह जीण ताड़ वृक्ष था जिसे त्रेतायुग में राम, अपने बाणों से जजर कर गए थे। उसकी जड़ में सदा ही एक बड़ा अजगर लिपटा रहता था जैसे किसी ने वृक्ष के लिए थावला बना दिया हो। वृक्ष के ऊँचे डुँडों से

लटकने हुए उस सप के केंचुल, वायु में हिलने हुए, ऐसे लगते थे मानो उस महावक्ष ने, भीने उत्तरीय आड़े हो। दिशाओं का प्रसार वहाँ तक है, यह जानने के लिए ही मानो उसने, आकाश में अपनी सहस्रांशाला प्रशाखाएँ फलाई हुई थी। उह देख कर जान पड़ता था, मानो वह प्रलयकाल में ताण्डव के लिए सहस्रो भुजाएँ फलाए हुए भगवान् शकर से, होड़ सी लगा रहा हाव।<sup>१</sup>

विध्याटवी के बीच दण्डकवन में स्थित महामुनि अगस्त्य का आश्रम था जिसे तीन ओर से गादावरी की धारा ने घेर रखा था। उसी आश्रम के आसपास, वा पवत उपत्यका की वैभवमयी भूमि में, रात्रि के अवसान एवं प्रभात के अवतरण के समय, प्रकृति-पट के, पल पल बदलने वाले रंग की रंग विरगी आभा को, वाण की कल्पनाशील आंखों ने मानो जी भर कर निहारा है। वाण के इन सभी एक से एक अनूठे वणनात्मक कला समृद्ध वणनों का यहाँ उदयन किया जाना सम्भाव्य नहीं है। तथापि वाण द्वारा चित्रित विशाल नैसर्गिक पृष्ठभूमि पर अंकित किए गए अनेकानेक महान दृश्यपटा की छवि का आभास कराने वाले एक प्रतिनिधि वणन अर्थात् जाच्छोन् सरावर से सम्बद्ध प्रभात वणन को यहाँ उदयन किया जा रहा है—

यह सोच कर कि इधर कोई जनाशय हाग चाहिए, कुमार जिस माग से आया था, उसी ओर लौट पड़ा। कलास की तलहटी में इस भांति कुछ दूर जाकर उसने, उसी पवत के पूव उत्तर की दिशा में लम्बे चौड़े वृक्षा की एक वनखण्डी देखी। सामने से जाती हुई शीतल मन्, सुगन्ध वायु और कमलों के मधुपान से मत्त बनहसा के कोलाहल से आवृष्ट हाकर उसने उसी में प्रवेश किया।

उस वनखण्डी में कहीं खन्गर, सागू और सलई के पेड़ थे, किन्तु वे सभी, शान्ताएँ कम होने के कारण विरल जान पड़ते थे। कहीं लाल रंग की माटी बालू (बजरी) बिछी हुई थी और चट्टानों के कारण घास भी कम थी। कहीं जगली हाथियों से युनी हुई मनसिल (गेरू) के कारण भूमि लाल हा रही थी। कहीं पापाणभेद लता की, टेढामढी मजरी, ढाका के बीच में से निकलती हुई उन पर फल गई थी, मानो कुटिल-पत्र भग के जलकरण, उत्कीर्ण किए हुए हो। कहीं गुग्गुलु (गुग्गुल) के वृक्षा का द्रव चट्टानों पर टपक रहा था। कहीं पवत के शिखर पर से यह कर आया हुआ शिलाजीत का रस, पत्थरा को गीला कर रहा था। कहीं घोड़ा की टापटपो टांकिया से उठी हुई, हरताल की धूल, जमी हुई थी। कहीं घूँस से खोग हुआ सोने का धूँ, बिलो के बाहर बिलरा पड़ा था। कहीं चोरी

१ कादम्बरी (वणन सख्या २१, पृष्ठ सख्या ३७) (हिंदी रूपांतर माग) उपपुस्तक संस्करण से।



गाय और वस्तूरिया हिरण के पुरा की छाप वान पर अंकित थी। वही रकु और रलक' हिरणो के राएँ चरकर गिरे थे। वही चवोग व जोड़े ऊँच नीचे पत्थरो पर बसे हुए थे। वही वनमानुषो के जोड़े मुपाआ व मुह के पास, सट कर बैठे थे। वही गव पापाण (ग धक) की तीव्र महक उठ रही थी और वही वनताशा के कुजो में, वाँस उग रह थे।

(वहाँ प्रवेश करत ही कुमार ने वनदण्ड के मध्य भाग में एक अति मनोहर और जाह्लाण् दायक सरोवर देखा जिसका नाम जच्छोण था। कादम्बरी की कथा में अच्छोद सरोवर का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि कथा के समस्त पात्र, यहीं शन शन एकत्र हो जाते हैं।)

यह सरोवर ऐसा आभायुक्त था, माना पृथिवी देवी ने अपन निवास के लिए रफटिक का भूमिगृह रच रखा हा। वह ऐसा गम्भीर था मानो समुद्रा न पाताल से उपर आने का माग बनाया हो। यह क्षितिज व छोर तक फना हुआ था मानो दिशाआ व भीतर से उनका ही रस धूवर एकत्र हो गया हो। वह इतना विस्तृत था माना आकाश का अशावतार हो। उसके जल की शुभ्रता ऐसी थी मानो रज ताद्रि कलास ही द्रवित हा उठा था। वह ऐसा शीतल था माना तुहिनाद्रि हिमालय ही पिघल गया हो। उसका जल ऐसा अमृन्मय था माना चद्रमा की ज्योत्स्ना, जलरूप में परिवर्तित हुई हा। उसकी धवलता से पात हाता था मानो शिव का अट्टहास ही जल बन गया हा। वह ऐसा सुखदायक था मानो त्रिभुवन का पुण्य ही सरोवर के रूप में भूत हो उठा हो। उसकी नीली आभा से ऐसा लगना था, मानो वदूय पवत सतिल के रूप में से भलक रहा हा। उसकी उज्ज्वलता ऐसी थी मानो शरदाकाशकी भगमाला, गल कर पृथिवी पर आ गई हा। प्रतिरिम्ब ग्रहण करने की स्वच्छता के कारण वह वरण कल्पण जसा प्रतीत होता था।

'किसी न मुनिया के मन की सज्जना व गुणो की हिरणा की नवकारित की एव मातिया की स्वच्छता का तकर ही उसरा निर्माण किया था। मरा हुआ होने पर भी उसने भीतर की सब वस्तुएँ टियाई पडनी थी माना वह रीता ही हा। उसके ऊपर वायु जलतरणो व छोटे उडा रही थी। उन पर पडती हुई सूप की किरणो से पात होता था माना महसा रग विरग इ द्रधनुष उसकी रक्षा कर रह हा।

बीच में खिले हुए कमला स और चारा ओर पते हुए शलवन एव आकाश के नक्षत्र और ग्रहा की जलमन्थ में पडती हुई परठाइ से वह त्रिभुवन का उदर में रखने वाले, नारायण व समान जान पडता था। पास में स्थित बैलास से भगवान शिव अनेक बार स्नान व लिए वहा आते थे। उस जलसोम स हिले हुए चद्रमा का अमृतरस, और उनकी दह के वामाध भाग में स्थित पावती क कपोल से धुला हुआ लाघण्य, मानो उसका जल में समा गए थे

उपयुक्त शैली के एक से एक अनूठे नैसर्गिक छटा का चित्रित करने वाले महान् दृश्यपटों पर अक्षित, वनपर्वत उपत्यकाएँ एवं मरोवरों व वणनों को पढ़ जाने पर ही, बरबस प्रख्यात पुरातत्वविद, श्री एम० विंटरनिज के मन में यह विस्मय विमुग्ध उदभावना, अत मुत्तरित हुई थी—

भारतीय और जर्मन लोगों को, नैसर्गिक छटा का दरसाने वाले वणनों से, गहन जन्तुराग है। अतएव भारतीय तथा जर्मन महाकवि, प्रकृति एवं मानव के रूप विवाद के परस्पर सामञ्जस्य को दरसाने में हार्दिक सुखानुभव करते हैं।<sup>१</sup>

सुब ध्रु वाण तथा दण्डिन प्राचीन भारतीय उपन्यास की यह बहूत्रयी अपनी वणनात्मक प्रतिभा के लिए अनुपम है। दण्डि इस 'त्रयी' के अंतिम उपन्यासकार थे। यद्यपि वाण की कृतियाँ पर सुब ध्रु की कृतियों का बहुविध प्रभाव पड़ा था किन्तु दण्डि पर अपने उक्त दानों पूजार्त्ता लेखकों की कृतियों का कोई सीधा प्रभाव दिखाई नहीं देता। वृत्ति उनकी कृतियों पर 'गुणाढ्य की बहूत्रया' का प्रभाव ही वही अधिक सुस्पष्ट है—'कथावस्तु एवं जीवन चित्रण दानों ही दृष्टि से बहूत्रया' और 'दशकुमार चरित' में पर्याप्त समानता पायी जाती है। उपन्यास रचना की महज एक मौलिक प्रतिभा, तथा वास्तविक जीवन के चित्रण, दानों ही दृष्टियाँ स 'दशकुमार चरित' बड़ी समर्थ रचना है। कलात्मक दृष्टि से यदि वाण इस 'त्रयी' के सिरमौर हैं तो दण्डि भी अपनी महज कथा रसात्मकता के कारण, अद्वितीय हैं। सुब ध्रु को श्रेय है परिनिष्ठित संस्कृत में रचित उपन्यास साहित्य के आद्य प्रवर्तन का। कथारम का, पद्य काय के आलंकारिक बंधना में मुक्त करने का प्रथम प्रयत्न सुब ध्रु ने किया था। वाण में काव्यरस एवं कथा माधुर्य का कलात्मक सामञ्जस्य है, किन्तु दण्डि की कृति में हम काय नियमों से उन्मुक्त सहज कथाप्रवाह के प्रथम दर्शन हाते हैं। इस भाँति, तीनों ही रससिद्ध कथाकारों का तुलनात्मक समकालीन अध्ययन, प्राचीन भारतीय औपन्यासिक साहित्य के विकास के सम्यक् जन्तुसंधान की दृष्टि से, बड़ा ही महत्वपूर्ण है। कहना न चाया कि इही तीन प्रथम मुविकसित औपन्यासिक कृतियों में, न केवल हिंदी उपन्यास की वणनात्मक शैली को ही एक विशिष्ट कलात्मक सौंदर्य की भंगिमा प्रदान नहीं की बरन उहाने समस्त आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित उपन्यास साहित्य का भाग विविध रूप में, कलात्मक एवं रूपात्मक भागदान किया है।

१ 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन लिटरेचर' (एम० विंटरनिज प्राय विश्व विद्यालय में भारतीय विद्या विभाग के अध्यक्ष) जिल्द १, भाग १ (द्वितीय संस्करण १९५६ ई०)।

'दशकुमार चरित' का मुख्य उद्देश्य था, अतिल जनजीवन की विभिन्न शक्तियाँ प्रस्तुत करना। इस उपन्यास में कथा प्रसंगों में हम जादूगरो, पाखण्डी साधुआ, राजकुमारिया राजा महाराजा वेश्याओ धोरो तथा मतवाले वामुकी, सभी का कुशल चित्रण पाते हैं। यहाँ तक कि राक्षसों तक का भी कमी कमी दशन हा जाता है पर देवता वेश्याओं का क्या कहें हमें भी जगह नहीं मिल पाई है। वस्तुतः दण्डी बड़े ही प्रातिफारी एवं स्वाधीन प्रवृत्ति वाले साहित्यकार थे। उन्होंने न केवल काव्यशास्त्र की हठ परम्पराओं को ही छिन्न भिन्न कर डाला वरन् तत्कालीन समाज में प्रचलित धार्मिक एवं हठि सामाजिक मान्यताओं के प्रति भी, उन्होंने खुला विद्रोह घोषित किया है।

इस उपन्यास में दण्डी ने अनक स्वलो पर अपन कथानायकों के मुँह से परस्त्री हरण और मून खराब तक को उचित साबित करने के लिए, शास्त्रों के बल उद्धृत कराये हैं। अपहारवमन चारों का राजा है जो वर्णसुत मूनदेवकृत चौयशास्त्र के अध्ययन के सहारे चारी करता है हालांकि उसकी चारी का उद्देश्य एक लुटे हुए मलमानस की सहायता करना ही है और नगर के बवल बज्जसों को लटना और उनके धन का अपहरण करना ही उसे अभीष्ट है। धोकेबाजी से अपने एक साथी को बड़ावा देने के लिए मन्गुप्त विश्रुत दुर्गा के नाम का सहारा लेता है। दण्डी ने न केवल बटटर ब्राह्मणों का ही उपहास किया है वरन् उन्होंने दिग्म्वर जन और पाखण्डी बौद्ध श्रमणों की भी खूब खबर ली है। हिंदू व्यापारों का बटा बसु पालित काममजरी नामक वेश्या द्वारा तूटा जाकर दिग्म्वर साधु बन बठना है पर वह अपहारवमन से स्पष्ट शान्ति में स्वीकार करता है कि लोभ त्याग और उपवास से उसे बड़ी तकलीफ अनुभव होती है। कुछ बौद्ध भिक्षुणियाँ को कुटिटनियों के रूप में भी चित्रित किया गया है। इस भाँति सारा उपन्यास हठ धर्म के पाखण्डी रूप का घोर विरोधी है।

इस भाँति तरहवी शती में रचे गये चीनो भाषा के उपन्यास 'गुई हू चुआन (भीलतराई उपन्यास)' के भी प्रायः छः शती पहले दण्डीरचित यह 'दशकुमार चरित' उपन्यास ही वस्तुतः विश्व का सर्वप्रथम लोक उपन्यास कहलाय जाने का अधिकारी है। जाद्य भारतीय उपन्यासकारों में साधारण जनजीवन को यथाथ भूमि पर चित्रित करने का श्रेय सर्वप्रथम दशकुमार चरितकार दण्डी का ही है। 'दशकुमार चरित' के प्रधान पात्र तो अत्यंत सजीव हैं ही साथ ही मारीचि ऋषि सापारो वसुपालित, वारवधू काममजरी मुर्गों की लडाई का विशेषण बूना ब्राह्मण पाचाल शर्मा राजकुमारों का प्रणयार्थी कोतवाल कातक आदि पात्रों का चित्रण भी दण्डी ने अपनी प्रतिभाशालिनी लेखनी से कुछ ऐसी अनूठी वणन प्रतिभा से किया है कि वे पाठकों के समक्ष मानो सदेह जा उपस्थित होते हैं।

सक्षेप में, मान तीव्र कथारम से छत्रछत्रानी हुई अपनी वणन प्रमान कहानी को कहने के लिए ही दण्डी ने 'दशकुमार चरित' की रचना की है। उपदेश देने की प्रवृत्ति यहां कम से कम है। कहानी कहने के लिए सीधी सादी भाषा चाहिए, इसीलिए गुणाढ्य की मनोहारी शैली का, दण्डी ने खुल कर उपयोग किया है। अलंकारों और समासों की मदद से, शैली में गम्भीरता देने का प्रयत्न 'दशकुमार चरित' में कहीं नहीं दिखाई देता। सस्वृत गद्य के तो दण्डी, सम्पूर्ण अधिकारी लेखक माने जाते हैं। उनकी भाषा, सीधी सादी और आडम्बर रहित है। ठीक ठीक भावप्रदर्शन तो उनकी शैली की, जान ही है। शब्दयोजना ऐसी है कि जिससे स्वयं ही (सहज ही) रस छलक पड़ता है। उनके वणनों में कहीं भी पुनरावृत्ति नहीं पाई जाती। दण्डी कृत रूपवती राजकपाओं के नखशिल वणन अद्वितीय बन पड़े हैं। एक जगह प्रमातशोभा का भी सुन्दर शाब्दिक चित्रण है। एक भयंकर अकाल का वणन करने हुए प्रतिभा सम्पन्न उपन्यासकार ने, कथा साहित्य में यथाथवादी चित्रण का भी सजीव उदाहरण प्रस्तुत किया है।

प्राचीन भारतीय उपन्यास साहित्य में बहुधा तीतर, बटेर भेड़ों और मुर्गों की लड़ाई के उल्लेख पाये जाते हैं। इन लड़ाइयों में खूब बाजी लगाई जाती थी। 'दशकुमार चरित' में मुर्गों की लड़ाई का एक जगह बहुत ही सजीव चित्रण मिलता है। श्रावस्ती जाते समय प्रमत्ति, एक निगम में पहुँचा, जहाँ नगम लोग, मुर्गों की लड़ाई देखने में मस्त थे। मुर्गों को देख कर वह जरा मुस्कराया—एक बड़े ब्राह्मण बिर ने इसका कारण पूछा—इस पर उसने जवाब दिया—पूरब का नारिकेल जाति का मुग पश्चिम के बलाका जाति के मुग से, कभी नहीं जीत सकता, इसीलिए उसे हँसी आ गई थी। ब्राह्मण उसकी राय से सहमत हो गया। अन्त में 'बलाका' ही लड़ाई में जीता।

'दशकुमार चरित' के पंचम उच्छवास में, 'मुर्गों की लड़ाई' की भाँति एक अन्य लोकप्रिय भारतीय लोक मनोरंजन—'जादूगरी के खेल' का भी, दण्डी ने अपनी अनुपम रिपोर्ताज शैली में चित्रित वणन किया है। यह उपन्यासकार के निती मन मोजी स्वभाव का भी यथाय परिचायक है। मानो उपन्यासकार स्वयं भी कभी मुर्गों की लड़ाई वाले तमामों में (राजकुमार प्रमत्ति की भाँति) भौड़ में घुग कर तमाशा देने को उत्सुक रहता है कुछ उमी भाँति की समुत्सुकतायुक्त वणनशैली के दशत, हम जादूगरी के निम्न खेल के वणन में मिलते हैं। विधेश्वर जादूगर ने नगरवासियों की भीड़, अपने चारों ओर एकत्र कर रखी है। तभी —

विधेश्वर का इशारा पाते ही उसके सभी साथियों ने धाने बजाने आरम्भ कर दिये। गायिकाएँ गाने लगीं। मन्मथ कामल की बून की तरह उनकी खूब मोटा घ घुरीनी तानें उठने लगी। बाजा और गानेवालियाँ का ऐसा जाड मिन्दा हि दशकों का ध्यान उधर ही सिंच गया। गाने का खूब समा चँपा। दशक लोग इसी

मे तमय हो गए और सभी का चित्त प्रसन्न हो गया। तमाशा दिखाने वालों ने इसी बीच अपनी सब तैयारी कर ली और मोर पवियाँ घूमने लगी। इस समय तक खेल के चारों ओर खून मीठ जमा हो गई थी और लोगों पर यहाँ के वातावरण का, पूरा पूरा असर हो चुका था। विशेषकर अपनी अधमुँदी आँसों से सबकी ओर देख रहा था। वह थोड़ी देर चुन बैठा रहा फिर उसने अपना काम शुरू किया।<sup>१</sup>

‘लोगों ने एकाएक देखा कि कहीं से बहुत से फनिपर साप निकल पड़े हैं। ये सबके सब बड़ा तेज और भयानक जहर उगम रहे थे। साँपों के सिरों पर मणियाँ रखी हुई थी जो चमकती रहीं थीं। ये साप इस समय वहाँ फिरते हुए ऐसे दिखाई पड़ रहे थे मानो दिया लेकर राजपथ की जा रही उतार रहे हों। उन्हें देख कर, दशको को बड़ा ही डर लगा। इतने में न जाने कहीं से बहुत से गिद्ध उतर आए। उन्होंने उन बड़े बड़े नागाओं को अपनी चाँचो में दबा लिया और फिर वे उन्हें लिए हुए ही आसमान में उड़ने लगे।’<sup>१</sup>

‘दशकुमार चरितकार’ दण्डी ने अपने पास के समाज एवं जनजीवन को दृष्टाभाव से सूक्ष्मतरंग दृष्टि से देखा था और उन्होंने प्रायः ऐसे सामाजिक वर्गों की गतिविधियों एवं प्रवृत्तियों में भी खोजबीन की थी जिनकी ओर से महज ही हम उपेक्षा से अपनी नज़रें हटा लेते हैं। दण्डी ने अपने इस विचित्र विचित्र कथा लोक में पशेवर अपराधियों तथा चोरों तक को पर्याप्त स्थान दिया है। चौयशास्त्र<sup>२</sup> वार कर्गामुन की कृतियों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने वाले राजकुमार अपहारवर्मा के अनुभवों एवं दुःसाहसपूर्ण कार्यकलाप का मानो लेखक ने स्वयं धीरे धीरे छुप कर, पर्यवेक्षण किया है। अपहारवर्मा ने नागरिकों से हेतुमय बनाने के लिए कुशल जुआरियों से उनकी हाथ की सफाई व दाँव पेश सीले। उपन्यास के पृष्ठ १६१ से पृष्ठ १६३ तक जुआरियों की निष्ठा एवं अपहारवर्मा के जिगरी दास्त विमदक का बड़ा ही रोचक शिल्प प्रस्तुत किया गया है। तत्पश्चात् उक्त चोर राजकुमार द्वारा चीरकाय का त्रियात्मक एवं सागोपाग वणन भी मिलता है—

‘अब मैंने अपने पिछले निश्चय के अनुसार चोरी के मुहिम पर निकलने का इरादा किया। उस रात को जब बहुत घना अंधकार था मैं चल दिया।’ वह रात मुझे बहुत अच्छी तरह याद है। उसका अर्थ इतना घना था कि शायद महादेवजी के गले की कालोच भी इतनी ज्यादा काली न होगी। बाहर चलने से पहले मैंने नीले रंग के कपड़े का सबादा ओढ़ा और एक तेज कटार सेंध लगाने का संकेत कतरनी जखूर नपना गाह रस्ती आत्मी के सिर का लकड़ी का खोल कृत्रिम चेहरा, बहोश करने वाली बुरुनी जादू की सलाई जैसी नालटन, लिया बुझाने वाले

१ ‘दशकुमार चरित’ (दण्डी) (आमुष—डा० मोतीचन्द्र) (प्रकाशक—राजकमल प्रकाशन, दिल्ली नवंबर) पृष्ठ ११६-११७

पत्नी की डिविया आदि सभी सामान सावधानीपूर्वक बांध लिया और अपने मुहिम पर खाना हुआ।

मैंने एक बड़े बजूस रईस के मकान में सेंच लगाई। सेंच के छेद में से एक दूरबीन के सहारे मैंने घर के भीतर की समस्त गतिविधि पर नजर रखनी प्रारम्भ की। जब मैंने ठीक मौका देखा तब वेबडक, मैं उस बजूस के घर में घुस गया, माना वह अपना ही घर हो। अन्दर जाकर टटोलने पर सहज ही वह बसनी मेरे हाथ लग गई जिसमें माल भरा था। इसे लेकर मैं बाहर निकल आया और सड़क पर आ पहुँचा।<sup>११</sup>

एक अर्थ जवसर पर अपहारवर्मा ने एक राजप्रासाद में भी सेंच लगाई। चोरी करने के लिए थोड़ी सी दीवार तोड़ी और उनमें दरार में से एक अल्प त विस्मयकारी दृश्य देखा। उस दृश्य का वर्णन स्वयं चौर राजकुमार की ही जुवानी सुनने योग्य है—

एक स्थान पर वह क्या देखना है कि ऊपर ऊपर चारों तरफ तो बहुत सी सली सहलिया और दासिया लेटी हैं और उनमें बीच में एक राजकुमारी सो रही है। कमरे के बीचों-बीच एक बडिया पलंग लगा हुआ है। इसके सिरहाने और पैराने की तरफ तरह-तरह के बहुत से फूल बिखरे पड़े हैं। पलंग के ऊपर हंसों के मुलायम पंखों से भरा हुआ रंग गुन्गुदा गदला बिछा है और एक सूत्रमुरत तकिया रखा हुआ है। इस पलंग के पाये हाथीदात के थे और सोये हुए सिंही के आकार के बने हुए थे। इन सिंहों की देह में जगह जगह सूत्र बड़े और कीमती नग जड़े थे। उसी पलंग पर राजकुमारी प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न थी। राजकुमारी की गदन तनिक मुड़ी हुई थी और बड़ी प्यारी लग रही थी। इसमें निपटे हुए सीने की लड़ी पड़ी थी जिसके अन्दर, एक बड़े से माणिक्य का, तरल (लाकेट) पिराया हुआ था। कुण्डल कान के नीचे निश्चल पडा था और अपनी जधूरी झलक दिखला रहा था। कान के ऊपर बनौती में जडाऊ कण्ठन लगा था। इसमें से किरणा पर किरणें कृती पवती थी, जिनके कारण कनपटियों पर की लटें पीली सुनहरी सी लगीं पड रही थी।

बायाँ हाथ गाल के नीचे से, पीछे की आर जगमा निकला हुआ था। उसकी उगलियाँ जरा जरा ऊपर की आर, कान की तरफ मुड़ रही थीं। राजकुमारी की दोनों आँखें मुँदी थी। उन्हें देख कर यह मालूम पडता था मानो दो नीले कमल मुँदे हुए रखे हा। माथ पर वही-वहाँ पसीने की नन्ही-नन्ही बूँदें छनक रही थी जिनसे कि उमने माथे पर लगा हुआ चन्दन का तिलक, घुल सा चना था। एक बहुत ही सफेद-बादर पर राजकुमारी की चमचमाती हुई निश्चल देह कुछ आडी

यातादपि सद्योधम् कारिणी, कणपेगला ।  
 तथापि प्राकृता भाषा, न तेषामभिभाषते ॥  
 उपाये सति कर्त्तव्यम् सर्वेषाम चित्ररजनम् ।  
 अत तदनुरोधेन सस्कृतेयम् करिष्यते ॥”

(अर्थात् यद्यपि इस समय देश की प्रमुख दो भाषाएँ हैं—संस्कृत एवं प्राकृत, फिर भी उनमें से, संस्कृत भाषा ही, पंडितजनो एवं विद्वानो के हृदय में घर कर चुकी है। यह तो सही है कि छोटे छोटे बालको के लिए भी प्राकृत भाषा वण मधुर है और सदबोध को बढाने वाली है फिर भी साहित्यिक क्षेत्रों में उसका, आज भी प्रचार अथवा समादर नहीं पाया जाता। सज्जनों का यह कर्त्तव्य है कि वह सभी का मनोविनोद एवं चित्ररजन करें। इसीलिए मैं उन विद्वानो के अनुरोध पर, अपना यह ग्रन्थ, संस्कृत में ही लिख रहा हूँ।)<sup>१</sup>

सिद्धार्थि द्वारा, संस्कृत भाषा में प्रणीत, उक्त बहुचर्चित आत्म कथात्मक उपन्यास 'उपमिति भावप्रपञ्च कथा' (१०० ई०) एक सांसारिक व्यापार में निमग्न व्यक्ति के, विविध घटनायुक्त जीवन का चित्रण है, जिसने कि अतः म, सन्यास ग्रहण कर लिया था। अनेक अर्थों में यह उपन्यास भी, अपनी कथावस्तु की दृष्टि से दश कुमार-चरित' के समान ही यथाथवादी शैली का उपन्यास कहा जा सकता है। अतः यह केवल दण्डी द्वारा अवलंबित 'आनन्दवादी आय दशन तथा सिद्धार्थि द्वारा प्रतिपादित 'सन्यास मूलक जन दशन' का। सिद्धार्थि के पश्चात् ईसा की दशवीं शती से सत्रहवीं शती तक रचे गए प्रभूत औपन्यासिक एवं कथात्मक साहित्य में संस्कृत भाषा में प्रणीत कुछ अन्य विशिष्ट उपन्यास भी हैं। उनमें भी विशेषतया, धनपाल रचित 'तिलक मजरी' (रचना-काल १७० ई०) हेमचन्द्र-कृत 'मिषट्टिणल्लाका-पुरुष' (१००० ई०) ओडमदेव बाणीमसिंह कृत गद्य चिन्तामणि (११०० ई०) सोडल्ल कृत 'उदयसुन्दरी कथा' (१४०० ई०) तथा इनके भी पश्चात् ईसवी १७०० के आस पास रचे गए अग्रतन्त्र-कृत 'वृष्ण चरित' और वामनमट्ट बाण कृत वेनभूपाल चरित आदि (संस्कृत भाषा में रचे गये,) प्रौढ उपन्यास भी अपनी साहित्य श्रेणी एवं वणनात्मक विशिष्टताओं के कारण विशेषतया उल्लेख्य हैं।

धनपाल कृत 'तिलक मजरी' के सम्बन्ध में अनेक उत्तम टीकाकारों ने विशद व्याख्याएँ लिखी हैं (इनमें त्रिणयसागर प्रेस बम्बई द्वारा प्रकाशित ५० भवदत्त शास्त्री द्वारा संपादित टीका, उत्तम मानी जाती है)। अपनी कृति के प्रारम्भ में धनपाल ने, एक विशद प्रस्तावना भी दी है जिसके अनुसार, उनके आश्रय दाता वाकपतिराज थे, जिन्होंने गौडवध नामक महाकाव्य की रचना भी की थी। वे ह्यदेव के पुत्र थे। उन्होंने महाकवि भवभूति का भी अनेक बार समादर किया था। इसके अतिरिक्त

बल्हण कृत 'राज नरगिणी' में भी वाकपतिराज को, उत्तम कवि तथा सुयोग्य शासक बताया गया है। 'हलायुध कौश' में भी वाकपतिराज की दानशीलता को सराहा गया है और उसे सभी सहायता चाहने वालों के मनोरथों के लिए 'कल्पतरु' बताया गया है। कौशिकार के अनुसार, वाकपतिराज वस्तुतः मालव नरेश मुज का ही एक वाक्य-उपनाम था।<sup>१</sup> तिलक मजरी में तत्कालीन कलाकौशल तथा सांस्कृतिक जीवन की मनोरम भाँकियाँ प्रस्तुत करने वाले आकषक एवं विशद वर्णन पाये जाते हैं।<sup>२</sup>

संस्कृत भाषा में, जैन विद्वानों एवं जैन मुनियों द्वारा रचित कथा साहित्य (ईसवी शती, दशवी शताब्दी) का एक बड़ा महत्व यह रहा है कि अनेक अंशों में, वह प्राचीन भारतीय कथात्मक संस्कृत वाङ्मय, एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित उपन्यास साहित्य के बीच की कड़ी के रूप में, अवस्थित है। वह संस्कृत साहित्य में उपन्यास विधा के अभ्युदय काल का परवर्ती है एवं आधुनिक भारतीय भाषाओं के उपन्यास-साहित्य का पूर्ववर्ती है। साथ ही यह बहुत अंशों में, सुरक्षित एवं उपलब्ध भी है।

सन १९६० ई० में प्रकाशित श्री वाचस्पति गरोला द्वारा रचित संस्कृत साहित्य का इतिहास में अनेक ऐसी औपन्यासिक कृतियों का भी उल्लेख मिलता है, जो अभी तक विलुप्त मानी जाती थी। उन्होंने अपने उक्त विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ के अठारहवें अध्याय (कथा साहित्य की समृद्धि) के अंतर्गत सुबोधु द्वारा प्रवर्तित संस्कृत उपन्यास साहित्य की परम्परा का क्रम बद्ध विवेचन किया है। उसमें यह सत्य प्रमाणित होता है कि पाँचवी शती ईसवी से लेकर अद्यावधि—प्रायः पन्द्रह सौ वर्षों के सुनीप अन्तराल में होकर भी संस्कृत उपन्यास की यह अक्षय मन्दाकिनी किसी न किसी रूप में अब भी प्रवाहित है। उन्नीसवी शती में रचे गए संस्कृत उपन्यास साहित्य के परवर्ती पुनरुत्थान के प्रमाण में श्री गरोला ने श्री अत्रिकादत्त व्यास के आधुनिक उपन्यास 'शिवराज विजय' (रचनाकाल १८४० ई०) की साहित्यिक गरिमा को स्वीकार करते हुए उन्नीसवी शती के समकालीन श्री हृषीकेश भट्टाचार्य (१८५०-१९१३ ई०) कृत एक अन्य उत्तम उपन्यास 'प्रबोध मजरी' का भी उल्लेख किया है। इसी प्रसंग में उन्होंने प्रायः उसी समय की रचित कुछ अन्य औपन्यासिक कृतियों

१ 'तिलक मजरी' (धनपाल) (संपादक प० भवदत्त शास्त्री) (प्र० श्री वाशिनाथ पांडुरंग परब) (द्वितीय संस्करण १९३८ ई०, निगणसागर प्रेस, बम्बई)।

२ 'इशियन बल्हण' (अक्टूबर १९३५ ई०, पृष्ठ १५६-२१०)।



की भी चर्चा की है जिनका कि पीटसन नामक प्राच्यविद् ने, स्वप्रकाशित शोध प्रबंध—‘संस्कृत हस्तलिखित ग्रंथों का सूचीपत्र’ में समावेश किया है।<sup>१</sup>

जन आचार्यों एवं मुनिजनों ने संस्कृत भाषा में उपन्यास रचना, केवल इसलिए की थी कि जिससे वे अपने दार्शनिक एवं नैतिक विचारों को, तत्कालीन सुशिक्षित एवं पण्डित समुदायों तक पहुँचा पाएँ। किन्तु जो विशाल औपन्यासिक कृतियों का भण्डार हमें आज भी प्राकृत भाषा में उपलब्ध है उससे पता चलता है कि अनेक शतियों तक जैन विद्वान एवं साहित्यकार, संस्कृत एवं प्राकृत दोनों ही भाषाओं, में समानांतर रूप से, उपन्यास रचना करते रहे। प्राकृत भाषा में रचित, इस काल की औपन्यासिक सामग्री परिमाण की दृष्टि से पर्याप्त अधिक मात्रा में, अद्यावधि समुपलब्ध है। इस भाँति हम संस्कृत एवं प्राकृत दोनों ही भाषाओं में—आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपन्यास विधा के प्रवर्तन एवं विकास काल तक—‘यूनाविक’ मात्रा में, उपन्यास रचना की परम्पराएँ पाते हैं। उपर्युक्त दोनों परम्पराओं में, अंतर वस्तुतः इतना ही है कि जबकि संस्कृत उपन्यास साहित्य की परम्परा ईसवी शती पाचवीं से लेकर अद्यावधि, एक अटूट श्रृंखला के रूप में प्रवर्तित पाई जाती है प्राकृत के उपन्यास साहित्य की परम्परा, ईसवी शती १७०० के आसपास ही समाप्त हो गई। सहसा अभ्युदय देखने के पश्चात्, वह सत्रहवीं शती ई० के पश्चात् ह्रास का सामना करने में सफल नहीं हो पाई। इस भाँति आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित आद्य उपन्यास साहित्य को, अपनी पूर्ववर्ती संस्कृत एवं प्राकृत दोनों परम्पराओं का प्रभूत रिक्त्य प्राप्त हुआ है। किन्तु प्राकृत उपन्यास की परम्परा की कड़ी आधुनिक भारतीय औपन्यासिक साहित्य के प्रवर्तन से पहले ही टूट चुकी थी। इस भाँति आज के भारतीय उपन्यास को, हम संस्कृत उपन्यास साहित्य का ही उत्तराधिकारी मान सकते हैं—प्राकृत उपन्यास साहित्य का नहीं।

संस्कृत उपन्यासगत वर्णनात्मक समृद्धि ही, आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित उपन्यास साहित्य में पाये जाने वाले वर्णनात्मक कलागत परस्पर साम्य की, प्रमुख आधारभूमि बनी। इस दृष्टि से आधुनिक काल में रचित संस्कृत उपन्यासों का व्यौरा और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है। संस्कृत भाषा में रचित कथा साहित्य का स्वर्णकाल तो अभी रहा था जबकि संस्कृत को देश की राज्यभाषा एवं सावर्भौम साहित्य भाषा होने का गौरव प्राप्त था। समयांतर में उसका स्थान क्रमशः विभिन्न अपभ्रंश एवं उनसे प्रसून प्रादेशिक भाषाओं ने ले लिया। अतः यह तो स्वाभाविक ही

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास—(वाचस्पति गौरीला) (अध्याय १८ उपशीर्षक ‘उत्तरवर्ती गद्य कृतियाँ’, पृष्ठ ६३४-६३५) (चौखंबा विद्या भवन, वाराणसी १, प्रथम प्रकाशन १९६० ई०)।

था कि आधुनिक काल में सस्कृत भाषा में साहित्य सृजन का परिमाण, अतन्त्रतर भाषाओं की तुलना में, अपेक्षाकृत थोड़ा ही पाया जाये। किन्तु फिर भी इन बातों से इकार नहीं किया जा सकता कि सस्कृत भाषा की लोकप्रियता एवं उसके प्रति जनसाधारण की गहरा आस्था की जड़ें, इतनी सुदृढ़ रही हैं कि भारत में नवागम अंग्रेजी राज का, सस्कृत भाषा के परामर्श के लिए, विशेष एवं व्यापक योजना उद्घोषित करना पड़ा। सस्कृत के प्रचार प्रसार का दमन करने के पश्चात् ही वे अंग्रेजी भाषा की इस दश में थोड़ा बहुत आगे बढ़ा पाय।

भारत में आग्ल सत्ता की ठीक स्थापना से पूर्व मारे देश में सस्कृत पाठशालाओं का जाल विद्या या और इस क्रम में, मुगल शासनकाल में भी कोई व्यवधान नहीं आने पाया। विभिन्न राज्य व्यवस्थाओं में भी सस्कृत पाठशालाओं की राजा और प्रजा, दोनों की आरंभ से सदैव ही सहायता एवं सहयोग मिलता रहा था। यह सत्य ही था कि भारत में अपने राज्य को जमाने का प्रयास करने हुए ईस्ट इंडिया कंपनी के डाइरेक्टरों का इस वस्तुस्थिति को देख कर भारी चिन्ता हुई। तत्कालीन सस्कृत के पंडितजन यूरोपियन सांगा को असंपृक्ष्य मानते थे और इस भाँति, जनसाधारण में भी, वे यूरोपियन विरोधी भावना को उत्तेजना देते थे। अतएव भारत में अंग्रेजी राज ने सर्वप्रथम काय यह किया कि सस्कृत पाठशालाओं को राजकीय सहायता से वंचित कर दिया। इस भाँति सस्कृत पढ़ने पर, न तो कोई आर्थिक साधन देय रह गया और न सस्कृत के पठन-पाठन के पश्चात् राज्य सेवा में नियुक्ति की ही सम्भावना रही। इस भाँति वह वर्ग, जो इस देश में सुप्राचीन काल से सस्कृत के प्रचार प्रसार एवं उसमें साहित्य सृजन का गुहुर भार वहन करता रहा था, धीरे धीरे विघटित होता चला गया।

### तृतीय प्रकरण प्राकृत उपन्यास साहित्य का अन्वय और ह्रास

प्राकृत भाषा में रचित उन उपन्यास साहित्य का प्रवर्तन तो सस्कृत उपन्यास साहित्य के आसपास ही हाँ चुका था किन्तु गुप्त साम्राज्य के अन्त्यकाल से ही सस्कृत भाषा को सारे देश में भारी समाप्ति प्राप्त हुआ एवं उसके "पापक" प्रचार एवं लोकप्राप्ति होने के कारण प्राकृत भाषा में रचित रचनाओं की लोकप्रियता तथा साहित्यिक गरिमा (सस्कृत उपन्यासों की तुलना में) में भी गिरावट ही घना रही। अन्यान्य सस्कृत भाषा के उपन्यासकारों को इतनी अभूतपूर्व अवसरवादीय कीर्ति एवं त्याग प्राप्त हुई, किन्तु अनेक प्राकृत उपन्यासकारों के तो नाम ही नहीं इस दश में बची तक भी नहीं जानते। फिर भी भारतीय उपन्यास साहित्य में वर्णनात्मक कला के अध्ययन की दृष्टि से इस विशाल उपन्यास साहित्य का संक्षिप्त विवेचन आवश्यक ही जाता है।

प्राकृत कथा साहित्य का प्रचार प्रसार ईसवी शती चौथी से लेकर, सत्रहवीं

मना तक घसता रहा । इस समय ध म समय प्राचीन एवं महत्वपूर्ण और प्रागिन कृति-  
गुणादय क समरालाग भागे जाते वाले परम विद्वान, पादलिप्तभाष्य—कृत 'तरगवई  
कथा' (तरगवती कथा) है । डॉ० जगन्नीलकण्ठ जन ने प्राकृत साहित्य का इतिहास  
नामक एक ग्रन्थ (प्रथम प्रकाशन १९६१ ई०) रचा है जिसमें उन्होंने प्राकृत  
उपायामा-साहित्य क बारे में, पर्याप्त उपायामा गामग्री संपिा की है । प्रस्तुत अध्यायन  
अनुगमना में अनेक स्थलों पर प्रामाणिकता के लिए, उमका भी महारा लिया गया  
है । इससे अतिरिक्त अनेक स्थलों पर गमापात के अथ आचार्य हजारीप्रसाद  
द्विवेदी के प्रकाशित ग्रन्थ द्वितीय साहित्य का भूमिका से भी अनेकानेक मूल्यवान  
सकत प्राप्त हुए हैं तथा उनके महान उपायामा चार-पादयाम क प्रभावना भाग से  
भी साहायता ली गई है ।

(पादलिप्त सूरि) पादलिप्त सूरि सातवाहन-काली राजा हाल की विद्वत्समा के  
सुप्रतिष्ठित कवि मान जाते थे । स्वयं हाल भी एक प्रसिद्ध कवि थे । उन्होंने अपनी  
गाथा-सप्तशती में गुणादय और पादलिप्तभाषि प्राकृत क अनेक कवियों की रचनाओं  
का सफल भी किया है । सुप्रसिद्ध गुणादय भी हाल की समा में कभी रहे थे, ऐसी भी  
कियदत्तियाँ पाई जाती हैं । गुणादय ने पगाची माया में बहुरकथा और पादलिप्त  
ने प्राकृत भाषा में तरगवई कथा (तरगवती कथा) लिगी । उद्योतन सूरि कृत एक  
अथ महान प्राकृत उपायामा पुबलयमाला में सातवाहन के साथ ही साथ पादलिप्त  
है एक उनकी तरगवती-कथा का भी उल्लेख है । प्रभावक चरित में पादलिप्त  
की कौशल देव का निवासी बताया गया है और उनके पिता का नाम पुल्ल और  
माता का नाम प्रतिभा बताया गया है । उन्होंने बाल्यावस्था में ही जैनधर्म में दीक्षा  
लेकर मधुरा पादलिप्तुत्र लाट सोराष्ट्र शभुजम आदि स्थानों का भ्रमण किया था ।  
घापात ने अपनी गिलक मजरी में भी तरग कथा की प्रशस्ति की है । दुर्भाग्य से  
अथ यह महान उपायामा सर्वांग में अप्राप्य है । प्रो० लायमन ने इसका समय ईसा  
की दूसरी तीसरी कालांकी स्वीकार किया है ।

'तरगवई कथा' का सक्षिप्त रूप तरगलोता नाम से प्रसिद्ध है जो मूल ग्रन्थ  
की रचना से कोई १००० वर्ष पश्चात तयार किया गया है । इसके कर्ता हैं (वीर  
मद्र आचार्य क शिष्य) नेमिचन्द्र जिन्होंने १६४२ गाथाओं में इस ग्रन्थ की पुनरचना  
की है । नेमिचन्द्र ने अथ ही प्रस्तावना में भी उक्त प्राचीन महा उपायामा पर, प्रकाश  
डाला है —

पादलिप्त सूरि ने तरगवई कथा की रचना, देशी कवनो में की थी ।  
इस कथा को न कोई कहता था न सुनता था । वह विद्वानों के ही योग्य थी ।  
साधारण जन उससे लाभ नहीं उठा सकते थे । पादलिप्त ने देशी पदों में जो गाथायें

लिया, उन्हें महा सक्षिप्त करके यहाँ लिखा गया है कि जिनमें इस कृति का मवया उच्छेदन न हो जाए ।<sup>१</sup>

‘तरगवई कथा’ नामक महाकाव्य का सार इस भाँति है—घनपाल नामक सेठ राजपूह में रहता था । उसके घर के पास की बस्ती में, कुमार-ब्रह्मचारिणी, सुव्रता नाम की गणिनी, अपने शिष्य परिवार सहित रहती थी । एक बार सुव्रता की शिष्या तरगवती, घनपालके प्रासाद में सेठानी के पास मिथाय आई । उसका अद्भुत रूपगौरव देख कर सेठानी ने उसकी पूजकथा जाननी चाही—तरगवती ने उस अपनी कथा कह सुनाई—वत्सदेश में कौशाबी नगर है, जो मध्यदेश की धामा माना जाता है । वह जमुना के किनारे बसा है । वहाँ उदयन नामक राजा, रानी वासवदत्ता सहित राज्य करता है । नगर में ऋणभसेन नामक सेठ है । उनके आठ पुत्र और एक पुत्री (तरगवती) हुए । आठ वप की अवस्था में ही तरगवती ने लेख, गणित, रूप आलेख्य, गीत, वादिक नाट्य आदि कलाओं की शिक्षा प्राप्त कर ली ।

एक बार वसंत ऋतु में, राज उपवन में शीटा करते समय उसने, एक चक्रवाक पक्षी को देखा और उसे देराते ही उसे अपने पूज-जन्म की कथा याद आ गई । वह पूजजन्म में अपने चक्रवे के साथ चपा नगरी में गंगा के किनारे जलश्रीडा का जा रही थी । किसी व्याध ने जगली हाथी पर एक बाण फेंका पर वह उसके चक्रवे को आ लगा । वह गिर कर मर गया । व्याध ने उसके लिए पश्चात्ताप किया और चिता जला कर उसका दाह संस्कार किया । चक्रवी उसी में रुद पड़ी और जल गई । तब उसने ‘तरगवती’ नाम से एक अत्यन्त घनवान सेठ के घर में जन्म लिया । उसने अपने पूजजन्म के स्वामी का ढूँढ निकालने का निश्चय करके—एक सुन्दर रेशमी वस्त्र-तट पर, पूजजन्म की घटना का चित्र आलेखित करके ‘कौमुदी महोत्सव’ के अवसर पर राजमाग पर रखवा दिया । उसे देख कर नगर के घनदेव सेठ के पुत्र पद्मदेव को भी, अपने पूजजन्म की कथा याद आ गई । घनदेव सेठ ने तरगवती के पिता से प्रार्थना की कि वह उसके पुत्र पद्मदेव से अपनी पुत्री तरगवती के विवाह का प्रस्ताव स्वीकार कर ले । किन्तु तरगवती के पिता ने कहा कि मैं तो किसी महाधनिक के घर में ही, अपनी ब्याया दूँगा ।

तरगवती ने भाजपत्र पर एक पत्र लिख कर अपनी सखी के हाथ पद्मदेव का

१ ‘तरगलोला’ (नमिचन्द्र), (नवीन संस्करण—नेमिचिपान-ग्रन्थमाला में प्रकाशित सन १९४३ ई०) प्रो० लायमन द्वारा जन्म माया में तथा गुजराती भाषा में श्री नरसिंह भाई पटेल द्वारा अनूदित (‘जन साहित्य-संशोधक’ नामक पत्र में धारावाहिक रूप में तथा बाद में पुस्तक रूप में प्रकाशित) प्रथम संस्करण नवमचन्द्र केशवलाज मोनी अहमदाबाद, सन १९२४ ई० ।

मिञ्जवाया । परस्पर परामर्श के अनुसार वे दानो नाव मे बठ कर जमुना नती के उस पार चले गये जीर फिर उहोने गघव विवाह कर लिया । कुछ समय बाद वहाँ चोरो का आक्रमण हुआ और वे इन दोनो को पकड कर ले गए । वे कात्यायनी के मंदिर मे ले जाकर उनकी बलि देना चाहत थ । तरगवती की प्रार्थना पर, चोरा ने उह मूक्त कर दिया और अनेक नगरो एव देश देशांतरो का परिभ्रमण करने के पश्चात वे फिर कोशाबी आय । तब उनका धूमधाम से प्रथानुमार विवाह करा दिया गया । कुछ समय बाद तरगवती ने साध्वी चन्दनवाला से जैन धम की दीक्षा ली और अब वह उ ही के साथ उस नगर (राजगृह) मे आई है । तरगवती से जब शैथानी ने यह अपूव जात्मकथा सुनी तो उसने भी थाविका के बारह व्रत स्वीकार किए । तरगवती मिक्षा ग्रहण करके अपने उपाध्यय म लौट आई । तरगवती ने केवल पान प्राप्त करके सिद्धि पाई और पदमदेव भी सिद्ध हो गए ।

इस महा उपायास म वणनो की विविधता एव विचित्रता विशेषतया दशनीय है । विविध भाति के बहुसंख्यक वणनों के अतिरिक्त वन अटवी उद्यान जलन्रीडा, सूर्योदय चन्द्रोदय सूर्यास्त, नगर वणन युद्ध वणन, जादिवासियो (भीलो) द्वारा आश्रमण मदन महोत्सव सुतज म उत्सव विवाह उत्सव स्वयंवर उत्सव, जन मुनियो का नगर प्रवेश समारोह दीक्षाविधि आदि अनेकानेक विषया का सरस वणन भी उपलब्ध होता है जिससे तत्कालीन देशकाल परिस्थितियो का आँखोदेखा व्यौरा सा, पाठक के समक्ष समुपस्थित हा जाता है ।

उद्योतन सूरि कृत 'कुवलयमाला (रचनातिथि सन ७७६ ई०) भी एक चिरस्मरणीय प्राकृत उपायास है । उसम विजयानगरी के किसी छात्रो के मठ' का अत्यंत स्वामाविक चित्रण किया गया है । उस मठ म लाट, कर्णाटक महाराष्ट्र श्रीकण्ठ, सिंधु मालव सौराष्ट्र आदि दूर दूर दशो से आए छात्र लजुटि युद्ध वाह्युद्ध, जालेरय गीत नृत्य, वाप विवाद तथा माड (अभिनय प्रहसन कला) आदि विद्याओ की शिक्षा प्राप्त किया करत थ । वे दुविनीत और गविण्ठ भी थ तथा वे बहुधा सुंदर युवतियो पर दृष्टिपात करने के लिए लालायित रहा करते थे । समस्या पूर्ति द्वारा, 'कुवलयमाला' को प्राप्त करने के प्रसंग म, छात्रो के परस्पर वार्तालाप द्वारा इस मनोवृत्ति का ध्यग्या मय चित्रण किया गया है ।

इस चित्र चित्र उपायास मे, यापारात्रम द्वारा अपने अपने प्रवहणो (जलपोतो) म विविध प्रकार का माल भर कर चीन सुवण भूमि और टकण (टॉन किन) आदि दूर देशा की सागर यात्रायें करने का अत्यंत विशद वणन पाया जाता है । इनम प्राचीन भारतीय प्रवहणो की वडिम (बडा) बगड, सिल्ल (सित पाल) जावत (गोल नाव) सुरप (होडी) बोहित्य, खरकुल्लिय आदि विविध प्रवहणा (जहाजो) का सूक्ष्म विवरण सहित वणन उपलब्ध होता है । साथ ही 'कुवलयमाला म गाल्थ,

मगध, अन्तर्वेदी, कीर, ढक्क, सिंधु मरु, गुजरात, लाट, मालवा आदि देशों के रहने वाले वणिकों का भी उल्लेख है जो अपने अपने देशों की लाक मापाओ में बातचीत किया करते थे।

ईसवी सन् ६१०वीं शती पूर्व जन जाचार्यों द्वारा, प्राकृत भाषा में रचित, चरितात्मक ग्रंथों में पद्मचरिय (पद्मचरित्र) 'हरिवंश चरिय' (हरिवंश चरित्र), 'वसुदेव हिण्डो', 'समरादचकवा' (समरादित्य कथा) तथा शीलाचाय कृत अउपममहापुरि चरिय' (चौपन महापुरी चरित्र) आदि भी अपनी साहित्यिक गरिमा एवं वणन छवि के लिए विशेष उल्लेख्य हैं। तत्पश्चात् म्यारहवीं बारहवीं शताब्दी ई० में श्वेताम्बर सम्प्रदाय के विद्वानों में अभूतपूर्व जागृति पाई गई। फलस्वरूप इन दो तीन सौ वर्षों में, सक्का अभिनव कथा ग्रंथों का निमाण हुआ। इस नवजागृति का एक कारण यह भी था कि उस समय गुजरात में चालुक्य, मालवा में परमार तथा राजस्थान में गुहिलोत और चाहमाण राजा भी, जनधर्म के प्रति अमिह्वि रखने लगे थे। फलतः गुजरात, मालवा और राजस्थान के राजदरबारों में, जैन महाभाष्यो दण्डनायको, सनापतिया और श्रेष्ठिया का प्रभाव काफी बढ चला था। इसी काल में अणहिल्लपुर, खमात भडाच मिधमाल (सौराष्ट्र गुजरात), जाबालिपुर (मध्य प्रदेश), अजयमेरु चित्तौड (राजस्थान), उज्जैन ग्वालियर और धारानगरी (मालवा) आदि नगर जन जाचार्यों की प्रवृत्तियों के मुख्य केन्द्र बन गए थे।<sup>१</sup>

जसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि सुत्र धुवाण दण्डी के, बृहत्तनयी युग के बीत जाने पर भी, सस्कृत उपन्यास साहित्य की रचना, अवाप रूप से (आधुनिक काल तक) चलती ही चली आ रही है। उसकी लोकप्रियता भी दिनोदिन बढती ही रही है, और आज भी हमारे देश में, सस्कृत उपन्यासों की रचना होती है। पिछली दो शतियों में तो सस्कृत साहित्य में एक से एक उत्तम उपन्यास भी रचे गए हैं जबकि प्राकृत उपन्यास परम्परा पिछली तीन शतियों से निशेषप्राय हो चुकी है।

### चतुर्थ प्रकरण आधुनिक सस्कृत उपन्यास साहित्य की रूपरेखा

भारत में अंग्रेजी राज्य का सम्पूर्ण समगठित रूप, किस भाँति सस्कृत वाङ्मय तथा उसके सभी अयन केन्द्रों को निशेष करने में नियोजित हुआ इसका उल्लेख सस्कृत उपन्यास साहित्य का स्वणकाल' शीपक प्रकरण के अंत में किया ही जा चुका है। इस प्रकार आतक एवं पक्षापात के वातावरण में अंग्रेज शिक्षाविदों एवं अधिकारियों ने इस मिथ्या प्रवाद एवं प्रचार का प्रसार किया कि सस्कृत केवल भारतीयों की एक पुरातन एवं धर्मग्रंथों की अतीतकालीन भाषा है जो आज मृत हो चुकी है और जिससे आधुनिक (तत्कालीन उन्नीसवीं शती के) जनसाधारण,

१ 'प्राकृत साहित्य का इतिहास' (श्री जगन्नीशचन्द्र जैन) बोल्लम्मा प्र० वाराणसी।

सर्वथा अपरिचित है। उन्होंने अपनी इसी दुरभि सन्धि को, 'घडियाल के नकली भाँसुओ से छुपान का छल भी किया और अपने निजी तत्वावधान में उड़ाने काशी के पण्डितों के उग्र एवं प्रभावशाली विरोध से आशङ्कित होकर (उसके धमन के अभिप्राय से) एक 'क्वींस' संस्कृत कॉलेज नामक राजकीय विद्यालय की भी स्थापना की। इसी कालज के एक प्रतिष्ठित प्राध्यापक ५० बालकृष्ण भट्ट ने, अपनी स्वतंत्र एवं राष्ट्रीय विचारधारा के कारण (चंग भग के विरोध में, पूर्वार्ध भारत में उठे हुए जनरोप का प्रतीक होकर) अपनी सरकारी नौकरी में त्यागपत्र दिया था। भट्टजी ने 'हिन्दी प्रदीप' द्वारा, हिन्दी उप-यास साहित्य को भी बड़ा बल प्रदान किया था और स्वयं भी अनेक उत्तम उप-यासों की रचना की थी। इसी क्वींस कॉलेज के सवप्रथम स्नातक में एक थे, ५० अम्बिकादत्त व्यास।

अग्नेजी आतक, पक्षपात एवं अन्याय से भयभीत न होकर तथा उन्हीं के द्वारा चलाए गए उपयुक्त संस्कृत विद्यालय में शिक्षण-वाय करते हुए भी संस्कृत भाषा एवं साहित्य के इस तपोनिष्ठ अनन्य सेवक ने हिम्मत नहीं हारी और वे निरंतर होकर प्राणपण से उसमें साहित्य सज्जन करते रहे। श्री व्यास जी के पूज्य राजस्थान के रहने वाले थे किन्तु उनके पितामह श्री राजाराम व्यास, काशी आकर बस गए थे। उनके ५० दुर्गादत्त एवं ५० देवदत्त नामक दो सुपुत्र हुए। बड़े भाई ५० दुर्गादत्त ही श्री अम्बिकादत्त व्यास का पिता श्री थे। ५० अम्बिकादत्त जी का जन्म सन १८५७ ई० के महान् स्वातन्त्र्य संग्राम से केवल पाँच वर्ष पूर्व चन्न शुक्ल अष्टमी को हुआ था। केवल पाँच वर्ष की अवस्था से ही उन्हें विद्या अध्ययन में लगा दिया गया और उतनी यादों अवस्था में ही व्यास जी ने 'शब्द रूपावली और अमरकोष का कण्ठस्थ करना प्रारम्भ कर दिया था।

श्री अम्बिकादत्त व्यास ने अपने बड़े परम्परागत संस्कृत भाषा-जानुराग को, मनोयोग द्वारा स्वाध्याय के बल पर और भाँटकर बनाया और अपनी किशोरा वस्था में ही वे निर्दोष संस्कृत पद्य एवं गद्य में रचनाएँ करने लगे। ५० बालकृष्ण भट्ट की मूर्ति ही सन १८७६ ई० के आसपास श्री व्यासजी ने काशी के सरकारी संस्कृत कॉलेज में अध्यापनाय प्रवेश किया (जो आज स्वराज्य में, वाराणसीय संस्कृत विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो चुका है)। अपने अध्यापन काल में ही सन १८८१ ई० में उन्होंने, वही से साहित्याचार्य परीक्षा भी उत्तीर्ण कर ली। उस समय सन १८५७ ई० के प्रथम भारतीय स्वाधीनता संग्राम को केवल दो दशक ही बीत थे। जब व्यासजी का जन्म हुआ तब समग्र उत्तरी भारत स्वाधीनता संग्राम की तीव्रतम लड़ाई में था। उसकी विफलता के गहन राष्ट्र-यापी विषाद की छाया में, उनका बचपन बीता था, किन्तु तब भी ब्रिटिश राज्य के धमन एवं अत्याचारों की बहानियाँ, बनारस की गली-गली में गूँज रही थीं। अतः

जब श्री व्यासजी ने तरुणाई पाई तो यह स्वामाविक ही था कि उनके मन में, देशप्रेम एवं स्वाधीनता आन्दोलन के प्रति अदम्य उत्साह उमड़ता ।

भारत-दुःख हरिश्चन्द्र स्वयं भी गहरे देशप्रेमी थे किन्तु सरकारी कोप भाजन को वे, खुले तौर पर आमन्त्रित करने योग्य कठोर स्वभाव के व्यक्ति न थे । काशी में उस समय एक ओर तो राजा शिवप्रसाद सिनारेहिन्द का ब्रिटिश भक्ति सम्प्रदाय जोर एकड़ रहा था, दूसरी ओर भारत-दुःख के नेतृत्व में, आज की दृष्टि से नरमदलीय देशभक्ति सम्प्रदाय धीरे धीरे बढ़ता जा रहा था । किन्तु श्री अम्बिकादत्तजी व्यास को वे दोनों ही मत अप्राह्य थे । तभी उनके पिता प० दुर्गादत्तजी स्वगवासी हुए और श्री अम्बिकादत्त व्यास ने काशी नगरी से विरत होकर, कलकत्ते के लिए प्रयाण किया ।

अपने कलकत्ता नगर के प्रवास काल में श्री व्यासजी को संस्कृत भाषा की सामर्थ्य एवं राष्ट्रीय एकता शक्ति का और भी व्यावहारिक अनुभव प्राप्त हुआ । जो लोग उनसे धारावाहिक हिन्दी भाषा में बातचीत नहीं कर पाते थे, वे सभी बगला भाषी विद्वान, संस्कृत भाषा में घड़ल्ले से वार्तालाप करते थे । उस समय तक बंगाल में भी ब्रिटिश विरोधी भावना का मूनपात हो चला था और प्रसिद्ध क्रान्ति कारियों की पहली पीढ़ी, अपनी तरुणाई की ओर बढ़ रही थी । वही उह बंगाली-लोगों पर प्रताप और शिवाजी की वीरगाथाओं के जादूई प्रभाव का भी अनुमान हुआ । अतः उन्होंने तभी यह निणय किया था कि वे संस्कृत भाषा में ही, भारतीय स्वाधीनता भाषना का परिपोषक किसी वीररसपूर्ण उपन्यास की रचना करेंगे । यह मात्र संयोग न हाकर, एक इतिवृत्तात्मक तथ्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि जिस वय, श्री अम्बिकादत्त व्यास कलकत्ते में प्रवासी थे, उसी वय बंकिम चन्द्र का (राष्ट्रीय गद्य खण्डकाय के समान) प्रसिद्ध क्रान्तिकारी उपन्यास 'आनन्दमठ' (सन् १८८२ ई०) प्रकाशित हुआ था । संस्कृत भाषा में रचे गए श्री अम्बिकादत्त व्यास के 'शिवराज विजय' नामक उपन्यास का प्रथम प्रकाशन, 'आनन्दमठ' के केवल एक वय पश्चात् ही हुआ था । कलकत्ता से लौट कर जब श्री व्यासजी काशी आए तो उन्हें अपने नये विचारों का, वहाँ कहीं भी स्वागत नहीं मिला । अतः वे बिहार-स्थित मधुवनी में, एक संस्कृत विद्यालय में अध्यापन करने लगे । वहीं उन्होंने संस्कृत सजीवनी समाज, की भी स्थापना की और बिहार में संस्कृत भाषा और साहित्य के लिए उन्होंने मधुवनी को एक सुदृढ प्रचार-केंद्र बनाया । तत्पश्चात् श्री व्यासजी प्रमथ (पटना के निकटस्थ) बाकीपुर मुजफ्फरपुर तथा भागलपुर नामक स्थानों में संस्कृत अध्यापन कार्य में रत रहे । साथ ही वे संस्कृत भाषा एवं साहित्य के प्रचार एवं प्रणयन में भी प्राणपण से जुटे रहे । दरमगा-नरेश प्रसिद्ध संस्कृत प्रेमी थे अतः तभी उनसे प्रोत्साहन पाकर श्री व्यासजी ने, संस्कृत भाषा में अनेक मौलिक नाटकों



एक कथाग्रंथ की भी रचना की। उनमें, 'सामवन' नामक संस्कृत नाटक तथा 'शिवराज विजय' नामक प्रसिद्ध उच्चकोटि का साहित्यिक एवं वणन प्रधात आधुनिक संस्कृत उपन्यास भी थे।

महाराजा दरभंगा न श्री व्यासजी के संस्कृत भाषा प्रेम से प्रभावित होकर उनकी नियुक्ति पटना के संस्कृत कालेज में भी करनी चाही किन्तु व्यासजी ने, फिर अंग्रेजी सरकार की नौकरी करना स्वीकार नहीं किया। अतः उन्होंने उनसे अस्वस्थता का बहाना बना कर, सायजनिक विद्यालय में ही अध्यापन कार्य जारी रखना पसंद किया।

श्री अम्बिकादत्त व्यास का विविध भारतीय भाषाओं का ज्ञान विलक्षण था। हिन्दी एवं संस्कृत तो उनकी मातृभाषाएँ ही थीं। साथ ही वे बंगला, मराठी, गुजराती और अंग्रेजी में भी अच्छे ज्ञाता थे। वे यह भी चाहते थे कि नये युग की माँग के अनुसार हिन्दी साहित्य एवं संस्कृत साहित्य में, नई धाराओं का प्रवर्तन होवे। श्री द्विवेदी बलराम राय के बंगला नाटकों के समान ही, श्री व्यासजी ने हिन्दी रंगमंच के लिए अनेक ऐतिहासिक देशभक्तिपूर्ण नाटकों की स्वयं रचना की और उन्हें अभिनीत भी कराया। उनकी अमर रचना शिवराज विजय एक उच्चकोटि का, देशकाल के अनुरूप सरल एवं प्राजन संस्कृत भाषा में रचित, उत्तम ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें कितने ही वणन कलाभिराम हैं और वणनात्मकता की दृष्टि से वे श्री व्यासजी की रचना शैली की मौलिक प्रतिभा का परिचय देते हैं।

श्री अम्बिकादत्त व्यास का असमय निधन सन् १९०० ई० में हुआ था जबकि उनकी अवस्था केवल ४८ वर्ष की थी। इतनी थोड़ी अवस्था पाकर भी वे इतनी महान राष्ट्र सेवा एवं साहित्य सेवा कर गये—यह स्वयं में भारतीय नवजागृति के इतिवृत्त का एक चिरस्मरणीय प्रसंग है।

श्री अम्बिकादत्त व्यास द्वारा शिवराज विजय उपन्यास में कितनी ही वणन अपनी कलाभिराम सुषरता एवं नसर्गिक शोभा चित्रण विषयक रमणीयता के कारण, अब चिरस्मरणीय बन चुका है। उपन्यास का कथानक इतिहास प्रसिद्ध स्वातंत्र्य सेनानी श्री शिवाजी महाराज के जीवन और सघन संसर्गित है। प्रथम दो वणनों की पृष्ठभूमि महाराष्ट्र स्थित पश्चिमी सागर तट से जनतिदूर महाबलेश्वर नामक प्राचीन तीर्थ (एक आधुनिक ग्रीष्म निवास) तथा उसके निकट ही निर्मित प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रतापगढ़ दुर्ग जहाँ प्राकृतिक शोभा से आवृत्त स्थलों को चित्रित करने वाली है। प्रथम वणन में पावत्य नदियों के वपाकालीन भयावह प्रवाह का दृश्य है तथा दूसरे में प्रतापगढ़ के आकाशधुबी दुर्ग की ऊँची अटारी पर से भुवनादलोक प्रासाद पत्नी (बाण द्वारा प्रवर्तित) में चाँदनी रातकी शोभा की छटा प्रस्तुत की

गई है। साथ ही उसमें उपयास के नायक, वीर शिवाजी की रूपछवि की रूप रेखा भी अंकित की गई है —

‘प्रताप दुर्ग के पास ही वन प्रदेश में, भीमा नदी फैलती हुई तरगा के दूतों से उत्पन्न हुए सैकड़ भवरो से, डरावनी थी। वह पश्चिम समुद्र के पावत्य प्रांत में, पर्वत समूह की गुफाओं के मध्य से निकलती थी और पूव दिशा के समुद्र को घूमने में चतुर थी। उसने पवन से गिरे हुए मोटे पत्थरों को धो दिया था। उसका प्रवाह, झरनों की जलधाराओं से पूरित और प्रबल था।

वीर शिवाजी अपनी अटारी में स “योगामन करके, बठे हुए थे। वह अटारी चाँद को घूम रही थी। उसकी दीवारें गाढ़े धूने से लिपी हुई थी। उसमें घूप की झलक आ रही थी। उसमें खूंटिया पर, अनेक प्रकार की छरियाँ और तलवारें लटक रही थी। उसमें सोने के पिंजरो में लटकने हुए तोते, कोयल, चहोर सारिका (मना), अपनी मीठी बोली बोल रहे थे। वीर शिवाजी के चारों ओर उनके मित्रमंडल एवं भक्तों उनकी भव्य मूर्ति को देख कर प्रसन्न होने हुए चण्डियों पर बठे थे।”

उपयास के अंतिम परिच्छेदों में जब शिवाजी ने मुगला की कैद से छूट कर, जमुना की धारा को पार कर लिया तो फिर उनकी प्रतीक्षा करती हुई मरहठा सेना ने, उनका हार्पोलनास से स्वागत किया। वीररसपूर्ण सगति वर्णन पद्धति पर चित्र चित्र शाली में चित्रित, य वणन, बहुत ही उत्कृष्ट बन पड़े हैं। इनमें रंगों की छटा और रूप की छवियों का बड़ा ही कलात्मक सामंजस्य हुआ है।

इधर पीछे कवच पहिने हुए “यक्तियों की कतार खड़ी हो गई। उनके सिरों पर साल पगडियाँ थी। वे हाथा में धनुष बाण लिये हुए थे। वे कवच पहिने हुए थे। वे घोड़ों की सटा (गर्जन के बालों) को थपका दे रहे थे। उनके सोने के बक्षण, चिलते की चोटों के दागा से बठोर, बलाइयों में हिल रहे थे। बीस बीस घोड़ों के बीच में, नीलगिरि की चोटिया के समान सुन्दर हाथी म्यित थे। उनके गुण्डादण्ड, माँति माँति के भूषणों से सुशोभित थे। वे अपने गालों की, मोतियों के गुच्छों से बार बार घुमी हुई मदजल धारा की वर्षा द्वारा, घो रहे थे और वे अपनी सूँठ की सूँठों के पास ठडरे हुए, घुडसवारों के अगा की चादरों को सींच रहे थे। उन पर बहुत से द्वाण्डों के लडके, पुष्पा से भरे हुए पात्रों को, हाथ में लिये चढ़

१ ‘शिवराज विजय’ (प० अम्बिकाकांत व्यास, (मूलप्रथम प्रकाशन तिथि, सन् १८८३ ई० प्रस्तुत हिन्दी रूपांतर प्रकाशन तिथि १८८७ ई०, हिन्दी रूपांतरकार मूलजी मनुज शास्त्री, मुलतान निवासी) (प्र० मेहरचन्द्र लक्ष्मणनास ससृत पुस्तकालय, अम्बिकाकांत बाजार, लाहौर) (निश्वास २, पृष्ठ २८ २९)।

वठे। दागो हाथियो के अनन्तर, अय हाथी भी खडे किए गए। उन पर नगारा, बनी, बीन, मृदंग, मुरज (डोन) और खडनाल बजाने वाले चढ़े हुए थे।<sup>१</sup>

'महाराष्ट्र राज (शिवाजी) ने देखा कि बायी तरफ भगवती यमुना बह रही है। उसके नीचे जल का, मनुष्यो से चनाई गई, 'मयूर कारण्डव' आदि माति माति के आकार की, लम्बी चौड़ी छोटी बड़ी छतवाली, छत से रहित, तम्बुओ वाली, तम्बुओ से रहित आसनों वाले चप्पुओ के फेंके जाने की क्षण क्षण ध्वनि वाली व्यापार की वस्तुओ से ली हुई, एव क्रीड़ा के शौकीन नगरवासियो से भरी हुई, हजारो नावें, पानी मे आलोडन कर रही हैं।'<sup>१</sup>

प्रतापगढ दुग के नीचे कुछ दूरी पर ही शिवाजी महाराज के स्वागत के लिए तोरण द्वार सजाए गए थे और सभी भागलिक स्वागत-सस्कारो का नियोजन किया गया था —

'तीसरे पहर प्रताप दुग से चार कोम तन सुगन्धन केवडे, गुलाब आदि के जल से छिन्काव किया गया। माग के दोनो ओर, केने के लम्बे वृक्ष लगाए गए। केसर से चर्चित एव जल से भरे हुए कलश रखे गए। अशोक के पत्तो की मालाएँ लटकाई गई। केसर के रंग से रंगी गई झडियाँ लगाई गई। दिशाएँ सबडो बाजो के बजने से निकली हुई बडी भारी ध्वनि से मानो बहरी हो गई।'<sup>१</sup>

'इसी समय महाराष्ट्र राज (शिवाजी) इस सुन्दर माग म आ पहुँचे। ऊपर गदन उठाए हुए अपने आपको भूले हुए सब मनुष्य उह टकटकी लगे हुए नेत्रो से, मानो पी रहे थे दुर्गिन से मूले हुए भारत क सीमाग्य को वे फिर बरसने से हयमय दूसरा दुर्दिन बना कर दिशाआ का भी हसाने लगे। पृथ्वी को भी पुल कित करने लगे। जगत प्राण (वायु) को भी सप्राण करने लगे। वृक्षो को भी ह्वित करने लग। आशीर्वाणो से उनका अभिनन्दन होने लगा। उन पर पुष्प फेंके जाने लगे। उनका मुख, जयध्वनि श्रवण से ऊपर की ओर उठा। उनकी स्तुति की जाने लगी। उनके आगे घोडा नचाते हुए सैकडा योद्धा सवार थे। उनके पीछे नगी तलवारें हाथ मे त्रिये हजारो पदल थे। उनके पीछे व डूकें हाथ मे लिये वीरवरो की कतारें थी। उनके पीछे प्रसस्त भालो को क धो पर रखे हुए अच्छे अच्छे पहलवानों की श्रेणियाँ थीं। उनके पीछे भूपण कवि, मुरेश्वर (मोरोजी पन्त) माल्यश्री, तानाजी, अनाजी, गौरसिंह श्यामसिंह, रघुवीरसिंह, आदियो से घिरे हुए वही

१ शिवराज विजय' निश्वास १२ पृष्ठ ३८०

२ वही, निश्वास ११ पृष्ठ ३५८ ३५९

३ वही, निश्वास ११, पृष्ठ ३६७

भारत भूमि मण्डल के भाग्य, दक्षिण दिशा की पृथ्वी के इन्द्र, घम घुरघर, महाराष्ट्र पृथ्वी पति स्वयं महाराज शिवाजी थे ।<sup>१</sup>

आधुनिक संस्कृत उपयास साहित्य के सम्बन्ध में मद्रास विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के अध्यक्ष, डा० राघवन द्वारा प्रकाशित संक्षिप्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि आधुनिक काल में भी लगभग १०० औपन्यासिक कृतियाँ, संस्कृत भाषा में (सन १९५८ ई० तक) लिखी जा चुकी थी। निश्चय ही डा० राघवन का विवरण, सभी आधुनिक संस्कृत उपयासों का सम्पूर्ण व्यौरा नहीं है फिर भी वह यह मानने के लिए एक ठोस आधार अवश्य प्रस्तुत करता है कि संस्कृत भाषा, आज भी, भारतीय सांस्कृतिक साहित्यिक जीवन को, एक समान सूत्र में धाघने वाली, समृद्ध राष्ट्रीय वाणी है जिसका साहित्यिक गौरव, आज भी अक्षुण्ण है।

डा० राघवन द्वारा प्रस्तुत आज का भारतीय साहित्य<sup>२</sup> में 'बीसवीं शती में संस्कृत भाषा में प्रणीत उपयास साहित्य की उदयुक्त सन्निहारेखा' के अनुसार, (बीसवीं शती में) संस्कृत उपयास साहित्य का प्रारम्भ बंगला के सुप्रसिद्ध उपयासकार श्री विक्रमचन्द्र चटर्जी के उपयासों के स्वतन्त्र छायाानुवादों से हुआ। दक्षिण महाराष्ट्र में मथिन प्रथम वाई से तथा बांग्ला में को हापुर से प्रकाशित होने वाली, सामयिक पत्रिका 'संस्कृत चन्द्रिका' में विक्रमचन्द्र 'लाघण्यमयी' का छायाानुवाद श्री अण्णा शास्त्री द्वारा धारावाहिक रूप से प्रकाशित कराया गया था। यह पत्रिका सन् १९०७ ई० तक वाई से फिर १९२० तक कोल्हापुर से, तथा तदनन्तर धारवाड (कर्नाटक) से प्रकाशित होती रही थी। विक्रम की 'लाघण्यमयी' का रूपांतर सन १९०७ ई० में प्रकाशित हुआ था।

सन १९३० ई० में मूल संस्कृत में ही, रचित कुछ महत्वपूर्ण उपयासों का प्रकाशन भी बलकृष्ण से हुआ। उनके रचयिता थे, उपेन्द्रनाथ सेन। उनके उपयासों के नाम क्रमशः 'पल्लिच्छवि', 'मकरन्दिका' और 'कुन्दमाला'। इसके अतिरिक्त, लगभग उसी काल में एक अन्य बंगाली उपयासकार, श्री हरिदास सिद्धान्त धारीश कृत एक अन्य मौलिक संस्कृत उपयास 'सरला' भी प्रकाशित हुआ। श्री ए० राजगोपाल चन्द्रवर्ती ने मसूर से प्रकाशित होने वाली 'उदय पत्रिका' में 'विलास कुमारी सगर' नामक एक मौलिक उपयास भी धारावाहिक रूप से प्रकाशित कराया था।

१ 'निवाराज विजय' (निश्वास १२ पृ० ३८१-८२)।

२ 'आज का भारतीय साहित्य', अध्याय ३३ संस्कृत पृष्ठ २८६-३५२, 'उपयास उपशीपक' पृ० ३२०-३२३। (प्रथम हिन्दी संस्करण १९५८, साहित्य अकादमी प्रकाशन, नई दिल्ली)।

वाली सभी आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित उप-यास साहित्य से सर्वाधिक पुराने, प्रगतिशील एवं बहिष्कृत पाये जाते हैं। आज का हिंदी उप-यास साहित्य विश्व भर के औप-यासिक वाङ्मय में अग्रगण्य उप-यास साहित्यों में से एक बन चुका है तथा उसकी प्रगति एवं विकास की गति उत्तरोत्तर तीव्र शक्ति एवं नवनवभंगिमामयी होती जा रही है।

संस्कृत उप-यास साहित्य की वणनात्मक कला ने वैसे तो सभी आधुनिक एवं प्रगतिशील प्रादेशिक उप-यास साहित्यों को अपना अपूर्व एवं समृद्ध रिकथ प्रदान किया है किन्तु उन सभी में भी हिंदी उप-यास ने, अपनी दो शक्तियों की प्रगति एवं विकास-यात्रा में संस्कृत उप-यास साहित्य की एक से एक अनूठी वणनात्मक शक्तियों को नयी से नयी मौलिक साज सज्जा, एवं वाङ्मय विकास की नई से नई भंगिमा प्रदान करने में अपूर्व सफलता पाई है। संक्षेप में हमें इस सावभौम तथ्य को सदैव अपने समक्ष रखना चाहिए कि भारतीय उप-यास साहित्य की इस सुदीर्घ वणनात्मक परम्परा की धरोहर ही आधुनिक भारतीय भाषाओं के उप-यास साहित्य के विकास में परम सहायक रही है। उमने हमारे आधुनिक उप-यास साहित्य को एक महान सांस्कृतिक दार्शनिक गरिमा भी प्रदान की है। इसके अतिरिक्त साहित्यिक उच्च स्तरीयता एवं कलात्मक साधना की उदात्तता भी उसे संस्कृत जीप-यासिक परम्परा से ही उत्तराधिकार में प्राप्त हुई है। वस्तुतः विश्व के किसी भी अन्य राष्ट्र के साहित्यिक इतिहास में ऐसी सुदीर्घ एवं सुस्थिर औप-यासिक परम्परा उपलब्ध नहीं है।

वृहत्कव्याकार' गुणाडय द्वारा प्रवर्तित यह उप-यास परम्परा हमारे देश में प्रायः डेढ़ हजार वर्ष पुरानी हो चली है। इस बीच में न जान कितने घट परिवर्तनों में होकर राष्ट्र को गुजरना पड़ा है। सर्वप्रथम उप-यास रचना लोकभाषा में प्रारम्भ हुई थी। तत्पश्चात् सुबधु बाण एवं दण्डी की बृहद्ब्रह्मा ने परिनिष्ठित संस्कृत उप-यास को एक स्थायी साहित्यिक गरिमा प्रदान की। तत्पश्चात् प्राकृत उप-यास साहित्य की विकासधारा, सहज एवं जाध्यात्मिक नतिक भावना से स्वाधीन न हो सकने के कारण, बारम्बार मृशती रही। अतः में वह सांप्रदायिक-नकबिलक की मरु भूमि में समा गई। प्राकृत भाषा का उप-यास इस भांति अपनी निषेधपरक एवं वराभ्यपरक परम्परा के कारण स्वयं में एक विडम्बना बन कर ही रह गया।

उप-यास का मौलिक आधार उसकी जीवनमूलक आस्था ही है। साथ ही यह सत-चित्त जानद की नीडा और लीला तो है ही। अतः कला और साहित्य का, संप्रदायगत सकीणता से कभी भी सामंजस्य नहीं हो सकता। जब भी कभी ऐसा प्रकृति विरुद्ध उद्योग किया भी जाता है तो हजार प्रयत्न करने पर भी उसका परिणाम, विघटनकारी एवं ह्लासकारी ही सिद्ध होता है। आज का भारतीय उप-यास साहित्य भी इस इतिवृत्तात्मक घटनाचक्र में, अपनी प्रगति एवं विश्वास यात्रा में पर्याप्त शिक्षा ग्रहण कर सफल है।

यद्यपि भारतीय उपन्यास साहित्य के नवोत्थान का प्रवर्तन, ईसवी उन्नीसवीं शती से माना जाता है, किन्तु कोई भी साहित्य विधा वस्तुतः, सन् सवतवार प्रवर्तित नहीं होती। साहित्यिक प्रवृत्तियाँ भी, इतिवत्तात्मक प्रवृत्तियों की भाँति ही, अपनी एक तबसिद्ध परम्परा रखती हैं। उनसे विच्छिन्न करके उनका सम्यक अध्ययन, अधूरा एवं भ्रान्तिमूलक ही बना रहता है। जहाँ तक कि हिन्दी में उपन्यास साहित्य के प्रवर्तन का प्रश्न है—यह हिन्दी गद्य के प्रवर्तन के इतिवत्त के साथ, घनिष्ठ रूप से, जुड़ा हुआ है। जब सन् १८००-१८०१ ईसवी में लखनऊ के प्रसिद्ध कवि एवं साहित्यकार मैयद इशाअल्लाहा ने अपनी पहली हिन्दी उपन्यासिका 'रानी केतकी की कहानी' अथवा 'उदमान चरित' की रचना की, तब हिन्दी गद्य की प्राजलता, इतनी सुबोध एवं सरल अवस्था में पहुँच चुकी थी कि उसमें, उपन्यास जैसी प्रवाहमयी गद्य रचना, सहज समाव्य हो गई थी। क्या 'इशा' से पहले हिन्दी साहित्य में उपन्यास रचना अथवा औपन्यासिक प्रणाली की गद्यरचना का सबधा अभाव था? यदि ऐसा नहीं था तो हिन्दी उपन्यास साहित्य के उन्नीसवीं शती पूर्व साहित्य का भी यही उपन्यासिका संपूर्ण रूप से प्रतिनिधित्व क्यों करती है? इन प्रश्नों के समाधान की जिज्ञासा हमें हिन्दी गद्य एवं कथा साहित्य की आद्य परिस्थितियों में खोज-बीन करने की प्रेरित करती है।

हिन्दी भाषा एवं साहित्य के सभी इतिवत्तकार, यह तो मानते हैं कि ईसवी नवीं शती से लेकर, ग्यारहवीं शती तक के कालांतर में, आधुनिक भारतीय भाषाओं ने अपना रूप ग्रहण किया। इससे पूर्व, भारतीय जनता, अपभ्रंश (प्राकृत) भाषा का अपने निःसंशय जीवन में व्यवहार करती थी। अतः इस कालांतर से पूर्व हमें आधुनिक भारतीय भाषाओं में पद्य अथवा गद्य रचनाएँ नहीं मिलती। ग्यारहवीं शती के क्याकरणों और आलंकारिकों ने स्पष्ट लक्ष्य किया था कि 'अपभ्रंश' नाम की कोई एक भाषा नहीं है—बल्कि स्थान भेद से ही वह अनेक प्रकार की है। अर्थात् उस काल तक 'अपभ्रंश' का अर्थ लोकभाषा ही माना जाता था। आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी का इस सम्बन्ध में यह सुनिर्धारित मत है कि —

'इस देश में मुसलमानों सत्ता की प्रतिष्ठा के बहुत पूर्व से ही, निश्चित रूप से लोकभाषा को राजकीय सम्मान प्राप्त हो चला था। सम्पूर्ण साहित्य में ऐसा कोई कथन नहीं मिलता जिससे यह सिद्ध हो सके कि लोकभाषा में लिखने के कारण कोई कवि अपने को छोटा समझ रहा हो। पृथ्वीराज का दरबारी कवि चन्द बलह्विय (चन्द बरदाई) हिन्दी भाषा का आदिकवि माना जाता है। असल में वह अपभ्रंश का अन्तिम कवि अधिक है और हिन्दी का आदि कवि कम'।

आचार्य द्विवेदीजी ने इसी प्रसंग मे एक बडे काम की बात यह भी बताई है कि अपभ्रंश तथा अपभ्रंश के विकेन्द्रीकरण द्वारा उत्भूत एव विकसित, भारत के विविध प्रदेशो म पुष्पित पल्लवित भाषा रूपो म एक बडा मौलिक अन्तर यह पाया जाता है, कि जब कि अपभ्रंश (अथवा प्राकृत) साहित्य मे सस्कृत भाषा के तत्सम शब्दो का सबया बहिष्कार किया गया था—अपभ्रंश की परवर्ती लोकभाषा मे, सस्कृत के तत्सम शब्दो को ही बहुत बडी मात्रा म अंगीकार किया है। इस बारे मे आचार्य द्विवेदीजी प्रसिद्ध मराठी साहित्यकार एव मनीषक श्री चिंतामणि विनायक वैद्य के निम्नांकित अभिमत से सहमत हैं —

इसी समय (ईसवी सन ८०० ९०० वष के उपरान्त) सस्कृत भाषा के प्रचार मे शांकर मत की विजय से सहायता मिली होगी। शंकराचार्य का उत्कप ईसा की आठवीं शताब्दी के आसपास हुआ। उनके मत की छाप सबसाधारण पर पडी। उक्त मत का प्रसार सस्कृत भाषा के माध्यम द्वारा ही हाने के कारण, सबसाधारण की भाषा म सस्कृत शब्द आ गए और धीरे धीरे सस्कृत से ही हिन्दी, बंगाली मराठी, गुजराती आदि सस्कृत प्रचुर भाषाए बनीं।'

आचार्य द्विवेदीजी ने श्री बघ की उक्ति को और भी सुस्पष्ट करते हुए लिखा है कि

तमिल आदि भाषाओ का इतिहास भी ऐसा ही है। इसलिए तुलसीदास और सूरदास की भाषाओ म सस्कृत शब्दो की प्रचुरता होना अपभ्रंश के स्वाभाविक विवास के विरुद्ध नहीं ले जाता—और न उसम किसी प्रकार की प्रतिक्रिया का भाव ही सिद्ध होता है।'

भारतीय कथा साहित्य की इतिवत्तात्मक भ्रम शृङ्खला या माननी होगी उपनिषद्-ब्राह्मण कथा साहित्य पाली एव प्राकृत कथा साहित्य परिनिष्ठित साहित्यिक सस्कृत भाषा मे रचित उपन्यास साहित्य सस्कृत उत्तर प्राकृत भाषा का कथा साहित्य एव आधुनिक भारतीय भाषाओ म रचित कथा साहित्य। यह तथ्य कदापि विस्मरणीय नहीं है कि आधुनिक भारतीय भाषाओ म पुष्पित पल्लवित उपन्यास साहित्य बस्तुन पाली अथवा प्राकृत कथासाहित्य से नहीं बरन् साथे सस्कृत कथासाहित्य से ही अपना वशानुगण उत्तराधिकार पाता रहा है। जब भी हम अपने

आधुनिक भारतीय उपन्यास साहित्य के तकसिद्ध एवं वन्दनिय अनुसंधान में प्रवृत्त होने तो इस तथ्य को स्मरण न रखने से, भारी उलझनें पदा हागी।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में रचित उपन्यास साहित्य की प्रेरणाभूमि और भाषा मातृ एवं शैली सभी के आच्छरूपों की दृष्टि से जो बात हिन्दी बगला एवं मराठी जैसी प्रमुख भाषाओं के बारे में सत्य है वही भारत की सभी आधुनिक भाषाओं के उपन्यास साहित्य के पयवेक्षण की दृष्टि से भी माया है। किस मांति एक समान आय साहित्य भाषा ने म्यानीय एवं प्रादेशिक परिवेशों एवं विगिष्टनाओं को आत्मसात करके विविध आधुनिक भारतीय भाषाओं के कथासाहित्य में नररप आभा धारण की है—इसको प्रतिबिम्बित करने वाला मध्य एवं विशाल साहित्यिक दृश्यपट उपन्यास साहित्य के तुलनात्मक अवेषक को अभिभूत एवं विस्मयविमुग्ध कर देता है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य का सर्वेक्षण प्रारम्भ करते समय उन प्रमुख प्रश्नों पर विचार करने की आवश्यकता जान पड़ती है जिनके कारण हिन्दी उपन्यास साहित्य

की इतिवृत्तात्मक अस्पष्टताओं एवं भ्रान्तियों को वन मिलता रहा है। वस्तुतः विश्व की सर्वाधिक विकसित एवं बहुभाषित भाषाओं में स चतुर्थ स्थान पाने वाली हिन्दी भाषा की इस सर्वाधिक लोकप्रिय विधा, उपन्यास के उदभव एवं विकास के बारे में, जहाँ धारणाएँ यद्यत् साहित्य समीक्षाओं में लिखाई देती रही हैं—वे सवथा परि वजनीय हैं। उक्त विभिन्न मतमतातरो का मुख्य आधार वस्तुतः तथ्या पर आधारित न होकर केवल साहित्यिक किम्बदन्तियों पर ही आश्रित है। जब भी ऐसी किम्बदन्तियों को प्रामाणिकता की कमीटी पर कसा जाएगी वे कुत्रिम अथवा कल्पित ही सिद्ध होंगी। एक ऐसी ही लोकभ्रांति का मुटु विरोध श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने अपने उपन्यास 'प्रणयिनी परिणय' की प्रस्तावना में किया था जिसका प्रकाशन [सन १८८६ ई० में] आज से लगभग तीन चौथाई शती पूर्व हो चुका था। यह ही भारतीय उपन्यास-साहित्य के विदेशी उपन्यास साहित्य से प्रेरित एवं उदभव होने वाली बात। इस भ्रांत धारणा का सागोपाग निराकरण उपन्यास शब्द की विवेचना में किया ही जा चुका है। न जाने यह धारणा, हिन्दी साहित्य के इस समीक्षात्मक युग में भी (बीसवीं शती ईसवी के सातवें दशक में भी) क्या चलती ही चली जा रही है? उदाहरणार्थ सन १९६२ ई० में प्रकाशित शोधप्रबंध—'प्रमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास के अध्याय द्वितीय के पृष्ठ ४६ का निम्न उक्त विचारणीय है—

हिन्दी उपन्यास को भारतीय कथा परम्परा का विकास मात्र स्वीकार करना एक भ्रांत धारणा का समर्थन करता है क्योंकि वह नियचय ही यूरोप से बगाल होकर हिन्दी क्षेत्र में आया है।'

१ प्रमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास (डा० बलाग प्रकाश) (प्रथम प्रकाशन १९६२ ई० (प्र०) हिन्दी साहित्य संसार दिल्ली ६)



ऐसी निश्चयात्मक युद्धि का व्यवस्थित समाधान, आज तक भी यूरोप के बगल होकर, हिन्दी क्षेत्र में आने वाली किम्बदन्ती के समयक विद्वान नहीं कर पाए हैं। प्रस्तुत शोध प्रबंध में लगभग डेढ़ हजार वर्ष के इस सम्बन्ध उपन्यास सर्वेक्षण की इसीलिए आवश्यकता पड़ी कि मविष्य में इस प्रकार की भ्रातियों एवं किम्बदन्तियों को और आगे प्रचार प्रसार न मिल पाए। यदि कोई भी निरपेक्ष पयवेगक, हिन्दी उपन्यास के उदभव एवं विवास के पूर्व के भारतीय उपन्यास का सर्वेक्षण सरसरी तौर पर भी करे, तो उसे यह बात समझने में क्षण भर का भी विलंब न होगा कि जिस देश में उपन्यास साहित्य का इतना मध्य, कलात्मक एवं वणन-वचन से देखीप्य मान विकास, विगत पन्द्रह शताब्दियों से होता आया है, मला वह उन देशों से अपनी ऐसी साहित्य विधाया की संपूर्ति के लिए बज या उपहार क्यों स्वीकार करगा? और वह भी इतने जस दशक, जहाँ कि आज से बचल एक सहस्र वर्ष पूर्व भी सम्बन्धा सृष्टि शिधा शिधा एवं साहित्य का नामोनिशान तक नहीं पाया जाता था?

एक अन्य उपन्यास साहित्य के विद्वान समीक्षक भी जिनके ग्रन्थ हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण का प्रकाशन सन् १९६२ ई० में हुआ है—बड़े सरल एवं निश्चयात्मक रूप से कहते हैं —

हिन्दी उपन्यास का इतिहास प्रायः ८० वर्ष पुराना है हिन्दी और हिन्दी में ही नहीं—गणस्य आधुनिक भारतीय भाषाया में उपन्यास पश्चिम की दन है।<sup>१</sup>

इस भाँति के असावधानीपूर्वक लिखे गए, निश्चयात्मक अभिप्रायों का प्रत्युत्तर में, केवल महा तथ्य बारबार दुहराया जाना होगा कि भारतीय उपन्यास का उदभव एवं विकास एक सवधा स्वदेशीय एवं स्वतन्त्र विकसित मार्ग तिर्यक परम्परा है। ऐसा भाँति पूर्व धारणाएँ कि भारतीय उपन्यास का सीधी प्रेरणा, आंग्ल उपन्यास ही प्राप्त हुई—आंग्ल साम्राज्यवाद द्वारा प्रेषित (भारतनक अन्य साहित्यिकी एवं निराला मिथ्या स्थापनाया का समाप्त ही) एवं और विचित्र वन करन वाना तिरा पार दुरभिप्राय मान हा समझी जाना चाहिए।

आंग्ल साम्राज्यवाद का मधप्रथम गुण्ट दुप कपकता का और त्रिगो ह्य तर यह कहा जा सकता है कि सन् १८५७ तक वही मधम आंग्ल-साम्राज्यवादी साक्षात्कार का प्रचार-कण्ट एवं प्रचार कण्ट रहा। अतएव इस भाँति अवश्य का बात नहीं है कि अथवा साम्राज्यवाद प्रचारक द्वारा इस भाँति प्रचार को, वगैर अवस्था अथवा अथवा, प्राग्भात शिधा जाना रहा कि वगैर उपन्यास की प्रेरणा, आंग्ल उपन्यास में और हिन्दी उपन्यास की प्रेरणा वगैर उपन्यास में मिला।

१ हिन्दी उपन्यास एक सर्वेक्षण (या मण्ट वतुरे) उपन्यास पत्रिका में  
 हिन्दी साहित्य—६ प्रथम प्रकाशन १९६२ ई० मद्रास २ पृ० ८।

बगला उपन्यास का उदभव एवं विकास, हिन्दी उपन्यास के उदभव एवं विकास का परवर्ती है, पूर्ववर्ती नहीं, यह ता आगे के पृष्ठों में बगला उपन्यास के पथक सर्वेक्षण में ही सुस्पष्ट किया जाएगा।

उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में ही हिन्दी उपन्यास साहित्य का ये तीन प्रारम्भिक प्रसिद्ध कृतियाँ रची गई—‘उदयमान चरित’ या ‘रानी केतकी की कहानी’ (सयद इशाअल्ला खाँ ‘इशा’) (सन १८०१ ई०), ‘प्रेमसागर’ (श्री लखनजीलाल कवि) (सन १८०२ ई०) तथा ‘नामिनेतोपाख्यान’ या ‘चन्द्रावती की कथा’ (प० सदल मित्र) (सन १८०३ ई०)।

इस भाँति ‘उदयमान चरित’ या ‘रानी केतकी की कहानी’ की रचना तिथि (१८०१ ई०) हिन्दी साहित्य का उपन्यास विधा के इतिहास में चिरस्मृत रहणी। इसके लगभग एक सौ वर्ष के सुदीर्घ अंतराय के पश्चात् श्री प्रेमचन्द न १९०४ ई० में अपने प्रथम उपन्यास ‘प्रेमा की रचना की जो हिन्दी उपन्यास के जीवन में एक और युगांतर की सूचक, निधि मानी जाती है। इसीलिए सन् १८०१ से सन १९०३ ई० तक के हिन्दी उपन्यास विकास के युग को, बहुधा, ‘प्रेमचन्दपूर्व काल नाम से अभिहित किया जाता है।

प्रेमचन्दपूर्व काल अर्थात् उदयमान चरित या रानी केतकी की कहानी’ और ‘प्रेमा के बीच रची गई लगभग ४०० समुपलब्ध औपन्यासिक कृतियों के चित्र विविध विकास पर एक विह्वल दृष्टिकोण करने पर, इस बात से इकार नहीं किया जा सकता कि इन शताब्धि वर्षों में, विविध शक्तियों वाली इस वणनात्मक औपन्यासिक सृष्टि ने सुविस्तीर्ण हिन्दी भाषा क्षेत्र के कोटि कोटि पाठकों एवं श्रोताओं को, अनुरजित एवं आह्वानित किया है।

‘रानी केतकी की कहानी’ के सुविख्यात लेखक सयद इशाअल्लाह खाँ ‘इशा दिल्ली तथा लखनऊ में राजदरबारों के सम्मानित कवि के रूप में सुविदित रहे हैं। इनके पूर्वज (रूपी) तुर्किस्तान के प्रसिद्ध साहित्यिक केन्द्र समरकन्द से भारत आए थे और पहलव कश्मीर के शासकों द्वारा सम्मानित हुए थे। तत्पश्चात् वे दिल्ली के मुगल दरबार द्वारा सम्मानित हुए। इशा के पिता माशाअल्लाह खाँ स्वयं एक अच्छे कवि एवं हकीम थे। मुगल साम्राज्य की अवनति के काल में वे मुगलदरबार (बगाल) के नवाबों के यहाँ चले गए थे। इशा का जन्म वहीं हुआ था। जिस समय बंगाल की नवाबी पर ईस्ट इंडिया कम्पनी की साम्राज्यवादी घटाएँ छा गईं तो इशा को विवश होकर शाहजालम के मुगल दरबार में दिल्ली चले जाना पड़ा। उस समय मुगल साम्राज्य का कोष रिक्त हो चुका था, अतएव राज्य सन्तान मित्रों पर भी, इशा को आर्थिक कठिनाइयों में डी रहुता पड़ा

और अतः म, उहे वहा से लखनऊ के लोकप्रिय नवाद, आसफुद्दौला के दरबार म, प्रथम के लिये जाना पडा । अपने लखनऊ के प्रवास म ही उ हाने 'उदमान चरित' अथवा 'रानी केतकी की कहानी' की रचना सन १८०१ में की । इस भाँति 'इशा' उदू के सुप्रसिद्ध शायर होने के अतिरिक्त हिन्दी उप-यास के पुरस्कर्ता भी कहाये । जसा कि उनकी रानी केतकी की कहानी से प्रकट है, इशा बडे ही स्वतंत्र एव मनमौजी साहित्य साधक थे । अतएव सन् १८०६ के लगभग उनकी, अपने जाय्यदाता से, किसी प्रसंग का लेकर, अनबन हो गई और सन १८१६ म अपनी जीवन यात्रा संपुर्ण करने से पूब उ होने अपने अंतिम वय, अत्यंत निधनता एव कष्टो मे बिताये । चाहे उनकी उदू फारसी मे रचित काव्य कृतियाँ कभी, केवल बुद्धि विलास एव वैशिष्ट्य विद्वत् सभाजो तक ही सीमित हो जाय फिर भी उनकी रानी केतकी की कहानी' ही उह लोक अनुरजन व प्रसंग से, सदा सबदा के लिए, एक मौलिक एव उत्कृष्ट उप-यासकार के रूप म, लोकप्रिय रखने मे समर्थ रहेगी ।

श्री इशा' के कृतित्व एव जीवन पर, हिन्दी साहित्य ममीक्षका मे सवप्रथम, चर्चार्थ श्री ब्रजरत्नदास ने अत्यंत महत्वपूर्ण काय किया । श्री ब्रजरत्नदास ही हिन्दी समीक्षको म सबसे पहले और समर्थ साहित्य ममज्ञ थे जिन्हाने उदमान चरित अथवा 'रानी केतकी की कहानी' को, हिन्दी का सवप्रथम उप-यास घोषित भी नही किया वरन् अपनी बात को प्रमाणित करने के लिए वे इशा और उनकी कृतियाँ के बारे म, आजीवन छान बीन भी करते रहे । इशा की कृति की कुछ कृतियाँ फारसी लिपि म भी यहा वहाँ मिलती रही थी । उहाने इस कृति के पाठ को सुद करने के लिए उनसे भी सहायता ली थी ।

श्री ब्रजरत्नदास ने अपनी अंतिम अस्वस्थता के काल म भी इशा 'उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी नामक ग्रंथ को सम्पूर्ण कर लिया था । उसी प्रस्तावना मे उ होने 'इशा' की उक्त कृति क कुछ दुलभ सस्करणो का भी वरीर दिया है —

सन १८५२ ई० म 'रानी केतकी की कहानी' बंगाल एशियाटिक सासायटी 'जन्म म फारसी अक्षरो म छपी थी । सन १८७४ ई० म राजा शिवप्रसाद मतारे हिन्द ने उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग के लिय 'हिन्दी की पाठ्य पुस्तक (गुटका) तैयार की तो उहाने अपने गुटके म, इशा की 'रानी केतकी की कहानी' को भी स्थान दिया ।

इशा की रानी केतकी का कहानी अपने पाठक म कितनी लोकप्रिय इसके बारे म भी श्री ब्रजरत्नदास ने अपनी उक्त प्रस्तावना म कुछ रोचक तथ्य दिए हैं —

‘सन १८४६ ई० (पौष सुदी १, स० १९०३ वि०) में काश्मीरी यत्रालय, कलकत्ता से प्रकाशित कहानी रानी केतकी की ने अन्त में, इसकी सूचना निम्नांकित रूप में दी हुई है —

‘यह कहानी बहुत दिन पहले मुशी हरीराम पंडितजी ने दवनागरी अक्षर में छापी थी। पर अब नहीं मिलती और बहुत लागे को ठठ हिंदी बोली में दो दिनों कहानी पढ़ने की चाह रहती है। इसलिए मुशीजी की मूल कहानी को, दूसरी बर, सन १८४६ में छपवाया।’

रानी केतकी की कहानी के पश्चात् सन १८०२ एव १८०३ में रची गई दो अथ आद्य हिंदी औपन्यासिक कृतियाँ का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के इतिहास के अन्तर्गत, एक विचित्र संयोग से हुआ। सन १८०० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से, अपनी नव निर्धारित भाषा सम्बन्धी नीति को क्रियान्वित करने की दृष्टि से, कलकत्ते में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की गई, जिसका संचालक पादरी डा० जान बाथविक गिलक्राइस्ट की प्रेरणा से, उक्त कॉलेज में नियुक्त, दो हिंदी पंडितों—श्री लल्लुजीलाल कवि एव प० सल्ल मिश्र द्वारा क्रमशः प्रेमसागर एव ‘नासिकेतापाख्यान’ की रचना की गई।

सन १९५६ ई० में, साहित्य अकादमी द्वारा हिंदी के प्रतिनिधि उपन्यासों की एक प्रामाणिक सूची प्रकाशित की गई थी जिसमें कि ‘नासिकेतापाख्यान’ भी एक है। कालक्रम की दृष्टि से यह उक्त सूची में प्रकाशित सभी कृतियों में सवप्रथम ठहरती है।<sup>१</sup> ‘नासिकेतापाख्यान’ की प्रकाशन तिथि सन १८०३ ई० है और यह रानी केतकी की कहानी से तीन वर्ष बाद की कृति है। साहित्य अकादमी जसी प्रामाणिक राष्ट्रीय संस्था द्वारा नासिकेतापाख्यान को प्रतिनिधि हिंदी उपन्यासों की सूची में सम्मिलित किया जाने से भी, इसी मत को समर्थन मिलता है कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रवृत्तन के साथ ही माना जाना इतिवृत्तसम्मत एव प्रामाणिक है।

१ इसका उनका का प तथा रानी केतकी की कहानी—स्व० श्री ब्रजरत्नदास (भूमिजा भाग) तथा हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव’ (पटना विश्वविद्यालय की डॉ० लिट० उपाधि (१९६४ ई०) के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध) डा० गोपालराय एम० ए०, डॉ० लिट०, तृतीय अध्याय, पृष्ठ ६५, (प्रथम निरूतन पटना ६)।

२ सल्ल मिश्र—नासिकेतापाख्यान, इण्डियन लिटरेचर, (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली का मुद्रण) अप्रैल मितम्बर १९५६ जिल्द २ न० २ बुकम इन हिन्दी पृष्ठ १२७-१४४ क्रम संख्या २६ पृष्ठ १४४

और अत मे, उन्हें वहाँ से लखनऊ के लोकप्रिय नवाब, आसफुद्दौला के दरवार म, प्रथम के लिये जाना पडा। अपने लखनऊ के प्रवास मे ही उ होने उदमान चरित अथवा 'रानी केतकी की कहानी की रचना सन १८०१ मे की। इस भाँति 'इशा उदू के सुप्रसिद्ध शायर होने के अतिरिक्त हिंदी उपयास के पुरस्कर्ता भी कहाये। जसा कि उनकी 'रानी केतकी की कहानी से प्रकट है इशा बडे ही स्वतंत्र एव मनमौजी साहित्य साधक थे। अतएव सन १८०६ क लगमग उनकी, अपने आश्रयदाता से, किसी प्रसंग को लेकर, अनबन हो गई और सन १८१६ म अपनी जीवन यात्रा सपुण करने से पूर्व उ होने अपने अंतिम वष, अत्यन्त निधनता एव कष्टा म बिताये। व्हाह उनकी उदू फारसी मे रचित काव्य-कृतियाँ कभी, केवल बुद्धि विनास एव विशिष्ट विद्वत् समाजो तक ही सीमित हो जायँ फिर भी उनकी 'रानी केतकी की कहानी ही उह जाक अनुरजन के प्रसंग से, सदा सबदा के लिए, एक मौलिक एव उत्कृष्ट उपयासकार के रूप म, लोकप्रिय रखने मे समथ रहेगी।

श्री इशा के कृतित्व एव जीवन पर, हिन्दी साहित्य ममीक्षको मे सवप्रथम स्वर्गीय श्री ब्रजरत्नदास ने अत्यंत महत्वपूर्ण काय किया। श्री ब्रजरत्नदास ही हिंदी समीक्षको मे सबसे पहले और समथ साहित्य ममन थे जिन्हाने उदमान चरित' अथवा 'रानी केतकी की कहानी को, हिंदी का सवप्रथम उपयाम घोषित ही नहीं किया वरन अपनी बात को प्रमाणित करने क लिए वे इशा और उनकी कृतियो के बारे मे, आजीवन ध्यान बोन भी करते रहे। इशा की कृति की कुछ प्रतियाँ फारसी लिपि मे भी यहा वहा मिलती रही थी। उ होने इस कृति के पाठ को शुद्ध करने के लिए, उनसे भी सहायता ली थी।

श्री ब्रजरत्नदास ने अपनी अंतिम अस्वस्थता क काल म भी इशा 'उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी नामक ग्रन्थ को सम्पुण कर लिया था। उसी को प्रस्तावना मे उ होने इशा की उक्त कृति के कुछ दुलम संस्करणो का भी व्योरा दिया है —

सन १८५२ ई० म 'रानी केतकी की कहानी बगान एशियाटिक सोसायटी के जनल म फारसी जकारो मे छपी थी। सन १८७४ ई० म राजा शिवप्रसाद सितार हिंद ने उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग के लिय हिंदी की पाठय पुस्तक' (गुटका) तयार की तो उ हाने अपने गुटक म इशा की रानी केतकी की कहानी को भी स्थान दिया।

इशा की रानी केतकी का कहानी अपने पाठको म कितनी लोकप्रिय हुई इसके बारे मे भी श्री ब्रजरत्नदास ने अपनी उक्त प्रस्तावना म कुछ रोचक तथ्य दिए हैं —

१ इशा उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी (स्व० ब्रजरत्नदास) भूमिका भाग (१९६४ ई०)

'सन् १८४६ ई० (पौष सुती १, स० १६०३ वि०) में वाश्मोरी यत्रालय, कलकत्ता से प्रकाशित 'कहानी रानी केतकी की' के अन्त में, इसकी मूचना निम्नांकित रूप में दी हुई है —

'यह कहानी बहुत दिन पहले, मुन्शी हरीराम पंडितजी ने देवनागरी अक्षर में छपी थी। पर अब नहीं मिलती और बहुत लामो को ठठ हिन्दी बोली में नूतन दिनों कहानी पढ़ने की चाह रहती है। इसलिए मुन्शीजी की मूल कहानी को, दूसरी बर, सन् १८४६ में छपवाया।'

'रानी केतकी की कहानी के पश्चात् सन १८०२ एवं १८०३ में रची गई दो अन्य आद्य हिन्दी औपन्यासिक कृतियाँ का आविर्भाव, हिन्दी साहित्य में इतिहास के अन्तर्गत एक विचित्र समागम हुआ। सन १८०० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की ओर से, अपनी नव निर्धारित भाषा सम्बन्धी नीति को श्रियांकित करने की दृष्टि से, कलकत्ता में फाट विलियम कालिज की स्थापना की गई जिसके सचालक पादरी डा० जान वायविक गिलफ्राइस्ट की प्रेरणा से, उक्त कालिज में नियुक्त, दो हिन्दी पंडिता—श्री लल्लुजीलाल कवि एवं प० सदल मिश्र द्वारा, क्रमशः 'प्रेमसागर' एवं नासिकेतापाख्यान की रचना की गई।

सन १९५६ ई० में, साहित्य अकादमी द्वारा हिन्दी के प्रतिनिधि उपन्यासों की एक प्रामाणिक सूची प्रकाशित की गई थी, जिसमें कि नासिकेतापाख्यान भी एक है। कालक्रम की दृष्टि से यह उक्त सूची में प्रकाशित सभी कृतियों में सबसे प्रथम ठहरती है।<sup>१</sup> नासिकेतापाख्यान की प्रकाशन तिथि सन १८०३ ई० है और यह रानी केतकी की कहानी से तीन वर्ष बाद की कृति है। साहित्य अकादमी जैसी प्रामाणिक राष्ट्रीय संस्था द्वारा नासिकेतापाख्यान का प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यासों की सूची में सम्मिलित किया जाने से भी, इसी मत को समर्थन मिलता है कि हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी के प्रवृत्तन के साथ ही माना जाना, इतिवृत्तसम्मत एवं प्रामाणिक है।

१ इसका उनका काव्य तथा रानी केतकी की कहानी—स्व० श्री ब्रजरत्नदास (भूमिजा भाग) तथा हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की दृष्टि का प्रभाव (पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि (१९६४ ई०) के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध) डा० गोपालराय एम० ए० डी० लिट०, तृतीय अध्याय पृष्ठ ६५ (प्रथम निवृत्तन, पटना ६)।

२ सदल मिश्र—नासिकेतापाख्यान इण्डियन लिटरेचर, (साहित्य अकादमी), नई दिल्ली का मुद्रण अग्रेल सितम्बर १९५६ जिल्द २ न० २ 'बुक्स इन हिन्दी', पृष्ठ १२७-१४४ क्रम संख्या २६ पृष्ठ १८४

देश और जाति के इतिवत्त की भांति ही, साहित्यिक इतिहास में भी कुछ साहित्यकार एव उनकी कृतियाँ, विशेष भाग्यशाली होती हैं और कुछ ऐसी भी होती हैं, जो शीघ्र ही भुला दी जाती हैं जयवा विस्मृति के रम में खो जाती हैं। जब हम हिन्दी उपन्यास साहित्य के उपरोक्त प्रथम विकास के युग में पदापण करते हैं तो उसकी चित्र विचित्रता एव कुतूहलवधक रमणीयता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। हिन्दी उपन्यास के विकास का यह प्रथम चरण, वस्तुतः अपनी नवरंग छविधारा से चित्र विचित्र एव रमणीयता सम्पन्न है। यह प्रथम विकास के उत्साह एव आह्लाद से संप्राण होने के कारण अकृत्रिम और कथनमुक्त भी है। 'रानी केतकी की कहानी' या उदयमान चरित के उदयगिरि के शिखर पर खड़े होकर जब हम इस मायावी कथाविश्व पर एक दृष्टिक्षेप करते हैं तो न जाने कितने आकषक एव जीवन रस से छलछटाते हुए कृतित्व उसमें दीप्त पड़ते हैं। किन्तु दृश्य पटियाँ कितनी रंगविरंगी यवनिकाएँ कितनी सगति घटनावलिया हमारी आँखों के सामने से मानो एक मनोरम चलचित्र के समान, गुजरती चली जाती हैं ?

हिन्दी उपन्यास के प्रथम प्रवृत्तक समय इशाअल्लाह खाँ कवि थे, साहित्यकार थे—तथा मापाविद् भी थे। वे फारसी और अरबी साहित्या में नियमानुकूल सम्पूर्ण शिक्षा पा चुके थे। इसके अतिरिक्त वे संस्कृत खड़ी बोली अवधी एव ब्रज भाषा आदि के भी अच्छे ज्ञाता थे। किन्तु इससे भी बड़कर वे एक नम्बर के मनमौजी भी थे। जसा कि पहले उल्लेख किया ही जा चुका है, इसीलिए अपने जीवन की सध्या में, उन्हें पर्याप्त परिणामी उठानी पड़ी थी। कहा जाता है कि अंतिम समय में वे अकेले ही जीवन जिता रहे थे। उनके सामने राग का एक बड़ा ढेर था। माना इशा को घर फूक तमाशा देने में भी एक आनन्द का ही अनुभव हाता था। मानो वह उनके सुनीध जीवन के रंगीन रंगों की भस्म का हाँ ढेर था। फिर भी वे अपने में सुखी और सन्तुष्ट थे क्योंकि उनके रस की निराली दुनिया उनके आसपास बिखरी रहती थी। माना वे उसी रस विश्व के ही वासी होंगे।

एक मनमौजी साहित्यकार की लक्ष्मी में वणन कला निम्नतः है—मानो तुणार मडित चट्टानों से निकर फट पड़ते हैं या मनुमास में गुतामोहर या जमलतास के विशाल वक्षा से फूलों की वर्षा होती है। इशा केवल वणनात्मक कला के ही धनी न थे—वे अपनी वणन कला को कर्म कर्म पर, कथा रम में डुबाते भी चलते हैं। उनकी गद्यशैली में, पद्य जैसी झरार है, पर है वह एवम् अकृत्रिम एव सहज। वे चुने हुए मुग्धरा और शतावलिया के जटिया हैं किन्तु वे उनकी लक्ष्मी की नाक पर बिना प्रयास के ही आनन्द चले जाते हैं। इशा की शब्द चित्रण प्रतिभा और उनकी मौखिक सूक्ष्मता, अनुपम थी। वे कथा कर्म हैं और वणन करते हैं—वणन करते हैं और कथा कहते हैं। पाठकों के लिए यह कठिन हो जाता है कि वह इन दोनों के बीच कहीं भी विभेद कर पाएँ।

‘इशा’ की दुनिया, वस्तुन कल्पना की दुनिया है। कुछ समीक्षक उनसे इसलिए भी रूठे हुए हैं कि जिस जगत का उन्होंने चित्रण किया है—वह एकत्र मसनूई या कृत्रिम है। उपन्यास को तो यथाय जीवन का चित्रण होना चाहिए—ऐसा ‘इशा’ की कृति में नाम की भी न था। देश और काल के बंधन में भी वे बंधना पसंद नहीं करते थे। फिर भी जिन शाश्वत सत्यो एवं तथ्यो का, इशा ने, अपनी इस रमणीय ‘उपन्यासिका’ में समावेश किया है क्या उनकी अविनश्वरता अथवा दार्शनिक सत्यता में कोई सन्देह कर सकता है ?

‘इशा’ की वणन प्रतिभा के वणनात्मक-कला सम्बन्धी दृष्टिकोण को सुस्पष्ट करने के अतिशय से उनका केवल दो चार वणन विनिष्पत्ताओं की ही यहाँ एक विहंगम झलक दी जा सकती है। कथा के प्रारम्भ में ही चरितनायक उदमान का रूप-वणन सम्बन्धी निम्न अवतरण अवलोकनीय है —

‘सब पर के लाग उसे उदमान करके पुकारते थे। सचमुच उसने जीवन की जोत में सूरज की एक सात जा मिली थी। उसका जन्म और मला लगना, कुछ ऐसा न था जो किसी के लिखने और कहने में आ सके।’

अतिमानवीय लहजे में लिखे गये कलास पर्वत तथा उस पर तपस्यारत साधु महेश्वरिण के वणन अद्भुत रस से सम्युक्त हैं—‘कलास पहाड़ जो एक डील चादी का है। उस पर गुरु महेश्वरिण ध्यान जान में कोई ६० लाख अतीता के साथ, ठाकुर के भजन में, दिन रात लगा रहता था। सोना, रूपा, ताँबा रँगिया का बनाना ताँ कया ? गुटका मुह में लेकर उठना, पर रहे उसकी और वारें इस ढव की ध्यान में थी, जो कहने सुनने के बाहर हैं।’

रानी केतकी की कहानी का प्रकृति वणन ही दय का निरीक्षण करके भी पाठक का हृदय प्रफुल्लित हो उठना है यथा — जितने टहड्डे और हरियावल फल वाले थे सबने अपने हाथ में चहचही महदी की रचावट की सजावट के साथ जितनी समावट में समा सके कर लिए सारे बने और पहाड़ तलिया में ताल पटा की भमभमाट राता का दिखाई न लगी। और जितनी बीलें थी, उनमें कुमुम और टेसू जोर हरसिमार पड़ गया है और केसर भी थोड़ा थोड़ी घाने में आ गई।’

काशी और लगनऊ दोनों ही अपने नौका उत्सव मेला के लिए प्रसिद्ध थे। लगनऊ का ऐसे ही नौका मने का जग्योत्सा वणन यो है—कोई क्या कह सके,

१ उदमान चरित’ या रानी केतकी की कहानी’—इशाजल्लाह खाँ (प्रस्तुत सस्करण पंचम १९५० प्रकाशक—नागरा प्रचारिणी समा काशी) पृ० ३

२ वही पृ० ११

३ वही, पृष्ठ २२



प्रकाशक लाना वजनाय केडिया ने, अपनी हिन्दी पुस्तक एजे सी के तत्वावधान में प्रकाशित कराया था। इसका सम्पादन स्व० रामदास गौड़ जैसे प्रकाण्ड एवं भाषाविद समीक्षक द्वारा किया गया था। प० रामदास गौड़ ने उपयुक्त संस्करण के प्रारम्भिक चरण में हिन्दी उप-यास के उदभव एवं विकास की देशकालगत परिस्थितियों का, भाषाशास्त्र एवं साहित्यिक इतिवृत्तात्मक दृष्टिकोण से भी विशद विवेचन किया है। उनका सपादकीय चक्र य तो वस्तुतः आद्योपात्त ही अध्ययनीय है। यहाँ केवल कुछ सम्बंधित एवं आवश्यक तथ्य उसी से उद्धृत किए जा रहे हैं —

सवा सौ वर्ष पहले (अब से लगभग एक सौ सत्तर वर्ष पहले) हिन्दी गद्य की भाषा भी प्रान्त भेद से भिन्न होती थी। खड़ी बोली की नेब (नींव) तो दिल्ली में, आठ सौ वर्ष पहले (बारहवीं शती ई० म) पड़ चुकी थी जब अमीर खुसरो ने अपनी पहेलियाँ मुकरियाँ बनाई। उस तरह की भाषा उस समय की दिल्ली की साधारण बोली थी। खुसरो के पीने चार सौ वर्ष पीछे भी राजस्थान का जटमल खड़ी बोली की ओर झुकने हुए भी खुसरो की सी दिल्ली की बोली नहीं लिख सका। उसी समय के लगभग, 'चौरासी वर्षों के वात्ताकार तो ब्रजभाषा के समान ही गद्य लिखते हैं' दिल्ली भी ब्रजभाषा के माध्यम को मानती थी कि तु उसके लिए मध्यम भाषा अर्थात् 'रेखता' को अपनाता ही सरल जान पड़ा। यह हिन्दी के साधारण बोली चाल के पाँच सात सौ श दो को लेकर फारसी की शब्दावली से सजाने का भावागत प्रयास मात्र था। 'रेखता (या उदू) का 'याकरण धातुकोप और अव्यय सभी वही थे जो कि दिल्ली मेरठ और बुलन्दशहर की गवारी' हिन्दी में प्रयुक्त थे। इन तथाकथित 'गवारी' बोलियों का नाम पड़ा 'माखा'।

यद्यपि मोहम्मदशाह के सामने ही दिल्ली दरवाद हो गई तथापि रेखता कोई का यही सबसे महत्व का काल था। 'सोना और मीर दिल्ली की बरवादी का वणन करते हैं और नयी राजधानी लखनऊ की शरण लेते हैं। दिल्ली की बादशाहत पुरानी थी, पुराणप्रिय लोग फारसी का जल्दी न छोड़ते थे पर लखनऊ की शाही नहीं थी। अब रेखता (या उदू) दरवारी भाषा हो गई, जिसके लिए वह तरसती थी। हिन्दी की शुद्ध दिल्ली वाली खड़ी बोली का आरम्भ हम मुश्की सन्तुषुष से मानते हैं। वे दिल्ली के पूर्व निवासी थे और शायरी में सौदा के शागिद थे। फारसी अरबी के विद्वान थे और शाहे अवध के अखबारनवीस। उनका काव्य नाम 'निसारे देहलवी था। अपनी विविध भाषा विभूषित 'श्रीमदभागवत (सुख सागर), वे दिल्ली की खड़ी बोली में ही लिखते हैं।

' इनके बाद इशा ने शुद्ध हिन्दी' लिखने का उद्योग किया और एक छोटी सी पोथी 'उदयमान चरित' लिखी। यह पोथी, अनुप्रासा से सजी, और विशुद्ध

लखनवी मुहावरों से रजीपुती, बड़ी सीधी सादी, पर विदेशी शब्दों के कड़े बहिष्कार के कारण, अनोखी भाषा में लिखी गई है। साहित्यिक दृष्टि से भी ऊँची श्रेणी की है। कुछ ही वर्षों बाद, गिलक्रस्ट की सरक्षता में लल्लूजी ने 'प्रेमसागर' नाम की बड़ी पोथी लिखी। प्रस्तुत पुस्तक, उसी का, मूलपाठ वाला संस्करण है। इसमें भी, अनुप्रासों की, वही सजावट है। इस समय दरबार की रीतों, लखनऊ से उठकर, कलकत्ते को जा रही थी कलकत्ते के गद्य निर्माण का काम भी मकॉलि आदि की राष्ट्र विरोधनी नीति से रुक गया। 'प्रेमसागर, खड़ी बोली के साहित्य में, प्रारम्भ काल की सबसे बड़ी पोथी है आधुनिक खड़ी बोली के इतिहास का 'प्रेमसागर' सिंहद्वार है।'

'प्रेमसागर की 'ग्रन्थकार की भूमिका' में प० लल्लूजीलाल लिखते हैं—  
' श्री श्रीपुत्र गुन गाह्वर गुनियत मुखदायक जान गिलकिरिस्त महाशय की आज्ञा से सन् १८५६ में श्री लल्लूजीलाल कवि ब्राह्मण गुजराती सहस्र अबदीच, आगरे वाले ने यामनी भाषा छोड़, दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में, कह नाम प्रेम सागर' धरा।'<sup>१</sup>

प्रेमसागर की मुद्रित प्रतिया भी अब विरल होती जाती हैं यद्यपि बीसवीं शती के प्रारम्भ में वह, पर्याप्त लोकप्रिय पुस्तक रही थी और उसके कम से कम दो संस्करण, कलकत्ते से ही प्रकाशित हुए थे। 'प्रेमसागर' का प्रस्तुत संस्करण ३४४ पृष्ठों में मुद्रित है। अंत में प० रामदाम गौड़ द्वारा लिखित 'उपन्यासकार का संक्षिप्त जीवनचरित' भी दिया गया है जिससे कुछ महत्वपूर्ण तथ्य यहाँ संकलित किए जाते हैं —

इनका नाम लल्लूलाल, लालचंद या लल्लूजी था। कविता का उपनाम 'लाल कवि' था। ये आगरा निवासी, गुजराती औन्धीय ब्राह्मण थे और वही के गोकुलपुरा मुहल्ले की बलकावस्ती में, रहते थे। पिता का नाम, चनमुखजी था, जो बड़ी दरिद्रावस्था में, पुरोहिताई की आकाशवृत्ति से, किसी प्रकार काय चलाते थे। लल्लूजीलाल अपने पिता के सबसे बड़े पुत्र थे। उनके तीन छोटे भाई और थे— दयान जी मोतीरामजी और चुन्नीलालजी। इनका जन्म सन् १७६५ ई० में हुआ था। सन् १७८५ ई० में पिताजी के स्वर्गवासी होने पर ये आगरे से चल दिए। आजीविका की खोज में सन् १७८८ ई० मुंशिदाबाद आए। यहाँ कृपासखी के शिष्य, गोस्वामी गोपालदासजी के परिचय में मुंशिदाबाद क नवाब मुबारकुद्दौला के दरबार में इनकी पहुँच हो गई। नवाब ने प्रसन्न होकर, इनकी जीविका बाँध दी। वे वहाँ

१ 'प्रेमसागर (स्व० लल्लूजीलाल) 'वचन-य' रामदास गौड़ (प्र० हिंदी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता १९२४ ई०)।

२ वही ग्रन्थकार की भूमिका।

एक अथ सरस कायशली मे रचित औप-यासिक कृति, 'माधव विलास' (माधो विलास) का प्रकाशन सन १८१० ई० मे हुआ था। प० लल्लूजीलाल अपनी इस रोचक औप-यासिक रचना का प्रारम्भ इस भाँति करते हैं —

श्री गुरुदेव के चरण कमल को ध्यान धर 'माधव सुलोचना' की कथा श्री लल्लूजीलाल ने उक्ति युक्ति करि याकी नाम माधव विलास राखी अरु निज छापेघर में छपवायो, सवत १८६७ आश्वन मास मे इति ।

इस औप-यासिक कथा का सार इस भाँति है कि लालध्वज नामक नगर के राजा विक्रम के कोई सतान नहीं थी। सत्सग के प्रभाव से बहुत दिन बाद उस राजा के माधव नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। एक बार मृगया खेलते समय सयोगवश भेंट हो जाने पर बहुवीर की पत्नी, चन्द्रकला ने 'प्लक्ष द्वीप की शिवती नगरी के राजा गुणाकर और उनकी सुशीला पत्नी की कथा सुलोचना के रूप, गुण, शील विद्या आदि का उल्लेख किया और दोनों को एक दूसरे के योग्य बताकर उसे, सुलोचना को प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित किया। 'माधव और सुलोचना का विविध बाधाओं के पश्चात् मिलन हुआ। नीच सेवक के कारण उन्हें विरह कष्ट सहने पड़े किन्तु अंत में जत्र माधव, प्राणत्याग करने के विचार से भगासागर गया तो वहाँ उसकी भेंट सुलोचना से फिर हो गई। वहाँ व राजा सुसेन को जब उसका परिचय मिला तो उसने माधव को अपना आधा राज्य दे दिया और अपनी कथा जयन्ती का विवाह भी माधव से कर दिया। वहीं रहते हुए माधव ने सुखपूर्वक धर्मराज्य चलाया।

'माधोविलास' की उपयुक्त लोककथा आधारित कथावस्तु के कारण लेखक को अपनी वणनात्मक कला के उन्मुक्त विकास का पर्याप्त अवसर मिला है। उसमें लोकजीवन का चित्रण भी पर्याप्त मात्रा में मिलना है जो कि लेखक के निजी जीवन काल के जगजीवन से बहुत भिन्न नहीं जान पड़ता। प० लल्लूजीलाल के छापेखाने से मुद्रित इसकी एक पुरानी प्रति लंदन स्थित एण्डिया आफिस लाइब्रेरी में भी सुरक्षित बताई जाती है। सन १८६८ में बलकृष्ण के श्री भुवनचंद्र बासक ने भी, इस ग्रंथ का एक संस्करण निकाला था। प्रख्यात यूरोपियन (लासीनी) प्राच्यविद तासी ने अपने हिंदुई हिंदुस्तानी साहित्य का इतिहास ('इस्तुआर दे ला लितरे च्योर ए दुइ ए दुस्तानी) के द्वितीय खण्ड में प० लल्लूजीलाल द्वारा 'माधोविलास' का भ्रातिवश श्रीकृष्ण लीला वणन युक्त एक काव्यग्रंथ के रूप में उल्लेख कर दिया था। इसी कारण बहुत से विद्वानों ने तासी की बान पर विश्वास करके उसे

१ माधोविलास — ले प्लेजिस दे माधो (कृष्ण) — 'पोयम हिंदी त्रेद्युइत दे संस्कृत जागरा १८७३—इन ८ (विलियायिका ओरियंटेलिस' त० ११, पृ० ३०५ सेत अवर एज एस्त आसी साइत दास ले राग कल्पद्रुम) एत आसी आगरा १८७६ इन ८ आवेक ले त्रिभू एग्लाए दे ए टल आफ माधाण्ड सुलोचना इन इट्टु हिंदी। —गार्सा द तासी— ('इस्तुआर दे ला लितरेच्योर ए दुइ ए दुस्तानी) जिल्द २ पृष्ठ २३२ २३३ ।

पद्य ग्रंथ ही मान लिया था। वस्तुतः माधोविलास, सहज प्राञ्जल ब्रजभाषा शली अग्निमुख, सरन हिन्दी गद्य में लिखित, एक मनोरम एवं बणन कलाभिराम ओष यासिक कृति ही है जिससे कुछ बणन परिशिष्ट भाग में उद्धृत किए गए हैं।

डा० लक्ष्मीसागर वाण्येय ने भी अपने ग्रंथ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (१७५६ १८५७ ई०) के नये संस्करण में माधवविलास का उल्लेख किया है। तन्नुसार 'माधोविलास का मगलाचरण भाग, पद्य में लिखित है किंतु मुख्य कथा, गद्य में ही है। कथा का आधार 'पद्मपुराण' में आया हुआ 'योगसार' प्रकरण बताया गया है किन्तु वस्तुतः यह ग्रंथ एक सदाया भौतिक और यासिक कृति ही है। डा० लक्ष्मीसागर वाण्येय की राय में—

'भाषा की दृष्टि से प्रियादास और लल्लूलाल की कृतियाँ आदरणीय ठहरती हैं और वे ब्रजभाषा गद्य परम्परा की अनिम महत्वपूर्ण कृतियाँ कही जा सकती हैं।'

हिन्दी उपन्यास के उद्भव तथा विकास के इतिवृत्त का अनुसंधान करने वाले प्रत्येक अध्येता को यह तथ्य अस्तरता है कि हिन्दी की ये सभी आद्य औपन्यासिक कृतियाँ, उन्नीसवीं शती के प्रथम दशक में ही रची गई थी। तदुपगत हिन्दी उपन्यासों की क्रमबद्ध अनुक्रमिका में, लगभग आधी शती का अवान्तर दिखाई पड़ता है। उन्नीसवीं शती के उत्तरार्ध में, हमें औपन्यासिक कृतियों का पुनः बाहुल्य मिलता है तो क्या सन् १८१० ई० में 'माधोविलास' के प्रकाशन से लेकर सन् १८५६ ('नलप्रसंग' की रचना निधि प्रायः आधी शती) तक हिन्दी में एक भी उपन्यास नहीं रचा गया ?

पटना विश्वविद्यालय की डी० लिट० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव में डा० गोपालराय, एम० ए०, डा० लिट० ने 'रानी केतकी की कहानी' के बारे में जो शक्यों प्रस्तुत की हैं, उनमें एक यह भी थी कि —

'रानी केतकी की कहानी' के बाद ७० वर्षों तक किसी मौलिक गद्य कथा पुस्तक की रचना नहीं हुई और 'रानी केतकी की कहानी' से 'हिन्दी उपन्यास का आरम्भ' मानना उपन्यास विषयक प्रारम्भिक धारणा की भी अवहेलना करना है।'

१ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका' (डा० लक्ष्मीसागर वाण्येय), (लोक भारती प्रकाशन इनाहाबाद १) (पृष्ठ २५६ २६५)।

२ 'हिन्दी कथा साहित्य और उसके विकास पर पाठकों की रुचि का प्रभाव' (डा० गोपालराय, डी० लिट०) तृतीय अध्याय, पृष्ठ ६५

डा० गोपालराय के मतानुसार तगमग ७० वर्षों तक किसी मौलिक गद्य कथा पुस्तक की रचना ही नहीं हुई। वस्तुतः यह अंतराय केवल ४८ वर्ष का ही है—७० वर्ष का नहीं। फिर भी अंतराय इतना अधिक सुन्नीघ अवश्य है कि उसे आँखों से ओझल नहीं किया जा सकता। अतः उन कारणों एवं परिस्थितियों पर विचार करना भी आवश्यक है जिनके कारण, एक प्रकार से, देश भर की समग्र राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक साहित्यिक चेतना, स्तब्ध सी होकर रह गई थी।

सन १८१० ई० से लेकर सन १८५९ तक ४८ वर्ष के अंतराय के सम्बन्ध में तिथि क्रमानुसार उपयासों की सूची में जो अवकाश अथवा रिक्तता दिखाई पड़ती है वह निर्विवाद रूप से स्पष्ट करने वाली है। किंतु इससे यह बदापि नहीं माना जाना चाहिए कि माधो विनास' और नल प्रसंग के बीच में हिन्दी साहित्य में कोई सृजनात्मक औपयासिक प्रवृत्ति रही ही नहीं। वस्तुतः समयांतर में जब कभी इस ऐतिहासिक अंतराय की विलुप्त जयवा ग्योई हुई साहित्यिक सम्पत्ति के अनुसन्धान की जोर, साहित्य मन्त्रों की जिज्ञासा एवं कायशीलता बढ़ेगी तो अनकानेक औपयासिक कृतियाँ निश्चय ही प्रकाश में आएंगी। और जिन कृतियों की उपलब्धि नहीं हो पाएगी उनके सम्बन्ध में भी समाधानकारी उल्लेख अवश्य प्राप्त किए जा सकेंगे। प्रस्तुत प्रबंध में तो इस अवधि के अंतराय के उन ऐतिहासिक राजनैतिक सामाजिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों को अति संक्षिप्त रूप में ही संकलित किया जा सकता है जिनमें कि उसकी इतिरिक्तात्मक प्रतीयमानता की पाठक को स्वयं अनुभूति हो पाये।

वस्तुतः ये ४८ वर्ष अग्रजी व्यवसायवादी एवं साम्राज्यवादी की सभी संगठित शक्तियों के विरुद्ध भारतीय जनता के प्रतिरोध के निरंतर संघर्ष के सूत्र ही माने जायेंगे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी के वाणिज्य व्यवसाय में सफल होने के पश्चात् सुरक्षित बाजारों की स्थापना के उत्साह उन्माद से प्रेरित होकर तथा दक्षिण भारत में साम्राज्यवादी प्रचार में प्राप्त सफलता से प्रोत्साहित होकर उनर भारत पर उसके व्यावसायिक एकाधिकार तथा तदर्थ राज्य विस्तार में प्रवृत्त होने का यह आरम्भ बाल माना जा सकता है। जबकि श्री लल्लूजीलाल तथा पद्मिनी मन्त्र मिथ्र अपनी उपयुक्त औपयासिक कृतियाँ लिख रहे थे तो कम्पनी को मद्रास से लेकर कलकत्ते तक के पूर्वीय सागर तट पर अधिकार वर्ग में सफलता मिल रही थी। उधर पश्चिमी सागर तट के निकट पूना के पेशवा बाजीराव द्वितीय तथा बड़ोदा के गायकवाड़ को भी कम्पनी का दबाव में आकर उनकी सहायक सेना रखने की सहमति हो जाना पड़ा था। इस भाँति दोनों दक्षिणी बाजुओं से हिन्दी प्रदेश की ओर, विदेशी सत्ता का आक्रमण सन १८१० से नियमानुसार प्रारम्भ हो चुका था।

उधर सन् १८१० से लेकर सन् १८४१ तक हिन्दी प्रदेश की उत्तरी चौकी

नेपाल के पश्चिमी राज्य को हस्तगत करने के हृद्यकण्ठे, बनल नानस के 'नेपाली अभियान' से प्रारम्भ हो ही चुके थे। हिन्दी प्रदेश के पूव की ओर स्थित बंगाल को पूणतया हथिया लेने के पश्चात् हिन्दी प्रदेश के पश्चिमोत्तर सीमान्त, मणिपुर, असम (और पूर्वी विहार) में भी, कम्पनी की प्रसारवादी कायवाहिया सन १८२२ के वर्मी अभियान से ही प्रारम्भ हो चुकी थी। इसका निर्णायक अंत सन १८४८ में वर्मी पराजय के पश्चात्, कम्पनी द्वारा मणिपुर, असम आदि प्रदेशों पर, प्रभुत्व, प्राप्त कर लेने में हुआ।

हिन्दी प्रदेश पर इस प्रकार चारा ओर से फैलाए जाने वाले चन्ब्यूह का सबसे प्रबल मोचा, स्वभावतः, महाराष्ट्र का यमीपवर्ती दक्षिण पश्चिम हिन्दी प्रदेश ही रहा। क्योंकि समग्र उत्तर भारत पर अंग्रेजी सत्ता को चुनौती देने वाला उस समय, वस्तुतः मुगल साम्राज्य न होकर, पेशवा साम्राज्य ही था। जहाँ तक कि हिन्दी प्रदेश की पश्चिमोत्तर सीमा का प्रश्न है, अफगान लोग तो फिरगिया से जन्मजात घृणा रखते ही थे और उन्हें 'बिनीत' करने के सभी प्रयत्नों का, उ होने मुहताब् उत्तर भी दिया था। सन १८४१-४२ में काबुल से लौटते हुए अंग्रेज रेजिमेंट का जो प्रतिभट सहार हुआ उसके कारण कितने ही वर्षों तक अंग्रेजी सेनाओं को उस ओर देखने तक का साहस न हुआ। सन १८०४ से सन १८३० तक बाजीराव पेशवा द्वितीय, के नेतृत्व में, मध्य हिन्दी प्रदेश के प्रतिगामी दला द्वारा अंग्रेजों के प्रबल प्रतिरोध के कारण पंजाब तथा सिन्ध की ओर भी, अंग्रेजों की ओर बढ़ने की हिम्मत नहीं हो पाई। इधर सन १८३० से लेकर सन १८४६ के बीच महाराज रणजीतसिंह ने एक प्रबल सिक्ख राज बना डाला था। इमीलिय अंग्रेजों का उधर भी विस्तार नहीं हो पाया। जब कि महाराज रणजीतसिंह, बाजीराव पेशवा तथा नेपाल के सेनापति तीनों के मिल जान का मय अंग्रेजों को हुआ तो उ होने अपने कौशल में रणजीतसिंह से तुरन्त मित्रता सधि कर ली। फिर भी अंग्रेजों को सन १८४३ ई० तक सिन्ध पर अधिकार करने में सफलता मिल गई, जा कि राजस्थान के हिन्दी प्रदेश की पश्चिमी सीमा पर स्थित था।

वास्तव में भारत में अंग्रेजी राज्य का सच्चा, सशक्त एव निरंतर प्रतिरोध ता, प्रारम्भ से आज तक, हिन्दी प्रदेश में ही किया है। इस प्रतिरोध की घटनाएँ इनकी इतिहास प्रसिद्ध हैं तथा वे इतनी बटुगरपक हैं कि उनके लिये तो तत्कालीन समग्र इतिहास का ही पयवर्णन करना ह्याया। दिन्ता के मुगल वंश तथा अवध की नवाबा के अतिरिक्त किन्तु ही नवाबों की ओर राजा आया न, अपनी स्वतन्त्र प्रिय प्रजा के सहयोग से, अंग्रेजों के साथ किन्तु ही विभिन्न मोर्चों लिए जिमकी पूर्णाहुति सन् १८५७-५८ के अखिल हिन्दी प्रदेशीय स्वाधीनता गन्नाम के रूप में की गई थी, तथा जिमका कि प्रस्तावना सन् १८०३ की उस निर्णायक लड़ाई से हुई थी जिसमें कि ब्रिटिश साम्राज्य का हिन्दी प्रदेश के सीमान्त पर मगठ मय शक्ति को निर्णायक

यक पराजय का सामना करना पडा था । इस युद्ध के पश्चात ही, अंग्रेजों को दिल्ली, आगरा तथा काशी के राज्य केन्द्रों पर प्रभुत्व स्थापित करने का अवसर मिला । और इसी के परिणामस्वरूप राजस्थान एवं मध्यभारत के अधिकांश राजा रईमों को (सन् १८१८ तक) किसी न किसी रूप में, अंग्रेजों की सत्ता को स्वीकार करना पडा ।

वस्तुतः फोर्ट विलियम कालिज की स्थापना भी अंग्रेजों साम्राज्याकाक्षियों की प्रसार योजना के अन्तर्गत ही, एक राजनतिक घटना मानी जानी चाहिए, जिसका कि सम्बन्ध सयोगवश (प० सदल मिश्र एवं श्री लक्ष्मीलाल के प्रसंग से) हिन्दी साहित्य के इतिहास से भा जुड गया है । अंग्रेजों महत्वाकाक्षी राज-नेताओं के सम्मुख अपने नये शासन के अतगत आने वाली जनता के साथ सम्पर्क स्थापित करने की दृष्टि से, एक भाषा माध्यम की समस्या का उपस्थित हुई थी । पर इस काय में उन्होंने हिन्दी प्रदेश की प्रतिरोधी एवं स्वाधीनताप्रिय जनता की मनोवृत्ति का भी पर्याप्त परिचय पा लिया था । यह प्रदेश सतों एवं धर्म प्रचारकों की जन्म भूमि रही थी तथा इसी के अतगत हिन्दू सस्कृति एवं धर्म के दुग समी तीयस्थान एवं प्राचीन विद्या केन्द्र अवस्थित थे । इसीलिये उन्हें इस राष्ट्र के हृदयों पम प्रदेश में (दक्षिण भारत एवं बंगाल की भांति) अंग्रेजों भाषा व सुगमतापूर्वक तीव्र गति से प्रचलन कराने में, प्रारम्भ से ही सफलता की कोई आशा नहीं थी ।

सबसे बड़ी बाधा या कठिनाई थी हिन्दू जीवन एवं सस्कृति में जनता के सुदृढ विश्वास की । यहाँ के निवासियों की सुविकसित, धार्मिक एवं दार्शनिक पृष्ठ भूमि भी इसके लिए बहुत कुछ उत्तरदायी थी जिसके कारण कि अंग्रेज जाति के लिए, भारत भूमि को भी अफ्रीका कनाडा आस्ट्रेलिया या अमेरिका की भांति, अपना ब्रिटिश उपनिवेश बनाने में सुगमता अनुभव नहीं हो रहा थी । उन्हें इस महान और कठिन काय के लिए एक गहरे सांस्कृतिक एवं धार्मिक विस्फोटक पडयन की भी मारी अपेक्षा थी, जिसके लिये उन्हें रामन कथालिक कट्टर पादरिया का सहयोग, सरलता से प्राप्त हा गया । मुद्रण यंत्रों का प्रचार तथा जनता की भाषा हिन्दी या हिन्दुस्तानी की परिशोधना का उद्देश्य भी मूलतः हिन्दी प्रदेश में बाइबिल प्रचार द्वारा, यहाँ के जनसाधारण में अपने निजी एवं प्राचीन धार्मिक एवं सामाजिक सांस्कृतिक सस्कारों एवं आचार विचारों के प्रति वितृष्णा तथा सदिग्धता उत्पन्न करना ही था ।

भारतीयों के मन में अपनी सस्कृति के प्रति वितृष्णा घृणा व उदासीनता उत्पन्न करने का उद्देश्य से ही सन् १७६४ ई० में बंगाल के मदनावती नामक स्थान में केर द्वारा पहला मुद्रण यंत्र स्थापित किया गया जिसमें कि सवप्रथम उत्तर भारतीय भाषा में प्रकाशित बाइबिल का अनुवाद मुद्रित हुआ । इसके कुछ ही समय

पश्चात् ब्रिटिश मिशनरियो ने, कलकत्ते से १५ मील की दूरी पर, श्रीरामपुर में, १८वीं सन् के अंत तक, अपना एक प्रेस भी स्थापित कर लिया था। सन् १७९८ से लंदन की मिशनरी सोसाइटी ने, बंगाल से प्रारम्भ करके, पूर्वी भारत में भी मन प्रचार का कार्य आगे बढ़ाया। सन् १८०६ में मूर द्वारा, पटना के पास दोगाह में, एक मिशन कायम किया गया तथा सन् १८१० में आगरा में वैट्टिस्ट मिशन की स्थापना हुई। इस भाँति 'माधो विलास' की रचना एवं प्रकाशन तिथि तथा प० सल्लूजीसाह की जन्मभूमि, हिन्दी प्रदेश एवं ब्रजभूमि के हृदयसम, मुगलकालीन भारत की राजधानी आगरा में, ईसाई मिशनरियो के मठस्थान की तिथियो का संयोग, मात्र-संयोग न समझा जाकर, एक तक सिद्ध इतिवृत्तात्मक घटना के रूप में ही समझा जाना चाहिए।

सन् १८१४ में आगरा और इलाहाबाद में एक-एक मिशन, एक साथ, और कायम हुए। इससे कुछ समय पूर्व सन् १८११ में आगरे में ही 'सिकन्दरा मिशन' की स्थापना के रूप में (पादरी करी द्वारा ईसाई धर्म में नव दीक्षित) पादरी अब्दुल मसीह द्वारा, हिन्दी भाषी भारतीयों में ईसाई धर्म प्रचार की दुरभिसंधि का प्रारम्भ हुआ। सन् १८४१ तक आगरा का सिकन्दरा मिशन एक महत्वपूर्ण उत्तर भारतीय-प्रचार केन्द्र बन चुका था और उसकी ओर से, एक प्रेस की स्थापना भी की गई थी, जहाँ से 'लोकमित्र' नामक पत्र भी प्रकाशित किया जाने लगा था। सन् १८२० में लंदन मिशनरी सोसाइटी ने, बनारस में एक बड़ा प्रचार मिशन स्थापित किया जो कि डनियल कारी नामक पादरी का एक बहुत बड़ा प्रचार-केन्द्र बना।

भारत में वाइबिल के प्रचार की दृष्टि से सन् १८२३ में कलकत्ता त्रिनिटियन ट्रेड एण्ड बुक सोसाइटी कायम हुई थी जिसने १८२७ ई० में, हिन्दी में भी कार्य का आरम्भ कर दिया था। सन् १८२६ में बनारस-ट्रेड सोसाइटी का जन्म हुआ और सन् १८३६ में लंदन मिशनरी सोसाइटी ने मिर्जापुर में ऑफोनेज प्रेस, तथा इलाहाबाद में अमेरिकन प्रेसवोटैरियन प्रेस, कायम किए जिनके द्वारा, हिन्दी प्रदेश में, वाइबिल साहित्य प्रचार का कार्य व्यापक रूप से बड़ी तीव्रता के साथ किया जाने लगा। वही वर्षों में काशी के एक मुहल्ले सिंगरा में खर ड विनियम रिमय और सी० बी० लियोपोल्ड ने धुआधार प्रचार कायम प्रारम्भ किया। इनके पश्चात् बनारस का सिंगरा मिशन एक के पश्चात् एक बहुभाषाविद् पादरियो का प्रचार-केन्द्र बन गया जिसमें कि मर्यू टॉमसन एडम, जम्स रॉयटसन विलियम वायस, ज० ए० जमन तथा रायट सीमार आदि विनियम उल्लेखनीय थे। जम्स रॉयटसन वृन्दापारिद थे और फ्रांस का प्रचार करके वे, भूमिपूजा का मूनाचरण करना चाहते थे।

वाक्याव में उगीमथी शती के दूसरे शक के ही धर्म प्रचारका न बनारस की



हिंदू धर्म का केन्द्र मान कर, उसे अपना प्रसार केन्द्र भी बनाने का निणय कर लिया था। वहाँ पर उन्होंने अपना स्कूल स्थापित करके पाश्चात्य शिक्षा का भी प्रारम्भ किया।<sup>१</sup> ज्ञात होता है कि बनारस के निकटस्थ लमही निवासी, प्रख्यात हिंदी उप-यासकार, श्री प्रेमचंद ने, अपने शशवत् में ही, सिगरा के कट्टर ईसाई पादरियों की कहानियाँ, सुन ली होंगी। उही की अतः प्रेरणा से प्रेरित होकर ही सिगरा के ईसाई समाज को उन्होंने, अपने प्रथम महाकाय उप-यास 'रगभूमि' में, इतना विवरणात्मक स्थान प्रदान किया है। बनारस के निकट ही मिर्जापुर को भी, जेम्स केनडी, डब्ल्यू० पी० लिओन तथा आर० सी० मेयर ने एक प्रभावशाली प्रचार केन्द्र बना लिया था।

सन् १८३७ में मध्य हिंदी प्रदेश में जो भयानक दुर्भिक्ष पड़ा, उसमें कितने ही दुर्भिक्ष पीडित लोगों को लालच देकर इसाई बना लिया गया। सन् १८४६ ई० में गुजरातपुर में भी मिशनरियाँ द्वारा एक प्रेस कायम किया गया। सन् १८४८ में काल गौटलीव फेडर द्वारा, आगरे में ट्रेवट एण्ड बुक सोसाइटी कायम की गई। वे इससे पूर्व, सन् १८३७ में फारस से निकाल भी जा चुके थे। तब उन्होंने अपना काय क्षेत्र भारत का बनाने का विचार किया और १८४१ से १३ वर्ष तक, वे आगरे में काम करते रहे। फिर १८५८ में उत्तर प्रदेश की राजधानी, आगरे से इलाहाबाद चली गई। तब सोसाइटी का प्रधान कार्यालय भी इलाहाबाद पहुँच गया। यही नहीं प्रभावशाली ईसाई मिशनरियाँ ने समय समय पर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डायरेक्टरों पर भी इस बारे में काफी दबाव डाला था कि भारत में, केवल ईसाई धर्म के प्रचार की ही अनुमति दी जाय तथा 'मोहोमदनिज्म' और ब्राह्मणइज्म' के प्रचार प्रसार पर कानूनी पाबनी लगा दी जाय।<sup>२</sup>

ब्रिटिश शासक कम्पनी ने अपनी राजनैतिक आर्थिक सांस्कृतिक एवं धार्मिक पक्षपात एवं दमन की नीति, इतने विविध रूपों में अपनाई कि उसका सक्षिप्त विवरण भी यहाँ दिया जाना सम्भव नहीं है। किन्तु उसकी सभी दुरभिसंधियाँ का लक्ष्य, इस देश की सवमाय भाषा हिन्दी के प्रचार प्रसार को रोकना था और

१ 'आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका' (डा० लक्ष्मीसागर वाण्येय) पृ० ५५७

२ नाट टु काउंटेने स आर सबसन एनी अदर रिजिजन अन्ड दन अवर आन विकाज की आर नाट टु एनकरेज एंड सक्शन फाल्मटूड। एस्पेशली बी शुड नाट सक्शन माहम्मनिज्म एण्ड ब्राह्मनिज्म टि टू फाल्स रिजिजस आफ इण्डिया विकाज दे आर रुदनस टु मन, अपोज्ज टु थार्टस्ट एण्ड इंसलिंग टु नाड। — ब्रिटिश्ट रेवरे ड बि० नोएल (इंग्लंड एंड इण्डिया, प्रकाशन तिथि १८५६ ई०)

कम्पनी और उसके समर्थकों—धार्मिक पादरियो आदि सभी का वह समान उद्देश्य था। विश्व के इतिहास में कहीं भी ऐसे उदाहरण नहीं मिलेंगे, जहाँ कि शासकीय कानून के बल पर, किसी भी देश की स्वदेशीय भाषा को निमूल करने का, इतना संगठित प्रयत्न किया गया हो। इस सम्बन्ध में केवल दो तीन ऐतिहासिक तथ्यों का और उल्लेख किया जाना आवश्यक है जिसके कारण, हिन्दी भाषा में प्रथम रचना विशेषतया जनता में सबसे अधिक पचार पाने योग्य लोकप्रिय उपन्यासों की प्रगति को, कानून एवं सत्ता के बल पर अवरुद्ध किया गया।

सन १९४५ में, सैयद नुरुल्ला एव श्री जे० पी० नायक द्वारा सम्पादित ग्रन्थ 'हिस्टरी आफ एजुकेशन इन इण्डिया का प्रकाशन हुआ। उसमें कुछ ऐसे सरकारी आदेशों तथा कानूनों का विवरण भी मिलता है जिनसे पता चलता है कि किस भाँति हिन्दी भाषा के पठन पाठन पर भी कानूनी प्रतिबंध लगाए गए थे —

'सन १८३५ (२ फरवरी) का मेकाने ने अपना वह कुर्यात सशोधन प्रस्तुत किया, जिसके अनुसार, देशी भाषाओं के माध्यम से शिक्षा देने वाली संस्थाओं को, बंद करने, या उन्हें सरकारी सहायता न देने का सुझाव, दिया गया था। मेकाने ने अपने उक्त टिप्पणी में क्षेत्रीय भाषाओं के अध्ययन को निरर्थक बताया लिखा था —

"न तो उनमें साहित्य है और न विज्ञान जिस पर वे इतनी निधन और अनधन हैं कि जब तक किसी दूसरी दिशा से वे समृद्ध नहीं बनाई जाती, उनमें किसी भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ का, अनुवाद तक भी सम्भव नहीं है।"

क्षेत्रीय भाषाओं को इन भाँति शिक्षा के माध्यम की दृष्टि से सबका अनुपयुक्त सिद्ध करने के बाद मेकाने ने प्राच्य भाषाओं के साहित्य को, अध्ययन अध्यापन के सबका अयोग्य बताया और बड़ी हठता के साथ कहा कि—अंग्रेजी भाषा का ज्ञान रखने वाला व्यक्ति आसानी से नये पीढ़ियों के क्रम में, पृथ्वी भर के बुद्धिमान राष्ट्रों के द्वारा, अजित और संचित विशाल बौद्धिक सम्पत्ति को ग्रहण कर सकता है। अंग्रेजी भाषा हमारी प्रजाओं के लिए अत्यन्त उपयोगी होगी।"

प्रिन्सेप की लिखी गई डायरी के उद्धरणों में भी यह स्पष्ट है कि गवर्नर जनरल की काउंसिल के प्राच्यवादी सदस्यों को काउंसिल की बैठक में, अपना मत

१ नुरुल्ला और नायक सम्पादित 'हिस्टरी आफ एजुकेशन इन इण्डिया', अध्याय १, पृष्ठ ६२ (प्रकाशक मकमिलन एण्ड कम्पनी बम्बई, प्र० प्र० १९४५ ई०)।

२ वही, मगवानदयाल द्वारा लिखित निबंध 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी की शिक्षा सम्बन्धी नीति अध्याय १ पृष्ठ ६२

रखने का अवसर भी नहीं दिया गया और मकाले की टिप्पणी का उत्तर देने के कारण स्वयं प्रिंसेप की भरसना की गई ।

७ मार्च, १८३५ ई० की विनपति द्वारा लॉर्ड विनियम ब्रिटिश न मकाल के सभी सुभाषो को मान लिया और इस भांति, क्षेत्रीय भाषाओं के विकास का भाग, अनिश्चित काल तक के लिए, कानूनन रूप में, अवरुद्ध कर दिया गया । विनपति के अनुसार —

‘सरकार, भारतीयों में, अंग्रेजी भाषा के माध्यम से यूरोपीय साहित्य एवं विज्ञान की शिक्षा का प्रसार करेगी और शिक्षा के लिए निश्चित समस्त निधि, केवल अंग्रेजी शिक्षा पर ही खर्च की जायगी ।’

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने भी अपने हिंदी साहित्य के इतिहास में लिखा है कि किस भांति सन १८३७ ई० में अदालती भाषा-सम्बन्धी इसी अधिनियम के स्वीकृत होने के बाद, अदालतों में, लिखा है कि किस भांति शन शन उर्दू का एकाधिपत्य स्थापित हो गया—

‘इसी समय सरकार ने प्रभावशाली मुसलमानों को उकसाया कि वे विरोध करें कि हिंदी किसी भी शिक्षण-संस्था में न पढाई जाए और सत्र उर्दू ही की शिक्षा, ‘क्षेत्रीय भाषा के रूप में ली जाए । अतः सन १८४८ में निम्न सरकारी विनपति प्रकाशित कर दी गई — ऐसी भाषा का जानना सब विद्यार्थियों के लिए आवश्यक ठहराना, जो मुल्क की सरकारी और दफतरी जुवान नहीं है हमारी राय में ठीक नहीं है । इसके सिवाय मुसलमान विद्यार्थी जिनकी संख्या देहली कालिज में बड़ी है इस अच्छी नजर से नहीं देखेंगे ।’

सन १८६१-६२ ई० में बलवत्ता विश्वविद्यालय के सीनेट ने एक कानून पास किया कि मैट्रिकुलेशन की परीक्षा में विशिष्ट निर्देश प्राप्त किए बिना सभी विषयों की शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही रहेगा । इसका परिणाम यह हुआ कि तत्पश्चात् सार भारत में हाईस्कूल परीक्षा के लिए शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी ही हो गया । कम्पनी की कोट लेंग्वेज फारसी ही बनी रहेगी ।’ यह उल्लेख भी इसी चाटर में किया गया था ।

१ हिस्ट्री आफ एजुकेशन इन इण्डिया, अध्याय १, पृष्ठ ६२

२ हिंदी साहित्य का इतिहास (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) (सं० २००६ का संस्करण, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (पृ० ४३३)

३ ‘द्वि राइज एण्ड फॉय आफ हिन्दी जर्नेलिज्म (१८२७-१८४५) लेखक— रामरतन भटनागर पृष्ठ ११ (किताब महल, इलाहाबाद) ।

डॉ० लक्ष्मीसागर वाष्ण्य ने 'फोट विलियम बालेज' नामक एक उत्तम इति वृत्तात्मक ग्रंथ लिखा है। उसी की प्रस्तावना में उन्होंने लिखा है —

कम्पनी के अधिकारियों को भी फारसी को राजभाषा बनाए रखने में सुविधा थी। वे स्वयं इस देश की भाषाएँ नहीं जानते थे, और जिन सरकारी काम-चारियों की सहायता से (नवाबी शासन काल में राजकाज चलता था) उन्हें ही देश पर शासन करना था। वे फारसी जानते थे और फारसी के माध्यम से ही, कार्य करने के अभ्यस्त थे। अतः यह स्वाभाविक ही था कि कम्पनी के अधिकारीगण, अच्छी तरह या काम चलाऊ फारसी जानने वाले कर्मचारियों पर, विशेष कृपा रखते।

१८६६ ई० तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजभाषा फारसी बनी रही।<sup>१</sup>

वस्तुतः अंग्रेजी सरकारी मशीनरी द्वारा, हिन्दी भाषा एवं साहित्य के विरुद्ध यह सगठित प्रचार जानते बूझते ही, किया जा रहा था कि हिन्दी ही वास्तव में देश की सर्वप्रिय एवं सर्वमुल्य भाषा है। स्वयं अंग्रेज शासक-वर्ग भी, इससे अपरिचित नहीं थे। इसके प्रमाण के रूप में एडवर्ड ईस्टविक द्वारा लिखी गई 'प्रेमसागर' की भूमिका (सन् १८५८ ई० के संस्करण) का, निम्न अवतरण विशेष ध्यान देने योग्य है —

जब हम यह स्मरण करते हैं कि हिन्दी भाषा, भारत के वृहत्तम भाग की भाषा है, जो अपनी विविध बोलियाँ में, सभी साम्राज्य और कृपाका द्वारा, बिहार, अवध, नेपाल, बुटेलसण्ड, राजपूताना के एक बड़े भाग, सिंध और पंजाब में, बोली जाती है तो यह नहीं सोचा जा सकता कि इसने अध्ययन का महत्त्व, बढ़ा चढ़ा कर कहा जाता है। अतः बंगाल सरकार ने निर्देश दिया है कि पश्चिमात्तर प्रान्तों में जाने वाले पदाधिकारियों को हिन्दी की परीक्षा में उत्तीर्ण होना होगा। सैनिक पदाधिकारियों के लिए तो यह और भी आवश्यक है।<sup>२</sup>

यह भी स्मरणीय है कि उस समय तक हिन्दी के प्रश्न को अंग्रेजी सरकार, साम्प्रदायिक विवाद का प्रश्न बनाने में सफल नहीं हुई थी और भारत के हिन्दू और मुसलमान सभी जनसाधारण, उसका (हिन्दी के) महत्त्व को मन्त्री भाँति समझते थे और उसका यथावसर प्रतिपादन भी करते थे। उदाहरणार्थ—प० लल्लूजीलाल कवि द्वारा रचित सिंहासन बत्तीसी के सन् १८६६ के संस्करण (जो लन्दन में प्रकाशित हुआ था) के प्रस्तावना-लेखक सयद अब्दुल्ला ने इस भाँति लिखा था —

१ 'फोट विलियम बालेज' (लक्ष्मीसागर वाष्ण्य) २००४ वि०, हिन्दी परिपद, इलाहाबाद पृष्ठ २।

२ प्रेमसागर (लल्लूजीलाल) (श्री एडवर्ड ईस्टविक की लिखी हुई प्रस्तावना में) (ईस्ट इण्डिया कम्पनी के तत्वावधान में, लन्दन में प्रकाशित, सन् १८५८ ई० के एक पुरातन संस्करण से)।

के कारण ही जान पड़ता है विज्ञ आलोचना ने विवश होकर सरलतम माग ग्रहण करने की, पुस्तक मानव प्रवृत्ति का ही अनुसरण किया है। इसीलिये, भारत-दु काल से ही, हिंदी उपन्यास का उद्भव एवं विकास का श्रीगणेश हुआ, ऐसी पूर्वधारणा का हिंदी आलोचना में धीरे-धीरे प्रचलन हो चला और समयांतर में उसने परम्परा का रूप धारण कर लिया। इस भाँति की, निराधार एवं अध्वयन अनुसंधान के माग में अकारण असंगतियों का अम्बार लगा देने वाली साहित्यिक परम्पराओं एवं किम्बदन्तियों का निराकरण करने के लिए ही उन्नीसवीं शती के दूसरे दशक से लेकर छठे दशक के भारत की उपयुक्त अधःशती यापि सक्षिप्त राजनतिक एवं सांस्कृतिक रूपरेखा का प्रस्तुत किया जाना अनिवार्य हो गया था। उपयुक्त समग्र अकाठ्य इतिहासात्मक आधारों एवं राजकीय रिकार्डों की साक्षी में, सहज ही हम, इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि हिन्दी उपन्यास का प्रथम उत्थान एवं उदभव अठारहवीं शती ईसवी के अन्तिम चरण में एवं उन्नीसवीं शती के प्रथम चरण में परिलक्षित हुआ। तत्पश्चात् लगभग आधी शती की हिन्दी औपन्यासिक कृतियाँ, अभी भी प्रकाश में नहीं आ पाई हैं। धीरे-धीरे ज्यों-ज्यों अनुसंधित्सुओं को अपने एवं दूसरों के देशों में उपलब्ध साहित्य मंडारों एवं राजकीय अभिलेख मंडारों की खोजबीन के साधन उपलब्ध होने जाते हैं इस विलुप्ति काल की कृतियाँ भी एक-एक करके, दृष्टिपथ में आती जा रही हैं और यह काय अभी भी पूरा नहीं हो पाया है।

सन १८५६ ई० में प्रकाशित श्री दाऊजी अग्निहोत्री द्वारा 'नल प्रसंग' महाभारत का एक सुप्रसिद्ध लोककथात्मक कथानक के आधार पर रचा गया सरल हिन्दी उपन्यास ही इस भाँति माधव विनास (प० लन्जीलाल) की प्रकाशन तिथि के पश्चात् इन ४६ वर्षों के दूसरे छोर पर अवस्थित है। इस अन्त में किस भाँति हिन्दी साहित्य को तथा हिन्दी भाषा को विदेशियों द्वारा एक हाथ में तलवार और दूसरे में बाइबिल वाले अभियान का सामना करना पड़ा उसका विवरण सहित विवेचन किए बिना हिन्दी उपन्यास विधा की विलक्षण अपराजेयता को समझ पाना नला कैसे सम्भाव्य था? हम अपने राष्ट्रीय अथवा जातीय साहित्य के उदभव एवं विकास को इसी नये प्रकाश में देखना चाहिए। ससार के किसी भी देश ने विदेशी सत्ता से निरंतर जूझते-जूझते इस प्रकार की विनक्षण उपन्यास साहित्य की निधि का निर्माण भी किया होवे, विश्व साहित्य को इतिहास में, ऐसी प्रेरणाभरी गौरव गाथा दुर्लभ ही नहीं अप्राप्य ही है।

अब सन् १८५६ ई० से सन् १८८२ ई० तक के २६ वर्षों के अन्तराल में रचित औपन्यासिक कृतियाँ एवं उनके बणनकलागत सौष्ठव पर भी एक विह्वल दृष्टिक्षेप आवश्यक है। कारण यह है कि हिन्दी उपन्यास साहित्य के अनेक इतिवत्तकार हिन्दी उपन्यास के उद्भव एवं विकास की कहानियों को 'परीक्षागुरु' (सा० श्रीनिवासराय) से प्रारम्भ किया करते हैं। (हिन्दी का पहला उपन्यास कौन सा है? इस सम्बन्ध में विस्तृत समीक्षा परिशिष्ट भाग में दृष्टव्य है।) इन २६

वर्षों में जो अधिक रयातनामा हिंदी उपन्यासकार हुए, उनमें पंडित गौरीदत्त शर्मा, भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र, प० बालकृष्ण भट्ट, श्री श्रद्धाराम फिल्लौरी श्री राधा कृष्णदास आदि भी थे। इस कालांतर में उनकी प्रौढ़ एवं प्राञ्जल औपन्यासिक रचनाओं ने, अपनी वणनात्मक भंगिमा द्वारा, हिंदी उपन्यास की कलात्मक शोभा में पर्याप्त अभिवृद्धि की। जो कृतियाँ परीक्षागृह के प्रकाशनसे पूर्व समुपलब्ध हैं, उनकी एक क्रमबद्ध सूची यहाँ दी जा रही है। इस सूची में रचना की तिथि, एवं उसके रचयिता का नाम भी दिया गया है —

	तिथि	उपन्यास	उपन्यासकार
१	१८०१ ई०	'उदैमान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी'	सयद इशाअल्लाह खा 'इशा'
२	१८०२ ई०	'प्रेमसागर'	प० लल्लूजीलाल
३	१८०३ ई०	'नासिकेतोपाख्यान' या 'चंद्रावती की कथा'	प० सदल मिश्र
४	१८१० ई०	'माधव विलास'	प० लल्लूजीलाल
५	१८५६ ई०	नल प्रसंग'	दाऊजी जग्गिहोत्री
६	१८७० ई०	देवरानी जिठानी की कहानी	प० गौरीदत्त शर्मा
७	१८७१ ई०	'मनोहर उपन्यास'	प० सदानन्द शम्भूनाथ मिश्र
८	१८७२ ई०	'वामा शिक्षक'	प० गौरीदत्त शर्मा
९	१८७३ ई०	वामा शिक्षक'	मुंशी ईश्वरीप्रसाद तथा मुंशी कल्याणराय
१०	१८७६ ई०	एक कहानी कुछ आप बीती कुछ जग धोती	भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र
११	१८७६ ई०	'किस्सा मृगावती'	यामिनी भान
१२	१८७७ ई०	'नूतन ब्रह्मचारी'	प० बालकृष्ण भट्ट
१३	१८७७ ई०	भाग्यवती	श्रद्धाराम फिल्लौरी
१४	१८७६ ई०	नलचरितामृत	श्यामलाल श्यामल
१५	१८७६ ई०	'रहस्यकथा उपन्यास'	प० बालकृष्ण भट्ट
१६	१८८१ ई०	नि सहाय हिंदू	बाबू राधाकृष्णदास
१७	१८८१ ई०	मालती और माधव की कथा	प० शालिग्राम मिश्र
१८	१८८२ ई०	'गुप्त वैरी'	प० बालकृष्ण भट्ट
१९	१८८२ ई०	'परीक्षागृह'	लाला श्रीनिवासदास

‘नल प्रसंग’ के परचात प० गौरीदत्त शर्मा-रचित देवरानी जिठानी की कहानी तथा ‘वामा शिक्षक’, ये दो वणनात्मक औपन्यासिक कृतियाँ, प्रेमचन्द पूर्वकाल के अध्येता का ध्यान विशेषतया आकृष्ट करती हैं। शर्माजी उत्तर प्रदेश के नामी नागरी प्रचार आन्दोलन के प्रवक्ता एवं उन्नायक थे। उनकी हिन्दी प्रचार गत सेवाओं का, आचार्य शुक्लजी ने भी, अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में सामान्य स्मरण किया है। ‘देवरानी जिठानी’ की कहानी वास्तविक जन जीवन के चित्रण की दृष्टि से, एक उत्तम वणन प्रधान सामाजिक उपन्यास है जिसमें कथारस की सतत प्रवहमानता पर भी, पर्याप्त ध्यान दिया गया है। ‘वामा शिक्षक’ कुछ अधिक मुखर समाज-मुधारक लहजे में लिखा गया है फिर भी रोचक है। कथावस्तु की दृष्टि से ये दोनों ही उपन्यास, ग्राह्य जीवन एवं सामाजिक रहन सहन को व्यक्त करने हैं। अतः उन्हें हिन्दी में सामाजिक अथवा समाज-मुधारक धारा की प्रवक्ता कृतियाँ भी माना जा सकता है।

‘देवरानी जिठानी’ की कहानी (प० गौरीदत्त शर्मा) हिन्दी का प्रथम कौटुम्बिक उपन्यास है जिसमें ग्राह्य जीवन की समस्याओं पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। शिक्षित गृहिणी और अशिक्षित गृहिणी के चरित्रों के तुलनात्मक विवेचन द्वारा स्त्री शिक्षा के महत्त्व पर बल देने के सदुद्देश्य से ही उपन्यास की रचना की गई थी। यह सामाजिक उपन्यास की परम्परा की भी एक सजीव बड़ी मानी जा सकती है। उपन्यास की वण्य वस्तु एवं वणनात्मक शैली की कुछ विशिष्टताएँ निम्नांकित अवतरण द्वारा संक्षेपित हैं —

‘स्त्रियो में क्या क्या अंतर है? बालकों का पालनपोषण किस प्रकार होता है और किस प्रकार होना चाहिए? स्त्रियो का समय किस किस काम में व्यतीत होता है और क्योंकर होना उचित है? बपट्टी स्त्री जब एक काम करती है उसमें क्या क्या हानि होती है? पत्नी हुई स्त्री जब उसी काम को करती है तो उससे क्या-क्या लाभ होता है? स्त्रियो की वह बातें जो आज तक नहीं लिखी गईं मैंने खोल कर सब लिख दी हैं और इस पुस्तक में ठीक ठीक वही लिखा है जैसा आजकल बतियो के घरों में हो रहा है—बाल बराबर भी अंतर नहीं है।”

किन्तु प० गौरीदत्त शर्मा की वणन प्रतिभा भी बड़ी स्वाभाविक है तथा वह जीवन का ज्यों का त्यों चित्रण करती चलती है। पश्चिमी उत्तर प्रदेश तथा खड़ी बोली हिन्दी के गढ़ मेरठ के जनसाधारण की बोलचान और नित्य प्रति के जीवन के रोचक वणना द्वारा, यह उपन्यास एक उत्तम एवं प्रतिनिधि हिन्दी उपन्यास कहाने का अविकारी है। प० गौरीदत्त ने आजीवन हिन्दी प्रचार का काम किया था और इमीलिए उन्होंने सोचा कि उपन्यास ही सबसे अच्छा हिन्दी प्रचार का माध्यम

भी होगा। (प्रस्तुत उपन्यास अब अप्राप्य है इसीलिये उममें एक सनात्मक अवतरण परिशिष्ट भाग में भी दिया गया है।)

‘वामा शिक्षक’ में ‘देवरानी जिठानी’ की ही शक्ती में रचित एक समाज सुधार परक उपन्यास है। इसमें पात्रों और स्थानों की नवीनता पाई जाती है तथा नारी आदर्श सम्बन्धी कुछ अधिक उदाहरणों एवं प्रसंगों का समावेश किया गया है। ‘वामा शिक्षक’ में भी एक सीधी सरल कहानी के द्वारा स्त्रियों को आदर्श नारी बनने का उपदेश दिया गया है। लेखक के अनुसार आदर्श नारी के जो भी गुण हा सकते हैं, वे सभी मयुरादास की वहाँ तथा उनकी लड़कियों (गंगा और किशोरी) में भर दिये गये हैं तथा स्त्रियों में जितने भी दुगुण सम्भव हो सकते हैं वे जमुनादास की पत्नी तथा उनकी पुत्रियाँ (राधा और पावती) में समाविष्ट किये गये हैं। एक आद्य उपदेशात्मक सामाजिक उपन्यास की दृष्टि से ही उसका साहित्यिक मूल्यांकन करना समीचीन होगा।

आधुनिक हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं के उन्नायक एवं जन्मजात रचनात्मक प्रतिभा के धनी, भारत-दु बाबू हरिश्चन्द्र (जन्म सन १८५० ई० निधन १८८५ ई०) हिन्दी भाषा में उपन्यास रचना के बारे में भी पर्याप्त उत्साह रखते थे। उनके कुछ अपूर्ण उपन्यास उनके असमय दिवगत हो जाने के कारण पूरे नहीं हो पाये। उनमें एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती नामक एक आत्मकथात्मक उपन्यास, अत्यन्त महत्व की रचना थी। उसी का प्रस्तावना भाग (जिसमें काशी के मुहल्लों में पाये जाने वाले, तत्कालीन जीवन के दृश्य हाट मजार की भाँकिया आदि अत्यन्त रचिकर शलाकें चित्रित की गई हैं) मूल में ही अवलोकनीय है —

‘सन्त १९३० (सन १८७३ ई०) में जब मैं तेईस बरस का था, एक दिन सिडकी पर बठा था। वसन्त ऋतु हवा ठण्डी चलती थी, साय फूली हुई—आकाश में एक बार चन्द्रमा—दूसरी ओर सूर्य—पर दानो लाललाल। अजब सर्मा बँधा हुआ। बसह गडेरि और फूल बेचन वाले, सड़क पर पुकार रहे थे’ ।<sup>१</sup>

भारत-दु काल के एक अत्यन्त महत्वपूर्ण उपन्यासकार हुए, पण्डित बालकृष्ण मट्ट। श्री मट्टजी का जन्म प्रयाग में सन् १८४४ ई० में हुआ था। ७० वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करने के स्वर्गवासी हुए। उन्होंने अनेक उपन्यासों की रचना की है जिनमें दो उपन्यास ‘नूतन ब्रह्मचारी (१८७७ ई०) ‘सो अजान एक सुजान (१८९०) अपने सम्पूर्ण रूप में उपलब्ध हैं। वेप रहस्यकथा उपन्यास, ‘गुप्त बैरी’,

१ एक कहानी कुछ आपबीती कुछ जगबीती (भारत-दु बाबू हरिश्चन्द्र) कवि वचन मुद्रा, भाग ८ वशास कृष्ण पक्ष (सन् १९३३ वि०) तथा ‘भारत-दु प्रयाग, भाग ३ पृष्ठ ८१४-१५



रमातल-यात्रा', 'दक्षिणा' आदि कुछ अन्य उपन्यास भी उन्होंने अपने द्वारा ही संपादित प्रसिद्ध मासिक पत्र 'हिन्दी प्रदीप' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित कराये थे।

श्री भट्टजी के उपन्यासों में अपने काल की सामाजिक परिस्थितियों का मार्मिक चित्रण पाया जाता है। वणनात्मकता की शक्तियाँ भी यत्र-तत्र पायी जाती हैं। श्री बालकृष्ण भट्ट सभी मौलिक भारतीय उपन्यासकारों की परम्परा में ही, प्रकृति वणन के बड़े रसिक कथाकार थे। उन्होंने नासिक के आसपास के अंचल के बहुत ही मनोरम वणन (अपने उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' में) प्रस्तुत किये हैं। उक्त वणन में नर्सगिक छटा के सूक्ष्म अंशों पर भी, ध्यान दिया गया है। लेखक ने बीच-बीच में उपदेशात्मक प्रवचन भी समाविष्ट कर लिये हैं जो उस काल की समाज सुधारक प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। वस्तुतः वही श्री भट्टजी के समय का समग्र साहित्य का मुख्य स्वर था। नूतन ब्रह्मचारी उपन्यास वन वणन से परिपूर्ण है। ये वन वणन गोदावरी के अंचल, तथा नासिक से कुछ दूरी पर अवस्थित बना की शोभा को, मनोरम शैली में चित्रित करते हैं—

'यहाँ पर थोड़े से पेड़ों का विरल भाव उस रम्य स्थान के सुहानेपन को बढ़ाता सा था। जगल काहे को था? वह माली जिसका नाम प्रकृति है उसके हाथ का लगाया हुआ एक छोटा सा उद्यान सा था। पहाड़ों की ऊँचाई भी इस स्थान की भयावनी न थी। वनली घासों से ढँपे हुए पहाड़ियाँ व छोटे छोटे टीले, बहुत ही सोहाबने दीप्त पड़ते थे ।'

एक और दृश्य भी प्रकृतिगत वणनात्मक कला की अनूठी उद्भावनाओं के कारण विशेषतया ज्वलोकनीय है। इसमें उपन्यास के दो प्रमुख पात्र (पंडित त्रिदलराव एवं उनकी घमपत्नी) वन भाग में प्रातःकाल की रमणीय बेला में पदल चले जा रहे हैं। उसी समय के प्रसंग को उपन्यासकार की जुबानी ही सुनिए —

'प्रातःकाल जसा पक्षियों का कनरव होता है वह अभी समाप्त नहीं हुआ था। क्योंकि दिननाथ सूर्य भगवान प्रभाकर, कुछ निकले थे और कुछ आकाश चित्तान से अपना मुहू ढापे थे। और उन ऊँचे पेड़ों में जिनकी पत्तियाँ बारहों महीने हरी-भरी बनी रहती हैं उनकी फुनगियों से फूट-फूट कर किरण अपनी बलक लिखला रही थी। और उही पेड़ों की पत्तियों को थोड़ा चाड़ा हिलाते हुए जो प्रातःकालीन मंद मारत वह रहा था जिसमें गरमी अभी लेशमात्र भी

१ नूतन ब्रह्मचारी (प० बालकृष्ण भट्ट), परिच्छेद २, पृष्ठ ५ प्र० महादेव भट्ट अहियापुर प्रयाग (क्रि० स० सन् १९११ ई०)

नहीं आई थी। उसी शीतल मन्द सुगन्ध, त्रिविध समीरण का सुख उठाते, विट्ठलराव और उनकी स्त्री ठाकुर साहब की गद्दी को जा रहे थे।”

भारत-टु के समकालीन एवं उत्तर पश्चिम भारत में, हिन्दी के प्रबल प्रचारक पं० थडाराम फिलौरी एक प्रसिद्ध वक्ता एवं सुलेखक भी थे। उन्होंने (आचार्य शुक्लजी के ही शब्दों में) सन १८७७ ई० में ‘भारतीय शाली का प्रथम उपास’ भाग्यवती रचा था। वस्तुतः यह एक सामाजिक उपास था जिसमें उपासकार न अपने दशकांत का चित्रण और वणन बहुत ही यथातथ्य शैली तथा वगनात्मक सामर्थ्य के साथ किया है। सन् १९३४ वि० (१८७७ ई०) में, अपने निवास-स्थान फिल्लौर (जिला जालंधर) से लिखित अपने प्रथम सम्स्करण की भूमिका में, लेखक ने अपनी कृति के अभिप्राय को निम्न शब्दों में स्वयं ही सुस्पष्ट किया है।

‘वर्तमान दिनों में इच्छा थी कि कोई ऐसी पोथी हिन्दी भाषा में लिखू कि जिसके पढ़ने से भारत खण्ड की स्थितियों का, ग्रहण्य वचन की शिक्षा प्राप्त हो। इस कारण मैंने यह ग्रन्थ सुगम हिन्दी भाषा में लिख के, नाम इसका ‘भाग्यवती’ रखा। ग्रन्थ में मुख्य प्रसंग एक ‘भाग्यवती’ नामक स्त्री का है, जो काशी नगर में पं० उमादत्त के घर में उत्पन्न हुई थी। चाहे प्रसंग तो इसमें काशीवासी सागा का है परन्तु वहाँ की बोली पूरबी और कुछ रखी सी होने के कारण, इस ग्रन्थ में, वही हिन्दी भाषा लिखी है कि जो दिल्ली आगरा सहारनपुर अम्बाला वगैरेहों के हिन्दू लोग में बोली जाती है और पंजाब के स्त्री-पुरुषों को भी, समझना कठिन नहीं है। इस ग्रन्थ में जिस दश जीर जिस भाषा के स्त्री पुरुषों की बातचीत हुई है, वह उसी की बोली और ढंग में लिखी है जो कोई जसा बोला, उमी की बोली मरी हुई है।”

उपास की प्रधान नायिका भाग्यवती और उसके परिवार वाले हरिद्वार के कुम्भ मठ में सम्मिलित होने के लिए रवाना हुए उस समय के कुछ वणन पठनीय हैं जिनके पारायण द्वारा तत्कालीन जनसाधारण के लोक जीवन का एक अविद्वल चित्र साभ्यत हो जाता है। १९वीं शती के चतुर्थ चरण में हिन्दी प्रदेश की जनता के जीवन के सांस्कृतिक पक्ष पर भी उनमें पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनमें कुम्भ मठों एवं तीर्थ यात्राओं का जसा यथातथ्य वणन पाया जाता है वसा विरल ही आज उपास में मिल पाएगा।

१ नूतन शब्दचारी (पं० बालकृष्ण मट्ट) परिच्छेद ८, पृ० ३८

२ ‘भाग्यवती’ (पं० थडाराम फिल्लौरी) (मूल लेखक की भूमिका मत् १९६० ई० के सम्स्करण) स पृ० ३४ [सं०—विश्वयन्त्र मल्ल, प्र० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-१]

श्री राधाकृष्णदास का 'नि सहाय हिन्दू' नामक उप-यास, वस्तुतः अपना देशकालगत परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए एक पर्याप्त नई शैली का उप-यास जान पड़ता है। विशेषतया इस उप-यास में वणनो का प्रकार, पुरातन वणन प्रभावा से, सवथा स्वतन्त्र एवं मौलिक भी जान पड़ता है। वणन ही उप-यास है—इस तत्त्व को श्री राधाकृष्णदास ने अपनी सहज उप-यासकार की प्रतिभा से, केवल सोलह वय की अवस्था में ही समझ लिया था,—यह एक और भी विस्मयजनक तथ्य है। 'नि सहाय हिन्दू' के वणन एकदम तटस्थ दार्शनिक कलाकार की दृष्टि से अवलोकित, आसपास के परिवेश के यथातथ्य चित्रण हैं—अपनी अल्पायु में भी लेखक ने क्या वणनीय है क्या नहीं—इसका पर्याप्त ध्यान रखा है। इसका उदाहरण के रूप में यहाँ केवल दो एक वणन ही उदाहृत किए जा रहे हैं —

'निदान यह कि इस समय विचित्र शोभा थी। कहीं डोगिया जाती थी जिनमें से तरह-तरह की बोलियाँ आती थी। कहीं लोग नहा रहे थे। कहीं तस्ती पर बठ कर सध्या कर रहे थे। कहीं बुरजा पर शास्त्राथ हो रहे थे। श्री गंगाजी हिल रही थी, जिससे कि लोग का जी खिच जाता था। इस समय, गंगा तट पर, विचित्र समा दिखाई देता था, जिसका आनन्द देखने से ही होता था। ठण्डी हवा से जल हिलता हुआ मूष की लाल घाम में गले हुए सोने की धारा सा बहता था। उस पर जो रंग बिरंगे पक्षी बड़े थे सुवर्ग नदी में जवाहिर से जड़े देख पड़ते थे।

दखिए सध्या कसी पूख रही है। मूय की परछाही मेदो पर पड़ती है और उसकी ज्याति पृथ्वी पर कसी साहावनी मालूम होती है मानो मनुष्य पृथ्वी समी सोने की है।' ऊँच ऊँचे मकान अपना ठाठ बाट अलग दिखाने लगे थे। चटाइयाँ और छाते जो कि घाम से बचने के लिए धाटो पर लगे थे कुछ लडके कबडडी खेल रहे हैं कुछ आकाश ही को देख रहे हैं—जहाँ देखा कि कोई गुडडी कटी चट दौड़े—जो गुडडी गंगाजी में गिरी तो आप भी वही मौजूद।'

१ मेरी अवस्था अभी केवल सोलह वय की है और उस अवस्था के लोग बालक कह जाते हैं। इसीलिए यह लेख भी बालक है और इसी से इसमें बहुत सी भूल हैं। इससे मैं निवेदन करता हूँ कि इस बालक की धृष्टता को क्षमा करेंगे।—राधाकृष्णदास (निवेदन नामक प्रस्तावना से) 'नि सहाय हिन्दू'—एक वियोगात् उप-यास। (स्व० बाबू हरिश्चन्द्र की आज्ञानुसार श्री राधाकृष्णदास लिखित) (प्रथम प्रकाशन १८८१ ई०) (बनारस विक्टोरिया प्रेम सन १८९० ई० में प्रकाशित। [(बिरजीव पुस्तकालय आगरा के सौजन्य से प्राप्त) (प्रस्तुत संस्करण १८९० ई०)।]

२ वही, श्री राधाकृष्णदास पृ० ३२

उपयुक्त, वणन कला-समृद्धि से ओतप्रोत दोना उत्कृष्ट वणना को देख कर आश्चर्य होता है कि उन्नीसवीं शती के चतुर्थ चरण में पहुँचने पहुँचते, हिन्दी की उपन्यास विन्यास कला ने, वणनात्मक कला में किन्ती मनोरम उच्चस्तरता प्राप्त करली थी। श्री राधाकृष्णदास ने अपनी किशारावस्था में ही इतनी प्रौढ़ वणनात्मक औपन्यासिक कृति को रूपायित कर डाला यह और भी विस्मयजनक तथ्य है। गंगाजी के साध्य लालिमा जल में, साध्य-गगन में उड़ने वाले तथा तटवर्ती रंग विरग पशिया के प्रतिबिम्ब को गले हुए सुवर्ण की धारा, तथा उसमें मीना कला में जड़े हुए मणि माणिक्य द्वारा चित्रित स्वर्णाभूषण-कला में उपमित किया गया है। प्रतिभा शाली उपन्यासकार ने, अपनी वणनगत चित्र विचित्र मनोगत छवि को शब्दों में किस वणन-कलात्मक मूक वृत्त से उतारा है, यह देख कर, सचमुच चकित रह जाना पड़ना है। गंगा के घाटा की सध्या का ऐसा हृदयग्राही एवं कलाभिराम चित्रमय वणन तो परवर्ती उपन्यासों में भी दुर्लभ ही है।

यह कहा ही जा चुका है कि व्यक्तियों की भाँति ही साहित्यिक कृतियों का भी अपना-अपना भाग्य होता है। इस दृष्टि से 'परीक्षागुरु' (सन् १८८२ ई०) भी एक विशिष्ट आधुनिक हिन्दी उपन्यास माना जाएगा। इस उपन्यास में, मौलिक उपन्यास कला की दृष्टि से बड़ी कमी केवल यही है कि उसके भाषा और भाव, सहज न होकर कृत्रिम ढाँचे में ढाले हुए हैं। हर सजनात्मक कला अपने सहज नैसर्गिक विकास में ही खिलती है। इस दृष्टि से 'परीक्षागुरु' का कलात्मक सौन्दर्य अथवा लालित्य कृत्रिम अंग्रेजी रगड़ग के कारण म्लान अथवा आदृत हो गया है। भारतभूमि पर पाश्चात्य प्रभाव के अभिमान के, उस पर आक्रमण चिह्न अवशिष्ट है। तो भी यह औपन्यासिक रचना, भारतीय है और आग्ल वेशभूषा के हाते हुए भी वह वस्तुतः 'विदेशी' नहीं बन पाई है।

लोक-जीवन के जिस खण्ड का चित्रण 'परीक्षागुरु' में किया गया है वह दिल्ली और काशी नगरों की गृहभूमि पर प्रसरित है। बिगड़े हुए रईसों की चालढाल, चाटुकारमित्रों के हथकण्डा तथा सच्चे मित्रों के चरित्र आदि नतिक शिष्टात्मक अन्तर्चेतनाओं पर आयोजित, इस उपन्यास का वणनात्मक पक्ष भी पर्याप्त सुस्पष्ट है। केवल उसका कथोपकथन पक्ष ही, उसकी मुख्य निबलना है। इस तथ्य से यह भी सिद्ध होता है कि उपन्यास मूलतः तथ्य काव्य या कथा काव्य है—तथ्य काव्य या कथापकथन विधा नहीं। वणन ही उसकी मुख्य प्रकृति है—कथोपकथन नहीं। यदि कथोपकथन अतिवाय हावे ही, तो लेखक का उस अपने निजी दशकाल के परिवेश के चौखटे में, कुछ इस ढब में बिठाना होगा कि जिसमें वह सम्भाषण भी वणनों के सहज तान-बाने के अंगरूप ही जान पड़े। जो भाँति ही, परीक्षागुरु का यह वाक्य विन्यासात्मक एवं कथोपकथन-परक अंग्रेजी सृष्टि इसलिए भी क्षम्य है कि उस काल में उपन्यास रचना में नवीन प्रयोगों का उत्साह था और नापागत बहिष्कृत

पर उतना अकुश नहीं था। किंतु हिंदी उप-यास के सीमाग्य से, उस समय के लेखक वग म से किसी ने भी 'परीक्षागुरु'-कार का अनुकरण नहीं किया।

'परीक्षागुरु' उप-यास का उद्देश्य, वस्तुतः अपने समय के विगडे हुए या विगडते हुए रईसा के प्रमादी एवं विलासी जीवन का प्रतिबिम्ब दर्साना ही था, जिसमें लेखक को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। किंतु उसकी यह सफलता भी, उस वणन कला पर ही आधारित है जिसके 'परीक्षागुरु' में पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं। ऐसा ही एक वणन है, लाला मदनमोहन के अपने विहार उपवन, दिलपसंद का। इसमें बाग की कलात्मक शोभा एवं सजावट प्रेक्षणीय है—जो निश्चय ही लेखक की सुरधि एवं कला अनुराग की परिचायक है। साथ ही उसमें रईसा के समय बिताने के साधनों आदि का उल्लेख करके वणन को सजीव एवं यथातथ्य भी बना दिया गया है —

निदान लाला मदनमोहन इन बगिया का देखभाल कर वहाँ से सीधे हस्ताजान के तबेल में गए। और वहाँ तीन घाड़े पाँच हजा पाच सौ रुपये में लने करके, वहाँ से सीधे अपने बाग दिलपसंद को चले गए। यह बाग स-जीमण्डी से बाग बढ कर नहर की पटडी के किनारे पर था। इसकी रविशा के दोन तरफ, रेलिंग की बतार सुहावनी बगारियो में रंग रंग के फूला की बहार कही हरी हरी घास का सुहावना पश कही घनघार वृक्षा की गहरी छाया कही बनावट के भरने और बट कही पेड और टट्टियो पर बला की लपट। एक तरफ का सगमरमर के एक कुण्ड में तरह तरह के अलचर अपना रंग ढग दिखला रहे थे। बाग के बीच में एक बडा कमरा हवादार बहुत अच्छा बना हुआ था। उसके चारो तरफ सगमरमर के साईबान के गिद फजारा की बतार लगी थी। जिस समय के फवारे छूटते थे जेठ वैसाख को सावन मादो समझ कर मार नाच उठते थे।

बीच के कमर में रेशमी गलीच की उम्दा बिद्यायत था जोर बडिया साटन की मढी हुई सुनहरी कोच कुसिया जगह जगह मौके से रखी थी। दीवार के सहारे सगमरमर की मेजा पर बडे बडे आठ काब आमने सामने लग हुए थे। छत में बहुत मूल्य झाड लटक रहे थे। गोल बजई और चौखट्टी मजा पर पत्ता के गुलन्त हाथा दात घटन जाबनूस चीनी सीप और काच बगरहके उम्मा उम्मा खिलौने मिसल से रखे थे। चादी की रकबिया में इलायची सुपारी चुनी हुई थी। समय तारीख बार महीना बताने की घडी हारमोनियम बाजा जटा खेलने की मज अलबम सरवीन सितार और शतरज बगरे मन बहाने वा सत्र सामान अपने अपने ठिकाने पर रखा हुआ था। दीवारो पर गच के पत्र पत्ता का सादा काम अफ्रक की चमक से, चाँदी, की डली के समान चमक रहा था। इमी मकान के लिए हजारों रुपया का सामान, हर महीन नया गरीदा जाता था।<sup>१</sup>

१ परीक्षागुरु (लाला भ्रानिवासदाम) प्रकरण ४ पृष्ठ ३३ ३४ पान प्रकाशन चावडी बाजार दिल्ली, (१९५८ ई० का संस्करण)।

'परीक्षागुरु' के पश्चात्, रचे गए, पुराने प्रेमचन्द-पूर्व उपन्यास में, श्री रत्नचन्द प्लीडर-कृत 'नूतन चरित्र' (सन् १८८३ ई०) भी अनेक विशिष्टताओं के कारण उल्लेख्य है। कुतूहलपूर्ण घटनाओं के आधार पर आयोजित इस उपन्यास का प्रकाशन, श्री दक्खीनन्दन खत्री-कृत 'चन्द्रकाता' से केवल तीन वर्ष पूर्व हुआ था। इसीलिए उसकी कुछ विशिष्टताओं पर थोड़ा ध्यान दिया जाना उचित होगा। उपन्यास का कथानक दा प्रेमी युग्मों की रामानी कथा पर आधारित है, जिसमें 'चन्द्रकाता' जस तिलिस्मी ऐय्यारी उपन्यासों की सी झलक मिलती है। पहला युग्म है विवेकराम और चित्रकला का—दूसरा चन्द्रराम और चित्रवल्लभा का। उपन्यास की अधिकांश घटनाएँ चमत्कारपूर्ण हैं एवं आधुनिक समीपात्मक भाषा में, वे 'अस्वभाविक' भी हैं। जिस गाड़ी पर विवेकराम और चित्रकला सवार होकर दिल्ली के लिए प्रस्थान कर रहे हैं—वह सयोगवश विपरीत दिशा से आने वाली एक अन्य गाड़ी से टकरा जाती है। गाड़ी उलट गई थी, किन्तु इतनी बड़ी ट्रेन-दुर्घटना में सिवाय विवेकराम के और किसी को चोट ही नहीं आई और गाड़ी यथा-काम्यत्रम फिर थोड़ी देर में दिल्ली के लिए रवाना हो गई।

उपन्यास में तिलिस्मी उपन्यासों जस रोमानी वातावरण का सूत्रपात करने वाली एक और घटना है चन्द्रराम की। किसी अनान महिला का फोटो देख कर तत्काल उसकी ओर आसक्ति, तथा उसके फलस्वरूप रणशय्या पर पड़ जाने की बात माना पौराणिक कथाओं अथवा काव्य-कथानकों से ले ली गई है। इसी भाँति जब चित्रवल्लभा सयोगवश चन्द्रराम को देखती है तो वह तत्काल ही सुधबुध भूल कर नाचने लगती है और देखत देखत हवा की तरह जमीन में गायब हो जाती है। इसी भाँति तिलिस्मी उपन्यासों की शैली पर ही, प्रस्तुत उपन्यास में, पात्रों के वर्णन करने और उन्हें हास में लाने का उपाय, आज एकदम अस्वभाविक से लग सकता है। उपन्यास में आई हुई घटनाओं में भय बदलने और दम मानि अपनी कायकिल्बि का रास्ता निकालने जस तिलिस्मी उपन्यासों के सभी उपायों का समावेश किया गया है। घटनाओं को रहस्यात्मक बनाने का पर्याप्त प्रयत्न किया गया है। उपन्यास में तिलिस्मी ढंग की इमारतों, मकानों, सुरंगों आदि का वर्णन भी आया है। सब मिला कर लखनऊ का प्रधान उद्देश्य पाठकों का कुतूहलवधन एवं मनोरंजन ही जान पड़ता है किन्तु दुर्भाग्यवश उसका पास श्री दक्खीनन्दन खत्री जसी जन्मजात वर्णन प्रतिभा नहीं थी। फिर भी यह विस्मृत एवं अब दुर्लभ आद्युक्ति, एक प्रकार से, प्रेमचन्द पूर्व काल की हिन्दी उपन्यास विधा में, तिलिस्मी-ऐय्यारी शैली का सूत्रपात करने वाली, मानी जा सकती है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य में सर्वप्रथम ऐतिहासिक उपन्यास रचना की ओर ध्यान देने का श्रेय श्री राधाचरण गास्वामी का है। गास्वामी का जन्म १८७८ में, भारत-भारत

नामक मासिक पत्र भी प्रकाशित करते थे। उनके अधिकांश ऐतिहासिक उप-यास 'भारतेन्दु' में ही धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुए थे। दुर्भाग्यवश ये पृथक् पुस्तक रूप में, पुनर्मुद्रित नहीं हुए। पत्रिका की फाइलें मात्र उनके स्फुट अंश बिखरे पड़े हैं और दुर्भाग्यवश अभी तक, जिन ऐतिहासिक उप-यासों का विवरण मिल पाया है, व सभी, अपूर्ण ही पाये जाते हैं। य सभी उप-यास, प्रायः सन् १८५७ ई० के स्वाधीनता संग्राम एवं तत्पश्चात् की उत्तर भारतीय राजनैतिक परिस्थितियों के उलटपेरे का लेकर नियोजित किए गए थे। उनका नाम थे— 'विधवा विपत्ति' (१८८३ ई०) 'नव-यास कल्पलता बाल विधवा', 'वीरबाला सवनाश' एवं 'सौदामिनी' (१८८४ ई०)। श्री गोस्वामीजी की कृतियाँ इसलिए उल्लेख्य हैं कि वे एक प्रकार से प्रेमचन्द पूर्व कालीन हिन्दी उप-यास-साहित्य में ऐतिहासिक उप-यासों की सूत्रपात करने वाली कही जा सकती हैं। श्री राधाचरणजी गास्वामी, इस माति उस काल के अग्र्य ऐतिहासिक उप-यासकार, यथा श्री गंगाप्रसाद गुप्त श्री जयरामदास गुप्त, मुन्शी दबीप्रसाद, प० बलदेवप्रसाद मिश्र, डा० बलभद्रसिंह आदि के पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं।

ठाकुर जगमोहनसिंह का उप-यास 'श्यामा-स्वप्न' एक 'वायात्मक' उप-यास कहा जा सकता है। इसका प्रकृति-वर्णन तो जान पड़ता है समग्र हिन्दी उप-यास साहित्य में सद्व्यक्त हो बजोड़ रह गया। यह एक भावप्रधान एवं काव्य प्रधान उप-यास है। इसका वर्णन भी पाठकों को काव्य जैसा आनन्द प्रदान करता है। वह प्रसिद्ध वर्णन चित्र जिसे आचार्य शुक्लजी ने अपने हिन्दी साहित्य के इतिहास में, अंशतः दिया है वस्तुतः वर्णनात्मक कला का एक उत्कृष्ट नमूना ही है —

जहाँ की निष्करणों के तीर, वानीर से घिरे मदकल-कूजित विहगमों से शोभित है—जिनके मूल में स्वच्छ और शीतल जलधारा बहती है—और जिनके किनारे के श्याम, जम्बू के निकुञ्ज फलभार से नमित जनाते हैं नमदा के दक्षिण में दण्डकारण्य का एक देश दक्षिण काशल नाम से प्रसिद्ध है मैं कहाँ तक इस सुन्दर देश का वर्णन करूँ ? कहाँ विहगों का रार कही निष्कूजित निकुञ्जों के शोर कही नाचते हुए मोर कही विचित्र तमचौर कही बड़े बड़े भीम भयानक आकार अजगर, सूय की किरणों में घाम ल रहे हैं।<sup>१</sup>

प्रेमचन्द पूर्व काल की ये सभी आद्य स्मरणीय औप-यासिक कृतियाँ प्रायः आधुनिक आलोचक वर्ग का ध्यान, बहुत कम आकर्षित कर पाती हैं। कारण कि उनमें से जनेक तो दुष्प्राप्य हैं और जो समुपलब्ध भी हैं उनमें उप-यास का आधुनिक तकनीक नहीं है। फिर भी वर्णन-वर्णन में वे सभी धनी हैं समृद्ध हैं।

१ 'श्यामा स्वप्न' (डा० जगमोहनसिंह) पृष्ठ ४०। प्रथम प्रकाशन १८८५ ई०। (स० डा० श्रीकृष्णलाल, प्र० नामरी प्रचारिणी सभा, काशी १९५४ ई०)

उपन्यास के इस पक्ष पर ध्यान न देने के कारण ही, वस्तुतः प्रेमचंद पूव-नाल के उपन्यास, अध्ययन-अनुसंधान से पर की चीज होत जाते हैं।

श्री देवकीनंदन खत्री रचित 'चंद्रकांता' (१८८६-८७ ई०) को स्व० डा० श्रीकृष्णलाल ने हिंदी का 'प्रथम साहित्यिक उपन्यास' घोषित किया था। उनकी इस प्रतिक्रिया का आधार संभवतः आचार्य शुक्ल द्वारा अपने इतिहास में लिखित, निम्न वाक्य रहा होगा —

'यहां पर यह कह देना आवश्यक है कि इन उपन्यासों (श्री देवकीनंदन खत्री रचित उपन्यास साहित्य) का लक्ष्य, केवल घटना बचिन्व रहा—रस विचार, भाव विभूति या चरित्र चित्रण नहीं। य वास्तव में घटना प्रधान कथानक या किस्से हैं जिनमें जीवन के विविध पक्षों के चित्रण का कोई प्रयत्न नहीं। इससे यह साहित्य काटि में नहीं आता।'

फिर भी आगे चल कर स्वयं श्री शुक्लजी ने 'चंद्रकांता' के लेखक की अभूत-पूव लोकप्रियता, और हिंदी उपन्यास के प्रति जनसाधारण में नया उत्साह उत्पन्न करने की क्षमता को, स्वीकार भी किया है। जिस भांति कितने ही उद्भू जीवी लोग ने केवल 'चंद्रकांता' पढ़ने के लिये हिंदी सीखी इस बात का भी उन्होंने उल्लेख किया है। उन्होंने यह भी लिखा है कि कितने ही नवयुवक, इसे पढ़ कर हिंदी के लेखक हुए।'

श्री अयाध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध का कथन भी इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि इस उपन्यास से भी हिंदी भाषा के प्रचार में कम सहायता नहीं मिली। और उससे उपन्यास क्षेत्र में युगांतर उपस्थित हो गया।'

चंद्रकांता की इस चामत्कारिक सफलता के मूल में, वस्तुतः उसकी विशिष्ट वणनात्मक शैली ही थी। इस शैली की सफलता का रहस्य वस्तुतः जीवन का यथार्थ चित्रण नहीं बरन कल्पित विश्व का, एक प्रतीयमान चित्रण है। इसके लिये उन्होंने स्थान वणन और भौगोलिक परिवेश का क्षेत्र 'काशी' चुनकर नवगढ़ अचल की पृष्ठभूमि में रखा है और वास्तविक स्थानों के साथ भी, कल्पित कथा प्रसंगा का, अपूर्व सरस शैली में समन्वित कर देने का विलक्षण करिश्मा भी कर दिखाया है।

श्री पद्मलाल पुनालाल वरुण ने अपने ग्रन्थ 'हिंदी कथा साहित्य' में 'आधुनिक कथा साहित्य का आदिकाल' शीर्षक प्रसंग में, इसी सम्बन्ध में बड़ा सरस

१२ हिंदी साहित्य का इतिहास आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ४६८-६९

३ हिंदी भाषा और साहित्य का विकास (श्री अयाध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, भाग २, गद्य मीमांसा पृष्ठ ५२४ (किताब महल, दिल्ली, १९५८ ई०)।



साहित्य समीक्षा की है। उसमें श्री देवकीन दन सत्री की वणनात्मक कला का मानो सम्पूर्ण परिचय ही आ गया है —

चुनार कहाँ है ? गया और रोहतासगढ़ बिधर है ? इनकी भौगोलिक स्थिति और ऐतिहासिक विवरण से मुझ काई प्रयोजन नहीं था। मैं तो यह स्वीकार कर चुका था कि चुनारसे थोड़ी ही दूर, लम्बा चौड़ा घना जंगल है—वह सैंकड़ों कोस चला गया है। उसमें बड़े बड़े पहाड़ घाटियाँ दरें और खाह पहाड़ों पर टूट पड़े आली शान किले हैं। व किल अपन चारा तरफ के ऊँच पहाड़ों के बीच में छिप और दब हुए हैं कि एकाएक किसी का वहाँ पहुँचना जोर पता लगाना मुश्किल है। उहीं स्थानों में, पहाड़ियों के बीच, जातीशान इमारतें बनी हुई हैं। ये सभी इमारतें रमणीय स्थानों में बनी हुई हैं। काई-कोई स्थान चारा तरफ से चार खूबसूरत पहाड़ियाँ स घिरा हुआ है। वहाँ की प्राकृतिक शाना दशनीय है। उसमें फूलों और फलों के पेड़ हैं। बीच में बड़े बड़े तीन झण्डे लहरा रहे हैं। चारा तरफ पहाड़ों पर स गिरा हुआ जल उन झरना में तीव्र गति से बहता है। एक पहाड़ी के नीचे पहुँच कर वे तीना चरण मिल जाते हैं और एक गढ़े में गिर कर न मालूम कहाँ चले जाते हैं।

मैं ऐसे भवना में रह चुका हूँ जोर चन्द्रकांता सनति के पात्रों के साथ उन तरणियों से भी परिचित हो चुका हूँ जिन्की सी दय छटा से वे मय भवन सदब प्रदीप्त रहते थे। रात के समय में भी रोहतासगढ़ के जंगलों में घूम चुका हूँ। रोहतासगढ़ के जंगल साधारण नहीं थे। वे बड़े घन थे। उनमें शीसम, सासू, साल आदि बड़े बड़े पेड़ों की घनी छाया से दिन में भी ज घकार बना रहता था कि उसमें भूले हुए आदमियों को मुश्किल से छुटकारा मिलता था। उसमें हजारों आदमी इस तरह छिप सकते कि हजार सिर पटकने और खोजने पर भी उनका पता लगाना असम्भव था। मैं विचित्र सुरगा के भीतर प्रविष्ट हो चुका हूँ और तिलिस्म के भीतर जा चुका हूँ और उस तोड़ चुका हूँ।<sup>१</sup>

श्री देवीप्रसाद शमा उपाध्याय रचित सुंदर सरोजिनी (सन १८९३ ई०) के बारे में तत्कालीन सामयिक पत्र पत्रिकाओं में पयाप्त प्रशंसात्मक समीक्षाएँ निकली थीं। यथा कलकत्ता के हिंदा बगवाशों नामक दैनिक की जून १८९३ ई० की सम्मति 'सुंदर सरोजिनी अपनी चाल डाल की हिंदा की पहली ही पुस्तक है। भारत जीवन काशी की २ जून १८९४ की सम्मति में सुंदर सरोजिनी में, घटनाओं का विचित्र वणन है। उप-यास रसीला है तथा हिंदास्तान की १६ दिसम्बर १८९३

१ हिंदा कथा साहित्य (श्री पदुमलाल पुनालाल बरुशी) (प्र० हिंदी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय बम्बई-८), अध्याय ३—भारतीय कथा साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ ३३ ३४

की सम्मति के अनुसार— यह उपन्यास आश्चर्य घटनावलियों के वणन से पूरित, ऐसी सुन्दर रीति पर लिखा गया है कि जिसके पढ़ने से चित्त को अधिक आनन्द मिलता है ।<sup>१</sup>

‘सुन्दर सरोजिनी’ उपन्यास का नायक ‘सुन्दर’ है और नायिका सरोजिनी । उपन्यास में भारतीय कथा साहित्य की पुरानी पद्धति, अर्थात् स्वप्न दशन द्वारा परस्पर अनुरक्ति का घटना क्रम का प्रेरक तत्व बनाया गया है और बलकत्ते से लड़ाकू की सागर यात्रा आदि के रोचक एवं विलक्षण वणनो के कारण, उपन्यास की सरसता में अभिवृद्धि हुई है । यह हिन्दी का पहला उपन्यास है, जिसमें सागर का वास्तुव दृश्य, इतनी सुन्दर शैली में वणनबद्ध किया गया है—(विशिष्ट वणन के लिए देखिये परिशिष्ट भाग) ।

प्रेमचन्द पूर्व हिन्दी उपन्यास साहित्य के प्रस्तुत सक्षिप्त विवरण में, श्री भुवनेश्वर मिश्र द्वारा लिखित दा ऐसे उपन्यासों का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जिनमें ग्रामीण समस्याओं, ग्राम्य जीवन जमींदारों द्वारा भूमिहीन कृषकों पर अत्याचार तथा जाचलिक परिवेश को कथा की पृष्ठभूमि बनाया गया है । इनमें हम, आद्य आचलिक उपन्यास रचना के प्रारम्भिक प्रयास के दशन होते हैं । किसी रूप में यथाथवादी उपन्यास रचना का भी यही संश्लेषण माना जा सकता है । श्री भुवनेश्वर मिश्र द्वारा ‘दा घराऊ घटना’ की रचना सन् १८६३ ई० में और बलकत्त भूमिहार’ की रचना सन् १८६६ ई० में हुई । याना ही विहार की पृष्ठभूमि पर लिख गए हैं । बलकत्त भूमिहार उपन्यास का नायक बलकत्त, भूमिहीन कृषक है । हिन्दी उपन्यास में पहली बार यहाँ जमींदार कृषकों से सघप भी दिखाया गया है । दोनों ही उपन्यास वणन बहुल हैं ।

ऐतिहासिक उपन्यासों का जायिभाव प्रेमचन्द पूर्वकाल में श्री राधाचरण गोस्वामी द्वारा किया ही जा चुका था । स्वयं श्री ‘भारत-दुर्ग’ में हम्मीर हठ नामक एक उपन्यास लिखा था जो सम्पूर्ण नहीं हो पाया । फिर भी उस काल के सर्वप्रथम समथ उपन्यासकार बाबू गंगाप्रसाद गुप्त ही हुए जिनके सर्वप्रथम उपन्यास कुवरीसिंह सेनापति में एक सफन एवं समथ ऐतिहासिक उपन्यास के लक्षण पाए जाते हैं । [ग्रन्थ का दुर्लभ (प्रथम संस्करण) चिरजीव पुस्तकालय, अलनगज, आगरा में सुरक्षित है । प्रस्तुत अध्ययन में उसी का उपयोग किया गया है ।] उपन्यास, वणन प्रदान इतिरुक्त कथा की एक मौलिक शैली का प्रवर्तन करता है । [परिशिष्ट

१ ‘सुन्दर सरोजिनी’ (प० दवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय रामनगर (बम्पारन) निवासी) (प्रथम प्रकाशन १८६३ ई० १) (प्रस्तावना भाग से) लखनऊ द्वारा ही काशी में मुद्रित एवं प्रकाशित । (चिरजीव पुस्तकालय, आगरा के सौत्रय से प्राप्त एक दुर्लभ संस्करण स ।)

भाग में, बलवन्त भूमिहार (पंडित भुवनश्वर मिश्र) तथा 'कुजरसिंह सनापति' (बाबू गंगाप्रसाद मुक्त) के कुछ जलमय एवं वर्णन-कला की दृष्टि से विनोद उल्लेख्य वर्णन भी अवलोकनीय हैं।]

प्रेमचंद पूर्वकाल के एक अत्यंत महत्वपूर्ण एवं वर्णनकला में उपन्यासकार स्व० श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' की सर्वप्रथम कलाभिराम औपन्यासिक कृति का उल्लेख किया जाना भी महा अत्यंत आवश्यक होगा क्योंकि उसके द्वारा, हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में, प्राज्ञल बाणमयी भाषा में, उपन्यास रचना की एक भाव प्रधान प्रणाली को और अधिक सस्कारयुक्त एवं समदृशालिनी बनाया गया है। एक प्रकार से यह भा बहा जा सकता है कि श्री 'हरिऔध' रचित टेठ हिन्दी का ठाठ (१८६६ ई०) हिन्दी का सर्वप्रथम साहित्यिक वर्णन कलाभिराम शली में रचित श्रेष्ठ उपन्यास है। इस उपन्यास की, सुप्रसिद्ध हिन्दी प्रेमी सर जाज प्रिअसन ने बड़ी प्रशंसा की थी। श्री उपाध्यायजी ने अपनी पुस्तक श्री प्रिअसन की ही समर्पित की थी— तब श्री प्रिअसन ने, श्रीजायसवाल को लिखा था कि —

मेरी इच्छा है कि और लोग भी हरिऔध के बताए हुए टेठ हिन्दी का ठाठ के स्टाइल में लिखने का उद्योग करें, और लिखें। जब मैं देखूंगा कि पुस्तकें वसी ही भाषा में लिखी जा रही हैं तो मुझे हार्दिक प्रसन्नता होगी। उससे उस भाषा का भी अच्छा हागा, जिसका कि मैं तीस वर्ष से आनंद के साथ पढ़ रहा हूँ।"

इस भांति प्रेमचंद पूर्वकालीन हिन्दी उपन्यास ने, अपनी वर्णन कलाभिराम चित्र विचित्र शलियों से रमणीय इन्द्रधनुषी छवि सम विभिन्न वर्णा मनोरंजक प्रथम शती-यात्रा सम्पूर्ण की। अपने इन १०२ वर्षों के अवतरण में, हिन्दी उपन्यास ने प्रायः सभी दिशाओं में, वर्णनात्मक प्रयाग कर लिए थे, जिनका कुछ कुछ अनुमान, उपयुक्त इतिवृत्त द्वारा शलीभांति किया जा सकता है। इस अवांतर पर पुनः एक विहंगम दृष्टिपात करने पर, इसके दो स्थल हमें सबसे अधिक दृश्यमान एवं जाज्वल्यमान जान पड़ते हैं।

सन १८०१ ई० में 'इशा' ने अपनी रानी केतकी की कहानी अथवा उदमान चरित की रचना की और सन १९०४ ई० में श्री प्रेमचंद ने अपनी प्रारम्भिक औपन्यासिक कृति 'प्रेमा का प्रणयन' किया। इस १०२ वर्षों के अवतरण की ही प्रेमचंद पूर्व युग की सजा दा गई है। एक ही अथवा उससे दो और वर्षों का अवतरण, किसी देश या जाति के जीवन में कोई बहुत बड़ा अवतरण नहीं माना जाता— विशेषतया भारत जैसे देश में—जहाँ कि हर सांस्कृतिक चेतना की धारा सहस्रावधि

वर्षों तक प्रवाहित रही हो। किन्तु कोई एक शती भी, देश या जाति के जीवन में, कमी कमी ऐसी घिरस्मरणीय हो जाती है, जिसके कारण, मानो समग्र जनजीवन का ही कामाकल्प हो जाता है। हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिवत्त के इस प्रथम उत्थान की शती पर, एक विदग्ध दृष्टि डालते ही यह तुरन्त पता चल जायगा कि यह शती, उसके समग्र इतिहास में भी, किन्तु भी महत्वपूर्ण उपलब्धियों की शती है।

इन सौ से अधिक वर्षों में, हिन्दी उपन्यास जगत् में, एक से एक निराले सेखक हुए। उन्होंने अपने अपने समय का उदमाहित करते हुए, एक से एक अनूठी कृतियों का निर्माण किया। उनमें से कुछ लेखक तो, भोर की तारिकाआ के समान अथवा 'साध्यगगन' में उदित होने वाली रक्षत्र माला की भांति, ओर भी अधिकाधिक तीव्र प्रकाश में चमक कर हम अपनी ओर आकर्षित करते रहते हैं। उनमें से हर एक की आभा एवं शोभा निराली जान पड़ती है। कुछ अपने युग के पाठकों की ही अनदित कर गये हैं। किन्तु कुछ का प्रभाव, जान पड़ता है, अभी शतियों तक दिखाई देता रहेगा।

### षष्ठम प्रकरण प्रेमचन्द काल

(१९०४ से १९३६ ई०)

हिन्दी की उपन्यास विधा के विकास एवं अम्भुत्थान की दृष्टि से प्रेमचन्द काल (सन् १९०४ ई०-१९३६ ई०) का वही महत्व माना जायगा जो मक्ति काल का, हिन्दी काग की महती प्रतिष्ठा के निर्माण में, समझा जाता है। इस काल में हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में एक से एक विदग्ध प्रतिमाशाली एवं महान् उपन्यासकारों ने पन्पाण किया, फिर भी हम इस काल को यदि श्री 'प्रेमचन्द' के नाम से ही अभिहित करते हैं तो इसका कोई कम औचित्य नहीं है। प्रेमचन्द पूर्व कालीन हिन्दी उपन्यास की प्रगति मात्रा में, प्रायः प्रत्येक नई शती एवं वृत्त प्रणाली का आविष्कार किया जा चुका था। फिर भी हिन्दी उपन्यास अथवा भारतीय उपन्यास की जिस सुनिधारित सममित एवं सोद्देश्य भाग प्रदर्शन की अपेक्षा थी, उसे श्री प्रेमचन्द के निराले एवं एकाकी व्यक्तित्व ने ही प्रदान किया।

हिन्दी उपन्यास एवं भारतीय जनसाधारण की राजनतिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक आकांक्षाओं का अत्यन्त घनिष्ठ एवं निकट सम्बन्ध, उससे आदिकाल से ही रहा है। उसका जन्म भारत में अंग्रेजी राज के घूमकेतु के उदय की, छाया में अवश्य हुआ था किन्तु हिन्दी उपन्यास ने फिर भी बाटि बाटि भारतीय जनता की स्वाधीनता वाकांक्षा की कर्पात्मक अभिव्यक्ति का धीड़ा उठाया था। हिन्दी उपन्यासकारों की एक लम्बी परम्परा ने, भारत में विदेशी शक्ति के प्रभुत्व एवं आधिपत्य को चुनौती भी दी थी और इसी भाँति उग्र विद्रोह शक्ति के कोप भाजन बनने का आगम भी स्वेच्छा से ही किया था। १० वाक्यपूर्ण अत्र,

भारत दुःहरिश्चंद्र एवं उनके कितने ही अन्य सहयोगियों ने, जानबूझ कर ही ब्रिटिश कृपा की, अवहेलना की थी। श्री प्रेमचंद ने भी स्वेच्छापूर्वक असहयोग आंदोलन की सहानुभूति में, अपनी भारी अध्यवसाय द्वारा प्राप्त की गई सरकारी नौकरी से, स्तीफा दिया था। उनका उपन्यास साहित्य इसीलिए भारतीय स्वाधीनता संग्राम की महान गाथा सा जान पड़ता है।

श्री प्रेमचंद लिखित 'सोजे वनन' नामक देशभक्तिपूर्ण कहानियों के संग्रह को तत्कालीन ब्रिटिश कलेक्टर ने भंगवा कर आग लगवा दी थी। सन १९०६ ई० की उपयुक्त घटना के पश्चात् रची गई श्री प्रेमचंद द्वारा उपन्यास माला ('सेवासदन', 'कायाकरप', 'रगभूमि', 'प्रेमाश्रम', 'कमभूमि', 'एव गोदान') यदि एक क्रम में पढ़ी जाये तो आज से सहस्राब्धि के पश्चात् भी उसके पाठक के सामने, भारतीय जनता के महान स्वाधीनता संघर्ष तथा उसके उज्ज्वलतम बलिदानों की गौरवगाथा चलचित्र के समान घूम जायगी। वस्तुतः वही, भारत की बीसवीं सदी की राजनैतिक, सामाजिक सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक भावनाओं की सच्ची इतिवृत्तात्मक कहानी रहेगी तथा उसीमें, आन वाले पाठक वर्ग को भारतीय कृपकवग एवं मध्य-वर्ग के जीवन की सच्ची वणनात्मक भाकिया भी मिल पायेंगी।

प्रेमचंद काल (१९०४-१९३६ ई०) हिंदी उपन्यास साहित्य का स्वर्ण काल माना जाता है क्योंकि इसी काल में कुछ ऐसी अपूर्व साहित्यिक गरिमा वाले उपन्यास रचे गये जिनके कारण उपन्यास विधा को प्रथम बार हिंदी साहित्य में वास्तविक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। जिस समय श्री प्रेमचंद ने हिंदी उपन्यास रचना के क्षेत्र में पदापण किया था हिंदी उपन्यास अपने लिए प्रगति के नये नये मार्गों के अन्वेषण में प्रवृत्त था। वण्यवस्तुगत एवं शैलीगत सभी प्रारम्भिक प्रयोग, हर दिशा में, किये जा चुके थे किन्तु फिर भी अभी तक कोई ऐसी अपूर्व प्रतिभा वाला समर्थ उपन्यासकार नहीं हुआ था जो हिंदी उपन्यास (अथवा गद्यमहाकाव्य) को पद्य महाकाव्य का समकक्ष महत्व दिला सकता। यह कार्य श्री प्रेमचंद ने ही किया।

हिंदी उपन्यास के सर्वेक्षण एवं समालोचन में एक विडम्बना यह भी रही है कि उसके काव्य विभाजन के सम्बन्ध में भी विविध मत प्रचलित रहे हैं। उदाहरणार्थ अधिकांश समीक्षक एवं पद्यवेक्षक भारत के दुःकाल के समय ही हिंदी उपन्यास के इतिवृत्त का प्रारम्भ करते हैं। तत्पश्चात् प्रेमचंद काल का प्रारम्भ प्रायः सन १९१६ ई० से माना जाता रहा है। सेवासदन ही बहुधा 'प्रेमचंद काल' की पहली औपन्यासिक कृति मानी जाती रही है। इस भाँति सन १९०४ से १९१६ ई० तक की समस्त औपन्यासिक कृतियाँ 'प्रेमचंद पूर्वकाल' में ही समधी जाती रही हैं। इसी कारण व प्रायः समीक्षा परम्परा में उपेक्षित ही रह जाती हैं। वस्तुतः १९०४ ई० से १९३६ ई० तक के काल के सभी उपन्यासों पर, एक साथ ही विचार किया जाना चाहिए।

तभी 'प्रेमचंद काल' के हिन्दी उपन्यास की, सभी विशिष्टताओं एवं प्रवृत्तियों को, अधिक वृत्तान्त्रिक ढंग पर जाना जा सकेगा।

'प्रेमा' उपन्यास की रचना सन् १९०४ ई० में हुई थी फिर भी सन् १९०४ ई० से श्री प्रेमचंदजी के कृतित्व का प्रारम्भ क्या नहीं माना गया? क्या हमारे अधिकांश हिन्दी उपन्यास साहित्य के पयवेत्तिक सेवासत्तन से ही श्री प्रेमचंद की उपन्यास कला का, श्रीगणेश मानत हैं। इससे भी अनेक कारण रहे हैं। श्री प्रेमचंद 'सेवासत्तन' की रचना (१९१४ ई०) से भी लगभग दस वर्ष पहले, कथा साहित्य के प्रणयन में प्रवृत्त हुए थे। ईस्ट इण्डिया कम्पनी तथा उसकी उत्तराधिकारिणी भारत की अंग्रेजी सरकार की हिन्दी विरोधिनी नीति के बारे में, विवेचन किया ही जा चुका है। सभी मध्यम वर्ग के लोग अपने बालकों को पहले उर्दू फारसी पढाते थे और तत्पश्चात् अंग्रेजी। श्री प्रेमचंद जिस परिवार और जाति में जनमे थे उसमें नौकरी का पेशा स्वाभाविक एवं परम्परागत आज्ञाविद्या के साधन के रूप में चला आता था और हिन्दी माया का पठन पाठन तो उसने अत पुर की गृहिणियां तक ही सीमित पाया जाता था। हिन्दी के जन्म प्रवेश में उर्दू फारसी को बढ़ावा देने का अभिप्राय स्पष्टतः विदेशी शासन द्वारा देश की बहुमूल्य जनता के जनमत की अवहला करना था। बलात् आरोपित उर्दू फारसी के प्रचलन-द्वारा 'एक पाय दो काज' की नीति बरती गई थी। एक ओर तो भारतवासी की जातीय अथवा राष्ट्रीय भावों का दमन तथा दूसरी ओर देश के एक वर्ग में दूसरे वर्ग के प्रति साम्प्रदायिक विद्वेष को उत्साहाना—य दोनों ही दुरभिमधि एव काम कर रही थी। इन दोनों ही का समन्वित उद्देश्य यही था कि राष्ट्रीय जागृति को गहरी चोट पहुँचायी जाये और इस भाँति, विदेशी आधिपत्य को और भी सख्त बनाया जाये।

जब श्री प्रेमचंद ने उर्दू कथा साहित्य के क्षेत्र में पदापण किया तो उनके विचारा का उस क्षेत्र में पर्याप्त स्वागत नहीं किया गया। सन् १९०४ ई० का वर्ष समग्र एशिया महाद्वीप के राष्ट्रीय स्वामिमान का स्वर्ण विहान के वर्ष था। तभी एक एशियाई जाति (जापान) ने रूस जापान महायुद्ध में, जार की रूसी सेनाओं को, रणक्षेत्र में पराजित किया था। इससे हम पुराने ऐतिहासिक दुष्प्रचार को करारी चोट पहुँची थी कि यूरोपियन लोग सदा ही, अपराजेय हाने हैं। इसके विपरीत नाट्य कद के एशियाई जापानिया ने लम्बे तगड़े यूरोपियन रूसी सैनिकों को करारी हार दी थी। उस समय रूस में जार की अत्याचारों सामंतशाही का बोलबाला था और इंग्लण्ड के राज घराने से रूस के राज घराने की रिश्तेदारी भी थी। भारत में भी इस घटना को, पर्याप्त प्रतिक्रिया हुई थी। उधर सन् १९०४ में ही भारत की अंग्रेजी सरकार ने, जिसकी राजधानी उन दिनों कलकत्ते में थी बंगालियों की राष्ट्रीय भावना का दमन करने के लिए वर्ग प्राप्त के दो टुकड़े करने की घोषणा की थी। इसके फलस्वरूप विदेशी शासन के विरुद्ध बड़ा जा असंतोष की आघो उठी थी, उसने देश के

विभिन्न मार्गों के स्वयुक्तों को भी पर्याप्त प्रभावित किया था। श्री प्रेमचंद भी उन्हीं में से एक थे। उद्गू पत्र पत्रिकाओं में उनकी प्रारम्भिक औपचारिक कृतियाँ प्रकाशित भी होने लगी थीं, किन्तु तत्कालीन उद्गू पाठकों में राष्ट्रीय चेतना का प्रायः सबंध अभाव था। इसीलिए श्री प्रेमचंद जब देशभिमानी समाज सुधारक एवं प्रगतिशील विचार धारा वाले युवक लेखक को उद्गू के साहित्य-क्षेत्रों में, कोई विशेष प्रास्ताह्य नहीं मिल पाया।

श्री प्रेमचंद को यह तथ्य समझने में देरी न लगी कि उद्गू नहीं, हिन्दी ही भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को स्थिर करने वाली समर्थ वाणी है अतः वे तभी से तीव्रता से मात्र हिन्दी में ही रचना की ओर मुड़े। 'प्रेमा' का प्रकाशन उन्होंने स्वयं ही, प्रयाग के इण्डियन प्रेस से कराया था। यह सन १९०४ ई० की बात है। 'प्रेमा' के मूकपृष्ठ पर लेखक का छद्मनाम छपा था बाबू नवाबराय बनारसी। इस सन्धु उप-यास का अभिप्राय था भारतवासियों का ध्यान बाल विधवाओं की दयनीय दशा की ओर आकर्षित करना और इससे निराकरण के रूप में विधवा विवाह का प्रतिपादन करना। यह श्री प्रेमचंद का समाज-सुधार विषयक उप-यास साहित्य में एक प्रकार से अपना प्रारम्भिक यागदान था जो उस समय के हिन्दी के अनेक समर्थ उप-यास लेखकों का अपनी ओर आकर्षित कर रहा था।

यह श्री प्रेमचंद द्वारा हिन्दी उप-यास साहित्य की इसी समाज सुधार आन्दोलन प्रवृत्ति को एक निश्चित एवं रचनात्मक मोड़ देने का साहित्यिक उद्योग था जिसने उनके अनेकानेक, जाग्रत विचारों के, सृष्टीगो उप-यासकारों को भी अपनी अभिव्यक्तियों का क्षेत्र चुन लेने के लिए आकृष्ट किया था। "वक्ति को सदाचार का केन्द्रीय माध्यम मान कर तदनुकूल समाज को, एक सामाजिक न्याय परक सामूहिक जीवन का जोर प्रवृत्त करने के उद्देश्य से ये प्रतिभाशाली उप-यासकार, पुरातन सामाजिक मान्यताओं को छिन्न भिन्न भी नहीं करना चाहते थे। प० लज्जाराम शर्मा मेहता इस उप-यासकार वर्ग का नेतृत्व कर रहे थे और उन्होंने ठीक उसी समय उप-यास रचना क्षेत्र में पदापण किया था जिस समय कि प्रेमचंद का कृष्ण अथवा किशोरा उप-यास उद्गू के जमाना' में, धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा था।

इसीलिए यहाँ श्री प्रेमचंद के कृतित्व के प्रथम चरण की लेखन प्रवृत्तियों की, तत्कालीन हिन्दी उप-यास की मुख्य धारा के साथ तुलनात्मक अनुमिति भी आवश्यक जान पड़ती है। उसके बिना उनकी विलक्षण वणनात्मक गरिमा के रहस्य-भूत से हमें वंचित ही रहना पड़ेगा। प० लज्जाराम के उप-यास साहित्य पर एक विह्वल दृष्टि डालने पर पता चलेगा कि एक प्रतिभाशाली उप-यासकार को पुरातन परम्पराओं की रक्षा करते हुए सत्यचरणगत आदर्शवाद की सामूहिक रूप से प्राण प्रतिष्ठा करने के उद्योग में, कितना महान अघ्यवसाय करना पड़ता है। फिर भी

श्री मेहता, हिंदी पाठक-वर्ग में, अपने उपन्यासों के लिए, तीव्र जिज्ञासा एवं जाकपण उत्पन्न करने में आजीवन कृतकाय न हो पाये। श्री 'प्रेमचंद' न भारतीय समाज की समस्याओं को पहली बार यथाथवादी दृष्टिकोण से आँका और तब बहुत सोच विचार कर उ होने अपनी लेखनी उठाई। उनके उपन्यासों ने इस भाँति हिंदी उपन्यास की धारा को, नवयुग के विशाल शस्य श्यामल अवन में लाकर, विरकाल के गत्यवराध से, उमुक्त कर दिया।

'श्री प्रेमचंद' एवं प० लज्जाराम मेहता के उपन्यास साहित्य के तुलनात्मक पर्यवेक्षण से अनेक रोचक एवं महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान में आएँगे। श्री मेहता के 'स्वप्न व रमा और परन व लक्ष्मी' (१८९९ ई०) 'हिंदू गृहस्थ' (१९०२ ई०) 'आदश दम्पति' (१९०४ ई०) 'सुशीला विधवा' (१९०७ ई०) तथा 'आदश हिंदू' (१९१४-१५) नामक सभी उपन्यासों का प्रतिपाद्य एवं उनकी वर्णनात्मक वण्यवस्तु का क्षेत्र, वही समाज है जिसको श्री 'प्रेमचंद' ने अपने प्रारम्भिक उपन्यासों में वर्णित किया है। (उद्धृ म लिखी गई) उनकी सबप्रथम कृति 'कृष्ण' या 'किशना' (१८९९ ई०) के पश्चात् (हिंदी में प्रकाशित) 'प्रेमा' (१९०४) 'वरदान' (१९०५) 'ठठी रानी' (१९०६), तथा 'सेवा सदन' (१९१४) सभी का वर्णनात्मक क्षेत्र एवं आदश प० मेहता के ही समान है। किंतु जब कि प० मेहता की कृतियों को लोग आज भुला चुके हैं, प्रेमचंद की कृतियों को, पाठक आज भी चाव से पढ़ते हैं।

प० लज्जाराम शर्मा मेहता ने अपने 'आदश दम्पति' (१९०४ ई०) नामक उपन्यास की प्रस्तावना में अपने उपन्यास लेखन सम्बन्धी दृष्टिकोण को निम्न शब्दों में व्यक्त किया था—

'काता सम्मिन्न शासन धर्म की अवधि के भीतर, मनुष्य का आनंद देकर, आमोद प्रमोद क ब्याज से चरित्र शासन की शिक्षा देने वाले—मैंने अब तक जितने उपन्यास लिखे हैं वे सभी इसी उद्देश्य से लिखे हैं।'

वस्तुतः आदश दम्पति हिंदी के आद्य उपन्यास साहित्य में विशेष महत्त्व रखता है क्योंकि उपन्यास में आए हुए वर्णन, वर्णनात्मक कला की दृष्टि से उच्च कोटि के हैं।

श्री प्रेमचंद के प्रारम्भिक उपन्यासों का उद्देश्यगत स्वर भी श्री मेहता के विचारों के ही अनुरूप जान पड़ता है। श्री मेहता ने अपने उपन्यास साहित्य में केवल सन्तुष्टा सदमावना सदाशय स्थापित करके ही आत्मसंतोष कर लिया था। किंतु श्री प्रेमचंद ने केवल इतना करके, अपने कर्तव्य की इतिथी नहीं मानी थी। 'प्रेमा और वरदान' में उन्होंने भारतीय सती नारी के पुरातन आश का पर्याप्त

१ 'आदश दम्पति' (प० लज्जाराम शर्मा मेहता), प्रथम प्रकाशन १९०४ ई० (श्री वैदकेश्वर शार्यालय, कालवादेवी, बम्बई)।



निर्वाह किया है। फिर भी श्री मेहता द्वारा प्रतिपादित शास्त्र धर्म की अवधि को, वे पूणतया मानने के हामी कभी भी न हो पाये। श्री प्रेमचन्द जैसे एक नवीन लेखक को, जिसने कि प्रारम्भ में हिन्दी-लेखन की क्षमता एवं सफलता में तनिक सदिग्ध रहने के कारण सकौचवश पहले अपनी लेखनी, उर्दू में लिखने में प्रवृत्त की, दो परस्पर विरोधी वगनात्मक उपन्यासिक प्रवृत्तियों के बीच सघर्ष करते हुए उपन्यास रचना में अवतीर्ण होना पड़ा था। एक ओर, उन्हें अपने पूर्ववर्ती लोकप्रिय एवं वरिष्ठ उपन्यासकार, प० किशोरीलाल गोस्वामी की उपयुक्त आकषक कृतियों के रोमानी तिलिस्मी ऐय्यारी एवं ईरानी (फारसी) लहजे की शक्ति एवं सौन्दर्य का अहसास था दूसरी ओर वे प० मेहता के उच्च आदर्शवाद को दृढ़ता से पकड़े रहना चाहते थे। ऐसे ही समय में उनका सम्पर्क, संयोग से, श्री मदन द्विवेदी गजपुरी जैसे सरस प्रतिभाशाली साहित्यकार एवं उपन्यासकार से हो गया—उत्तर प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग में स्कूलों के इन्स्पेक्टर के रूप में श्री प्रेमचन्द की, तहसीलदार के रूप में, प० द्विवेदी से यह भेंट हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक निर्णायक घटना के रूप में प्रतिफलित हुई और उनमें श्री प्रेमचन्द की उपन्यास रचना धारा को, वह दृढ़ता प्रदान की, जो आज हिन्दी साहित्य की गौरवमयी सम्पत्ति बन चुकी है।

संक्षेप में, जब कि श्री प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती एवं सहयोगी उपन्यासकार, उपन्यास रचना को केवल काव्य शास्त्र विनोद तक ही सीमित रखना चाहते थे श्री प्रेमचन्द की महान मानव सहानुभूति ने, उनके अंतर को विलोडित कर डाला था—उसी भाँति जैसे कि सहस्राब्द पूर्व आदि कवि के उर में उसने कर्णरस का स्रोत प्रस्फुटित किया था। अपने परिवार की दरिद्रता अपनी वस्ती की दरिद्रता अपनी मातृभूमि की दरिद्रता सभी के बीच जाँचें खोलने वाले इस भाव प्रवण युवा के मन में, तूफान ने मीजें लेना शुरू किया और आदर्शवाद में प्रबल पूर्वसंस्कार तथा मानवमात्र के लिए सहज कर्षण एवं प्रेम ने उन्हें मसिजीवी आजीविका के अस्ति धारावत की ओर प्रवृत्त किया। अन्त में उसी की पत्नी धार पर उड़ोने अपने प्राणों के सुकोमल सुमनो तक को योजावर कर दिया। ऐसे लेखनी के शहीद की खून पसीने से आद्र साहित्यधारा ने सचमुच ही भारतीय उपन्यास जगत् का कायाकल्प कर डाला।

महाकवि मन्वभूति के समान ही श्री प्रेमचन्द के भाव प्रवण मन का नारी की आत्त कर्षण चीत्कार ने ही, साहित्यक्षेत्र में सर्वप्रथम आह्वान किया था। उनके प्रारम्भिक उपन्यास (जिन्हें अब पाठक एवं समीक्षक प्रायः भूलते जाते हैं) नारी की कर्षणा की प्रतीक भारतीय विधवा की दुरवस्था के लिए 'याप चाहते हैं। प्रेमा', 'वरदान (बजरानी)', 'रूठी रानी' (उमाद) 'सेवासदन (सुमन) निमला', तथा 'गबन (जालपा) आदि सभी उपन्यास तथा उसकी प्रमुख पात्राओं की राम कहानी

भारतीय नारी की पीड़ा, पराधीनता एवं परावलम्बिता के प्रति याय का आह्वान करने वाली महान् वणनारमक गाथाएँ हैं। वस्तुतः उनकी विविध पात्राएँ, एक ही भारतीय समाज के विविध स्तरों एवं वर्गों के बीच, सभी निवासिना सीता की कृष्णा एवं निष्ठा की विविध परछाइयाँ ही हैं। अकिंवचन कृपको के कुटीरों एवं निम्न मध्यम श्रेणी के सकीण घरों से लेकर राजमहलों, के सुन्द प्राचीरों के बीच, सभी में श्री प्रेमचन्द की 'याय प्रेरित कृष्णा उदार आत्मा, अपने रस विश्व की महान् पात्राश्री की शोध में, परिभ्रमिन् रहती है। वह उनके लिए कोई रचनात्मक समाधान भी छोड़ जाने को समाकूल है।

कहना न होगा कि धीरे धीरे श्री प्रेमचन्द को यह परिचान हुआ कि उनकी ये उपेक्षिता महामानविया, वस्तुतः मित्र मित्र नहीं हैं—वरन वे सभी तो ग्रामवासिनी मलिन वसना, शस्य श्यामला—फिर भी पराधीनता से जडिन, भारत माता की ही विभिन्न प्रतिकृतिपाँ ही हैं। इस भाँति उहाने भी, श्री बकिम के 'आनन्दमठ की 'मा के प्रथम म प दशन क्रिये। 'प्रेमाश्रम (१९१८) 'रगभूमि (१९२४), 'कायाकल्प (१९२८) 'कमभूमि' (१९३२) गोदान (१९३५ ३६) तथा 'मगलसूत्र' (मुख्य नायिका शश्या) सभी में विदेशी शासन में, पराधीन भारत जननी के ही महान् एवं दिव्य दशन होते हैं। इस भाँति अपने इन युग युग तक अविस्मरणीय सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक एवं राजनैतिक सघप के महान् 'दास्ता सुनाते-सुनाते ही' अन्त को सन १९३६ ई० में अपने इसी मगलसूत्र को अधुरा ही छोड़-कर, श्री प्रेमचन्द, भारतीय उपन्यास के रगमच पर स (प्राय ३५ वर्षों तक छाये रहने के उपरांत) अकस्मात् ही तिरोहित हो गए। इस भाँति अपने जीवन काल के अन्तिम दशक तक (जिहें अपनी दिवगत जननी की सुधि वचनन में भी नहीं मिली थी) अपनी घरती माता, जिसकी ममतामयी गोद ही उहोंने शशवकाल से पहिचानी थी—की सेवा में, अपने रक्त की अन्तिम बूद सुला कर, वे भारतीय उपन्यास साहित्य के महान् राष्ट्रीय शहीद बन कर अमर हो गए।

प्रेमा (१९०४ ई०) के पश्चात् और 'रूठी रानी से पहले श्री प्रेमचन्द की एक अन्य रचना है वरदान (१९०५ ई०)। 'वरदान' एक ऐसी कथा है कि जिसमें एक देशभक्तिपूण माँ यह कामना करती है, कि यदि उमने कोई पुत्र होवे तो वह, स्वदेश के लिए बलि हो जाए। अन्त में उसकी यह आकांक्षा पूरी होती है और कथा का पयवसान आत्मीरसग की उदात्त भावना के साथ होता है। 'वरदान' में ही हम श्री प्रेमचन्द को सवप्रथम, ग्रामीण-जीवन के वणन में भी प्रवृत्त पाते हैं, जो आगे चल कर उनके उपन्यासों की, एक बड़ी विशिष्टता के रूप में पूणतया विवसिन हुआ। इस भाँति हम श्री प्रेमचन्द की तीनों आद्य कृतियाँ को एक प्रकार से बीसवीं शती हिन्दी उपन्यास की तीन विशिष्ट धाराओं की प्रतीक भी, मान सकते हैं। ये तीनों प्रमुख धाराएँ रही हैं—सामाजिक एवं पारिवारिक उपन्यास, ग्रामीण

जीवन पर आधारित, राजनतिक तथा आर्थिक विषयताओं के विरुद्ध आवाज उठाने वाले क्रांतिकारी उपन्यास, तथा ऐतिहासिक उपन्यास। प्रेमचंद काल एवं प्रेमचंद उत्तर काल की हिंदी उपन्यास की सर्वश्रेष्ठ उपलब्धियां वस्तुतः इन्हीं तीनों कोटि के उपन्यासों में ही पाई जाती हैं। श्रेष्ठ वणनात्मक कला से सम्युक्त एवं समृद्ध, समग्र हिंदी उपन्यास साहित्य ही, वस्तुतः उक्त तीनों शक्तियों में रची गई कृतियों से ही आनंदित जान पड़ता है।

श्री प्रेमचंद के समग्र उपन्यास साहित्य में प्रारम्भिक रचनाओं में, 'वरदान' तथा 'सेवासदन', तथा 'परवर्ती' एवं प्रौढ़ कृतियों में 'रंगभूमि' एवं 'कायाकल्प', सर्वोत्कृष्ट वणनात्मक कला समृद्ध एवं अविस्मरणीय कथा कृतियां हैं। यहाँ श्री प्रेमचंद की आद्य वणन कला का, एक प्राचीन उदाहरण, उनकी 'वरदान' नामक आद्यकृति में, उदाहृत किया जा रहा है। ब्रजरानी अपने ग्रामीण घर से अपने पति कमलाचरण को उसके प्रयागस्थित होस्टल के पते पर, एक पत्र माला लिखती है। इस पत्र माला में ही सर्वप्रथम श्री प्रेमचंद ने, ग्रामीण जीवन का आलोचनात्मक वतावन, प्रारम्भ किया था, जो आगे चल कर उनके उपन्यास साहित्य का, सर्वप्रधान चशिष्टय बन गया था और जिसके अनुकरण पर, हिंदी में ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाली, एक से एक अनूठी ग्रामीण एवं आचलिक उपन्यासिक कृतियों ने, साहित्य श्री को अभिवृद्ध किया। वरदान में ग्रामीण जीवन की एक शलव (ब्रजरानी के गांव के आसपास के परिवेश में) यहाँ मिलती है—

भोर हो गया था, शीतल में द पवन चल रहा था कि स्त्रियों के गाने का शब्द सुनाई पड़ा। स्त्रियां अनाज काटने जा रही थीं। झांक कर देखा तो दस बारह स्त्रियों का एक एक गोल था। सबके हाथों में हँसिया बंधी पर गठिया बंधने की रस्सी और सिर पर भुने हुए मटर की छबड़ी था। ढोपहर तक बड़ी कुशलता रही। अचानक आकाश मेघाच्छन्न हो गया। आँधी आ गई और गोल गिरने लग।

आलू सब जैसी तेजी से गिरे, जस ब दूक से गोली। क्षण भर में पृथ्वी पर एक फुट ऊँचा बिछावन बिछ गया। चारा तरफ कृपक भागने लगे। गायें बकरियाँ भेड़ें सब चिल्लानी हुई पड़ो की छाया ढूँढनी फिरना थी।—काशी भर का भविष्य प्रवचन प्रमाणित हुआ। होली की ज्वाला का भेग प्रकट हो गया।

जसा कि कहा ही जा चुका है श्री मनन द्विवेदी गजपुरी, श्री प्रेमचंद के अंतरंग मित्रों में से एक थे। वे लोकसाहित्य के बड़े प्रेमी थे और लोकगीतों के संग्राहक भी थे। श्री मनन द्विवेदी गजपुरी ने 'रामलाल' (सन १९१४ ई०) नामक ग्रामीण जीवन पर आधारित एक विलक्षण उपन्यास रचा। इसे हिंदी में आचलिक

उपन्यास का जनक भी बनाया गया है। आगे चल कर प्रेमचंद उत्तरकाल में, आचलिक उपन्यास ने, बड़ा ही मध्यम धारण किया। 'रामलाल' नामक इस सीधे सादे नाम वाली, औपन्यासिक कृति का, हिन्दी उपन्यास के इतिहास में प्रायः 'सेवासदन' जसा ही महत्व है। रचनाकाल में भी वह 'सेवासदन' का समसामयिक (रचना काल १९१४ ई०) भी है। बहुत अशा में वह 'सेवासदन' से भी बढ कर, आचलिक परिवेश को व्यक्त करने वाली, ठंठ दहानी रचना है। इस शैली को केवल श्री शिवपूजनसहायजी ने ही, अपने उपन्यास 'देहाती दुनिया' (१९२६ ई०) में लगभग १२-१३ वर्ष पश्चात् अग्रसर किया। 'रामलाल', 'रगभूमि' और 'गोदान' का समान ही, ग्रामीण गाथा का चित्रण करने वाला महान आचलिक उपन्यास है। हमारे आधुनिक आचलिक उपन्यासकारों में भी इतनी ग्रामीण तादात्म्यता एवं जन जीवन में इतनी गहन पठ दुलभ है।

इस दृष्टि से श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी के 'रामलाल' (१९१४ ई०) एवं 'कल्याणी' (१९२० ई०) दोनों ही श्री प्रेमचंद द्वारा 'सेवासदन' (१९१४), 'प्रेमाश्रम' (१९१८) एवं 'रगभूमि' (१९२४) के साथ ही साथ, तुलनात्मक दृष्टि से भी अध्ययनीय हैं। वे प्रेमचंद कालीन हिन्दी उपन्यास की वणनात्मक कला के, सरल एवं सहज सनात्मक उदाहरण भी हैं। 'रामलाल' की प्रस्तावना में, श्री गजपुरी जी डोमरियागंज (जिला बस्ती-उत्तरप्रदेश) से यो लिखत हैं—

'इस उपन्यास में ग्रामीण जीवन का चित्र खींचा गया है। नगर और नागरिक लोग भी वही वही आ गए हैं लेकिन मुख्य पात्र और घटनाएँ गाँवों से सम्बंधित हैं। इस विषय पर एक उपन्यास की बड़ी आवश्यकता थी। लेकिन यह उपन्यास इस अभाव का पूर्ण करेगा, इसमें सन्देह मालूम होता है। सन्देह का कारण अपनी अपेक्षता है। यदि विषय के उपयुक्त कोई बात मुझ में है तो केवल यह कि मैं ग्रामीण हूँ।'

डोमरियागंज  
(जिला बस्ती)

मन्नन द्विवेदी गजपुरी  
[२८ ११ १४]

श्री गजपुरीजी ने अपने उपन्यास की भौगोलिक एवं आचलिक पृष्ठभूमि की स्वयं ही व्याख्या करते हुए अपने उपन्यास के पहले अध्याय में पुरानी बातें भीषक

- १ प्रेमचंद कास का यह दुःख उपन्यास रचने विाने ही वर्षों से अप्राप्य था। संयोगवत् यह दस वर्ष पूर्व आगरा के चिरजीव पुस्तकालय में मिल गया। उगी के सीत्र य से उमका प्रस्तुत शोधनाय में उपन्यास किया जा सका है।
- २ 'रामलाल' (ग्रामीण जीवन का एक सामाजिक उपन्यास) (श्री मन्नन द्विवेदी गजपुरी, बी० ए० एम० धार०, ए० एम०) (प्र० इटिया प्रेस प्रयाग) प्रथम प्रकाशन १९१७। रचनातिथि १९१४ ई०।

से, कविवर श्रीधर पाठक की निम्न पक्तियों को उद्धृत करके, अपना औप-यासिक अभिप्राय बड़ी सूक्ष्म शैली में समझाया है —

‘सलित छथीले गाम, सबस पटपर में नीके ।  
सुल सुलमा की खानि, परम प्रिय भावन जी के ॥  
घसे गए सुअ खेल, गई सोभा राय तेरी ।  
हिय बस रासन हारिनि, मनमोहनी घनेरी ॥

—‘ऊजडगवि (श्रीधर पाठक)

‘सो बरस से भा अधिक हुए कि गोरखपुर का जिला नवाब सखनऊ के अधिकार में था । छोटे छोटे राजा राज करते थे और सभी-सभी नवाब को माल गुजारी दत । गोरखपुर, खास और उसका नजदीक मौआ पार का राज, अभी ‘मर लोगो का अधिकार में था । रामी नदी बिले का पाम से टकराती हुई माना इनको निश्चित करती थी यपकियाँ दे दे कर मुताती थी । थोनगर के पहाड़ी हट्ट बटटे श्रीनेतो ने आराम तलय भरो का राजकाज ले लिया । जहाँ सबन ठमकते थे, वहाँ आल्हा का बढये गाये जाने लगे । गोरी गोरी मर वालिकाएँ, अपनी सो आँखोवाली मृगिया का जगस में गाँ चराने लगी । बडे बडे मराना आज ऊचे टोल बन बन कर, भरो के राजकाज के स्मारक बन रहे हैं ।’

श्रीनेतो के घाये शुरू हुए । देखते देखते दो एक जिलो के सब राजा परास्त हुए । इनके सनिक मौआपार से उठे हुए गजपुर में, १० कोस पर रुकत थे और दम की दम में, रुद्रपुर में दूधनाथ को दूध चढाते थे । लेकिन समय सदा एक सा नहीं रहता । सन् १८०३ में गोरखपुर, कम्पनी का हाथ में आया और नवाबी मिट गई हथियार अभी नहीं छीने गय थे । यही कारण था कि मरभुखे ठाकुर सभी सभी महाजन बनियो के घर, लूटपाट लेत थे । ऐसी ही दशा में ५० बरस से ज्यादा बीत गये । सन १८५७ का बलवा (सुप्रसिद्ध स्वाधीनता संग्राम) हुआ । परतन वाले चाहे भले ही सरकारी खजाने लूटत रहे हो लेकिन साधारण बलवाइयो का ध्यान तोंदवालो के घर पर ही अधिक था ।

‘(नेपाल के प्रधान सेनापति) राणा जगदहादुर की मन्द से ‘बलवाई’ परास्त हुए । अंग्रेजी बचहरी कायम हुई । बलवाइयो को दण्ड भी रूज मिला । कितनो ही को सूली हुई, और कितनो के बलावे जन हुए । अज समय कि कुल बदल गया, लेकिन बलवे के वक्त के कुछ आदमी, अभी जीते जागत हैं । कमी कमी जब लका काण्ड रामायण का पाठ होता है तो उनका पुराने लूट-पाट का ध्यान आ जाता है । बड़ी बड़ी सफेद मूर्छें सड़ी हाँ जानी हैं, बिना दाँत के मुँह से लखलखाते वाक्य निकल पडते हैं—

‘बरस अठारह छथी जीयें, अगवाजीवन को धिक्कार’ ।

जेठ की उजेली रात में, गर्मी से बचने के लिए, जब अहीरा के लडके, रामी के किनारे, भस चराते हैं तब बिजरा में पानी पिला, काधे पर लट्ठ रख कर घर की ओर चलत हैं, तो कमी कमी गा उठने हैं —

‘गोरखपुर में हाकिम तप, पकरि भंगारि ।  
बहूँसिध के बचनसिह क, फसिया दिआव ॥  
डिपटी भेल, सिपटी रय भेल पया ।  
खेदि खेदि मारत, रघवली के भैया ॥  
ओही बखिरा, बचनसिह बबुआइन का ।’

‘समय जाते कुछ देर नहीं लगती । तब के ओर अब के गोरखपुर में, जमीन-आसमान का अन्तर हो गया है । जिस तरह अंग्रेजी के आग, पुरानी रीति रिवाज मिट गई वैसे ही पुराना गोरखपुर, अपनी जान बचाने के लिए, या अपना अन्तिम संस्कार करा देने के लिए, गोरखनाथ की शरण में, महाब्रह्मणो के मुहल्ले में जा छिपा । तब सिर्फ एक अंग्रेजी स्कूल था । एक बड़ा भारी गढ़ा था, चुंगी कचहरी के कूड़ा बरकट से गढ़ा अभी भरा नहीं गया था । गोरखपुर बक को भी तब शेर की कोठी नसीब नहीं थी बक अभी कायम हुआ था या नहीं, याद नहीं आता ।’

सन् १८५७ ई० के स्वाधीनता-संग्राम के देशव्यापी दमन एवं निमग्न अत्याचारों की पृष्ठभूमि की उपयुक्त प्रामाण्य प्रसन्नक दिखाते हुए श्री द्विवेदीजी ने, सरकारी नौकरी में होत हुए भी (सा भी उन दिनों की ‘तहसीलदारी’ जो भारतीया की दुलभ थी) गोरखपुर और वस्ती जिलों के सन् ५७ के अमर शहीदों, रघवली के शहीद भ्राताओं—स्व० श्री विनयसिंह (बहूँसिध) तथा स्व० श्री बचनसिंह (बचनसिंह या बचनसिध) को भी, अपनी इस आचलिक कथा में चिरस्मृत किया है ।

श्री प्रेमचन्द के सामाजिक या समाज-सुधारक उपन्यास सेवासदन के वर्णनात्मक दमन की ओर, बिरले ही समीक्षकों का ध्यान गया है । वैसे प्रेमचन्द-साहित्य की समीक्षा इन वर्षों में बहुत एक महाकाय रूप ले ही चुकी है किन्तु कम समीक्षकों ने ही उनके रचना रहस्य के सर्वोत्कृष्ट पक्ष—वर्णनात्मक कला की बारीकियों पर प्रकाश डाला है । कारण यह रहा है कि बहुधा आलोचकों के समक्ष, श्री प्रेमचन्द का सावजनिक, या लोकमगल पक्ष ही रहा है—सहज कलाकार पक्ष नहीं । सेवासदन उपन्यास के दो एक अविस्मरणीय अवतरण देख ही फिलहाल इस प्रसंग का यही छोड़ कर, उनकी वर्णनात्मक विशिष्टता का वक्षोपक्षों पर विचार विमर्श करना होगा —

‘सदन अथ मल्लाहो वा नेता था । उसका क्षोपडा तैयार हो गया था । भीतर एक तम्बा था—दो पलंग, लम्प एक कमरा बठने का था । एक खाने पकान का, एक साने का । द्वारा पर इटो का चबूतरा था । उसके इदगिद गमले रखे हुए थे । दो गमलो म सताएँ लगी हुई थी जो भोपटे के ऊपर चढ़ती जाती थी । यह चबूतरा अथ मल्लाहा का अढडा था । यह बहुतधा वही बठे समागू पीते ।”

‘जसे सुन्दर माय के समावेश स क्विस्ता म, जान पड जाती है जीर सुन्दर रगों से, चित्रो म उसी प्रकार, दोनो पहनो के खाने मे क्षापडे म जान आ गई है । अधी आँखो म पुतलियाँ पड गई हैं । नित्यप्रति प्रातःकाल इस क्षापडे से, दो तारे निकलते हैं और जाकर गंगा म डूब जाते हैं । उनम से एक बहुत त्रिय और द्रुतगामी है, दूसरा मध्यम और मन्द । एक नन्ही म विरवना है नाचना है दूसरा अपन वस्त के बाहर नहीं निकलता । प्रमात की विरणा म उन तारो का प्रकाश मन्द नहीं होता, वे और भी जगमगा उठन है ।’

‘सध्या का समय है । आकाश पर लालिमा छाई हुई है और मन्द वायु गंगा की लहरा पर खीटा कर रही है उ हे गुदगुदा रही है । वह अपन कर्ण नन्ही से मुसकराती है और कभी कभी तिलतिलाकर हस पडती है—तब उसका माती के दाँत चमक उठते हैं । सन्म का रमणीय क्षोपडा आज फूला और लताओ से सजा हुआ है । दरवाज पर मल्लाहा की भीड है । अ दर उनकी स्थियाँ बठी सोहर गा रही हैं । आगन मे मटठी खुदी हुई है और बडे बडे हण्डे चड़े हुए हैं । आज सन्म के यहाँ नवजात पुत्र की छठी है यह उसी का उत्सव है ।’

प्रेमचन्द काल के बहुविध प्रतिभाशाली उप-यासकारो म, स्व० श्री शिवपूजन सहाय ने भी आज से कोई २२ वष पहले दहाती दुनियाँ नामक विलक्षण उप-यास, ग्रामीण आँचल के परिप्रक्ष्य म लिखा था । उसकी सहेज सरल रमणीयता तत्कालीन, सरल प्राजल एव अदृष्टिम शाली के दणनात्मक कला से समृद्ध उप-यासा की, मणिमाला म, मानो एक अनुपम बहुयमणि पियो जाती है —

चन्न का महीना था । गोधूली बला थी । गोपाल, केदार और हम राम सहर के पचमदिर के ऊँचे चौतर पर बठे हुए थे । रसे रस हवा डोलती थी । आम के मजराने नीम क फूलों और महए के गदराने स दसा दिसाएँ गमगमाती थी । पाम ही की घनी अमराई म, कायल कुडकती थी । हम लोग जितना भी चिढाते थे, वह उतना ही उमडती जाती थी । दिन भर खेतो म दाना चुग कर, अपन बसरे

१ ‘सियासतन (श्री प्रेमचन्द) (प्रथम प्रकाशन १९१४ ई० प्रकाशक सरस्वती प्रेस, बनारस), अध्याय ४८, पृष्ठ २६५

२ वही अध्याय ५१ पृष्ठ ३१५

३ वही अध्याय ५४, पृष्ठ ३३४

पर आती हुई, चिड़ियाएँ अपने कुछ अगण्ड बच्चों को, पक्षों के आँचर में, छिपा कर चहकहाती थीं। बस्ती के इद गिद, झाड़ों के भूरमुट में, गौरया और छोटी मना चहक रही थीं। खेत खतिहानों में, बूढ़े, जवान किसान, आगी मौड़ में, 'चत का राग अलापते थे।

"बड़े हुलास का समय था। एसा सुहाना था कि इतना भाता था कि चती बहार की मस्ती से मन नाच उठता था। पीपल, पाकड़, नीम के लहलहे दूसे, बड़े सुहावने देव पड़ते थे। लहलाट फूने हुए टेसू की ललाई, अपने चारों ओर की हलकी हरियाली पर, गजब रंग बरसा रही थी।"

श्री प्रेमचंद की औपयासिक कृतियों के आचलिक या ग्रामीण पक्ष की ओर ती कतिपय समीक्षक महानुभावों का ध्यान गया भी है परंतु श्री प्रेमचंद के मन में ऐतिहासिक उपन्यासकार बनने की भी कभी उमंग उठी होगी, इस ओर, कम ही विद्वानों का ध्यान गया है। जिस समय श्री प्रेमचंद ने हिंदी में उपन्यास रचना प्रारम्भ की उस समय, उनके पूर्ववर्ती किंतु समसामयिक लेखकों में, दो विशेष प्रसिद्ध हुए—एक तो श्री किशोरीलाल गोस्वामी जिनके ऐतिहासिक उपन्यासों ने हिंदी उपन्यास विधा में नाटकीय शैली का प्रवर्तन किया था, तथा दूसरे हिंदी में जासूसी उपन्यास के प्रवर्तक, श्री गोपालराम गहमरी। श्री किशोरीलाल गोस्वामी के उपन्यास, अद्भुत एवं विलक्षण वणन विवरणों से युक्त हैं। उनके नवाबी जमाने के ठाठवाट की दरसाने वाले कुछ उपन्यास तो चिरस्मरणीय हो गये हैं। श्री गोस्वामी ने ऐतिहासिक उपन्यासों की एक ऐसी शैली का आविष्कार किया था जिसमें इतिहास की कुछ प्रसिद्ध घटनाएँ एवं कुछ प्रसिद्ध पात्र पात्रों के प्रसंग को लेकर, लेखक की कल्पना प्रतिभा अपनी उच्चतम विलास लीला द्वारा हमारे सामने एक चलता फिरता रंगमंच सा प्रस्तुत करती चलती है। इसमें नवाबी समय के महलों के ठाठ वाट और आरायशी सामान हैं। यहाँ तक कि गोस्वामीजी बहुधा राजपूतों और नवाबों के रहन सहन, या ठाठवाट में कोई अंतर ही नहीं मानते थे ऐसा भी जान पड़ता है।

ये ऐतिहासिक उपन्यास, एक प्रकार से नाममात्र को ही 'इतिहासात्मक' कहे जा सकते हैं। इनमें बीररस की अपेक्षा शृंगार का ही आधिपत्य रहा है। प्रणय प्रसंग, एकदम रोमानी शैली के हैं। कथोपकथन फारसी रंगमंच की याद दिलाते हैं। भाषा सजीव एवं चमत्कारपूर्ण है। यहाँ तिलस्मी और ऐयारी का भी कथारस, पाठकों को आकृष्ट करता है। छुपे छुपे द्वारा तहखानों से निक्कलने वाली सुरंगों, भेष बदलने और बेहोश करने आदि सभों के उपकरण भी यहाँ जुटा दिए गए हैं जिनका प्रवर्तन श्री देवकीनंदन खत्री कर ही चुके थे। कहीं कहीं जासूसी उपन्यास जस

१ 'देहाती दुनियाँ (प्रथम प्रकाशन १९२६ ई०) (श्री शिवपूजनसहाय) पृ० १२४, अध्याय ७, (प्र० श्री शिवपूजनसहाय प्रथमाला कार्यालय पटना, १९५१ संस्करण)



प्रसंग भी आ गए हैं। श्री गोस्वामीजी के उप-यासो की भाषा और शैली, जन साधारण की न होकर, प्रायः साहित्यिक ही है। इस बारे में श्री खत्रीजी और श्री गहमरीजी से वे पर्याप्त भिन्न दिवाई देते हैं। वर्णनात्मक कला भी, श्री गोस्वामीजी की, उक्त दोनों महानुभावों से, उच्चतर कोटि की है।

श्री प्रेमचंद की एक आद्य औप-यासिक कृति थी—उनकी ऐतिहासिक उप-यासिका 'रूठी रानी' (रचनाकाल १९०६ ई०)। इस उप-यास की वर्णन शैली, उनके सभी परवर्ती उप-यासों से पर्याप्त भिन्न जान पड़ती है। श्री प्रेमचंद के जीवनकाल तक, भारत में ब्रिटिश साम्राज्यशाही द्वारा सुरक्षित, अज्ञान, अपकार, अभाव एवं अशिक्षा के जंगलों के समान देशी रियासतों में अबाध तानाशाही के नीचे, भारतभूमि की लगभग एक तिहाई आबादी पिसती रही थी। जब कि भारत के ब्रिटिश शासन द्वारा सीधे शासित प्रदेशों में, नये विचारों एवं राष्ट्रीय चेतना का, धीरे धीरे प्रसार होता जा रहा था, तब भी भारत की देशी रियासतें, अच्छी खासी तिलस्मी दुनियाँ की प्रतीक मानी जाती थी। उनका प्रधान गुण था मदिरा सेवन, नृत्यगान और विलासपूर्ण जीवन। रूठी रानी के कुछ वर्णनों में राजपूत रियासतों के अन्त पुरों की एक ऐसी ही क्षात्री प्रस्तुत की गई है। आगे चल कर, रियासती जनता के सघप को भी श्री प्रेमचंद ने, अपने अमर उप-यासों—'रंग भूमि' एवं 'कायाकल्प' में, मार्मिक शैली में वर्णित किया है।

फिर भी 'रूठी रानी', सामंती संस्कृति का पर्याप्त सच्चा चित्रण है। वह, श्री प्रेमचंद की एकमात्र ऐसी औप-यासिक कृति है, जिसमें सामंती जीवन एवं चरित्र के दुराग्रह मिथ्याभिमान, परंपरागत वश बर, अदूरदर्शिता विलासिता बीरता, शोष आत्मबलिदान आदि सभी परस्पर विरोधी गुणों अवगुणों की कथात्मक आवृत्ति, पूरे मनोयोग पूर्वक प्रस्तुत की गई है। राजस्थानी लोकगीतों, किम्बदंतियों एवं इतिवृत्त का समावेश करने का भी यहाँ पर्याप्त सफल औप-यासिक प्रयोग है। श्री प्रेमचंद एवं श्री किशोरीलाल गास्वामी की उप-यास रचना शैली की तुलनात्मक समीक्षा, श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के शब्दों में पठनीय है।

यह सभी जानते हैं कि श्री 'हरिऔध' उक्त दोनों ही उप-यासकार महानुभावों के समकालीन साहित्यकारों में से एक थे और वे स्वयं भी उस समय, उप-यास रचना में प्रवृत्त हो चुके थे। श्री हरिऔध श्री प्रेमचंद के, हिन्दी उप-यास क्षेत्र में पदापण करने का स्वागत करते हुए लिखते हैं कि—

'इस काल के प्रसिद्ध उप-यास लेखक प० विशारीलाल गोस्वामी और श्री प्रेमचंद हैं। गोस्वामीजी ने ६० से अधिक उप-यास लिखे हैं बाबू देवकीन दत्त खत्री के बाद यदि किसी ने हिन्दी जगत का अपनी ओर अधिक आकर्षित किया है तो वे गोस्वामीजी के उप-यास ही हैं। इसके बड़े पाठ, १०० धनपतराय बी० ए० (प्रेमचंद)

हिन्दी क्षेत्र में आए। परन्तु जो सफलता उन्होंने, थोड़े दिनों में ही प्राप्त की है वह गोस्वामीजी को कभी प्राप्त नहीं हुई। कारण इसका यह है कि प्रेमचंदजी के उपन्यासों में सामयिकता है और रुचि-परिमाजन भी। गोस्वामी के उपन्यासों में यह बात नहीं पायी जाती। इसलिए उनकी उपस्थिति में ही उपन्यास क्षेत्र पर प्रेमचंदजी का अधिकार हो गया।<sup>१</sup>

श्री 'हरिऔध' का समीक्षात्मक विवेक असदिग्ध है। उन्होंने श्री प्रेमचंद की, उपन्यास रचना की विशिष्टताओं की ऐसी दो बातों की ओर ध्यान दिलाया है, जिनके कारण श्री प्रेमचंदजी अपने काल के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार कहलाए। वे हैं, उपन्यासों की सामयिकता तथा उनमें पाया जाने वाला रुचि परिमाजन। श्री प्रेमचंदजी की हिन्दी उपन्यासों को सबसे बड़ी देन वस्तुतः यही रुचि परिमाजन है। श्री प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यास को, जो नतिक शालीनता प्रदान की है तथा जीवन के चित्रण को उन्होंने, जिस समयित सुखदुःख का प्रतीक बनाया है, उससे कुरुचिपूर्ण अथवा ग्राम्यता दोष पूण, औपन्यासिक कृतियों का, हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में आदृत होना सत्ता सबल के लिए बंद हो गया। और तभी से हिन्दी उपन्यास, आनंदान और शालीनता, नतिक निष्ठा एवं सावजनोत्त उदारता का, प्रतीक माना जाने लगा। उपन्यास रचना में रुचि परिमाजन ही उसकी समग्र कलात्मकता एवं लालित्य योजना की प्राण चेतना है। इस भाँति श्री प्रेमचंद ने हिन्दी उपन्यास की कलागिराम बणना का एक ऐसा सौष्ठव एवं शील प्रदान किया है जिसकी ओर श्री 'हरिऔध' के अतिरिक्त अन्य समीक्षकों ने बहुधा कम ही ध्यान दिया है।

हिन्दी उपन्यास साहित्य का अधिकांश पर्यवेक्षण करने वाले प्रायः यह भूल जाते हैं कि श्री प्रेमचंद के अतिरिक्त, उसी काल में हिन्दी उपन्यास साहित्य क्षेत्र में एक अन्य महान शरीकार भी हो चुके थे। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध का सचप्रथम उपन्यास ठठ हिन्दी का ठठ (१८९९) अपनी शली का विशिष्ट हिन्दी उपन्यास है। ठठ हिन्दी का ठठ तथा उससे आठ वर्ष पश्चात् प्रकाशित, 'अधमिला फूल (१९०७ ई०) ऐसे दो हिन्दी उपन्यास हैं जिन्होंने हिन्दी उपन्यासों में एक ऐसी अभिनव शली का सूत्रपात किया है, जो न तिलस्मी है न जासूसी, न ऐतिहासिक है न सामाजिक न राजनतिक है न आर्थिक। ये उपन्यास, अपने में स्वतः रमणीय हैं अर्थात् यदि उनका, देशकालगत परिवेश से पृथक् करके मात्र

१ हिन्दी भाषा और साहित्य का विपणन (पटना विश्वविद्यालय में वा० रामचंद्रसिंह रोडरनिप के सम्बन्ध में दिए गए भाषणों का संकलन) — अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध। (किताब मदन, दिल्ली १९५८) भाग ३, अध्याय ६, पृष्ठ ५३४-५३५

कथासाहित्य के रूप में भी, पारायण किया जाए तो भी वे, पाठक को, लगभग उसी प्रकार का आनन्द प्रदान कर पाएंगे जसा कि उन्हें किसी उत्तम काव्य को पढ़ने के पश्चात् प्राप्त होता है। इस भाँति वे, पुरातन भारतीय उपन्यास एवं अर्वाचीन भारतीय उपन्यास के बीच, सतुल्य रचनाएँ मानी जा सकती हैं।

भावना प्रधान एवं कल्पना प्रधान रोमानो परिवेश में कथित ये गद्यकाव्य कथाएँ अपनी वणनारत्मक भाषा से आद्योपात्त अविमान रहती हैं। उदात्त प्रेमसाधना ही उनकी मुख्य अंतर्चेतना रही है। प्राकृतिक शोभा उनके कथा रस में अभिव्यक्ति करती चलती है। श्री हरिजीध' की इस गद्यकाव्यात्मक शली का अनुकरण करने वालों में प्रथम श्री ब्रजानन्द सहाय का नाम विगण उल्लेखनीय है। उन्होंने पाँच उपन्यासों की रचना की है जिनमें सौ दयोपासक (१९११ ई०) सर्वप्रशंसित कृति रही है। अय महत्वपूर्ण कृतिएँ हैं—राधाकान्त (१९१२ ई०) तथा 'जरण्य बासा' (१९१५ ई०)। सरस्वती मासिक पत्रिका में पुस्तक परीक्षा' स्तम्भ में स्वर्गीय कविवर मथिलीशरण गुप्त ने सौ-दयोपासक पर निम्न टिप्पणी लिखी थी—

'हिन्दी उपन्यास लेखकों के जिनने उपन्यास में देखे हैं उनमें से किसी भी हिन्दी उपन्यासकर्ता की अपनी निज की रचना ऐसी भावपूर्ण मैंने नहीं देखी। — [सरस्वती (प्रयाग) दिसम्बर १९११ ई०।]

श्री चण्डीप्रसाद हृदयश का मंगलप्रयात (सन १९२५ ई०) भी कुछ इसी शली का उपन्यास था। इसी भाँति श्रीमती उपादेवी मिश्रा का उपन्यास 'जीवन की मुस्कान' (१९३९ ई०) भी एक गद्य महाकाव्य जैसे रमणीय वणना से युक्त, उपन्यास था। प्रेमचन्द उत्तर काल में गद्यमहाकाव्य शली में आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के दो तीन उत्तम उपन्यास प्रकाशित हुए हैं — बाणभट्ट की आत्मकथा (१९४६ ई०) चार चन्द्रलेख (१९६५ ई०) तथा पुननवा (१९६६ ई०)। भाव प्रवण, गद्यकाव्य शली में रचित, ये कृतियाँ इतिवत्त का परिधान पहने हैं किन्तु इतिहास तत्व इनमें नाम चार को ही रहता है। इतिवत्त के भावनात्मक पक्ष के साथ सामंजस्य का आचार्य द्विवेदीजी ने बड़ी विलक्षण प्रतिभा से निर्वाह किया है।

'मंगल प्रयात (१९२५ ई०) के लेखक श्री चण्डीप्रसादजी 'हृदयेश प्रेमचन्द के सहयोगी उपन्यासकारों में एक विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे अनेक वर्षों तक 'झाँसी स्थित सरस्वती विद्यालय' नामक राष्ट्रीय सांख्यिक शिक्षण केंद्र के, हैडमास्टर पद पर कार्य करते रहे। विचारों में वे भी श्री प्रेमचन्द के समान ही प्रगतिशील एवं देशानुरागी थे। उनका भूतपूर्व विद्यार्थिया में डा० रामबिलास शर्मा, बहुधा उनका अत्यंत स्नेह एवं श्रद्धापूर्वक स्मरण किया करते हैं। यह संस्था अस्त

योग आन्दोलन के परिणामस्वरूप ही स्थापित हुई थी। 'हृदयेश जी के व्यक्तित्व ने, कितने ही होनहार सुलेखकों को प्रेरणा दी थी। हृदयेशजी उच्च पाश्चात्य शिक्षा प्राप्त करके भी, भारतीय संस्कृति में परम निष्ठावान् थे। 'मगलप्रभात' उनका द्वितीय उपन्यास था। इससे दो वर्ष पूर्व (१९२३ ई० में) उनका 'मनोरमा नामक एक अन्य उत्तम भावपूर्ण उपन्यास भी प्रकाशित हो चुका था।

'मगल प्रभात'-कार, महाकाव्य प्रणाली की (सुब्रधु एवं बाणभट्ट द्वारा प्रवर्तित) षण्णात्मक उपन्यास शैली का हिन्दी में पुनरावतन करने के अनुरागी थे। तत्सम बहुल प्राजल, एवं मनोहर नालित्यमयी भाषा में रचित उनका 'मगल प्रभात' प्रेमचन्द युग का एक चिरस्मरणीय गद्यमहाकाव्य है जिसकी पृष्ठ-संख्या कुल ७५० है। वह अपने समय का बहतम हिन्दी उपन्यास भी माना गया था। हिन्दी उपन्यास में षण्णात्मक कला की दृष्टि से तो यह उपन्यास अत्यन्त महत्वशाली है। हिन्दी उपन्यास के समीक्षकों एवं इतिवत्तकारों की दृष्टि 'मगलप्रभात' के बारे में विभिन्न रही है। सुप्रसिद्ध उपन्यास साहित्य के इतिवत्तकार श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने 'मगल प्रभात' के षण्णात्मक पक्ष को विशेष पसन्द नहीं किया है, यद्यपि उन्होंने भी 'मगल प्रभात' के नवीन महाकाव्य की सराहना की है—

हमारे प्राचीन संस्कृत साहित्य में गद्यवद्ध साहित्यिक आख्यायिकाओं के परिच्छेदों के आरम्भ में, अच्छे अलंकृत दृश्य-वर्णन होते थे परन्तु उपन्यास के नवीन कलेवर का गृहीत हो जाने पर, ऐसी प्राचीन ढंग की रचनाएँ कृत्रिम और हास्यप्रद समझी जाने लगी हैं। हमारे साहित्य में चण्डीप्रसाद 'हृदयेश', एवं कनेवर का विकास कर रहे थे जिसमें आधुनिक ढंग आदि रहे ही, साथ साथ भारतीय वर्णन प्रणाली का भी निर्वाह होता चले। 'मगलप्रभात' एक बहुदृश्याय उपन्यास है। उसकी सत्र से बड़ी विशेषता है, इसकी षण्ण प्रणाली। प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में लव-जय अलंकृत वर्णन हैं। यदि इस उपन्यास में से अनावश्यक वाक्य निकाल दिये जायें, तो ७५० पृष्ठों में से कम होकर, इसका आवरण २०० पृष्ठ रह जाय।"

षण्णात्मक-कला की कसौटी पर न कैसे जाकर जब तक उत्कृष्ट औपन्यासिक कृतियों को हम परम्परागत एवं रूढ़ माना पर आँकते रहेंगे वे कभी भी समीक्षा-यात्र की अधिकारिणी न होंगे पाएँगी। 'मगल प्रभात' उपन्यास भी अपने प्रकाशन के पश्चात् यद्यपि विद्वद्बन्धु द्वारा सराया गया था किन्तु उसकी पुनरावृत्तियाँ न हा पाई और पुराना संस्करण भी धीरे धीरे विरल होता गया। आगरा (वल्लभगज) के चिरजीव पुस्तकालय के सौजन्य से ही उसका भी षण्णात्मक अनु-

१ 'हिन्दी उपन्यास (श्री शिवनारायण श्रीवास्तव) प्रकरण तृतीय, पृ० १८६ १८७ (१९६८ संस्करण, प्र० सरस्वती मन्दिर, वाराणसी)।

सधान समाप्त हो पाया है। उपयास से तो एक वणनामिराम अवतरण यहाँ दिए जा रहे हैं। पहला, 'प्रभात' का एक मनोरम वणनात्मक चित्रण है। यह 'मगल प्रभात' उपयास का ध्वन्यात्मक सकेत भी है —

'सूर्यास्त हो चुका था। प्रत्येक तुपारकण में, अनेक सप्तवण रगित इन्द्रधनुषों की सृष्टि करती हुई प्रभात मूय की कोमल किरण राशि गुलाब तल पर नृत्य कर रही थी। यमुना अपने असीम चिरसंगीत को गाती हुई प्रवाहित हो रही थी। उसके नीलाबर पर स्वणरेखाओं की भाँति, सूर्यदेव की किरण पड़ कर, एक अत्यन्त सुन्दर दृश्य उपस्थित कर रही थी। चिड़िया चहचहा रही थी। कृष्ण कुमारियों का समूह मधुर मस्त रागिनी गाता हुआ यमुना तट से जल लेकर लौटा आ रहा था। रात्रि की उस चरम शांति के पश्चात् (उपरा १) वह संगीत जागृति की मधुर कलकल ध्वनि के समान, प्रतीत होता था। नया जीवन था और उस नये जीवन का भी वह सुरभित प्रभात। रगपुर की रगभूमि पर, नूतन जागृति का विमल नृत्य प्रारम्भ हुए एक घड़ी के लगभग बीत चुका था।'

दूसरे अवतरण में, रगपुर ग्राम की आचलिक आमा के पाठक को आह्लादजनक दर्शन मिलते हैं — शरद ऋतु की दोपहर में गाव की अपूर्व मनाहर शोभा हो जाती है। हरे हरे खेतों के बीच में, फूली हुई पीली सरसा, ऐसी प्रतीत होती है, मानो प्रकृति देवी के नीले शाल पर कारचोबी का काम की बूटिया हो। उसके ऊपर जब, निमल नीलाकाश से उतर कर सूर्यदेव की सुवर्णमयी किरण राशि, क्रीडा करती है, और जब, शीतल मृदुल वायु का हिल्लोल उस शाल के अचल को चंचल बना देता है उस समय वह चपल शोभा एक देखने की वस्तु होती है। रगपुर की शोभा इस समय किसी भी रगमन्त्र से कम नहीं थी। एक ओर प्रवाहित हो रही थी मृदु कलकल वाहिनी नील सलिला यमुना। और चारों ओर सहलहा रहा था, महामाया प्रकृति देवी का नील अचल। कृष्ण समुदाय का यह उत्सव काल था सुन्दर सरल कृष्ण किशोर कहीं-कहीं अपने खेतों में, आनन्द से गा रहे हैं।'

श्री प्रेमचन्द के अतरंग एवं घनिष्ठ मित्रों एवं सह उपयासकारों में, हिंदी उपयास की वणनात्मक धारा को मधुमहाकायोपम गरिमा प्रदान करने वाले, अपूर्व प्रतिभा सम्पन्न महान उपयास स्रष्टा स्व० व दावनलाल वर्मा का नाम सर्वाग्रगण्य है। वे ५० भवन द्विबेदी गजपुरी और ५० वन्दरीनाथ मट्ट के भी अतरंग सखा थे और एक ऐसा भी समय था जब ये तीनों ही महान साहित्यकार सामयिक पत्र-पत्रिकाओं

१ 'मगल प्रभात' (श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश) छठा परिच्छेद — दिव्य वाणी, पृष्ठ ८१ (प्रकाशक—चाँद कार्यालय, प्रयाग प्रथम संस्करण १९२५ ई० से)।

२ वही ८वा परिच्छेद (सुमद्रा की सखी) पृष्ठ १००।

में, अपने छद्म नामों से, रोचक साहित्यिक वाद प्रतिवाद एवं सामयिक विवेचना चलाया करते थे। स्व० श्री वर्माजी, वस अवस्था में श्री प्रेमचंद जी से ८६ वर्ष छोटे थे, पर फिर भी प्रेमचंदजी, उनका और उनकी आद्यकृतियों का, बड़ा आदर करते थे।

वस्तुतः स्व० श्री वृंदावनलाल वर्मा के मन्थनेष्ट एवं महानतम उपन्यास, प्रेमचंद उत्तरकाल में ही रचे गए। क्योंकि इधर केवल दो-तीन प्रारम्भिक उपन्यास लिखने के बाद, दीर्घकाल तक, श्री वर्माजी, उपन्यास रचना कर ही न पाए और इसी बीच उधर श्री प्रेमचंद जी चल बसे। उपन्यास रचना में प्रवृत्त होने ही था। वर्माजी ने (सन् १९२७ ई० में), लगन नामक उपन्यास रचा था। वह 'ऐतिहासिक' उपन्यास न होकर लोककथात्मक एवं लोकजीवनपरक ही है। श्री 'प्रेमचंद' को श्री वर्माजी ने जब उसकी प्रति भेजी तो वे उसे पढ़ कर, बड़े प्रसन्न हुए और उन्होंने श्री वर्माजी का बड़े उत्साहपूर्वक स्वर में अभिनन्दन करते हुए लिखा था— यह उपन्यास नहीं—'ग्रामीण गद्यकाव्य ('वेस्टोरल पोएट्री') ही है। यहाँ उसी 'लगन' उपन्यास का, एक सहज वणन कलाभिराम अंश, उदाहृत किया जा रहा है—

देवीसिंह कुछ कनव्यवश, कुछ रुचिवश पशुपालन का काय किया करता था। जेठ का आरम्भ था। सन्ध्या हाँ चुकी थी। देवीसिंह, नदी तट पर, एक जगह जो घर से पाव मील थी, गया। आजकल यह स्थान मरील घाट कहलाता है। नदी के उस पार, एक कोस पर, मरील नाम का गाँव है। इसीलिए इस नाम से यह तट विख्यात है। नदी के उस पार, पहाड़ियों के खिरबिरे लम्बे लम्बे समूह, बढने हुए अधकार में एक लम्बी तिरछी स्पष्ट रेखा की भाँति भासित हो रहे थे। सघन वन के ऊपर, पल्लवहीन वरघई की क्षीण लालिमा और रेंवना तथा करौंदी की गहरी हरियाली की धुँधरी चादर सी तन गई थी। नदी में टिटहरी बोल रही थी। किनारे के बंधों पर श्यामा चिड़िया चहक उठी। नदी में मछली उछल उछल कर शोर करने लगी और मगर खुले स्थान से खिसक कर, पानी में समा गया। सन्ध्या हो गई। देवीसिंह स्वच्छ स्थान पर बैठ कर कुछ गाने लगा ।<sup>१</sup>

'विराटा की पन्मिनी (१९३० ई०) श्री वृंदावनलाल वर्मा की वह यशस्वी कृति थी जिसने उन्हें सहसा ही प्रेमचंद-काल के सर्वश्रेष्ठ ऐतिहासिक उपन्यासकार के सिंहासन पर प्रतिष्ठित कर दिया था। प्रेमचंद उत्तरकाल में तो श्री वर्माजी की एक से एक बड़ कर औपन्यासिक उपलब्धियों ने सबन देश विदेश में जो आदर और मान पाया है वह समग्र हिन्दी साहित्य के लिए एक विशिष्ट गौरव की

१ लगन (श्री वृंदावनलाल वर्मा) अध्याय २ पृष्ठ १७ (प्रथम प्रकाशन १९२७ ई०) (गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ)।

वस्तु है। इन अर्थों में 'विराटा की पद्मिनी' का, हिन्दी उपन्यास साहित्य के इतिवृत्त में, अविस्मरणीय स्थान रहेगा। प्रकृति वणन को श्री धर्माजी जिस सहज रमणीय एवं कलात्मक कौशल से इतिवृत्त की मार्मिक घटनाओं के साथ जोड़ते थे, वह वणन चमत्कार, सबप्रथम इसी उपन्यास में सुविकसित हुआ था। उनके परवर्ती श्रेष्ठ उपन्यास 'भृगुनयनी' (१९५० ई०) में, इस वणनात्मक विशिष्टता का चरम विकास हुआ था। उनकी अन्य वणनात्मक प्रतिभा प्रभासित कृतियाँ भी न जाने कितने सूक्ष्म विभेदों में, यह 'वगन सामजस्य कला' दृष्टिगाचर होती है। शांसी की रानी लक्ष्मीबाई (१९४५) कचनार (१९४६) तथा टूटे काटे (१९५४) में यह वणनात्मक कलाविध्य विशिष्टतया अवलोकनीय है। वैसे तो उनका समग्र उपन्यास साहित्य ही अपनी निजी वणनात्मक विशिष्टता के कारण हिन्दी उपन्यास के वणन कला विकास के अध्ययन के लिए अध्ययनीय है ही। यहाँ 'विराटा की पद्मिनी' से दा एक उत्कृष्ट कलाभिराम अवतरण ही दिया जा सके, यथा—

जिस समय गोमती मंदिर में पहुँची कुमुद, बेतवा के पूवतट के उस ओर, वन में जंगली पशुओं की जावाजें सुन रही थी। सध्या हो चुकी थी। पश्चिम दिशा का क्षितिज सुनहले रंग से भर चुका था और पूव की ओर से अधकार के पल्लव के पल्लव नदी की स्वर्णरेखा पर माना आवरण डालने वाले थे। मंदिर के चारों ओर, नदी की प्रशस्त धाराएँ अधकार और वय पशुओं की चीत्कारों से, कुमुद की एकांतता को, अलग सा कर रही थी।'

'कुजरसिंह मुसावली में एक अहीर के घर ठहर गया था। घर से लगा हुआ काटो की बिरवाई से घिरा हुआ एक वेडा था। उसमें कुजरसिंह घोड़ा बाधकर स्वयं घर के एक कोने में जकला आ बसा। बिरवाई से लग हुए ३४ महल्ल के पेड़ थे। महल्लों के पीछे से, एक चक्करदार नाला निकला था। दूसरी ओर वह पहाड़ी थी, जो 'मुसावली पाठा' कहलाती थी। एक ओर धीहड जंगल। कुजरसिंह महल्लों के नीचे गया। अहीर की कुछ भस्में नाले के पास घर रही थी। कुछ महल्लों के नीचे ऊँच रही थी। एक लडका कुछ घुप, कुछ छाया में, सोता हुआ जानवरों की देखभाल कर रहा था। घास आधी हरी आधी सूखी थी। बरषई के पत्ते पीते पड पड कर, गिरने लगे थे, नाले का पानी अभी नहीं सूखा था। कुछ भस्में उसमें लोट लोट कर शब्द कर रही थीं। बिडियाँ, इधर से उधर उड कर, शोर कर रही थीं। सूय की बिरणों में कुछ तेजी और हवा में थोड़ी उष्णता आ गई थी।'

१ विराटा की पद्मिनी (श्री बन्नावनलाल वर्मा) अध्याय १६ पृ० ६५ (गंगापुस्तक माला कार्यालय, लखनऊ)।

२ वही अध्याय ४२, पृष्ठ १३३।

प्रेमचन्द काल के एक अत्यन्त उत्तम हिन्दी उपन्यासकार हुए महाकवि श्री जयशंकर प्रसाद<sup>१</sup>। उनके दोनो संपूर्ण उपन्यास 'ककाल' (१९२६ ई०) एवं 'तितली' (१९३३ ई०) श्री प्रेमचन्द के जीवनकाल में ही प्रकाशित हो चुके थे। य दोनो ही कला कृतियाँ 'प्रसाद जी की वृणनात्मक प्रतिभा से छविमयी हैं। 'इरावती प्रायः मंगलमूर्त' की समतालीन ही अधूरी कृति है। य दोनों ही अधूरे उपन्यास हिन्दी के दो महानतम कथा कलाकारों के, विधाता द्वारा असमय विच्छेद के, माना स्मारक रूप अवशिष्ट रह गये हैं। फिर भी दोनों पर ही, उनके कलाकृतित्व की छाप अमिट रह गई है। 'प्रसाद' जी के पहले दोनो उपन्यास, अवाचीन जीवन के परिप्रेक्ष्य में रचे गए थे और तीसरा (इरावती) शुगकालीन भारत के, प्राचीन जन-जीवन का चित्र विचित्र वृणन लेखा था। तीनों ही उपन्यास (विशेषतया तितली और 'इरावती') अपने कलात्मक वृणनों के कारण ही, प्रिय एवं मनोरम हैं।

श्री प्रसादजी एवं श्री प्रेमचन्दजी इन दोनों ही महान उपन्यासकारों पर, काशी की समान रूप से गव है। दोनो ही पर्याप्त सक्ताचशील और प्रकाशन प्रदर्शन से विरत रह। दोनो ने ही काशी और उनके आसपास के अंचल को अपने उपन्यासों में चित्रित करके शाश्वत चिर जीवन प्रदान किया है। श्री प्रेमचन्दजी का काशी से बाहर अनेक वर्षों तक यहाँ वहाँ रहे भी किंतु प्रसादजी का काशी और गंगा की धारा से अत्यन्त घरलू ममता थी। श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने अपने 'आज का हिन्दी साहित्य' में, उनके बारे में जा राय दी है उसमें 'प्रसाद जी के वृणनात्मक कथा वक्त्र का पर्याप्त सत्य एवं यथातथ्य निरूपण हो जाता है—

प्रसाद का पूरा जीवन, काशी में गंगा तट पर ही बीता था जहाँ प्रतिक्षण प्रतिफल गंगा की धारा, भारतीय जीवन के कून कगारा से टकराया करती है। नदियाँ का जसा वृणन हम 'प्रसाद' के उपन्यासों में पाते हैं वह अत्यन्त दुलम है। प्रयाग, हरिद्वार, और काशी में गंगा की हर हर मधुरा और व दावन में यमुना का उदाम प्रवाह सीकरी के अ-उग्रान्त में अलडडी में टोनी नदी (तितली में) गंगा के तिनारे बाबा गमनाथ का वनजरिया इरावती में त्रिप्रा गंगा और शाण नदियाँ का गहरा नाव, समो, हन भारतीय इतिहास और जीवन में इन नदियाँ के महत्व का स्मरण दिलाते हैं। 'प्रसाद कहते हैं 'मनुष्य व जाचरण में, कम में नदी की धारा की तरह प्रवाह होना चाहिए। तालाव के वेंगे पानी सा उमका जीवन का जल, सडने और भूखने के लिए होगा तो वह जड और स्पन्दन विहीन होगा।'

१ आज का हिन्दी साहित्य' (श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त) अध्याय १० पृ० ६१-६२ (नेशनल पब्लिशिंग हाउस दिल्ली ७ प्रथम प्रकाशन १९६६ ई०)।

२ तितली' (श्री जयशंकर 'प्रसाद'), पृष्ठ १७२



श्री 'प्रसाद कवि एव उपन्यासकार के अतिरिक्त ममन कलाविद् और कला समीक्षक भी थे। एक प्रकार से उनका सारा जीवन ही कला साधना का एक अनवरत उद्योग कहा जा सकता है। इसीलिए जब श्री 'प्रसाद' जी को ऐसा अनुभव हुआ कि वे पद्य के माध्यम द्वारा, उस सबव्यापी वणनात्मक सौंदर्य के विविध चित्रों को उनसे सश्लिष्ट और यापक रूप में नहीं उतार पाते जितना कि उनकी वणनात्मक चित्रण कला की असीम आकांक्षा थी, तो उन्होंने उपन्यास रचना में प्रवृत्त होने का निणय किया, जहाँ कि उनकी वणनात्मक प्रतिभा को, उचित विकास मिल पाया है। तितला उपन्यास ही उनकी वणनात्मक प्रतिभा की सबधेष्ठ प्रतिनिधि रचना मानी जा सकती है। अतः उनके 'तितली' उपन्यास से ही दो अत्यंत मनोरम वणनात्मक छवियाँ उद्घृत करने के पश्चात्, प्रेमचंद-काल के हिंदी उपन्यास के, इस वणनात्मक पर्यवेक्षण में विराम लेना होगा —

'सायकाल था। खेतों की हरियाली पर, कहीं-कहीं, हूबती हुई किरणों की छाया अभी पड़ रही थी। प्रकाश डूब रहा था। प्रशांत गया का कच्चार शून्य हृदय खाले पड़ा था। करारे पर सरसों के खेत में बसती चादर बिछी थी। नीचे भीतल बालू में करकूल चिड़ियों का एक भुण्ड, मौन होकर बठा था। कंधों से, मरगो व फूलों के, घने परदे को चीरते हुए इन्द्र देव ने उस स्पन्दन विहीन प्रकृति गण को आनोत्रित कर दिया। मयभीत करकूल भुण्ड के भुण्ड, उस धूमिल आकाश में मडराने लगे।'

अना को पका देने वाला पश्चिम पवन सरसों से चल रहा था। जो गेहूँ के कुछ कुछ नीले बाल उसकी झांक में लोट पोट हो रहे थे। वह फागुन की हवा, मन में नई उमंग बढ़ाने वाली थी। कुतूहल से मरी ग्राम वधुएँ एक दूसरे की आलोचना में हसती हुई अपने रंग बिरंगे वस्त्रों में ठीक शस्य श्यामल खेतों की तरह तरगायित और चंचल हो रहीं थी। वह जगली पवन, उनके वस्त्रों से उलझा था। युवतियाँ उसे समेटती हुई अनेक प्रकार से अपने अंगों को मरोड़ लेती थीं। गाव की सीमा में निधनता थी। पीली पीली धूप तीसी और सरसों के फूलों पर पड़ रही थी। बसंत की व्यापक कला में प्रकृति सजीव हो उठी थी। सिन्हाई से, मिट्टी की सौधी महक वनस्पतियों की हरियाली, और फूलों की गंध उस वातावरण में उत्तेजनात्मक मादकता, ढाल रही थी।'

१ 'तितली' (श्री जयशंकर 'प्रसाद') खण्ड २ अध्याय १०, पृष्ठ १२७ (प्रथम प्रकाशन १९३३ ई० भारती मण्डार, प्रयाग)।

२ वही खण्ड ३, अध्याय ३, पृष्ठ १५९।

## सप्तम प्रकरण प्रेमचंद - उत्तर काल (१९३७-१९७२ ई०)

हिंदी उपन्यास को जो प्रभूत वणन समृद्धि श्री प्रेमचंद ने प्रदान की है, उसी से पोषित एवं प्रेरित होकर हिन्दी साहित्य के अनेकानेक शीघ्र आधुनिक उपन्यासकारों ने, अपनी स्वतंत्र उपन्यास शक्तियों का प्रवर्तन किया है। उनमें से कितने ही किस रूप में, और किस माति, प्रेमचंद द्वारा प्रभावित हुए तथा लामावित हुए यह समीक्षात्मक चर्चा, एक बड़े विस्तृत क्षेत्र की ओर इंगित करती है। अतएव प्रेमचंद-काल के अवसान पर सन १९३७ ई० के हिंदी उपन्यास के इस चरम शिखर पर खड़े होकर, अब हमें, प्रेमचंद-काल की दृष्ट्यावली में, हठात अपनी आंखों को हटा कर, प्रेमचंद उत्तरकाल (१९३७-१९७२ ई०) के साढ़े तीन दशकों में फैली हुई मध्य एवं आश्चर्यजनक हिंदी उपन्यास की रस स्रष्टि की, अत्यन्त आकषक एवं सनात्मक उपलब्धियों की ओर, उन्मुख होना होगा।

सन १९०४ ई० से सन १९३६ ई० (प्रेमचंद काल) के पश्चात् अद्यावधि भी, श्री प्रेमचंद के उपन्यास साहित्य की अक्षय वणनात्मक समृद्धि एवं उसके अनन्त वणनात्मक कलात्मक प्रयागों ने, प्रायः प्रत्येक भारतीय उपन्यास लेखक को किसी न किसी रूप में, प्रेरणा प्रदान की है तथा अक्षय वण्य-संकेत भी प्रदान किये हैं।

आधुनिक हिंदी साहित्य की उपलब्धियाँ वस्तुतः परम महती हैं। दो सहस्र वर्षों के अनूठे वणनात्मक वैभव के रिचय' ने उन्हें विकास और विधास का मुहठ आधार प्रदान किया है। 'प्रेमचंद उत्तरकाल', हिंदी उपन्यास में नये प्रयोगों एवं नई शक्तियों का युग भी कहा जा सकता है।

हिंदी उपन्यास के इस प्रेमचंद उत्तरकाल के प्रभूत साहित्य पर एक विह्वल दृष्टि डालने पर हम ज्ञात होगा कि इस काल में स्व० श्री वृन्दाबलाल वर्मा के ऐतिहासिक उपन्यासों ने प्रायः अद्यावधि अपना वणनात्मक वैशिष्ट्य एवं महत्त्व बनाए रखा है। 'दुर्गावती' (१९६५ ई०) और 'सोती आग' (१९६७ ई०) तक भी स्वर्गीय श्री वर्माजी की लेखना, वणन-क्षेत्र के नव-नव विलास में विहरने से, विध्वानि लेने का नाम नहीं लेती थी। वे हमें प्रेमचंद काल के वणनात्मक वैभव का मानो बारम्बार पुनः स्मरण करा जाते हैं। प्रेमचंद काल के वर्तमान उपन्यासकारों में श्री जनेन्द्र कुमार, अपनी उपन्यास रचना में नये नये प्रयोग करते ही चले जा रहे हैं जिनमें उनका रेडियो पर धारावाहिक रूप से प्रसारित उपन्यास 'अनन्तर' भी उल्लेख्य है। मुक्तिबोध (१९६५ ई०) उनका अबादमी द्वारा पुरस्कृत परवर्ती उपन्यास है तथा अनामस्वामी 'त्यागपत्र' की उत्तराधिका है, जो प्रयोग की दृष्टि से नूतनता लिये है।

श्री जनेद्र प्रेमचंद काल के सबप्रथम 'नवीन उप-यास विधा' के उन्नायक भी रहे हैं। उ-हे वर्णनात्मक उप-यासकारों की पाति मे जानबूझ कर ही नहीं खड़ा किया गया। वस्तुतः श्री जनेद्र भी उप-यासकार नहीं दाशनिक् हैं। उन्होंने उप-यास माध्यम का उपयोग केवल अपन विचारों को अधिक ग्राह्य एव सुलभ बनाने के लिए ही किया है। यही बात उनके कतिपय अन्य सहयोगियों—यथा श्री अनेय आदि के बारे मे भी घटा बड़ा कर कही जा सकती है। इन उप-यासकारों का विश्व एक बौद्धिक विश्व है। वे अपनी वर्णनात्मक असमयताओं से स्वयं परिचित भी हैं। इसलिए उन्होंने अपने लिए, अलग रास्ता निकाल लिया है—जो ठीक भी है।

प्रेमचंद उत्तर काल (१९३७-१९७२ ई०) ने हमें कुछ महान एव मौलिक, वर्णन कला ममन प्रतिभाएँ भी प्रदान की हैं यथा श्री इनाचंद्र जोशी, स्व० श्री 'रागय राघव' स्व० श्री राहुल साहृत्यायन, आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी श्री यशपाल श्री फणीश्वरनाथ रेणु श्री 'नागाजुन श्री भगवतीचरण वर्मा, स्व० श्री उदयशंकर भट्ट, श्री देवेन्द्र सत्याधी स्व० श्री रुद्र काशिकेय श्री प्रतापनारायण श्री वास्तव, श्री भरघप्रसाद गुप्त, डा० देवराज, श्री माहन राकेश तथा लगभग एक दर्जन अन्य प्रतिभाशाली उप-यास स्रष्टा। स्व० आचार्य चतुरसेन शास्त्री यद्यपि श्री प्रेमचंद के समकालीन एव सहयोगी उप-यासकार रहे थे फिर भी उनकी वर्णनात्मक कला का चरम विकास श्री प्रेमचंद के निघन के पश्चात् ही प्रकाश मे आ पाया था। यही बात श्री भगवतीचरण वर्मा के बारे मे भी कही जा सकती है, जिनके साथ ही साथ कदम बढ़ाते चलने वाले, श्री अमृत लाल नागर भी एक समय वर्णनात्मक उप-यासकार हैं।

इन सभी प्रतिभाशाली सरम्बती सुमनों द्वारा रचित महान हिंदी उप-यास साहित्य आज विश्व का सर्वोत्कृष्ट उप-यास साहित्य कहाने का अधिकारी हो गया है। वर्णनात्मक कला के असह्य एव सूक्ष्म प्रयोगों में उन्होंने न जाने कितनी स्मरणीय सफलताएँ पायी हैं। इन प्रतिभाशाली उप-यास स्रष्टाओं में से कुछ की सनात्मक कृतियों के उत्कृष्ट वर्णना का समावेश वर्णनात्मकता में कला और उसके उपादान शीपक अध्याय में किया ही जा चुका है। फिर भी यहाँ प्रेमचंद उत्तर काल के तीन विशिष्ट एव महान वर्णनात्मक प्रतिभा के धनी कलाकारों की कृतियों की, एक विहंगम झाँकी प्रस्तुत करके ही सतोष करना होगा। सन १९४२ में हमारे श्रेष्ठ निबन्धकार तथा समीक्षक आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदा ने अपनी वाणभट्ट की आत्म कथा लिख कर हिंदी साहित्य के उप-यास पाठकों को पयाप्त चौंका दिया था कि तु उनके वर्णनकला के और भी अधिक चमत्कारी प्रयोग, तो आगे चल कर अर्थात् १९६३ ई० में चार चंद्रलेख तथा १९६६ ई० में 'पुननवा द्वारा किए गए हैं। ये श्रेष्ठ औप-यासिक कृतियाँ, आधुनिक हिंदी उप-यास साहित्य की, चरम उपलब्धियाँ भी मानी जा सकती हैं।

सन् १९५४ ई० में श्री फणीश्वरनाथ 'रेणु' ने अपनी निराली ओपन्यासिक सृष्टि मला आचल' द्वारा हिन्दी उपन्यास के पाठकों को एक नये प्रकार की वणनात्मक शैली प्रदान की। जैसे चल कर इस कृति ने, हिन्दी साहित्य में 'आचलिक' उपन्यासों की लोकप्रियता को, पर्याप्त बल दिया। परती परिकथा (१९५७ ई०) में श्री 'रेणु' का वणनात्मक प्रतिभा अधिक प्रौढ़ एवं व्यञ्जनाप्रधान हो गई है। वस्तुतः कालांतर में यही कृति उनकी कला की प्रतिनिधि रचना मानी जाएगी। १९५६ ई० में स्व० श्री उदयशंकर भट्ट ने सागर, लहरें और मनुष्य नामक अपने नये ढंग के उपन्यास की सृष्टि की। इसने हिन्दी उपन्यासकारों का ध्यान, अपने देश की महान नदियाँ के तटा पर तथा भारत की लम्बी सागर पट्टी पर बस रहने वाले, मछुआरों के जीवन की ओर भी आकृष्ट किया, जो अब तक हिन्दी उपन्यासकारों द्वारा प्रायः उपेक्षित और तिरस्कृत थे। साथ ही इस उपन्यास द्वारा उन्होंने सागर-तटवर्ती प्रकृति वणन के, नये नये दृश्यपटों का भी उद्घाटन किया।

स्व० उदयशंकर भट्ट द्वारा रचित कोकण-तटवर्ती मछुआरों के जीवन से सम्बद्ध, इस ओपन्यासिक कृति सागर, लहरें और मनुष्य के प्रकाशन पर, उनसे परिचित समीक्षकों की, पर्याप्त आश्चय हुआ। कारण कि श्री भट्टजी पहले ब्राह्मण, और विष्णुदत्त शाकाहारी आचार विचार के ध्यक्षि रहे थे। अस्पृश्यों के समान मछुआरों के जीवन का, इतना घनिष्ट चित्रण और वणन, उनकी लेखनी से कैसे सम्भव हो पाया? यह जिज्ञासा सहज ही थी। बगला माया में रचे गये उद्घाट 'गंगा' नामक उपन्यास के तरण लेखक समीक्षण वसु अनेक वर्षों तक मछुआरों के साथ, उनकी खतरनाक जल यात्राओं एवं सागरयात्राओं में साथ साथ घूमे भट्टके थे तब कहीं उन्होंने, सन १९६६ ई० में 'गंगा' की रचना की थी। क्या कभी श्री भट्टजी को भी मछुआरों के जीवन का, प्रत्यक्ष अनुभव एवं सहवास उपलब्ध हुआ था? इस सहज प्रश्न को जब श्री रणवीर राधा ने उनसे अपनी एक भेंट में पूछा तो श्री भट्टजी ने उन्हें निम्न उत्तर दिया था। उससे उनकी उपन्यासगत वणन कला के अनेक सूत्रों पर मूल्यवान् प्रकाश पड़ेगा —

मछुआरों के जीवन से मेरा सीधा सम्बन्ध, कभी नहीं रहा, जानि और कम से भी नहीं। बात माघ १९५३ ई० की है। मुझे अपने एक निकटतम सम्बन्धी का जा विशेष यात्रा पर जा रहे थे विदा करने, बम्बई जाना पड़ा। या मैं इससे पूर्व भी कई बार बम्बई गया हूँ और समुद्र स्नान, समुद्र स्नान की लालसा, मेरे भीतर सदा ही रही है। समुद्र के किनारे किनार घूमना एकान्त में बैठ कर गजन सुनना सदा मेरा शौक था और उन दिनों भी वही हुआ। बम्बई जाकर, अपने का मैं रोक नहीं पाता। आज भी समुद्र के किनारे किनारे

घूमना पसंद करता हूँ। उस समय मुझे लगता है समुद्र भी, इस पृथ्वी की तरह, अनन्त सप्ताह है।<sup>१</sup>

‘तो उम दिन मैं, अपने एक मायी क साथ, घूमते घूमते, बरसोवा नामक ग्राम की ओर जा निकला। यहाँ मुझे एक नई दुनियाँ दिखाई दी। सहाराता समुद्र और वहाँ का जन जीवन देख कर एक उत्सुकता एक अभिव्यक्ति की बचनी, मेरे भीतर फूटने को आतुर हो उठी। मचान पर फली मछलियाँ किनारे पर नावा म बठे मल्लाहों की मस्ती, उनके गीत, उनका जीवा दशन ने मुझे आकृष्ट किया। मैं बहुत दूर तक खड़ा खड़ा, उस दृश्य को देखता रहता। उस समय मुझ लगा जैसे मैं भी, इसी समुद्र और इन प्राणियों में से एक हूँ। उनके गीतों की जो तान उठ रही थी, उसम जैसे मुझे, समुद्र ताल दता लगा। एक त मयता की प्रतीति हुई। मुझे लगा, जैसे लहरें उनका हर गान, तान ओजस्वी लय को, आत्मसात करतीं, बढ़ रही हों और मेरा सर्वाङ्ग उन गीतों पर ताल देकर गुनगुनाने लगा। मैं उस समय अपने को भूल गया। मैंने अनुभव किया सागर की भी एक कहानी है, तो सागर-पुत्रों की भी।’

‘वैसे मैं रामश्वरम् घनुपकोटि, कया पुमारी जगन्नाथपुरी, द्वारिका, आदि के समुद्र के भी दशन कर चुका था। उस समय मेरे मन में यह विचार कई बार उठा कि हिन्दी साहित्य में समुद्र का नितांत अभाव है। इस सम्बन्ध में मुझे जब तब साहित्यिक मित्रों से भी, चर्चा करन का अवसर मिला। उस समय मधुओ के जीवन ने मुझे उत्साहित किया। मैंने निश्चय किया कि यदि मैं इस जीवन को, साहित्य में चित्रित कर सकूँ तो कदाचित् हिन्दी साहित्य का अश मान्य के अभाव की पूर्ति कर सकगा। मुझ में एक उत्साह जागा और मैं फिर अपने काम में जुट गया।’

बम्बई के आसपास उत्तरकोवण क सागर-तट पर बसी मधुआरा की बस्तियों तथा उनका रहन सहन, वहाँ की सकर आन्विसी नागरी-संस्कृति अपभ्रंश खिचड़ी मापा तथा सकटपूर्ण मधुआरों क आदिम तामसी राजसी वृत्तियों से युक्त जीवन को दशनि वाला, उप यास सागर, लहरें और मनुष्य अपने प्रथम पृष्ठ और प्रथम वणन से ही माना अपने पाठक को, अभिभूत कर लेता है —

‘उस दिन मंगलवार था पूना की रात। आकाश से धुध की धार बरस रही थी। धरती का कोना काना हस रहा था। समुद्र की सतह पर जहाँ तक निगाह जाती मोतियों का धूरा बिछा था। लहरों की आकाश धूमन वाली ऊँची दीवारों

१ ३ उदयनकर भट्ट ‘ध्वक्ति और साहित्यकार’, अध्याय १७, मटटजी के उपन्यास उनकी दृष्टि में, पृष्ठ ११७-१२० (प्र० आत्माराम एण्ड स स, दिल्ली)

के किनारे पर, फेनी की गोट लगी दीख पड़ती थी। अभिमान की तरह लहरें, ऊंची से ऊंची उठ रही थी। सारा समुद्र, एक महान खिलाड़ी के उल्लास उमग से, उत्तरग हो रहा था। पहले पहर की उसी रात को बम्बई के पश्चिम-तट पर बसा हुआ मछलीमारो का गाँव, बरसोवा, उनीदा हो रहा था। उस समय बरसोवा में आदमी कम, बच्चों बूढ़ों की गिनती अधिक थी। जो आदमी थे, वे बाहर से आये दूकानदार थे। प्रायः सभी मछलीमार, समुद्र के भीतर उमग की तरह तरने वाली मछलियाँ को पकड़ने निकल पड़े थे। अंधेरा कौनों में छिपा बठा था, उजाला मदाना में नाच रहा था। धीरे धीरे जीर भी सनाटा बढ़ा। गाँव के तटा और समुद्र की छाती की घड़कन कम हो रही थी।"

'इसी समय बादला के टुकड़े, पश्चिम के क्षितिज से चोरो की तरह झांकने लगे। हवा की सास घुटने लगी। लहरों की हिम्मत टूटी। जो दो चार बिड़ियाँ आसमान में भँडरा कर, समुद्र की छाती पर उभरती मछलियाँ का शिकार करने में व्यस्त थी, उनका अब कहीं नाम निशान नहीं रह गया था। सनाटा और बढ़ा। हवा और कम हुई। लहरों के गीत सौन लगे। इसी समय, साहसी डाकुओं की तरह, काले लबादों में लिपटे मेघ समूह से, तीरों और लम्बे बासों के समान माटी धार, आसमान से गिरने लगी। सब ओर इस्पात की तरह ठोस अंधेरा गहराने लगा—निगाहों की सुई के लिये भी असम्भव।"

'चोरो और अंधेरा। माटे सूत की रस्सियों से भी मोटी वर्षा की जलधार। न कुछ सुनाई दे रहा था, न दिखाई। एक प्रलय का समुद्र में उठ रहा था। एक भीषण ध्वनि की दहाड़ से सारा समुद्र उमड़ रहा था। किनारे पर खड़े लोगों के परो, घुटनों से, लहरें टकराई तो लोग ऊपर आ गए। जब वहाँ भी पानी ने घरा, तो डर से भागते चिल्लाते लोग अपनी झोपड़ियों के पास आ खड़े हुए। समुद्र-तट से आये फलाँग तक पानी ऊपर चढ़ आया था। अहकारी पेड़ा का पता न था। सहमता लताएँ और पास की पत्तियाँ झुक गईं। झापड़ियों के पास खड़े लोग उड़े जा रहे थे। उस अंधेरे में मानूस होना था, सारी पृथ्वी डूब जायगी। हवा आधी बन गई और आधी भ्रमा। आकाश के एक किनारे से दूसरे किनारे तक गडगडाहट के साथ बिजली कौंध जाती। उससे लगता जैसे समुद्र और आसमान एक हो गए हैं।'

श्री फणीश्वरनाथ रेणु ने लोककथाओं एवं लोक अनुश्रुतियों को अपने आसपास के फने हुए धूल धूसरित प्रदेश के आचलिक चित्रण के लिए, जब उपन्यास विधा का

आश्रय लिया तो उन्हें, स्वयं भी पता न होगा कि एक दिन उनकी यह शली, हिंदी उप-यामा में एक नवीन धारा की प्रवृत्तक मानी जाएगी। हमारा महान भारत देश, न जाने कितनी आचलिक ढकाइयों में बँटा हुआ है और उनमें से प्रत्येक की, अपनी निजी आचलिक विशिष्टताएँ हैं। वे सभी, उप-यामाकार की वणनात्मक प्रतिभा को मानो चुनौती देती हैं। रूप और रंग शब्द एवं नाद की विविधताओं का यहाँ अन्त नहीं है। वणन का क्षेत्र यहाँ अबाध है और लोकगाथाओं की अक्षय सम्पत्ति, यहाँ किसी भी उप-यामाकार को, लेखन प्रेरणा प्रदान करने में समर्थ है।

रणू ने अपने प्रथम उप-यामा के लिए, पूर्णिया जिले के कुछ ऐसे गाँवों और कस्बा को चुना है जो कभी निलह साहवा का जागीर में रहे थे। वह आतक वगार और निधनता का युग था जहाँ गरीब ग्रामीण पिस्तता था और दूटना था। वही किसी निलह साहवा की भूतिया छडहर कोटी देव कर लेखक को उप-यामा रचना की प्रेरणा मिला। उप-यामा में सन १९४२ ई० की भाँति एवं उसकी प्रति क्रियाओं द्वारा, सामयिकता एवं प्रतीकमानता लाने का ध्यान भी किया गया है। कि तु वस्तुतः रणू की वणनात्मक कला (जो मला आचल में प्रस्फुटित हुई थी) उनकी परवर्ती कृति 'परती परिकथा' में ही सुविकसित हो पाई है। यहाँ उसी से कुछ सात्त्विक वणन लेखन की वणनात्मक विशिष्टता का परिचय देने के अतिप्राय से, उद्धृत किये जा रहे हैं —

धूसर, वीरान अ तहोन प्रातर !

पतिता भूमि परती जमीन व ध्या धरती ।

'धरती नहीं धरती की ताश जिस पर वषण की तरह फली हुई हैं—बालु चरा की पत्तियाँ ! उत्तर नैपाल से घुम्न होकर, दक्षिण गंगातट तक पूर्णिया जिले के नबसे को दो अमम भागों में विभक्त करता हुआ—फला फला यह विशाल भू-भाग। लारो एकड भूमि जिस पर सिफ वरसात में धार्मिक आशा की तरह, द्रव हरी हा जाती है। समवत तीन चार सौ बप पहले इस अचल में कासी मैया की यह विनाशलाला हुई होगी। सासो एकट जमीन—एकविशान भूभाग हठात् कुछ से कुछ हा गया होगा ! सपेद बालु से, वृष तालाव नदी नाले पट गए ! मिटती हुई हरियाली पर हल्का दाशमी रंग धार धार छा गया। क्या होगी अवश्य इस परती की भी ! व्यथामरी क्या व या धरती की !

इस भाँति यद्यपि परती परिकथा का प्रारम्भ गहन अवसाद की छाया में होता है किन्तु उसका अन्त, एक आशावादी नवविहान में होता है। कोसी-योजना के

कारण, परती धरती के कायाकल्प होने की रूपरेखा बनती है। लोकनाट्यकार इसी को रूपक-द्वारा रंगमंच पर प्रस्तुत करते हैं। उसी समय की इस महा उपन्यास की अंतिम भाँकी की वणनात्मक छवि, इस भाँति अंकित की गई है —

‘दशकों की आँखों में तरल तरंग ! आन दाँव्वास ! काशका महारानी कौन ? ताजमनी ? ‘रेशमी पटोर मया फाडि के फेंकाउनी सोना के गहनवा मया गाव में बटाउली। छम्म छम्मा। घर घर कापे धरती मैया। एक दीप टिमटिमा उठा। उजाला हुआ। दुलारीदाय? मलारीदाय ? दोनो रे, बहिनियाँ रामा गला जोटी बिलखय ! प्राणा के नय नये रंग उभरेंगे। वीरान धरती का रंग बदल रहा है धीरे धीरे हरा, लाल पीला बैंगनी हरे हरे खेत ! परती पर रंग की लहरें सेमलवनी के आकाश में अबोर गुलाल उड़ रहा है। आमन प्रसवा परती हँस कर करवट बदलती है !’

जिस शुभ घड़ी में आचार्य श्री हजारीप्रसादजी द्विवेदी ने, उपन्यास रचना में हाथ लगाया, वह हिन्दी साहित्य एवं हिन्दी उपन्यास विधा की वणनात्मक गरिमा की दृष्टि से, एक मांगलिक घड़ी थी। उनकी बाणभट्ट की आत्मकथा ‘हिन्दी उपन्यासों की सहस्रावधि’ पंक्ति में अकेली खड़ी थी और पाठकों को पर्याप्त हृष्ट एवं विस्मय प्रदान करती थी। किंतु यह बात थी आज से लगभग १८ वर्ष पहले की और लोगों ने शायद मान लिया था कि अब द्विवेदीजी उपन्यास लेखन के जगत में समवतया और प्रयत्न नहीं करेंगे। पर सन १९६३ ई० में लगभग एक दशक के अंतर के बाद उन्होंने, अपने पाठकों और समीक्षकों का एक और आश्चर्यजनक धक्का दिया। चारु चंद्रलेख (१९६३) उपन्यास, न केवल हिन्दी उपन्यास क्षेत्र में, वणनात्मक गद्य महाकाव्य शैली में, एक नई उपलब्धि है वरन् उसने प्रायः सभी प्रकार की विविध शैलियों में एक विविध भाषाओं में उपन्यास रचने वाले, नये पुराने उपन्यासकारों के सम्मुख, एक चुनौती भी रखी है। यहाँ हम एक साथ वणनात्मक ब्रह्म और साहित्यिक गहराई, वाग्बिदग्धता और कायशास्त्र विनोद, इतिवृत्त और लोकवृत्त, घम और ससृष्टि तांत्रिक सिद्धियों काल्पनिक रस विश्व, यथाथवादी आयुर्निक चुनौतियाँ और आचलिक परिवेश की छटाएँ प्रकृति पट की शोभाछवियों और वृत्तिस लक्षणयुता, मंगल मूर्तिसम, शास्त्रीय रूपसियों सभी एक स्थल पर देखने का मिल जाती हैं और पाठक हैरान और हक्का-बबका, इस परम राक्षक, परम रमणीय एवं वणनकला के ब्रह्म से परम मनारम, क्या का पढ़न में निमग्न सा हा जाता है !

चारु चंद्रलेख’ वाग्ब्रह्म में, वणनात्मक कलाभिराम उपन्यास शैली की, एक अत्यन्त उच्चतम उपलब्धि है और इस दृष्टि से यह पृथक एवं विनोद अध्ययन की



अपेक्षी रखता है, जो यहाँ समाध्य नहीं है। इस विरस्मरणीय उप-यास से, प्रारम के वणनाश भी, लेखक की विलक्षण एक कलाभिभूषित वणन शली का आभास करा देने में समथ है, यथा —

‘इस घोर जगल म, मैं क्या देख रहा हूँ ? जिसे मैंने लाल पल्लवो वाली सता समझा था वस्तुतः वह एक अप्रुव सुन्दरी देव बाना थी। उसके कौमुम्भी वस्त्रो को देख कर, मुझे लाल लाल किमलयो का भ्रम हो गया था। उसके एक हाथ मे धाली थी, दूसरे म भृ गार ! मृगद्योना उनकी साडी म मुँह छिपा कर, इस प्रकार मो गया था जैसे भय प्रस्त बालक माँ की गात्र म मो जाता है। मुझे समझ म नहीं आता कि मैं क्या देख रहा हूँ। ध्यान से देता तो उसकी साडी फटी हुई थी उसके परो मे जाने कितने घाटे लगे हुए थे और वह ध्याकुल भाव से मेरी ओर देख रही थी। क्या देख रहा हूँ ? क्या कोई दूसरा स्वप्न है ? इस घने जगल म मरी दोपहरी में, जहाँ मनुष्य तो क्या, जगली जानवर भी नहीं दिखाई दे रहे हैं, वहाँ यह अप्रुव सुन्दरी कहाँ से आ गई ! मुझे रचमात्र भी सन्देह नहीं रहा कि यह कोई वन देवी है। मैंने हाथ जोड कर अपराधी भाव से कहा —

देवि ! अपराध माजित हो !

अष्टम प्रकरण

हिन्दी उप-यास-साहित्य का

शलीगत वग विभाजन और उसकी वणनात्मक विवेचना

हिन्दी उप-यास साहित्य के इस विहगम पयवेक्षण से यह तथ्य ता सुस्पष्ट हो ही जाता है कि भारत की आद्य औप-यासिक कृतियो से लेकर, आधुनिक हिन्दी उप-यास साहित्य तक, औप-यासिक रचना की मुख्य प्रवृत्ति वणनात्मक एवं वणन प्रिय रही है। किन्तु उपयुक्त सर्वेक्षण मे कुछ वर्गों अथवा शलियो के उप-यासो को विशेष महत्व प्रदान किया गया है तथा कुछ वर्गों एवं शलियो की औप-यासिक कृतियो को अपेक्षाकृत कम स्थान दिया गया है और उनके महत्व को भी अधिक नहीं स्वीकारा गया है। प्रकट रूप से, समीक्षात्मक सर्वेक्षण की यह पद्धति अपनाते का कारण यहा है कि कुछ विशिष्ट प्रकार एवं प्रवृत्ति के उप-यास वर्गों मे वणनो का बाहुल्य रहता है और कुछ वर्गों अथवा शलियो म रची गई औप-यासिक कृतिए, अपेक्षाकृत वणन विरल पाई जाती है। फिर भा उनका हिन्दी उप-यास साहित्य म जो ऐतिहासिक एवं प्रवृत्तिगत अथवा शलीगत महत्व है उससे इकार नहीं किया जा सकता। इस तथ्य को ध्यान म रखते हुए यदि हम समग्र हिन्दी उप-यास साहित्य

१ ‘चारु चन्द्रलेख’ (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) अध्याय १ पृष्ठ १६ (प्रथम प्रकाशन १९६३ ई०) (प्रकाशक राजकमल प्रकाशन प्रा० लि०, दिल्ली ६)।

का एक बार पुनः वणनात्मक परीक्षण कर डालें तो उपयुक्त विषय का अनेक अंशों में समाधान हो जायेगा।

उदाहरणार्थ इस समग्र हिन्दी उपन्यास साहित्य की आद्य उपन्यासिका 'उदयान चरित' अथवा 'रानी केतकी की कहानी' को उसके आधुनिक उपन्यास रूप से इतना भिन्न होने पर भी, इतना अधिक महत्व दिया गया है। शर्मा अथवा वग-विमाजनों की दृष्टि से हम इसे 'रोमानी' कोटि में पायेंगे। किन्तु 'रानी केतकी की कहानी' केवल 'रोमानी' कृति ही नहीं है, यद्यपि उसका मूलाधार विशुद्ध 'रोमान्स' तत्व ही रहा है। इस उपन्यासिका के मजे हुए कथाकार एवं कलाकार 'इशा', एक सहृदय सग्न कवि भी थे अतः लेखक की भावप्रवण रसात्मकता, पाठक को आद्योपात्त अभिभूत किये रहती है। इस दृष्टि से इशा की कृति ने न केवल हिन्दी उपन्यास में 'रोमानी कोटि' के उपन्यासों का सूत्रपात किया है वरन् साथ ही, उसने 'भावना प्रधान' उपन्यासों का भी प्रवर्तन किया है। वणनात्मक कला की दृष्टि से तो यह एक अनुपम मणि-जटित चन्द्रहार सी ही जान पड़ती है।

उपयुक्त 'भावना प्रधान रोमानी उपन्यास, कोटि' ने हिन्दी उपन्यास में आद्योपात्त विकास एवं उन्मुक्त विलास पाया है। 'इशा' की कृति से प्राप्त एक शती पश्चात् (सन् १८८५ ई०) में रची गई एक अत्यन्त भाव विभोर औपन्यासिक कृति 'श्यामास्वप्न' भी इस दृष्टि से अविस्मरणीय बन पड़ी है। उसके रचयिता ठा० जगमोहन सिंह ने प्रकृति के मनोरम अञ्चल में बसे दण्डकारण्य प्रदेश में अपना कथासूत्र प्रारम्भ किया है—'जहाँ की निरुत्थिता की तीर, वानीर से घिरे

मैं वहाँ तक इस सुन्दर देश का वणन करूँ ? आदि पवित्र्याँ, चिरकाल तक पाठक की हृत्तन्त्री को झटका करती रहती हैं।

एक बहुधा विस्मृत किन्तु निजी विशिष्टतायुक्त उत्तमोत्तम वणन प्रधान उपन्यास 'सुन्दर सरोजिनी' (सन् १८९३ ई०) में भी 'इशा' की रोमानी शैली को, और अधिक आधुनिक परिवेश में, अपनाया गया है। इसमें हिन्दी उपन्यास साहित्य में सर्वप्रथम हम सागर वणन का चाक्षुष चित्रण पाते हैं। ठाकुर जगमोहनसिंह ने प्रकृति वणन का अपने उपन्यास के प्रारम्भ के लिए उपयोग किया है जबकि 'सुन्दर सरोजिनी' के प० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय ने सागर वणन का उपयोग, कथा के उत्तरार्ध को अधिकाधिक कुतूहलपूर्ण बनाने के हेतु किया है।

उपयुक्त 'भावना प्रधान रोमानी उपन्यास शैली' को और आगे चल कर श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने अपनी कलात्मक साहित्यिक गरिमा से विमूषित किया। उनकी प्रथम औपन्यासिक कृति 'ठेठ हिन्दी का ठाठ' (सन् १८९६ ई०) उन्नीसवीं शताब्दी के अवसान एवं बीसवीं शताब्दी के विद्वान की युगसंधि में रची गयी थी। उनका दूसरा विशिष्ट वणन समृद्ध उपन्यास 'अधखिला पूल' (सन् १९०७ ई०

भी अपने मनोरम वणनो के कारण चिरस्मरणीय रहगा। प्रकृति की मनोरम शोभा समृद्धि, एव भावनापूण अनुभूति का मानव जीवन के साथ जिस कलापूण वणन कौशल से सम वय किया गया है, उसके कारण एक प्रकार से श्री हरिऔघ' ही उपर्युक्त भावना प्रधान रोमानी उप-यास शैली क उत्कृष्ट उन्नायक माने जायेंगे। श्री चण्डीप्रसाद 'हृदयेश' का महान वणन प्रधान रोमानी एव भावावेश से ओतप्रात वृहत् उप-यास 'मंगलप्रभात' (सन १९२५ ई०) एक प्रकार से अनुपमेय कृति है। उसकी वणन कला भावा एव भावा की जटिलता क कारण वही वहीँ दुर्लभ हो गई है जत पाठको के शुद्ध मनोरजन की दृष्टि स वह यदावदा रसात्मकता म बाधक हुई है। तथापि उपर्युक्त उप-यास कोटि के विकास म श्री हृदयेश का अपना निजी स्थान एव गौरव है। प्रकृति के एक स एक रम्य एव भव्य दृश्यों की ऐसी वणनात्मक चित्र पटी कथारूप म सजाई गई है कि वह पृथक् एव विशद विवेचना की ही अपेक्षा रखती है।

उपयुक्त भावना प्रधान रोमानी उप-यास काटि ने हिन्दी उप-यास के वणन वभव एव वणनात्मक कलापरक विकास क ओर भी अधिक गौरवशाली कीर्तिमान स्थापित किय हैं। इस शनो क अत्यधिक प्रख्यात कलाकारो मे से श्री जयशंकर प्रसाद, श्री सुयका त निपाठी निगला, श्री चतुरसेन शास्त्री एव आचार्य हजारा प्रसाद द्विवेदी आदि महानतम उन्नायको म गिने जायेंगे। विशुद्ध रोमानी रग के कारण 'निराला' क उप-यास 'अप्सरा' (१९३० ई०), 'अलका' (१९३३ ई०) तथा 'प्रभावती' (१९३६ ई०) बहुत सरल एव प्राञ्जल वणन-कला के उदाहरण माने जायेंगे। श्री जयशंकर प्रसाद रचित 'तितली' (१९३३ ई०) क अनेकानेक प्रकृति वणन चित्रात्मक दृश्यपट शली की उत्कृष्ट उपलब्धि हैं। श्रीमती उपादेवी मित्रा रचित उप-यास — 'पिया' (१९२७) वचन का मोल (१९३६ ई०) एव जीवन की मुस्कान (१९३९ ई०) — रोमानी एव भावनामयी गद्यकाव्य प्रधान वणनात्मक शली की भावविभोर परिणति माने जायेंगे। उन सभी म कथा मे आई हुई घट नाओ का रूपक प्रणाली द्वारा वणित किए जान की विशिष्टता भी पाई जाती है।

आचार्य चतुरसेन शास्त्री एव आचार्य हजाराप्रसाद द्विवेदी के प्रखर पाण्डित्य पूण कल्पना वभव के कारण उपयुक्त भावना प्रधान रोमानी उप-यास शला ने जो विलक्षण चमत्कारपूण आयाम प्राप्त किय हैं उनका सार रूप म अनुमान कराया जाना भी सम्भव नहीं जान पड़ता। आचार्य चतुरसेन शास्त्री को कुछ विवेचको ने ऐतिहासिक उप-यासकारो की श्रेणी मे रखा है किन्तु उन्होंने म्बय ही अपनी विलक्षण कृति वशाली की नगरवधू की विस्तृत भूमिका म ऐतिहासिक कथानको क समावेश का उप-यास के रूपशिल्प म उपयोग मात्र 'इतिहास रस' की अवतारणा ही माना है। अतः म, मानव के सहज रामानी कुतूहल का उपयोग, व अपनी विलक्षण कल्पना प्रधान वणन प्रतिभा क माध्यम मात्र के रूप म करना चाहत हैं और उसम

उन्हें उल्लेख्य सिद्धि प्राप्त हुई है। आचार्य चतुरसेन की वणन शैली में रोमानी कल्पना, साहित्यिक अय्यारी एवं जासूसी तथा विचित्र चमत्कारपूर्ण घटनाक्रम के अवतरण को भी, वणनश्रम माया के प्रबल सामर्थ्य के बल पर, सफलतापूर्वक समाविष्ट किया गया है।

इसके विपरीत आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी की रोमानी एवं भावपूर्ण शैली ने उच्चकोटि की औपन्यासिक सिद्धि प्राप्त की है। अपने तलस्पर्शी अध्ययन एवं साहित्यानुशीलन द्वारा उन्होंने न केवल श्रेष्ठ पुरातन संस्कृत एवं प्राकृत उपन्यासकारों की वणन मगिमाओं को अपने उपन्यासों में सफलतापूर्वक समाविष्ट किया है वरन् उन्होंने अतीतकालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन का वर्तमान के सद्भ्रम नवीनीकरण भी किया है। श्री द्विवेदीजी भी मुख्यतया एक रोमानी उपन्यासकार हैं। उनकी भाव प्रवणता, सयमित एवं शीलावित है। उनकी कल्पना, कला की सूक्ष्मता वारीकियों एवं रंगीनियों से इन्द्रनुषी छवि धारण करती चलती है। वणन प्रतिभा के वे आश्चर्यजनक रूपेण धनी हैं। इसीलिए उन्होंने अपने कथानकों के लिए बाण जैसे वणन प्रतिभा कथा नायकों को चुना। जगन्निश एवं चन्द बरदाई जैसे महाकाव्यकारों की वणन प्रतिभा से उठाने रचनात्मक प्रेरणा ग्रहण की और नृत्य, संगीत चित्रकला एवं प्रसाधन कला के उच्चतम वणनों से उन्होंने अपने उपन्यासों को प्रतिभा मण्डन किया। जिस प्रकार अनानोत फास घटनाओं का जघड बहाते चलते हैं श्री द्विवेदीजी रूपछवि वणनों को एक विलक्षण आद्यतहीन प्रवाहशीलता प्रदान करते हैं। चारु चंद्रलेख उपन्यास के प्रारम्भ में जाया हुआ लम्बा एवं मनोरम रूपछवि वणन उनके समग्र उपन्यास साहित्य में अनूठा वन पड़ा है, जिसमें कि विद्वान एवं भावुक प्रतिभासम्पन्न कथाकार ने अपने उपन्यास की प्रधान नायिका 'चंद्रलेखा' की रूपछवि का वह अविस्मरणीय वणन प्रस्तुत किया है जिससे कि हिन्दी उपन्यास का यह सर्वेक्षण संपूर्ण किया ही गया है। इस भाँति 'इशा' के 'उदमान चरित' से लेकर श्री द्विवेदीजी रचिन चारु चंद्रलेख तक हिन्दी उपन्यास की रोमानी भावपूर्ण शैली ने, लगभग पीने दो शताब्दियों के अन्तर में विलक्षण वणन विलास एवं वणन विकास प्राप्त किया है।

हिन्दी उपन्यास के आदिकाल में उपर्युक्त रोमानी एवं भावपूर्ण उपन्यास शैली के अनिर्वक्त विद्वान समाजको ने अनेक अय्य कोटियों का भी निरूपण किया है यथा 'सामाजिक ऐतिहासिक', 'पारिवारिक' (गाहस्थिक), मनोरजन प्रधान, 'लोककथा आधारित', पुरातन आर्यानों से प्रेरित आदि। किन्तु इन सभी शक्तियों के उपन्यासों ने अपने प्रारम्भिक काल में वणनात्मक कला के विकास में उतनी सफलता नहीं पाई कि उन्हें उपन्यास विधा की 'साहित्यिक श्रेणी' में प्रतिष्ठित किया जाता। वस्तुतः इन सभी शक्तियाँ अथवा काटियों ने आग चल कर वासवी शती के प्रथम एवं द्वितीय चरण में ही उपयुक्त एवं संपूर्ण विकास प्राप्त किया है।

जिन उप-यास-कोटियो ने, हिन्दी उप-यास के आदिकाल मे ही, वणनात्मक गरिमा प्राप्त करली थी उनमे वे 'मात्र मनोरंजन के उद्देश्य से रचित' 'कल्पना प्रधान' एव घटना प्रधान शलियाँ ही मुख्य मानी जायेंगी जिन्हें हम 'तिलस्मी', 'अभ्यारी' एव 'जामूसी' उप-यास शैलियो के नाम से अभिहित करने हैं। उपयुक्त कोटियो के उप-यासो की रचना प्रक्रिया म कल्पना शक्ति एव कल्पना प्रतिभा का चमत्कार, दशनीय है। इन शलियो के उप-यासकार, वणनकला म तो पारगत हैं ही साथ ही वे अपनी विलक्षण कल्पनापरक प्रतिभा द्वारा अपने पाठको के समक्ष, एक ऐसे कल्पित किन्तु कुतूहल प्रधान विश्व की पुनरचना मे भी समथ हैं जिसके लिए जन्मजात कल्पनाशीलता एव वणन प्रतिभा अनिवाय गुण माने जा सकते हैं। हिन्दी उप-यास की प्रथम शती मे इस कल्पना प्रतिभा का बाहुल्य, सवत्र ही दृष्टिगोचर होता है। किन्तु यह कल्पनात्मक प्रतिभा, किस माँति वणन कला मे परिणत होती रहती है यह स्वयं मे एक परिशोधनीय तथ्य है। यह रचनात्मक अथवा सजनात्मक कल्पना प्रक्रिया प्रायः समग्र प्रथम कोटि के साहित्य की जननी एव धात्री है। फिर भी मन की उडान और कल्पना की निर्वाध त्वरित यात्रा की दृष्टि से, यह सजनात्मक कल्पना प्रक्रिया उप-यास विधा मे ही अपने सम्पूर्ण बभब के साथ अवनरित एव प्रतिफलित होती है। यह सजनमयी मानस प्रक्रिया, ऐसे ऐसे विलक्षण वणनो की सृष्टि करती चलती है जिनके समान वास्तविक अथवा यथाथ रूप अथवा दृश्य इस पार्थिव जगत म भी यत्र-तत्र बिखरे हुए मिल सकते हैं। फिर भी भौगोलिक अथवा ऐतिहासिक इबाइया होने के अतिरिक्त इन वणनात्मक विवरणो का रूप पर्याप्त 'मायावी' अथवा 'कामरूप' होता है। अतः उह हम उनके पार्थिव समान रूपा से समान जानते हुए भी, एक विचित्र एव विलक्षण नवरूप म देखते हैं, जो समान होकर भी, 'असमान से जान पडते हैं।

इस सजनात्मक कल्पना की विविध प्रक्रियाओ को समझते हुए मनोविज्ञान के अवेपको ने हमे बताया है कि मानव कल्पना के दो प्रमुख रूप स्पष्टतया परिलक्षित होते हैं— 'मौलिक कल्पना' जो हम प्रकृत्या उपलब्ध है तथा 'उत्तरजात कल्पना जो हमारी मौलिक कल्पना क्रिया मे अपनी कलापरक अथवा सौन्दर्यपरक संस्कारमयी रुचि के अनुकूल यथाशक्ति हेरफेर करती रहती है। विद्वानों का कहना है कि 'यथाथ जीवन में निरन्तर सम्पक एव व्यक्तिगत लगाव के कारण हमारी दृष्टि विकृत हो जाती है और उससे पदार्थों पर मानो, अरोचकता की तह जम जाती है। असुदरता के इसी बाह्य आवरण' को बिनष्ट करने की अपुव शक्ति 'उत्तरजात कल्पना' मे ही निहित होती है।'

यही नहीं 'उत्तरजात कल्पना', अकस्मात् दृश्यों को उद्दीप्त कर देती है, और वे हमें विशेष आकषक जान पड़ते हैं।' यह मन था आगल महाकवि बड़े स्वयं का जिसकी कृतियाँ में साधारण दृश्यपटो एव अति सामान्य पदार्थों को, उद्दीप्त एव अनुरजित कर देने की, विलक्षण प्रतिभा थी। यही प्रतिभा, हमारे महानतम छायावादी कवियों एव सर्वोत्तम उपन्यासकारों की कृतियों में, सबन ही बिलरी हुई दिखाई देती है। श्री रामअवध द्विवेदी की तो यह भी धारणा है कि हमारे प्राचीन आचार्यों के अभिमतों एव रस सिद्धान्त की प्रस्थापना में भी, मानव मन के इस 'कल्पना' पक्ष पर विचार किया गया है। उनके अनुसार 'इस समस्या को सुलझाने के लिए आरोप, अनुमान, भावकत्व भोजकत्व, अभि यजना आदि विभिन्न वाय व्यापारों को मायता प्रदान की गई है। रससिद्धान्त में जिन भावनाओं की चर्चा की गई है और जिनको अपूर्व महत्व प्रदान किया गया है, उनके अंतराल तथा परिपार्श्व में विद्यमान रह कर, अपना अद्भुत काय करने वाली वह विधायिनी शक्ति कदाचित् कल्पना ही है। कल्पना को हम रस सिद्धान्त का आधारभूत तत्व मान सकते हैं।'<sup>१</sup>

हमारे प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने भी, कल्पना शक्ति के चमत्कारों पर बहुत पहले ही विचार किया है। उन सभी में आचार्य रुद्रट ने तो उपयुक्त 'सजनात्मक कल्पना का 'उत्पाद्या प्रतिभा' कह कर पहले ही नामकरण भी कर दिया है। संक्षेप में उपयुक्त आचार्यों ने, जहाँ कहीं भी कल्पना प्रक्रियाओं की चर्चा की है, बहुधा उसे 'प्रतिभा' पद के अंतर्गत ही अन्तर्भुक्त कर लिया है। 'वाच्य प्रकाश' कार आचार्य मम्मट ने वाच्य अथवा साहित्य के प्रधान हेतु के रूप में, 'प्रतिभा' को मायता प्रदान की है और शक्ति व्युत्पत्ति, और अभ्यास को इस प्रतिभा या कल्पना के पोषक तत्व माने हैं। पंडितराज जगन्नाथ ने साहित्यकार की सजनात्मक प्रतिभा को 'बिंबला प्रतिभा' कहा है। उनकी प्रतिभा की इस प्रत्यात परिभाषा से सभी साहित्य-शास्त्रविद सुपरिचित हैं ही—'प्रज्ञा नवनवोभेषशालिनी प्रतिभा मता'।

हिंदी उपन्यास साहित्य में जिन अत्यंत प्रतिभा सम्पन्न आद्य उपन्यासकारों ने उपयुक्त 'प्रज्ञा नवनवोभेषशालिनी प्रतिभा' का उपन्यास रचना में विलक्षण प्रयोग किया उनमें चंद्रकांता कार श्री देवकीनन्दन खत्री का नाम सर्वोपरि स्मरण हो जाता है। श्री जयशंकर प्रसाद की भाँति श्री खत्री भी एक सम्पन्न व्यापारी परिवार में जन्मे थे और सयोगवश वे अपनी गया स्थित कोठी का कारोबार देखने के उपरान्त बाशी चले आये और उन्होंने काशी-नरेश से, चक्रिया और नौगड के सघन जगला का ठेका लिया। इस प्रसंग में वे इस रमणीय प्राकृतिक प्रदेश में यत्र तत्र बहुत घूमे फिरे। अनेक पुरातन दुर्गों एव ध्वसावशेषों से जहाँ तहाँ जड़े हुए,

इस विज्ञान प्रदेश के विचित्र परिवेश ने, उनमें एक अनूठी तथा सृष्टि की प्रेरणा जाग्रत की। चुनार, नौगढ आदि पुराने ऐतिहासिक स्थल अनकानेक दंतकथाओं एवं लोक कथाओं में अनुश्रुत थे ही। खोह घाटिया सपन वन, निम्कर गुफाएँ वय फन फूच सभी यहा आसपास बिखरे पडे थे। उ होने उड़ी की अपनी विलक्षण सजनात्मक प्रतिभा द्वारा नूतन पुनसृष्टि कर डाली। 'चंद्रका ना एवं उसकी परवर्ती औरयासिक कृतियों ने इस भाति हि दी उप यास साहित्य म उस कल्पना प्रधान रोमानी शली का प्रवृत्तन किया जिसे हम बहुता तिलस्मी एवं अध्यायी के अयोपकृत हुके फु के नामों से स्मरण करते हैं।

इसी काल में श्री गोपालराम गहमरी भी एक अय कल्पना समृद्ध उप-यास कार हुए, जि होने हि दी उप यास-साहित्य म जापूसी उप-यास परम्परा का प्रवृत्तन किया। उन पर भी अनेक अशो में श्री खत्री की वणन शली का प्रभाव यत्रतत्र देखा जा सकता है। श्री किशोरीलाल गोस्वामी कृन रोमानी शली में रचित तथाकथित 'ऐतिहासिक उप-यासो में श्री खत्री की तिलस्मी वणन शली का प्रभाव अत्यन्त सुस्पष्ट एवं गहरा दिखाई पडता है। उनीसवी शती ई० के अंतिम चरण म तथा बीसवी शती के प्रथम दशक म हि दी उप-यास साहित्य म उपयुक्त कल्पना प्रधान शैली बहुत लोकप्रिय रही। एक प्रकार से आज का विज्ञान प्रसूत उप-यास साहित्य (साइस फिक्शन) भी उपयुक्त पुरानी परम्परा का वैज्ञानिक नवीनीकरण ही माना जा सकता है। विज्ञान के अधुनातम आविष्कारों ने उप-यासकार की कल्पनात्मक प्रतिभा को अब्बाध विस्तार दिया है और कितनी ही नव नव कथा शलियों को भी जन्म दिया है। कि ही अशा म तो हम इस शली का प्रभाव आचार्य चतुरसेन शास्त्री कृत विरुपात उप यास बैशाली की नगरवधू जादि अपेक्षाकृत आधुनिक उप-यासो म भी देख पाते हैं। अतएव यह वणनात्मक विशिष्ट परम्परा, हि दी उप-यास का एक जीवत तथ्य मानी जानी चाहिए।

श्री प्रेमचंद द्वारा प्रवृत्तन सामाजिक उप-यास परम्परा ने हि दी उप-यास साहित्य म पहली बार, ग्रामीण जीवनक विवरणों एवं वणनों को, साहित्यिक प्रतिष्ठा प्रदान की। इसका सूत्रपात श्री ब्रजन लन सहाय एवं श्री मनन द्विवेदी गजपुरी अपने चिरस्मरणीय वणनात्मक उप-यासो— अरण्यवाला एवं 'रामलाल द्वारा पहले ही कर चुके थे। कहना न होगा कि देहाती दुनिया की ओर उप-यासकारों की लेखनी के इस वणनात्मक प्रवृत्तन का एक प्रत्यक्ष प्रभाव, हमारा आधुनिक 'आवलिंक उप-यास' भी है जिसने सरल मानव अनुभूतिया से ओतप्रोत एक बहुत कुछ अछूनी जगती को सहस्रावधि वणन माला द्वारा साकार एवं पुनसृजित किया है।

ऐतिहासिक उप-यासो म वणनात्मक प्रतिभा किस भाति साहित्यिक रसात्मकता की उच्चतम सीमाओं को छू सकती है। इसका प्रमाण है स्व० श्री वृदावनलाल वर्मा

की ऐतिहासिक उपन्यास माला। वर्णन प्रतिभा की उत्कृष्ट एवं कलापूर्ण अभिव्यक्ति के उदाहरण हमें श्री वमाजी के सभी ऐतिहासिक उपन्यासों में मिल सकेंगे। ऐतिहासिक उपन्यास कोटि की इस वृद्धि-समृद्धि के दो पक्ष स्पष्टतया दृश्यमान हैं—प्रकृति का मानव अनुभूतियों से रागात्मक तादात्म्य तथा प्राचीन ऐतिहासिक स्मारकों एवं ध्वसावशेषों के रोमानी वातावरण की रहस्यपूर्ण पुनरुत्थारणा। श्री वृन्दावनलालजी के उपन्यासों में हमें इन दोनों प्रकार की वृद्धि-समृद्धि के मध्य दशन होते हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों में वृद्धि-समृद्धि के केवल पुरातन ध्वसावशेषों में अतीत के रोमानी परिवेश की पुनर्सृष्टि में कृतकत्व होती है वरन् उसकी सहायता से उपन्यास के पात्र एवं पात्राओं के रूपशील वर्णन में भी अपूर्व सिद्धि प्राप्त होती है। रूपाकन प्रणाली (पोट्रैचर) की चित्रग-पद्धति अपना कर इतिवृत्तित्थिताय पात्रों एवं पात्राओं को चाक्षुष प्रतीयमानता प्रदान की जाती है और यही 'उपन्यास रस' की सिद्धि में निर्णायक सिद्ध होती है।

'मनोवैज्ञानिक' (अर्थात् 'मनोविश्लेषणात्मक' या 'मनोवैज्ञानिक' ) उपन्यासों के अतिरिक्त 'प्रवाहवादी', 'पत्रात्मक', सम्भाषण प्रमाण, 'डायरी परक' आदि अनेक उपन्यास शक्तियों के हिन्दी उपन्यास में, आधुनिक युग में, अनेकानेक नूतन प्रयोग हुए हैं और कुछ अब भी किये जा रहे हैं, यद्यपि उनके प्रथम सजन उत्साह का आवेश अब बहुत विरल होता जा रहा है। इन सभी उपन्यास शक्तियों में वृद्धि-समृद्धि के विकास का अवसर कम मिलता है एवं स्वगत मापण तथा कथावाचकत्व का क्षेत्र कहीं अधिक होता है। स्पष्टतया उपयुक्त कोटियों के उपन्यासों की सृष्टि का मुख्य अभिप्राय 'मनोरञ्जन' न होकर उपन्यासकार के निजी जीवन दशनात्मक आख्यान एवं मानव मन की गहराइयों में अवगाहन की मनोविश्लेषणात्मक योग्यता का प्रदर्शन ही, रहा करता है। कथा सुनाने वालों के क्षेत्र में इस भाँति का 'अतिक्रमण' पुरातन युग में धार्मिक अथवा साम्प्रदायिक सिद्धान्तों के प्रचार के लिए किया जाता था और आधुनिक युग में मानव मन सम्बन्धी वैज्ञानिक खोजों तथा आर्थिक एवं सामाजिक न्याय के लिए उठाए गये आधुनिक आन्दोलन एवं विचारधाराओं के प्रतिपादन के लिए, किया जाता है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की उद्घोषणा, ऐसे उपन्यासों में कभी-कभी 'अराजकता-पीषण' तक पहुँच जाती है। संक्षेप में साहित्य रचना में 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' की युगप्राचीन मापता के विरुद्ध इस भाँति की उपन्यास रचना प्रवृत्तियों को, 'सुला विद्रोह' भी माना जा सकता है।

हिन्दी उपन्यास-साहित्य में इस शैली के प्रवृत्तन का श्रेय, मुख्यतः श्री इलाचन्द्र जोशी एवं श्री अनेय को दिया जा सकता है। निश्चय ही उनकी उन नवोत्साह युक्त कृतियों में हमें नये आन्दोलन की चेतना एवं रचना शक्तियों की तृप्तियों के दर्शन होते हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह भी था कि इन उपन्यासकारों ने, उपन्यास की वृद्धि-समृद्धि को भी समझा था एवं उसका यथावसर उत्तम प्रयोग भी किया था।

1100



किन्तु धीरे धीरे श्रीजनेद्रकुमार की अतमुत्पी चिन्तन धारा से प्रेरणा लेकर एव पाश्चात्य युग एव फ्रायड के मनस्तात्विक ग्रन्थो के सूत्रा का ग्रहण करके, अनेक उत्साही उप-यासकारो ने, इस ओर लेखनी संचालन किया। वे क्रमशः अधिकाधिक, हिन्दी उप-यासकी मौलिक प्रवृत्ति से परे हटते गए और वे अंग्रेजी भाषा के एक विशिष्ट वर्ग के उप-यासकारो— यथा— स्टीनबैक, वापका, जेम्स जादस तथा वर्जीनिया वूल्फ आदि के उप-यास साहित्य से अभिभूत होत चले गए। इसका परिणाम यह हुआ कि धीरे धीरे हिन्दी उप-यास साहित्य में इस 'वणन विरल' उप-यासशैली की नूतनता एव ताजगी भी मुरझाती चली गई और आज वह हमारे उप-यास साहित्य के विकास की एक बड़ी मात्रा बन कर रह गई है। पाश्चात्य अनुकरण एव प्रेरणा इस घटना में इसलिए विशेषतया उत्तरदायी बनी कि भारतीय जनसाधारण के जीवन में अभी भी अमेरिका एव यूरोप की वे विषम सामाजिक परिस्थितियाँ नहीं उत्पन्न हो पाई हैं जिन्होंने वहाँ के लोकमानस को, सबथा अनास्थावादी एव भ्रष्ट बना डाला है। इस प्रकार के सप्रयास औप-यासिक प्रयोग, हिन्दी उप-यास, क्षेत्र में इसीलिए एक आराप का आभास देत हैं।

आचार्य श्री रामअवध द्विवेदी जैसे कुछ साहित्य ममजो ने उपयुक्त मनोवैज्ञानिक औप-यासिक प्रवृत्तियो में पुरावृत्त के ही आदि भूत दखे हैं। उन्होंने यह भी बताया है कि किस भाँति हिन्दी साहित्य में पुरावृत्त कथाओं की सफल नियोजना हुई है। श्री रामअवध द्विवेदी का निश्चित मत है कि 'आज के हिन्दी मनोवैज्ञानिक उप-यासो में भी पुरावृत्त का पुट मिलता है। कदाचित फ्रायड और युग की नई खोजो से प्रभावित होकर हमारे उप-यासकार पुरावृत्त की चार अभिक्रमिक श्रृंखला रहे हैं।'

पुरावृत्त से प्रेरित प्राचीन भारतीय साहित्यिक परम्पराओं में प्रतिबिम्बित स्वप्नो प्रतीको एव विम्बा का बड़ा महत्व है। इस भाँति जब आधुनिक मनोवैज्ञानिक उप-यासकार, उपयुक्त रहस्यात्मक तथा की सूक्ष्म प्रतिनियोजो को अपन उप-यास साहित्य में उतारत हैं तो वे सम्पूर्णतः पाश्चात्य प्रभाव का आरोप का दोषी नहीं माने जा सकते। केवल सप्रयास शैली अनुकरण ही उनकी रचनाओं में पाश्चात्य प्रभाव का सूचक है। अब हिन्दी उप-यास में वणन विरल मनोवैज्ञानिक उप-यास धारा की परम्परा को छोड़ कर एक नवीन वणन प्रधान परम्परा का उत्पन्न हो रहा है। श्री अमृतलाल नागर वृत्त 'अमृत और विष' इस सम्बन्ध में सनात्मक रचना भानी जा सकती है जिसके उपसंहार में उप-यास लेखक के पुत्र के दुष्टनाशस्त होने की रहस्यमय सूचना उनकी माता का अकस्मात् चाय पीते पीते जीभ का तुलस जाने के प्रतीक द्वारा अभि यन्जित की गई है। इसी शैली का पूर्वप्रवर्तन श्री रागयराधव एव

श्री भगवतीचरण वर्मा भी कि ह्रीं अशों में कर चुके हैं। श्री भगवतीचरण वर्मा-श्रुत 'सामर्थ्य और सीमा की मुख्य अंतर्चेतना—रोहिणी नदी के प्रतिशोध एव नाहरसिंह के मन में उसके पूर्वाभास द्वारा, बड़े ही वणन कौशल द्वारा समझाई गई है। इस भाँति यह तथ्य भी स्पष्टतया उभरता आता है कि यदि हिन्दी उपन्यास को अपनी मनोवचनानिबन्ध विशिष्टता को बनाए रखना है तो उसे वणन विरलता का परित्याग करना होगा एव वणनकला का उत्तमात्तम समावेश करते रहना होगा।

पत्रों के रूप में कथा-कथन, एक नवीनता अवश्य है किन्तु यह केवल गद्य काय का ही एक औपन्यासिक रूपांतर प्रयोग मात्र माना जा सकता है। 'उग्र'-लिखित 'चंद्र हसीनो के स्तुत' के पश्चात् कोई भी 'पत्र शली उपन्यास' समय रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाया। 'सम्भाषण' नाटक का प्राण है। उपन्यास में वह कला विमुख प्रयाग है एव प्रसिद्ध है कि श्री प्रेमचंद जब रससिद्ध उपन्यासकारों के उपन्यास तक, वहीं कही अपने लम्बे समापनों के कारण रसमग्न प्रस्तुत करने वाले हो जाते हैं। डायरी परक उपन्यास भी मन चिंतन एव वैयक्तिक अनुभूति के नूतन प्रयोग मात्र माने जायेंगे। वस्तुतः उपयुक्त सभी उपन्यास कोटियों की कथ्य-वस्तु, उपन्यास विधा की अंतरग धारा, वणन कला अभिव्यजना के अनुकूल नहीं पड़ती। व्यक्तिगत आत्म निवेदन अथवा दार्शनिक सिद्धान्त प्रतिपादन की साथक एव रससिद्ध अभिव्यजना के लिए, 'महाकाव्य' अथवा 'मुक्तक काव्य' के साहित्य रूप, अधिक उपयुक्त हैं।



वणनात्मक कला की दृष्टि से, उपन्यास सृजन का, विशाल दृश्यपट पर अवलोकन करने पर यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है, कि हिन्दी प्रदेश नैसर्गिक दृष्टि से, एक परम रमणीय प्रदेश है। इसमें, हिमालय पर्वत माला, तराई के वन और दल दल, विन्ध्य मेखला का वन प्रान्तर-पावत्य प्रदेश, मालवा का पठार, राजस्थान का मह प्रदश गंगा यमुना, बेतवा चम्बल, नर्मदा ताप्ती, गण्डक-कोसी आदि नदियों के शय्य श्यामल और रम्य अचल—ये सभी चित्र विभिन्न प्राकृतिक दृश्यावलियाँ, पाई जाती हैं। यह प्रदेश वाल्मीकि और व्यास से लेकर, कालिदास और बाणभट्ट आदि, सभी महाकवियों द्वारा भूरि भूरि प्रशंसित रहा है। इसमें काशी प्रयाग, हरिद्वार माघाता, ओंकारेश्वर आदि तीर्थ भी अवस्थित हैं। इसीलिये हिन्दी प्रदेश के उपन्यासों में, देशकालगत वणनात्मक विविधता एव रमणीयता, एक सहज तत्त्व के रूप में, पुष्पित एव पल्लवित हुई है।

हिन्दी उपन्यास के उदभव एव विकास पर, इतिवत्कार की भाँति एक विह्वल दृष्टि डालने पर जान पड़ेगा कि लगभग १७२ वर्षों में हिन्दी उपन्यास ने जितनी प्रगति, जितना विस्तार, जितनी कलात्मक सिद्धि, जितना शली एव वस्तुगत

विविध, एव इन सभी से अधिक, जितनी मानव मन को विगुद्ध रजन रमणीयत्व प्रदान करने की क्षमता, प्रकट की है, उसकी तुलना, विश्व के समग्र साहित्यिक इतिहास में भी दुर्लभ है। यदि कोई विदेशी साहित्यकार अथवा साहित्य मग्न हमसे अचानक पूछ बैठे कि आपके देश में, पिछली दो शतियों में साहित्य के किस क्षेत्र में, सर्वाधिक उन्नति की है ? तो हम निमकोच उसे तत्काल उत्तर दे सकते हैं— उप-यास क्षेत्र में !

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-कृत 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' से लेकर 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास' के युग तक, न जाने कितने विद्वानों ने, उप-यास विधा के सर्वेक्षण पर, क्या क्या लिखा है ? और क्या नहीं लिखा है ? कि नु अद्यावधि हिन्दी उप-यास विधा के व्यवस्थित सर्वेक्षणों के नाते, केवल दो उल्लेख्य कृतियाँ ही सबसाधारण को उपलब्ध रही हैं। एक तो स्व० श्री बजरत्नदास कृत 'हिन्दी कथा साहित्य तथा दूसरी श्री शिवनारायण श्रीवास्तव-कृत 'हिन्दी उप-यास (ऐतिहासिक अध्ययन)। इन दोनों कृतियों को यदि मिला कर पढ़ लिया जाए तो हिन्दी उप-यास साहित्य के बारे में, एक काम चलाऊ धारणा बनाई जा सकती है। किन्तु भारतीय उप-यास-साहित्य के समग्र परिप्रेक्ष्य के बिना, क्या हिन्दी उप-यास विधा की विशिष्ट गरिमा का कभी उद्घाटन हो पाएगा ? वस्तुतः हमारे देश के सांस्कृतिक जीवन के किसी भी पक्ष विशेष पर अलग अलग विशाल विवेचन समभव ही नहीं है। सृष्टि एव कला के हर क्षेत्र में हमारी सहस्रावधिवर्षीय राष्ट्रीय उपलब्धियाँ हैं—उन्हीं के परिप्रेक्ष्य में, पिछले दो सौ वर्षों में जो भी काय हो पाया है उस अखिल भारतीय एव राष्ट्रीय रूप में ही आँका जाना समुचित है।

भारतीय कथा साहित्य के इन दो सहस्र वर्षों में जिन अत्यन्त एव प्रतिभाशाली उप-यासकारों ने अपनी सहस्रो औप-यासिक कृतियों बहुमूल्य सांस्कृतिक रिकार्ड के रूप में छोड़ी हैं वे वस्तुतः किसी प्रदेश विशेष अथवा अक्षय विशेष की उपलब्धियाँ नहीं मानी जा सकती। जैसे कालिदास और बाणभट्ट समग्र भारत के थे, उसी भाँति हमारे उप-यासकार भी, सारे भारत की रूपरेखा के चित्रण में रत, उप-यास गत वणन-योजना में निरत, रस सिद्ध कलाकार थे। वे उत्तर-दक्षिण पुरुब-पश्चिम, सभी दिशाओं से, भारत की समान पुरातन भाषाओं में चिरकाल से अपनी अपनी सुमनांजलि अर्पित करते आए थे। आधुनिक भारतीय भाषाओं के विकास के पश्चात् सबप्रथम उप-यास रचना हिन्दी भाषा में हुई। कारण कि हिन्दी प्रदेश को, साहित्य, संस्कृति, एव धर्म, सभी के केन्द्रस्थान उपलब्ध थे और हिमालय गंगा यमुना, और विन्ध्य मेखला सभी ने उसे, अक्षय प्राकृतिक छबिपटियाँ प्रदान की थीं। यह स्वभाविक ही था कि हिन्दी भाषा में ही सबसे पहल और सबसे प्रभूत माना मे, उप-यास रचना होती। किन्तु हिन्दी उप-यास के उदभव के लगभग

आधी शती पश्चात् ही समग्र भारतीय प्रदेशों में, अपनी अपनी मातृ भाषाओं में साहित्य रचना का उत्साह, उमड़ चला और इस भाँति सन् १८५६ ईसवी से, भारत की अनेक प्रादेशिक भाषाओं में भी, उपन्यास साहित्य की सजना, प्रारम्भ हो गई। इस तुलनात्मक विकास और प्रगति को, निम्न तालिका द्वारा कालक्रमानुसार समझा जा सकेगा —

भाषा	प्रथम उपन्यास की रचना तिथि	उपन्यास का नाम	उपन्यासकार
हिन्दी	सन १८०१ ई०	'उदमान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी'	श्री इशाअल्लाह खा 'इशा'
बंगला	सन् १८५६ ई०	'आलालेर घरेर दुलाल'	प्यारेचाद मित्र उपनाम 'टेकचंद ठाकुर'
मराठी	सन १८५६ ई०	'मुक्तामाला'	लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री हळवे
गुजराती	सन १८६४ ई०	'सामु बहूनी लडाई'	रावसाहेब महीपतराम
तेलुगु	सन १८७८ ई०	'राजशेखर चरितम्'	श्रीरेशलिगम
तमिल	सन १८७६ ई०	'प्रताप मुदालियर चरितम्'	भावावरम एस० ब्रैदनायकम पिल्लै
असमिया	सन १८८० ई०	'सुधमर उपाख्यान'	श्रीमती पद्मावती देवी
कन्नड	सन १८८२ ई०	'इन्दिरा'	गुलाडी वेंकटराव
मलयालम	सन १८८६ ई०	'कुदलता'	टी० एम० अण्णु नेडुगाडी
उडिया	सन १८८८ ई०	'पद्ममाली'	रमेशचन्द्र सरकार

### प्रादेशिक भाषाओं के उपन्यास-साहित्य का सर्वेक्षण

#### नवम प्रकरण बंगला उपन्यास साहित्य की रूपरेखा

भारतीय उपन्यास साहित्य के उद्भव एवं विकास की इस महान् गाथा की वृत्तान्तमय पुनरावृत्ति के क्रम में, आधुनिक भारतीय भाषाओं में उपन्यास विधा के विकास के काल क्रम में, हम हिन्दी भाषा के पश्चात् सबसे प्रथम दो भारतीय आधुनिक (प्रादेशिक) भाषाओं में, आद्य उपन्यास उपलब्ध होते हैं—बंगला एवं मराठी। इन दोनों ही भाषाओं में उपन्यास रचना का तिथिक्रम प्रायः समान सा ही रहा है। फिर भी बंगला उपन्यास साहित्य की धारा अपने उद्भव एवं विकास में ही, अपने सहगामी मराठी उपन्यास साहित्य की अपेक्षा, कहीं अधिक उत्साह एवं

उत्सासयुता रही है। यही नहीं, आधुनिक भारतीय भाषाओं में, उप-यास विधा के बहुविध प्रयोगों की दृष्टि से भी बंगला उप-यास, हिन्दी उप-यास से प्रायः हीड लगाता सा जान पड़ता है। मराठी भाषा एवं साहित्य में आज भी, उप-यास रचना, प्रथम कोटि के साहित्य-यापार की प्रतिष्ठा प्राप्त करने में, अकृतकाय ही रही है तथा रगमच एवं काव्य की अपेक्षा विद्वज्जनो में, उसका सम्मान, आज भी पर्याप्त गरिमामय नहीं हो पाया है। इन्हीं इतिवृत्तात्मक एवं तुलनात्मक परिस्थितियों की दृष्टि में रखते हुए, हिन्दी उप-यास साहित्य के सर्वेक्षण के पश्चात् बंगला उप-यास में वणनात्मक कला के विकास पर ही सबप्रथम एक विहगम दृष्टिकोण, आवश्यक जान पड़ता है। वैसे यह तथ्य तो बारम्बार दुहराया ही जा चुका है कि भारतीय उप-यास विधा की सबसे सशक्त समान एवं योजक, रिकथ परम्परा—संस्कृत उप-यास परम्परा ही रही है। बंगला साहित्य के विद्वानों ने इस तथ्य को स्पष्टतया और सामार स्वीकार भी किया है।

आधुनिक भारतीय भाषाओं में, हिन्दी भाषा के पश्चात्, (भाषा एवं साहित्य दोनों ही की दृष्टि से) सर्वाधिक समृद्ध भाषा, बंगला ही है। समुक्त राष्ट्रसभ की ओर से पिछले दिनों विश्व भाषाओं का उनके बोलने वाला की संख्या की दृष्टि से, सर्वेक्षण किया गया था, उसके अनुसार भी, आधुनिक भारतीय भाषाओं में कवल दो भाषाओं की गणना, विश्व की सर्वाधिक बोली जाने वाली बारह भाषाओं में की गई है, वे हैं—हिन्दी और बंगाली। तदनुसार, हिन्दी भाषा का स्थान, चतुर्थ एवं बंगला भाषा का स्थान अष्टम माना गया है।

आचार्य जगदीशचन्द्र घोष (जो अपने समय के सब सबसे साहित्य ममन विद्वान माने जाते थे), अपने सुप्रसिद्ध बंगला साहित्य ('बंगाली लिटरेचर नामक आग्ल भाषा में लिखित एवं आग्लदेश में मुद्रित प्रकाशित) ग्रन्थ में लिखत हैं —

बंगाली पर संस्कृत का प्रभाव वसा ही था जसा कि अग्रेजी पर लातीनी का—कि तु यह प्रभाव उससे भी कहीं महत्तर इसलिए था कि संस्कृत कोई परदेसी भाषा नहीं थी और जब बंगला भाषा का जन्म हुआ तब वह एक जीवित एवं प्राणवान भाषा भी थी।

केवल मुस्लिम प्रभुत्व के पश्चात् ही संस्कृत जीवित भाषा न रह पाई किन्तु फिर भी उसका प्रभाव निरंतर बना रहा और पंद्रहवीं सालहवीं शतियों में होने वाले साहित्यिक सांस्कृतिक नवजागरण के युग में बंगला को अपने पंग पर खड़े होने योग्य क्षमता प्राप्त हुई।

'बंगला भाषा पर संस्कृत का प्रभाव मत्रहवीं-अठारहवीं शतियों तक भी चलता रहा तथा उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में बंगला गद्य के रूप ग्रहण में भी, संस्कृत का सहायता ही लना पड़ी।

'बगला, सस्कृत की अनक अर्थों में ऋणी है—क्या व्याकरण, क्या काव्य शास्त्र क्या भाषाशास्त्र सभी क्षेत्रों में, बगला, सस्कृत की ऋणी है। उसका अधि काण शब्दकोष भी, सस्कृत से ही लिया गया है। बगला साहित्य को अपनी सभी शक्तियाँ, साहित्यरूपा, प्रेरक चेतनाओं तथा आलंकारिक सौष्ठव आदि के लिए, उन्नीसवीं शती तक, संपूर्णतया सस्कृत पर ही निर्भर एवं जीवित रहना पड़ा। इससे भी बढ़ कर बात यह है कि बगला का, सस्कृत की महान आध्यात्मिक एवं बौद्धिक पृष्ठभूमि एवं उसकी महती समृद्धि उत्तराधिकार में प्राप्त हुई, जो वस्तुतः पुरातन भारतीय सस्कृति की अभिव्यक्ति बनी रही है।

'उन्नीसवीं शती तक तथा इसके पश्चात् भी (यद्यपि अपेक्षाकृत कम मात्रा में) सस्कृत भाषा की आध्यात्मिक एवं धर्म समन्वयवादी समृद्धि की, माध्यम भाषा होने के कारण सावभौम मत्ता प्राप्त भाषा बनी रही और वह पुरातन ज्ञान विज्ञान एवं इतिहास विद्या की, भाण्डार मानी जाती रही। वह भारत की महान परम्परा की साक्षात् विग्रह मानी जाकर देव भाषा के रूप में, सावजनान एवं सावभौम श्रद्धा सम्मान की, अविकारिणी भी बनी रही।

सस्कृत उस समय भी भारत की सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्तिकारी भाषा के रूप में प्रतिष्ठित थी, जब कि पालदशमी (तर्ती शती ईसवी से ग्यारहवीं शती ईसवी) एवं सप्तदशमी (ग्यारहवीं-बारहवीं शती ईसवी) राजाओं के राजत्व काल में, बगला भाषा का जन्म हुआ।

सस्कृत आज भी भारतीयों की आध्यात्मिक प्रेरणा की स्रोत बनी हुई है किन्तु हमारे (बगला) लक्ष्य उसकी शरण में, विशुद्ध साहित्यिक स्तर के रूप में ही आते हैं।

बगला भाषा में लिखित सर्वप्रथम उपयोग का नाम था 'आलालेर घरेर दुलात'। इसके लेखक थे श्री प्यारेचंद मित्र उपनाम श्री टकचंद ठाकुर (जन्म तिथि सन् १८१८ ई०)। वे कलकत्ते के एक सम्भ्रात परिवार में, ईस्ट इण्डिया कंपनी के कर्मचारी के रूप में तथा उन्होंने बगला एवं अंग्रेजी भाषा की तत्कालीन सामयिक पत्र पत्रिकाओं में निरंतर, विभिन्न विषयों पर लिखा। उनका उपयुक्त उपयोग पहले बगला भाषा की सामयिक पत्रिका 'मासिक पत्रिका' में, धारावाही रूप में प्रकाशित हुआ था। तत्पश्चात् बहू सन १८५० ई० में पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। उसके प्रकाशित होते ही उसकी समालोचना 'कलकत्ता रिव्यू' में निकली थी जिसमें उसे 'बगला भाषा का सर्वप्रथम उपयोग बताया गया था।

१ बगला लिटरेचर (आलभाषा में प्रकाशित) (प्रो०) जे० सी० घोष एम० ए० (प्रस्तुत संस्करण १९४८ ई०, प्रकाशक आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, लंदन) पृष्ठ १३ तथा २१।

वर्णनात्मक कला की दृष्टि से उप-यास में, तत्कालीन 'नई कलकतिया सस्कृति' में पहले हुए सम्भ्रांत बंगला समाज का, व्यञ्जनापूर्ण चित्रण पाया जाता है। उनके हमारे उप-यास 'अभेदी' (सन् १८७१ ई०) में आगल सस्कृति से प्रभावित विभिन्न पात्रों के शब्द चित्र अत्यन्त रोचक बन पड़े हैं। श्री बकिमचन्द्र चटर्जी से पहले, बंगला भाषा के साहित्यकारों में, श्री 'टेकचंद ठाकुर' का महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है।

बंगला साहित्य के इतिहासकार डा० सुकुमार सेन की राय में, "बंगला उप यास के आदि प्रवक्तक श्रीभूदेव मुखर्जी (१८२५-१८९४ ई०) थे। उनकी औप-यासिक कृति का नाम था ऐतिहासिक उप-यास'। इसका प्रकाशन सन् १८६२ ई० में हुआ था। इसमें दो उप-यासिकाएँ, एक ही जिल्द में छपी थीं जो इतिहासात्मक कथानकों के आधार पर रची गई थीं। श्री भूदेव मुखर्जी ने एक अथ लघु उप-यास 'अगुरीय विनिमय' भी रचा था। इसमें सम्राट औरंगजेब की पुत्री और एक बन्दीगृह में बंदी राजपूत राजकुमार की प्रणय कहानी वर्णित है। जहाँ तक 'आलालेर घरेर दुलाल' का प्रश्न है—उत्तम ईस्ट इण्डिया कम्पनी काल के कलकतिया रईसों के जीवन, एवं उन दिनों के कलकत्ता के नागरिक जीवन के वर्णनों की, उत्तम व्यंग्यात्मक छटा दिखाई पड़ती है। वर्णनात्मक प्रतिभा की दृष्टि से, श्री 'टेकचंद ठाकुर' एक प्रभावशाली उप-यास लेखक थे। उनका एक अथ उप-यास 'अभेदी' भी था जिसकी प्रकाशन तिथि १८७१ ई० है।"

फिर भी बंगला उप-यास को उच्च साहित्यिक स्तर पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय, श्री बकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय को ही है। सौभाग्य से उनकी प्रायः सभी कृतियों के, हिंदी भाषा में, अनेकानेक रूपांतर हो चुके हैं और अधिकांश उप-यास प्रेमी, 'बकिम' और उनके उप-यासों के नामों एवं उनमें से कुछ पात्रों तक से, परिचित हैं। बकिम की वर्णन प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी और वे, अतीत को इस भांति, अपने मनोहारी वर्णनों द्वारा चित्रित कर देते हैं कि अतीत का समग्र विश्व ही, हमारे सामने, पुनरुज्जीवित सा हा उठता है। प्राकृतिक बमब के बकिम' बड़े अनुरागी थे। इस तथ्य का सबसे चिरस्मृत प्रमाण है 'बदेमातरम' गीत जो वस्तुतः उनके प्रसिद्ध उप-यास 'आनंदमठ' में ही मूलतः लिखा गया था। (आनंदमठ में चांदनी रात में, बियावान जंगल में, जब महेन्द्र, तापस युवक के साथ चला जा रहा था तो सयासी युवक ने उसे 'माँ' का परिचय कराया। वे वस्तुतः भारत माँ ही थीं।) इस उप-यास की रचना, बकिम ने सन् १८२२ ई० में की थी।

उनके एक अथ अति प्रसिद्ध उप-यास 'देवी चौधरानी' (सन् १८८४ ई०) में वर्णित कलापूर्ण बजरो के भीतर और बाहर की चित्रपटिया, क्या झुलाई जा सकती है? बहुत अर्थों में 'देवी चौधरानी' वर्णनों से भरपूर उप-यास है। 'बपाल-कुण्डला' (सन् १८६६ ई०) में तांत्रिक युग की एक क्षांका है। श्मशान आदि के दृश्य इस

भाति चित्रित किए गए हैं कि पाठक उन्हें चाहने पर भी मुला नहीं पाता। दक्किम बाबू के सबसे प्रथम उपन्यास 'दुर्गेश नन्दिनी' (१८६४ ई०) की कथा बहुश्रुत है। दुर्गपति की कथा आध्यात्म की आत्मोत्थान की भाषा पर आधारित, यह करुण रसात्मक उपन्यास, कुछ अविस्मरणीय दृश्यवर्णनाएँ एवं पात्रवर्णनों द्वारा, चिरस्मरणीय हो गया है।

श्री रमेशचन्द्र दत्त (१८४८-१९०६ ई०) बंगला भाषा के एक और महान् उपन्यासकार हुए। उनके उपन्यास भी बहुधा इतिवृत्तात्मक रोमांसा पर आधारित हैं। वृणन शली सौम्य, मधुर एवं प्राञ्जल है। 'यगविज्रता' (१८७४ ई०), 'माधवी कर्कण' (सन १८७७ ई०), 'महाराष्ट्र जीवन प्रभात' (सन १८७८ ई०), 'राजपूत जीवन सध्या' (सन १८७९ ई०) आदि उनकी सर्वप्रिय रचनाएँ हैं। श्री रमेशचन्द्र दत्त एवं श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर के बीच के अंतराय में, अनेक प्रतिभाशाली बंगला उपन्यासकारों ने, अपनी वृणन प्रतिभा द्वारा, बंगला उपन्यास को समृद्ध किया है। इनमें सबसे श्री हाराणचन्द्र राहा (कृति 'रणचढी' १८७६ ई०), शिवनाथ शास्त्री (कृति- 'मेजाबज' १८७६ ई०), श्रीशचन्द्र मजूमदार, (कृति— 'शक्तिकानन' १८७७ ई०), तथा श्री प्रलोचननाथ मुशर्जी (कृति— 'ककावती' सन् १८९२ ई०) आदि विशेष उल्लेख्य थे।

विश्वकवि श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की सबसे बड़ी प्रतिभा से, मला कौन भारतीय परिचित न होगा? एक कुशल उपन्यासकार के रूप में, उनकी अनेक महान् औपन्यासिक कृतियाँ भी चिरस्मरणीय हैं। 'बहुरानीर हाट' (१८८३ ई०) तथा 'राजपि' (१८८५ ई०) दोनों ही उपन्यास, अतीतकालीन जीवन का चित्रण करते हैं। शब्दों द्वारा वातावरण का निर्माण करने की क्षमता श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर में अपरिमेय थी। यह तथ्य भी सर्वविदित है ही कि वे एक महाकवि एवं कुशल चित्रकार भी थे। उनका सामाजिक उपन्यास 'चाखेर बालि' (आँस की किरकिरी) बड़ी ही सजीव कथा है जिसमें एक सरल कथानक में, विलक्षण कथारस का उद्रेक हुआ है। 'नौका डूबी' (१९०८) जीवन के उतार चढ़ाव को दर्शाता है। इसमें नदी में बाढ़ और सूफान के वृणन बड़े स्मरणीय हैं। गोरा एक बृहद उपन्यास है जो तत्कालीन जीवन का एक व्यापक प्रतिबिम्ब है। श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की कितनी ही औपन्यासिक कृतियों में, उनकी विलक्षण प्रतिभा के दर्शन होते हैं। 'सबुज पत्र' (सन् १९१५ ई०), तथा 'चतुरंग' (सन १९१६ ई०) उनकी परवर्ती कृतियाँ हैं।

प्रख्यात पुरातत्ववेत्ता एवं ऐतिहासिक उपन्यासों के महान् सजक श्री रामदास दास द्योपाध्याय के गुरु महामहोपाध्याय श्री हरप्रसाद शास्त्री भी एक बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न, धुरधर विद्वान् थे। उपन्यास क्षेत्र में, उन्होंने कुछ थप्ट रचनाएँ छोड़ी हैं जिनमें अधिक उल्लेख्य है 'वेनेर भय' (सन १९२० ई०)। श्री रामदास



वद्योपाध्याय, अतीत के जीवन को, अपनी अनुपम शिल्पचित्रण प्रणाली द्वारा पुनरुज्जीवित करने में, पटु थे। उ होने भारतीय ऐतिहासिक उप यास रचना में, एक नई शली का मूलपान किया जिसमें इतिवृत्त के सांस्कृतिक पक्ष का समावेश करने, उ होने, उपयास विधा का वह रमणीय प्रतायमानता प्रदान की है, जो उन जैसे वणन प्रतिभा शाली समय लम्बको द्वारा ही साध्य थी। राखालदास की अधिकांश कृतियाँ हिन्दी में रूपान्तरित हुई हैं और वे अत्यंत लोकप्रिय भी हुई हैं। उनकी प्रथम कृति है 'पापाणेर कथा' (सन १९१४ ई०) जो साची के स्तूप निर्माण के प्रसंग को लेकर रची गई है। 'शशाक' (१९१८ ई०) में कायकुञ्ज सम्राट् उपवन के समतामयिक एव प्रतिद्वंद्वी वीर शशाक का जावन गाथा चित्रित है। नदी द्वारा नौका यात्राओं आदि के वणन, इसमें बड़े उत्तम बन पड़े हैं।

श्री राखालदास वद्योपाध्याय कृत 'कम्णा' (सन १९१७ ई०), उपयास वणनों की दृष्टि से और भी महत्त्वपूर्ण कृति मानी जायगी। इसमें अतीत कालीन जीवन के चलचित्र संश्रुत कर लिए गए हैं और पाठक का लगना है वह ठीक उसी युग में पहुँच गया है, जिसके सांस्कृतिक परिवेश में उपयास की कथावस्तु खड़ी की गई है। राखालदास की अन्य कितनी ही अपत्याकृत कुछ कम प्रख्यात कृतियाँ यथा 'मयूम' (१९१० ई०) जमीन (सन १९१४ ई०) धमपाल (सन १९१५ ई०), आदि में भी वणना की चित्रविचित्रता और भी निखर आई है।

श्री शरतचंद्र चट्टोपाध्याय (सन १८७६-१९३८ ई०) हिन्दी पाठकों में इतने लोकप्रिय थे कि लोग उन्हें वगला उपयासकार के रूप में देखते ही नहीं थे। वे व्यक्ति एवं रचयिता से भी अधिक जम्बिल भारतीय हो गए थे क्योंकि उन्होंने अपने अंतर की छलछनाती हुई उदार करुणा द्वारा हर दुखी भावुन हृदय को दुलाग है, और अपने और अपने पाठकों के बीच एक ऐसा रसविश्व स्थापित करने में सफलता पाई है जो बिरले ही साधुशास्त्रा उपयास नखक, अपने जीवनकाल में कर पाए हैं। शरत, ज में ही घुमक्कड़ प्रकृति के जीव थे। भ्रमण उनके जीवन की कहानी है। अपने भ्रमण में देखे गए अनंत दृश्यों को वे अपने उपयासा में अंकित करते चलते हैं। चित्रपट की भांति जावन क चलचित्र उतारने में शरत की वणन प्रतिभा इतनी विलक्षण थी कि वह ज मजात ही कहा जा सकता है। यदि कोई और वगला उपयास लेखक न भी होता और अकन श्री शरत का ही उपयास साहित्य अस्तित्व में आ जाता तो भी व वगला भाषा और वगला उपयास विधा को अपनी अद्वितीय वणना द्वारा अजर अमर बना जाने में समय हो जाते।

शरत की मानृभाषा वगला थी किन्तु उनका ज में बिहार में भागलपुर में, हुआ था। सारे जीवन, वे भारत के विभिन्न प्रदेशों और ब्रह्मदेश की चप्पा चप्पा भूमि में घूम आए थे। अयास के प्रतिकार और दीना पर प्यार की व प्रतिमूर्ति थे।

उनके 'पथेर दावी' उपन्यास को अंग्रेजी सरकार ने जब्त कर लिया था। 'श्रीकांतेर भ्रमण काहिनी' (सन १९१०-१९३३ ई०) उनके अदम्य विद्रोही जीवन की, महागाथा के रूप में पढ़ी जा सकती है। 'नेप प्रश्न' में उन्होंने आने वाले नए समाज का सपना खड़ा किया है। उनके उपन्यासों के नाम हर जवान पर हैं। उनकी वणन बहुलता के कारण चित्रपट निर्माताओं ने, उनके अनेक उपन्यासों पर उत्तम चित्रपटों की रचना की है, किन्तु बिना सेल्यूलाइड के माध्यम से भी वे उनमें ही दृश्यमान बन पड़े हैं। 'उत्तम वणन प्रतिभा और वणन ही उपन्यास है — इस मून के वे साक्षात् उदाहरण हैं।

भारत कितने ही तरफ बगला उपन्यासकारों के आदर्श एवं प्रेरणा के स्रोत बने, जिनमें इंदिरादेवी (सन १८८०-१९२२ ई०) प्रसिद्ध कृति 'स्वप्न मणि' (सन १९१८ ई०), अनुरूपदेवी (सन १८८२-१९५८ ई०) प्रसिद्ध कृति, वाग्मता (सन १९१४ ई०), निरुपमा देवी' (१८८३-१९५१ ई०), प्रसिद्ध कृति 'अनूपनार मंदिर' (सन १९१३ ई०) आदि, अनेक प्रमुख बगला उपन्यास लेखिकाएँ भी रही हैं।

आधुनिक बगला उपन्यास भी हिन्दी उपन्यास की भाँति ही, बड़ी तीव्रता से प्रगति के पथ पर बढ़ रहा है। उसमें एक से एक नये वणनात्मक प्रयोग उपन्यास विधा में किए जा रहे हैं। शैलजानंद मुखोपाध्याय यथायवाची उपन्यासकार हैं और विभूतिभूषण बघोपाध्याय ने अपनी कृति 'पथेर पाचाली' (सन १९२६ ई०) की रचना द्वारा, वणनात्मक पद्धति की नयी 'सिनेमैटिक पद्धति' का सूत्रपात किया है। उनके 'दवयान' (सन १९४४ ई०) नामक उपन्यास में स्वर्गलोक और देवताओं की संस्कृति का काल्पनिक चित्रण है। श्री ताराशंकर बनर्जी बगला के आचलिक उपन्यासकारों में शीर्ष कलाकार माने जाते हैं। उनकी लोकप्रियता कहा जाता है कि भारत के पश्चात् आधुनिक बगला उपन्यास में सर्वाधिक रही है। उनकी महत्वपूर्ण कृतियाँ हैं — घातकता (१९३६ ई०) 'कवि' (सन १९८१ ई०) 'ग्रामदेवता' (सन १९८२ ई०) 'हनुमती बाँकर उपवधा' (सन १९४७ ई०) आदि।

श्री माणिक मुखोपाध्याय (सन १९०८-१९५६ ई०) भी बड़ प्रतिभाशाली उपन्यासकार हुए हैं। उन्होंने मधुआरो के जीवन पर उत्तम उपन्यास 'पद्मा नन्दी' (सन १९३७ ई०) रचा। 'पुत्रनाचेर कृतिकथा' (१९५५ ई०) श्री बघोपाध्याय की अंतिम वणनात्मक कलाभिराम कृति थी। यहाँ उनके 'पद्मा नन्दी' से उदाहरणरूप का एक वणन अवलम्बित है। उनसे उपन्यासकारों की सूक्ष्म व वक्ष्य दृष्टि तथा वणन माध्यम का अनुमान किया जा सकता है —

बरसात के दिन थे। पद्मा नदी में मछली पकड़ने का यही समय था। रात में मछलियाँ पकड़ी जाती थीं। जहाज घाट पर खड़ा हात में शाम के समय मछुओं की नावों पर सड़की टिमटिमाती रोशनियाँ दीख पड़ती थीं। कभी-कभी तो आधी रात बात जाने पर भी जबकि सब स्थानों पर लोग सो गए होते तब भी, नावा पर

मछलियों का पकड़ा जाना चालू रहता। नावों की तली में, सफेद हिलसा मछलियाँ इकट्ठी होती जाती और टिमटिमाती लालटेन की झिलमिलाती रोशनी में, उनके पलकविहीन नेत्र, नीलम से पारदर्शी दीप्त पड़ते थे।

‘नाव कुछ विशेष बड़ी नहीं थी। पीछे की तरफ, जरा सी छाजन थी, जिसके नीचे बूँदा-बाँदी होने पर मुश्किल से दो तीन आदमी सिर छिपा पाते थे। शेष सब खुली जगह थी। मछलियाँ पकड़ पकड़ कर इस जगह से, नाव के पेंदे में इकट्ठी की जाती थीं। बगल की आर से जाल फँका जाता था। जाल को एक तिकोने फ्रेम में लगा रखा था, जिसके बाँसों के ही दो सिरा से, मूठ का काम भी लिया जाता था और उन्हीं को पकड़ कर, जाल को पानी में डाला और उठाया जाता था। रस्सी पकड़ कर बाँस को गहरे पानी में उतार दिया जाता था और मछली के फसने पर, जब डोरी द्वारा मछुए को पता लग जाता, तो उसी के द्वारा, पानी के भीतर ही, जाल का मुँह बंद कर दिया जाता था।’<sup>१</sup>

कुछ अत्यन्त विशिष्ट आचलिक उपन्यासों में श्री प्रफुल्लराय-कृत ‘पूर्वा पावती’ भी है। यह उपन्यास, नागा प्रदेश के आदिवासियों के विषय में है। नागा प्रदेश के आदिवासियों के बीच लेखक ने, लगभग छ मास बिता कर, उनके जीवन पर यह उपन्यास रचा है। इस उपन्यास में आचलिक होने के नाते वहाँ के स्थान वणन और प्रकृति वणन बड़े ही सुन्दर बन पड़े हैं। नागा प्रदेश प्राकृतिक दृष्टि से बड़ा धनी है। वन, पर्वत, घाटी, बीहड़ जंगल आदि यहाँ की विशिष्टताएँ हैं। इन सभी का बड़ा ही सजीव चित्रण इस उपन्यास में चित्रात्मक शली में किया गया है। श्री समरेश बोस कृत ‘गंगा’ उपन्यास में, हुगली के तट पर, हिलसा मछली का, वर्षाकाल की बाढ़ में साहसपूर्ण शिकार करने वाले मछुआरों के जीवन की, जीवन्त गाथा वर्णित है। यह भी एक आचलिक उपन्यास है। ‘पद्मा नदीर माक्षी के समान ही, इस उपन्यास में भी, स्थानवणन, प्रकृतिवणन, मछुआरों की वेश भूषा, आकृति निदान आदि का वणन बड़ा ही सजीव और सुन्दर बन पड़ा है। ‘गंगा’ उपन्यास से यहाँ कुछ वणन इसीलिए उद्धृत किए जा रहे हैं। उपन्यासकार ने अनेक महीनों तक मछुआरों के साथ साहसी जल-यात्राएँ की थी और उनके जीवन और व्यवसाय के सभी पक्षों का त्रियात्मक अध्ययन किया था। इसीलिए श्री समरेश बसु की वणन शली में नदी की धारा की तरलता एवं गतिशीलता, यथातथ्यता दर्शनीय है —

१ ‘पद्मा नदीर माक्षी’ श्री माणिकलाल बघोपाध्याय (रचनाकाल १९३७ ई०) पृष्ठ ६१० अध्याय १। (हिन्दी रूपांतर सविता बघोपाध्याय), प्रकाशक सुबोध प्रकाशन, दिल्ली (१९५६ ई०)।

‘माटे के खिचाव से, अगले दल की तीन नावें, पूरब किस्टोपुर का नहर गेट पार करके, इस उस नदी-नाले को छोड़ने हुए सरसर करके नीचे उतर आई। तीन चुनी चुनाई नावें, दौड़ की होड़ वाली। पूरब से आई। खडे पूरब से नहीं पूरब दक्खिन से। दो पुरोखोड गाछी से। और एक धलतीता गाव की। और भी आ रही हैं पीछे-पीछे। तेंतलियां, सारापुर, पुरोखोड गाछी, फनुल्लपुर फरीदकाठी, बीर-पुर तमाम पूरब-उत्तर और पूरब दक्खिन को खाली करके, चले आ रहे हैं, सो मत्स्यजीवी। मछुए, कवत्त, निरकरी, चुनुरो मालो—सभी आ रहे हैं। उधर के राज वशी भी अब, जोत जमीन गवा कर, मत्स्यजीवी होगए हैं। वे भी आ रहे हैं।

खेदे लिए आ रही हैं, दखिनी बाओड यानो समदरी बाधी। लोने पानी की नदियो के ढाले दिन हैं ये। मीठे पानी की नदियो के अब्दे तिन आ रहे हैं। और भी आएंगे। पास पडोस के पू डया, आतु ड, इटिडे, दडीरसट, टाकी—तमाम मच्छीमारों के घर तैयारी की घूम पड गई है। एक एक करक सभी आएंगे। गोपालपुरा के जोर जमु नियां को दाँए छोड, दूर-पश्चिम मे छोड, स-देशावली हरनयाबाद के नीचे से आएंगे।’

‘आरहे हैं, सभी आ रहे हैं उधर। क्या रात, क्या दिन, चले आरहे हैं। नजर हो तो ऊपर चढ कर एक बार पूरब की तरफ ताकते ही दिख जाए कि कितने आ रहे हैं। कतार की कतार, अगल बगल! दक्खिन की बिल्कुल ढलान से, सब ने ज्वार के प्रवाह मे, पाल खोल दिया है। जिससे जिधर से भी बन पाता है, उधर से ही, गगा मे आ रहा है। गगा का पानी गदला है लेकिन मीठा। सभी मच्छीमारा का रोटी कपडा जिसके पास बघा है।

‘सब कुछ छोड कर सब गगा मे जाएंगे जहा का पानी, लोन नहीं है। यहाँ दक्खिनी बाधी की बह बला नही। पूरब दक्खिन के खारे जल के सभी अडडो को छोड, गगा के मीठे पानी के प्रवाह में खूँटे गाड कर सब नावें बांधेगे। मछली तो पानी से भी आजाद। गगाजी न जचो तो चलो जायगी, मातला, इच्छामती पस-द न आए तो कतार बाँध कर पहुँच गई गगा के मुहाने। पोथी पत्रा के हिसाब को भी गलत करती हुई, चलती हैं, मीनेश्वरी। पना ने लिखा मछनी का हिस्सा दस। अत तक हुआ जाकर पाँच। या फिर एक बारगी डेवडा या दुगना, प-द्रह से बीस हिस्सा।’

श्री विमल मित्र का महा उपन्यास साहब, धीधी, गुलाम बगला उपन्यास-विधा मे, रहस्यावत्त शली की तो एक अनुपम कृति है ही, साथ ही ह्यासमान जमींदारी जीवन का भी तीव्रता से विखरता हुआ चित्र उसमें प्रस्तुत किया गया है। उपन्यास पर, प्रसिद्ध हिन्दी चित्रपट बन जाने के कारण उसकी क्या और परिवेश सवसुलभ

१ गगा (समरेश बसु) पृष्ठ १३ प्रथम प्रकाशन १९६४ ई०, (हिन्दी रूपान्तरकार हंसकुमार तिवारी) (१९६७ ई० के संस्करण से—प्र० समाग प्रकाशन, दिल्ली)

हो गए हैं। किन्तु वणनात्मक कला की दृष्टि से उप-यास बड़ा ही महत्वपूर्ण है। पुराने कलकत्ता का, जसा यथाथ जीवन, विमल मित्र ने चित्रित किया है वसा काई भी उप-यासकार नहीं कर पाया है। विमल मित्र का एक और भी वृहद उप-यास (सन १९६७ ई० म) प्रकाशित हुआ है—नाम है काडी दिए किन लाम। इसका अनुवाद हिंदी में हो चुका है। भारतीय उप-यासो म आकार म यह सबसे बृहत् उप-यास है। यहां श्री विमल मित्र के साहब, बीबी गुलाम उप-यास का सवप्रथम वणन उद्धृत किया जा रहा है —

‘इधर बहूवाजार स्ट्रीट और इधर सेट्टन एवेयू। बीच की साप जसी, आकी बाकी गली, आज तक इन दो राजपयो का मिलाने का काम, करती रही लगता है रातोंरात बन गई यह बनमाली सरकार लेन। इतनी पुरानी गली। इसी के पश्चिम से बिन्दपुर और मृतानूटी क समय से बनमाली सरकार के पुरखे राज कर गए थे। बहावत सी चल पड़ी थी—उमीचाद की दाडी और बनमाली सरकार की बाडा। रोउदाब जीर बहार शायद दाना ही की एक सी थी। उस जमाने म सदगोप बनमाली सरकार का ईस्ट इण्डिया कम्पनी से पटने की दीवानो मिली थी जीर कलकत्ते के मातहत यापार करने का अधिकार। बहुत बहुत पहिले की हैं यह बातें। तब की जा कुम्हार गली थी उसम, उ हान लाट साहब क मुकाबिले का एक मकान बनवाया। उनको देखादेखी निमतल्ले म एक मकान बनवाया उस समय के एक दूसरे बडे आदमी मधुर सन ने। मगर कहाँ बनमाली सरकार का मकान और कहाँ वह? कनई मुकाबिला ही नही। उसके बाद कहाँ तो गया कुम्हार सेली का मकान? कहाँ गए खुद बनमाली सरकार। और कहा गए मधुर सेन।’

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हिंदी के बाद बंगला का, भारतीय भाषाओं के उप-यासो म महत्वपूर्ण स्थान विभिन्न दृष्टियों से है। बंगला म अनेकानेक उत्तम ऐतिहासिक उप-यासो की भी रचना हो सकी है साथ हा सामाजिक और आचलिक उप-यास भी इस भाषा म उत्तमोत्तम कोटि क रचे गये हैं। हिंदी के समान ही आचलिक उप-यास बंगला म भी बडे लोकप्रिय हैं और बंगला उप-यासकार और बंगला उप-यास पाठक दोनों ही इस शली को बहुत पसंद करते हैं। इस प्रकार वणनात्मक कला की दृष्टि से बंगला उप-यास बहुत समृद्ध बन पडा है। प्रारम्भिक कृतियों की अपेक्षा, अनुनातम बंगला औप-यासिक कृतियों म, वणन बहुत उभर कर आए हैं और वे बडे सजीव, कलात्मक और लालित्यमय भी हैं।

१ ‘साहब बीबी गुलाम (श्री विमल मित्र) अध्याय १, पृष्ठ १ (प्र० प्र० १९६० ई०) (हिंदी रूपान्तर श्री हंसकुमार तिवारी) (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)।

### दशम प्रकरण मराठी उपन्यास साहित्य की रूपरेखा

मराठी उपन्यास साहित्य की प्रथम गाथा करने पर यही जान पड़ा कि सब प्रथम मराठी उपन्यास सन् १८५७ ई० में रचा गया था और उगने रायिना थे, पात्रों बाबा पद्मजी । किन्तु कुछ ज्ञान पूव स्याम्बक, स्व० श्री तन्मय मोरेश्वर शास्त्री हठरत मुत्तामाता का प्रथम रचाया एक प्रकाशक सम्बन्ध में, कुछ नये तथ्य भी सामने आए । उनसे पता चलता कि मराठी उपन्यास के प्रथम प्रवर्तन की तिथि भी, बगला के समान ही सन् १८५६ ई० ही है ।

जिस प्रकार हिंदा साहित्य ममीया में इस विषय पर बहुत जिनों तर विवाद चलता रहा कि पहली औपन्यासिक कृति किसका माना जाय, वही प्रकार मराठी भाषा में भी पहली औपन्यासिक कृति का निर्धारण में बहुत समय लगा और विभिन्न विद्वानों ने अपना अपना मत का अनुसार अलग अलग कृतियाँ का, 'प्रथम औपन्यासिक कृति ठहराया । बाबा पद्मनजी कृत यमुना पयटण का स्व० श्रीमती कुमुमावती देशपाठे ने, अपने ग्रन्थ 'मराठी कादम्बरी' में, पद्याल्य विचार विमर्श के पश्चात्, मराठी का पहला उपन्यास घोषित किया । इससे पूर्व ही अनेक विद्वानों ने, इसी कृति को मराठी का पहला उपन्यास बताया है जिनमें श्री दण्डवत<sup>१</sup>, श्री सरवटे<sup>२</sup>, श्री वि० ह० कुलकर्णी<sup>३</sup> विनाय उल्लेखनीय हैं ।

श्री गंगाधर बालकृष्ण सरदार<sup>४</sup> ने भी मराठी भाषा में स्वतन्त्र उपन्यास रचना का श्रेय बाबा पद्मनजी नामक ईसाई पात्रों को ही दिया है । लेखक का मत है कि वास्तव में मराठी का पहला उपन्यास तो यही था परन्तु क्योंकि इसमें ईसाई धर्म की हिन्दू धर्म की अपेक्षा अधिक उदार प्रशंसित करने की चष्टा की गई है, इसीलिए, उपन्यास के मुलितित होने पर भी, उसको विशेष लोकप्रियता नहीं मिल पायी ।

श्री कृष्णलाल सरशोडे<sup>५</sup> 'हंस' के मत में— मराठी साहित्य में सबसे पहले उपन्यास लेखन का कार्य सन् १८११ (सन् १८५४ ई०) में विष्णु शास्त्री निपतुणकर ने, डा० जानसन द्वारा लिखी गई रासलस के स्वप्न में मराठी रूपान्तरण, प्रारम्भ किया । पर मौलिक उपन्यासों का आरम्भ, सन् १८१४ (सन् १८५७ ई०) में, बाबा पद्मनजी ने यमुना पयटण लिख कर किया ।<sup>६</sup>

१ 'मराठी कादम्बरी—पहिले गतक' (१८५०-१८५० ई०) कुमुमावती देशपाठे ।

२ कादम्बरी ची गोळ — दण्डवते ।

३ 'मराठी साहित्य समालोचन — सरवटे ।

४ अर्वाचीन मराठी साहित्य — वि० ह० कुलकर्णी ।

५ 'अर्वाचीन मराठी गद्याचीं पूर्वपीठिका — गंगाधर बालकृष्ण सरदार, अध्याय २ कथात्मक वाङ्मय पृ० ३७-३३ (पृष्ठ ५८) ।

६ 'मराठी साहित्य का इतिहास (श्री कृष्णलाल सरशोडे 'हंस') अध्याय ६ उपन्यास साहित्य, पृ० ३०६-१८ ।

प्रसिद्ध मराठी आलोचक द्वय श्री बापट एव गोडबाले की सम्मति में 'यमुना पयटण' को 'कादम्बरी' (उप-यास) मानना उचित नहीं है क्योंकि उनके अनुसार, साधारणतया, 'वृहदाकार कथा' को ही उप-यास माना जाना चाहिए। इसीलिए उनके विचार से 'यमुना पयटण' की गणना उपन्यास-साहित्य में न की जाकर, 'रामोजी गणोजी सम्प्रदाय के धार्मिक साहित्य के अंतगत' की जानी चाहिए थी।

रेवेरेण्ड बाबा पद्मनजी, एक ईसाई मिशनरी थे जो महाराष्ट्र में ही बस गए थे। उनके नाम से जान पड़ता है वे मूलतः गुजराती थे। उन्होंने १८५७ ई० में 'यमुना-पयटण नामक उप-यास लिखा। किन्तु यमुना-पयटण को कई मराठी विद्वान 'उप-यास' मानते भी नहीं हैं, क्योंकि वास्तव में यह एक ईसाई धर्म के पक्ष में, प्रचारात्मक रचना है। उनका कहना है कि पुस्तक में आद्योपात्त भारतीयों की पुरातनपथी विचारधारा एवं विधवाओं के प्रति निदय व्यवहार आदि के प्रश्नों को लेकर, एक ऐसी कथा खड़ी की गई है जिसमें, वास्तविक तथ्यों को तोड़ा मरोड़ा गया है और येनकेन प्रकारेण हिंदुओं के धर्म एवं रहन सहन की तुलना में, ईसाई धर्म एवं संस्कृति को, ऊँचा ठहराने का उद्योग किया गया है।

'यमुना पयटण' के सम्बन्ध में श्री प्रा० ग० मा० निरंतर, एम० ए० के विचार पर्याप्त सतुलित एवं तथ्यपूर्ण जान पड़ते हैं। उनके अनुसार भी पहली स्वतंत्र कादम्बरी यमुना-पयटण ही है। परंतु उन्होंने इस उप-यास की तुलना में, लक्ष्मण शास्त्री हळवे-कृत 'मुक्तामाला' (१८६१ ई०) को ही पहला वास्तविक मराठी उप-यास माना है। श्री दत्तो वामन पोतदार ने 'यमुना पयटण को मराठी गद्य का उत्तम आद्यरूप तो अवश्य माना है परंतु इस कृति के लिए उन्होंने, कही भी 'कादम्बरी' (उप-यास) शब्द का प्रयोग नहीं किया है।

कुछ आलोचकों ने, मराठी उप-यास साहित्य का प्रारम्भ 'भृगुघोषा नामक कृति से माना है। इसके लेखक नारायणराव सदाशिव रिसबुद (१८३८ से १९०० ई०) थे। इस उप-यास की रचना सन १८६८ ई० में हुई थी। इस उप-यास में लेखक ने 'अलिफ-लला' जसी कथा माथा शली को अपनाया है। यह उप-यास वर्णन प्रधान उपन्यास है और वर्णनात्मक शली में रचित है। इसीलिए पाठकों में यह बहुत शीघ्र ही लोकप्रिय हो गया और कुछ ही वर्षों में इसके चार संस्करण भी निकल गए जब कि उन दिनों यह एक अनहोनी घटना, मानी जाती थी।

कुछ अन्य मराठी आलोचक, श्री रामचंद्र मीकाजी गुजीकर (१८४३ १९०१ ई०) के ऐतिहासिक उप-यास 'मोवनगड' से ही, मराठी उप-यास का प्रारम्भ मानते हैं। इस उप-यास की रचना सन १६७१ ई० में हुई थी। इस उप-यास का जन साधारण द्वारा अत्यधिक स्वागत हुआ क्योंकि इसमें, प्रादेशिक और आचलिक आभा को

चित्रित करने वाले उत्तम वणन पाए जाते हैं। वणनात्मक दृष्टि से यह, मराठी का एक बहुत विशिष्ट उपन्यास है।

किर भी जितने आलोचकों ने 'यमुना पयटण' को मराठी का पहला उपन्यास बताया है, उतना किसी अन्य को नहीं। इन पंक्तियों की लेखिका को लगभग सात-आठ वर्ष पहले 'यमुना-पयटण' का (कोल्हापुर में) मूल रूप में पारायण करना पड़ा तो पाठ हुआ कि 'यमुना-पयटण' वास्तव में उपन्यास नहीं, बल्कि उपन्यास रचना की दिशा में, एक प्रयोग ही माना जा सकता है। उपन्यास की रूप रेखा तो उस में है किन्तु साहित्यिक गरिमा अथवा कलात्मक लाभित्य—दोनों का ही, उसमें समुचित रूप में समावेश, नहीं हो पाया। 'रानी बेतकी की कहानी तथा 'आलापेर घरेर दुलान' की तुलना में, यमुना पयटण, बहुत साधारण कोटि की कृति जान पड़ती है। वस्तुतः साहित्यिक कृति, मूलतः कभी भा उपदेशात्मक या प्रचारात्मक नहीं होती। उपदेश तथा प्रचार, उपन्यास-साहित्य की सबसे बड़ी कमी मानी जाती है। उपन्यास का उद्देश्य लोक-रजन है। यन्ने ही का ता-सम्भिन उपदेश के माध्यम से, यह कुछ शिक्षा भी पाठक को दे दे। परन्तु प्रचारात्मक दृष्टि को ध्यान में रख कर ही जिस उपन्यास की रचना की जाती है, वह एक उत्तम कोटि का उपन्यास नहीं बन सकता।

डॉ० अ० ना० देशपाण्डे ने स्व० श्री लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री हळवे-कृत 'मुक्तामाला' उपन्यास का नया सम्पादन किया है। तदनुसार पाठ होता है कि यद्यपि 'मुक्तामाला' का पुस्तक रूप में प्रकाशन, सन् १८६१ ई० में ही हो पाया था किन्तु 'मुक्तामाला', 'चित्रिका' नामक मासिक पत्रिका में सन् १८५६ ई० में ही, धारा-वाहिक रूप से प्रकाशित हो चुकी थी। श्रीलक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री, स्वयं ही 'चित्रिका' पत्रिका के सस्थापक थे। इसी पत्रिका में उनका दूसरा उपन्यास 'रत्नप्रभा' भी धारा-वाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। 'रत्नप्रभा' का पुस्तक रूप में प्रकाशन, 'मुक्तामाला' से, ५ वर्ष पश्चात्, अर्थात् सन् १८६६ ई० में हुआ था। ये दोनों ही उपन्यास सरस, साहित्यिक एवं विदुद्ध भारतीय उपन्यास-परम्परा में रचित तथा वणनात्मक कला की विविध विशिष्टताओं से समृद्ध हैं। विशेषतया 'मुक्तामाला' वणनात्मक कला की दृष्टि से 'यमुना पयटण' की तुलना में कहीं उत्कृष्ट साहित्यिक कृति है। डॉ० देशपाण्डे ने बड़े परिश्रमपूर्वक 'मुक्तामाला' एवं उसके रचयिता श्री लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री के जीवन वृत्तांत-सम्बन्धी, सभी आवश्यक तथ्य जुटा लिए हैं। उन सभी के आधार पर, यह बात अब निर्विवाद रूप से स्वीकार करली जानी चाहिए कि 'मुक्तामाला' ही, मराठी उपन्यास साहित्य की सर्वप्रथम कृति है।

श्री लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री का जन्म, दक्षिण महाराष्ट्र के प्रसिद्ध धार्मिक एवं सांस्कृतिक केन्द्र, घाई में, गगापुरी मुहल्ले में, पचासवीं मंदिर के पास, उनके



पूजका के गृह में, सन १८३१ ई० म हुआ था। उनके पिता एव पूजक मस्तुनन के और पढित थे। उसी परम्परा म श्री लक्ष्मण शास्त्री की भी गिदा-दीक्षा हुई थी। वे थोड़ी ही अवस्था म वेदशास्त्रा के जाता हो गए और वाई म अपना अध्ययन सम्पूण करके, वे बम्बई चले गए। यद्यपि श्री लक्ष्मण मोरेश्वर हउवे ने, नियमानुसार कोई परीक्षा पास नहीं की थी किन्तु बम्बई के विद्वदवग ने उनका पांडित्य देख कर उन्हें, 'शास्त्री' की सम्मान्य उपाधि प्रदान की थी। बम्बई प्रवास म, उनका सम्बन्ध 'इदु प्रकाश' नामक प्रसिद्ध पत्र के व्यवस्थापकों से हुआ जो आजीवन बना रहा और वे उसके संपादनकाय म, सदा ही रुचि लेते रहे। बम्बई मे उन्होंने 'परमहंस-समा, नामक सांस्कृतिक संस्था की नींव डाली थी। आग चल कर यही 'प्रार्थना-समाज' नाम से प्रसिद्ध हो गई। श्री शास्त्री ७४ वष तक निरंतर साहित्य एव समाज की सेवा करने के उपरांत, सन् १९०५ ई० मे दिवगत हुए। उनके पौत्र अभी तक जीवित हैं। 'मुत्तामाला वा तत्कालीन मराठी आलोचकों ने अच्छा स्वागत किया था जिमम स्व० श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर भी थे।'

'मुत्तामाला' उपयास का प्रारम्भ ही घडे मध्य प्राकृतिक दृश्य-वणन से होता है। एक प्रकार से वह उनके जन्मग्राम वाई की ही बन पवत उपत्यकामय पृष्ठ भूमि है। 'वाई दक्षिण महाराष्ट्र के सबसे अधिक प्रकृतिरम्य बस्वो म गिना जाता है और तीर्थयात्रियों एव पर्यटकों का एक प्रिय विहार केन्द्र रहा है। यहाँ मूल उपयास से ही प्रथम वणन उदधृत किया जा रहा है—

'वर्षाकात समाप्त हुआ और शरदकाल का प्रादुर्भाव हुआ, अर्थात् पवत-शिखरो पर प्रातःकाल म एक दृष्टि डालने पर विचित्र मनोहर चमत्कार दिग्वाई पढता है। पृथ्वीतल भी भिन्न भिन्न प्रकार के धायो के खेतो से हुरामरा नजर आता है। उनम से किसी म पून आ रहे हैं तथा किसी मे दाने भी पल गए हैं। आम नारियल, पीफली (पपीता) आदि के बगीचों की लम्बी पक्ति माग के दोनो ओर दूर तक चली जा रही है। इस भांति समग्र पृथ्वीतल ही माना एक चित्रविचित्र रंग से ढं हुए गलीचे के समान बिछा हुआ सा, जान पडता है। अपने दोनो पाटो के बीच भरपूर जल से आपूयमाणा नदी का प्रवाह सर्पाकार गति म प्रवाहित बडा ही शोभा मय दिखाई देता है।

'किसी किसी स्थान पर, जहाँ तहाँ तालाब भी दिखाई पडते हैं उनमे अनेक प्रकार के रगविरगे कमल खिल रहे हैं। वे अपने आसपास के विविध रमणीय पदार्थों म भी सबसे अधिक, चित्त को आनन्द प्रदान कर रहे हैं। इधर उधर, नगर और

१ निबध माला — ('भाषा पद्धति' शीपक निबध) पृष्ठ १४२ (श्री विष्णु शास्त्री चिपलूणकर)।

प्रामाण्य भूमिगतों में भी, इस समय, एक अपूर्व स्फूर्ति एवं चमत्कार दिखाई पड़ता है । उनमें से कहीं चूल्हों के गुनगाने से उठा हुआ धुआ, आकाश मडल की ओर बढ़ता नजर आता है । उसमें अनेक घरों को मानो अपने आवरण में ढँक सा रखा है । उन सभी के बीच देवालय के गगन उत्तुंग शिखर भी मानो, अपने सिरो को निकाल निकाल करके, अपनी उत्सुकता प्रकट करत से जान पड़ने हैं कि देखें तो सही ! आज पृथ्वी तल पर कसा आनन्ददायक चमत्कारपूर्ण दृश्य दिखाई दे रहा है !

‘जिपर, जिघर अपन ध्यानपूर्वक देखते हैं उधर उधर ही, एक निराला ही दृश्य दिखाई देता है—सभी लोग अपने अपने काम धर्मों में लगे हुए जान पड़ते हैं । रास्ता चलने वालों में कोई पत्नी, कोई घोड़े पर कोई गाड़ी में, भिन्न भिन्न मार्गों से आ जा रहे हैं । किसान ग्वाल अपने-अपने बैल और मवेशियों को लेकर, गाँव की सीमा से बाहर निकल रहे हैं । कोई अनाज, घी दूध, लकड़ी, साम भाजी इत्यादि विक्री के पदार्थ लेकर बेचने के लिए निकले हैं । कोई नदी के तट पर नाव पर बैठ कर, चल देते हैं । पक्षीगण मानो एक दूसरे का आह्वान कर रहे हैं । सभी मिल कर ऐसी कर्ण मधुर चहचहाहट कर रहे हैं जो सुनते ही बनती है । पवत मालाओं में कोई समीप और कोई सुदूर दिखाई देती है—वे सब मिल कर एक विचित्र मनोहर दृश्य उपस्थित कर रही हैं । उनमें कहीं गुफाएँ दिखाई पड़ रही हैं । वहाँ उनमें से भारी चट्टानें टूट कर लुढ़क पड़ी हैं ऐसा दिखाई पड़ता है । किसी जगह सघन वन में भयंकर झाड़ भुआड़ हैं । कहीं छिपे हुए वृक्ष दूर दूर खड़े हैं । कहीं शिलाएँ बिछी हैं तो कहीं मात्र चरागाह ही दिखाई पड़ रहे हैं ।’

अधिकार आद्य मराठी उपन्यासकारों की रुचि ऐतिहासिक उपन्यास रचना की ओर ही अधिक रही थी । सामाजिक उपन्यास के विकसित होने में इसीलिए काफी विलम्ब हो गया । किन्तु ऐतिहासिक उपन्यास रचना में भी मराठी उपन्यासकारों ने पर्याप्त वृत्त प्रतिभा का परिचय दिया है ।

मराठी भाषा में उपन्यास का नाम ‘कादम्बरी’ प्रचलित है । यह इस बात का परिचायक है कि मराठी के उपन्यासकार परम्परागत संस्कृत कथाशैली के प्रति श्रद्धालु हैं । प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास होने की दृष्टि से श्री रामचन्द्र भीवाजी गुजोकर द्वारा रचित उपन्यास ‘मोचनगड’ (१८७१ ई०) एक चिरस्मरणीय वृत्ति है । इस उपन्यास का प्रारम्भ श्री शिवा प्रशस्ति से ही हुआ जिसका कि चरम विकास हम श्री हरि नारायण आठे के उपन्यासों में देख सकते हैं । उपन्यास का विन्यास

१ ‘मुक्तामाला (श्री लक्ष्मण मोरेश्वर शास्त्री द्वारा) रचनातिथि १८५६ ई०, भाग पहिला पृष्ठ १२ । (स० अ० न० देशपांडे एम० ए०, पी एच० डी०), प्रस्तुत संस्करण १९५६ ई० (माडन बुकडिपो पुना २)

यद्यपि पुरानी शैली का है फिर भी महाराष्ट्र प्रदेश की भाँकियों के चित्रण एवं इतिवृत्त-सत्त्व के निवाह, दोनों ही दृष्टियों से 'मोचनगढ़' आदरास्पद है।

श्री गुजीकर ने इतिहास परक उप-यास रचना का प्रेरणा, कहा जाता है कि श्री भोरोवा काहोबा से पाई थी। उनका एक इतिवृत्त आधारित उप-यास 'धासीराम कोतवाल' का प्रकाशन, पूना से, सन १८६३ ई० म हो चुका था। किन्तु उप-यास का वियास जटिल होने के कारण एवं प्रारम्भिक प्रयोग होने के कारण उसे, श्री गुजीकर के उक्त उप-यास के समान ख्याति न प्राप्त हो पाई। 'मोचनगढ़' के पश्चात् मराठी के ऐतिहासिक उप-यास क्षेत्र म तब तक किसी विशिष्ट प्रतिभा के दशन नहीं होते, जब तक कि श्री हरि नारायण आष्टे ने अपने महान ऐतिहासिक उप-यास नहीं रचे।

श्री हरि नारायण आष्टे (जन्म सन् १८६४ ई०, निधन १९१९ ई०) का सबप्रसिद्ध उप-यास 'उप काल' हुआ। उप-यास में महाराष्ट्र का चित्रण वृश्य-अंश न पाया जाता है तथा स्थान वणन की दृष्टि से वह एक विशिष्ट कृति मानी जाती है। श्री हरि नारायण आष्टे के अ-य चिरस्मरणीय ऐतिहासिक उप-यास हैं—'सूर्योदय', 'गढ़ आला पण सिंह गेला' सूर्यास्त, रूपनगर की राजकन्या—आदि। 'सूर्योदय' एवं 'सूर्यास्त' म मराठी शक्ति के उदय एवं परामर्श का चित्रण किया गया है तथा 'गढ़ आला पण सिंह गेला' में वीरवर तानाजी की सिंहगढ़ के उदार अभियान में, वीरगति प्राप्त करने की लोमहृषक वीरगाथा वर्णित है। इन सभी उप-यासों म, स्थान वणन, प्रकृति वणन, युद्ध वणन आदि भरे पडे हैं और प्रकृति वणन तो एक से एक अमूठे वन पडे हैं।

श्री आष्टे को उक्त उप-यासों के रचने की प्रेरणा सन १८९६ ई० म, राय गढ़ में, बड़ी घूमघाम से मनाई गई 'शिवाजी जयन्ती' से प्राप्त हुई। उसके प्रवक्तक, भारतीय स्वराज्य के प्रथम अध्वयु, लोकमाय बाल गगाधर तिनक थे। श्री आष्टे के युक्त हृदय पर लोकमाय के देशानुराग का गहरा प्रभाव पडा और वे उनके 'केसरी' (मराठी दैनिक) एवं 'मरठठा' (अंग्रेजी साप्ताहिक) क नियमित पाठक बन गये। श्री आष्टे ने महाराष्ट्र म लोकमाय द्वारा प्रवर्तित 'शिवाजी उत्सव' नामक राष्ट्रीय त्यौहार को लोकप्रिय बनाने में भी सक्रिय योग दिया था।

श्री आष्टे ने मराठी उप-यास-साहित्य को प्रभूत समृद्धि प्रदान की है। उनके जिन इतिवृत्तात्मक उप-यासों का उल्लेख ऊपर किया गया है उनके अतिरिक्त, उन्होंने भारतीय इतिहास के कतिपय अ-य गौरवशाली प्रसंगों पर भी, उप-यास रचना की है। 'चन्द्रगुप्त' आणि 'चाणक्य' भी एक ऐसा ही उत्तम ऐतिहासिक उप-यास है। इनका एक और समथ उप-यास 'बच्चाघात' भी है। इसमें श्री आष्टे ने, विजय

नगर साम्राज्य के पतन की, क्यावस्तु का आधार बनाते हुए, तत्कालीन दक्षिण भारत की भाँकी प्रस्तुत की है।

श्री द्वायकानाथ माधवराव पितळे उपनाम 'नाथमाधव' का यथाय अर्थों में श्री आष्टे का उत्तराधिकारी कहा गया है। उनका जन्म सन् १८८२ ई० में हुआ था। जब श्री पितळे, बम्बई सरकार के वन विभाग में कार्य कर रहे थे तो एक बार वे, सिंहगढ़ के जंगल में, शिकार का पीछा करते हुए ६० फुट की ऊँचाई से गिरने के कारण, चलन फिरने से विवश हो गए। इस शारीरिक असमर्थता के कारण, मनोरंजन की दृष्टि से, उठाने, ऐस उपन्यासों की सृष्टि प्रारम्भ कर दी जिनमें कि कायशीलता एवं घटनाओं की तीव्रता का बाहुल्य था। क्योंकि उन्होंने महाराष्ट्र प्रदेश के वन पक्षी का पर्याप्त अध्ययन किया था अतएव, महाराष्ट्र के अतीत-काल को आधार बना कर उठाने, एक से एक उत्तमोत्तम उपन्यासों की रचना प्रारम्भ कर दी, जिनमें वना, पक्षी और जंगलों के वर्णन बहुत विविध रूपों में पाए जाते हैं।

श्री 'नाथमाधव' का पहला उपन्यास, 'तरुण राजपूत सदाँर' सन् १९०६ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसका क्यानक शिवाजी के काल का था। इसके पश्चात् उन्होंने अपनी वह प्रसिद्ध 'स्वराज्यमाला' प्रारम्भ की जिसमें कि 'स्वराज्याचा श्री-गणेश', 'स्वराज्याची स्थापना', 'स्वराज्यावरील सकट', 'स्वराज्याचा राज्य-वारमार', 'स्वराज्याची घटना', 'स्वराज्याचा विनाश' आदि सभी उपन्यास थे, जो पर्याप्त लोकप्रिय हुए। इन सभी में मराठा काल के अम्युदय एवं उसके विनाश की वीरगाथा को उपन्यास रूप दिया गया है। सभी उपन्यास, प्रादेशिक रूपों से समृद्ध हैं तथा तत्कालीन महाराष्ट्र का जीवन और पृष्ठभूमि उनमें प्रतिबिम्बित है।

श्री चिंतामणि विनायक बच (सन् १८६१-१९३८ ई०) मराठी भाषा के प्रसिद्ध उपन्यासकार हुए हैं। उन्होंने कुछ ऐतिहासिक उपन्यासों की भी रचना की है जिनमें कि 'शिवाजी चरित्र' एवं 'दुर्द्वी रंग', प्रस्तुत प्रसंग की दृष्टि से अधिक उल्लेखनीय हैं। 'दुर्द्वी रंग' में पक्षवाओं के युग के जगजीवन का चित्रित वर्णन पाया जाता है। श्री चिंतामणि गणेश मानु ने भी अनेक उत्तम ऐतिहासिक उपन्यासों की रचना की। उनके 'शृंगेरी की लक्ष्मी' (सन् १९२४ ई०) नामक उपन्यास में, शृंगेरी के मठ पर मुसलमानों के आक्रमण तथा उसके प्रतिकार की कथा वर्णित है। क्यावस्तु नाना पंडनवीस के काल से ला गई है।

श्री हरि नारायण आष्टे तथा श्री 'नाथमाधव' की परम्परा को अग्रसर करने वाले श्री विठ्ठल वामन हृत्प ने लगभग एक दर्जन उपन्यासों की रचना करके, पेशवाओं के समस्त इतिहास को उपन्यास रूप में साक्षात् कर दिखाया है। इनके उपन्यासों में, महाराष्ट्र के अनेकानेक ऐतिहासिक नगरों, दुर्गों, प्राकृतिक स्थलों तथा

जन साधारण के रहन सहन के विविध पक्षों का, पर्याप्त प्रामाणिक वणन पाया जाता है। इनके उप-यास 'वेशवाईवरील वादग्वरी माला' नाम से प्रकाशित हुए हैं।

सुप्रसिद्ध भ्रान्तिकारी स्वर्गीय डा० नारायण दामोदर सावरकर का ऐतिहासिक उप-यास 'मरणाची लग्न भी, बाजीराव पेशवा के काल के महाराष्ट्र को प्रतिबिम्बित करने वाली एक चिरस्मरणीय कृति है।

सन् १९६३ ई० मे प्रकाशित श्री ना० स० इनामदार का ऐतिहासिक उप-यास, भेष, एक नवीन शली का मूत्रपात करने वाला सफल वणनात्मक उप-यास है। इसमें पेशवाओं के समय में, अग्रजी राज्य के बृद्ध हुए चरणों को रोकने के, एक हादिक एवं आत्मबलिदानी प्रयास को, उप-यास रूप में चित्रित किया गया है। इस कृति से जान पड़ता है, मराठी का ऐतिहासिक उप-यास भी एक नया मोड़ ले रहा है।

यद्यपि मराठी पाठकों में ऐतिहासिक उप-यास सबसे अधिक लोकप्रिय रहे हैं, फिर भी कुछ अर्थ दोषों एवं शक्तियों में भी मराठी उप-यास न पर्याप्त प्रगति दिखाई है। सामाजिक उप-यासों से लेकर आंचलिक उप-यासों तक बहुत से अभिनव औप-यासिक प्रयोग भी किए गए हैं। जिन उप-यासकारों की रचनाएं अब चिरस्मरणीय हो गई हैं उनमें से कुछ का उल्लेख ही यहाँ किया जा सकता है।

श्री वामन मल्हार जाशी के उप-यास 'रागिणी में एक नये दृष्टिकोण का उदय हुआ है। उसमें, मराठी पारिवारिक जीवन के चलते हुए स्वल्प, तथा नारी के नये सामाजिक स्तर के चित्रण का प्रयत्न तो था ही, साथ ही उसमें यौद्धिक प्रतिभा की और विचारों की उदात्तता भी थी।

डा० केतकर, श्री वा० म० जोशी वं ही समकालीन सुयोग्य लेखक थे। उन्होंने उप-यास की सतत-कला को गम्भीर विचार विमर्श की वस्तु नहीं बनाया और उसे कवल मनोरंजन प्रधान ही माना। उन्होंने उप-यास के माध्यम में भारतीय सामाजिक ढाँच की, सहज समस्याओं का पाठकों के सम्मुख रखा। उनका 'शास्त्रकथा' में चरित्र चित्रण का स्थाय स, पात्रों व वणन सजीव बन पड़ हैं।

सन् १९२५ ४० के बीच रचित आधुनिक मराठी उप-यास पर अपना विनिष्ट छाप छोड़ देने वाले सवाप्रणा ससक्त हैं पृष्ठक दशपांटे, माडगालकर आदि। पृष्ठक की धारणा है कि आनन्दना ही कला का प्रमुख सत्य है। ये सत्ता कला कला व लिए' मिडान के प्रतिपादक रहे हैं और इस दृष्टि से मराठी उप-यास कला का उच्चतम पर्याप्त परमावृत्त किया है। 'जादूगर' आदि उप-यासों में शैली की गुणमत्ता और चरित्र चित्रण का कुशलता अनुपम है। व सन् १९२० से लगभग ३० उप-यास निराधुत है।

श्री वि० स० खाडकेकर के उपन्यासों में, फडके के उपन्यासों से, अनेक सवथा विपरीत लक्षण पाए जाते हैं। फडके सदा सजग कलाकार हैं और पाठकों के चित्त को रजनमय करने की दृष्टि से ही लिखते हैं ता खाडकेकर ऐसे आदर्शवाद से प्रेरित होकर लिखते हैं कि उनका चरित्र चित्रण बहुधा भारी भरकम हो जाता है। शैली भी कृत्रिमता एवं अलंकरण से बाधित हो जाती है। परन्तु आधुनिक विचारधारा के, मराठी जीवन पर पड़ने वाले प्रभाव का उन्हें सदा ध्यान रहता है। उनके 'उल्का' तथा 'श्रीचवध' नामक उपन्यास, मराठी साहित्य में युग प्रवृत्तक हैं। उनके परवर्ती उपन्यास 'ययाति' का पर्याप्त आदर हुआ है।

माडखोलकर का उपन्यास मुक्तात्मा मराठी का प्रथम आधुनिक राजनीतिक उपन्यास माना जाता है। यद्यपि इस श्रेणी के उपन्यासों का सूत्रपात स्व० हरि नारायण आपटे, आजच या कमयोग' द्वारा पहले भी कर गए थे। माडखोलकर पत्रकार थे अतएव समासामयिक घटनाओं, व्यक्तियों एवं आंदोलनों आदि से वे सम्यक्तर्या परिचित थे। संस्कृत बहुला, अग्राम्य एवं नागरिक वर्णन शैली, उनकी अनुपम विशेषता है। उनके सर्वोत्तम उपन्यास 'चन्दनवाडी' में नागपुर के औद्योगिक क्षेत्र में रहने वाली एक हरिजन लड़की का सहानुभूतिपूर्ण चरित्र चित्रण है। नागपुर के अनेक स्थान वर्णनों से भी यह उपन्यास समृद्ध हुआ है।

विगत दस वर्षों में विविधता और विषय परिवर्तन की दृष्टि से मराठी उपन्यास ने पर्याप्त उन्नति की है। २० वा० दिश के उपन्यासों की एक विशेषता है—ग्राम-जीवन का चित्रण। इनमें आदिमजातीय मीलों के जीवन का चित्र भी खींचा गया है। उनके आसपास की वरसाती हवाओं और हरीमरी खेती, विनाशकारी त्राटा तथा पावत्य जीवन के वर्णना से, उपन्यास में एक नयी दृश्यमान छटा आ गई है।

सन् १९५० ई०, मराठी उपन्यास की युगीन जागरणता की दृष्टि से, एक महत्वपूर्ण वर्ष माना जाना चाहिए। इसी में श्रीमती विभावरी शिरूरकर का 'बली' उपन्यास निकला और विबलकर ने नाआखाली काण्ड को लेकर 'सुनीता' नामक एक नय ढंग का उपन्यास रचा।

श्री ना० पडते ने 'एलगार', 'हृदयार' शारबीचा वापू आदि उपन्यास रचे हैं। उनकी उपन्यास वधाएँ महाराष्ट्र के कोकण प्रदेश की हैं जिनमें वहाँ के परिवेश को शब्द चित्रण शैली में, चित्रित किया गया है। इसमें तख्तक का अपने प्रदेश का अपार पान तथा वहाँ के आदिवादिओं के प्रति अनुराग, उभर कर आया है। एक प्रकार से ये आत्मलिक उपन्यास ही हैं। काकण प्रदेश की प्रकृति की पलपल परिवर्तित होन वाली धामा को, उपन्यासकार ने मानो एक चित्रकार की तुलिका से चित्रित किया है।

श्री बालकृष्ण भगवन्त बोरकर का भावप्रधान शली में लिखा गया सफल वणन बहुल उप-यास 'भावीण, मराठी उप-यास-साहित्य में, गद्य महाकाव्य शली का सूत्रपात करता है। देवदासी प्रथा को लेकर, गोआ के श्री मंगेश देवालय के आसपास के मनोरम प्राकृतिक परिवेश में अवस्थित कथानक बड़ा ही हृदयग्राही बन पड़ा है। कुछ वणन तो गद्यकाव्य जैसे सरस हैं। वास्तव में यह प्रदेश, है ही प्राकृतिक रूप से बहुत घनी। लेखक ने उसका वणन भी बहुत ही कलात्मक ढंग से यथातथ्यता के साथ किया है। इसका हिंदी अनुवाद 'देवदासी' नाम से प्रकाशित हो चुका है।

श्री गोपाल नीलकण्ठ नाण्डेकर इस युग के एक बड़े समर्थ एवं प्रभावशाली उप-यासकार हैं। उनके अनेक आचलिक उप-यास प्रकाशित हुए हैं जिनमें 'पवना-काठाचा घोडी' (सन १९५५ ई०) एक सनात्मक कृति है। श्री दाडेकर का महा उप-यास 'आमी भागीरथा च पुत्र' (सन १९५९ ई०) एक बड़ा समर्थ वणन प्रधान उप-यास है। भाखडा नागल बांध के ऐतिहासिक युगांतरकारी निर्माण की पृष्ठभूमि में, हिमाचल प्रदेशवासियों के आचलिक जीवन का बड़ा ही सफल वणन, इस महा उप-यास में पाया जाता है तथा अनेक स्थलों पर उप-यास, महाकाव्य की ऊँचाई का छू गया है।

श्री रणजीतराय का स्वामी नामक नूतन उप-यास, वणनात्मक कला की दृष्टि से, एक उच्चकाटि का उप-यास है। उप-यासगत वणन, चित्रवत् कलात्मकता से परिपूर्ण, तथा लालित्यमय बन पड़े हैं।

### एकादश प्रकरण गुजराती उप-यास साहित्य की रूपरेखा

आधुनिक भारतीय भाषाओं के उप-यास साहित्य के इस विहंगम सर्वेक्षण में अगली प्रादेशिक कड़ी है गुजराती उप-यास-साहित्य की। गुजराती भाषा का क्षेत्रीय विस्तार जिस भूभाग में प्रसरित है उसे उत्तर में हिमालय की चर्पली चोटियों का सांनिध्य नहीं मिल पाया वरन् उसे थार (सिंध) और मारवाड (राजस्थान) के मरु प्रदेशों की निकटता प्राप्त हुई है। उसके दक्षिण में बंग-सागर की सुनील जलराशि न होकर, कोकण का वन पावत्य प्रदेश पाया जाता है। पूव दिशा में इसे सघन वना, चंचल गति पहाड़ी नदियों एवं पर्वत मालाओं का नीचा ऊँचा प्रदेश मिला है (जो विंध्य मखला के नाम से अभिहित है।) इसके पश्चिम में गंगा-जमुना के हरे भरे मदान न पाये जाकर, अरब सागर की उत्ताल तरंगें लहराती हैं जिनके द्वारा पहले पहल इस देश में पाश्चात्य व्यापारी वग का पदापण हो पाया। उससे भी बहुत वर्षों पूर्व, पश्चिम उत्तर से आक्रमण करने वाले तुर्क एवं अरब आत्रानाओं का भी, पहले पहल इसी प्रदेश को सामना करना पड़ा। सघन आत्म रक्षा, सैनिक अभियान एवं नित्य संकटमय परिस्थितियों के कारण इस प्रदेश का जन जीवन विगत आठ शताब्दियाँ से आलोकित रहा है। इसलिए इतिहास के प्रति उसका अनुराग एवं ममत्व सहज ही है।

महागुजरात क्षेत्र को हम सौराष्ट्र काठियावाड़ एव गुजरात (गुजरात) इन तीन उपक्षेत्रों में विभाजित, किन्तु साथ ही, सुप्रसिद्ध भी पाते हैं। इस प्रदेश में लोकगीताएँ एव लोकवाचार्त्ता साहित्य की प्रेरणा देने, इसके उपन्यासों की सृष्टि में, एक विशिष्ट इतिवृत्त परक प्रादेशिक रस का समावेश किया है। इसीलिए इस प्रदेश के उपन्यास-साहित्य के सम्यक अध्ययन के लिए, इसकी प्रभूत लोकवाचार्त्ता सामग्री की ओर भी ध्यान देना अनिवार्य है।

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व, एक सामयिक पत्रिका में गुजराती साहित्य के आद्य आलोचक एव ममज्ञ श्री कृष्णलाल माहनलाल भवरी ने 'काठियावाड़ का लोक साहित्य' नामक एक महत्वपूर्ण निबंध प्रकाशित कराया था। तदनुसार —

'काठियावाड़ का अपना निजा लोकसाहित्य है। उसकी विशिष्टता, न केवल उसके भाषागत निरालेपन में है, वरन् उसमें, इस प्रदेश के रहने वालों के सामाजिक जीवन की झलकियाँ भी, परिचायित हैं। वे सम्यक्ता-संस्कृति की वृद्धिमत्ता से अछूती, वय उच्छृंखल, रोमानी एव वीरादश प्रधान रही हैं। वे काठियावाड़ के अतीत से चली आती परम्परा की द्योतक हैं—गहरे रंग में छविमयी, सैनिक पौरुष से आजस्वी एव भावातिरेक से रामाचित्त ऐस लोकगीतों एव लोकवाचार्त्ताओं में हारामण जेठवा का 'दूहा', 'उजालीबाई मेहजेठवा, आठोजाम', होडलद पदमणी, लाखो फूलणदे', 'राणवदेवी' का माण्डलिक', 'रा खगार' आदि कुछ ऐसी ही लोकवाचार्त्ताएँ हैं जिनके पात्र-मानाएँ सभी ऐतिहासिक रहे हैं किन्तु समयान्तर में उठोने, रोमानी ख्याति प्राप्त करली है। इन अतीतकालीन रोमानी लोकगाथाओं ने गुजरात के उपन्यासकारों के लिए असंख्य बंधानक सकेत एव बंधा सामग्रियाँ प्रस्तुत की हैं।'

स्वर्गीय श्री भद्ररचंद मेघानी एव श्री गोकुलदाम रायपुरा ने, इस व्यापक लोकसाहित्य-सामग्री का संकलन एव पुनरुद्धार करने में बड़ा कार्य किया था। श्री मेघानी तो स्वयं एक अत्यंत यशस्वी, इतिवृत्त प्रधान एव प्रादेशिक विशिष्टताओं में युक्त उपन्यास शैली के, पुरस्कृता ही हुए हैं।

गुजराती उपन्यास का जाविभाव सन १८६४ ई० से माना जाता है। इस वर्ष में रावसाहब महीपतराम रूपराम ने अपना सामाजिक उपन्यास 'साधु बहूनी लडाई' लिखा था। इसके केवल दो वर्ष पश्चात् ही राववहादुर नदशकर तुलजाशकर ने, अपने सुप्रसिद्ध उपन्यास 'करणधरो की रचना की थी। गुजराती उपन्यास में

१ ईस्ट एण्ड वेस्ट — काठियावाड़ का मौलिक साहित्य (कृष्णलाल माहनलाल भवरी एम० ए० एल० एल० बी०) जुलाई १९१३ का अंक स। तथा—  
'माइलस्टोस इन गुजराती लिटरेचर (श्री कृष्णलाल माहनलाल भवरी) (१९१४ ई० का संस्करण बम्बई।)



ऐतिहासिक उपन्यास, इस भाँति लगभग एक शती से लोकप्रिय रहे हैं । इस प्रश्न में इतिवत्तात्मक लोककथाएँ, बाहुल्य में पाई जाती थी । इधर आग्लभाषा के सुपठित विद्वानों का ध्यान, सर वाल्टर स्कॉट जगें सिद्धहस्त आग्ल उपन्यासकारों की कृतियों को आर गया और वे स्वयं भी, अपने प्रदेश की अस्मिता से ओतप्रोत लोककथाओं एवं इतिवत्त-वृत्तान्तों को, नवीन उपन्यास शैली में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करने लगे । इस सम्बन्ध में प्रथम सफल औपन्यासिक प्रयोग की दृष्टि से वर्णनकला इसीलिये उल्लेख्य है ।

'वर्णनकला के रचनाकार रावबहादुर श्री नदशकर ने अपने उपन्यास की प्रथम आवृत्ति का प्रस्तावना में ही इस उपन्यास की विकास सरणी पर प्रकाश डाला है । 'वर्णनकला में सौराष्ट्र का एक सुप्राचीन राजवंश का पतन की कहानी का अपने उपन्यास का आधार बना कर श्री नदशकर ने, अहिलपुर पाठन में कथित उस ग्यारहवीं शती के गुजराती जन जीवन की रूपान्ता प्रस्तुत की है जो कि कितनी ही स्थानीय कथा वार्त्ताओं एवं तत्कालीन सामाजिक जीवन की, चित्रवत् विशिष्टताओं के कारण आज भी पठनीय एवं माननीय है । उपन्यास में उपयुक्त प्रदेश में फल हुए, विविध दुर्गों, दवालयों एवं ऐतिहासिक स्थानों का स्मरणीय वर्णन के अतिरिक्त उसके प्राकृतिक वातावरण का भी बड़ी प्रभावशाली शैली में वर्णन किया गया है । उदाहरणार्थ पर्वत शिखर पर अवस्थित कालिकादेवी के देनालय एवं उसने आसपास के रहस्यमय वातावरण का चित्रण पढ़ने ही बनता है ।

गुजराती भाषा का सर्वप्रथम उपन्यासकार रावसाहब महीपतराम रूपराम (१८२६-१८६१ ई०) एक उत्तम ऐतिहासिक उपन्यासकार भी थे । वे सौराष्ट्र प्रदेश के लोकजीवन एवं रीतिरिवाजों के भी पारदर्शी पंडित थे जिसका परिचय उन्होंने अपने प्रथम उपन्यास में दिया ही था । सामाजिक उपन्यास की रचना ('सामु बहनी लडाई १८६४ ई०) के पश्चात् उन्होंने अपना ध्यान गुजरात की ऐतिहासिक वीरगाथाओं की ओर किया । ऐसी दो लोकविश्रुत वार्त्ताओं का आधार पर उन्होंने दो प्रादेशिक रूपान्ता के वर्णनों से ओतप्रोत उत्कृष्ट उपन्यास रचे ।

वनराज चावडा (१८८१ ई०) की वीरगाथा गुजरात में चारण एवं भाट अमी तक गा गाकर सुनात है । जब सौराष्ट्र पर सिंध की ओर से मुसलमानी आक्रमण हुआ तो उस समय वहाँ महाराजा जयसेखर राज्य करते थे । विधवा महारानी ने वनो एवं पवती की शरण ली । वहाँ उसे अपने गादी के पुत्र का रक्षा करने में एवं उसे पालने पोसने में एक जन साधु की सहायता प्राप्त हो गयी । वन में पालने के कारण वहाँ बालक 'वनराज नाम से प्रसिद्ध हुआ । 'चावडा वंश का चोत्रक है ।

१. वर्णनकला (मूल गुजराती उपन्यास) प्रथम आवृत्ति १८६४ ई० (रावबहादुर श्री नदशकर तुलजाशकर) ।

सधरा जेसिंग' (१८८१ ई०) रावसाहब महीपतराम की दूसरी इतिवृत्तात्मक प्रादेशिक शोष यासिक कृति है। इससे सम्बन्धित 'राणकदवी' के लोकगीतो एवं लोक-वार्त्ताओ का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है। सिद्धराज जयसिंह, १०६३ ई०-११४३ ई० गुजरात के गर्वाल्ले अतीत क एक तजस्वी नक्षत्र हुए हैं। इस कथानक को लेकर, अनक सिद्धहस्त गुजराती उपन्यासकारो न अपने उपन्यासो की सृष्टि की है एवं विभिन्न नामरूपो द्वारा, इसी कथानक का उपयोग किया है। अतएव 'सधरा जेसिंह' का, गुजराती के वणनकलात्मक उपन्यासो में पर्याप्त महत्त्व है।

सरस्वती चन्द्र' उपन्यास की रचना गुजराती साहित्य में एक बहुत महत्त्व की घटना मानी जाती है। इस महा उपन्यास की रचना श्री गोवधनराम माधवराम त्रिपाठी ने सन १८८७ ई० में की था। अनक जिल्दो में समाप्त होने वाला यह बहुत उपन्यास, गुजराती उपन्यास-साहित्य में, साहित्यिक गरिमा की दृष्टि से, आली चको द्वारा अत्यन्त सराहा गया था। उपन्यास का कथानक मानवधर्म एवं सत्ताचार के सम्बन्धमें एवं रूपकात्मक गाथा के रूप में आयोजित किया गया है। यहाँ 'सरस्वती चन्द्र' के प्रथम प्राचीन संस्करण (सन १८८७ ई०) से, प्रारम्भिक अंश, उपन्यासकार की समृद्ध वणनशली का परिचय देने के लिए दिया जा रहा है —

'सुवणपुर पश्चिम सागर में, जहाँ मद्रा नदी गिरती है, वहीं सगम से थोड़ी दूर आने की ओर बसा है। एक टेकरी के ढलाव पर बसा यह नगर ऐसा जान पड़ता है मानो सागर न नदी की भुजाओं में एक बालक को थमा रखा है। इस नगर के बदरगाह पर, माघ मास के एक दिवस की बात है, कि एक छोटा सा जहाज किनारे आकर लगा और छोटी मोटी नौकाएँ, उस पर से माल उतारने के लिए गयी। विभिन्न प्रकार का माल उतारा जा रहा था और बीच बीच में कोई कोई यात्री भी उतरता नजर आता था। एक छोटी सी नाव पर कुछ व्यापारी उतरे। उनमें साथ एक तरुण पुरुष भी उतरा और मल्लाह की बगल में जाकर बैठ गया। उसकी दृष्टि समुद्र तथा सुवणपुर के बीच ही, किसी स्थान पर टिकी हुई थी उस पुरुष की आयु २३ २४ वर्ष की रही होगी। उसके वस्त्र उजले न थे। वह गम्भीर मुखमुद्रा में बठा था और कभी कभी गहरी सांस लेकर रह जाता था। फिर भी उसके मुखमण्डल की कान्ति में एक प्रकार का लावण्य था और उसके चेहर पर एक प्रकार की कोमलता भवती थी।'

१ सरस्वतीचन्द्र (नवकथा) (रचनाकाल १८८७ ई०) कता गोवधनराम माधवराम त्रिपाठी, बी० ए०, एल एल० बी० वकील, मुंबई हाइकोर्ट। भाग १, 'बुद्धि-धानी अवतार, प्रकरण १, 'सुवणपुर ना अतिथि' पृष्ठ ३४ (मुख्य वितरक— एन० एम० त्रिपाठी एण्ड क०, कालवादेवी, बम्बई)

प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के पश्चात् एव द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ के आसपास के काल (१९२०-१९४० ई०) में गुजराती भाषा में, अनेक श्रेष्ठ ऐतिहासिक उप-यासों की रचना हुई, जिनमें कथारस की प्रवाहशीलता के साथ ही साथ, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का निर्वाह प्रादेशिक तथा स्थानीय विशिष्टताओं का समावेश आदि गुण भी पाये जाते हैं। यह काल एक प्रकार से, गुजराती उप-यास में इतिवृत्तात्मक एव प्रादेशिक विशिष्टताओं से समन्वित उप-यास रचना के चरम विकास का युग माना जा सकता है। रचनात्मक दृष्टि से उनमें श्री धनशकर वृत्त 'सोरठ-ना सितारा' श्री जेठालाल त्रिवेदी वृत्त 'पाटणनो उद्धार', श्री गुणवन्तराय आचार्य वृत्त 'पीरमनो बादशाह', देश दिवान एव दरियालाल श्री चन्दुलाल जे० व्यास वृत्त 'सोरठना मुत्सद्दी वीर' तथा श्री चू नालाल बधमान शाह वृत्त 'कमयोगी राजेश्वर', 'अब तीनाय' एव रूपमती आदि अधिक उल्लेखनीय हैं।

श्री गुणवन्तराय आचार्य का उल्लिखित उप-यास दरियालाल गुजराती उप-यास में, देश विदेश एव सागर जीवन के वणन से पूर्ण, इतिवृत्तात्मक उप-यास रचना का प्रथम समय प्रयोग कहा जायगा। इस उप-यास का प्रधान नायक, मूरत निवासी अना विल साहसवीर अमूल्य देसाई है जिस अपनी साहसी सागर यात्राओं के उपलक्ष्य में, 'शक्र अल बहर' की उपाधि प्रदान की गयी थी। कथानक ईस्ट इण्डिया कम्पनी के काल में गुजरात की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है जब कि सोरठी व्यापारियों के हाथ से अंग्रेजों ने सागर पार का व्यापार हथियाना प्रारम्भ किया था। उप-यास की कथाभूमि, केवल गुजरात एव भारत की सीमाओं तक ही सीमित न रह कर, अफ्रीकी महाद्वीप स्थित अवीसीनिया प्रदेश तक फैली हुई है। उप-यास के नायक ने गुलामी प्रथा के विरुद्ध भा अपनी प्रतिरोध प्रदर्शित किया था। उप-यास की अपनी एक विशेषता यह भी है कि उसमें सागर युद्धों के विशेष परिवेश का एव सागर जीवन के वास्तविक वातावरण का, वणनों के द्वारा चित्रोपम आलेखन किया गया है।

वस्तुतः इस काल के सर्वश्रेष्ठ उप-यासकार तो श्री हबेरचन्द मेघानी ही हुए जिनके इतिवृत्तात्मक एव प्रादेशिक उप-यास साहित्य ने श्री क० मा० मुशी के पश्चात् आने वाले अनकानेक गुजराती उप-यासकारों को सर्वाधिक प्रभावित किया। आधुनिक प्रादेशिक गुजराती उप-यास के ता के जादि प्रेरक ही माने जायेंगे। उनके इतिवृत्तात्मक उप-यासों में 'समरागणा', 'रागजात तलिया' तथा 'सोरठ सारा बहता पाणी' विशेष प्रख्यात हुए। उनमें भी अंतिम उप-यास विशिष्टतया उल्लेख्य है। इस काल के एक अन्य प्रख्यात उप-यासकार (तथा श्री मेघानी के लोकसाहित्य संग्रह में सहयोगी) श्री गोकुलदास रायचुरा भी हुए। उन्होंने महीपालदेव सारठाणी, ग्रह राज एव तगाधिराज आदि अनेक समर्थ इतिवृत्त प्रधान उप-यास रचे। श्री मेघानी के समान ही, श्री रायचुरा के उप-यासों में भी, सौराष्ट्र की प्रादेशिक एव आचलिक

आमा तथा स्थानीय विशेषताएँ सब्र ही पाई जाती हैं। लोकवात्ताओं एवं लोक-गीता की कड़ियाँ पर, इनके कथानक अग्रसर हुए हैं अतएव उनमें, कथारस बहुत पाया जाता है।

श्री शंवेरचन्द मेघाणी का जन्म, आज से लगभग ७५ वर्ष पूर्व सन् १८६७ ई० में सौराष्ट्र स्थित, गिर नामक वन प्रदेश में चाटीला पहाड़ की तराई में, दाता के पुलिस थाने में हुआ था। वहाँ श्री मेघाणी के नानाजी श्री महीपतराम, थानेदार थे। उन्होंने अपने नाना के चरित्र, एवं अपने जन्मस्थान, दोनों को ही अपने अमर उपन्यास 'सोरठ तारा बहेता पाणी' में चिरस्मरणीय कर दिया है। केवल पाँच दशकों के अपने अल्प जीवनकाल (निधनकाल सन् १९४७ ई०) में ही वे गुजराती लोकसाहित्य एवं आधुनिक प्रादेशिक उपन्यास साहित्य, दोनों में ही पुरस्कर्ता के रूप में चिरख्यात हो गये। उनकी शिक्षा दीक्षा जूनागढ़ एवं भावनगर में हुई थी। सौराष्ट्र पत्र के सस्थापक (बाद में 'जन्मभूमि' के प्रवर्तक) स्व० श्री अमृतलाल सेठ की पेरणा से, वे उपयुक्त पत्र के सम्पादक के रूप में साहित्य क्षेत्र में अवतरित हुए। इससे पूर्व वे, वर्मा के एक एल्युमोनियम कारखाने में पदाधिकारी थे एवं तभी वे यूरोप यात्रा भी कर आए थे। वे उपन्यासकार के अतिरिक्त, गुजराती साहित्य में अपनी आजपूण कविताओं के कारण भी अत्यन्त प्रसिद्ध हुए। उनकी 'शिवाजी की लोरी' गुजरात भर में लोकगीत की भाँति गाई जाती है।

'सोरठ तारा बहेता पाणी' की प्रस्तावना में श्री मेघाणी ने अपने इस बहुध्रुव उपन्यास के बारे में स्वयं परिचय दिया है —

यह सौराष्ट्र के जनजीवन की कथा है। इस कथा का नायक है समग्र जन समाज। सौराष्ट्र की सीमा पर खड़े होकर देखेंगे तो बीस साल पहले के जीवन प्रवाह को, आप इस कथा में, स्पष्ट बहता हुआ पाएँगे। यह व्यक्तियों का इतिहास है, और नहीं भी है—किंतु समष्टि का इतिहास अवश्य है, क्योंकि जैसे घटनाओं का इतिहास है वैसे ही वातावरण का भी हो सकता है। अथवा यों भी कह सकते हैं कि इतिहास में, घटनाओं के उल्लेख से अधिक, उसका वातावरण खड़ा करने की आवश्यकता होती है—और यदि वह एक जनसमूह का इतिहास है तो उसमें निःसंदेह, उसकी आवश्यकता होगी।<sup>१</sup>

उपन्यास का कथाकाल प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व एवं उत्तीसवीं सदी के उत्तरार्ध के बीच का है। इसमें अंग्रेजी शासन में बदलते हुए सौराष्ट्र की, एक मनारम एवं चिरस्मरणीय भाँकी दी गई है—उस काल में, जनसाधारण में, भारत की विश्रुत

१: 'सोरठ' तारा बहेता पाणी । — श्री शंवेरचन्द मेघाणी, (हिन्दी रूपांतर कर श्री मोहनलाल मट्ट, वर्धा) पृष्ठ १२, लेखक का निवेदन'।

आदर्श वीरता घमपरायणता निर्माकता एव वीरपूजा आदि जातीय विशिष्टताएँ पर्याप्त अंशों में अवशिष्ट थी—यद्यपि उनके ह्यम एव परामव के चिह्न भी दिव्वाई देने लगे थे । भारतीय नारियो की गति परायणता एव घम परायणता को, उप-यास का मुकुटमणि बनाया गया है । उप-यास के समी पात्र, सौराष्ट्र की धरती की निजी उपज जान पडते हैं—रुग्ड सेठ, सिपारण लघमन, गेरुआ बाबा और उनके साथ असह्य सोरठी कृपक एव अय नर-नारियाँ । इन सबको एक महाकार पदों पर, सिद्धहस्त उप-यासकार, उप-यास रचना की उत्कृष्ट कला द्वारा, प्रस्तुत करता है ।

विगत दो दशकों मे गुजराती उप-यास साहित्य मे इतिवृत्तात्मक उप-यास, पर्याप्त सख्या मे रचे गए हैं । उनमे श्री गौरीशकर गोवधन जोशी 'धूमकेतु' की उप-यास गृष्टि, यद्यपि सत्रसे अधिक [उल्लेखनीय है फिर भी उनके अतिरिक्त श्री चुम्रीलाल वधमान शाह वृत्त 'एकल वीर तथा गुजरेश्वर', श्री गुणवन्तराय आचाय वृत्त 'गिरनारने खोल, तथा सेनापति, श्री धीरुलाल शाह वृत्त—साटनो दण्डनायक', तथा श्री जयमिक्खु वृत्त—नरकेसरी' विभ्रमादित्य', हेमु, आदि, अधिक महत्व पूण वृत्तिए गिनी जायेंगी । उन समी मे इतिवृत्त-परक एव प्रदेशगत विशिष्टताओं का, पर्याप्त निर्वाह किया गया है ।

स्व० श्री क० हैयालाल माणिकलाल मुशी गुजराती भाषा के शीघ्र उप-यास कार माने जाते हैं । आज श्री मुशी का व्यक्तित्व, समी गुजराती साहित्यकारों की अपेक्षा, कहीं अधिक अखिलभारतीय वन चुका है और उनके उप-यासों के अावाद भी लगभग समी भारतीय भाषाओं के पाठकों मे, उसी भाति सवप्रिय हुए हैं जैसे श्री धरत चटर्जी की वृत्तियाँ । श्री मुशी का अपने समय के भारतीय सांस्कृतिक जागरण मे भी बहुत महत्वपूण योग रहा है । बम्बई का भारतीय विद्याभवन तथा आगरा विश्वविद्यालय का हिन्दी शोध संस्थान (क० हैयालाल माणिकलाल मुशी हिन्दी एव भाषाविज्ञान विद्यापीठ) उनके सांस्कृतिक काय के चिरस्थायी स्मारक रहेंगे । हिन्दी भाषा को वे अखिल भारतीय भावात्मक एकता का प्रतीक मानते रहे हैं और उहोने इसी नाते गुजराती के अतिरिक्त हिन्दी भाषा के अम्युन्य के लिए भी, बड़ा महत्वपूण काय किया है । ऐतिहासिक उप-यास रचना मे वे एक अखिल भारतीय उप-यास शली के प्रवर्तनकार हुए हैं । उनकी औप-यासिक कृतिया इतनी बहुसंख्यक हैं कि उन पर विशद् विवेचना सम्भव ही नहीं है । केवल प्रमुख उप-यासों का संक्षिप्त व्यौरा ही दिया जाना समा य है ।

श्री मुशी का प्रथम ऐतिहासिक उप-यास 'पाटणनी प्रभुता' का प्रकाशन सन १९१६ ई० मे हुआ था । गुजरात नो नाथ (सन १९१८-१९ ई०) इसके पश्चात् लिखा गया । ये दोनों उप-यास दसवीं ग्यारहवीं सदी के गुजरात के औप-यासिक चित्रण हैं । श्री मुशी की वणन शली कलाभिराम और संस्कारयुता है ।

सोलकी राजवंश के गौरव युग की ये गाथाएँ, मोमनाथ के देवालय पर आक्रमण के पश्चात् सौराष्ट्र के पुनः जागरण युग से सम्बन्धित हैं।

‘पृथ्वीवल्लभ’ उनका तीसरा ऐतिहासिक उपन्यास है। इसमें मालवा-नरेश मुजदेवकी गौरव गाथा है। मुजु द्वारा तेलगागा पर आक्रमण, पराजय, एवं बन्दीग्रह में तल्प की भगिनी मणातवती से प्रणय की रोमानी लोकवात्ता को बड़ा ही विलक्षण उपन्यास रूप दिया गया है। जय सोमनाथ’ उपन्यास अपनी विरस्मरणीय दृश्यपट्टियाँ के कारण, स्मरणीय है। उनके आद्य ऐतिहासिक उपन्यासों में ‘वरनी बसूलात’ (सन १९१६ ई०) ‘भगवान परशुराम’ आदि भी प्रसिद्ध हैं। ऐतिहासिक उपन्यासों के अतिरिक्त, इनके सामाजिक उपन्यास ‘म्वज्जहटा’, ‘तपरिवनी’ आदि भी बड़ी सफल कृतियाँ हैं जो सम्मरणात्मक शली में रचित हैं। श्री मुशी का एक और परवर्ती उपन्यास ‘वशी की धुन’ भी उनकी प्रसिद्ध कृतियों में से एक माना जाता है। इसमें श्रीकृष्ण की कथा को उपन्यास की कथाभूमि बनाया गया है। वणनात्मक दृष्टि से यह भी उल्लेखनीय है।

आधुनिक आचलिक गुजराती उपन्यास रचना के क्षेत्र में श्री ईश्वर पेटलाकर कृत ‘धरती नु अवतार’, श्री शिवशंकर शुक्ल-कृत ‘सरिता अने सागर’ तथा श्री ‘सोपान’ (मोहनलाल मेहता) कृत ‘जागता रहेजो’ (जिसके जाघार पर ‘जागत रटो’ फिल्म भी बना है) पर्याप्त नई शली में रचे गए, उपन्यास हैं। इन सभी में वणन कला का ही वैभव पाया जाता है। इसके अतिरिक्त श्री इन्द्र बसावडा कृत ‘शोभा’ में, गुजराती ग्राम शोभा का मनोरम चित्रण है। श्री पीताम्बर पटेल कृत ‘धरती नो खोले’ भी एक उत्तम आचलिक कथा है।

आधुनिक गुजराती उपन्यासकारों में श्री पन्नालाल पटेल शीघ्र आचलिक उपन्यासकार हैं। उनकी कृति ‘मलेलाजीव’, साहित्य अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी हो चुकी है। उनके अन्य स्मरणीय उपन्यास हैं—‘सुय दुखना साथो’, ‘वलमणा मानवीनी भवाई’ आदि। इन सभी में एक से एक मनोरम वणनशली में गुजराती राजस्थानी सीमा प्रदेश के ग्रामीण जीवन की भाँकिया चित्रित हैं। आधुनिक गुजराती उपन्यास में आचलिक शली, अधिकाधिक लोकप्रिय होती जा रही है।

### द्वादश प्रकरण कन्नड उपन्यास साहित्य की रूपरेखा

दक्षिणात्य भाषाओं में रचित बाङ्गमय में कन्नड साहित्य की परम्परा पर्याप्त प्राचीन रही है तथा नवीं शती ईशवी से कन्नड भाषा में उत्तमोत्तम ग्रन्थ रचे जाने लगे थे, इसका विषय एक प्रामाणिक रत्नात्त स्वर्गीय रा० नरसिंहाचार्य-कृत ‘कन्नड कवि चरित (तीन भागों में) द्वारा सुलभ हो गया है। इसके अनुशीलन से ज्ञात होता है कि आधुनिक कन्नड उपन्यास साहित्य के सूत्र, हमें बारहवीं शती में रचित कादम्बरी

प्रयोगों में मिल सकते हैं। नागवदन प्रथमकृत 'कादम्बरी', चम्पू में रचित एक रोमान्सात्मक काव्य है। नेमिचन्द्र ने अपने महाकाव्य 'लीलावती' में भी 'कादम्बरी' का ही शैली अपनाई है। कथानायक 'कादम्बरी', स्वप्न में 'लीलावती' नामक एक लावण्यमयी कथा को देखता है एवं उसकी राजमंच पर चल पड़ता है। लीलावती लता बन जाती है किन्तु अपने प्रेमी का स्पर्श द्वारा वह फिर अपना वास्तविक रूप धारण कर लेती है। कथा स्पष्टतया सुबोध कृत वासवदत्ता को समक्ष रख कर रची गई है। देवकवि-कृत 'कुसुमावली' (१२०० ई०) में कथाकार कवि द्वारा सङ्कृत भाषा के रोमान्सात्मक सुबोध रचित वासवदत्ता का ही आदर्श अपनाया गया है। इसमें स्वप्नदर्शी राजकुमार का नाम, मणिकुण्डल है जिसने कुसुमावली की प्रस्तर प्रतिमा को देख कर, महर्षि कपिल से उसकी पूजकथा जानी थी।

ईसवी सन् १३०० में चौण्डरसने 'अमिनवदश-कुमार चरित' तथा नल चम्पू नामक रोमान्सात्मक काव्य रचे। उक्त रोमान्सात्मक साहित्य ही कन्नड गद्य-लेखकों के लिए उपन्यास रचना की प्रमुख प्रेरणा सिद्ध हुआ। इस काल की प्रायोगिक उपन्यास सम्बन्ध कथाकृतियों में श्री केम्पुनारायण रचित 'मुद्रा मञ्जूषा' (सन १८२३ ई०) एक अमिनव कृति मानी जाती है। इसमें (मस्कृत नाटक) मुद्राराक्षस की कथावस्तु को कन्नड गद्य में, कथा रूप दिया गया है। कुछ लोगों ने इस, भ्रमवश, कन्नड का प्रथम उपन्यास बता दिया है। उसी के आसपास तुमारि ने, बाणभट्ट की 'कादम्बरी' का कन्नड रूप प्रस्तुत किया। सुबोध कृत 'वासवदत्ता' तथा दण्डी कृत 'दशकुमार चरित' की लोकप्रियता से भी बह कर बाण कृत 'कादम्बरी कनाटक' में इनकी लोकप्रिय हुई किम्वदन्ती भाषा के समान कन्नड साहित्य में भी, उपन्यास का सूचक शब्द 'कादम्बरी' ही बन गया।

कन्नड भाषा में प्रथम उपन्यास कौन सा था एवं वह कब रचा गया? इसके बारे में, कन्नड साहित्य क्षेत्र में भी सौ सयाने, सौ मत पाये जाते हैं। यहाँ तक कि मैसूर विश्वविद्यालय के विद्वान प्राध्यापक डा० हिरण्मय एम० ए०, पी०एच० डी० ने भी, अपने आधुनिक कन्नड साहित्य का 'मिहावलोकन' नामक लेख में यह बताया है कि श्री गलगनाथ रचित उपन्यास 'माधवी करुण विलास' कन्नड भाषा का, सर्वप्रथम उपन्यास है। इसी भाँति श्री गुरुनाथ जोशी ने अपने लेख 'कन्नड ऐतिहासिक उपन्यास' में लिखा कि —

फिर भी कन्नड में मौलिक ऐतिहासिक प्रथम उपन्यास 'मुद्रामञ्जूषा (केम्पु नारायण) ही है जिसकी रचना सन् १८२३ ई० में हुई। हमारे काल में ही मौलिक

१ 'आधुनिक कन्नड साहित्य का मिहावलोकन' 'नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका काशी, हीरक जयती विशेषांक (२०११ वि०), पृ० ३५५-५७।

ऐतिहासिक उपन्यास देने वाले श्री गळगनाथ' जी हैं। इही क लिखे हुए 'कुमुदिनी' नामक उपन्यास की आधुनिक कन्नड का, प्रथम ऐतिहासिक उपन्यास मानने में कोई आपत्ति नहीं प्रतीत होती है।<sup>१</sup>

अनेकानेक कन्नड विद्वानों से प्रश्न करने पर एक उनसे पत्र व्यवहार करने के पश्चात् भी यह निश्चय न किया जा सका कि कन्नड भाषा में, प्रथम उपन्यास की रचना कब की गई? प्रथम उपन्यास का नाम क्या था? तथा उसके रचयिता कौन महानुभाव हैं? अतः मे दक्षिणी कर्नाडा जिले के एक हिंदी प्रेमी महानुभाव<sup>२</sup> के उद्योग से सुप्रसिद्ध कन्नड उपन्यासकार श्री एस० के० कारन्त से उक्त जिनासा का समाधान हो पाया। श्री कारन्त के पत्र का हिंदी अनुवाद यहाँ दिया जा रहा है —

'कन्नड साहित्य का प्रथम उपन्यास है, 'इंदिरा'। सन् १८८२ ई० में इसकी रचना हुई। लेखक श्रीमान गुलाडी बेंकटरावजी थे। उपन्यास में श्री बेंकटरावजी ने, तत्कालीन सारम्भिक समाज का जीता जागता चित्र अंकित किया है। तत्कालीन जिलाधीश, श्री काउचमैन ने, 'इंदिरा का अंग्रेजी भाषा में रूपांतर भी किया। 'इंदिरा' कन्नड साहित्य का प्रथम मौलिक उपन्यास है।'<sup>३</sup>

संक्षेप में, कन्नड उपन्यास का प्रारम्भ भी, इसी उन्नीसवीं शती के अन्तिम दशकों में ही हुआ था। वर्णनात्मक कला की दृष्टि से 'इंदिरा' का पर्याप्त मूल्य है। भारत-दुःख युग में रचित हिंदी उपन्यासों की भाँति, कन्नड के प्रारम्भिक उपन्यासों की पृष्ठभूमि भी बहुधा तत्कालीन समाज की ही रहा करती थी। अतीतकालीन एवं इतिवृत्तात्मक उपन्यास साहित्य का उदय, कन्नड साहित्य में, इसी बीसवीं शती के द्वितीय दशक में प्रथम विश्व महायुद्ध के छिन्ने से ठीक पूर्व ही, माना जाएगा।

श्री बेंकटेश तिरको कुलकर्णी, कन्नड के प्रथम ऐतिहासिक उपन्यासकार हुए। वे अपने पाठकों में अपने उपनाम 'गळगनाथ' द्वारा ही अधिक प्रख्यात हुए। सन् १९१३ ई० में उनके 'कुमुदिनी' नामक मौलिक ऐतिहासिक उपन्यास का प्रकाशन, कन्नड साहित्य की एक चिरस्मरणीय घटना मानी जाएगी। कथावस्तु इतिवृत्त पर

१ 'कन्नड के ऐतिहासिक उपन्यास' (श्री गुरुनाथ जाशी) 'भारतीय साहित्य' [आगरा विश्वविद्यालय हिंदी विद्यापीठ का मूद्रण] ऐतिहासिक उपन्यास विवेक, दिसम्बर १९५६ ई०।

२ श्री पी० बी० मट्ट हिन्दी पारंगत, 'मिश्रण कला प्रवीण, हिन्दी पंडित, बोड हाईस्कूल, बंगाल, बेट्टिवाला तालुक (माउप कर्नाडा जिला) मैसूर राज्य। श्री मट्ट का ग्राम भी श्री कारन्त के ग्राम का सन्निकट है।

३ श्री एस० के कारन्त द्वारा, श्री पी० बी० मट्ट का लिखित बन्ट भाषा में लिखे गये, दिनांक १८ मार्च, १९६१ ई० के पत्र का अर्थ।



आधारित है। विजयनगर-साम्राज्य के पतन के पश्चात्, उसी के राजवंश के दो प्रमुख सरदार, कर्नाटक स्थित छोटी सी रियासत, चन्द्रगिरि के राज्य सिंहासन के लिए, आपस में ही लड़ने लगे। उप-यास की प्रधान पात्रा है 'कुमुदिनी'। प्रधान नायक का नाम है 'एचम नायक'।

श्री 'गळगनाथ', एक अथक साहित्यसेवी थे। वे एक सामान्य प्राथमिक पाठशाला के विनम्र अध्यापक थे। फिर भी उ होने, विपन्न आर्थिक परिस्थितियों में भी, अपनी निरन्तर साहित्य सेवा का व्रत नहीं छोड़ा। उनका जन्म सन् १८६८ ई० में हुआ था। उनका निधन २२ अप्रैल १९४३ ई० को, ७५ वर्ष की दीर्घायु प्राप्त करने के पश्चात् हुआ था। उन्होंने कठिन परिस्थितियों में भी 'सद्बोध चन्द्रिका' नामक पत्रिका का सम्पादन किया एवं उसके द्वारा उन्होंने, बीसवीं सदी के आधुनिक कन्नड साहित्य की चिरस्मरणीय सेवा की। उनके अनेकानेक मौलिक एवं अनूदित उप-यास भी, धारावाहिक रूप में, उक्त पत्रिका में ही प्रकाशित हुए थे।

श्री 'गळगनाथ' का एक अन्य मौलिक एवं बहद उप-यास सन् १९२३ ई० में प्रकाशित हुआ था। यह समस्त कन्नड इतिवत्तात्मक उप-यास साहित्य में अनुपम माना जाता है। शली बही ही ओजस्वी एवं प्रभावशाली है। उप-यास का नाम है 'माधवी करुण विलास'। इस उप-यास की मुख्य प्रेरणा है, गुरु विद्यारण्य का, तपोपूत एवं युगांतरकारी 'यक्तिव'। गुरु विद्यारण्य का कर्नाटक प्रदेश में वही ऐतिहासिक गौरव है जो कि महाराष्ट्र में, छत्रपति शिवाजी महाराज के गुरुवर समर्थ रामदास का। ऐसे रणव्रती एवं स्वदेशाभ्युदय सायासी श्रेष्ठ महान राजनीतिविद् गुरु माधवाचार्य विद्यारण्य ने दक्षिण भारत की, (विदेशियों के आक्रमण से) सुरक्षा के लिए अपना महान इतिहास प्रसिद्ध अनुष्ठान किया था। उत्तर की ओर से मुस्लिम साम्राज्य वादियों के आगोजनों एवं पश्चिमी समुद्रतट की राह पुतगालियों के नयस एवं बबर आक्रमणों से, (दोनों ही कट्टर धार्मिक पक्षपात एवं हिंसा से भी प्रेरित हुए थे) दक्षिण भारत की रक्षा करने के लिये गुरु विद्यारण्यने ही एक सकल राष्ट्रीय महोद्योग किया था। उन्होंने महान विजयनगर साम्राज्य की स्थापना, अपने सुयोग्य शिष्यों, हरिहर एवं बुक्क के हाथों कराई थी।

श्री गळगनाथजी के ही एक समकालीन साहित्यसेवी एवं विद्वान्, श्री एम० एस० पुट्टण्ण कन्नड साहित्य को अपनी विविधमुखी प्रतिभा द्वारा, एक से एक अनूठे ग्रन्थ प्रदान करने वाले, मनीषी के रूप में ख्यातनामा हैं। उन्होंने अनेक उपन्यास भी रचे हैं। इनमें अधिकांश प्रसिद्ध हैं, उनका इतिवत्तात्मक महा उप-यास 'माडिड अण्णो महाराया (१९११ ई०)। यह एक प्रकार से, कन्नड भाषा में आधुनिक शली का, प्रथम महान उप-यास भी समझा जा सकता है। कथावस्तु मैसूर के महाराज कृष्णराय ओडयार तृतीय के शासन-काल की है। उप-यास में, मैसूर प्रदेश के जन

जीवन का, विचित्रवत् चित्रण पाया जाता है। अतीतकाल के चित्रण करने वाले कन्नड उपन्यासों में वह, अति उल्लेखनीय है।

इसी काल के एक अन्य ऐतिहासिक उपन्यास प्रणेता हुए, श्री केरूर वासुदेवाचार्य। उनका प्रसिद्ध उपन्यास 'यदु महाराज (१९११ ई० में) पहले, 'भारत' नामक मासिक कन्नड पत्रिका में, धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ था। उसका पुस्तकाकार प्रकाशन १९१६ ई० में हुआ। उपन्यास की कथावस्तु, मसूर के १८वीं १९वीं शती के इतिवत्त से, ली गई है। श्री वासुदेवाचार्य का अनिम ऐतिहासिक उपन्यास 'वीरगजेव' या जो सन १९४६ ई० में प्रकाशित हुआ था।

कन्नड भाषा में सन १८५७ के प्रथम भारतीय स्वातंत्र्य युद्ध की पृष्ठभूमि पर उपन्यास रचने वाले सर्वप्रथम उपन्यासकार हुए, श्री वी० जी० 'द्वलिकवि'। उनका उपन्यास 'नरगुद बडाय' (१९२३ ई०), कर्नाटक प्रदेश के, नर-गुन्द नामक छोटे से राज्य के देशमक्त एव वीर अधिपति अण्णा साहेब के द्वारा अंग्रेजों सेनाओं से लोहा लेने की वीररस पूण गाथा है। घटना इतिवत्त सिद्ध भी है।

कन्नड भाषा के ऐतिहासिक उपन्यासकारों में श्री बेटगेरी कृष्ण शर्मा ने भी पर्याप्त ख्याति पाई। उन्हें पाठक बहुधा उनके साहित्यिक उपनाम 'आनन्दकन्द' से ही जानते हैं। श्री 'आनन्दकन्द' ने अपने इतिवत्त प्रधान उपन्यासों की पृष्ठभूमि बहुधा विजयनगर साम्राज्य की गौरव गाथाओं को ही बनाया है। 'राजयोगी' (१९३४ ई०) एव 'अशानिपव' (जो कि एक प्रकार से पहले उपन्यास का ही परिशिष्ट है) विजयनगर साम्राज्य के अभ्युदय एव ह्रास की घटनावली का ही आधार लेकर रचे गये हैं।

श्री भास्ति वेंकटेश अय्यंगार उपनाम 'श्रीनिवास' कन्नड साहित्य के एक सर्वतोमुखी साहित्यकार हैं। उन्होंने विविध विषयों पर सफलतापूर्वक लेखनी-संचालन किया है। 'चेन्नबसव नायक' (१९४९ ई०) उनका सर्वोत्तम ऐतिहासिक उपन्यास माना जाता है। विद्वान् नामक छोटे से स्वाधीन राज्य पर, मसूर के शक्तिशाली राजा हैदरअली की कुदृष्टि पड़ी। किन्तु वहाँ के वीर अधिपति ने, सफलतापूर्वक हैदरअली के आक्रमण का प्रतिरोध किया। उपन्यास के प्रायः सभी स्थल एव पात्र ऐतिहासिक हैं। श्री 'श्रीनिवास' के उपन्यास कन्नड उपन्यास साहित्य की प्रौढता एव चरम विकास के परिचायक माने जाते हैं। लेखक की वणन प्रतिभा के कारण इनमें अतीतकाल भी हमारी आँखों के सामने भागों साक्ष्य हो उठता है।

चित्रदुग अथवा चीतलदुग की प्रादेशिक पृष्ठभूमि पर ऐतिहासिक उपन्यास रचने वाले श्री न० रा० मुन्बाराव पर्याप्त लोकप्रिय उपन्यासकार हुए। उनका 'नृपतुग' (१९५२ ई०) राष्ट्रदूत के प्रसिद्ध राजा, नृपतुग के चरित्र को लेकर, रचा गया है। 'रक्त-रात्रि' (१९५३ ई०) तथा 'कम्बनीय कुदलु' (१९५३ ई०) उपन्यासों

मे, आज से लगभग तीन सौ बष पूव की इतिवृत्तात्मक कथा वर्णित है। अपने खोये हुए राज्य विहामन पर पुन अधिार करने के लिए, किस भांति चित्रदुग के राज कुमार मदकरिनायक ने सघष किया, इसी की लोमहृषक वीरगाथा इनमे वर्णित है। उनका एक अय उपयास 'हृनगीत' भी इतिवृत्त आधारित ही है। चीतलदुग प्रदेश को वय प्रकृति एवं तत्कालीन रहन-सहन के जीवत एव चित्रवत वणनो की दृष्टि से, ये उपयास अनुपम वन पडे हैं।

श्री ए० एम० सुपाराव, कानड भाषा म उपयास रचना करने वाले एक अय समय एव सिद्धहस्त कलाकार हैं। उनके उपयास, महाकाव्यो की शैली मे रचे गए हैं और उनमे वर्णित देशकाल माना साक्षात हो उठा है। उनके उपयासो मे 'नट सावभौम', 'भगलसुन', 'उदय रात्रि' तथा 'शनि सतान' आदि वृत्तियो ने अधिक प्रसिद्धि पाई है।

'सध्याराग' श्री अ० न० वृष्णराव की एक अत्यन्त कलापूण एव ममस्पर्शी लोपयासिक वृत्ति है। कसा विवेचन एव सगीतशास्त्र की दृष्टि से यह उपयास, अत्यन्त महत्वपूण है। उपयास म, कानड प्रदेश के जनजीवन के बडे ही मार्मिक विन्न उपस्थित किये गए हैं।

कानड भाषा के इतिवृत्त आधारित जतीतकालीन रूपामा मय उपयास माहित्य के इम सक्षिप्य विहगावलोकन के अन्त मे श्री के० वी० अय्यर के दो चिस्मरणीय उपयासो का उल्लेख करना अनिवाय है। वे हे 'रूपादर्शी एव शातला। वनम भी 'शातला (सन् १९५४ ई०) उपयास म श्री अय्यर की उपयास रचना शैली ने ऐसा उत्कृष्ट विकास पाया है कि पढते ही वनता है।

लगभग ३५४० वर्षो पहले आचाय अय्यर ने, बगलूर मे एक व्यायाम विद्यापीठ स्थापित किया जिसके द्वारा विद्याधिया को पत्र-यवहार थयवा वही प्रवेश द्वारा व्यायामपत्रु बनाया जाता रहा है। आज से लगभग दस वष पूव ही, व्यायाम अय्यर के मन पर अचानक सण्डहरो का रोमानी जादू असर कर गया तथा व, उनके रहस्यो को अपनी लेखनी द्वारा यक्त करने का उतावले हो उठे। स्वय श्री अय्यर महोदय के शब्दो म —

होस्तलेश्वर देवालय के दक्षिण द्वार के सम्मुख थोडी दूर पर खडे होकर मेरे हृदय मे बहा यही वह शिला पीठ है जिस पर भावजीवी महारानी शातला देवी, भक्ति मे तल्लीन होकर भगवान के सामने नाचा करती थीं। इस उपयास को लिखने के पहले थेलूरु हलेयदीड्ड के मदिरो ने मुझे एक बार अपनी ओर आकृषित किया था।"

'शांतला से सम्बन्धित शिलालेखों का ही नहीं बरन् तजाउर के सरस्वती मण्डार में प्राप्त ऐतिहासिक ग्रन्थों का अवलोकन करके होइसल राजा विष्णुवर्द्धन के समकालीन व्यक्तियों के बारे में, उपलब्ध विषयों के आधार पर, मैंने इस कथा का प्रणयन किया है।'

'होइसल राज्य की विपुल सम्पत्ति को, मलिक काफूर तथा गंगू सलार ने लूटा था और देवालय की मूर्तियों को तोड़ कर, छिन्न भिन्न भी किया था। कन्नड़ प्रदेश की जनता के प्रति इस निष्ठुर काय का देख कर, विष्णुवर्द्धन शान्तला को आत्माएँ कितनी राती होगी !'

इस भाँति श्री अय्यर ने 'शांतला' नामक एक उपन्यास लिखने की प्रेरणा पाई। सन् १९५४ ई० के अन्त तक वह उपन्यास, मूल कन्नड़ भाषा में लिखा जाकर प्रकाशित हो गया तथा उसको अभूतपूर्व लोकप्रियता प्राप्त हुई। उपन्यास, कर्नाटक के प्राचीन इतिवृत्त पर आधारित है तथा उसके सभी पात्र पात्राएँ यथा होइसल नरेश दिग्विजयी विष्णुवर्द्धन, शांतला के प्रति भगिनी मम अनुराग रखने वाले कुंवर विष्णु, सम्राट विष्णुवर्द्धन की पट्ट राजमहिषी शांतला, माचिकव्वे (शांतला की माता, तथा दलपति मारसिगमथ्या की पत्नी), लक्ष्मी (पद्मले की पुत्री शांतला की अंतरंग प्राणप्रिया सखी), श्री रामानुजाचार्य (वैष्णव धर्म के महान प्रवक्ता), नरसिंह वर्मा (होइसल विपक्षी चोलों के सामंत) आदि ऐतिहासिक व्यक्ति रहे हैं।

आचार्य श्री अय्यर ने, बेलूर के देवालय में जा शिलालेख पढ़ा उस पर शक सन् १०४४ धावण शुक्ला चतुदशी, गुरुवार की तिथि अंकित है। जर्थात् उपन्यास की पात्र पात्राओं का हुए आज लगभग ८०० वर्ष बीत चुके हैं। श्री अय्यर ने इतिवृत्त के सूत्रों एवं तण्डहरो के सक्तना का ताना ताना लेकर, लगभग चार सौ पृष्ठों का यह बृहद् उपन्यास 'शान्तला', रच डाला। उपन्यास के स्थानीय एवं ऐतिहासिक महत्त्व के कारण साहित्य अकादमी ने १९६० ई० में उसका हिंदी भाषा में रूपांतर कराया। यह गुरुतर काय, मसूर विश्वविद्यालय के हिंदी प्राध्यापक श्री हिरण्मय ने किया है।

'श्री विष्णुकांता शांतला' उपन्यास में प्राचीन कर्नाटक प्रदेश एवं वहाँ की अतीत कालीन संस्कृति, साकार हो उठी है। प्रायः सभी धर्मक्षेत्रों एवं ऐतिहासिक स्थलों का, उपन्यास में विद्यमान बखणन मिलता है। राजगुरुपा के राजपौचित 'रवहान' राज्यदरबार अथवा पुर एवं जनसाधारण के शिष्टाचार, राजकुल की परम्पराएँ धार्मिक संस्कार, धार्मिक विश्वास एवं लोकविश्वास, कर्नाटक प्रदेश में आत्मापण की प्रथा एवं सती प्रथा, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि देवालयों एवं राज

भवनों की स्थापत्यकला एवं भूतिकला, तथा प्रायः समस्त कर्नाटक प्रदेश की आचलिक आभा, इन सभी प्रादेशिक तत्वों के सुदम वणनों के कारण 'शातला' उप-यास, चिरस्मरणीय हो गया है।

श्री शिवराम कारंत ने, दक्षिण कर्नाटक के पश्चिमी भाग के लोकजीवन सम्बन्धी, अनेक उप-यासों की रचना की है जिनमें 'मरलि मण्णिग' साहित्य-अकादमी द्वारा पुरस्कृत भी हुआ है। इसमें उप-यासकार ने, एक कृषक परिवार की तीन पीढ़ियों की कहानी का ही, अपने उप-यास का कथानक बनाया है। पलक के 'गुड-अथ' और मक्सिम गौकी के 'आर्तोमोनोव्ज' में भी तीन पीढ़ियों के (चीनी और रूसी) जनजीवन का आलेखन किया गया है। उप-यास 'मरलि मण्णिगे' में वर्णित कृषक परिवार, प्राकृतिक परिस्थितियों से जूझता हुआ, निराश होकर नगरों की ओर प्रवृत्त होता है, तथा फिर तीसरी पीढ़ी में वे लोग यह अनुभव करते हैं कि नगरों में नहीं उनकी सहज प्राकृत मातृ भूमि उसी पहाड़ी कठोर अंचल में ही है। इस सारे सुनीच जीवन सघष का, उप-यास, साक्षात् करने में समर्थ हुआ है। उप-यास में प्राकृतिक दृश्यों, प्राकृतिक स्थानों, नागरिक दृश्यों और स्थानों आदि के बड़े सजीव और चाक्षुष वणन मिलते हैं।

श्री कारंत ने कुछ अन्य उप-यास, दक्षिण कर्नाटक के आदिवासियों के जीवन को चित्रित करने की दृष्टि से भी रचे हैं जिनमें कि कुडियर वूसु (कुडियों की लडकी) में आदिवासियों के रहन सहन, वेप भूषण, उत्सव आदि का चित्र विचित्र वणन पाया जाता है। इस उप-यास में, जंगलों आदि के वणन बहुत स्वाभाविकता से वर्णित हैं। उनका दूसरा उप-यास चौमन दुडी (चौक की डुगडुगो) है। इसमें भी 'नीच' समझे जाने वाले लोगों का जीवन वर्णित है। लोकवार्त्तातत्व के सभी उप-करण इसमें बहुतायत से पाये जाते हैं क्योंकि यह आदिवासियों के जीवन का ही औप-यासिक चित्रण है।

### त्रयोदश प्रकरण उडिया उप-यास साहित्य की रूपरेखा

भारतीय उप-यास साहित्य के इस सर्वेक्षण में जिन छह भारतीय भाषाओं को तुलनात्मक अध्ययन के अन्विष्ट से चुना गया है उनमें से अन्तिम है उडिया भाषा। भारतीय भाषाओं में उप-यास विधा के प्रथम प्रवर्तन की दृष्टि से, उडिया भाषा में *सर्वास्ति देरी से उप-यास रचना आरम्भ हुई। उडिया के सर्वप्रथम प्राप्य उप-यास पद्ममाली के प्रकाशन की तिथि है सन १८८८ ई०।*

उदभव और विकास के कालक्रम की दृष्टि से उडिया कथा साहित्य, अपने निष्कवर्ती हिन्दी प्रदेश तथा बंग प्रदेश दोनों का ही अनुवर्ती रहा है। फिर भी उसके साथ उप-यासों पर, हिन्दी उप-यास साहित्य का प्रभाव, स्पष्टतया दृष्टिगोचर होता

है। उदाहरणार्थ हम उडिया के सब प्रथम उपन्यास 'पद्ममाली' (१८८८ ई०) को ही लें। इसके लेखक श्री रमेशचन्द्र सरकार थे। 'पद्ममाली' पर सद्यः प्रकाशित, श्री देवकीनन्दन खत्री के उपन्यास 'चन्द्रकाता का प्रभाव, प्रकट रूप से देखा जा सकता है। चुनारगढ और नोगढ के राज्यकुला के स्पर्धा कलह और सघष पर 'चन्द्रकान्ता की कहानी आयाजित है। उसी भाँति 'पद्ममाली' में भी नीलगिरी और पचगढ के सामन्तों में जो परस्पर कलह और सघष चला, वही उपन्यास की कथा वस्तु का मुख्याधार बना है। इस परस्पर विवाद में जिस भाँति 'चन्द्रकाता' नामक सुन्दर राजकुमारी के वरण के प्रश्न पर, कथावस्तु अग्रसर हुई है उसी भाँति 'पद्ममाली' उपन्यास में, पद्ममाली नाम की एक परम सुन्दरी युवती के कारण ही कथा प्रवाह आगे बढ़ा है। 'चन्द्रकाता' के समान ही 'पद्ममाली' की कहानी में भी अनेक जटिलताएँ और निलस्रम आदि की विशेषताएँ पायी जाती हैं, जिनके कारण उपन्यास में रोचकता और जिज्ञासा की वृद्धि हुई है। उपन्यास की कथा, लेखक के अनुसार, एक वास्तविक घटना पर आधारित है, जिसकी किंवदन्तियाँ, उत्कल प्रदेश में, यत्र-तत्र, वही सुनी जाती हैं।

'पद्ममाली' के पश्चात् कालक्रमानुसार स्वर्गीय श्री रामकृष्णराय कृत उपन्यास विवासिनी (सन १८९१ ई०), उडिया भाषा का, पहला ऐतिहासिक उपन्यास भी माना जाता है। मराठा राजाओं के पतन-काल में, उड़ीसा की जो दुदशा हुई, उसका उपन्यास में, हृदयद्रावक चित्र खींचा गया है। उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ में, ब्रिटिश सेनाओं द्वारा, उत्कल प्रदेश के हस्तगत किए जाने, एवं सन् १८५७ के स्वतंत्रता संग्राम के बीच के काल की उपन्यास की इतिवृत्तात्मक आधार भूमि बनाया गया है। ब्रिटिश शासन के शुरू के अत्याचारी कारनामों से चुनौती लेते हुए लोधा के पाईक वीरों ने उनका ग्यारह बार मुकाबला किया था। अन्त में बारंबार विफल होने पर बारहवीं बार के आक्रमण में उन्हें ब्रिटिश सत्ता से समझौता करना पड़ा। ये पाईक वीर, सायरतट पर, अंग्रेज एन्ड यूरोपियन व्यापारियों की भी खबर रखते थे। ये परम साहसी मल्लाह भी थे।

विवासिनी का भी कुछ काल तक उडिया का सब प्रथम उपन्यास माना जाता रहा किन्तु उसकी सबप्रथम औपन्यासिक कृति वस्तुतः 'पद्ममाली' ही है। नवागत ब्रिटिश शासन एवं उसका द्वारा नीलगिरी की छाटी सी रियामन के, हृदय लिए जाने, तदनन्तर बालासार (बालेश्वर) जिन के मजिस्ट्रेट हेनरी रिक्केटस की बचहरी में वरसा चलने वाले मुकद्दमे को ही उपन्यास का मुख्य कथा आधार बनाया गया है। उपन्यास में बड़जात राजाओं एवं ब्रिटिश सत्ता के बीच होने वाली, आए दिन की मूठभेड़ों के वृत्तांत भी पाये जाते हैं।

पद्ममाली उपन्यास का उत्कल भाषा भाषियों द्वारा अत्यन्त स्वागत किया

गया। इससे प्रोत्साहित होकर श्री सरकार ने 'मुकुट' नामक पत्रिका में, एक अन्य उपन्यास भा. धारावाहिक रूप में प्रकाशित कराया, जिसका नाम था 'उत्पीसा'। इस उपन्यास में एक अन्य रियासत 'बेओसर' एवं नवागत ब्रिटिश शासन के सघप को उपन्यासकार ने, अपनी कथाभूमि बनाया है। स्थानीय वातावरण का चित्रित करने वाले बणनो के कारण श्री रमेशचन्द्र सरकार, न केवल उड़िया भाषा के सब प्रथम उपन्यासकार हुए, वरन् इस चित्रविचित्र प्रवेश के, पहले प्रादेशिक या आचलिक उपन्यास-लेखक भी हुए।

श्री रमेशचन्द्र सरकार के उत्त उपन्यास 'पद्ममाली' में बणित घटनाओं के सबध में श्री हरेचरण मेहताव ने अपना प्रथम हिस्टरी आफ उटीसा में लिखा है—

'अपनी जीन के ठीक परात ही काल हारकोट तथा मिस्टर मेसबिले को, कटक के गामलों को निपटाने के लिए कमिश्नर नियुक्त किया गया। इन कमिश्नरों ने, सन् १८०५ तक अपना काय जारी रखा जब कि दक्षिणी भागों, सम्बलपुर तथा उसके अधीन रियासतों का छोड़ कर शेष उत्तर प्रदेश को, एक कन्वेक्टर एवं एक सेशन जज के मातहत छोड़ दिया गया और प्रदेश की राजधानी जगन्नाथपुरी से हटा कर, सन् १८१६ में, कटक कर दी गई। उड़ीसा प्रदेश को तीन जिला में बाँट दिया गया—बालासोर, कटक एवं पुरी।'

रमेशचन्द्र सरकार का उपयुक्त दोनों उपन्यासों में बणित रियासतें नीलगिरि ('पद्ममाली') एवं केआपर ('उदासी') अंतिम स्वाधीन रियासतें थीं। इन रियासतों में, आधीनता मानन को विवश होने से पूर्व पर्याप्त प्रतिरोध भी किया था, वही उत्त उपन्यासों का मुख्य कथानक आधार बना है। सधि-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले राज्यों का प्रथम या था—कनीका, जयागढ़ नरसिंहपुर, वारम्या, तत्रनर तरामू तिगिरिया, हिंडाल, सदापारा, धेनकानल रानापुर नयागढ़ नीलगिरि एवं केआकर।

उत्त ऐतिहासिक पृष्ठभूमि अनेकानेक आधुनिक उड़िया उपन्यासकारों के लिए प्रेरणा भूमि बना है। इनमें श्री काटुचरण महर्षि जस सुप्रसिद्ध आधुनिक उपन्यासकार भी हैं। उटीसा में अंग्रेजों की छत्रछाया में जो नई सामन्तशाही कायम हुई थी, उसके प्रमुख समर्थक बनाने जागरदार थे। उन्होंने उड़ीसावासी निरीह प्रजाजन पर, अपने गार मालिकों की आड लेकर, जो रोमाचकारी अत्याचार किए उनका दिग्दर्शन कराने वाला श्री महर्षि का उपन्यास स्वप्न या सत्य है। उन्होंने अंग्रेजों के युवाशन के परिणाम स्वरूप व्याप्त उड़ीसा की रणनीति एवं सन् १८६६ ई० के महा-अकाल का, हृदयद्रावक चित्रण करने वाला उपन्यास—'हा अन' लिखा।

१ 'हिस्टरी आफ उटीसा (श्री हरेचरण मेहताव), भाग १, अध्याय ६, अंग्रेजों द्वारा उटीसा विजय।

यह सन १९४६ ई० की रचना है। इस भयङ्कर अकाल में, उड़ीसा के निवासियों में से लगभग एक चौथाई नरनारी भूखा मर गये।

श्री फकीरमोहन सेनापति (१८४३ १९१८ ई०) उड़िया भाषा के एक रससिद्ध एवं प्रख्यात उपन्यासकार हुए हैं। उनके उपन्यासों में, उक्त समय की कचहरिया आदि की कड़ी आलोचना की गयी है और उससे भी कटु व्यंग्य किया गया है। वकीला पर, "जो सात घरों को बरबाद करके, अपना अकेले का घर बनाता है।" उनके उपन्यासों की कथावस्तु मुख्यतः भारतीय कृषक वर्ग का जीवन है और उनकी अतर्कितता, श्रमिक वर्ग की, भूमि के प्रति ममता है। श्री सेनापति द्वारा रचित उड़िया उपन्यास-साहित्य की उत्कृष्ट औपन्यासिक श्रुति 'छत्र माण आठ गुठ है। सबसे पहले, वह 'उत्कल साहित्य' नामक मासिक पत्र में धारावाहिक रूप में, लगभग १८९९-१९०० ई० में प्रकाशित होता रहा था। इसे 'रेलक' ने अपन धूजटी उपनाम से ही प्रकाशित कराया था। आगे चल कर सन १९०१ में वह पुस्तकाकार प्रकाशित हुआ। उसके बाद श्री फकीरमोहन सेनापति की म्र्याति, श्रीप्रताप के साथ ही, समग्र उड़िया भाषा के पाठकों में फल गई और लेखकों को लागू न्यास कवि की गौरवशाली उपाधि से, अभिहित करने लगे।

देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार श्री सेनापति के उपन्यास अपने समय से काफी पहले की, एसी अग्रगामी औपन्यासिक श्रुतियाँ हैं, जिनमें भारतीय भाषाओं में, पहले पहल जनजीवन को चित्रित करने का वास्तविक उद्योग किया गया है। जिस समय श्री फकीरमोहन ने उड़िया गद्य में लिखना प्रारम्भ किया, उस समय उसका मलीमाति विकास भी नहीं हो पाया था और कथा साहित्य तो अभी अपनी शशवावस्था में ही था। इसीलिए श्री सेनापति का स्थान उड़िया कथा साहित्य में वही है जो हिन्दी में, श्री प्रेमचन्द का। वैसे कालक्रमानुसार तो वे प्रेमचन्द के पूर्ववर्ती ही हैं।

'छत्र माण आठ गुठ' में कथासूत्र, बहुत साधारण और विरल है। फिर भी उसमें वर्णन और चित्रण की विशिष्ट प्रतिभा दृश्यनीय है। रामचन्द्र मगराज नामक एक लोमी और जत्याचारी जमींदार ने मगिया और सारिया नामक मीथे साथे जुलाहा दम्पति की जमीन, अपने हथकण्डा से हस्तगत कर ली थी। और वह जमीन कुल छत्र माण आठ गुठ ही थी।

श्री प्रेमचन्द से पूछ यदि किसी भारतीय उपन्यासकार ने साधारण किमान मजदूरों को अपने उपन्यास के प्रधान पात्र बना कर गौरव दिया है तो वे श्री सेनापति ही हैं। उनके उपन्यास, किन्हीं अर्थों में श्री प्रेमचन्द के उपन्यासों के पूर्ववर्ती हैं। उड़ीसा प्रदेश एवं उसके इतिहास के, सबसे प्रामाणिक एवं वास्तविक उपन्यासकार, मान जायेंगे।



‘श्री सेनापति बालासोर के जिलाधीश एव सुप्रसिद्ध भाषाविद् जान बीम्स के सहायक अधिकारी भी रहे थे एव उन्होंने, उन्हें ‘आयभाषाओं के तुलनात्मक ‘याकरण’ की रचना में भी, त्रियात्मक सहयोग दिया था। उनका अधिकांश जीवन उड़ीसा के अनेक देशी राज्यों में दीवान के पद पर काय करने में, व्यतीत हुआ। ५३ वर्ष की अवस्था में वे राज्यकार्यों से अवकाश लेकर, पूणतया साहित्य सेवा में जुट गये। वे ‘उडिया कथा साहित्य के जनक’ के रूप में विख्यात हुए।’

श्री फकीरमोहन सेनापति की शब्द चित्रण प्रतिभा अपूर्व थी। उनकी लेखनी में सरल सीधी-सादी भाषा में चित्र उतारने का अद्भुत चमत्कार था। उत्कल निवासियों के जीवन में हर कक्ष एव पक्ष की सच्ची तस्वीर, उनके उप-यासों में मिलती है। यहाँ उसका ठीक ठीक परिचय देना तो सम्भव नहीं है फिर भी उदाहरण के रूप में उनकी सबप्रसिद्ध महान् औप-यासिक कृति, छह माण, आठ गुण्ड से ही विशिष्ट एव वणनकला से समुक्त कुछ सज्ञात्मक शब्द चित्र उदघट किये जा रहे हैं —

‘मगराज की हवेली से सटी हुई ही, पीछे की ओर एक बड़ी सी बाड़ी है चहार दीवारी से घिरी। बाहर वाली अगनाई के द्वार के पास ही एक बड़ा सा तालाब है। तालाब के चारों ओर नारियल हैं। नारियल के पीछे केले आम कटहल, और भाऊ के पेड़ हैं। बाग के चारों ओर भेडा पर पीने पीले सोनाबांस की बाड़, दीवार की तरह खड़ी है।’

कचहरी वाला खण्ड पार करके भीतर की ओर जाने पर जो पहला खण्ड मिलता है उसी में मगराज के पीढने का कक्ष है। जरूरत होने पर लोग उसे गडाघर अर्थात् मालखाना भी कह लेते हैं। हवेली के सभी घरों में इसका श्रेष्ठ होना उचित है। कमरे में आदू (छान तले चीजें सजा कर रखने के लिए बास और मिट्टी की भीतरी छती की बुखारी) है। घर पांच धरन वाला है। खुलता पूरब की ओर है। सामने चौड़ा ओसारा है। दरवाजे पर कटहल की लकड़ी के बिनाड लग हैं। किवाडा में, चौकानी जाफरीदार फटटे हैं। जाफरी के फटटा के खिलान खिलान पर लोहे की टापी दार भेख जड़ी हैं। बाहर कडे भी लगे हैं और साकलें भी। इनमें दो बड़े बड़े नलीदार ताले पड़ते हैं। पश्चिम वाली दीवार में कोई कमर भर की ऊचाई पर डेढ़ बिन्ता चौड़ी, सीखचेदार खिडकी है। अगहन के महीने में गुरुवार को जब घर की लिपाईं पुताई होती है, तभी बदाचित यह खिडकी खुलती होगी (घर के चारों कोनों में घुप अंधेरा रहता है। हमाशुभा को तो दिनक समय भी, रोशनी की जरूरत पड़ जायगी।)

‘उत्तर में वाला दीवार से लगा बास का लम्बा सा मचान है जिस पर

१ ‘गत साठ वर्षों में उडिया साहित्य’ (श्री नरेन्द्रनाथ मिश्र, काशी नागरी प्रचारिणी पत्रिका, हीरक जयन्ता विवेका, पृष्ठ ५६६-६११)

बैत के तीन बड़े बड़े पुराने पिटारे रखे हैं। मचान तले चौकी तरनपोश है जिसके तले, घर के कोने में गुड का मटका है, आम की अमवारिया की हाडी है करज के तेल के तीन चार गदे डिब्ब हैं। और कुजो म, करज के जितने भी फल लगते हैं, सब पीट-पीट कर छाड लाय जाते हैं। तेली बठ-वेगार में, उह पेर कर तेल निवाल देता है। दक्खिन वाली दीवार के पास आम की लकडी के दो बड़े बड़े सडूक ह। दीवार के पास चपा, नित दिन सभा जाती दिखाती है। प्रति गुस्वार को, सिद्धर और चन्दन से इसे पूजती ह अथवा चावल और गुड के नवेच से इस भोग लगाया जाता है। कोरचो म तीन चार छीके लटक ह। उन पर घी के मटके भूल रहे हैं। गौओ से कटौती का जो पी आता है वह इहीं में जमा होता ह। मरहट्टी पालकियो में, झूलते रेशमी फुदनो की झालर की तरह, छीके से मकडो के बाले बाले जाले, गुच्छे के गुच्छे भूल रहे हैं। पश्चिम वाली दीवार के पास उत्तर दक्खिन की लम्बान में, मगराज का तहतपोश पडा रहता ह। दक्खिन की ओर सिरहाने के पास बडी सी मसनद ह। हेख (मोटी घास की चटाई) के ऊपर दशिया (मुजनी) दोहरी बिछी रहती ह।<sup>१</sup>

श्री सेनापति ने अनेकानेक सामाजिक एवं ऐतिहासिक उपन्यास रचे हैं जिनमें सभी प्रादेशिक रूपान्ना प्रधान हैं। उनके ऐतिहासिक उपन्यासों में, लच्छमा विशेष महत्वपूर्ण है। मुगल मराठा संघर्ष (सन १७४१-१७५१ ई०) इसकी पृष्ठभूमि है। इस काल में उड़ीसा में सुदीप अकाल, अराजकता एवं अशांति परिब्याप्त रही। उपन्यास के पात्रों में, उड़ीसा के नाजिम अलीबख्शीखा, नायब नाजिम मुशिरकुली खा, मौसला के मराठा सेनापति भास्कर पंडित, ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इनके बीच हुए युद्ध भी इतिहास सिद्ध घटनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त राई वणिया हल दीपदा, फुलउ आरा आदि घटना-स्थल भी वास्तविक हैं। उपन्यास की मुख्य ममस्पर्शी कथा, वारनारी लच्छमा के पातिव्रत एवं धर्म का अमर कहानी है तथा, बादलसिंह के क्षत्रियोचित चरित्र का उपन्यास में उत्तम विकास हुआ है। अपने ऐतिहासिक उपन्यासों में, श्री सेनापति भी स्व० श्री वृंदावनलाल वर्मा की भांति ही प्रकृत चित्रण के परिप्रेक्ष्य में लोकजीवन को विव्रित करते चलते हैं। उपन्यास में प्रथम दो शब्द चित्र हैं प्रभात वणन एवं सध्या वणन के। उपन्यासकार ने अपनी वणन प्रतिभा से उन्हें चाक्षुष-वत कर दिया है —

१ 'छह भाँण धाठ गुण्ड' (श्री फकीरमोहन सेनापति) (रचना काल १८६६ ई०) (प्रस्तुत संस्करण १६५६ ई०, साहित्य अकादमी नई दिल्ली) हिंदी रूपान्तर युगजोत नवलपुरी। पृष्ठ ३६, अध्याय ८ तथा पृष्ठ ६१-६३, अध्याय १४।

‘सत्रे का समय है। ठण्डी ठण्डी हवा चल रही है। वृक्षों पर बठ बर, चिड़ियाएँ मीठी मीठी बोलियाँ बोल रही हैं। पूव गगन में, लाली छाई हुई है। देखन ही देखते सूर्य भगवान उदयाश्रम पर आ विराजे। उनकी ज्वालिमय किरणों के प्रकाश में वृक्षा की चाटियाँ सुनहली हो गई।’

‘पौष मास की सध्या का समय है। सूर्य भगवान अपनी किरणों को समेट, अस्ताचल के शिखर पर आ विराजे हैं। लाल, काले नीले, बैंगनी रंगों की आभा से, पश्चिम गगन शाभायमान हो रहा है। पशुगण वृक्षों की चोटियों पर बठ कर, मीठी मीठी बोलियाँ बोल रहे हैं। बौधों का दल काव काव करता हुआ सीधा बसरे की ओर चला जा रहा है। एक दो कौड़े जा पिछड़ गए हैं वे रेल चलने की आवाज पाकर, तीसर दर्जे के यात्रियों के समान, अपने दल के पीछे घबराए हुए चले जा रहे हैं। अघराव के साथ साथ, चारा ओर ठण्डी की मात्रा बढ़ रही है।’

स्व० श्री बन्दावनलाल वर्मा की भाँति ही श्री सेनापति भी ऐतिहासिक स्थलों में भ्रमण करते थे एवं स्थानीय जनता से स्थानीय लोकवृत्त का भी संप्रहृण करते थे। उन्होंने इतिहास ग्रंथों का भी उत्तम परिशीलन किया था। साथ ही वे प्रादेशिक उप-यासवार की ज मजात प्रतिभा से सम्पन्न भी थे। यहाँ श्री सेनापति के कथासाहित्य-कृतत्व के सम्बन्ध में एक स्मरणीय अभिमत देना समुचित होगा —

श्री देवीप्रसन्न पटनायक ने अपने लेख में श्री सेनापति के उपन्यास साहित्य के बारे में यों लिखा है —

उनके उप-यासों में सबसे प्रमुख विषयवस्तु है उड़ीसा के सामाजिक जीवन का शत प्रतिशत सच्चा चित्रण उड़िया में सेनापति का वही स्थान है, जो हिन्दी में प्रेमचन्द का बगला में बकिम का और अश्रेणी में हार्डी का।<sup>१</sup>

उड़िया के ऐतिहासिक उप-यामकारों में श्री रामचन्द्र आचार्य का नाम भी उल्लेखनीय है। उनके ऐतिहासिक उप-यासों में काला पहाड़ वीर उड़िया आदि पर्याप्त लोकप्रिय हुए। काला पहाड़ में उड़ीसा पर मुसलमानी आक्रमणों एवं उसके न्याय देवालयों के ध्वंस की रोमांचकारी कथा वर्णित है। वीर उड़िया में, मुगल सत्ता के प्रतिरोध में उडासा के अंतिम स्वतंत्र राजा, श्री मुकुन्ददेव की

१ ‘लच्छुमा (श्री फकीरमाहन सेनापति) (रचनाकाल १९०० ई०) (विलनगज, आगरा के चिरजीव पुस्तकालय के सौजन्य से प्राप्त एक दुर्लभ प्राचीन संस्करण से उद्धृत।) प्रथम हिन्दी रूपांतर सन १९१५ ई०। रूपांतरकार पान्थे मुरलीधर एवं मुकुन्दधर शर्मा। (प्रकाशक हरिदास बघ, हरिसन रोड, कलकत्ता।)

२ ‘उड़िया उप-यासों का विकास’ (श्री देवीप्रसन्न पटनायक) ‘भारतीय साहित्य’ (ऐतिहासिक उप-यासों विषयक) पृ० ७१४ (१९६० ई०)।

वीरगति का ऐतिहासिक प्रसंग है। घटना का काल सन १५६८ ई० है। सारगढ के दुग म, वे अपने एक देशवासी के हाथों ही मृत्यु को प्राप्त हुए थे। यही घटना, उड़ीसा में मुसलमानी आधिपत्य का प्रारम्भ बनी।

श्री कालिन्दीचरण पाणिग्राही का, ग्रामीण जीवन का चित्रण करने वाला उत्तम उपन्यास 'माटीर माणिय' सन १९३० ई० में रचा गया। साहित्य अकादमी की ओर से, सभी भारतीय भाषाओं में उसका अनुवाद कराया गया है। हिन्दी रूपांतर-कर्त्री हैं श्रीमती सरस्वती पाणिग्राही और प्रस्तावनाकार हैं श्री नित्यानन्द महापात्र। उपन्यास वणन-व्यवस्था प्रतिभा से सम्पन्न है और उसमें चित्रित ग्रामीण जीवन की चिरस्मरणीय चित्रपटियाँ अविस्मरणीय हैं। श्री पाणिग्राही ने उपन्यास में कितने ही स्थलों को अपने वणन-व्यवस्था से समृद्ध किया है। उदाहरणार्थ उड़ीसा के ग्रामीण परिवेश का निम्न शब्द चित्र अवलोकनीय है—

चारों ओर धान के खेत हरे भरे खड़े हैं और ऊपर जाश्विन महीने का नीला आकाश। बीच बीच में बादल के दल के दल, सफरी (मड़ली) जैसे छोटे होते हुए भी, सीना ताने सूर्य के सामने चले जाते हैं। इससे उनकी छाँह, एक खेत से दूसरे पर नाचती-झूदती चली जाती है। बहुत दूर पेड़ों की गहराई में, कितने गाव छिपे हुए हैं। हवा धाती है, चली जाती है। इन्हीं क्यारियों पर उसकी गति है। आसमान कितना ऊँचा है और कितना नीला है धरती के ऊपर। खेतों के बीचोबीच कितने काले काले जानवर, झुक कर किमी काम में लगे हैं। कहीं एक झुण्ड बगले, तो कहीं एक गिरोह ताते एक खेत से दूसरे खेत फिर वहाँ से उड़ कर गाव में गायब हो जाते हैं। किन्तु धान के पीछे के नीचे लटके हुए, काले काले जीवों की नजर किसी ओर नहीं है। वे भी खेती और वाग की चिड़ियों की तरह, इस सूरज और आसमान की तरह चिर परिचित हैं। क्या घाम, क्या घरसात और क्या सर्दी क्या ओस, चारों में, तीन सौ पैंसठ दिन, एक से चने जा रहे हैं। युग युग बीत चुके हैं। आज तक भी उन शरीरों को एक अंगरखा नहीं मिला—उन ढकने के लिए। छ हाथ परदनी आठ हाथ की न हो सकी—अच्छी तरह पहनने के लिए। तो वे नहीं हैं जानवर सिर्फ मिट्टी के ही? उनका पेगा?—जन्म से मरने तक मिट्टी में पड़ा होना और मिट्टी में ही उठना बैठना सोना और मिट्टी में ही घर बनाना, मिट्टी खोद कर पेट पालना। ये हैं—जमीन के बीड़े, मिट्टी के पुतले।<sup>१</sup>

श्री गोपीनाथ महापात्र ने महा उपन्यास 'अमृतनर सत्तान' एक अत्यन्त वणन-व्यवस्था उपन्यास है। इसमें लेखक ने, उत्कल के जादिवासी क्षेत्र के, जनजीवन का,

१ 'माटीर माणिय (कालिन्दीचरण पाणिग्राही) हिन्दी रूपांतर-कर्त्री श्रीमती सरस्वती पाणिग्राही (साहित्य अकादमी, नई दिल्ली की ओर से पूर्वोदय प्रकाशन, प्रथम संस्करण १९५६) पृ० ३१-३२।



ने, वारम्बार गरिमामय सस्कृत गद्य महाकाव्यों की वणन प्रणालियों की शतावधि चित्र-विचित्र चित्रपट्टियों से समान रूप से प्रेरणा प्राप्त की है।

उक्त सर्वेक्षण से इस शाश्वत सत्य एवं तथ्य का भी उद्घाटन होता है कि कुछ वणनों के स्थल एवं अचल वे ही हैं, जिन पर सहस्रावधि वर्षों में, अनेक प्रदेशों में रहने वाले अनेक, प्रतिमा के घनी, उपन्यासकारों ने, विभिन्न अनुराग के साथ लेखनी संचालन किया है—वे ही नगाधिराज हिमालय के हिममण्डित शिखर, वे ही मागीरथी की शान्तिदायिनी लहरें, वे ही रत्नाकर का गर्विली ऊर्मियाँ, वे ही रमणीय वन पर्वत उपत्यकाएँ, वही मध्यदेश की महा-अटवी। इन सभी का विविध मापाओ के उपन्यासकारों ने अपनी अपनी भावमयी एवं ममत्व मयी दृष्टि से अपनी अपनी मातृ मापाओ में, अपनी अपनी निजी शली में, वणन समृद्ध चित्रण किया है। हमारा यह भारतीय उपन्यास साहित्य ही, वस्तुतः, हमारी युगप्राचीन एवं हिमालय सम सुदृढ राष्ट्रीय एकता का, सबसे महान प्रमाण रूप, अमर रसमय वाङ्मय है।

## भारतीय उपन्यासों में वर्णन के अवसर

भारतीय उपन्यास साहित्य की सक्षिप्त वर्णनात्मक रूपरेखा पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि उसकी सतरगिनी इन्द्रधनुषी वर्णनात्मक छटा कितनी विविध, कितनी चित्र विचित्र एवं कितनी मनोहारिणी है ! यह उपन्यास गत वर्णन परम्परा, लगभग दो सहस्र वर्षों की अद्भुत श्रुतिका में निबद्ध है तथा उसमें वर्णन वष्यवस्तु के विश्लेषण द्वारा, हम उनमें प्रयोजित, विविध वर्णनों के अवसरों की एक अद्भुत रस सृष्टि के भाग्य दर्शन होने हैं । आचार्य राजशेखर ने अपने अनुपम साहित्य-समीक्षा ग्रन्थ 'काव्य भीमासा' में [महान सस्कृत महाकाव्या तथा उर्दू की टक्कर के सस्कृत गद्य महाकाव्यो (पुरातन उपन्यासों) में प्रतिबिम्बित, विलक्षण वर्णनात्मक समृद्धि को दृष्टि में रखते हुए] पर्याप्त मौलिक विश्लेषणात्मक विचार व्यक्त किये हैं, जो आज भी, भारतीय उपन्यासों में वर्णन के अवसरों की सम्यक समीक्षा में हमारे सहायक एवं दिग्दर्शक सिद्ध हो सकते हैं । आचार्य राजशेखर, 'कोप गत वर्णनीय' विषयों की सूची गिना कर ही, सन्तुष्ट नहीं हो गए, "१" वरन् उहोने साहित्य विधा के इस महत्त्वपूर्ण अंग—अर्थात् 'वर्णनों की आयोजना' पर भी पर्याप्त मौलिक रूप से विचार विमर्श किया है ।

आचार्य राजशेखर का मत है कि वर्णन के अवसर, अनन्त एवं असंख्य हो सकते हैं । यही नहीं वे सदैव ही 'देशकाल सापेक्ष' भी रहा करते हैं । वर्णन कला कोई साधारण हस्तशिल्प या दस्तकारी नहीं है और न उसके लिए कोप ग्रन्थों एवं काव्य-ग्रन्थों में निर्दिष्ट स्थायी तालिकाएँ ही पर्याप्त समझी जानी चाहिए । आचार्य राजशेखर एक विशिष्ट विचक्षण विवेकशील प्रतिभा के काव्य ममज्ञ थे । इसीलिए उहोने, 'वर्णयानि' या वर्णनीयानि' शब्दावली को, अपनी वर्णनात्मक कला

१ 'अथ वर्णयानि कथ्यन्ते अम्बु खेलात्तम । — शब्द कल्पद्रुम', पृष्ठ २८७ ।

२ साहित्य दर्पण, (आचार्य विश्वनाथ), परिच्छेद ६ ।

सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली से पृथक् रखना ही उचित समझा। इसके विपरीत उन्होंने वर्णनात्मक कला के इस पक्ष विशेष पर, अपनी निजी एवं नयी पारिभाषिक शब्दावली भी निरूपित की।

आचार्य राजशेखर के अनुसार 'वर्णन के अवसरों' में देश और काल के प्रत्येक सूक्ष्म विभेद के अनुसार पद-पद पर परिवर्तन जाना अनिवार्य है। यदि कविगण या उपन्यासकार (पद्य महाकाव्य-कार अथवा गद्य महाकाव्य-कार) अपने प्रबंध का यो या उपन्यासों में वर्णन के अवसरों का समावेश देश और काल के अनुसार नहीं करेंगे, तो लोकप्रिय होना तो दूर वे लोक उपहास के भागी भी बनेंगे। आचार्य राजशेखर की यह सुनिर्धारित धारणा है कि अपने दशकाल का उत्कृष्ट एवं तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किए बिना, साहित्यकार को, प्रबंधकाव्य जसी 'वर्णनात्मक विधा' एवं साहित्य चर्चा जैसी अत्यंत सूक्ष्म 'आलोक्षिकी विधा' के विवेचन में, लेखनी संचालन करने के दुःसाहस में, प्रवृत्त नहीं होना चाहिए।

राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' के सप्तदश एवं अष्टादश (सत्रहवें अट्ठारहवें) अध्यायों में विशेषतया देशकाल विभाजन अर्थात् देशकाल के अनुरूप परिवर्तित एवं प्रयुक्त वर्णन के अवसरों पर, विशद व्याख्या की है। यह जान कर अनेक आधुनिक साहित्य-समीक्षकों को भी आश्चर्य हुए बिना न रहेगा कि आज से लगभग एक सहस्र वर्ष पहले भी, वर्णन के अवसरों एवं वर्णनों के साहित्य निर्माण के व्यावहारिक पक्ष पर, हमारे देश में तात्त्विक विचार विमर्श किया जा चुका है। आचार्य राजशेखर ने इसी प्रसंग में एक स्थल पर लिखा है —

देशम् कालम् च विमर्जमान कवि, न अयंशन दिशि दरिद्रानि<sup>१</sup>। अर्थात् देश तथा काल का विमर्श समझने वाला कवि (अथवा सृजनात्मक साहित्यकार), अयं प्रदर्शन की दिशा में, कभी दरिद्र नहीं रहना। अर्थात् देश तथा काल का ज्ञान कवि (सृजनात्मक कलाकार) के लिए अनिवार्य है। किस देश और किस काल में, क्या क्या वर्णन, साहित्य सृजना में समावेश के योग्य हैं? कवि को इसका ध्यान रखना आवश्यक है। यदि कवि को इसका ज्ञान है तो उसे वर्णन विषयों की कमी कमी नहीं हो सकती। इसके अभाव में वह अनुपयुक्त पदार्थों के वर्णन में प्रवृत्त हो जाएगा। किस दश में किस काल में क्या हाता है या हुआ है यदि इसका कवि को सम्पूर्ण ज्ञान नहीं है तो वह अनस्थान तथा अकाल में ऐसे पदार्थों का वर्णन कर देगा कि जिसकी वार्ता, उस समय स्थिति सम्भव नहीं थी और इस प्रकार वह और उसका काव्य, उपहास्यता को प्राप्त होगा।

१ 'हिंसा काव्य मीमांसा' (श्री राजशेखर विरचिता काव्य मीमांसा), (प्रकाश नामक हिंदी व्याख्यान) व्याख्याकार—डॉ० गणमानगर राय, एम० ए० पी० एच० डी०, (चोखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१) सप्तशोध्याय, 'देशकाल विभाग', पृष्ठ २२६।



आचार्य राजशेखर के अनुसार साहित्यकार के लिए वणन के अवसरा के लिए किसी कोश अथवा काव्याचार्य की दी हुई तालिका विशेष की अपेक्षा नहीं रहती। उसका वणन मेत्र तो अखिल विश्व ही है। फिर भी कुछ ऐसी भौतिक एव मनोवैज्ञानिक सीमाएँ हैं, जिनमें रह कर ही लेखक को अपने काय को, आगे बढ़ाना होता है। यन् ठीक है कि जहाँ मूय की किरणें भी नहीं पहुँच पाती, वहाँ भी कवि की वणन प्रतिभा जा पहुँचती है। किन्तु जिस मत्स्यलोक पर हम निवास करते हैं उसके नीचे एव ऊपर के लोका का वणन, यदि कुछ काल्पनिक एव कुछ प्रस्थापित वैज्ञानिक सिद्धान्त-मूत्रो के अनुसार ही किया जाए तभी वह प्रतीयमान हो सकता है। इसी अभिप्राय से उहोने, लोक परलोक के विविध लक्षणो तक की अपने उक्त अध्याय मे चचा की है।

बगला भापा के स्यातनामा उप-यासकार—श्री विभूतिभूषण वद्यापाध्याय वृत्त 'देवयान नामक' वणन प्रधान उप-यास मे जब हम उनके चित्रित, देवयोनि के व्यक्तिया के वणन पढने हैं तो हमे सहज ही यह जिनासा होती है कि वे देवलोक के निवासी, किन किन वातो मे हमारे अपने जीवन स भिनता रखते हैं और किन किन वाता म वे हमारे ही समान हैं? श्री प्रेमचन्द ने भी कुछ इसी भाँति के जम ज मात्तर के प्रमगो के वणन अपने प्रख्यात उप-यास 'कायाकल्प म समाविष्ट किए हैं। भारतीय उप-यासो क ये अतिमानवीय अथवा अ पलाकीय वणन भी हमारे उप-यास साहित्य की अपनी निजी विशेषताएँ हैं। पश्चिम मे बहुधा लोग चोन्ह भुवनो वाली हमारे भारतीय धारणा को स्वीकार नहीं करते अत उहे अपने पाठको के मनो म प्रसुप्त कुतूहल विस्मय अथवा अदभुत तत्व की जगाने के लिए 'साइंस फिक्शन (विज्ञान परक' उप-यास साहित्य) जसी विधाओ को, खोज निका सना पडा है।

आचार्य राजशेखर ने हमारे अपने मत्स्यलोक के अतिरिक्त अय लोको के बारे मे सथा अखिल विश्व रचना के सम्बध म सभी प्रसिद्ध मतो की सक्षेप मे चर्चा की है। उनकी सबप्रथम धारणा हे वावा—पृथ्वी की। (यह धारणा पाश्चात्य देशों में भी व्यापक रूप से पाई जाती है कि धरती (धरती जमीन) मानव जाति की माँ है और आकाश उसका पिता है।) हस धरती और आकाश की सन्तान होने क कारण, अपनी चितन सरणी मे धरती की गोद म रहते हुए भी, आसमान की बात किए बिना चन नहीं अनुभव करते।

आचार्य राजशेखर ने इस विश्व कल्पना के सम्बध म (उनके समय तक) माय अभिमतों का विवरण इस भाँति दिया है — दिव (देवलोक आकाश) तथा पृथ्वी, दो जगत माने गए हैं। स्वर्ग, मत्स्य तथा पाताल ये तीन लोक भी माय हैं। कुछ अय लोग, इही तीनों लोको को, 'भू, भुव तथा स्व भी कहत हैं। अय लोगो

की यह धारणा है कि महर्लोक, जनलोक, तपलोक तथा सत्यलोक ये चार लोक भी माने जाने योग्य हैं। इस भाँति लोकों की कुल संख्या सात है। यही सात लोक प्रवाह आदि वायु समूहों के साथ मिल कर, चौदह हो जाते हैं। इस भाँति चौदह लोक वाली लोक धारणा अस्तित्व में आई। कुछ अग्र विद्वानों का मत है कि इन चौदह भुवनों में, सात पातालों को मिला कर कुल इक्कीस लोक होने चाहिए।<sup>१</sup>

भारतीय साहित्य की उपन्यास विधा के अन्तर्गत ऐसे वणन अनेक उपन्यासों में आए हैं जिनमें, मत्स्यलोक के प्राणी, अग्र लोकों को गए हुए और अग्र लोकों के प्राणी, हमारी धरती पर बसने वाले मत्स्य प्राणियों से नाता जोड़ने और मंत्री बढाने के निमित्त, आये हैं। यथा आद्य हिन्दी उपन्यास 'नासिकेतोपाख्यान' (सन् १८०३ ई०) का प्रमुख नवयुवक नायक, नासिकेता (नासिकेत), यमलोक में सदेह पहुँच जाता है तथा वहाँ से जीविन लौट भी आता है। लौट कर वह अपने अनुभवों को यहाँ के निवासियों का सुनाता है।

वस्तुतः अन्तर्लोक-यात्राओं की सवप्रथम चर्चा, स्वयं बाणभट्ट ने अपने 'कादम्बरी' नामक महा उपन्यास में की थी। अपने उत्तमोत्तम वणनों के अवसरों की महामूर्च्छा में बाण के वे वणनात्मक प्रसंग भी चिरस्मरणीय रहेंगे जिनमें चन्द्रलोक के राज पुत्र चन्द्रापाड के पृथ्वी पर आने, और एक प्रतापशाली राजा के पुत्र के रूप में जन्म लेकर अपनी प्रणय कथा को बीच में ही छोड़ कर फिर चन्द्रविम्ब में जा समाने की कथा कही गई है। इस भाँति 'अन्तर्लोक यात्राएँ' भी हमारे जातीय उपन्यास साहित्य की एक निजी विशिष्टता बन गई है।

यद्यपि कुछ समय पहले हमारे उपन्यासों में वर्णित ये अन्तर्लोक यात्राएँ अथवा आकाशमण्डल भ्रमण वृत्तान्त, विदेशियों द्वारा, भारतवासियों की अग्रविश्वास प्रवृत्ति के छातक माने जाते थे किन्तु आज, मानव के चन्द्रलोक को जाने और वहाँ से सदेह सद्गुण लौट आने की दान सर्वसाधारण के पान की वस्तु बन चुकी है। अतः कोई आश्चर्य नहीं यदि 'कादम्बरी' जैसे भारतीय उपन्यासों के 'चन्द्रापीठ' जैसे नायक, सचमुच ही कोई साहसी आकाश-यात्री ही रहे हों। इसीलिए आचार्य राजशेखर का यह कथन आज और भी मयातम्य जान पड़ता है कि प्रत्येक देश और प्रत्येक काल में, वणन के कितने ही अमिनव अवसर समुपस्थित हो जाते हैं। दो सहस्र वर्षों के विगत आयाम में, और भारतभूमि की विशाल व्यापक वणन भूमि में परिव्याप्त रहने

१ 'दिवस्पृथिव्यो द्वे जगती तायेव भूभुव स्व इत्यये। महजनस्तप सत्यमित्येत सह सप्त तानि सप्तानि वायुस्वप्न सह षतुदश तानि सप्तानि पाताल सहैक-विंशति इति षषचित्।—राजशेखर, सप्तदश अध्याय—'काव्य मीमांसा', 'देशकाल-विभाग', पृष्ठ २२७ २८ (प्र० चौमन्धा विद्याभवन, वाराणसी।)

के कारण, इसीलिए हमारे उप-यास साहित्य की वणनात्मक समृद्धि, विश्व भर के उप-यास साहित्य की अपेक्षा, बड़ी अधिक विपुल और विविध है।

यही विवेक ध्यान देने योग्य ध्यान यह है कि आचार्य राजशेखर ने, देशगत विभाग और कालक्रम या कथानक रङ्ग के बीच के सूक्ष्म अंतर का समझने हुए, या कहा है कि 'कविसमय' तो वस्तुतः एक ऐसी धारणा या लोक विश्वास है जिसकी शक्त एक काव्य में रूढ़ स्थिति हो गई है। सात हो पर चक्रवाक पक्षियों के युग की उत्पत्ति के दो निम्न किनारे पर रहना ही पता है या चक्र पर पक्षी अगारे चुगत है। ऐसी धारणाओं को 'कविसमय' कहते हैं। किन्तु 'दशकाल विभाग' कोई 'कविसमय' नहीं है, वरन् यह तो साधारण ज्ञान की उत्तम सामग्री का ही अन्वय है। कवि या साहित्यकार को देश और काल का अनुमान होना चाहिए। उसकी कृतियाँ में इस जगत् का एक छोटे से छोटा टुकड़ा, मूर्तिमान हो उठना चाहिए। उसकी कल्पना अथवा भावना की गति अबाध होनी चाहिए। किन्तु यह सभी संभव है जब कि साहित्यकार में अध्ययन पण्डित, एक निरोगण की, जन्मजात रुचि एवं लगन होवे।

जिन समय आचार्य राजशेखर हुए वे संभव है तब में अब यातायात का साधन हमारे लिए अधिक सुलभ हो गया हो अथवा मुद्रण-यंत्र के आविष्कार द्वारा, पुस्तक का अध्ययन अधिक सुलभ हो गया हो। किन्तु जो भी हो कम से कम उप-यासकार को तो एक ऐसा व्यक्ति होना ही चाहिए जिसका साधारण ज्ञान अर्थात् इतिहास ज्ञान, भूगोल ज्ञान, निजी यात्रा द्वारा अर्जित ज्ञान, और निजी अर्जित साहित्य ज्ञान असाधारणतः प्रचुर एवं अभूतपूर्व हो। यही नहीं, प्रत्येक प्रदेश का सही सही चित्र और उसका भूगोल इतिहास का ज्ञान उप-यासकार के लिए तो अनिवार्य ही माना जाना चाहिए। इस दृष्टि से आचार्य राजशेखर ने, चौदह लोकों या चौदह भुवनों के विवरण का पश्चात् देश विभाग का विवरण देते हुए लिखा है —

'अविशेष विवक्षा अर्थात् सामान्य करने सुनने में तो यह जगत् या लोक एक ही रहता है किन्तु विशेष विवक्षा (अर्थात् वणनगत विशिष्टता एवं औचित्यमान) की दृष्टि में रखते हुए वस्तु एक नहीं अनेक रूप होता है।

ऊपर यह गए हवरीस लोक। मूलोक्त पृथ्वी है। इसमें सात महाद्वीप हैं। जम्बूद्वीप (एशिया तथा यूरोप इन दो महाद्वीपों का समुक्त रूप) सबके मध्य में है। उसके अन्तर क्रमशः प्लक्ष, शात्मल, कुश, शैब, शाक तथा पुष्कर द्वीप हैं। तवणमय, रसमय, सुरामय घृतमय, क्षिपमय, दुग्धमय, तथा सुस्वादु जलवासे—य सात समुद्र हैं, जो इन सातों द्वीपों को घेर कर स्थित हैं। किन्तु कुछ लोग कहते हैं कि एक तवणमय सागर ही सबत्र फला हुआ है।'

श्री राजशेखर द्वारा प्रतिपादित अर्थ मतो पर विशेष ध्यान न देकर यहाँ उनका केवल एक कथन पर ही विशेष ध्यान देना उचित होगा कि 'अविशेष विवक्षा' और 'विशेष विवक्षा', दोनों दृष्टिकोणों में अंतर क्या है? जनसाधारण अथवा साधारण पाठक और साहित्यकार के बीच अंतर, केवल 'विवक्षा' (या प्रत्येक तत्व को उनके विश्लेषित रूप में देखने समझने की आदत) का ही है। जब कि लेखक द्वारा किसी नैसर्गिक दृश्य अथवा सांसारिक व्यापार पर दृष्टिकोण में, विशेष विवक्षा शक्ति कायशीला रहती है—जनसाधारण का केवल 'अविशेष विवक्षा' (कोई सास बात नहीं) से ही काम चल जाता है। उपन्यासकार के लिये जो वननों के अवसर, किसी एक नैसर्गिक दृश्य में, अनेक एक अदभुत रूपों में वस्तुमान रहते हैं वे जनसाधारण के लिए दृश्यमान होते हुए भी नहीं के बराबर ही जान पड़ते हैं।

भारत की सांस्कृतिक एवं साहित्यिक एकात्मता पर बल देते हुए आचार्य राजशेखर, आगे चल कर साहित्यकार को एक अखिल भारतीय अथवा तुलनात्मक दृष्टिकोण रखने के लिए, प्रेरित करते हैं—

'भगवान मरु (सुमेरु) आद्यवप पर्वत है। इसके चारों ओर इलायत नामक वप है। उसके उत्तर की ओर तीन वप पर्वत हैं—नील पर्वत तथा शृंगवान। इनके वपों के नाम क्रम से रम्यक, हिरण्मय तथा उत्तर-बुरु हैं। मरु के दक्षिण में निषध, हेमवत तथा हिमवान पर्वत हैं। इनके वप हैं क्रमशः हरिवप, विपुरुष तथा भारत। भारतवप के नवभेद हैं, जिन्हें हम आज भारत के नौ मुख्य प्रादेशिक विभाग कह सकते हैं वे ये हैं—इन्द्रद्वीप, वसेरुमान, ताम्रपण गमस्तिमान, नागद्वीप सोम्य, गंधर्वरुण और कुमारीद्वीप। पाँच सौ भाग जल और पाँच भाग स्थल वाला भारतवप में, दक्षिण सागर से लेकर, हिमालय तक, प्रत्येक देश को जोड़ने वाले हैं और परस्पर अगम्य हैं।'<sup>१</sup>

सौभाग्य से आज भारत के इन नवभेदों (अथवा प्रदेशों) के बीच की अगम्यता बहुत अंश में दूर हो चुकी है। श्री राजशेखर के कथनानुसार आज से सहस्रावधि वप पूर्व भारतवप के नवभेदों के बीच की अगम्यता, दुर्लभ बल ही रही हो किन्तु भारतवासियों की दशानुरक्ति और राष्ट्रीय एकता सम्बंधी प्रबल भावना फिर भी बड़ी सुदृढ़ एवं अखिल राष्ट्रीय चिंतना पर, अवस्थित थी।

राजशेखर ने अपनी 'काव्य-मीमांसा' के १७वें तथा १८वें अध्याय में जिस 'देशकाल-विभाग' सिद्धांत का विवचन किया है उसमें उपन्यास में जान वाले सभी प्रकार के ऐसे वनन समाविष्ट हो जाते हैं जिनके रमणीय पक्ष को लेकर, उपन्यासकार, उन्हें अपने कथामूत्र में विरोधा चलता है।

१ काव्य-मीमांसा (राजशेखर) अध्याय १७ पृष्ठ २३२ से २३८ (हिंदी काव्य-मीमांसा)।

राजशेखर का मत है कि सभी वणनों के अवसरों के मूलाधार में, देश और काल का समन्वित प्रभाव अवस्थित रहता है। 'देश' अर्थात् स्थान का, वणन के अवसरों में प्राथमिक महत्व है क्योंकि वणन की स्थूल अथवा चाक्षुष रूपरेखा, देश अथवा स्थान-तत्त्व पर ही आधारित है। फिर भी यदि वणन के निर्मायक दूसरे (अर्थात् काल) तत्व का सहयोग न मिले, तो स्थान-वणन नीरस निष्प्राण एवं सौन्दर्य रहित ही रहेगा—उसकी साहित्यगत परिणति द्वारा, किसी भी कलात्मक सिद्धि की सम्भावना नहीं हो सकती।

राजशेखर की, मातृभूमि के उपयुक्त भव्य एवं विराट रूप सम्बन्धी ममतापूर्ण एवं भावपूर्ण उदगावनाओं का स्वर वस्तुतः हमारे समग्र प्राचीनतम वाङ्मय का, एक मौलिक एवं गुरु गम्भीर स्वर रहा है। जिस भारतभूमि की विविध छबियाँ को हमारे उप-यासकार अपनी प्राकृतिक दृश्यावली के वणनों में उतारते रहते हैं उनकी आराधना और उपासना, ऋग्वेद के 'स्तुति-सूक्त' में भी प्रायः वसी ही सरल एवं भावमयी भाषा में मिलती है। ऋग्वेद के 'नदी स्तुति सूक्त' में हिन्दी क्षेत्र की नदियों का सर्वप्रथम वणन प्राप्त होता है —

'इमम मे गगे सरस्वति, शतुद्रु स्तोमम सचता परुणया ।

असिषिया मरुदवधे वितस्ततय आजकीये शृणुह्या सुपोमया ॥'

('ह गगे ! यमुने सरस्वती शतुद्र, (सतलज) परुणी (रावी) सभी एक साथ मरे स्ताम (स्तोत्र) को सुनो ! हे मरुदवधे (मरुद्वानि) ! और आजकीये ! हे आशित्री (भिनाब) ! वितस्ता (झेलम) और सुपोमा (सोहन) तुम भी सभी एक साथ मेरी स्तुति सुनो !')

हिन्दी उप-यास के विस्तृत क्षेत्र में, नदियाँ का जाल बिछा हुआ है, जो यहाँ के जीवन के ताने बान में, जोत प्रोत है। उक्त वैदिक सूक्त का प्रणेता ऋषि है सि धुक्षित। वह पुराणों के अनुसार पंचाल का राजकुमार था जिसकी वाहिनी इन नदियों का पार कर, सि धुतट के पश्चिमोत्तर तक पहुँची थी। कुरु पंचाल के साहित्य और संस्कृति का प्रसार भी पश्चिमोत्तर में इसी दिशा और गति से हुआ था। उक्त स्तोत्र में दृषदती (घग्घर) और विपाशा (चास) नामक पंजाब की दो पूर्वोक्त नदियों की गणना नहीं है। सम्भवतः सैनिक अथवा धार्मिक दृष्टि से उनका महत्व तब कम था।<sup>१</sup>

गंगा न केवल हिन्दी क्षेत्र की, अपितु सारे भारत की सबधृष्ट और प्रसिद्ध नदी है। गंगा भारतीय साहित्य में सुरसरि अथवा देववदा नाम से स्मृत है। देव

१ ऋग्वेद, १०/७५/५

२ दृष्टव्य 'हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास', प्रथम भाग।

तात्मा हिमालय की गगोत्री धील से, इसका प्रखवण प्रारम्भ होता है। 'अलकनन्दा', 'मन्दाकिनी' आदि कई धाराओं और नामों से बहती हुई, यह, हरिद्वार के पास मदान में उतरती है। कानपुर से ऊपर ही, पूव से रामगंगा और पश्चिम से कालिन्दी ('बाली नदी, यमुना नहीं) गंगा में आकर मिलती हैं। मैदान में गंगावतरण ने, बहुत सी पौराणिक कथाओं और काव्यों को (उप-यासा को भी) जन्म दिया है।<sup>१</sup> उत्तर के पावत्य प्रदेश से लेकर पूव में (राजमहल की पहाड़िया तक) गंगा का प्रवाह, हिन्दी भाषी क्षेत्र का मेरुदण्ड है। प्राचीन तथा आधुनिक, राजनीतिक तथा सांस्कृतिक जीवन के प्रसिद्ध केन्द्र हरिद्वार, हस्तिनापुर प्रयाग (इलाहाबाद), काशी (वाराणसी), पटना (पाटलिपुत्र) आदि सभी गंगा के तट पर ही स्थित हैं।

भौगोलिक और सांस्कृतिक, दाना ही दृष्टिया से, गंगा के पश्चात्, यमुना का स्थान है। वह भी गमशृङ्खला में स्थित यमुनात्री से निकल कर, पहले दक्षिण-भिमुख और फिर पूर्वाभिमुख बह कर प्रयाग में, गंगा से मिल जाती है। भारत की प्राचीन सस्कृति इसका सहारे भी प्रवाहित हुई थी और इसके किनारे, इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) मथुरा, आगरा काशाबी (कोसल) आदि प्रसिद्ध नगर स्थित हैं। गंगा यमुना के बीच का देश ही ब्रह्मपि अथवा आर्यावत प्रदेश था, जहाँ वैदिक सभ्यता और सस्कृति, परिपक्व हुई और वही से अन्यत्र प्रसारित हुई।

भारतीय उप-यासा में जहाँ भी हमारे उप-यासकारों को गंगा यमुना के वणन का अवसर प्राप्त हुआ है उन्होंने उनके तटों की शोभा तथा उनके शस्य श्यामन अचल की भूरि भूरि यशोगाथा गाई है और उन्हें अपने शस्य चपन की सुलिका द्वारा असंख्य रंगों और छवियों में उतारा है। इसी भाँति हमारे उप-यासकारों ने, हिन्दी प्रदेश की विभिन्न नदियों एवं उनकी सहायक नदियों के ताने बाने के परिप्रेक्ष्य में, अपने उप-यासों की आयोजना एवं नियोजना की है। 'नदी पुराण' हमारे उप-यासकारों का एक प्रिय एवं महत्त्वपूर्ण वष्य विषय रहा है। इस दृष्टि से हम अपने हिन्दी प्रदेश की नदियों का स्थिति और गति धाराओं की भी पर्याप्त प्रत्यक्ष एवं यथातथ्य जानकारी अपेक्षित है। बिना उसके उप-यासकार की कृतियाँ में, आत्मीयता न आ पाएगी और कही न कही उससे भारी भौगोलिक भूलों भी हो जाने का अ-देशा बना रहेगा।

'हिन्दी साहित्य का बहान इतिहास' में, एक सम्पूर्ण अध्याय है जिसका शीर्षक

१ पुराणा और 'रामायण' में मगौरथ द्वारा गंगावतरण की कथा वर्णित है। विद्वानों का मत है कि किसी समय गंगा हिमालय की उपत्यकाओं और सरों वरों में मटबती थी, अथवा गंगा और यमुना, अत्यंत प्राचीन काल में राजस्थान समुद्र में गिरती थी। उन्हें मोड़ कर मगौरथ ने दक्षिण पूर्वाभिमुख किया।

‘भारतीय साहित्य में पवत जोर नदियाँ’ है। भारतीय उप-यामा में वणन योजना की दृष्टि से उसी से कुछ उतरेख्य तथ्यों का सन्निपत्त व्योमग यहाँ उद्धृत किया जा रहा है —

‘सिवालिक की जल विभाजक रेखा के पश्चिम, सरस्वती (लुप्त) दृष्टती (धग्घर—अब प्रायः लुप्त), सतलज, व्यास, रावी, चिनाब, झेलम और सिंधु आदि नदियाँ, हिमालय से निकल कर, पश्चिमोत्तर को बहती हैं। पहले सरस्वती, राजस्थान के समुद्र में मिलती थी, किन्तु अब विवशन के पास वह लुप्त हो जाती है। व्यास, सतलज में मिलती है और शेष नदियाँ सिंधु में। कुरु-पंचाल का पश्चिमोत्तर प्रसार क्षेत्र इन्हीं नदियों के प्रदेश में था और यहाँ पर, त्रिगत मद्र, केकय शिवि, सोवीर, सिंधु आदि जनपद स्थापित थे। बर्दिक साहित्य में इन नदियों का इनके पूर्वनामों के साथ प्रायः उल्लेख मिलता है।

पञ्जाब से दक्षिण चलने पर राजस्थान आ जाता है। इनके पश्चिमोत्तर में, नदियों का प्रायः अभाव है। भील अथवा कृत्रिम सागर ही, यहाँ के मुख्य जलाशय हैं। अजमेर का जर्णोसागर (आनासागर) प्रसिद्ध ऐतिहासिक जलाशय है। साभर भील से बवल एक लूनी नदी निकल कर दक्षिण पश्चिम राजस्थान में होती हुई रनकचन्द्र में गिरती है।

मालवा के पठार से कई नदियाँ निकल कर दक्षिणपूव राजस्थान में होती हुई यमुना में मिल जाती हैं। इनमें चम्बल (चमण्यवती) छोटी सिंधु (काली सिंधु), वेतवा (वेत्रवती) तथा केन (गुक्तिमती) का उल्लेख किया जा सकता है। चम्बल की पश्चिमी सहायक नदी बनास (वर्णासि) है, जो अरावली से निकल कर चबल में मिलती है। उज्जयिना से होकर बहने वाली साहित्यिक क्षिप्रा नदी मालवा के ही पठार से निकल कर चम्बल में गिरती है। विन्ध्यप्रदेश की नदियों में केवल शोणनद ही प्रसिद्ध है जो प्राचीन साहित्य में, शाणमद्र तथा हिरण्यवाहु भी कहलाता था। यह अपनी विशाल जलराशि तथा शाणित वासुका वगा को विखेरता हुआ पटना के पश्चिम में गंगा में मिल जाता है। [अर। सागर में गिरने वाली और दक्षिण एवं पश्चिम दिशा में प्रवाहित होती हुई नमदा एवं ताप्ती भी विन्ध्याचल एवं सतपुडा पवतमाला से निकलती हैं। इनमें नमदा को भी गंगा यमुना व पश्चात धार्मिक श्रद्धा प्राप्त हुई है। उसके तट पर अनेक प्रसिद्ध तीर्थस्थान भी हैं।]

पश्चात् के समर्थों गंगा श्रवाह के श्रुत राजमहल की श्रद्धादिमा तक, नदियों का एक जाल सा बिछा है। गामती बरेली के ऊपर हिमालय का तराई से निकल कर, लखनऊ तथा जोनपुर होती हुई बनारस व आगे गंगा से मिल जाती है। गोमती के पूव सरयू नदी है। वेद में सरयू नदी का नाम सरार मिलता है।<sup>१</sup> यह

मानसगोवर के दक्षिण से निकलती है। हिमालय प्रदेश में कई जल धाराएँ इसमें आकर मिलती हैं। सरयू बड़ी विशाल तथा बगवती नदी है। इसके किनारे लोक-विश्रुत अयोध्या नगरी स्थित है जहाँ 'मानव' अथवा 'ऋष्याकु' वंश की स्थापना हुई थी। इसके किनारे दूसरा प्रसिद्ध नगर, छपरा है। यही पर सरयू, गंगा से मिलती है। वाल्मीकि और तुलसी दोनों ने, अपने पात्रों में, सरयू को अमर किया है।

गोमती और सरयू के बीच में, टास (तमसा) नदी है, जो गाजीपुर और बलिया के बीच में, गंगा से जा मिलती है। वाल्मीकि आश्रम की तमसा (मुरला के साथ) यही है, जहाँ सीता का दूसरा वनवास और लवकुश का जन्म हुआ था।<sup>१</sup> आजकल तमसा के किनारे आजमगढ़ नगर और मऊ नामक प्रसिद्ध कस्बे हैं। सरयू के पूव में राप्ती नामक नदी है जिसका प्राचीन नाम अचिरवती अथवा अजिरवती था। यह बुटवल की पास की पहाड़ियों से निकलती है और वेग से बहती हुई देवरिया जिले में बरहज के पास सरयू में मिल जाती है। प्राचीन श्रावस्ती नगरी (सहैत महेन गाड़ा बहराइच की सीमा पर) इसी के किनारे थी, जो ब्राह्मण और बौद्ध दोनों ही साहित्यों में प्रसिद्ध थी। दूसरा प्रसिद्ध नगर इसके किनारे, गोरखपुर है। बुद्धकाल में कौलियगण की राजधानी रामग्राम इसी स्थान पर थी जिसे परवर्ती-काल में राप्ती बहा ले गई। राप्ती की सहायक नदी राहिणी, वस्ती गोरखपुर की ऊपरी तराई से निकल कर गारखपुर के पास राप्ती से मिल जाती है।<sup>२</sup>

'इसके पूव चल कर, देवरिया में, छोटी गण्डक (प्राचीन हिरण्यवती) है। यह भी नेपाल की तराई से निकल कर दक्षिण पूव का बहती हुई सरयू में मिल जाती है। प्राचीन काल में मल्लों की राजधानी, कुशीनगर इसी के किनारे था। (आजकल उसके छाड़न रामभार साल के किनारे हैं।) कुछ और पूव में चलने पर, मिहार में बड़ी गण्डक (सदानौरा आधुनिक नारायणी) कोसी (काशिकी) आदि प्रसिद्ध नदियाँ हैं जो हिमालय से प्रस्रवित होकर, उत्तरी बिहार को आप्लावित करती हुई गंगा में मिलती हैं। ये नदियाँ जाल की तरह फैली हुई हैं। इनकी लाई मिट्टी से प्रति वर्ष, इनके द्वारा सिंचित मदान, उपजाऊ बनता है। जीवन के साधन सफलता से उपलब्ध होने के कारण इन्हीं नदियों के प्रदेश में, कोसल वंशाली विदेह आदि राज्यों तथा उनके भग्न होने पर, मल्ल तथा वज्जिसभ के गणा की स्थापना हुई थी।<sup>३</sup>

१ भवभूति उत्तर रामचरित (महाकाव्य) में इसका विशद वणन है।

२ देखिये 'सामय्य और सीमा [भगवतीचरण वर्मा]

३ 'हिन्दी साहित्य का अहत इतिहास भाग १, अध्याय १, पृष्ठ १२-१४ (प्र० काशी नागरी प्रचारिणी सभा)—तथा पुराणों का 'भुवनकोश' नामक अध्याय एवं बराहमिहिर इत बहत संहिता'।



वशाली की नगरवधू' नामक अपने विशालकाय उप-यास म, आचाय चतुर सेन शास्त्री ने उपयुक्त 'नदिया के जाल' म अवस्थित प्रदेश को ही अपने उप-यास की कथाभूमि बनाया है। उप-यास का सबप्रथम अध्याय, वशाली स प्रारम्भ होता है। उन्होंने बड़ी गण्डक या बूढ़ी गण्डक का एक और आधुनिक प्रचलित नाम, 'मिही' दिया है जिसके तट पर वशाली बसी थी। उप-यास के ११वें अध्याय ('राजगृह') में राजगृह नगरी का वणन है जा सदानीरा के तट पर अष्वत्थानकार म बसी हुई थी। १६वें अध्याय ('मत्स्य दम्पति') म लखक न छोटी गण्डक (हिरण्यवती) के तट पर बसी मत्स्य की राजधानी कुशीनारा (कुशीनगर) का भी वणन किया है। फिर उप-यासकार का ध्यान अचिरावती (राप्ती) की श्वेत धारा पर बसे मत्स्यगाम की ओर भी गया है जहाँ ब-धुमत्स्य व मित्र साकृत्य गौतम रहा करते थे।

अपने उपयुक्त महा उप-यास म (दोसवें अध्याय म) ही आचाय चतुरसेन ने, सरयू नदी के तट पर बसी 'साकेत' नगरी (अयोध्या) का वणन करते हुए, नदी-तट का बड़ा ही भव्य वणन किया है। इसमें उस जमाने में, तर्राकी की प्रतियोगिताएँ हुआ करती थी और तब उसका पाट डेढ़ मील का था। ब-धुलमत्स्य न उसी में अपना तर्राकी का कत्तव दिखाने के लिये नरेश प्रसेनजित को प्रसन्न किया था जिसकी राजधानी 'श्रावस्ती' का वणन भी लेखक ने ५०वें अध्याय में किया है जो राप्ती के तट पर बसी थी। ६२वें अध्याय म अजित केसकवली नामक नाशिक के आश्रम का जो सरयू तीर पर स्थित था, विशद वणन है। अध्याय ४१ म पाटलिपुत्र से पूव में गंगा के तट पर स्थित वादरायण व्यास के आश्रम का विस्तृत वणन है जहाँ उस समय गंगा म आई हुई भारी बाढ़ का दृश्य वर्णित है। अध्याय ८३ म श्रावस्ती से तीन कोस दक्षिण म, सरयूतट पर निर्मित सुहृद कोट के सम्बन्ध म फिर सरयू के प्रखर प्रवाह का वणन पाया जाता है।<sup>१</sup>

महाकवि माघ ने अपने प्रसिद्ध महाकाव्य 'शिशुपाल वध' म रक्तक पवत के शोभावणन के सम्बन्ध म जो प्रसिद्ध मूर्ति उदगीरित की है वह क्षण क्षण में नवता प्राप्त करने वाला, रमणीयता का रूप केवल कालतत्व की धूमगिमा मात्र है। सागर हिममण्डित पर्वत शिखर, सरिता, सरोवर प्रपात शस्य श्यामल खेतों का हूरिनाचल प्रात एव साध्य क्षितिजा की मुख मुद्रा मध्य रात्रि के निरभ्र आकाश की रत्नराजिया ज्योत्स्ना उपा सध्या की रग लीलाएँ ये सभी काल की मकुटिका, भूमिमाएँ मान हैं। यह काल ही देश का शासक तथा रूप प्रदाता है। मानव

१ 'वशाली की नगरवधू' (प्रथम खण्ड)। (आचाय चतुरसेन शास्त्री) (प्र० चतुरसेन शास्त्री साहित्य समिति 'मानवाम शाहट्टरा, दिल्ली ३२। प्रस्तुत संस्करण पाँचवा १९६२ ई०, रचनाकाल १९-६ १९४७ ई०। प्रथम प्रकाशन १९४८ ई०)

का सौंदर्य अथवा दसनानन्द उसी के आधीन है जोर वही प्रकृति अथवा मानव व्यापार के हर पक्ष पर (जो वणन के अवसरों की वण्य वस्तु का नियाजन करते हैं) अपना चित्र विचित्र प्रकाश डालता रहता है ।

भारतीय उपायासो में वणन के अवसरों की दृष्टि से, हमारी वेद-पुराण-इतिहास विश्रुत पवित्र नदियों के अतिरिक्त, हमारी पर्वत मालाएँ भी एक प्रिय एवं महत्वपूर्ण वण्यवस्तु रही हैं । ये पर्वत, उनकी रमणीय उपत्यकाएँ, उनके हिममण्डिन शिखर, उनकी अनन्त रमणीय शोभा समृद्ध वनस्पति एवं फूलभरी घाटियाँ, प्रत्येक भारतीय उपायासकार का अपनी ओर आकृष्ट करनी रहो हैं । महाकवि कालिदास न जब 'कुमार सम्भव' काव्य में हिमालय की प्रशस्ति गाई थी तभी से अद्यावधि, हमारे उपायासकार, उसी नगाधिराज की आरती उतारत आए हैं । उनमें प्रत्येक भारतीय प्रान्त के एक प्रत्येक भारतीय भाषा के उपायासकार हैं । मराठी उपायासकार श्री हरि नारायण आष्टे ने अपने उपायास चाणक्य और चन्द्रगुप्त की प्रस्तावना हिमालय शोभा वणन से ही की है । राहुल सांकृत्यायन के महान यात्रात्मक उपायास (विशेषतया 'विस्मृत यात्री') हिमालय की प्रशस्ति से रोमांचित एवं पुनर्जित से जान पड़ते हैं । हिमालय की भाँति ही विन्ध्य एवं अन्य पर्वतमालाएँ भी, उपायासकारों के प्रिय वण्य विषय रहें हैं । अतएव हिंदी प्रदेश की प्रमुख पर्वत माला का आँखों देखा अनुभव भी भारतीय उपायासकारों के लिए आवश्यक है । प्रकृति शोभा वणन के अतिरिक्त, इतिवृत्तात्मक उपायासो में भी उनका महान महत्व है ।

स्व० श्री वंदावनलाल वमान, बुन्देलखण्ड प्रदेश की वनस्पति वक्षराजि एवं पशु पक्षियों के आगत नाम, जाति एवं रूपवर्णन का समावेश करके अपने उपायासो का, जसा मनोरम एवं प्रतीयमान बनाया है उससे उनके सभी पाठक मली भाँति परिचित हैं । इसी भाँति प्रत्येक आचलिक परिवेश लेकर चलने वाले उपायासकार का अपने अपने प्रदेश एवं अञ्चल के वक्षो वनस्पतियों एवं पशु पक्षियों की गहरी जानकारी रखनी ही पड़ती है । इस दृष्टि से, हिन्दी प्रान्त की वनस्पति एवं वनों में पाए जाने वाले वनों की जातियों का परिचय भी हमारे उपायासकारों को अपने उपायासों की वणन समृद्धि में अभिवृद्धि के शतशत अवसर प्रदान करता है । हिन्दी प्रदेश के वना, एवं वनस्पतियाँ तथा उनमें विचरने वाले पशुपक्षियों का साक्षात्कार विवरण ले समाध्य नहीं है । फिर भी कुछ सक्षिप्त व्योरा यहाँ आवश्यक जान कर दिया जाता है —

‘उत्तर भारत के मदान में वना का क्षेत्रफल आजकल अपेक्षाकृत कम हो चला है किन्तु प्राचीन एवं मध्ययुग में यहाँ वना का आधिक्य था । हिमालय और विन्ध्य में तो अभी भी प्रचुर जंगल हैं । मदानों में अभी ये वन नामावशेष ही

मिलते हैं—विशेषकर पूर्वी उत्तर प्रदेश और बिहार में। गोरखपुर के उत्तरी भाग में डामाखण्ड और कुसुम्ही के शालवन, अभी जंगल के रूप में, वसतमान हैं। वन विज्ञान की दृष्टि से इन्हें 'पनझड वन' कहा जाता है। इनमें सागौन, शाल, पदोके अजन, रक्तचन्दन, तथा श्वेताक्ष आदि वक्ष मुख्यतया पाए जाते हैं। इनमें ताड़ जीर वीस भी होते हैं। भारतीय साहित्य में शालवन के बहुत से उल्लेख पाए जाते हैं। भगवान बुद्ध का परिनिर्वाण कुशीनगर के शालवन, उपपत्तन में हुआ था। देवरिया (देवारण्य) चम्पारण (चम्पारण्य)<sup>१</sup> सारन (सारारण्य), आरा (आरण्य), आदि नामों में प्राचीन अरण्य के संकेत मिलते हैं।

हिमालय एवं विन्ध्य के शाश्वत हरित वना में सागौन, याम, जामुन, नीम, इमली और अनेक प्रकार के ताड़वृक्ष ता मिलते ही हैं। ३००० फुट से अधिक ऊँचाई में विन्ध्य में भी पर्वतीय वनों की बहुतायत है। हिमालय के वनों में, अनेक, देवदारु, चीड़, फर, अखराट बादाम, ऐश, बक, भूजपत्र<sup>२</sup> पाइरस, पाप्लर आदि प्रसिद्ध वक्ष जातियाँ मिलती हैं। इनमें मा भारतीय कवियों का सवप्रिय वक्ष 'देवदारु' रहा है। कालिदास ने देवदारु का बड़ा ही मनोरम वणन किया है।<sup>३</sup>

'हिन्दी प्रदेश के तराई, मैदान तथा विन्ध्य पठार पर पाए जाने वाले वक्षों में विशाल एवं आन्वणीय विटपो की पक्ति में अश्वत्थ या पीपल का सवप्रथम स्थान है। यह 'विश्व वक्ष' भी माना गया है। (पौराणिक गाथाओं के अनुसार विश्वास है) इसका हर पत्ते में देवताओं का निवास है। आद्य नाम इसका वासुदेव भी है। दूसरा विशाल वक्ष बट या यरगद है। शत अथवा सहस्रस्तम्भ मण्डपों और सभा भवनों की कल्पना बटवृक्ष से ही उत्पन्न हुई थी। तीसरा विशाल वक्ष प्लक्ष या पाकड है। इसे चतुर् वक्ष भी कहा गया है। इसके नीचे देवताओं का पूजन होता है। आद्य विशाल वक्षों में उदुम्बर (गूलर) शाल्मली (सेमल) आदि का वणन भी भारतीय कवियों एवं कथाग्रंथों में बहुत आया है।

पत्रवक्षों में आम्र (आम) सवप्रथम है। उसे सहकार भी कहते हैं। आम्र वीर, आम्र-पल्लव एवं आम्रमजरी की साहित्य में, प्रचुर चर्चा हुई है। इसकी मजरी बसंतसना की दूती मानी गई है और प्राणी के लिए सकेत वाहिनी। मैदान का शायद ही कोई ऐसा गाव था, जहाँ अमराइयाँ न हों। मधुक (महुआ), जंबू (जामुन) आमलक (आमला) पनस (कटहल), टिटिण्डी (इमली) आदि के वक्ष भी बहुतायत से पाए जाते हैं।

१ इसका विशद वणन, आचार्य चतुरसेन ने अपने उप-यास वक्षाली की नगरवधू (पूर्वाध) में चम्पारण्य शीपक से, अध्याय २६ में किया है।

२ 'रघुवण (कालिदास) २३६/३७।

३ 'कुमार सम्भव (कालिदास) १/७

'शोभा वक्षो मे, नक्तमाल, नमदा क किनारे होता है। शमी, मैदानों में मिलता है। इसमें अग्नि गर्भित रहती है यह मा-पना है। इसे 'यज्ञीय वक्ष' भी कहते हैं। अशोक वक्ष की अनेक किस्में हैं जिनमें रक्ताशोक सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। दोहदप्रसंग में कामिनी के पदाघात या आलिंगन से यह फूटना है, ऐसी कविप्रसिद्धि है। असम, अजुन, शल्लकी, तिलक कदम्ब मौलश्री, अश्व अगुर कुरबक, इगुदि आदि की गणना भी, बड़े शोभावक्षों में की जाती है। छोटे शोभा वक्षों में, कर्णिकार, (कनेर) कोविदार, कुटज, कुसुम, किशुक, बदली बधुक पारिजात मङ्गार मदार, बकुल, पलाश, सिन्धवार आदि का उल्लेख विशेष पाया जाता है। ग्वारीभूमि वाले प्रदेशों यथा, राजस्थान, विन्ध्यप्रदेश, एवं विहार में ताल पूग (सुपारी), पुनाग, खजूर (खजूर) आदि पाये जाते हैं।

'पुष्पपादप एव लताजो म पाटल केतकी (केवडा) अक कुकुम, चम्पक (चम्पा), जपापुष्प (अडहुल) कामिनी शेकालिका नेवारी, कुथ, यूथिका, मल्लिका नवमल्लिका, वनज्योत्स्ना आदि पुष्पपदियों में प्रमुख हैं। लताजो में मालती, माधवी श्यामा, लवगलता, ताम्बूल बल्ली द्राक्षा आदि, उद्यानों की शोभा बढ़ाते रहे हैं अतः उनकी सबत्र ही भारतीय साहित्य में चर्चा है। जलपुष्पों में सर्वप्रमुख हैं कुमुदिनी एवं कमल। भारतीय कवियों ने उपमा, उत्प्रेक्षा और अयोक्ति आदि अलंकारों में इनका बाहुल्य से प्रयोग किया है। निचुल वेतम अथवा वानीर नदियों के किनारे होने हैं। तमसा गम्भीरा तथा मालिनी नदियों के तट पर निचुल के बाहुल्य की चर्चा है।

नवाङ्कुरित घास के मैदानों की शल्प कहते हैं। घास के लहलहाते मैदानों को 'शाद्वल' कहते हैं। 'स्तम्ब' घास के अटाव को कहते हैं। दूर्वा (दूब), काश, नागर-मोथा, कुश अथवा दम्ब उशीर (खस) शलेय आदि प्रसिद्ध घास हैं। इनमें दूर्वा एवं कुश की साहित्य में, (धार्मिक श्रियाओं में) विशेष चर्चा पाई जाती है। वास की भी वनानिक रूप से घासों में ही गणना है। इसके अन्य नाम हैं—कीचक, वश, एवं तण्डवज।

(भारतीय उप-यासों में वन वणनों के अंतर्गत पाए जाने वाले) जीव जंतुओं में स्तनधारी पशुवर्ग में लंगूर अथवा हनुमान तथा लालमुय बदर, मानव परिवार से निकट माने जाते हैं। बन्दर का अन्य नाम शाखामग अथवा वानर भी है। रामायण के कथानक से 'वानर जाति' का धनिष्ठ सम्बन्ध है परन्तु वे वानर मानव जाति के ही थे एवं वानर केवल उनका लाक्षण था।

'हिंदी साहित्य में सिंह शौर्य, आधिपत्य, और उदारता का प्रतीक माना गया है। वह मुख्यतः काठियावाड़ का निवासी है जो हिंदी क्षेत्र के दक्षिण पश्चिमी छोर पर है। व्याघ्र पर्वतों और जंगलों में सर्वत्र मिलता है किन्तु सुन्दर वन के व्याघ्र, सबसे अधिक नामी रहे हैं। चीता तेंदुआ आदि छोटी जाति के व्याघ्र, हिमालय,

विध्य, तथा मदानी जगलो म भी मिलते हैं। बक या भेडिया हिंसा एव कठोरता के लिए, शृगाल कायरता और घूतता के लिए, लोमप या लोमडो चालाकी के लिए एव नकुल सौभाग्य के लिए प्रसिद्ध हैं। [लोककथाओ म इन सभी पशुआ को पात्र रूप में वर्णित किया गया है। आखेट भारत का प्राचीन सामती मनोविनोद रहा है अत वय पशुआ का उनमे विशद वणन रहता है।]

‘हस्ती या हाथी, भारत का सबसे विशाल अहिल एव आदरणीय पशु है। वह साहित्य एव कला प्रतीका मे गवत्र लोकप्रिय है। वह अपनी बुद्धिमानी एव गभीर चाल के लिए प्रसिद्ध है। बौद्ध साहित्य मे वह, ‘बुद्ध का प्रतीक एव ब्राह्मण साहित्य मे ‘गणेश’ का प्रतीक है। अय वय पशुआ मे वपम (साड) पु सत्व का प्रतीक तथा महिप (जगली मेंसा) तमोगुण का प्रतीक है। सुरमि गाय कामदा मानी जाती है— नील गाय और अय अनेक जातियो के मृग’ भारत भूमि के बनो एव मैदानो मे, सबत्र मिलते हैं। मृग वारहसिंघा, कृष्णसार, कस्तूरीमृग, आदि प्रसिद्ध का य प्रतीक रहे हैं। कृष्णसार ‘यनीय पशु’ एव कस्तूरीमृग ‘भ्रात मानव’ का प्रतीक कहा गया है।

‘गो अथवा गाय भारत की पवित्रतम पशु है। वह ऋजुता और स्नेह की मूर्ति मानी गई है। अजा या बकरी यज्ञीय पशु’ तथा मेप (मेंडा भेड) जग्नि का वाहन है। अश्व (बाजी तुरग) या घोडा भारत के सनिक एव राजनीतिक प्रसर्गों मे, सबप्रिय पशु रहा है। वह पु सत्व एव तीव्र गति का प्रतीक है। गदम, शीतला का वाहन माना जाता है। वह मूलता एव दारिद्र्य का प्रतीक माना जाता है।’

भारतभूमि की उपयुक्त भौगोलिक एव प्राकृतिक परिस्थितिया के साथ किस भाँति हमार कोटि कोटि देशवासियो का जनजीवन आवद्ध है तथा किस भाँति उनकी छाय, हमारे साहित्य हमारा सस्कृति हमारी कलात्मक अन्तर्चेतना एव हमारी दार्शनिक एव धार्मिक धारणाओ से अनुबद्ध रही है इसकी एव सक्षिप्त रूपरेखा, यहाँ प्रस्तुत की गई है। हमारी मानुभूमि हमारे लिए केवल जड प्रकृति के रूप म ही उपादेय नहीं है वरन उसके प्रत्यक पवत मैदान, पठार सागर, सरोवर (हृद), नदी निम्नर वन पशु पक्षी शस्य श्यामल वृषिघन हमारे म्निग्ध कोमल एव अदृष्ट सूक्ष्म स्नेहमूत्रो से जाबद्ध हैं। विदेशी पयटक जैसे भारतभूमि की आध्यात्मिक अतर्चेतना की घाह पाने मे असमर्थ रहते हैं, उसी भाँति वे, हमारे वाडमयगत वमथ की, कोटि-कोटि वणनात्मक मणिमाओ के इगितों से पुलकित रोमाचिन हाने के मुख से भी अनजान ही रहते हैं।

उपन्यास-कला की वणनकला समीक्षा में, सुविधाएँ हम, समग्र वणनों को, मोटे तौर पर तीन विभिन्न समूहों में विभाजित करके, उनकी वणनकलागत रमणीयता का विवेचन कर सकते हैं। वणनों का एक बड़ा वर्ग, उपन्यास में वर्णित, 'देश तत्व' की अनेकरूपता को प्रतिबिम्बित करता है। दूसरा समूह 'देशवासियों' की सजात्मक इकाइयों, अर्थात् मानव व्यक्तित्व के विभिन्न अंगों को, शब्दगत अभिव्यक्ति, प्रदान करता है। तीसरा वणन-समूह हमारी सांस्कृतिक, कलात्मक, आध्यात्मिक एवं दार्शनिक अन्वेषणों को व्यक्त करता है। (इन्हीं तीन वणन-समूहों की व्याख्या के रूप में, आने वाले तीन अध्यायों में विचार किया जा रहा है।) तीसरे प्रकार के वणन, उपन्यासों के, साधारण मनोरंजन प्रिय पाठकों के लिए, नहीं सजोये जाते। वे तो वाङ्मय की कलात्मक व्यक्तियों को समझने वाले काव्यशास्त्र विनोद के रसिक, वाग्बिदग्ध पाठकों के अनुरजनाय ही मनोयोगपूर्वक समर्पित किए जाते हैं।

स्थूलरूप से, वणनकला की दृश्यमान छवियों को प्रतिबिम्बित एवं चित्रवत् बनाने वाले तथा कथारस को प्रतीयमानता प्रदान करने वाले समग्र वणन के अवसरों को मुख्यतया दो विभागों में रखा जा सकता है—स्थान वणन एवं पात्र वणन। स्थान वणन की वणनस्तु को मुख्यतया दो विभागों में विभक्त करके विवेचित किया जा सकता है। एक वह जगत् जिसमें हम निवास या प्रकृति कहते हैं। दूसरा वह जगत् जिसमें मानव ने स्वयं बना कर खड़ा किया है। जैसे चित्र के चारों ओर उपयुक्त चौखटों का मूल्य भी कम नहीं होता स्थानीय रंग का समावेश भी कला निराम वणन अभिव्यक्ति के लिए, अनेक स्थलों पर, मूलभूत महत्व धारण कर लेता है।

पात्र वणन उन व्यक्तियों की सुस्पष्ट शब्दमाध्यम की रेखाओं द्वारा उभारी हुई, व्यक्त एवं अत्यंत प्रकट एवं अन्तर्भूत निजी विशिष्टताओं का, अभिव्यक्ति रूप है जिनके चारों ओर उपन्यास का कथाचक्र प्रवर्तित रहता है। इस दृष्टि से, पात्र वणन भी उपन्यासकार के लिये एक बड़ा ही महत्वपूर्ण कार्य है। पात्रवणन के द्वारा उपन्यासकार को शब्दों के माध्यम से जीते जागते व्यक्तियों और उनमें भी विशिष्ट व्यक्तित्वों वाले असाधारण व्यक्तियों के व्यक्तित्वों को, स्पष्टि प्रस्तुत करनी होती है। पात्रों में हम बहुधा उनके बाह्य रूप गुणों के साथ-साथ ही उनके आंतरिक रूपांगों की भी अवस्था रखते हैं। उपन्यास के लेखन में, आदि से अन्त तक, उपन्यासकार को (उक्त रूप और गुण) दोनों ही पर समान दृष्टि रखते हुए, उनके बीच समुचित सतुलन स्थापित करने में सतत सावधानी बरतनी पड़ती है।

जैसा कि आचार्य राजगोपाल ने बारम्बार बलपूर्वक लिखा है, वणनों की कोई

स्थायी तालिका अथवा सूची को समझ रख कर, किसी उत्तम उप-यास की (अथवा किसी भी उत्तम प्रबंध काय की) रचना नहीं की जा सकती। देश और काल के गम में से वणनके अवसर, उप-यासकार के विदोष विवक्षा युत नयनो के समझ, क्षण क्षण मे उमरते आते हैं और वह उन्हें अपनी सहज वणन प्रतिभा द्वारा अप्रयास ही व्यजित करता जाता है। इस देशकालगत चिर नवीनता एव इन्द्रायुधवर्णो चित्र विचित्र रंगीनी को उप-यासकार, वणनकला प्रतिभा द्वारा जितनी अधिक अपने शब्दों मे उतार पाएगा, उसकी कृति उतनी ही अधिक मात्रा मे, रजक और अनुरजक सिद्ध होगी।

‘भारतीय उप-यासो मे वणन के अवसर के अन्तगतस्थान वणन (यथा—मवन, हाट बाजार रेलवे स्टेशन ऐतिहासिक स्मारक उद्यान आदि), प्रकृति वणन (यथा—नदी नाले रात दिन, ऋतु आदि) पात्र-वणन (यथा—शरीर यष्टि वेश भूषा चेष्टाएँ) उद्योग तथा यात्रा वणन—मेले उत्सवा और यत्रादि क वणन—आदि विविध विवरण समाविष्ट किए जाते हैं। किन्तु वे तो वस्तुतः समस्त वणन के अवसरों के कुछ सनात्मक उदाहरण ही माने जा सकते हैं। जितने प्रकार के वणन उप-यास में समाव्य हैं उनकी सम्पूर्ण तालिका को तयार करना तो समाव्य ही नहीं है। संक्षेप मे उप-यासकार की सूक्ष्म मानसिक रससृष्टि का तो कोई बारापार ही नहीं है। उदाहरणार्थ यदि केवल प्रकृति वणन के अवसरों की ही तालिका बनाने का यत्न किया जाए तो वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाएगी। यथा—भूकम्प वणन बाढ वणन, सूर्योत्थय, सूर्यास्त, सध्या, बसत की सध्या, ग्रीष्म की सध्या वर्षा की सध्या शिशिर का सध्या हिमालय की सध्या दक्षिण की सध्या, प्रातःकाल मध्याह्न शरद ऋतु ग्रीष्म ऋतु शीत ऋतु वर्षा ऋतु चादनी, वर्षाकालीन चादनी ग्रीष्मकालीन चादनी, शरद कालीन चादनी, सागर के किनारे की चादनी भयकर बीहड़ जंगलो की चादनी, रात्रि वणन, नदी नाले निम्न सागर, झील सरोवर जलाशय वन, पर्वत, उद्यान, सूर्य, चन्द्र तारा, आकाश गंगा, इंद्रधनुष, हिम शोभा, आदि आदि।

भारतीय उप-यासो की वणनात्मक समीक्षा की दृष्टि से आचार्य राजशेखर द्वारा प्रतिपादित देश और काल सम्बन्धी सिद्धांत की विशद व्याख्या, वस्तुतः एक स्वतंत्र गवेषणायुक्त ग्रंथ का ही विषय है। फिर भी उसके विविध पक्षों पर प्रस्तुत अध्याय मे एक विह्वगम दृष्टि डाली जा सकी है। आगे आने वाले अध्याय अर्थात् ‘भारतीय उप-यासो मे स्थान वणन प्रकृति वणन, यात्रा वणन आदि मे ‘देश’ तत्त्व की, आंशिक रूप से व्याख्या हो पाई है। किन्तु काल तत्त्व पर अधिक विवेचन करने का वहाँ भी विशेष अवसर नहीं मिल पाया है। जत औप-यासिक कृतियों मे ‘काल तत्त्व के विविध वणनात्मक रूपों पर भी यतकिञ्चित् धिचार अपेक्षित है।

उप-यास कभी कभी एक काल विशेष का वतमानकालिक’ चित्रण होता है।

अथात् उप-यासकार अपने युग के विश्व की एक रसात्मक, कथात्मक, वणनात्मक भवनक पाठक के समक्ष प्रस्तुत करने में यत्नशील रहा है। समयांतर में ये 'वर्तमान-कालिक' अथवा आधुनिक उप-यास, आगे चल कर 'इतिवत्त' की सामग्री बन जायेंगे। इन आधुनिककाल के चित्रण करने वाले उप-यासों में मुख्यतया सामाजिक एवं राजनीतिक उप-यास होने हैं। उनमें भी उत्तम उप-यासों में उप-यासकार के लिए अपने युग की सांस्कृतिक एवं कलात्मक चेतना को प्रतिबिंबित करने का अवसर मिलना है। इस विशिष्ट पक्ष की दृष्टि से अपने समाज के सांस्कृतिक समारोहों को वर्णित करने के प्रसंगों में उसे नृत्य, संगीत एवं रंगमंचीय पृष्ठभूमि के चित्रण के लिए, इन विविध कलाओं को प्रत्यक्ष करने के कौशल का प्रयोग करना पड़ता है। इसी भाँति अपने युग की स्थापत्य कला, चित्रकला आदि का वणन करने के लिए उसे आधुनिक नगरो के प्रमुख भवनों की निमाण कला तथा कला प्रदर्शनियों से सम्बद्ध वणनी की, अवतारणा करनी होती है।

सामाजिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों को दिखाने के लिए उसे एक ओर अपनी कृति में वर्णित पात्रों की वेशभूषा एवं आकृति-यवहार सम्बन्धी विवरणों की पूर्ति करनी होती है और दूसरी ओर जनसाधारण की सामूहिक हलचल की पृष्ठभूमि की तत्कालीन विशिष्टताओं की अवतारणा करनी होती है। पारिवारिक अथवा कौटुम्बिक उप-यासों में घरेलू वातावरण की प्रत्येक पक्ष एवं कक्ष का सूक्ष्म वणन अपेक्षित होता है। यहाँ भी पान वणन ही अधिकाधिक अपेक्षित होता है।

ऐतिहासिक उप-यासों की रचना के लिए उप-यासकार को स्वयं भी पुरातत्व-विद बनना होता है और तत्कालीन सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के लिए उसे अपने द्वारा चित्रित वणनों एवं प्राचीन पयटकों अथवा इतिवत्तकारों के वणनों के बीच सही तारतम्य बठाना होता है। ऐतिहासिक स्मारक—यथा दुर्ग, राज-महल, देवालय, समाधिस्थल, रणभूतों की पृष्ठभूमि एवं तत्कालीन सांस्कृतिक सामग्रियों से युक्त पुरातत्व-संग्रहालयों द्वारा ऐतिहासिक उप-यासकारको अक्षय वणन-सामग्री प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त पुरातन जीवन का चित्रण करने वाले महान महाकाव्यों के अनिर्दिष्ट उसके लिए कालियास, माघ बाण दण्डी, सुबधु आदि के ग्रन्थों से अक्षय वणन सामग्री उपलब्ध हो सकती है। भारतीय उप-यासकारों ने अपने इतिवत्तात्मक उप-यासों में इनका प्रभूत मात्रा में उपभोग भी किया है किन्तु अनेक अनेक ऐतिहासिक उप-यासकारों का कथन, लिखित अथवा पुरातत्व अधिकारियों के साथ साथ और भी कठिन होता जाता है।

उप-यासकार ने न केवल अपने उप-यासों में भूत एवं वर्तमान का ही चित्रण वणन किया है वरन उसने भावी युग की भी प्रतिभा सम्पन्न चित्रणों प्रस्तुत की हैं। हिंदी उप-यासों में स्व० राहुल साठुत्यायन द्वारा 'बाईसवीं सदी' एक ऐसा ही रामाचारी कल्पना प्रतिम उप-यास है। उसमें आने वाले समाजवादी विश्व की



एक प्रतीयमान झाकी प्रस्तुत की गई है। प्रख्यात आगल उप-यासकार एच० जी० वेल्स ने 'टाइम मशीन', 'शेप आफ थिंग्स टु कम' तथा 'दि वॉर आफ दि वर्ल्ड स' में विज्ञान एव वैज्ञानिक आविष्कारो की भावी मानव समाज पर प्रतिश्रिया की ऐसी तक आधारित एव प्रतीयमान भाँकी प्रस्तुत की है कि हम आधुनिक श्रातिकारी वैज्ञानिक आविष्कारो के प्रकाश में, उनम निहित सत्य वणन का अनुमान कर सकत हैं। इसी भाँति जूल्स वन नामक एक फ्रासीसी उप-यासकार ने मानव द्वारा चन्द्रयात्रा का जो औप-यासिक वणन प्रस्तुत किया है सक्ट ग्रस्त एव आहत अपोलो १२ के याश्रिया ने उसकी भयानक वास्तविकता को अपने प्राण सक्ट द्वारा मसी भाँति स्वानुभवित किया है। इस भाँति उप-यास-गत देश तत्त्व के सम्यक् एव यथातथ्य चित्रण द्वारा उप-यासकार के लिए इस अन्विल ग्रह्याण्ड के श्रिकाल दशन कराने के हेतु, अनत एव अक्षय अवसर वतमान हैं। अभी तक की भारतीय उप-यास कारा की उपलब्धियाँ भी इस क्षेत्र म कम गौरव शालिनी नहीं रही हैं फिर भी देश तत्त्व के अवेपण एव निरूपण म आने वाले उप-यासकार के लिए पर्याप्त साहस पूण चुनौती निहित है, इससे कौन इकार करेगा ?

×

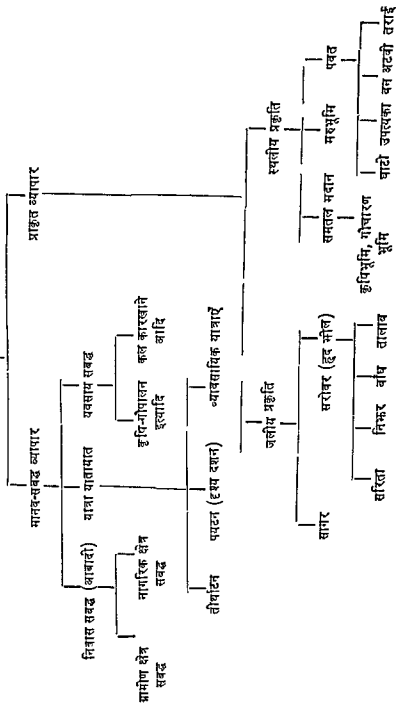
×

×

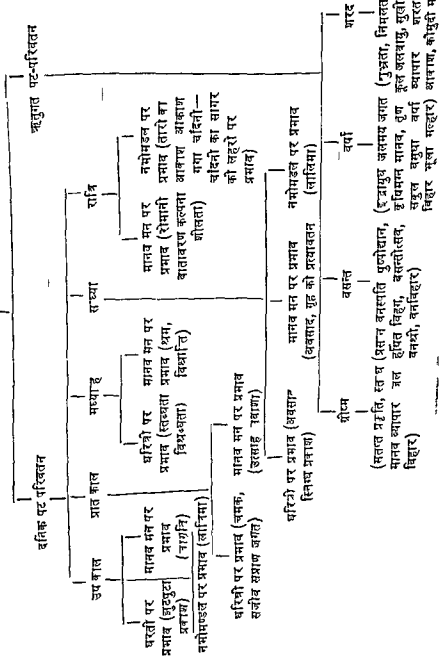
'भारतीय उप-यासो मे वणन के अवसर' शीर्षक प्रस्तुत अध्याय म सक्षेप म औप-यासिक कृतियो म वर्णित वणनवस्तु की एक व्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है। वणन के अवसरों की दो विश्लेषणात्मक तालिकाएँ भी वणन विटपो के रूपो मे यहाँ दी जा रही हैं। दो पृथक् पृथक् वणन वक्षा के रूप म सारी कृत तालिकाओं मे, (१) 'वणन के स्थल एव (२) प्रकृति पट पर समय की धाप शोधका से भारतीय उप-यासो मे आने वाले सभी प्रकार के वणनो को, एक तकवद्ध एव मनोवज्ञानिक शैली मे निबद्ध किया गया है। इन वणन वक्षा के ध्यानपूर्वक अव लोकन से पता चलेगा कि उप-यासकार की सजनात्मक वणन प्रतिभा सवत-त्र स्वत-त्र शाने पर भी तकसिद्ध एव मनोवज्ञानिक सरणियो मे श्रियाशीला रहती है। इन वणन वक्षा की तालिकाओं के द्वारा आचार्य राजशेखर द्वारा प्रतिपादित 'देशकाल सिद्धांत' की युक्तियुक्तता एव वनानिकता, स्पष्टतया समर्थित हाती है।

भारतीय उप-यासों में वणन के अवसर-१

वणन के स्थल



भारतीय उप-यासो में वणन के अवसर—२  
प्रकृति पट पर समय की धारा



## भारतीय तथा हिन्दी उपन्यासों में स्थान-वर्णन, प्रकृति-वर्णन, एव यात्रा-वर्णन का तुलनात्मक पर्यवेक्षण

भारतीय उपन्यास साहित्य (एव तदन्तर्गत हिन्दी उपन्यास साहित्य) में स्थान-वर्णन एवं प्रकृति वर्णन, ये दोनों ही उपन्यासकार को अपना कथावितान खड़ा करने के लिए एक सुदृढ़ आधारभूमि प्रदान करते हैं। काव्यशास्त्र की भाषा में, स्थान वर्णन एवं प्रकृति वर्णन दोनों ही 'उद्घापन विभाग' के अन्तर्गत मान जाते हैं तथा पात्र वर्णन एवं आकृति निदान विषयक विवरण, मुख्यतया आलम्बन विभाग' के अन्तर्गत गिने जाते हैं। किन्तु उपन्यास विधा की 'पुनः मानीकरण वर्णन कला पद्धति' के अनुसार हम अपनी परम्परागत काव्यशास्त्रगत पद्धति को ज्या की त्या नहीं अपना सकते। उदाहरणार्थ 'उद्घापन विभाग' के अन्तर्गत, नायक अथवा नायिका अथवा उनके सहयागी 'सखा अथवा सखी का, वर्णनात्मक' समीक्षा पद्धति के अनुसार उद्घापन विभाग के अन्तर्गत न मान कर पात्र वर्णन एवं आकृति निदान विषयक प्रसंगसे ही सम्बद्ध मानते हैं। साथ ही अनुभावों को, हम, पात्रों की निजी व्यक्तित्वसूचक सूक्ष्म वर्णन भंगिमाओं का ही, प्रतिरूप मानते हैं। सात्विक काविक मानसिक और आहार्य सभी अनुभावों का कुशल वर्णन, कला पटु उपन्यासकार के लिए, कथा में आए हुए पात्र पात्राओं के व्यक्तित्व को रूपायित करने में सहायक सिद्ध होता है।

उपन्यास विधा में स्थान वर्णन सबसे प्राथमिक एवं सबसाधारण वर्णनवस्तु है। जनजीवन के वृत्तमान अथवा अतीत-वर्तमान-भविष्यत्कार को उपन्यासकार प्रतीयमान रूप में अपने शब्द-चिह्नों में उतारता चरना है। तन्मय उसे मानव जाजीविता (यवसाय) मानव निवास (ग्रह ग्राम, नगर) तथा इन दोनों से सम्बद्ध जसम्बद्ध वर्णन पदार्थों की वर्णनात्मक पुनः मृष्टि करनी होती है तथा उनकी शाश्वत पृष्ठ भूमि प्राकृतिक एवं भौगोलिक परिवेश आदि सभी सहज वर्णनात्मक उपकरणों को उग, अपनी वर्णन माला में कलात्मक तारतम्य से विरोना होता है। वेना तथा कृत्रिम, गान्धर्व आदि यवसाया के विभिन्न व्यापारों तथा चार घरा की नहीं आदि बागी बन्नी से सहर महानगरी तक के वर्णन, हम उपन्यासों में मिलते हैं। भारतीय उपन्यासों में

आए हुए ये सरल सहज वणन समूह भारततर उप-यास साहित्य से, कितने विभिन्न हैं, यह भी कोई सदिग्ध या तथ्य, तथ्य नहीं है। उत्तम उप-यासकार का कसौटी तो इसी में है कि वह, इस अल्पत साधारण, दृश्यमान जीवन जगत को, वणनकला की रमणीयता के रंग में रगता चला जाए। भारत की विभिन्न भाषाओं में रचे गए उत्कृष्ट वणनात्मक उप-यासो में वणनकला समृद्ध वणन भारतीय उप-यास साहित्य की अपनी निजी विशिष्टता रहे हैं।

भारतीय उप-यासकारों का सबसे प्रिय एवं सबसे वणनकला बमबयुक्त वण्य विषय भारतभूमि की स्वर्गोपम बसुधा की वे अनंत रमणीय प्राकृतिक छटाएँ हैं जिनके लिए, विदशो व पयटव ही क्या, स्वर्गलोक के सुरगण भी तरसत बताए जाते हैं। भारतभूमि की धरित्री की सारी शतवर्णी ही नहीं है वरन उसके अम्बर की छवियाँ भी, विश्व भर में, अनुपमेय ही हैं। हमारे उप-यासकारों ने उसी धरती और उसी अम्बर की सहस्रा छवियाँ को अपनी वणन ममता से शब्दों में बाँधा संवारा है। महाकवि कालिदास ने जिसे (अपने कायो में) मुक्तहस्त से विखेरा है, उस वणन बमब को हमारे आद्य उप-यासकारों के शिरोमणि बाण ने अपनी कृतियों में इस भाँति एवं भरपूर उडोला है कि उनकी वणन-कला प्रतिभा देशी एवं विदेशी, दोनों ही साहित्य समीक्षकों को इक्का बक्का सा कर जाती है।

जैसा कि पूरे अध्याय में कहा ही जा चुका है हमारे काव्यशास्त्रियाँ एवं साहित्याचार्यों में से साहित्य की वणनात्मक विशिष्टता के विश्लेषण की ओर सबसे अधिक ध्यान आचार्य राजशेखर ने दिया था। उनके समक्ष, संस्कृत उप-यास के स्वर्णकाल की महान वणन कलाभिराम उपलब्धि थीं। इसीलिए जबकि हमारे आद्य साहित्य शास्त्रियाँ ने, साहित्य के 'रस', 'अलंकार', 'रीति' ध्वनि आदि विविध महत्त्वपूर्ण पक्षों की विवचना की ओर अपना समग्र ध्यान लगाया एक मात्र राजशेखर ही ऐसे साहित्यशास्त्री थे जिन्होंने भारतीय वाङ्मय में—(विशेषतया गद्य महाकाव्य के) वणनात्मक पक्ष के विशद विश्लेषण में अत्यन्त मनायोगपूर्वक, मौलिक द्धानबोध की। उन्होंने साहित्य के इस पक्ष का नामकरण—'वैशकाल विभाग' अथवा काल विभाग किया है। इसे अंग्रेजी के कला-समीक्षात्मक पद 'दिदेन मूड से मिलता जुलता माना जा सकता है। वणनकला में, प्रकृति के क्षण क्षण पलटते घेप, छिनिक छवि छिन छिन धारित' वाला रूप ही वस्तुतः वणन प्रतिभा का रहस्य सूत्र है।

आचार्य राजशेखर ने साहित्य समालोचन क्षेत्र में बड़ी विलक्षण एवं मौलिक सूझ धूम पाई थी। भारतीय समालोचना साहित्य में उन्होंने एक ऐसी सहज तथा स्वाधीन चिंतन सरणी का सूत्रपात किया, जिससे कि कितनी ही रूढ़ एवं प्रचलित उलझी हुई समीक्षात्मक धारणाओं का, समाधानकारी हल निकाला जा सकता है। अपने ग्रन्थ की परिसमाप्ति पर आचार्य राजशेखर ने अपने 'रहस्य' की बात भी बता दी है, किंतु बताई है यह उ होने एकदम अपने अन्तिम श्लोक में —

‘इति काल विभागस्य दक्षिणा वस्तिरीदृशो ।

कवेरिह महामोह, इह सिद्धो महाकवि ॥’

(इस भाति, काल विभाग की इस प्रकार की वृत्ति का निरूपण किया गया । इस काल विभाग के विषय में, कवियों को महान् बुद्धिभ्रम हो जाता है किन्तु इस काल विभाग में सिद्ध कवि स्वतः एव वस्तुतः ‘महाकवि’ होता है ।)

इस श्लोक को राजेश्वर ने जानबूझ कर अन्त में दिया है और उनका अभिप्राय यही है कि देशकाल विभाग सिद्धांत को, जिसे मैंने ध्वन्यात्मक शैली में व्यक्त किया है, विरले ही समझ पाएंगे । जो समझ पाएंगे वे सिद्ध महाकवि बन जाएंगे (अथवा सिद्ध साहित्यकारों की वृत्तियाँ का मर्म समझ सकने योग्य बन जायेंगे ।)

राजेश्वर ने इसी श्लोक के ठीक ऊपर के श्लोक में, इस दशकाल विभाजन सिद्धांत के बारे में, असावधान आलाचक्का को एक गम्भीर चेतावनी भी दी है—

‘अनुसंधानं शून्यस्य, भ्रूषणमद्रूषणायते ।

सावधानस्य च कवे, द्रूषणमभ्रूषणायते ॥’

[जा कवि (सृजनात्मक साहित्यकार) अनुसंधानात्मक वृत्ति से शून्य (कोरा) होता है, उसके लिए तो भ्रूषण (अलंकार) भी द्रूषण (मद्दा दिखाई देने वाला) हो जाता है । इसके विपरीत सावधान (अथवा अपनी अनुसंधानात्मक प्रवृत्ति को सतत जागरूक रखने वाले) कलाकार (कवि) की लेखनी द्वारा निःसृत द्रूषण (का यत्न) भी (काव्य गुणों) भ्रूषणों में परिवर्तित हो जाते हैं ।]

राजेश्वर की उपर्युक्त स्पष्ट उक्ति, वस्तुतः पुरातन काव्य शास्त्रियों की गूढ़ व्यजनात्मक भाषा में ही कही गई है । ये जो कुछ लिखते थे, वह केवल अधिकारियों के लिए ही । वे कुछ इस प्रकार भी लिखते थे कि चतुर व्यक्तियों अथवा विद्वानों ही उससे अपना अभिप्राय निकाल लें । किन्तु जिनमें साहित्य के रहस्य समझने के लिए उचित जिज्ञासा एवं आद्य सृजन प्रेरणा की कमी है वे तो इसका अर्थ को अनर्थ के रूप में ही ग्रहण करेंगे । ऐसे लोगों के लिए तो भ्रूषण भी द्रूषण हो जाता है ।

राजेश्वर ने भारतीय काव्य में घणना के समावेश पर विचार करने के अभिप्राय से ही य अंतिम दोना अन्याय लिखे थे । किन्तु पद्य महाकाव्य अथवा गद्य प्रबंध काव्य को, वे कान्ति विभाजन की दृष्टि से समान धर्मों ही मानते थे । गद्य महाकाव्य (उपन्यास) एवं पद्य महाकाव्य दोनों के लिए वे, समान समीक्षात्मक शब्दावली का ही प्रयोग करते थे ।

१ काव्य भोमासा’ (राजेश्वर), पृष्ठ २७४ (काव्य का अंतिम श्लोक) ।

२ वही पृष्ठ २७४

भारतीय उप-यासो में जिन प्राकृतिक स्थलों एवं भौगोलिक परिस्थितियों का उल्लेख हमारे उप-यास रचनाकार प्रायः किया करते हैं उन सबका समक्ष दृश्यपट राजशेखर के सम्मुख था। उन्होंने केवल भूगोल की रत्नाश्री अथवा विशिष्ट ताश्री का औपचारिक रूप से नहीं गिनाया बरन् व साथ ही यह भी बताया चाहते थे कि उप-यासकार अथवा महाकाव्यकार का, अपने देश और काल (काल अर्थात् ऋतुपरिवर्तन तथा तन्नुमाद प्रवृत्ति व पत्र परिवर्तन आदि) पर सदा सावधानी से दृष्टि रखनी चाहिए। उप-यासकार का वायु, वायुकार की तुलना में, कहीं अधिक उत्तरदायित्व का हाता है। कारण कि उस वास्तविक जगत् से भी काम पड़ता है जिसका, कभी भी और कौड़ भी, कटाई के साथ जीव की कसीटी पर रस रचना है।

राजशेखर का बारबार यही कहना है कि साहित्यकार की गुप्तर जिम्मेदारी की भूत जाना, कवि या कथाकार के लिए सबसे अधिक निंदा का विषय है। यदि तब अपने ही देश का प्राकृतिक स्वरूप एवं भूगोल का उत्तम ज्ञान नहीं रखा तो यह भला किस प्रकार उत्तम उप-यास रचना में श्रुतनाय हो पाएगा ?

राजशेखर 'आर्याना' क्षयात् हिंदी प्रश्न को देश का हृदय भाग मान कर, सारे भारतवर्ष का प्रभाव विवरण, इसी विषय विषय शली में प्रस्तुत कर रहे हैं कि जगत् की सभी विषयताएँ पाठक के सामने एक महान चरित् हृदयपट की भाँति गुजर जाती हैं। इस प्रकार की राष्ट्रीय दृष्टि—प्रादेशिक विभिन्नता में राष्ट्रगत सांस्कृतिक पक्षता की अभिव्यक्ति का मौलिक उद्देश्य ही उप-यास लेखक को उत्कृष्ट कथाकृतिक सज्जन में समर्थ बनाती है। राजशेखर ने सभे में सबसे शारदा की पृष्ठों में ही भारत भारतीय राष्ट्र के विविध भूभागों के कानों की निराशा के लिए, अपनी काव्य-भीमोगा में विमलक सामग्री जुटायी है।<sup>1</sup>

मुद्रितगिता सम्पन्न साहित्य के सबसे अधिक उप-यासकार, सुरगुण के अतिरिक्त वागव्यक्तता उप-यास में, उत्तमोत्तम यथाशास्त्र विषयमाता की विज्ञान मातागत दूरक मन्त्राणा है इसका आद्य परिषय अनुप अथवाय भारतवासि साहित्य में उप-यास में किन्हीं सभे में किन्हीं प्रकार (संस्कृत उप-यास साहित्य का स्वरूप) के लिये किन्हीं साधुता है। किन्तु भारत उप-यास साहित्य में (और किन्हीं साधुता के लिये किन्हीं उप-यास साहित्य में भी) साधारणतः के लिये यथाशास्त्र उप-यास है। किन्तु सुरगुण ही हमारे उप-यासकार हैं (संस्कृत साहित्य के लिये किन्हीं साधुता के लिये किन्हीं उप-यास साहित्य में भी) भारत उप-यास में किन्हीं साधुता के लिये किन्हीं उप-यास साहित्य में भी भारत उप-यास में किन्हीं साधुता के लिये किन्हीं उप-यास साहित्य में भी —

‘उस सागर तट के किनारे पर अतिचपल लहरें आ जाकर टकरा रही थीं अतः वह ताण्डव मृत्यु में, अपनी भुजाएँ उदमाहू फलाए हुए, तण्डपरशु (शिव) की भ्रांति करा रही थी। तट प्रदेश पर वरुणदेव की विजय पतानाजा के समान, अजगरो की कंचुलियों के समान, अमृत की सहचरिया के समान, चाँदनी की सगी बहिन के समान, चन्द्रमण्डल के चारों ओर नौहारिकाओं के परमाणु समूहों के समान, लक्ष्मी के विलास के लिए निर्मित, मंगलजनक लेपन की धाराओं के समान तथा जलदेवियों के माथ पर शोभित चन्दन लेपना के समान फेन समूह से मण्डित व लहरियाँ, उस सागर वेला की, रमणीयता प्रदान कर रही थी।

‘मानो वहाँ दूसरा नमोमण्डल ही घरा पर उतर आया होय। इस भाँति वह महासागर अपने निमल जल से उठने हुए जलकणों के मिस, माना, मोतिया से, आकाशचारी विद्याधर आदि को लुभा रहा थावे। जिसका अम्यतर प्रदेश, इन्द्र के कौप से प्राण पाने के लिए आए हुए कितने ही सपट्ट पवता से परिपूर्ण था। जिसे कभी सगर पुत्रों ने खोद डाला था और जिसका जल, बडवानल के मुग्ध म प्रवण कर रहा था, ऐसा वह महासागर, विशुद्ध निमल मणिया एव रत्नों की गान था।’

वह महासागर जलहृस्ती तथा मकर आदि भीमकाय जल जन्तुओं से परिपूर्ण था। जिसके नाके (नङ्ग—लघु आकार के मकर) मछलियों के समुदाय को मक्षण करने की इच्छा से इधर उधर गतिमान थे। अनेक तिमियाँ (महामत्स्य) तथा उनका भी मक्षण कर जान वाले तिमिगल (ह्वेल महामत्स्य) वहाँ निश्चय पड़े हुए थे।

वह सागर तटवर्ती प्रदेश बदलोयन का रक्षिका द्वारा पालित था और इलायची लवलीलता, लौंग, और बिजारा नींबू के गुल्मा से, परिख्याप्त हो रहा था। उस सागरतट की छाटी छोटी सवार तथा वायुवेग के धारण मकर शक्त युक्त हिलते हुए तालपत्रों के चपल हाँ उठने के कारण, मयभीत पतमानुषों के जाड़े, वहाँ की धरती को मसलने में व्यस्त थे। उससे ऊपर उठी हुई सवार नीचे जल में डूब कर, सागर की सतह से एकाकारहा गई थी और सागर का जल विद्रुम कुजो (भूमे के पेड़ा) की शाखाओं की नोकें टूट जाने के कारण तथा छाट डाले गए व तीक्ष्ण अग्रभागों के क्षत विद्यन हो जाने के कारण, पदिराज गण्ड के वशधर, मडरान हुए गरुड पक्षियों से, आवत्त सा हो रहा था।’

प्रेमव दवालीन हिन्दी उपयासकार श्री चण्डीप्रसाद ‘हृदयेश ने भी सस्वृत उपयासोपम शली में ही सागर का एक वर्णन जलामिराम श दचिन, प्रस्तुत किया है जो सुब धु के लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष पश्चात रूपायित हुआ है। वह हमारी उप यासगत वर्णन कला की एकात्मकता का भी परिचायक है —



‘उस समय सूर्यास्त वा समारोह हो रहा था। सामने जहा तक दृष्टि जाती थी वहा तक अगाध गम्भीर विशाल महासागर, हिल्लोलित हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है माना पृथ्वी और आकाश के बीच में यह विशाल जलराशि विस्तृत है। मानो इसका एक कूल है, मत्स्यलोक, और दूसरा है स्वर्गधाम। यद्यपि इस समय समुद्र शांत था, फिर भी उसकी भीमकाय तरंग राशि, एक दूसरे का आलिगन कर रही थी। पश्चिम कूल पर स्थित होकर सूर्यदेव, उस गम्भीर सलिल राशि को, मानो विमुख नयनों से देख रहे थे और उसके विशाल वक्षस्थल पर उनकी प्रोज्ज्वल वाति, सुवर्ण सतु के समान विस्तृत थी। सागर को लीलामयी तरंगमाला सूय किरणों की चूड़ामणि धारण करके अशेष उत्साह के साथ नृत्य कर रही थी। विशाल हस थैली के समान, कहीं कहीं पर, पालदार नौकाएँ झूमती हुई तर रही थी। “महासागर के उस विशाल उमुक्त स्वरूप को देख कर, हृदय की सारी क्षुब्ध भावनाएँ उसकी गम्भीर सलिल राशि में विलीन हुई जा रही थी। उसका वह महिमामय विस्तार देख कर, मन का समस्त अहंकार जा त्रिक आनंद में विलुप्त हुआ जाता था। भारत जननी के श्रीचरणों को चूमता हुआ महासागर, प्रचण्ड उद्घोष के साथ भगवान की लीला भूमि का जय जयकार कर रहा था।’

भारतीय उप-यासो की वर्णनकला का एक विशिष्ट अंग रहा है ऋतु वर्णन। ये विविध ऋतुएँ जिनकी निसर्ग शोभा को लेकर भारतभूमि पर अवतरित होती हैं, बसी, विश्व के किसी भी देश पर नहीं। ‘वासवदत्ता’ उप-यास के उपसंहार भाग में ही सुब धु ने ऋतु वर्णन सम्बन्धी कुछ बड़े सजीव वर्णन दिए हैं। वे अपनी कला मिराम चित्रविचित्रता के कारण, ऋतु वर्णन की रूढ़ परम्परा से, पर्याप्त निराले जान पड़ते हैं। सुब धु द्वारा पहले वर्षा ऋतु का वर्णन और तदनंतर शरद ऋतु का वर्णन—दोनों ही बड़े हृदयप्राही रूप में चित्रित किये गये हैं —

‘मघमालाया के नीचे उड़ती हुई बक पत्तियाँ ऐसी जान पड़ती थी मानो अत्यंत व्यास की आनुरता के कारण, सागर के जल का पान करते समय, मघ ने, जल के नीचे स्थित शंखा को भी, पी लिया थावे। उसी काल में शस्यो से श्यामल, चौकोर धान की क्यारिया, शतरज के पट पर बने चौसर के खानों के समान जान पड़ रही थी। उन क्यारियों में, एक से दूसरी क्यारी में उछलते हुए पीले और हरे रंग के मेढकों के शिशु, मानो लाख के बने हुए मुहुरों की तरह, धर बदल रहे थे। विजली की छटा उस समय ऐसी प्रतीत हो रही थी माना सूयस्फी दीपक से निकलने वाली लौ से काली पड़ी हुई मेघ रूपी कसौटी पर, वर्षाऋतु रूपी सुनार ने, सोने की रेखा खींच दी होवे। जलकण, चंचल विद्युत् लताएँ करीत और माना से विदीण

मेघरूपी बाष्प पर, वायुवेग के कारण उड़े हुए बुरादे के समान शोभित हो रहे थे । ओले, दिग्बधुओं के टूटे हुए हार की मुक्ताभा अथवा तेज हवा से उड़ते हुए मेघरूपी चक्की में बिसने के कारण, चुरा हुए तारागण, माना मदन-देवता की विजय यात्रा के अमिनजन में, बिछेरी गई खीलों के समान जान पड़ते थे । इन्द्रगोपा (धीरबहूटी) से चित्रित नई नई दूब से बिछे मैदान, धरारूपी रमणी के, लाक्षारस से अंकित, बुदकियों वाले, तोतापक्षी वण के हरे रंग के दुपट्टे की तरह शोभित थे । इस माँति जब वर्षा हयी परिचारिका ने, धरारूपी स्वामिनी को मेघरूपी कलश-जल से स्नान कराया और वह विदा लेकर गई, तब शरदरूपी दूसरी परिचारिका उसकी सेवा में, सुघ्न आकाशरूपी वस्त्र लेकर आ उपस्थित हुई ।"

प्रेमचन्दकालीन उपन्यास लेखिका आ म स्व० श्रीमती उपादेवी मित्रा का नाम, वर्णनात्मक कला में भावमयी शली का समन्वय करने के कारण, पर्याप्त महत्वपूर्ण है । उनके तीना उपन्यास ('पिया', 'जीवन की मुस्कान', तथा 'अन्तिम आकाश') ही अपने कलाभिराम वर्णनों के कारण, चिरस्मरणीय हैं । उन्हीं में से 'पिया' उपन्यास के अन्तगत आए हुए इस वर्षाकालीन वर्णन चित्र की कलात्मक व्यञ्जना भी दशनीय है —

दोष अवगुण्टन की आड में, आकाश की नीली आभा, मर मिटी थी । आकाश की उस घुसर परछाई के भीतर, नीचे, पृथ्वी, एक बिरह विधुरा तरुणी सी, उदास बठी थी । रिमझिम रिमझिम मेह बरस रहे थे और स घ्या उन न हीं बूंदों के गले में बाँह डाले, ग्राम प्रागण में जलसा सी रही थी । चहूँ ओर व्यापी थी गहरी त द्रा । ग्राम्य पथ थे निजन । पर था पक्षिम का विचित्र कलरम । दिन के प्रकाश की रोप रखा का विदा देने का, वह शायद करुण विलाप रहा हो । अथवा श्रद्धापूर्ण बदना-गायन, शायद रात्रि रूपसी के लिय आरती की कलतान ही हो । कौन जाने पक्षा हृदय की वह कोई गोपन कहानी हो । कदाचित्त वन गहन की अनोखी वार्ता का शब्द विन्यास या कबल सुर भवार ही रहा हो । कृपक अपनी शांत कुटीर की स्निग्ध छाया में ऊँघने लगे थे ।"

कन्नड भाषा के उपन्यासों में भी वर्षा ऋतु के अनेकानेक सुन्दर वर्णन पाये जाते हैं । श्री शिवराम कारत कृत 'मोगापडेद मन उपन्यास में पावस में मयूर नृत्य का निम्न वर्णन भी पठनीय है —

'अकस्मात् मोरो का केकारव सुनाई पडा और ऐसा लगा कि कोई आपत्ति

१ वासवदत्ता (सुब धु) पृष्ठ २४७ २४६ ।

२ 'पिया' (उपादेवी मित्रा) प्रथम संस्करण १९२७ ई०, अध्याय १ पृ० ३ (प्रस्तुत संस्करण १९५६) (नेशनल पब्लिशिंग हाउस दरियागज दिल्ली) ।

आने वाली है। आसमान को देखता है—मेघ, घन घने होने जा रहे हैं और बहुत घनी श्यामता भलबने लगी। एकाध गजन भी सुनाई पड़ा। देवत दग्गते ही गाँव मर के मार वहाँ माना उनका हाटगजार लगा हो, इस भाँति, एकत्रित हो गए। बिजली के गजन व चमक स के भयभीत हो गये हैं चार पाँच मोर अपने पक्ष पसार कर हजार आँसो वाला पला लोल कर, एक ही लगन म नृत्य करने लगे।<sup>१</sup>

जसा कि वहाँ ही जा चुका है ऋतु-वणन' म सुवधु बड़े वणनपटु एव सूदम दर्शी उप-यासकार हैं। यहाँ उनकी 'वासवदत्ता' के एक शरद-वणन की शब्दचित्रण कला भी अवलोकनीय है —

'शरदऋतु' के प्रारम्भ होने पर, जब कि सजरीट पगी, स्वेच्छा स विहार करने लगे त्रौच पक्षिया वा परिभ्रमण निर्वाप हो गया तथा वृक्षा की शाखाएँ, मरद्वाज पक्षिया की फलकल स गूच उठा प्रातःकाल सूब चमकदार और निमत था। घाना के सेन, उडत हुए तोता के शब्द स गज रहे थे। राजहम अपने अपने पूर्वग्याता मे जा पहुँच व। जाकाश मण्डल वृष्ण-वधू की घनश्याम छवि धारण कर चुका था। इस वरस चुके श्वेत मेघों से होड लगा रह थ। चन्द्र किरणें, शुभ्र एव उज्वल थी। पश्चिम जन रास्त क सेतो स गने तोड रहे थे। सारसा के मधुर फलरव स सरोवरा की शोभा दुगना हो रही थी। मुस्ता (कसेरु) के प्रेमी सूअर अपनी थ यनी से सरावरा के किनारो को लाद रहे थे। चातक गण भयभीत थे कि मेघ के दशन कही नहीं हो पात। तारे गूब खिल रह थे और चमक रहे थे। चन्द्रमा पश्चिम दिशा के तिलक के समाप्त शामा ग्रहण कर चुका था। जल अत्यत निमल एव स्वादिष्ट हा चुका था। बक पक्षियाँ मद्दलियों के ध्यान मे ध्यानावस्थित थी। सप सकुचित हाकर बिला मे छिप चुके थे। वायु सुगन्धित श्वेत पन्ना के पराग से, गन्धुक्त था। मयूरा क परा शड रहे थे। कोयटि (रगीन मछली खोर पक्षी) शब्द कर रह थ। घातराष्ट्र नामक इस विगेप सतुष्ट जा पड रह थे। मृगो के भुण्ड सेता वा रतवाली महिताओ क गीतो की धुन सुन कर, आनदमग्न थे। इन्द्रधनुष टूक टूक हो गया था। दसा दिशाए सुवासित केसर पराग स पीली हो चली थी। कमल खिलने लगे थे जोर जा बधूक, गुडहर पुष्प के ब धु के समान है वह और भी शोभा के साथ उस (गुडहर का) रिभा रहा था।<sup>२</sup>

सुवधु वर्णित उपयुक्त शारदी प्रकृति वणन की पङ्के पर सहसा, आधुनिक उत्कल उप यासकार श्री गापीनाथ महाती के महा उप यास 'जमृतर सतान की सुधि आ जाती है। इस विलक्षण उप यास म लगभग ६०० पृष्ठा म, उड़ीसा क आदि वासिया के जीवन का जसा जाश्चयजनक चित्रण श्री महाती ने किया है वह समग्र

१ 'भोगापडेद मन (शिवराम कार त) पृष्ठ १२६, अध्याय ७।

२ वासवदत्ता (सुवधु) (पृष्ठ २४६ २५०)

आधुनिक भारतीय उपायामो साहित्य मे अपनी अत्यन्त वणन क्षमता के कारण अनुपमेय है। यहाँ शारदी नसर्गिक शोभा से चित्रविचित्र उत्कल की वन-पवत उपत्यकाओ का एक अत्यन्त सूक्ष्म कलात्मक भगिमाआ से अचित, अविस्मरणीय वणन उदाहृत है। इस वणन मे चाक्षुष एव सस्वन, रूप एव ध्वनि का, बडा ही मनोहर सम वय हुआ है —

‘माघ बडा है। बडी ठड है। अथरी राता को, डलुआनो जीर गडडो मे, सिफ कुहरा ही कुहरा लहराता रहता है। तारा की झिलमिल ली मे कुहासा मुक मुकाता सा दिखाई पडता है। कुहासे के अदर, जहा तहा, अलावो की लवें, तिरतीं सी, हिलोरती सी, नजर आती हैं। दूर से देखने पर, बाघ की जाँखा की तरह दमकती हैं।

हिरणो और सामरा के घुड ‘पें प,’ ‘म मे’ करते उतरते हैं और कादुल के खेतों मे घुस पडते हैं। मचानो पर सिधे बज उठते हैं। चारो ओर से विकट विकराल कलरव सुनाई पडता है। शोर मच जाता है। लोग बनस्टर पीठने लगत हैं। टमक बजाने लगते हैं। कमी कमी महाबल बाघ मचानो के नीचे से दुमदुमाते, गरजते और पाहुलो की ‘थप थप’ थाप से, जगल कपकपात निकल जाते हैं। मचानो से गड गड पानी घू पडता है। पेड झमाझम करके काप उठने हैं और उनके पत्ता से धूल पड पडती है।’

‘और आग धरती सक्री होती चली गई है। चारो ओर के घूप कुहरे मिले, झिलमिल आसमान मे, पहाड की अथेली चाटी, सिर ऊँचा किए खडी है, और प्रश्न बाघी मुद्रा मे ऊपर की ओर निहार रही है। पर इस प्रश्न का कहीं कोई उत्तर नहीं है। दूसरी ओर घोडा घोडा डालू, एक बडा सा सूना मदान है। मदान बहुत धीरे धीरे नीचे को, उतरता चला गया है। मदान के ऊपर जहा तहा, अनगिनत खोह और गुफाएँ हैं। उही के आसपास, बडे बडे क दे होते हैं। खूब मितते ह। यही क-घनियो का कायशेध है।

‘सिर के ऊपर पेड पर धैठा खूब बडा सा, एक झालर पखा मोर, घूप सेक रहा है। उस पार के खडख म अनगिनत मोर रहते हैं। जगल के अदर मे जगली मुरगों की बागें आ रही हैं। जहा तहाँ, जगली मुरगो क परिवार अकड अकड कर घूम रहे हैं। घोडी देर और घूम फिर कर ये सब न जाने कहा लापता हो जायेंगे।’

१ ‘अमतर सतान (श्री गोपीनाथ महा ती) अध्याय ४, पृष्ठ २५ २६। १९५८ ई०, साहित्य अकादमी नई दिल्ली)।

यह कहा ही जा चुका है कि 'हृष चरित एव 'कादम्बरी' के विलक्षण स्रष्टा महाकवि बाण वणनात्मक कला के प्रती ये । उ होने भारतीय क्षितिज के, सबेरे से साँझ, साँझ से सबेरे तक के, क्षण क्षण बदलते हुए दृश्यपटा के असख्य वणनो से, अपने दोनो महान गद्य महाकाव्यो को एक कुशल जडिया की भाँति जडा है । उनमे केवल कुछ अविस्मरणीय वणनो का उल्लेख यहा इसलिये किया जा रहा है कि जिससे हम, उही के प्रतिरूपो को, अपने आधुनिक भारतीय उपयास साहित्य मे सहज ही पहचान पाएँ तथा इस भाँति, अपने राष्ट्रीय लोकगद्य महाकाव्य मे पाई जाने वाली, एकात्म राष्ट्रीयता एव देशानुरक्ति की एक समान झलक के, दर्शन कर पायें । यदि केवल 'कादम्बरी'-गत स्मरणीय स्थान प्रकृति याथा-वणनो की ही अनुश्रमिका बनाई जाए तो वह भी बहुत लम्बी हो जाएगी । तथापि अति उल्लेख्य वणन ये हैं —

'अनुच्छेद ३—राजा शुद्रक की राजधानी विदिशा की एक झलक, अनुच्छेद १७—विध्याटवी वणन अनुच्छेद १८ १९—पंचवटी आश्रम वणन, अनुच्छेद २०—पपा सरोवर वणन, अनुच्छेद २१ २३—शाल्मली वृक्ष वणन, अनुच्छेद २४—प्रभात प्रकृति वणन, अनुच्छेद ३६ ३७—जाबालि आश्रम वणन, अनुच्छेद ४२—साध्य प्रकृति वणन, अनुच्छेद ४३—प्राची दिशि मे चन्द्रोदय वणन, अनुच्छेद ४४ ४५—उज्जयिनी-नगर वणन, अनुच्छेद ९४—सध्याकालीन नगरी वणन १२७ १२९—अच्छोद सरोवर वणन अनुच्छेद १६५—चन्द्रोदय के समय वय प्रकृति रूप वणन, अनुच्छेद १९०—श्री मण्डप नामक राजप्रासाद वणन अनुच्छेद १८८ २००—मणिगृह तथा क्रीडा-पवत वणन अनुच्छेद २०८ २०९—श्रीधमकाल मे हिमगृह प्रासाद वणन, अनुच्छेद २१५—सूय महाटवी वणन, अनुच्छेद २१६—महिषामुरमदिनी देवी-मन्दिर वणन अनुच्छेद २४४—वन पयटन के माग मे साध्यकालीन वणन, आदि ।

बाण कृत 'हृष-चरित' मे भी ऐसे अनेकानेक वणन हैं जिसके प्रतिरूप हम भारतीय उपयासो मे स्थान वणन आदि का सर्वेक्षण करते समय, जहाँ-तहाँ बिलेरे हुए मिल जाते हैं । यथा—अनुच्छेद ६२ ६३ में राजकीय अश्वशाला वणन, अनुच्छेद ६४ ६९ मे राजकीय गजशाला वणन, अनुच्छेद ११२ मे श्रीकण्ठ नामक आदिवासी ग्राम वणन, अनुच्छेद २०४ २१३ मे हृष की सेना के युद्ध प्रयाण का एक वणन, अनुच्छेद २१८ २१९ मे वनग्राम के घरों का शब्द चित्रण, अनुच्छेद २३१ २५८ में विध्याटवी एव उस मे सध्याकालीन शोभा-वणन आदि ।

बाण द्वारा चित्रित ये वणन केवल उनके दो उपयासों के वणन ही नहीं माने जाने चाहियें वरन वे समग्र भारतीय जीवन की एक प्रामाणिक झँकी के रूप मे ही अवलोकनीय हैं । वस्तुतः कादम्बरीकार बाणभट्ट ने भारतभूमि की चित्र विचित्र एव

दूर दूर तक परिव्याप्त वणन शोभा को मानो एक ही स्थान पर ला रखा है। बाण ने भारतीय उपन्यासों में ऋतुवणन की एक ऐसी मौलिक एवं चित्रोपम वणनकला का आविष्कार किया है, जो रूढ़ महाकाव्यगत ऋतुवणन की रीतिबद्धता से, सवया-मुक्त है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के शब्दों में —

‘भारतीय प्रकृति के पट परिवर्तन में बाण ने कितने प्रकार के रंगों को अपने शब्दों में उतारा है—अकेले इसका विचार भी कम रोचक नहीं होगा। जब वे शीत ऋतु की प्रातःकालीन धूप की उपमा चमकते करते फूल (कांती) के बतनों से देते हैं तो ऐसा लगता है कि जानी पहचानी वस्तुओं के निरीक्षण और वणन में, वे कोई नया अध्याय जोड़ रहे हैं। वृक्षों और पुष्पों के सम्वन्ध में बाण की सामग्री, भारतीय वनस्पति जगत् का समृद्ध चित्र ही माना जा सकता है।’<sup>१</sup>

उपन्यास साहित्य में, प्रकृति वणन एवं ऋतुवणन, भारतीय उपन्यासकारों की वणन प्रतिभा के, प्रिय एवं कलानिराम वणन विषय रहे हैं। गुजराती उपन्यासकार श्री पन्नालाल पटेल ने अपने वणन कला मनोहर आचलिक उपन्यास मानवीनी भवाई में ऋतुवणन तथा जनजीवन का अनुपम समन्वय किया है। वणन बड़े सरल एवं ममस्पर्शी हैं। उनमें, रूप और नाद को व्यक्त करने वाले एक से एक व्यजना प्रधान शब्दों का चयन किया गया है। आषाढ के प्रथम मेघ के आगमन से, इस रमणीय वणन पटी का प्रारम्भ होता है —

‘आषाढी तीज की रात को, आकाश में बादल उठे। रात के पिथले पहरा में, घरती पर मेह बाबा ने घमासान मचा डाला। मुर्गा बोलने तक तो घरती और आकाश एकमेक हो गये। बाट देखते देखते तो पहला मेह आया। वह पवती की हारमालाओं में होकर, गडगडाहट करता जा रहा था। वह अपने बिजलियों और बादलों के लश्कर के साथ न जाने कहा गाय हो गया। लोगों ने जो उठ कर देखा तो एक रात में ही बस दो चार घड़ियों में ही, घरती में मानो फिर प्राण डाल गया। झाड़ झुकाड़ों जसी मालुम देने वाली वही बनराजि इस एक ही रात में कहीं नय-नये पत्तों से न भर आई होवे! कहीं उसे नजर न लग जाए इस विचार से वह नीला रंग धारण करके मानो मुलक मुलक कर हस रही होवे! पक्षीगण भी मानों बरखात के साथ ही, न जाने किस काने में स टोलियाँ घोंघ घोंघ कर आ ही न पहुँचे।’<sup>२</sup>

१ डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (‘हृद्य चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन’) (भूमिका भाग—४)।

२ मानवीनी भवाई (पन्नालाल पटेल), पृष्ठ ५३।

'सायन की ये अनोखी रात ! घड़ी में चाँदनी घमराती है तो घड़ों में अँधेरी की चादर ओढ़ लेती है। बागजा का रोना थम गया। गोशाला में बँधे हुए बोरों ने भी अपनी पास सतम कर ली। पुरुष वग 'नी मरजा के खेतों के निकट सोने के लिए चला गया। सारे त्रिवस की उनीची मित्रियाँ भी पास खीन कर लाने के कारण थक गई थी। वे भी अपनी गाटा से लग कर सो गई थीं।

'उतरते हुए मादुए की साँग थी। सारे त्रिवस बूदाजादी न होने पर भी, सिरा के ऊपर वादना की घूप छाँट ता चानू थी ही। मक्का व पक्के हुए खेतों पर होकर, शाम की बपार बह रही थी। उम म'द म'द गति से बहती हुई मक्की की बीमन का अनुमान करते हुए किसान साग, मस्त हुए फिर रहे थे।'

'हय परिस में बाण ने वनग्राम की साक्षात्कृत दृश्यपटियाँ प्रस्तुत की हैं जनजीवन का ऐमा वयाथ एव म्दम चित्रण तो हमारे आधुनिक उप-यासकारों की श्रुतिया म भी विरल ही है —

'वनग्राम के घर एव दूसरे से काफी फामने पर थे। उनके चारों ओर, भरकत के जसे चिन्ने, हरे रग वाली सेट्टुड (सनुहा) की वाड लगी थी। धनुष बनाने के योग्य, बड़े पनले वाँसों की वमवारी, पास में उग रही थी। करजुए के काटेदार वृक्षों की पक्ति म रास्ता बना कर घुमना मुश्किल था। एरण्ड बचा वगक (वगुन), तुलसी सूरण क'द सोहीजन (शिग्रू) घठीवन (प्रधिपरणी) गरवेरना (गवेधुव) और भरना घान, (गमुन) गुलम घरों के साथ लगी हुई वारियों मे भरे हुए थे। ऊँची बल्लिया पर चढाई हुई लौकी की बलें, फलकर छाया दे रही थीं।'

'वेरी के गोजमण्डपों के नीचे खँर के मूटे से, बछड़े बांध दिये गये थे। मुरगों की कुकुहूँ कूँ स पहचान मिलती थी कि घर कहीं कहीं बसे हैं ? आँगन म लगे अगस्त्य वृक्ष के नीचे चिड़ियों को चुगगा विलाने और पानी पिलाने की हौदिया बनी थी। लाल-लाल धरों की चादर भी बिछी थी। धरों की दीवारें वाँस के फटटे तरकुल और सरकण्टों की जोड कर बना ली गई थी। फोयले के डेरा पर, बथइ (बतवज) पास के मडवे छाए गये थे जिन पर, पलाश व पूल और मोरोचन की सजावट थी।

'उन घरा म, चतुर गृहस्थियों ने कई काम की चीजें बटोर कर रख छोडी थी जसे समल की रई, नलशालि, कमल की जड खण्ड शरकरा, फमल के बीज (मखाने) वाँस तडुल और तमाल के बीज। चटाइयों पर, गम्भीरी के डेर सूख रहे थे और वे घूल के कारण, कुछ मटमले लग रहे थे। खिरनी और मँनफल, सुखा कर रखे गए थे। महए का आसव और चुआमा हुआ मद्य, प्राय हर घर मे मौजूद था।

प्रत्येक घर में कुसुम्भु कुख आदि फल भी थे । अटवी कुटुम्बियों के उन घरों में, खास (राजमाश), खीरा (नकुश), ककड़ी, कोहड़ा और लौकियों के बीजों से, बेलें, चल रहीं थी । घरा में बन बिलाव, नेबले, मालुधान और शालिजात (अनात वयवशुओं) के बच्चे, पले हुए थे ।<sup>१</sup>

अनेकानेक आधुनिक भारतीय उपन्यासकारों ने भी, बाण की भांति ही, ग्रामस्थी वणन में पर्याप्त वणन लालित्य दिखाया है । उदाहरणार्थ बगला के रयात नामा वणनकला विशारद उपन्यासकार, श्री ताराशकर बद्योपाध्याय के 'कालिन्दी' उपन्यास के अंतगत आए हुए, एक सथालों के ग्राम का कलामिराम वणन दशनीय है । उसमें भी बाण के समान ही उपन्यासकार की निजी निरीक्षण प्रतिभा को, उत्कृष्ट विकास मिल पाया है —

'ऐसा विचार कर उठोने (रगलाल और सुनीति ने) सथालों के गाँव में प्रवेश किया । झक झक, चम चम गाढ़ । पथ अथवा आगन में वही भी गद्गरी का नाम नहीं है । इस समय भी गाँव के आसपास, गाएँ, भसँ और बकरिया, चरती फिरती हैं । खाद के ढेर पर, मुर्गिया, दान चुगने में व्यस्त हैं । आगन के आसपास लकड़ियों पर सेम, लौकी तथा कुम्हड़े के पौधे, वासुकि के समान हजारों फन फना कर, बढ़ते चले गए हैं । घरों के चारों ओर, सरल रेखा की तरह सीधा बाध, तैयार किया गया है । उसी के ऊपर पक्ति बाध कर काँटे लगाये गए हैं । बीच बीच सट्टिजन की डाल और गड़ समेत बास लगा कर, उन्हें काँटों से घेर लिया गया है ।'<sup>१</sup>

'गाव के दूटे हुए किनारे के पास काली (नदी) का बालू से भरा हुआ पेटा, चत के तासरे पहर, उगस होगया था । काली के उस पार का दियारा है, सवनाशी दियारा चेत के प्रारम्भ में कीमल कीमल घास की पत्तियों में निक्ल कर दियारे पर, जैस हरा मगमल, बिछा दिया है । हल्की हरियाली के बीच, सथालों के गाव में, गोबर और मिट्टी से लिपे पुते, चून से रगे हुए घर जैसे चित्र की तरह सुंदर हैं । थोड़े ही दिना में बस्ती कितनी बड़ी हो गई है । वह पूरा एक गाँव ही बन गया है । बस्ती से होकर, एक सुंदर रास्ता है । हरियाली के बीच एक टेढ़ी मेढ़ी रेखा, नदी के किनारे से निक्ल, सथालों की बस्ती पार करती हुई, भदान से होकर, उस पार के गाव की धनी धन रेखा से मिल गई है । सथालों की बस्ती के आस पास ओक मये दृशों के,

१ 'हृष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन' (वामुदेवशरण अग्रवाल), से उद्धृत 'हृष-चरित (बाण मठ) उच्छवास ७, पृष्ठ २२७-२३० ।

२ कालिन्दी (ताराशकर बद्योपाध्याय), (रचनाकाल १९४० । सन् १९५१ ई० के हिन्दी रूपान्तर से) अध्याय १३, पृष्ठ १५५ ।



नये पत्ते दिखाई दे रहे हैं। (मुनीति के) नेत्र शीतल हो गये, परंतु वे एक लम्बी साँस छोड़ने से अपने को न रोक सकी।<sup>१</sup>

बगला भापा के एक अर्थ होनहार एवं प्रतिभाशाली उपन्यासकार थे स्व० माणिकलाल बघोपाध्याय। उन्होंने 'पुस्तुल नाचेर इतिकथा' (कठपुतलियों की राम कहानी) नामक एक अत्यन्त अद्भुत उपन्यास की रचना की थी। यह उपन्यास, अनेक भाति, अनूठा है। यहाँ, 'उसी से, गावदिया ग्राम' का, एक चित्रात्मक वणन उदघृत किया जा रहा है। उपन्यासकार की साक्षुप एवं दृश्यमान दृश्य चित्रण प्रतिभा, यहाँ स्थानीय है —

'पुल पार करने के बाद, रास्ते के दोनों ओर, सिर्फ जोते हुए खेत हैं। इसके बाद गाव। इस ओर आबादी कम है। रास्ते के दक्षिण में झाड़ भूसाडों के बीच, अलहदा बने हुए, चार दूटे फूटे मकान अदर बाहर बारिश से भीग गए हैं।'<sup>२</sup>

'यह इलाका पार करने के बाद घनी आबादी मिलती है। इधर घर-द्वार सुधरी हालत में नजर आते हैं। रास्ते के दोनों ओर से, दाएँ एक छोटे रास्ते टोलो की ओर जाते दीख पड़ते हैं। बीच बीच में, केले के बगीचे, सुपारी की पाते, और बाँस की कोठिया, दाएँ बाएँ मिलती हैं। आम का बाग अँधरे में, जगल सा लगता है किसी किसी घर के सामने कामिनी गचराज, और अड्डल की पुन बगिया बनाने का क्षीण प्रयास दिखाई पड़ता है। धीरे धीरे दो एक पक्की, इमारतों के भी दर्शन होने लगते हैं। ये इमारतें पूरी पक्की ना या समर्थ कि एक जगह दो कमरे पक्के हैं, तो बाकी, सन के छाजन वाले और बास की सपन्चियों की दीवार वाले हैं। यही, गाव का अपना चिरन्तन घोसला है।'

'रास्ते के मोड़ पर मौलथी का एक पेड़ है। उसके तने को घेर कर, एक पक्का चबूतरा बना है। तिपहर को रोज वहाँ पर एक सरकारी अड्डा जमता है। पेड़ के नीचे सूची टट्टिनियों और पक्के कच्चे पत्तों के साथ, चबूतर पर एक लत्ते से लपेटे हुए गुडिया पड़ी है। बैसाखपुर के मेले में श्रीनाथ की दुकान पर, घटा भर आराम करने के एवज में उसकी बच्ची के लिए शशी ने एक गुडिया खरीद की थी। तिपहर को बारिश रुकने के बाद, यहाँ पर श्रीनाथ की बिटिया, खेलने आयी होगी और यहाँ गिरा गई है।'<sup>३</sup>

१ 'कालिंदी', (ताराशङ्कर बघोपाध्याय) अध्याय १७ पृष्ठ २०४।

२ ३ पुस्तुलनाचेर इतिकथा (माणिक बघोपाध्याय) रचनाकाल १९५६ ई० हिन्दी रूपान्तर प्रबोध कुमार मजूमदार (प्रकाशक सरस्वती प्रेस बनारस, प्रथम संस्करण १९५८ ई०) अध्याय १, पृष्ठ १४-१५।

ग्रामथी वणन के पश्चात्, भारतीय उप-यासकारों की वण्यवस्तु एव उनकी वणनकला प्रतिभा के महत् कल्पना समन्वित एव निरीक्षण चित्रण परक प्रिय वण्य-स्थल रहे हैं भारतभूमि के सभी कौनों में पाये जाने वाले सघन वन उनकी विलक्षण एव मायावी वनस्पति एव जीवज तु सृष्टि आदि । बाण भट्ट से लेकर हमारे आधुनिक उप-यासकारों ने इस समान एव प्रिय वण्य विषय के चित्रण में, विशिष्टता प्राप्त की है । उदाहरणार्थ सबप्रथम बाण भट्ट के 'हृष्यचरित' के अन्तगत आए हुए, निम्न विस्मयजनक वणन का ही अवलोकन करें । यहाँ बाण ने, विन्ध्याटवी के महावन के अन्दर के वन-जीवन तथा उसके निवासी वय जीव-जंतुओं की गतिविधियों का बड़ा ही सूक्ष्म निरीक्षण युक्त चित्रण किया है —

'कुछ ही दिनों की व्याई हुई वनकुक्कुटों कुटज के कोटर में बैठी थी । गौरैया चुडकलों को उड़ना सिखाते समय, 'धू धू' करके शोर मचा रही थी । चकौर अपनी सहचरी को नीचे में चुगा दे रहा था । भ्रुण्ड पक्षी, पक्के पीलुआ के फन, निशशक खा रहे थे । तोता के बच्चे, कटहल और शरीफे के कच्चे फलों को, निठुरता से कुतर कर, गिरा रहे थे । घटानों पर खरगाश के बच्चे, मुख से सोए हुए थे । छिपकली के बच्चे, दीफालिका की जड़ों के सूरसों में घुस रहे थे । रकु नामक मृग, निडर घूम रहे थे । नेबले, आपस में घमाचोक्की मचा रह रहे थे । कोयल, नई फूटो हुई कलियों का आहार कर रही थी । चमरु हिरनों के झुण्ड, आम की भुरमुट में बड़े जुगाली कर रहे थे । नीलाडज मृग मुख से बड़े थे । दूध पीते हुए नीलगाम के बच्चों के पास न बड़े भेटिये, कुछ बड़े बिना ही उ हैं देय रह रहे थे । कहीं गिरि निशरों के पास खड़े हाथियों के झुण्ड, ऊँच रहे थे । वही रूह हिरन, क्रिनरिया के संगीत का आनन्द ले रहे थे । तेंदुए उन्हें देख कर प्रसन हो रहे थे । हरी हल्दी की जड़ खोदते हुए, सूजरिया के बच्चों की धूमडिया, रग गई थीं । म्हाऊ चूहे, गुजा वृक्षों के कुजों में घूम रहे थे । जायफल के नीचे शातिजात नामक पशु सोए थे । लाल तत्यों के ढक मारने से त्रुपित हुए बादरों ने उनके छत्ता को नीचे डाला था । लंगूर, बडहल के फल खान के लिये, लवली सताओ के इस पार से उस पार कूट रहे थे ।'

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी भारतीय वनों के बड़े अनुरक्त, वणन चित्रण प्रिय उप-यासकार हुए हैं । उनके 'राजपि' नामक उप-यास के निम्न अंश इस प्रसंग के पठनीय हैं —

विजयगढ़ का विशाल जंगल ठगों का बडडा था । वन के बीच में, एक बरगद का रुद्र वृक्ष था तथा बडूल नीम और सक्की प्रकार के लतागुल्मा से यह

१ 'हृष्यचरित एक सांस्कृतिक अण्ययन' (डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल) उप-यास ८, पृष्ठ २३४-२३५ (मूल पाठ) (निगम सागर प्रेस में मुद्रित प्रति से) ।

वन भरा हुआ था। स्थान-स्थान पर पोखर और तालाब से बने हुए थे। निरन्तर पत्तों के गिरने से उनका पानी एकदम हरा ही रहा था। छोटी छोटी पगडडियाँ, यत्र तत्र, टेढ़े भेड़े साँपो के सदृश, अँधेरे जगल में चली गई थी। वक्षों की डाल डाल, पात पात पर, बन्दर थे। बरगद की डाल के ऊपर, सैकड़ा बरोह एक बन्दरो की पछे, लटक रही थी। संध्या के समय, बड़े बड़े झाड़ू के वृक्षों के ऊपर झुण्ड के झुण्ड तोतो के तीव्र स्वर से, वनप्रान्त का घोर अधकार, मानों छिन भिन हो गया था।<sup>१</sup>

‘पहाड़ के ऊपर नक्षत्रराय का शिविर था। घना जगल था—घाँस का जगल, बेंत का वन और नरकट के जगल—अनेक प्रकार के लतागुल्मा से पृथ्वी आच्छादित थी। इस समय दिन ढल चुका था, सुय पहाड़ के पश्चिमी प्रांत में छिप रहा था और गोधूलि की छाया और वृक्षों की छाया के मिल जान पर, वन में, बिना समय के ही संध्या हो गई थी। शीतकालीन सायंकाल में पृथ्वी से, कुहासे की तरह, भाप उठ रही थी। क्षीगुर के शब्द सुनसान जगल में गूँज रहे थे।<sup>२</sup>

‘भवानी नदी के तट पर (चट ग्राम में) महाराज ने अपनी कुटी बनाई। स्वच्छ जल वाली छोटी नदी, छोटे बड़े पत्थरों के ऊपर से होकर, तेजी से बह रही थी। दोनों किनारों पर काले पहाड़ खड़े थे। काले पत्थरों पर विचित्र वण के शवाल राटक रहे थे। बीच-बीच में छोटे-छोटे गह्वर थे। उनमें पक्षी निवास करते थे। स्थान-स्थान पर दाना और के पहाड़ इतने ऊँचे थे कि बड़ी देर के बाद सूर्य की दो एक किरणें नदी के जल में आकर पड़ती थी। बीच-बीच में नदी के किनारों पर घने जंगलों की पत्तियाँ, दूर तक चली गई थी। एक बहुत बड़ा शाखाहीन, श्वेत, गज्ज वृक्ष (मक्षत्र) पहाड़ के ऊपर झुका था। नदी के नीले चंचल जल में लम्बी छाया नाच रही थी। घने हरे जगल के बीच-बीच में, स्वच्छ श्यामल, बेलें का वन था।<sup>३</sup>

श्री विभूतिभूषण बक्षोपाध्याय ने अपने ‘पथेर पाचाली’ नामक उप-यास में वनश्री वणन को, पर्याप्त उच्चस्तरीय वणनकला कोटि तक पहुँचा दिया है। उन्नोते वन की अतर्चतना को विविध प्रतीकों द्वारा रूपायित करने में, हार्डी के समान

१ ‘राजपि’ (रथी-द्रनाथ ठाकुर) रचनाकाल १८८५ ई०। (हिन्दी रूपांतर सुरेन्द्रपाल सिंह, प्रकाशक गीतम पुस्तकालय, प्रयाग।) परिच्छेद २० पृष्ठ ६८।

२ वही, परिच्छेद ३५, पृष्ठ १२०।

३ वही, परिच्छेद ४२ पृष्ठ १४१।

सफलता पाई है। यहाँ 'पथेर पाचाली' से एक अविस्मरणीय वणन उदाहृत किया जा रहा है —

'उनके कमरे की खिड़की से कुछ ही फीट की दूरी पर, घर की चहार दीवारी की दीवार थी। उससे सटा हुआ ही, कितना सघन वन, दूर दूर तक बाहर की ओर लहरा रहा था। यदि कोई खिड़की में धठ कर बाहर की ओर भाकता, तो उसे झाड़ झन्डाड से पूरित, वनखण्डों ही नजर आती। वह सारा हरित वन प्रदेश, एक हरे सागर की लहरियों की भांति आदोलित रहता। अँगूरा की लनाएँ इस पेड़ से उस पेड़ तक छाई रहती। एक पुरातन बास के झुरमुट के तले, सोनचिड़ियायें, काली मिट्टी के वक्ष पर नाचा करती। बाँम की पुरातन शाखाएँ सोदली और चत की शाडिया पर झुकी रहती। बड़े बड़े पौधा क तले, हल्दी, कोबू और जगली पाडिया का घना सा जमघट, स्य की जोर सिर उठा कर भाकन का प्रयास करता। अपने गर्विल और चमचमात हुए पडोसिया की छत्रछामा में नहे आश्रित पौधों की पत्तियाँ, जीवन सघप में पराभूत हो जाने के कारण मुरखा रही थी। उनकी मरणांत वेदना दरसाने वाली हसरत भरी नजरों के सामने ही, शरद ऋतु की सुहावनी एव स्निग्ध धूप, सारे वन का आप्लावित किए देती। घरती, नवकुसुमित लताओं के सुकुमार सौरभ से, मधुमती हो रही थी और अपनी समग्र मनोहारिता, रहस्यात्मकता एव उबरता लिए, धीरे धीरे दृष्टि पथ से विलीन होती जा रही थी।'

'इसी जगल में वही एक पुरातन कील थी जिसके तीर पर एक देवालय के खडहर दिखाई दे रहे थे। एक समय था जब कि उस मंदिर की अधिष्ठात्री देवी विशालाक्षी गाव मर की इष्ट आराध्य देवी थी आज भी देवी ने उस गाव को भुलाया नहीं है। रात के बढ़ते हुए पहरों में, जब कि गाँव निस्तब्ध हो जाता है वह वन में कुमुमों को खिलती हुई, आज भी विचरण करती है। यह जब भी अपनी रायेंदार सतति की चौकसी करती घूमती है। और चादनी रातों के अंतिम प्रहरा में, वह मधु मविक्षयो के छत्ता का मधुर मधु से आप्लावित कर जाती है—जगली भावरा, नटकन जोर चमेली के सघ कुसुमित प्रसून से मधुसंचय करके उसे मनीमंति पात है कि वामक के पूरा आडी क किस कोन में अपना मुँह छुपा लेत हैं जहा कि सुप्त वन प्रदेश में, किसी वृक्ष की छाया में, अंतिम के फूलों के गुच्छे के गुच्छ पडे रहते हैं। वह यह भी जानती है कि इच्छामती नदी क किस मोड पर हरी काई की दरारों को, कलमी के प्रसून अपनी नीली पशुरियों से पाट देते है। और यह भी

१ 'पथेर पाचाली (विभूतिभूषण वर्यापाध्याय) (रचनाकाल १९२६ ई०) हिंदी रूपांतर थी ममय नाथ गुप्त (प्रकाशक राजपाल एण्ड स स, दिल्ली।) भाग ५ अध्याय २ पृष्ठ १३५।

कि वये पक्षी के नह वच्चे, किसी काटेदार वृक्ष की हरियाली के बीच, कौन से घोंसले मे रात्रि के मूक प्रहरो म, सहसा जाग पडते हैं। सारा वन उसी की शोभाश्री की स्निग्ध ज्याति से जाप्लावित जान पडता है। वह निस्तब्धता ज्योत्स्नामयी सुगन्ध एव घूमिल प्रकाश और छाया की मोहिनो मे बसने वाली, निशा की विस्मय कारी मनोहारिता ही तो है।<sup>१</sup>

यात्रा वर्णना की दृष्टि से भी भारतीय उप-यासा मे अनेकानेक ऐसे स्थल आए हैं, जहा वर्णनकला के चमकार से, यात्रा जैसे एक नित्यप्रति के काय-यापार को, भी साहित्यिक गरिमा प्राप्त हुई है। किंतु सब मिला कर ऐसे वर्णन कम ही हैं जिन्हें उत्तम यात्रा वर्णन कला के नमूना के तौर पर उदाहन किया जा सके। इस दृष्टि से यहाँ श्री इलाचन्द्र जोशी कृत स-यासी उप-यास से एक अवतरण उद्धृत किया जा रहा है। यह रेल यात्रा वर्णन, उप-यासकार की वर्णन प्रतिमा का धोतक है —

‘हम लाग पहाड को जान वाली एक छोटी गाडी भ घटे। गाडी बीच बीच मे सुरभा को पार करती हुई जा रही थी। सुरगो मे, इजिन का जो घुर्मा, जमा होता था, उससे जी मतलाने पर भी अगल बगल के पहाडी दृश्यो को देखने से, तवियत हरी हो जाती थी। गाडी रेलवे लाइन के जिस भाग को, अपन पीछे छोड जाती थी ऊपर से वह एक विराट और दीर्घावृति सप की तरह पडी हुई दिखाई दती थी। कही वह चीड और देवदारु के घने पेडो की छाया के बीच अपनी कुटिल चक्रावृति फैलाए हुए थी और कही, भयकर और गहरे खड्डो के ऊपर गाडी यदि जरा सी लाइन से ढिग जाय, तो नीचे गिर कर यात्रियो सहित इस तरह चकनाचूर हा जाय कि काण्ड का एक खण्ड और किसी यात्री की हडडी पसली का एक टुकडा भी, साबुत न रहे। और यदि ऊपर से एक चट्टान अकस्मात ढह कर, गाडी के ऊपर आ गिर तो उसके परिणाम की विकरालता के सम्बन्ध मे कुछ कहना ही व्यय है।’

डा० देवराज कृत अजय की डायरी’ नामक उप यास (प्रकाशन १९६० ई०) यात्रा वर्णनो की दृष्टि से पर्याप्त मनारम एक कथापूर्ण वन पडा है। लखक की वर्णन शली यहा चेतनाधारा शली अथवा स्ट्राम आफ काशसनेस से मिलती जुलती है। यहा लेखक बाह्य जगत म विचरण करता हुआ भी, बीच बीच मे, अंतमुखी होकर

१ ‘पथेर पांचाली ‘वन देवा’ नामक प्रसंग से।

२ स-यासी’ (द्राचन्द्र जोशी) रचना काल १९४० ई०। प्रकाशक भारतीय मण्डार, प्रयाग। सन १९५६ ई० क संस्करण से। अ-याय ५६ पृष्ठ २६८।

अपने म भी झांकने लगता है । 'अजय की डायरी' से यहाँ एक सनातनक यात्रा वणन उदाहृत किया जा रहा है —

'हरिद्वार का हरित क्षेत्र शुरू हो गया था । मैं नीचे ही एक दरवाजे की खिड़की में खड़ा हो गया । ठण्डी ठण्डी ताज़गी से भरी हवा चल रही थी । दूर पर पहाड़ियाँ ढीलने लगी थी । ट्रेन के दानों और नई एव स्निग्ध आभा से सम्पन्न हरि याली का अखण्ड साम्राज्य फला हुआ था । अपनी सलोनी आँखों को अपूर्व तृप्ति देने वाली, हरित छवि से, दशका की लुभाते हुए, छोटे बड़े पड़ पौधे द्रुतगति से ट्रेन की विपरीत दिशा में सटकते भागते दिखाई दे रहे थे । मैं मुग्ध दृष्टि से उस दृश्य की दिशा में झक रहा था । बीच बीच में कभी कभी मेरी दृष्टि, सोए हुए साधियों पर पड़ जाती थी । मैं सोचने लगा कि उन्हें जगा दूँ, ताकि वे प्रकृति के इस हरे वन को देख सकें ।'

श्री ताराशंकर वसोपाध्याय क कवि नामक उपन्यास में भी रेल-वणन पर्याप्त आकर्षक एव सगति बत पड़ा है । इसमें नाद सूचक शब्दों की सहायता से, लेखक ने अपने वणन को अधिक प्रभावशाली बनाया है —

'भ्रम भ्रम करती हुई रेल चली जा रही है । प्रकृति के आगमन में वर्षा की भ्रम भ्रम, नृत्य कर रही है और सध्या के आचल का समा पाकर मेघ के टुकड़े और भी बजरादे हा गए हैं । वर्षा जोरों से हो रही है, और उधर मयकर वर्षा हो चुकी है । मदान की गडहियाँ में जमे हुए वर्षा के जल सिहर रहे हैं । मेढक की टरटर' ध्वनि भी आ रही है ।'

और गाड़ी चली जा रही है—'झम झम झम ।' छोटी नदी का पुल पार हो गया । गरए रंग के पानी की धार में सफेद पेन बहता जा रहा है । दोनों ओर काण फूल की बालियाँ हरी हरी । अब गाव करीब है, वह अपनी माँ के, अपने लोगा के बहुत करीब ।

'अब बालपुर इसके बाद की पाई स्टेशन और इसके भी बाद जबगन छाटी लाइन । 'छक ! छक ! छक ! फक ! फक ! फक !' भूने की तरह हिलाती हुई छाटी लाइन की गाड़ी चलती है । साथ ही साथ उसका मन भी नाच रहा है । माँ भरी माँ माँ ! वह क्या है ? पीपचे पोखर उदासा मदान और काली का बगीचा जिस चपीके के वृक्ष थे उसके गाता के श्रोता । गाड़ी जरा मुड़ी—स्टेशन में प्रवेश कर रही है । यह अब गाड़ी रकी । गाड़ी चली गई ।'

१ 'अजय की डायरी (डा० देवराज) (प्रथम प्रकाशन १९६० ई० प्र० राज ५ मल प्रकाशन दिल्ली) पृष्ठ ५४ ।

२ कवि (श्री ताराशंकर वसोपाध्याय) रचना काल १९४१ ई० । हिन्दी न्यास स्तर (नवयुग प्रकाशन दिल्ली, १९५४ ई०) अध्याय २१, पृष्ठ २१३-२१४ ।

श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिबीष का द्वितीय उपन्यास 'अधखिला फूल' (१९०७ ई०), वणनात्मक कला की दृष्टि से, समग्र हिन्दी उपन्यास साहित्य में अपने ढंग का सबसे प्रथम उत्कृष्ट कौटिक का उपन्यास है। उनके उपन्यास साहित्य में वणन सौष्ठव एवं वणनगत कलाभिरामता, दशनीय हो उठी है। 'अधखिला फूल का तो प्रायः प्रत्येक वणन ही, वणनकला की दृष्टि से अध्ययनीय और मननीय है और उसकी जाड़ का अर्थ उपन्यास, प्रेमचन्दकाल के पूर्वाध में मिलना कठिन है। यहाँ 'अधखिला फूल' से कुछ ऐसे उद्धरण लिए जा रहे हैं जो एक दूसरे से वणन कलात्मक श्रेष्ठता में, हाड़ लगाते से जान पड़ते हैं।

उनमें से प्रथम वणन में रात्रि के समय नभामण्डल पर छाई हुई ग्रीष्म कालीन की, आकाश छवि के, नवीदित दून के चाद के द्वारा विदग्धित होने की एक रमणीय दृश्यपट्टी प्रस्तुत की गई है। द्वितीय वणन में, सरजू नदी की अविस्मरणीय छवि अंकित की गयी है। यह सगति वणन साध्य अवसाद में भी, जीवन से तरंगित है। वणनगत उपयुक्त शब्द चयन द्वारा वणन चित्रण का, यह एक उत्कृष्ट कलात्मक उदाहरण है —

वसास का महीना ! दा घड़ी रात बीत गई है। चमकीले तारे चारों ओर, आकाश में फले हुए हैं, दून का बाल सा पतला चाद, पच्छिम की ओर डूब रहा है। अंधियारा बढ़ता जाता है ज्यो ज्यो अंधियारा बढ़ता है, तारा की चमक बढ़ती जान पड़ती है। उनमें से जोत सी पूट रही है। वह कुछ हिलते भी हैं। उनमें चुपचाप कभी कोई फूट पड़ते हैं जिससे सुनसान आकाश में रह रह कर फुलझडी सी छूट जाती है। रात का सनाटा बढ रहा है उमस बढी है। पीन डोलती तक नहीं। लोग घबडा रहे हैं, कोई कोई बाहर खेता में घूमता है कोई घर की खुली छतों पर। उमस से घबडा कर कभी कभी कोई टिटिहरी वही बोल उठती है।'<sup>१</sup>

आज भादो सुदी तीज है। दिन का चौथा पहर बीत रहा है। बसनगर गाँव के उत्तर ओर सरजू नदी, अठखलिया करती हुई, बह रही है। इसतिरिया का भुण्ड धीरे धीरे आगे बढ़ कर, इसी नदी के तीर पर, पहुँचा। बसनगर गाँव के ठीक सामने उस पार चादपुर, गाव था। सरजू का ढग है, मदा, अपनी धारों को पलटता

१ 'अधखिला फूल' (अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिबीष') प्रथम संस्करण १९०७ ई० प्र० खडगविलास प्रेस बाकीपुर पटना (प्रस्तुत संस्करण १९१५ ई०) (चिरजीव पुस्तकालय वेधनगज, आगरा व सौजन्य से प्राप्त)। पहली पसुड़ी, पृष्ठ ४५, ४६।

रहती है। पर इन दोनों गांवों के पास घरती, बकरीली थी। इसलिये इन दोनों गांवों के बीच, वह सदा एकरस रहती। यह दोनों गांव, ध्योपार की मडी थे। इस पार और उस पार, बड़े अच्छे घाट थे। आज दोनों ओर के घाटा पर इसतिरियो की बड़ी भीड़ है। सरजू नदी बलबल बह रही है। सूरज की किरणें उसमें पड़ कर, जगमगा रही हैं, लहर पर लहर उठती है—सूरज की किरणों में चमकती है—और फिर सरजू की बहती हुई पार में मिल जाती है। पानी के तल पर मगर, घड़ियाल, उतरा और हूब रहे हैं। पाल से उड़ती हुई नावें आ जा रही हैं। छोटी मोटी ढागियाँ, नहरों में, डगमगा रहीं हैं। और दूसरी बहुत सी नावें, घाट के एक ओर, पाती बांधे चुपचाप रखी हैं। जब कभी लहरें उठ कर, घाट से टकराती हैं, एक एक बार रह रह कर, यह नावें, धीरे धीरे हिल उठती हैं। सरजू तीर पर, दोनों पार, बहुत से मंदिर, और शिवाले थे। उनमें से बहुतों पर धुजा लगी हुई थी। बहुतों पर फलस थे। तीर पर मात मात के फूले फले पेड़ थे। और इस सब की छाया, जल में पड़ रही थी। धीरे धीरे तीर की इसतिरिया की छाया भी जल में पड़ी। जब कभी जल थिर रहता, उस घड़ी, दोनों पार पानी के भीतर, एक बहुत ही अच्छी बसी हुई बस्ती, दिखलाई पड़ती। और जब लहरें उठती, पानी के हिलने पर उसमें सिल बटें पड़ती, उम घड़ी, टुकड़े टुकड़े होकर गाव उजड़ता दिखलाई देता। और धीरे धीरे जल में लोप हो जाता। जल में यही सब लीला हो रही है। इसतिरिया नहा भी रही हैं। और उनके गीतों पर सरजू का जल, लहरों के बहाने, हाथ उठा उठा कर, ताल पर नाच रहा है। और सारा गांव, सरजू पर खड़ा होकर, यह सब लीला देख रहा है।<sup>१</sup>

इसमें सदेह नहीं कि वणनात्मक कला की दृष्टि से उपयुक्त दोनों ही वणन कालित्यमय, एवं कलाभिराम हैं। उनमें भी दूसरा वणन जिसमें गावों का उजड़ने और बसने का दृश्य अंकित किया गया है सचमुच अनूठा है। स्त्रिया के गीतों पर सरजू का जल मानो लहरों के बहाने हाथ उठा कर, ताल पर नाच रहा है यह 'समिति वणन' है, साथ ही वह छवि वृत्तात्मक भी है और व्यक्तिवयुक्त भी। श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध के उपयुक्त दो विशिष्ट वणन कलाभिराम वणनों में से दूसरा वणन वणनकला की कसौटी पर परखने से उत्तम सिद्ध होता है। इसमें कल्पना एवं यथाथ का एकीकरण है जो एक असमाय घटना है। सरजू नदी की धारा में गांव का वनना और उजड़ना सत्य भी है और कल्पना भी। धारा में शांतता रहने पर

१ 'अधलिता फूल (अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध') १७वीं पखड़ी, पृ० १३३ ३४।



गाव का प्रतिबिम्ब सम्पूर्ण दिखाई पड़ता था किन्तु वायु का एक साधारण सा झाका भी, उसे छिन भि न करने में समय था ।

नदी का प्रवाह, रूपकात्मक रूप से, समय का प्रवाह ही है जिसमें गाँव ही नहीं साम्राज्य भी बनते रहते हैं और वे बिगड़ते भी रहते हैं । नदी वणन, भारतीय उप-यासकारा का एक परमप्रिय वण्य विषय रहा है । भारत की नदियाँ केवल जल धारायें ही नहीं उससे बहुत कुछ अधिक हैं । सरयू यमुना, भागीरथी आदि सभी परम पावन धारायें हैं । सरयू एवं यमुना के तटों पर लोट-लाट कर हमारे सबसे महान एवं अवतारी राष्ट्र नायकाने बलवृद्धि का अजन किया था ।

अपने महान उप-यास 'सेवासदन' (१९१४ ई०) में हमारे श्रेष्ठ वणनकला आचार्य श्री प्रेमचंद ने भी भागीरथी की विविध भाकिया प्रस्तुत की हैं । 'सेवासदन' में, काशी नगर और उसके आसपास के वणन बड़े हृदयग्राही बन पड़े हैं । उनके सभी उप-यासों में, स्थान वणन, प्रकृति वणन, यात्रा वणन आदि सभी, उत्तमोत्तम रूप में पाए जाते हैं । उनके प्रारम्भिक उप-यास प्रेमा, 'वरदान' आदि से लेकर अंतिम उप-यास गोदान तक में न जाने कितनी वणनात्मक छवियाँ, पढ़ने और हृदयगम करने योग्य हैं । 'सेवासदन' में जिस समय सदन, जीवन में निराश होकर, गंगा के तट पर पहुँचा तो वहाँ के शांत स्निग्ध वातावरण से, उसकी मनो-दशा में स्वस्थ परिवर्तन हुआ गया जो स्वयं श्री प्रेमचंद की भाषा में ही पठनीय है । इसमें मानव मन के गहन अवसाद पर, प्रकृति के शांत स्निग्ध वातावरण की विजय को, दर्शाया गया है —

इसी निराशा और चिन्ता की दशा में, एक दिन वह टहलता हुआ, नदी के किनारे, उस स्थान पर जा पहुँचा जहाँ बहुत सी नावें लगी हुई थीं । नदी में छोटी छोटी नावें, इधर उधर इठलाती फिरती थी । किसी किसी नौका में सुरीलो तानें सुनाई देती थी । कई किशतियाँ पर से मल्लाह लोग, बोर उतार रहे थे । सन् एक नाव पर जा बैठा । सन्ध्या समय की शान्तिमयिनी छटा और गंगातट के मनारम कायमय दृश्य ने उसे वशीभूत कर दिया । वह साचन लगा—यह कसा आनन्द मय जीवन है ! ईश्वर मुझे भी ऐसा ही एक भोंपड़ा दे देता, तो मैं उसी पर सत्तोप करता । यहीं नहीं तट पर विचरता, लहरा पर चलता और आनन्द के राग अलापता !"<sup>१</sup>

१ 'सेवासदन' (श्री प्रेमचंद, अध्याय ४६, पृष्ठ २८७ (सरस्वती प्रेस, बनारस से प्रकाशित, प्रथम प्रकाशन १९१४ ई०) ।

‘सिवासदन’ के अतिरिक्त प्रेमचंदजी के अथ उपन्यासों में भी उत्कृष्ट वणन, बहुलता से पाए जाते हैं। इस दृष्टि से उनका एक अथ उत्कृष्ट उपन्यास है ‘काया कल्प’। इसमें प्रकृति के सौंदर्य की छवि को, एक कलाकार की तूखिका के समान अंकित किया गया है। पहाड़ी गुफाओं के वणन तिब्बत की नदिया और नाला के वणन, आदि बड़े ही महत्कल्पना प्रधान, विशद छवि वृत्तात्मक एवं रहस्यावत् हैं। वे सभी युक्तिमय और जालकारिक शली में अंकित हैं। उन वणनों को पढ़ कर, पाठक के मन में, उत्तेजक आंदोलनकारी और दार्शनिक भाव सम्पत्ति का उदय होता है।

श्री प्रेमचंद के प्रसिद्ध उपन्यास, ‘रगभूमि’ (१९२४ ई०) में भी उनके अपने ग्राम लमही (पाडेपुर) के आसपास के वातावरण का वणन, बड़ा ही मार्मिक एवं चामुप है। वह लेखक का अपना जाना पहचाना वातावरण था। उपन्यास का प्रारम्भिक दृश्य मानो भारतीय ग्रामीण जीवन की, एक मार्मिक एवं चित्रवत् भांकी प्रस्तुत कर जाता है —

‘कांतिक का महीना था। वायु में सुखद शीतलता आ गई थी। सध्या हा चुकी थी। सूरदास अपनी जगह पर, मूर्तिवत् बठा हुआ, किसी इक्के या बग्घी के आशाप्रद शब्द पर कान लगाए था। सड़क के दोनों ओर, पेड़ लगे हुए थे। गाड़ीवानों ने, उनके नीचे, गाड़िया डील दी। उनका पछाही वेल, टाट के टुकड़ों पर खली और भूसा खाने लगे। गाड़ीवानों ने भी उपले जला दिये। कोई चादर पर आटा गूँघता था, कोई गोल-गोल बाटिया बना कर उपला पर सेंकता था। किसी को बरतनों की जरूरत न थी। सालन के लिये घुड़यो का भुरता काफी था। और इस दरिद्रता पर भी उन्हें कुछ चिंता न थी।’

श्री प्रेमचंद के ‘रगभूमि उपन्यास में सूरदास की भापटी से लेकर, राजा साहब के महलों तक के सभी भाति के दृश्य चित्र उपस्थित हैं। पण्डा नायकराम की उदयपुर यात्रा का वणन भी सुंदर शली में वर्णित है। पृष्ठ २७ २८ अध्याय २ में ठाकुरजी के मंदिर में जो मण्डली या मगत’ जुड़ती थी उसका वणन, सस्वन है एवं सागोपाम’ भी है।

श्री चण्डीप्रसाद ‘हृदयशतृप्त मंगलप्रभात में जिसके कुछ उत्कृष्ट वणनों की क्षांक्षिया पहिले ही दी जा चुकी हैं, चन्द्रज्योत्स्ना में, यमुना की शोभा का यह वणन अत्यंत मनोरम एवं कलापूर्ण है —

१ ‘रगभूमि (श्री प्रेमचंद) (रचनाकाल १९२४ ई०। प्रस्तुत संस्करण १९५५ ई०, गंगा प्रयागर, सखनऊ।) अध्याय १, पृष्ठ १०।

'सप्तमी के चन्द्रमा की मधुर चाँदनी, यमुना की चपल सुन्दर तरंग राशि से बड़े प्रेमपूर्वक गले मिल कर हस रही थी। समस्त प्रकृति, शांति की विश्राममयी गोद में सो रही थी। शीतल वायु भी उस समय, बड़े अलस भाव से झूम रहा था। यमुना का कोमल बलबल, उस नीरव शांति में, एक मधुर दिव्य सगीत के समान प्रतीत हो रहा था।'

'उस समय मूर्तिमान सौन्दर्य का विलास था। प्रफुल्ल प्रकृति की मनोहर थी थी। बलकलमयी यमुना की तरंग राशि पर, आनन्दमय चन्द्रदेव की किरणमाला का, ललित नृत्य हो रहा था। विमल कविता की कोमलकांत पदावली की, ललित गति की श्रुति शोभा थी और उस पर कलित कण्ठ की मधुर मृदुल सगीत धारा थी। उस समय सब कुछ था—शान्ति थी, कविता थी, रागिनी थी, चन्द्रा थी, नीलछलिला यमुना थी।'

ये यमुना के वणन बड़े मनोरम कल्पना उद्रेकों, चाक्षुष, सगति, लालित्यमय और कलापूर्ण हैं। इनकी तुलना में वगला भाषा के वरिष्ठ एवं सर्वप्रथम उपन्यासकारों में भी समादरणीय, श्री रमेशचन्द्रदत्त के 'माधवी कर्ण' (१८७७ ई०) नामक विशिष्ट उपन्यास से, जो वणनात्मकता की दृष्टि से, एक कलात्मक कृति है भागीरथी का एक स्मरणीय वणन यहाँ प्रस्तुत है —

भागीरथी के पश्चिम किनारे वीरनगर ग्राम में श्रीधरशुभु के एक दिन संध्या समय, दो बालक और एक बालिका, शीड़ा करते थे। संध्या की तिमिरवरणी छाया, भ्रमश गाढतर हो कर ग्रामप्रातर और प्रशस्त गंगा नदी को आच्छादित करती जाती थी। दण्डादरवत सलिलगशि पर, कई नौकाएँ बह रही थीं पोतों से निकलते हुए, दीपालोक नदी के चञ्चलवध में, मनोहर नृत्य करते थे। वीरनगर के नदी कुलस्थ, आम्र कानन अघकारावृत होकर, भ्रमश निस्तब्ध भाव धारण करते जाते थे। केवल वृक्षों के मध्य से, ठौर ठौर पर, एकाध दीपशिखाएँ दृष्टिगत होती थीं और समय समय पर पणकुटीरावली में से कृपक पत्तियों का कण्ठरव, कणकुहर में प्रवेश करता था। निस्तब्ध अघकार में, विशाल, शांत प्रवाहिना,

१ 'मगत प्रभात (चण्डीप्रसाद हृदयश)' (प्रथम प्रकाशन १९२५ ई०) परिच्छेद २०, पृ० ३२२। (चिरजीव पुस्तकालय बेलनगञ्ज आगरा के सौजन्य से प्राप्त) (प्र० चाँद कार्यालय, प्रयाग, १९५५ ई०)।

२ वही, परिच्छेद २०, पृष्ठ ३३३।

भागीरथी, असीम और अनंत प्रेम से, घोर प्रकृति, अगाध समुद्र की ओर, बह रही थी। अपरिसीम अचकार में, एक ओर, प्रशस्त बालुका तट, कुछ कुछ देख पड़ता था।<sup>१</sup>

महाकवि श्री जयशंकर 'प्रसाद' रचित तीनों ही उपन्यासों अर्थात् 'तितली', 'ककाल', और 'इरावती' में श्रेष्ठ एवं कलाभिराम वणन, बहुसंख्यक हैं। उनका अन्तिम उपन्यास 'इरावती', भले ही अक्षूरा रह गया फिर भी उसके वणन विशेषतया चाक्षुष और सगति हैं। उसमें महाकांत की आरती का वणन पढ़ते ही बनता है। उनका 'ककाल' उपन्यास भी एक वणन प्रधान कृति है। इसकी पृष्ठभूमि तीर्थस्थान है। उपन्यास में हरिद्वार, काशी, प्रयाग आदि तीर्थस्थानों के विशद वणन पाए जाते हैं। उपन्यास का सारा घटना चक्र, एक प्रकार से इन्हीं तीर्थस्थानों के चारों ओर ही प्रवर्तित होता है। (अध्याय १, पृष्ठ ६१० पर गंगातट का वणन है। अध्याय १ पृष्ठ १५, खण्ड १ में भी हरिद्वार के गंगातट का वणन है।) ये सभी वणन, प्रसंगानुसूल शब्द चयन शैली में आलेखित हैं।

महान पयटन प्रधान इतिवृत्तात्मक उपन्यासों के रचयिता स्व० श्री राहुल सांकृत्यायन की अनेकानेक औपन्यासिक वृत्तियां, हिंदी साहित्य में पयटन कथा शैली के एक अभिनव कलाभिराम रूप का प्रवर्तन करती हैं। उदाहरणार्थ 'जय योधेय' (१९४४ ई०) के अध्याय ७ पृष्ठ ८२ पर, हिमालय और उत्सव संकेत सम्बन्धी वणन, एक अनुमयी एवं वणन प्रतिम यात्री की लेखनी से लिखे गए हैं —

हिमालय के चरणों में, दूर तक फले हुए घने जंगल में, व्याघ्र, गज, गधा, आदि बहुत तरह के जंतु रहते हैं। कितने ही दिनों की यात्रा के बाद, हम सपाट लक्ष (शिवालिक) पर्वत श्रेणियों की छोटी छोटी पहाड़ियों को पार करते हिमालय के चरण में, अवस्थित खलनिका (कालसी) नगरी में पहुँचे। आजकल नगरी में, आदिमियों की बड़ी भीड़ थी। पंचाल, अनन्दी, योधेय खूब ही नहीं—दूर दूर के साथ बाह—अपने घोड़ा खच्चरो, बलों को लेकर, वहाँ पहुँचे थे। हिमालय के दुर्गम स्थानों से, बहुत से पर्वतीय, भेडा बकरियाँ पर सामान लादे, वहाँ आये थे। पर्वतियों की पोशाक अधिकतर ऊनी थी, जो कुछ कुछ शबों के कचुक और सुत्थन से मिलती थी। कोई कोई, बिना सिले बदन को ही, कंधे पर, लाहे की फील से बाँध कर,

१ 'माधवी वृत्त'—श्री रमेशचंद्र दत्त (रचनाकाल सन् १८७७ ई०) हिंदी रूपान्तरकार श्री गोपालराम गहमरी, प्रथम संस्करण १९१२ ई०, (प्रकाशक) खेमराज श्रीवृष्णदास, वेङ्कटेश्वर स्ट्रीट मुद्रणालय, बम्बई) परिच्छेद ७, पृष्ठ ५६।

पहिने हुए थे। स्त्रियाँ भी ऊनी साड़ी पहने थी। लेकिन साड़ी नहीं, बल्कि गात्री के तौर पर, और जिसे दाहिने कंधे पर, लोहे की कील से बाँध कर, समाला गया था। खलतिका यमुना के दक्षिण तट पर बसी है। वही वह पहाड़ से नीचे उतरती है। इसे 'यमुना द्वार' कह सकते हैं। यमुना तट पर ही जरा सा ऊपर, एक शिला है, जिस पर अशोक के लेख खुदे हुए हैं। जान पड़ता है खलतिका चिरकाल से, हिमालय का एक अच्छा व्यापारिक केंद्र रही है। हाँ रास्ता कठिन है। उजबक है। बकरी और भेड़ के लिए ही यह रास्ता सुगम है। पर्वतीय भी इन दुर्गम रास्तों पर, बकरी की भाँति, खट खट चढ़ जाते हैं। लेकिन वहाँ, हिंस्र जंतुओं का अधिक भय नहीं है। चार पाँच दिन ऊपर चढ़ने के बाद ही ग्रीष्म की ताप खतम हो जाती है और फिर जाड़ों जसा आनंद आने लगता है।<sup>1</sup>

प्रादेशिक भारतीय भाषाओं तथा हिंदी के उप-यासो में स्थान प्रकृति-व्यावादि वणनों में, स्थानिक रंगरूप के हल्के अंतर को छोड़कर, एक समान जनमन रजनकारी रमणीय वाङ्मय की रचनाभिराम अभिव्यञ्जन है और इसीलिये उनमें आए हुए वणन स्थल भी बहुत कुछ समान में जान पड़ते हैं। उदाहरणार्थ श्री तारारशकर वद्यो पाध्याय के उप-यास 'धातृ देवता' (१९३९ ई०) में जिस घरती की ममता को दर साया गया है वसी ही भावना गहन घरित्री का अनुराग हम हिंदी उप-यासकारों, विशेषतया प्रेमचंद 'रेणु' और 'नागाजुन के उप-यासो—(गोदान', 'परती परि कथा', 'बलचनमा आदि) में मिलता है। भारत की विभिन्न भाषाओं के उप-यासों में वर्षा के होने, न होने की चिन्ता आदि कृपक समस्याएँ सबत्र ही समान ही पाई जाती हैं।

कृपक-परिवार को अपनी कथा का आधार बना कर, कुछ भारतीय उप-यासकारों ने श्रेष्ठ उप-यासो की रचना की है। श्री कालि दीक्षरण पाणिग्राही ने अपने उत्तम उडिया उप-यास 'माटीर माणिस' तथा श्री प्रेमचंद ने अपने प्रसिद्ध उप-यास 'गादान' की रचना कृपक परिवार की घरेलू विषमताओं को आधार बना कर ही की है। दोनों ही उप-यासो में, बड़े भाई अपने छोटे भाई के लिए घरबार मान प्रतिष्ठा छाड़ देते हैं और अपने छोटे भाई की रक्षा, हर प्रकार से करते हैं।

भारतीय उप-यास साहित्य में आचलिक उप-यास का उद्भव और विकास, प्रायः सभी प्रदेशों में, स्वाधीनता की प्राप्ति के आसपास के काल में ही हुआ है।

१ 'जय यौधेय' (राहुल साङ्गत्यायन) अध्याय ७, 'हिमालय और उत्सव सवेत', पृष्ठ ७८८०।

इन सभी में ही, धरती की ममता—तथा ग्रामीण जीवन के सामूहिक चिंतन को ही, कथा का मुख्य आधार बनाया गया है। श्री फणीश्वरनाथ 'रेगु के उपन्यास 'मैला आंचल' और 'परती परिकथा', कान्हू भापा के उपन्यास 'मरठि मण्णिगे' (गिब्रराम कारन्त) और गुजराती भापा के उपन्यास 'मलेला जीव' (श्री पद्मालाल पटेल), सभी की अनर्चतना यही धरती ममता और जनजीवन की सामूहिक चिन्ता रही है। इसीलिये समस्त भारत की भाषाओं के उपन्यास, प्रादेशिक विशिष्टताओं की विभिन्नताओं के होते हुए भी, एक समान अर्चतना के सूत्र में, फिर हुए हैं।

माणिक बघोपाध्याय के उपन्यास 'पद्मानदीर माथी' की प्रेरणा को, श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपने 'ब्रह्मपुत्र' की प्रस्तावना में सामान्य स्वीकार किया है। दोनों ही उपन्यासों की पृष्ठभूमि अर्थात् वण्य स्थल या वण्यवस्तु बगाल-असम के खेत और नदी-नाले बाढ़ और वर्षा आदि हैं। हमारे हिंदी भाषा के उपन्यासकार भी, जब उन प्रदेशों में पहुँच जाते हैं तो उनके वर्णन भी, लगभग वैसे ही हो जाते हैं, जैसे उस प्रदेश के रहने वाले उपन्यासकारों के उपन्यासों में वर्णित शब्द चित्र। उदाहरणार्थ श्री उन्मयशंकर भट्ट जब बम्बई के मछुआरों की बस्ती में गए और उन्होंने जब वहाँ के जनजीवन का चित्रण किया तो उनकी वर्णन शैली ने प्रायः वैसे ही रूप धारण किया जैसा कि (कर्नाटक की एक सागर-नटवर्ती बस्ती का) श्रेष्ठ कन्नड़ उपन्यासकार—एम० एस० पुटण्ण की प्रसिद्ध कृति 'माडिउ उण्णो महराया' (१९१५ ई०) में पाया जाता है। वही मछलियों की तीव्र गंध, श्री उदयशंकर भट्ट-कृत 'सागर सहरे मनुष्य' नामक हिंदी उपन्यास में है और उसी मत्स्यगंध का वातावरण, कान्हू उपन्यास 'माडिउ उण्णो महराया' में शान्नायित किया गया है। मत्स्य-जीवियों का रहन सहन प्रायः सारे भारत में, समान सा ही पाया जाता है।

श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत उपन्यास 'बाणभट्ट की आत्मकथा तथा चार चन्द्रनेत्र' में लगभग सभी प्रकार के कलापूर्ण वर्णन पाए जाते हैं जो वर्णन-कला की दृष्टि से उच्चकोटि के हैं। ये दोनों ही अखिल भारतीय पृष्ठभूमि पर रचे गए महान उपन्यास हैं। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में, राजप्रसाद वर्णन, राजमार्ग-वर्णन, सौरभ हृद वर्णन (तुलनीय बाणभट्ट कृत अर्द्धोद सरोवर वर्णन) सभी वर्णन कुशल कलाकार की कृति से चित्रित हैं। 'चार चन्द्रनेत्र' में स्थान-वर्णन, प्रवृत्ति-वर्णन, आदि बड़े सलित वन पड़े हैं।

भारतीय उपन्यास-साहित्य के आदिशाल—अर्थात् संस्कृत उपन्यास साहित्य के महान कथाकारों ने भी हिमालय के हिममण्डित गिरगिर एवं भारतभूमि में यत्र तत्र पाए जाने वाले महासरोवरों (झीलों) आदि जलानयनों का मध्य एवं महत्त्वपूर्ण प्रेरित, कालामिराम वर्णन किया है। इसी भाँति हमारे नूतन उपन्यासकारों का ध्यान

भी हिमाचल प्रदेश तथा काश्मीर आदि प्रकृति रम्य प्रदेशों के वणन की ओर गया है। सन् १९६० ई० में डा० देवराज ने अपने मात्रा प्रधान उप-यास 'अजय की झायरी' में, काश्मीर की एक झील और एक हिम प्रपात का बड़ा ही चाक्षुष एवं भाव संपत्ति मय वणन किया है। प्रस्तुत वणन कलाभिराम वणनों के प्रसंग की परिसमाप्ति में, वह भी उल्लेखनीय है —

'मैं झील के भीतर भाँक रहा हूँ। निमल, पारदर्शी जल की लहरदार चादर में, झील का विस्तृत अन्तराल साफ दिखाई दे रहा है। इस अन्तरप्रदेश में, पानी के सम्पूर्ण विस्तार में, काफी गहराई तक, हरी हरी, बारीक, रेशे जसी पत्तियों वाली, किसी घासनुमा वनस्पति के अमह्य पीधे, नीचे से ऊपर, लम्बे फीने पड़े हैं। यह वनस्पति क्या है? यह प्रकृति की अतर्कित सृष्टि है, या किसी जलमाली की सचेत कला का उपहार, उसकी इस विस्तृत लुभावनी फसल को आकस्मिक मानना, कठिन जान पड़ रहा है। उसे देखना उसकी गहरी, सघन, नरम हरीतिमा में आँखें गडाना, कितना प्रिय लगता है! जान पड़ता है उसकी शीतल गम्भीर सुपमा, आँखों की राह से, मस्तिष्क में घुस कर, गान और संवेदना के समस्त तन्तुओं को, नई विश्वाप्ति दे रही है। जी होता है इस आद्र हरियाली के मुलायम, मखमली विस्तर में, धके मस्तिष्क की सारी चिन्तन क्रिया का स्थगित करके, अध-बेहोशी की नीद में, सुला दिया जाय !''

'हमारे पहुँचने पर पांडे ने उत्साह से उगली का सचेत करते हुए कहा—  
"देखिए, अजयजी! यही ग्लेशियर है! आगे बढ़ने पर और अच्छा दिखाई देगा!"  
हमारे दाहिनी ओर एक लम्बा मैदान और नदी के पार ग्लेशियर का दृश्य था। सफेद बर्फ की चौड़ी साधारण नदी के पाट के आकार की पट्टी, नीले आकाश से नीचे की ओर, फलती दिखाई दे रही थी। आकाश के पास की ऊँचाई पर, बर्फ स्वच्छ काच की पट्टी जसा दीप्त रहा था। यहाँ हिम में बसा कटाव नहीं था, जैसा गुलमग में दिखाई दिया था। नीलाकाश में तिरते दो तीन अन्न खण्ड, हिम की पाटी से सतकर, एकाकार हो रहे थे। वही-वही दूर से आने वाली सूर्य की किरणें, बर्फ की सतह को पिघली रजत की छटा से मण्डित कर रही थी। नीचे ढलान पर प्रसरित हिम पाटी में चमक नहीं था। वहाँ अपरूप धवलता का विस्तार मात्र था, अपनी गहनता में स्थिर और शांत, जिसमें लीन होकर दृष्टि चेतना, अतल गहराईयाँ में जुड़ा जाय। कौन कहता है कि सौ दय, मात्र भ्रम था छलावा है? दृष्टा की चेतना का कृत्रिम प्रक्षेप ?''

१ अजय की झायरी (डॉ० देवराज), पृष्ठ १०६ (प्र० प्रकाशन १९६० ई०)  
(प्रकाशक—राजपाल एण्ड सस, दिल्ली)।

२: वही, पृष्ठ १६२।

इस समय तुलनात्मक वणन विवेचन के पश्चात् हम अतत इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वणनकला के विविध कलात्मक पक्षों का विकास करने में, भारतीय उपन्यास-साहित्य ने, वणनकला की चरम सीमाओं को छूआ है। विश्व का कोई भी उपन्यास-साहित्य, इतना कलापरक, इतना विविध, इतना सस्कारयुक्त एवं इतना रमणीय नहीं है, जितना कि भारतभूमि का, वणन बमब से विभूषित उपन्यास साहित्य। जिन गिने चुने प्रतिभाशाली उपन्यासकारों की वणनात्मक प्रतिभा का यहाँ, एक सक्षिप्त परिचय-भात्र कराया जा सका है, उनके अतिरिक्त भी न जाने कितने अन्य उत्तम उपन्यासकारों ने, भारतीय उपन्यास मंडार को, अपनी उत्तम कृतियों से समृद्ध बनाया है। वस्तुतः हमारा समय भारतीय साहित्य ही, हमारी राष्ट्रीय भावात्मक एकता का सबसे प्रबल प्रमाण है और उपन्यास विधा में तो इस सत्य को सर्वाधिक अभिव्यजना मिली है।



## भारतीय तथा हिन्दी उपन्यासों में पात्र-योजना

कहानी या कथा का प्रारम्भ किस भाँति होता है ? एक था राजा—या एक थी राजकुमारी—या एक था राजकुमार । उपन्यास भी मूलतः कहानी ही है—किन्हीं सत्य अथवा कल्पित व्यक्तियों की राम कहानी, इतिकथा आत्मकथा, उपकथा अथवा वृत्तांत । यदि उपन्यास किसी की कहानी न हो तो उसमें सुनने वाले या पढ़ने वाले को, क्या रस आयेगा ? अतः कुशल उपन्यासकार उपन्यास में अवतरित होने वाले पात्रों अथवा पात्राओं का एक सजात्मक एवं प्रतीयमान 'यत्तित्व' प्रदान करता है । उपन्यास के पाठक का समग्र ध्यान, एक ऐसे केन्द्र बिन्दु पर ही टिक सकता है । जिसके चारों ओर उपन्यास का महावितान, बुना जाता है । अभी तक हमने उस 'महावितान' का ही विश्लेषण किया है—अब उसके केन्द्रीय आकषण बिन्दु की ओर भी ध्यान देना समीचीन होगा ।

देखना यह होगा कि सिद्धहस्त उपन्यासकार किस भाँति, अपने पाठकों का ध्यान, सब से पहले किसी केन्द्र बिन्दु पर टिकाना चाहते हैं । हर उपन्यासकार का इस चारे में, दृष्टिकोण अलग अलग है । उदाहरणार्थ हिन्दी उपन्यास के प्रथम पुरस्कृत सयद इशाअल्लाह सा ने अपने उपन्यास का प्रारम्भ, राजकुमार उदैमान के रूपवर्णन से यों प्रारम्भ किया था—'किसी देश में, किसी राजा के घर एक बेटा था । उसे, उसके माँ बाप और सब घर के लोग 'कुंवर उदैमान' करके पुकारते थे । सबकुछ उसके जीवन की जोत में, मूरज की एक सोत आ मिली थी ।'

प्रथम संस्कृत उपन्यास 'वासवदत्ता' के रचयिता सुबोधु ने अपने उपन्यास का प्रारम्भ सीधे राजकुमार या राजकुमारी के प्रसंग से नहीं किया किन्तु मंगला चरण के रूप में आद्य श्लोको के छः पृष्ठों के पश्चात् वे अपनी कहानी कहने में यों

प्रवृत्त हुए "राजा का नाम था चिन्तामणि । वह सभी राजोचित गुणा से युक्त था । शासनकाल सभी भाँति सुखद एवं समृद्ध था । प्रजा निरापद थी । चाय आदश था । राजा में सभी दिव्य गुण पाए जाते थे और उसे 'सुदक्षिणा' नामक अपूर्व रूपशील सम्पन्न महारानी प्राप्त हुई थी । उसी ने 'कदपकेतु' नामक पुत्र रत्न को जन्म दिया ।"

सुबधु की वयन-कला खूब ऊहापोह से युक्त है और इसी कारण उन्हें राजकुमार कन्दपकेतु के रूपवर्णन तक पहुँचने में, थोड़ा विलम्ब अवश्य हुआ । किन्तु प्रथम अवसर मिलते ही, उपन्यासकार ने अपने कथानायक 'कदपकेतु' का रूपवर्णन, इतने उत्साहयुक्त ऊहापोह से किया कि बड़ी कठिनाई से, दस ग्यारह पृष्ठ की प्रशस्ति के पश्चात् लौट कर अपने कथा-सूत्र को वे फिर सवार पाये । यह विचित्र साम्य है कि प्रथम संस्कृत उपन्यास 'वासवदत्ता' (रचना तिथि ४७० ई०) तथा सर्वप्रथम हिन्दी उपन्यास 'उत्तम चरित' (रचना तिथि १८०१ ई०) के बीच, तेरह शतियों का अंतर होने पर भी, कहानी का प्रारम्भ, दोनों ही रम्य कथाओं (रामायण) में, रूपवान एवं शीतवान राजकुमार से ही किया गया है । अंतर है केवल उपन्यास विधा के विकास स्तर का । 'वासवदत्ता' प्रथम संस्कृत 'गद्य महाकाव्य' है अतः उस पर परम्परागत पद्य महाकाव्य का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष प्रभाव (प्रस्तावना एवं प्रशस्ति के ऊहापोह आदि से) प्रगट है । सुबधु को अपने कथानायक कदपकेतु के रूपवर्णन तक पहुँचने में पूरे २० पृष्ठ लग गए जबकि 'इशा' को अपने नायक राजकुमार के रूपवर्णन तक पहुँचने में कठिनाई से २० शब्द ही लगे होंगे ।

सुबधु को अपने कथानायक को शानदार बनाने के लिए उसके महान माता पिता का गुणानुवाद भी करना पड़ा किन्तु 'इशा' को (किसी भी समय एवं आत्म विश्वासी उपन्यासकार की भाँति) अपने कथानायक का परिचय कराने में रचनात्र भी सकोच नहीं हुआ । यहाँ तक कि उसने राजा राजप्रसाद या राजधानी आदि का भी नाम लेने की जरूरत नहीं समझी । कारण यह था कि इशा जनता के कथाकार-उपन्यासकार थे, जब कि मुबधु को, पण्डित जनसमाज के शिष्टाचार की चिन्ता थी ।

इधर इशा के उदयान चरित की रचना के १६२ वर्ष पश्चात् एक अन्य श्रेष्ठ एवं सिद्धहस्त हिन्दी उपन्यासकार, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपने द्वितीय गद्यकाव्योपम बहदु उपन्यास चारु चंद्रलेख का प्रारम्भ प्रथम पुरुष एवम्बन्ध में कराया है । कथा का कहने वाला कथानायक स्वयं ही है किन्तु है वह अजाब रहस्यमय-पक्ति जो अपने श्रोताओं अथवा दशकों की ओर माना पीठ करके खड़ा है ।

१. वासवदत्ता (सुबधु) पृष्ठ ७ ।

२. यही, पृ० २१-३१ ।

मानो वह एक लम्बे स्वगत भाषण में आत्ममग्न है विचारमग्न है, और चिन्तामग्न है। तत्कालीन राष्ट्रीय सकट की भी सूचना उसी की बातों से मिलती है और वह उसी सोच विचार में डूबा जान पड़ता है। पाठक उससे परिचय पृथक् चाहते हैं पर वह इधर मुँह करे तब न! न वह अन्त तक अपना नाम बताता है और न कोई उसका परिचय ही कराने आता है।

‘चारु चन्द्रलेख’ उप-यास के कथानायक के पर्याप्त लम्बे स्वगत भाषण सुन लेने के पश्चात् यह मालूम हुआ कि वह सीदी मौला नामक किसी पहुँचे हुए सिद्ध योगी या फकीर की खोज में निकला है। भाग में उसे कोई विचित्र वेशधारी साधु भी मिला। सम्भवतया वे ही सीदी मौला थे। पर राजा घोडा दौड़ाता हुआ उस गाँव में आ पहुँचा, जहाँ कि, उसने सुना था कि सीदी मौला किसी शिवमन्दिर में टिक्के थे। किन्तु वहाँ पहुँचने पर जब राजा को ज्ञात हुआ कि वे कहीं और चले गए तो वह खिन्न होकर, मन्दिर के निकट ही बरगद के पेड़ के नीचे विश्राम करने लगा और चिन्तामग्न अवस्था में ही उसकी आँखें लग गई। सपने में उसे किसी केशवाले तपस्वी ने प्रकट होकर कहा—‘राजन! देरी हो रही है। निद्रा में समय न गवाभो! सीधे पश्चिम को घोडा दौड़ाओ। सीदी मौला नहीं, सीदी (सिद्धि) मिलेगी।’

राजा उठ खड़ा हुआ और घोड़े पर सवार होकर सीधा पश्चिम दिशा में चल पड़ा। भाग में उस एक लुमावना मृगछौना दिखाई दिया। उसी का पीछा करते करते घट बहुत दूर निकल गया। अतः उसने देखा कि मृगछौना लाल पल्लवों वाली तना में उलझ कर, झहरा कर गिर पड़ा है और तब आगे बढ़ कर राजा ने जो दृश्य देखा वह अति विस्मयजनक था—

‘धिवकार है। ऐ सातवाहन! तुम्हारे विष दग्ध बाण क्या ऐसे कोमल मृगछौना के लिए ही हैं? यही क्या वीरता है? किसी ने इन शब्दों में उसे बहुत ही कोमल, हृत् कण्ठ से डाटा।’

एक क्षण के लिए मैं यह क्या देख रहा हूँ! जिसे मैंने लाल पल्लवों वाली लता समझा था वस्तुतः वह एक अपूर्व सुन्दरी देववाला थी। उसके कौसुमी वस्त्रों को देख कर मुझे लाल किल्लिया का भ्रम हो गया था। उसके एक हाथ में थाली दूसरे में नगार। मगछौना उसकी साडी में मुँह छिपा कर सो गया था मुझे रच मान भी सन्देह नहीं रहा कि यह कोई वन देवी है।

ऐसा जान पड़ा कि उस युवती के मन में मेरे प्रति जो विरूप भाव था, वह कम हो गया। उसकी तनी हुई भङ्कुटियों में सरलता आ गई। वह कुछ आश्वस्त हुई। मैंने उसे ध्यान से देखा। क्या देवा? कस्तूरी के समान काले केश अगुलियों के प्रयत्न के अभाव में कुछ अस्त-यस्त से उलझे हुए थे और उन पर सफेद जगली फूल अटक गए थे। इन फूलों को झाड़ कर हटा देने का प्रयास नहीं था। ऐसा जान

पढता था कि दूध का कोई बटोरा रखा हुआ है, जिसे पीने के लिये सकडों विपघर नाग, परस्पर एक दूसरे को दवा कर, आग बढ जाने के प्रयास मे लगे हुए हैं। इन केशा म एक विचित्र प्रकार की लहरदार गति थी, जा विपघर भुजगा की जहरीली लहर के समान दिखाई दे रही थी। एक मण के लिये मन म आया कि मेरा मन क्या इसी विप के प्रभाव से लहरा उठा है। उन केशा के भीतर से सकेत माग की लकीर साफ साफ दिवाइ दे रही थी। ऐसा लगता था कि किसी ने अंधेरी रात मे राजमाग पर, लिया जला कर उसे उद्भासित कर रखा है। अभी मा उसे सि दूर, का स्पश प्राप्त नहीं हुआ था। काले केशो क भीतर वह कुछ इस प्रकार जगमगा रही थी, माना कमीटी पर कचन की रेखा हो। घने काल मधो के बीच, बिजली की तरह प्रकाशित होकर, यह माग दशक का, बुद्ध नया देखने का अवसर देता था। क्या इस बारह बानी सोने के लिये, किसी सुहाग की अपेक्षा है? द्वितीया के चन्द्रमा के समान चमकते हुए ललाट पर यह मनोहर सीम त रखा, ऐसी सजी हुई थी मानो किसी अदृश्य देवता न, फूलो क घनुप पर बाण चढा रखा हो।'

'नीचे भाहे ऐसी लग रही थी मानो दो प्रतिमटो क काले घनुप हो। यह क्या कोई दो प्रतिबिम्बियो का युद्ध है? या य उन बडी बडी आखो की रक्षा के लिये बने हैं जो भाव के समुद्र की भाति उथल रहे हैं। ये आखें मुँहजोर घाडो की तरह बाग नहीं मारती और उछल कर आकाश की ओर जाना चाहती हैं। मैंने सुना है कि विधाता ने आखो की रचना बाह्य वस्तुओ को देखने के लिये की है। पर तु यहा क्या देख रहा हूँ? ऐसा जान पढता है कि इन आखो का उद्देश्य कुछ और भी है। उनके कोना स एक अदभुत श्रावक प्रभा धरित हो रही है जिसक किंचित स्पशमात्र स ही मेरा सारा हृदय गल कर और ढरक कर उनके पास बिद्य जाना चाहता है। आखें मैंने बहुत देखी हैं, पर इस प्रकार का आकषण मैंने नहीं देना। इसके प्रत्येक कटाक्ष स दिशाएँ बिद्ध होती हैं और चराचर जगत् खिच कर सिमट आता है। इन आँखो के घूमने से, सारा दिक्चक्रवाल घूम जाता है। यह क्या मरे मन का विकार है या सचमुध ऐसा हो रहा है? आँखे मेरे पास भी हैं लकिन वे तो जैसे इन बरीनियो म घस गइ हैं और उनकी क्रिया शक्ति लुप्त हो गई है। वे और कुछ देखना ही नहीं चाहती और दखना चाह भी ता अ यत्र जाने की उनकी शक्ति नष्ट हो गई है। मैं देर तक उन आखो मे उलझा रहा। मरी बाणी रुढ हो गई थी और सोचने विचारन की शक्ति क्षीण हो गई थी। मैं कबल नेपता रहा देखता रहा दखता रहा।

क्षण भर के लिए ऐसा जान पढा कि मेरा साग अस्तित्व मूत्र की भाति स्तब्ध की भाति, नेय की भाति, इस अपूर्व रूप माधुरी म विनीत हो गया है। जैरा समल कर मैंने अपन का स्वस्थ बनाने का प्रयत्न किया। 'वेडे प्रवतन स मैन. शपती

आँखें, उन आँखों पर से हटाइ। वे भी झुकी और ऐसा जान पड़ा कि एकदम धरती में गड़ गड़, और मेरी आँखें मुँहजोर घोंड की तरह लोक लाज की लगाम को तोड़ कर, फिर उसी रूप माधुरी पर जा गड़।'

मैंने देखा कि फूल की तरह उसक लाल लाल की अघरो पर, बलाति की मलिनता आ गई है और नारंगी के समान मनोहर कपोल पर स्वेद धारा बह रही है। उसके एक हाथ में चाँदी की थाली और दूसरे में चमकता हुआ भंगार, ज्या का रंग पड़ा हुआ था, जैसे किसी निपुण शिल्पी की बनाई हुई सुवर्ण मूर्ति में, ये वस्तुएँ घमा दी गईं हैं। उसकी कुसुम्भी रंग की साड़ी के निचले प्रांत में मुँह छिपा कर, वह मृग छौना तब भी शांत, निस्पन्द सो रहा था।'

यह है नाटकीय परिचय, चार चंद्रलेख' उपन्यास की नायिका चंद्रलेखा का। बत्तीस लक्षणा वाली परमा सुन्दरी, सिद्धयोगिनी चंद्रलेखा अर्थात् स्वयं सिद्ध रूपिणी देवी ने राजा (कथानायक) को इस भाँति प्रथम दर्शन दिए हैं। यह उपन्यास का नाटकीय प्रारम्भ है और लेखक ने नाटककार की कला कुशलता से अपनी नायिका को, अकस्मात् ही पाठकों के समक्ष प्रकट करके, उन्हें अभिभूत कर डाला है। यह दृश्य प्रगटत 'अमिनान शाकुंतल' से प्रेरित जान पड़ता है और यहाँ वणन शैली भी कालिदास जैसी ही है। हिंदी उपन्यास में इस भाँति अपनी पात्र नियोजना का एक चक्र पूरा किया है। यह उपन्यास में नाटक का आरोप नहीं है—जसा कि हमारे आद्य कालीन उपन्यासकार ५० विश्वोरोलान गोस्वामी किया करते थे। यह नाटकीयता की उपन्यास रूप में सिद्धि है। और यह दुष्कर काय बड़ी ही अभूतपूर्व पात्र योजना एक सूक्ष्मतर आकृति निदान पर निर्भर करता है। जिन्होंने 'चारुचंद्रलेख' उपन्यास के उक्त स्थल का, मूल ग्रंथ में नहीं पढ़ा है, वे उसकी कलाभिरामता एवं रमणीयता की सम्पूर्ण अनुमिति नहीं कर पाएंगे। १७ स २८ पृष्ठ तक यहाँ विद्वान एवं सिद्ध हस्त उपन्यासकार ने (११ पृष्ठा में) कथानायिका का रूपवर्णन आकृति निदान एवं व्यक्तित्व निदर्शन सविवरण दिया है। उसका कुछ अतिकलापुर्ण वर्णन रम्य अवतरण ही यहाँ दिए जा सकते थे, जो इस रूप-वर्णन की यत्किञ्चित् अनुमिति करा पाते हैं।

इस भाँति वणन कला पटित विद्वान एवं रससिद्ध उपन्यासकार ने अपने नायक द्वारा ही पहले पहल, अपनी अनिच्छसुन्दरी नायिका का रूप वर्णन करा दिया है। किंतु फिर भी उसे जान पड़ा कि जिस महत्वाकांक्षी आयोजना के अनुसार उसने अपने उपन्यास का समारम्भ किया है उसका अनुरूप रूप वर्णन वह वस्तुतः अपनी नायिका 'चंद्रलेखा' का नहीं कर पाया। अतः उसने उसी रूपवर्णन परिचय को

१ 'चारुचंद्रलेख' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) पृष्ठ ११-१८ (अध्याय १) राजकमल प्रकाशन दिल्ली, १९६३ ई०।

तापस (अथवा अथ जम के 'नागार्जुन') के मुँह से एक बार फिर अग्रसर कराया है —

'तपस्वी के ललाट पर विस्मय की दीप रेखा टिच गई ! सोला कौन कहता है देवि ! तुम सामा य वृषीवल किशोरिका हो ? यह उग्रत ललाट, यह वुचिन केश राशि यह दक्षिणावत रोम राजि और यह तिलपुष्प के समान नासिका और घनी मकुटियों के नीचे यह सपन अराल रेखा—ये तुम्हें सामा य नारी नहीं रहने देंगी ! तुममें रानी के सब लक्षण हैं । यह गंगा प्रवाह के समान सीमांत रेखा, जोर किसी को मले ही धोखा दे ले, मुझे नहीं दे सकती । लेकिन तुम रानी से भी बड़ी हाने के लिये पदा हुई हो ! शुभे ! सिद्ध यागिनी के सभी लक्षण तुममें प्रकट हैं ! एक बार हाथ तो टिखाना, दवि !

'चंद्रलेखा ने हाथ बढ़ा दिया । तपस्वी ने उसका हाथ अपने करतल पर रख लिया और ध्यान से देखने लगा । उस समय चंद्रलेखा किस प्रकार अपने को सम्हाल रही, यह उसके अतीतियों के सिवा और किसी को मालूम नहीं । उसकी हथेली इस प्रकार द्रवित हो उठी जिस प्रकार चंद्रमा के त्रशन मात्र से चंद्रकांता मणि, पसीज जाती है । उसक भीतर से मानो हजार हजार जमांतर, अपनी सफलता की घोषणा करने के लिये उमड़ पड़े । तपस्वी उत्साह के साथ चिल्ला उठा—'स्वस्तिका और मत्स्य का यह युगपत सम्मिलन, अपूर्व योग है । शल, कमल और व्यजन के चिह्न केवल भगवती विमला के हाथ में प्रकट हुए थे । आश्चर्य है देवि ! यदि तुम रानी पद पर आसीन नहीं हाती हो तो शास्त्र मिथ्या सिद्ध होंगे ! फिर उसने चंद्रलेखा की दोनों कलाईयों को हाथ में लेकर कहा, पद्मगभ के समान मणिवत्तुल्य लक्षण हैं । भविष्य में कौन जाने क्या घटने वाला है ? पर लक्षण तुम्हें रानी ही नहीं, रानी से भी बड़ी बनाएँगे । तुम्हारे हाथ में अपूर्व योग है !'

अतः मे विद्याधर मृदु से यो कहला कर ही बधाकार ने विश्राम लिया है — वटा ! अस्सी वर्ष के जीवन में, प्रथम बार, यत्नीस शुभ लक्षणों से समवित सौभाग्यवती नारी का दशन पा रहा हूँ । 'य वत्नीस शुभ लक्षण कौन कौन से है जा किसी भी उपन्यास की नायिका को या जीवन सग्राम की नायिका को एक जादू रमणी या अनिष्ट सुखी बनाते हैं ? आकृति निदान अथवा सामुद्रिक शास्त्र में इन प्रश्नों पर विशाल विचार किया गया है । यह सम्भव नहीं है कि सभी शास्त्रों में वर्णित लक्षणों का समाधानयुक्त यहाँ विवरण दिया जा सक । फिर भी हमारे देश में जो लोक धाराणाएँ हैं वे बड़ी पुरानी एवं सुदृढ ज्ञान परम्परा पर आधारित हैं । उनका मनोवैज्ञानिक एवं रमणीयता शास्त्र विषयक मूल्य भी कम नहीं है । उनमें एक है

१ चाण्ड चंद्रलेखा (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी), अध्याय १ पृष्ठ २४ २५ ।

२ वही पृष्ठ २६ ।

नायिका म बत्तीस शुभ लक्षण पाए जाने वाली बात। उपन्यास में, मन्त्री विद्याधर मट्ट, प्रसिद्ध दक्कन या ज्योतिषी भी हैं, उन्होंने चन्द्रलेखा को देखते ही सहसा निम्न श्लोक कहा था —

तुरगनेत्रा गरदिन्दुवक्त्रा विम्बाधरां चन्दनमधमुक्ता,  
चेलांशुका पीनकुचा मनोज्ञा—श्यामा सदा कामदुषा विचित्राम् ॥<sup>१</sup>

इससे पूर्व भी तरुण तपस्वी द्वारा चन्द्रलेखा का हाथ देखा जाना और उसके मुख से उसके भावी सौभाग्य एवं ऐश्वर्य के लक्षणों का विवरण कहलाना भी यहाँ साम्प्रदायिक ही है। संक्षेप में—हमारे पूर्वजों की महान विद्वत्परम्परा ने नारी के महनीय सौन्दर्य की प्रशंसा की, सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र कामसूत्र आदि से लेकर, देवी स्तोत्रों एवं आध्यात्म गीतों तक गाया है। अपने उपन्यास साहित्य में भी हमने पूरा प्रयत्न किया है कि हम नायिका की, सांसारिक बलुप एवं कल्प से मुक्त आनन्दमयी छवि का चित्रण करें। यहाँ केवल इतना तथ्य विशेष स्मरणीय है कि विश्व के समस्त उपन्यास-साहित्य में, नारी के महनीय तथा महिमा मण्डित रूप का जसा निरूपण, भारतीय उपन्यास में उपलब्ध है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ ही नहीं मिलेगा भी है। रूप और गुणों को पृथक् करके देखने के, हम भारतीय, अभ्यासी नहीं हैं।

पानों के उपन्यास की नियोजना में यागदान के सम्बन्ध में प्रसंगिक आकृति निदान एवं मुखाकृति वणन के जितने भी उल्लेख आते हैं उन सभी के मूल में मुख्य तथा यही लोक धारणा है कि प्रायः अच्छे विचारों एवं भावनाओं वाले व्यक्ति अपनी मुखाकृति (चहरे मोहरे) और शारीरिक रूपरेखा में भी सुहावन और सुघर होते हैं। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'आनन्द की साधनावस्था' नामक निबंध में अपने विचारों को यों व्यक्त किया था —

'लोक हृदय, आकृति और गुण सौन्दर्य और सुशीलता एक ही अधिष्ठान में देखना चाहता है। इसी से 'यत्राकृति तत्रगुणा वर्सति, सामुद्रिक शास्त्र (आकृति निदान-सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रन्थ) की पक्ति भी लाकोक्ति के रूप में चल पड़ी।'<sup>२</sup>

आचार्य शुक्ल ने ही इस प्रसंग में श्रीहृष की, नपथीय चरित में कही हुई इस पक्तिद्वय को भी उद्धृत किया है और आकृति और लोक हृदय अथवा लोक मानस वाली बात को पुनः समर्थित किया है —

१ चारु चन्द्रलेख, पृष्ठ २८ ।

२ रस मीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल) सम्पादक प० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र (प्रकाशक काशी नागरी प्रचारिणी सभा) प्रथम प्रकाशन, १९४६, (द्वितीय संस्करण १९५४ ई०, पृष्ठ ६२ से ।

‘न तुला विषये तवाकृति, न वचो यत्मनि ते सुशीलता ।

त्वत् सदाहरणा कृतो गुणा, इति सामुद्रिक सार मुद्रणा ।’

भीतरी और बाहरी सो-दय (रूप सो-दय और कम सो दय) के मेल की यह आदत—‘धीरोदात्त नायक आदि के शास्त्रीय विवेचन प्रसंग से भी बहुत पुरानी है और वह बिलकुल छूट भी नहीं सकती । यह हृदय की एक भीतरी वासना की तुष्टि के हेतु कला की रहस्यमयी प्ररणा है ।’

आचार्य शुक्ल ने यहाँ, आकृति सम्बन्धी लोकाधारणा तथा कला की कला-कार के हृदय मे सृजनात्मक प्रतिभा, तथा उसके रहस्य भरे स्फुरण के बीच, जो तारतम्य सम्बन्ध स्थापित किया है, वह निश्चय ही अत्यन्त महत्वपूर्ण है । यह आवश्यक नहीं कि लेखक, अपनी उप-यास रचना मे, अपने पात्रपात्रों पर कृत्रिम सो-दय का आरोप, जानबूझ कर ही करना चाहता है । वस्तुतः जब वह अपने चरित-नायक अथवा चरित-नायिका को, सुन्दर रूप रेखा मे अंकित करता है, तो उसके हृदय मे, उसकी सहज कलारमक उदमावना ही चलवती होती है और वह बिना जान-बूझे या कृत्रिम आराप क ही, अपने पात्र पात्रों को, रम्याकृति प्रदान करता चलता है ।

आकृति निदान क सम्बन्ध मे हमारे प्राचीन ग्रंथो मे अनेकानेक उल्लेख आए हैं जिनके अनुसार हमारे देश मे, सहस्रावधि वर्षों से यह विश्वास चला आ रहा है कि मानव क पार्थिव शारीरिक लक्षणों से, उसकी आंतरिक मनोवृत्ति एवं गुणशैली का पता चल सकता है । अतः हमारे उप-यासकारो न आकृति निदान तथा सामुद्रिक शास्त्र की धारणाओं का भी यथासम्भव अपने उप-यासो मे निर्वाह करन का प्रयत्न किया है । श्री प्रेमचन्द जस आदशवादी तथा यथायवादी उप-यासकार भी, विशेष रूप से इस बात का ध्यान रख कर ही अपने उप-यासो के पात्रों का रेखांकन करते हैं ।

अपने ‘मुखाकृति विज्ञान’ नामक ग्रन्थ के प्राक्कथन मे, प० कृष्णगोपाल तिवारी ने आदिकवि महर्षि वाल्मीकि की रामायण से उद्धरण दते हुए इस, शास्त्रगत आकृति एवं चरित्र की सामंजस्य सम्बन्धी अतिप्राचीन भारतीय मा-यता को सिद्ध किया है । राम ने (रावण-युद्ध क प्रसंग मे) अपने सुग्रीव आदि सहयोगियों को समझात हुए, उन्हें विभीषण की जार से आश्वस्त किया था —

१ ‘नपथीय चरित’ (श्रीहय) सग २ श्लोक ५ ।

२ रस भीमांसा (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल), (‘आनन्द की साधनावस्था’) पृष्ठ ६२ ।

३ ‘मुखाकृति विज्ञान (प० कृष्णगोपाल तिवारी) [प्र० बबई बुक डिपा, बलकत्ता] (प्रथम प्रकाशन, १९५२ ई०) प्राक्कथन ।



‘चतुर लोग कण्ठस्वर भेद से वास्तविक भाव जान लेते हैं। विभीषण की बोली या वाणी द्वारा, कोई दुष्ट कल्पना व्यक्त नहीं होती। वह हसमुख है, इसलिए सदेह से परे है।’

देवी सीता क मुख स, उ ही के सौभाग्य लक्षणो के बारे म, निम्न परिचय दिलाया गया है —

‘मेरे केश, अत्यन्त सूक्ष्म या बारीक हैं और नीनवण हैं। मेरी भोंह, दोनो बराबर झुकी हुई है। मेरे दाँत विरल (नह या कम दिखाई देने वाले) हैं। मेरे शरीर का वण, मणिया के समान कातिमय है। शरीर के रोम सुकोमल हैं। मुस्कान मद्द है। अग-अग मृदु है।’

इसी भाँति ‘मुखाकृति विनायक’ ने विष्णुपुराण तथा अनेक अन्य ग्रन्थो से, आकृति निदान के लक्षणों के समथन म, अनेकानेक उल्लेख किए हैं।

ज्योतिष शास्त्र के अनुसार भी, दवनों ने आकृति एवं शुभाशुभ प्रभाव का तारतम्य विठाने के सम्बन्ध म, कुछ सिद्धांतो का निरूपण किया है। मानव व्यक्तित्व को, ज्योतिष विद्या विशारदो ने, बाह्य व्यक्तित्व एवं आंतरिक व्यक्तित्व, इन दो उपभेदो मे बाटा है। अर्थात् मानव क ज म लग्न एवं ग्रहस्थिति क अनुसार, उसके शरीर एवं मन, शील एवं चरित्र पर भी किसी न किसी रूप म प्रभाव पडता है ऐसी मान्यता है। इसीलिए उपयासो म बहुधा हमे इस भाँति के उल्लेख मिलते हैं कि अमुक व्यक्ति न जब ज म लिया तो ग्रहो की स्थिति इतनी अनुकूल एवं शुभकारी थी। दवनों ने भविष्यवाणी की थी कि बालक आगे चल कर चक्रवर्ती सम्राट बनेगा या बालिका, साम्राज्ञी पद पर विभूषित हागी आदि।

मानव व्यक्तित्व पर विभिन्न ग्रहो के प्रभाव का भी निरूपण, ज्योतिष शास्त्र म किया गया है—उदाहरणाय बाह्य व्यक्तित्व के प्रथम रूप विचार का प्रतीक, बहस्पति है। वही शरीर संचार के लिए रक्त प्रदान भी करता है। बहस्पति का प्रभाव, स्मृति, अनुभव, प्रत्यभिज्ञा आदि पर पडता है।

आत्मिक दृष्टि से बहस्पति, मनोहर प्रकृति सौ दय प्रेम शांति भक्ति तथा व्यवस्था वृद्धि पर प्रभाव डालता है।

बाह्य व्यक्तित्व का दूसरा रूप मंगल है। वह इन्द्रिय ज्ञान और आनन्देच्छा का

१ अत स्वभाव गीत न पुण्यम पश्यतामृशम ।

न त्वस्य द्रुवत जातु लक्ष्यते दुष्ट भावना ॥

प्रसन्नवदनम चापि

॥ —श्रीमद्वाल्मीकि रामायण

२ ‘केशा सूक्ष्मा समानीला भुवो चा सहत मम ।

मम वण मणिनिम मृद्ममकरुहाणि च ॥

मदस्मिति स्मेत्यव, द ताश्च विरला मम । —श्रीमद्वाल्मीकि रामायण

प्रतिनिधित्व करता है। आत्मिक दृष्टि से, वह साहस, बहादुरी, दृढ़ता, आत्म विश्वास, श्रेष्ठ आदि विचारों का प्रतिनिधि माना जाता है।

बाह्य व्यक्तित्व के तीसरे रूप का प्रतीक, चंद्रमा है। वह मानव शरीर पर, विभिन्न प्रभाव डालता है। मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाले, परिवर्तनशील भावों का भी वह प्रतिनिधित्व करता है। आत्मिक दृष्टि से, वह संवेदन, आंतरिक इच्छा, उतावलापन, भावना, कल्पना आदि प्रवृत्तियों पर प्रभाव डालता है।

इसी भाँति आंतरिक व्यक्तित्व पर, क्रमशः शुक्र, बुध तथा सूर्य द्वारा भी, प्रभाव पड़ता है, ऐसी भी मान्यता है। शुक्र, निस्वार्थ प्रेम एवं विश्व व धुत्वका प्रेरक है। बुध, स्मरण शक्ति, तथा सूर्य, पूषण देवत्व की चेतना का प्रतीक, माना गया है। रात्रि का प्रभाव अंतःकरण पर पड़ता है, यह भी मान्यता है।<sup>१</sup> भारतीय उपन्यासों में, कथानायक अथवा कथा की प्रधान नायिका से सम्बद्ध विभिन्न प्रसंगों के साथ, नक्षत्रों, ग्रहों आदि की स्थिति का भी सम्बन्ध दिखाया जाता है और तदनुसार आने वाले घटनाक्रम का प्रभावित होना भी दिखाया जाता है।

भारतीय उपन्यासों की एक बड़ी विशिष्टता यह है कि सभी महान उपन्यासों की प्रधान नायिकाओं को, प्रायः कृत्रिम साज-सज्जा से दूरी पर रख कर उन्हें सहज प्रकृति द्वारा ही रमणीय चित्रित किया गया है। प्रारम्भिक हिंदी उपन्यासों 'रानी कतकी की कहानी' से लेकर, 'अधुनातम हिंदी उपन्यासों यथा पुनर्नवा' (आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी) तक में इस बात का निर्वाह किया गया है। इसी प्रकार, भारत की अनेक भाषाओं के उपन्यासों में भी बहुधा नायिकाओं को, सादगी से ही चित्रित किया जाता है।

इसके विपरीत भारत—विशेषतया पश्चिमी उपन्यास साहित्य में, उपन्यासों के नायक तथा नायिकाएँ प्रायः दोहरे व्यक्तित्व वाले व्यक्ति दिए जाते हैं। वहाँ शारीरिक रूप वृणन को, आंतरिक गुण शील के साथ दृष्टि से समन्वित करना, आवश्यक नहीं माना जाता। इसके अतिरिक्त वहाँ नायक अथवा नायिका की बाह्य वेशभूषा तथा चाल ढाल पर, अधिक ध्यान दिया जाता है, जिसे अंग्रेजी भाषा में 'पर्सोनेलिटी' कहा जाता है। [यह शब्द मूलतः आंग्ल भाषा का न होकर लातीनी (परसोना) है।] 'पर्सोनेलिटी' शब्द पर टिप्पणी करते हुए, जी० डब्ल्यू० आलपोर्ट ने अपने ग्रंथ 'परसोनेलिटी एंड साइकोलॉजिकल इन्टरप्रिटेशन' के द्वितीय अध्याय में लिखा है—

प्रारम्भिक रूप में यह शब्द 'पर्सोना', यूनानी नाटकों में प्रयुक्त, 'बनावटी

<sup>१</sup> भारतीय ज्योतिष (नेमीचंद्र शास्त्री ज्योतिषाचार्य) प्रकाशक भारतीय पानरीठ, काशी, प्रथम संस्करण १९५२ ई० [अध्याय, १ पृ० १६-२५।]

चेहरे' के लिए प्रयुक्त होता था। इसका प्रचलन रोम के नाटकों के अभिनेता, ईसा से लगभग एक सदी पहले, किया करते थे।

आज भी पाश्चात्य जगत् में, विशेषतया उप-यास क्षेत्र में 'पर्सोनेलिटी' शब्द का प्रयोग, बहुधा उस प्रभाव के रूप में किया जाता है जो किसी व्यक्ति द्वारा उसके चारों ओर प्रसरित होता है। किन्तु सामाजिक व्यवहार हमारे उप-यासो में आये हुए ऐसे प्रसंगों की परिसीमा नहीं मानी गई है जो मुख्य पात्रों अथवा पात्रों के चरित्रों से सम्बन्ध रखते हैं। सामाजिक व्यवहार और व्यक्ति के निजी एवं सहज जीवन में, सुकर एवं सुघर तारतम्य ही हमारे नायक नायिकाओं के चरित्र चित्रण का दृशिष्ट्य है।

व्यक्तिगत व्यवहार और समाजगत व्यवहार, हमारे यहाँ दो अथवा पृथक् तत्व के रूप में, नहीं माने जाते। साजसज्जा बनावट, कृत्रिमता आदि को हमारे कलाकारों ने गौरव नहीं दिया। उन्होंने सदैव सरल अकृत्रिम सौन्दर्य को ही प्रथम महत्त्व प्रदान किया है। कालिदास की प्रसिद्ध उक्ति को माना हमारे सभी उप-यासकारों ने पद पद पर, दुहराया है तथा उसे ही अपने समक्ष, एक आदर्श वाक्य की भाँति सदैव रखे रखा है— 'किमिव हि मधुराणाम् मण्डनम् ना कृतीनाम्' [अर्थात् 'जिन्हें प्रकृति ने सहज माधुर्य प्रदान किया है उनके लिए मला मण्डन' की क्या आवश्यकता है?]

कालिदास की उक्त सूक्ति तथा लोकमानस की इस धारणा को (कि प्रायः, अच्छी आकृति वाले एवं अच्छे शारीरिक लक्षणों वाले पात्र अथवा पात्रों अपने गुण, शील में भी उच्चतर होते हैं) हमारे शब्द काशो द्वारा भी समर्थन मिलता है यथा— श्री वामन शिवराम आष्टे द्वारा संपादित 'संस्कृत अंग्रेजी कोश' की जिल्द प्रथम, पृष्ठ ३६० पर अर्थ सूच्या दो और तीन में उक्त बात ही एक प्रकार से दोहराई गई है।<sup>१</sup> इसी भाँति सर मानियर विलियम्स द्वारा संपादित शब्दकाश (पृष्ठ १२७) में— ए वेल फामड शेष अर्थात् सुघर शरीर की पथाय रूप ही आकृति को स्वीकार किया गया है।

१ पर्सोनेलिटी एपीयरेस एण्ड स्वीच (सी० एच० पीयर) अध्याय १, पृ० १२ (जॉज एलेन लन्दन, १९५७ ई०)

२ 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' कालिदास, अंक २, श्लोक २६

३ आकृति—फाम फिगर, शेष (आफ एनीदिंग)। २ बाडीली फॉर्म बाडी, एस० १०० विकृताकृति, घोर, सौम्य। ३ एपीयरेस—आफ्ट ए गुड आर नोवेल एपीयरेस गुड फाम।—संस्कृत द्विगतिना द्विगतिना, (वामन शिवराम आष्टे) (संपादक पी० के० गोडे तथा सी० जी० कर्वे) (प्रसाद प्रकाशन, पुना,) जिल्द १, (मन १९५७ ई०) पृष्ठ ३०७।

पात्र-योजना एवं उनके रूप गुणशील का सम्यक विकास, इसीलिए भारतीय उपन्यास विधा की एक शीघ्र महत्व वाली विशिष्टता रही है। उसे हमारे प्रत्येक उपन्यासकार एवं कलाकार ने, अपनी निजी प्रतिष्ठा एवं कलात्मक कसौटी का प्रश्न समझा है तथा उसकी नियोजना में उमने अपनी समग्र कलाभिरुचि, सस्कारशीलता, धृत एवं अनुभूत जानकारी तथा शास्त्रज्ञान को समन्वित करने का, सतत एवं मनो योगपूर्वक, प्रयत्न किया है। जब तक हम भारतीय उपन्यास की इस मौलिक एवं निजी विशिष्टता को ध्यान में रखे बिना, उसके पात्र पात्राओं की परिचायक वणन-नियोजना के, पार्श्वगत आलाचना पद्धति के अनुसार प्रतिपादन में, प्रवृत्त रहेंगे, उत्कृष्ट उपन्यासकारों एवं साधारण उपन्यास लेखकों की वणन कला के बीच विभेद करने का, हमें अवसर ही नहीं मिल पायेगा और पात्र नियोजनागत भारतीय उपन्यासों की उत्कृष्ट वणनकला के साथ, कभी समुचित न्याय नहीं हो पायेगा।

हमारे रससिद्ध उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों के नायक एवं नायिकाओं के, अथवा कथा में सहायक अथवा मुख्य पात्रों अथवा पात्राओं के रूपवणन तथा गुणशील निर्देशन के सम्बन्ध में एक सुनिर्धारित सरणी का अनुसरण किया है जिसकी एक पर्याप्त आधुनिक आवृत्ति हमें 'चार चन्द्रलेख' की मुख्य नायिका चन्द्रलेखा के रूपवणन में मिलनी है। आचार्य श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने चन्द्रलेखा की रूपवृत्ति के चित्रण में उपमाओं एवं अलंकारों का भी जहाँ सहारा लिया है, उसे ध्यानपूर्वक देखने से पता चलता है कि वे उपमाओं के प्रयोग में भी नूतन से नूतन उपमाओं की उदभावना करने में कितने पटु हैं तथा उनमें से प्रत्येक उपमा एवं अलंकार का प्रयोग, उनकी नायिका के रूपकुल शील के किसी विशिष्ट पक्ष को व्यक्त करने के अतिप्रयत्न से ही, किया गया है? वह कोई रीतिबद्ध, षड एवं परम्परागत रूपवणन नहीं है यद्यपि शली में वह ऊपरी तौर पर उससे कुछ मिलता-जुलता अवश्य जान पड़ता है। यही श्री द्विवेदीजी का निजी वणन कौशल है जो उनके पात्रों एवं पात्राओं को हमारे सम्मुख, साकार एवं चाक्षुष रूप में प्रस्तुत करने के चमत्कार से समन्वित है।

भारतीय उपन्यासकारों की पात्र वणन नियोजना के मूल में, उनकी शरीर की कलात्मक सुघरता तथा उस पर उसके मनोगत गुणशील की सूक्ष्म प्रतिनिधियों की असह्य एवं परिचायक लहरियाँ, उठती मिटती जानपड़ती हैं। यह उनकी साहित्य साधना की सुदीर्घकालीन विविधरूप अनुभूतियों द्वारा, प्रेरित रहती हैं उनको, गहन मनोविज्ञान शास्त्र आकृति निदान शास्त्र सामुद्रिक शास्त्र, ज्योतिष शास्त्र, ज्योतिष गणना देवी देवताओं के स्तोत्र साहित्य के अनुशीलन तथा कामसूत्र के मनो वानिक आधारों आदि की सम्यक् जानकारी से भी, सदैव समयन प्राप्त होता रहा है।

भारतीय उप-यासों की पात्र-वणन-योजना पर, उपर्युक्त सरणी को ध्यान में रख कर, यदि हम दृष्टिक्षेप करेंगे तो हमें, यह प्रतीति होने में विलम्ब न होगा, कि आकृति-निदान-सम्बन्धी प्रसंग, हिन्दी उप-यासों की प्रारम्भिक कृतियों से लेकर, आज तक की कृतियों में, एक-से-एक-अनूठे ढंग के बन-पड़े हैं। भारतीय लोक-धारणा के अनुसार, प्रायः उप-यासों के नायक का रूप, सुन्दर और मनोहारी ही अंकित किया गया है। नायिकाओं का रूप भी तदनु रूप मनोहारी तथा उनका शील-स्वभाव भी, मनोमुग्धकर होना ही चाहिए। नायक में, रूप के साथ-साथ, वीरत्व के भी गुण पाए जाने चाहियें। प्रेम-काल-पूर्वकाल के प्रारम्भिक हिन्दी उप-यासों में, आकृति-निदान-सम्बन्धी प्रसंग, पर्याप्त ऊहापोहयुक्त तदपि कलापूर्ण पाए जाते हैं। उस समय तक हिन्दी उप-यासकारों पर पाश्चात्य प्रभाव नहीं पड़ा था और वे अपने महाकाव्यों की धारणा और परम्परा का ही, बहुधा परिपालन करते थे। जो माय-ताएँ हमारे महाकाव्यों में पायी जाती थीं उन्हीं का, हमारे आधुनिक गद्य-महाकाव्य, 'उप-यास' में भी सहज रूप से विकास-हाता चला गया।

आद्य हिन्दी उप-यासों में 'इशा' के नायक-नायिका के रूप-वणन की चर्चा की ही जा चुकी है। किन्तु भारते दु-हरिश्चन्द्र-कृत एक कहानी 'कुछ जगबीती' में 'दुष्ट-पात्रों की रूपरेखा पर भी ध्यान दिया गया है। यथा— एक कुन्वी का चित्र यों अंकित किया गया है— जात का कुन्वी है, नाम हाली है नाटा खोटा, बड़ी मौँहे आदि आदि। (देखिये परिशिष्ट १)। इसी भाँति चन्द्रकांता उप-यास में चपला नामक एक प्यार महिला है जिसका रूप-वणन और सास-जमा वणन, उसी के अनुरूप किया गया है। उसको साधारण पात्रों से विशिष्टता प्रदान करने के लिये, महाराष्ट्रीय वेश-भूषा में चित्रित किया है। इस भाँति उसको, एक प्रकार से अधिक चतुर दिखाने की कोशिश की गयी है। (देखिये परिशिष्ट १)।

श्री-किशोरीलाल-गोस्वामी-कृत कुसुम-कुमारी नामक उप-यास की पात्र-नियोजना पर दृष्टिक्षेप, भी इस प्रसंग में रुचिकर होगा। उप-यास के नायक-बसन्त-कुमार का रूप-वणन, उसके गुण-शील के अनुरूप है। उप-यास के अन्य विशिष्ट-उल्लेखनीय पात्र-वणन हैं— कुसुम-कुमारी के रूप-वणन-बसन्त-कुमार की पत्नी, गुलाब-देई का रूप-वणन। इसी भाँति कु-वरमिह-सेनापति (श्री-गंगाप्रसाद-गुप्त) भ-कथानायक का रूप-वणन-दो महिलाओं का रूप-वणन, जालिम-डाकू का विकराल रूप-वणन, आदि भी दृष्टव्य हैं। (ये सभी वणन, परिशिष्ट १ में दिये गये हैं।) एक प्रकार से इन सभी प्रारम्भिक हिन्दी उप-यासों में, नायक एवं नायिकाओं का रूप-शील भारतीय महाकाव्यों एवं उप-यासों की परम्परागत शैली में ही अलेखित और चित्रित है। उन सभी में 'आदर्श-रूप' की रेखाएँ, अधिक उमर कर आई हैं।

आधुनिक युग में ये मापताएँ कुछ बदल गई हैं। तदनुसार कोशगत परिभाषाओं में भी कुछ परिवर्तन हुआ है। आधुनिकतम हिंदी कोशों में—यथा मानक हिंदी कोष<sup>१</sup> में 'आकृति' तथा 'आकृति विज्ञान' इन दोनों पदों की, अलग अलग परिभाषाएँ दी गई हैं —

आकृति—स्त्री (स० आ कृ+वितन्)

१ किसी वस्तु, व्यक्ति या ढाँचे का, निश्चित स्पष्ट तथा स्थिर रूप, जिससे उसकी पहचान होती है। २ उक्त के अनुसार किसी वस्तु या व्यक्ति का, अंकित या चित्रित किया हुआ रूप। ३ ज्यामिति में, केवल रेखाओं की सहायता से, क्षेत्रों आदि के बनाए जाने वाले रूप ('फिगर' उक्त, सभी अर्थों में)। ४ भावमयी प्रकट करने वाली मुद्रा। ५ 'सवया' नामक छंद का एक प्रकार, जिसके अनेक विभेद भी हैं।

आकृति विज्ञान—पु० (प० त०) मनुष्य की आकृति (उसके अंगों की गठन तथा मुद्रा) के आधार पर उसकी प्रवृत्ति, स्वभाव, गुण दोष आदि बतलाने की विद्या (फिजियोनामी)।<sup>१</sup>

उपर्युक्त परिभाषा में व्याख्या की हुई अधिकांश बातें ही, साधारणतया उपयासकार के मन में, अपने उपयासके पात्रों का चित्रालेखन करते समय रहा करती हैं। वह जिस पात्र को जमा काम जसा व्यवहार देना चाहता है वसी ही वह उसकी आकृति अंकित करता है, क्योंकि कहा जाता है कि मुँह को देख कर ही, मनुष्य की प्रवृत्ति को जाना जा सकता है। लोकधारणा में भी बहुत सी लोकोक्तियाँ इस विषय से सम्बन्ध रखने वाली प्रचलित हो गई हैं। जैसे तुलसीदास कृत रामचरित मानस में, कैकेई के मुँह से मथुरा के प्रति बटलाया गया है—काने खोरे बूबरे कुटिल कुचाली जानि।<sup>१</sup> इसी प्रकार साधारण बोलचाल की भाषा में भी प्रायः यह कहा जाता है कि जिस व्यक्ति का माथा छोटा हो वह बुद्धिहीन होता है जिसके पर बड़े हों वह भी बेबकूफ होता है, जिसकी गदन बहुत छोटी (कोटा गदन) हो वह बहुत चालाक होता है और विश्वसनीय नहीं है। यथाधारणें लोकमानस में घर कर चुकी हैं। ६ हों धारणाओं के प्रतिरूप उपयासो में आकृति निदान-सम्बन्धी वर्णन भी हमें यत्रतत्र मिलते हैं। 'आकृति निदान' शास्त्र में इस प्रसंग में कितनी ही आकृतिगत 'सुकृतियों अथवा विकृतियों की चर्चा की गई है। उसी को, सूक्तियों में भी, अपना लिया गया है।

दीप्ति, माधुय और कोमलता के नाना रूप यहाँ मिलते हैं—जो सौन्दर्य की मादक अनुभूति प्रेमोत्सास, स्वप्न, स्मृति विस्मृति, ब्रीडा क्रीडा, दशन पिपासा उत्कण्ठा, मुग्धता आदि की सूक्ष्म मानसिक सवेदनाओं मे घुलमिल जाते हैं।”

भारतीय उप-यासकारों की पात्र वणनगत वणनकला उपलब्धियाँ, अत्यंत गरिमायुगी एव बहिष्कृत्ययुगी हैं। ‘संस्कृत उप-यास साहित्य की सक्षिप्त रूपरेखा’ मे कुछ महान उप-यासकारों की वणन प्रतिमा का परिचय कराया ही गया है। दण्डी ने दशकुमार चरित’ मे ‘सोती हुई राजकुमारी’ का विलक्षण रूप वणन किया है। बाण ने भी अपने पात्र पात्राओं के रूप वणन मे, उनके द्वारा धारण की हुई वेश भूषा की वारीकियों का बड़े मनोयोगपूर्वक चित्रण किया है। उनकी प्रतिच्छविद्या हमें अपनी पुरातन मूर्तिकला एव चित्रकला के उत्कृष्ट उदाहरणों मे आज भी उपलब्ध हैं। जिन रूपसियों की साजसज्जा का हम अजता के चित्र फलकों अथवा मजुराहों के मूर्त चित्रों में आज भी दशन करते हैं, उनके बाण और दण्डी ने माक्षात दशन किये थे और उन्होंने उनकी वारीकियों को भी हृदयगम किया था। उसी की अन्विष्यना हम, उनके उप-यासों के पात्र पात्राओं के रूपवणन शब्द चित्रों मे मिलती है।

दण्डी ने अपने दशकुमार चरित’ मे वेश भूषा और प्रसाधन सम्बन्धी परम्पराओं का सविस्तार विवरण दिया है। उनकी नायिकाओं के परिधानों का सूक्ष्म, चित्र विचित्र तथा रेशमी महोन्न कपडा, काशी का बना हुआ होता था। चीन के बने रेशमी कपडों की भी तत्कालीन भारत मे काफी माग थी। उसे ‘चीनाग’ और चीनाशुक कहते थे। कोरे कपडे (निष्प्रवाणि युगल) पहनने का भी रिवाज था। राजा, ‘परिकर नामक कीमती कपडे पहनते थे। स्त्रियाँ कभी-कभी नीलाशुक चूलिका’ (यानी नीली मलमल की बनी चोली) पहनती थी। स्त्रियों के गहनों कपडों और अन्य प्रसाधनों का भी सूक्ष्मतर विवरण हम दण्डी के उप-यासों मे मिलता है। गङ्गा मे मणिनूपुर, कडा (कटक), ताटक, हार, मानिक के टिकरे (रत्नक) वाला सूत्र कुण्डल रत्नवणिका तथा वर्णावृतस इत्यादि अनेकानेक पुराने गहनों के नाम ‘दशकुमार चरित’ मे आए हैं। गालों पर की गई चित्रकारी को विशेषक’ कहते थे। उसके लिखने की प्रथा भी पर्याप्त लोकप्रिय थी।”

बाण की वादम्बरी’ तथा ‘हृष चरित’ दोनों मे ही तत्कालीन पात्र-पात्राओं की वेशभूषा के बड़े ही सूक्ष्म विवरण वणन पाये जाते हैं। आज भी जब कभी हमारे

१ ‘रसमीमासा (आचार्य रामचन्द्र द्युबल), अध्याय २ उपविभाग ‘माधुय पक्ष, पृष्ठ ८१।

२ दशकुमार चरित (दण्डी) आमुय (डा० मोतीचन्द्र) (राजकमल प्रकाश, दिल्ली)।

बाधुनिक उपन्यासकार, पुरातन जीवन पर आधारित इतिवृत्तात्मक अथवा सांस्कृतिक उपन्यासों की रचना करते हैं तो उन्हें बाण और दण्डी द्वारा वर्णित, इन कलात्मक विवरणों का ही सहारा लेना पड़ता है। एक स्थल पर इसी सम्बन्ध में स्व० वासुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा था —

वेशभूषा ही को लें—क्षीम और अशुक में क्या अन्तर था ? अशुक कितने प्रकार के होन थे ? रगों की दृष्टि से नीलाशुक की जाली मुँह पर डाली जाती थी, नीलाशुक की चादर (प्रच्छद पट), पलंग को ढकने के काम आती थी। (‘कादम्बरी’, पृष्ठ १८६, १९१), पाटल पट्टाशुक, अनुमरण करने वाली सती का, मंगल चिह्न माना जाता था। (‘हृष चरित’, पृष्ठ १६५) मन्दाकिनी के प्रवाह की भाँति सिताशुक, व्रत पालने वाली स्त्रियों का वेश था। (ह०, पृ० ६०) इंद्रायुष जाल वर्णाशुक (सतरंगी इंद्रघनुष, की छटावाला वस्त्र) (का०, पृ० १७९) उस समय, श्रेष्ठ माना जाता था जो बहुधा अज्ञात के चित्रों में मिलता है, जिसमें कई रंगों की पट्टियाँ डाल कर रंगाई की जाती थी। रवणाशुक शिरोवकुण्ठन, मालती और चाण्डाल कन्या के वेप में वर्णित किया गया है। कुचाशुक (ह०, पृ० ११७) मुपताशुक (मोतियों का बना हुआ अशुक (हृषचरित पृष्ठ २४२), विसततुमय अशुक (ह०च० पृ० १०), सूक्ष्म विमल अशुक (ह०च० पृष्ठ ९), मग्नाशुक (शरीर से सट कर डूबा हुआ सूक्ष्म रेशमी अशुक), सुकुमार चीनाशुक (ह० च० पृ० ३६), तरंगित उत्तरीयाशुक (ह०च० पृ० १६३) आदि विभिन्न प्रकार के अशुकों का अध्ययन, उत्तर गुप्तकालीन संस्कृति का उज्वल चित्र उपस्थित करता है। इसी प्रकार पुरुषों की वेप भूषा स्त्री पुरुषों के आभूषण आदि के कितने ही अध्ययनों की सामग्री, बाण के ग्रंथों में विद्यमान है।<sup>१</sup>

बाधुनिक संस्कृत उपन्यासकार प० अम्बिकादत्त न्यास ने अपने ‘शिवराज विजय उपन्यास के प्रातस्मरणीय कथानायक वीर शिवाजी की रूपरेखा बड़ी ही सूक्ष्म योजना शली में चित्रित की है। परम्परा प्रभावित वर्णन शली अपनाते पर भी यहाँ लेखक ने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि शिवाजी का प्रामाणिक आकृति निदान, मयासमय यथातथ्य रखा जाए और अत्युक्ति द्वारा वह, इतिवृत्त से भिन्न न होने दिया जाए।

उत्कीर्ति (शिवाजी की) भूति छोटे कद वाली होने पर भी पराक्रम में छोटी नहीं। कृष्ण वर्ण होने पर भी उसने अपने यश से तीनों भुवनों को शुभ्र कर दिया था। वह कुशासनाश्रय होने पर भी सुशासनाश्रय था। मढ़ने पढ़ाने के परिश्रम सहित होने पर भी वह नीति में निपुण थी। मोटी आँवों वाली होने पर भी वह,

१ हृषचरित—एक सांस्कृतिक अध्ययन (वासुदेवशरण अग्रवाल) भूमिका भाग। पृष्ठ ६ तथा ७।



छोटी आँसू वाली (सूक्ष्म दृष्टियुत) थी। हत्याकांड के घिसन में आसक्त उनकी घम घुरघर मूर्ति, कठिन होने पर भी कोमल थी, चण्ड होने पर भी वह शांत थी, युद्ध से शोभित होने पर भी वह हृदय सुलह से युक्त थी। गौरव धारण करने पर भी वह लाघव युक्त थी। उनका विशाल मस्तक, बाहुच्छद, प्रचण्ड नेत्र प्रांत, लाल धा और गदन शय की भाँति थी। उनकी हृदय भासपेशियाँ गोल तथा मूँछें काली थीं। वह मूर्ति ऐसी मालूम होती थी मानों वीरता ने ही आकार धारण कर लिया हो— वीरता ही मानों शरीर युक्त हो गई थी।<sup>१</sup>

भारतीय उपन्यास साहित्य में पात्र नियोजना-वणनो की हम बड़ी ही मनोरम कलात्मक छवि के दर्शन होते हैं। इन वणनकलात्मक उपलब्धियों के प्रसंग में कतिपय प्रेमचंद पूर्वकालीन हिन्दी की औपन्यासिक कृतियों में आए हुए पात्र पात्रों के रूप वणनो का परिशिष्ट १ में समावेश कर दिया गया है। आधुनिक उपन्यास में पात्रों के रूपवणन के सम्बन्ध में श्री प्रेमचंद ने बड़ा व्यापक एवं महान योगदान किया है। वे चाहते थे कि हमारे उपन्यासों के पात्र, आदर्श रूपवान भी हों तथा प्रतिभावान भी। एक पात्र, दूसरे पात्र से भिन्न दिखाई पड़े, इसके लिए उन्होंने जानने कितना अधिक वणन कलात्मक अध्ययन किया है। 'रगभूमि' में श्री प्रेमचंद द्वारा अवतरित कुछ सतत स्मनीय पात्र पात्रों के रूप-वणन आते हैं। उन्हीं में निम्न शब्दचित्र में उपन्यास की नायिका सोफिया या 'सोफी' का वणनकलात्मक भावपूर्ण रेखाचित्रण निम्न शब्दों में किया गया है —

'महत्सा उसी वृक्ष की ओर दूसरी लालटेन का प्रकाश दिखलाई दिया। एक बड़ा लोटा लिये आ रही थी। उसके पीछे सोफी थी। हाथ में एक धाली लिये हुए, जिगमे एक धी का दीपक जल रहा था। वही सोफिया थी वही तेजस्वी सौंदर्य की प्रतिमा, वाँति की मदता ने उसे एक अवणनीय गुंथ, आध्यात्मिक लावण्य प्रदान कर दिया था। मानो उसकी सृष्टि, पंचभूत से नहीं निमल ज्योत्स्ना के परमाणुओं से हुई हो। सौंदर्य प्रतिमा माहित नहीं करती, वशीभूत कर लेती है।'<sup>२</sup>

अपने अंतिम उपन्यास 'मंगलसूत्र' (१९३६ ई०) तक पहुँचते पहुँचते श्री प्रेमचंद की पात्रवणन शली अधिक विश्लेषणात्मक, सतत एवं यथाथ होती चली गई। उनका युवकींचित उत्साह, इन दस वर्षों में मंद पड़ना गया था जिसका कि चरम उत्कथन कभी रगभूमि में हुआ था। यहाँ उपन्यास के मुख्य पात्र साहित्यकार देवकुमार के पुत्रद्वय साधुकुमार तथा सतकुमार के शब्दगन परिचय अवलोकनीय हैं। और तत्परचात् सतकुमार की पत्नी पुष्पा का परिचय भी मूल में ही पठनीय है —

१ 'शिवराज विजय' (अम्बिकादत्त व्यास) हिन्दी रूपांतर, निश्वास २ पृष्ठ २८ २६।

२ 'रगभूमि' (श्री प्रेमचंद), अंश ३०, पृष्ठ ५४६ ५४७।

‘साधुकुमार ऊँचे बंद का, सुगठित, रूपवान, गोरा, मीठे वचन बोलने वाला सीम्य युवक था जिसे केवल खाने और सैर सपाट से, मतलब था। जो कुछ जुट जाए भर पेट खा लेता था और यार-दोस्तों में निकल जाता था। इतने में सन्तकुमार आ गया। शक्ल-सूरत में छोटे भाई से मिलता जुलता, केवल शरीर का गठन उतना अच्छा न था। हाँ मुख पर तेज और गव की झलक थी, और मुख पर एक शिकायत सी बठी हुई थी—जिस कोई चीज उसे पसंद न आती हो।’<sup>१</sup>

‘सन्तकुमार की स्त्री पुण्या, विल्कुल फूल सी है, सुन्दर, नाजुक, हल्की फुल्की, लजाधुर, लेकिन एक नम्बर की आत्मभिमानिनी है। एक एक बात के लिए, कई कई दिन रूठ सकती है। और उमका रूठना भी सवधा नहीं डिजाइन का है। वह किसी से कुछ कहती नहीं, लडती नहीं बिगडती नहीं, घर का सब काम काज उसी त मयता से करता है बन्क और ज्यादा एकाग्रता से। बस जिससे नाराज होती है उसकी ओर ताकती नहीं।’

श्री जयशंकर ‘प्रसाद अपने पान एवं पात्राभा की रूपछत्रिको वणन कलाकार की सूक्ष्म दृष्टि तथा लेखनी की सूक्ष्म चित्रण कला की सहायता से बड़े मनायोग से अंकित करते थे। अपने प्रथम दोनों उपन्यासों ‘तितली और ककाल’ में आए हुए पात्र पात्राओं का उ होने ऐसा रूपछत्रि जालेखन किया है मानो वे हमारे सामने आकर ही खड़े हो जाते हों। एक प्रकार से यही उपन्यासकार की सफलता है कि हम पहचान जायें कि घण्टी की रूपरेखा कसी है जमुना की रूप यष्टि कैसी है, तितली की रूप छत्रि कसी है निरजन कसा है और मधुशा कीन है? प्रसादजी स्वयं कवि थे। कवि चित्रकार और कलाकार तो हाना ही है। इसीलिए उनके आकृति और रूप-छत्रि के सभी वणन, अत्यंत लालित्यमय और सौंदर्य बोधात्मक बन पड़े हैं। उदाहरणार्थ ‘तितली’ का निम्नांकित शब्द चित्र अवलोकनीय है —

‘राजकुमारी ने देखा कि तितली अब वह चंचल लडकी न रही जो पहले मधुवन के साथ खेलने आया करती थी। उसकी बाली, रजनी सी उनीदी आखें, जसे सदैव कोई गम्भीर स्वप्न देखती रहती हैं। लम्बा छरहरा अंग, गोरी पतली उँगलियाँ, सहज उतल ललाट, कुछ खिंची हुई भौह, और छोटा सा पतले पतले अधरो वाला मुख साधारण रूपक बालिका से उसकी कुछ अलग अपनी सत्ता बना रह थे। काना के ऊपर से ही घू घट था जिससे लट्टें निकली पडनी थी। उसके चौड़ी

१ २ ‘मंगलसूत्र (श्री प्रेमचन्द), प्रकरण १ तथा २। प्रेमचन्द ‘स्मृति’, पृष्ठ २६७ तथा पृष्ठ २६९। स० अमनराय, हंस प्रकाशन इलाहाबाद १९५९ ई०।

किनारे की धोती का चपई रंग, उसके शरीर में धुला जा रहा था। वह सध्या के निरध्र गगन में विकसित होन वाली एक छोटी सी तारिका थी।<sup>१</sup>

श्री 'प्रसाद' जी ने अपने अधूरे उप-यास 'इरावती' में नायक की रूपछवि को, इस प्रकार आलक्षित किया है। उसमें एक विशेष अर्थ निहित है जो वणन को पढ़ लेने के पश्चात् ही स्पष्ट हो पाता है —

'उसके घुँघराले बाल जटा न बन पाए थे छोटी छाटी स्वतः बढ़ने वाली दाढ़ी भी कुट्टर ही कालिमा से, उसकी स्वर्ण त्वचा को रक्षाकित कर रही थी। शरीर केवल हाड से बना प्रतीत होता था। पर तु उसमें बल का अभाव नहीं था। वह अभी जाकर, शिप्रा के शीतल जल से स्नान कर, घाट पर बठा था। उसके मणि बन्ध में, किसी नागरिक के जूड़े की शिप्रा में गिरी हुई माला पड़ी थी अकारण। शिप्रा में जलविहार करने वालों की कमी न थी। वसन्त की सध्या में आकाश प्रसन्न था। प्रदोष का रमणीय समय। कि तु वह ता था, अनमना थका सा। उसकी आँखें आशा विहीन, सभ्या और उल्लास विहीन उपा की तरह काली और रतनारी थी। कमी कमी उनमें दिग्दाह का भ्रम होता मानो वे जल उठती पर तु फिर जैसे बुभुक्ष जाती। वह न वेदना थी, न प्रसन्नता।'<sup>२</sup>

अपने उप-यासों की नायिकाओं की रूपयष्टि के दिग्दर्शक की आद्य प्रेरणा हम अपने देवी स्तोत्रों से प्राप्त होती है। इसके अतिरिक्त भारतीय संस्कृति में प्रकल्पित नारी के दिग्दर्शक के रूप में यक्षी कल्पना हमारे महाकवियों ने तथा उनके अनुरूप ही हमारे महान उप-यासकारों ने अपनी नायिकाओं में बारम्बार की है। चारुचंद्रायण की नायिका में साक्षात् लक्ष्मी के रूप में दशन विद्याधर में श्री ने किये थे। यही देवीरूप कल्पना, हिंदी उप-यासकारों के अतिरिक्त हमारी प्रादेशिक भाषाओं की उप-यासिक कृतियों में भी पाई जाती है। यह समान रूप वणनात्मक आदर्श भारतीय उप-यासों की रूप वणनात्मक एकता एवं समानता का एक प्रबल प्रमाण है। प्रेमचंद कालीन उप-यासकर्त्री श्रीमती उपादेवी मिश्रा ने अपना कलात्मक एवं भावात्मक उप-यासों में, अनेक बार चिरस्मरणीय रूप वणन दिये हैं। उनके 'जीवन की मुस्कान' (सन १९३६ ई०) नामक उप-यास से एक रूप वणन यहाँ उपयुक्त तथ्य को उदाहरण करने को दिया जा रहा है —

प्रातः काल के रजत गुम मुहूर्त में एक सरस्वती की ही श्री से कमलश का गृह प्रागण आलक्षित हो रहा था। उस शान्त स्निग्ध श्री के सामने, कमलश की

- १ तिलो (श्री जयशंकर प्रसाद) खण्ड २ अध्याय ४ पृष्ठ ८६ (प्रकाशन त्रिभुवन १९३३ ई० प्रस्तुत संस्करण १९५८ ई०) (प्रकाशक भारती मण्डार, प्रयाग)।
- २ इरावती (श्री जयशंकर प्रसाद) पृष्ठ ६, प्रस्तुत संस्करण १९४६ ई० (भारती मण्डार, प्रयाग)।

माता सत्यमामा, हतवाक थी ! रोमांचित प्रभावित ! उन्हें लग रहा था—पद्म-वन से, स्वयं सरस्वती, उनके घर भूल पड़ी है । वैसे ही घने पल्लवा से धिरे सुन्दरतर नयन, और उन आयत नेत्रों की वैसे ही बुद्धि विकीर्ण, स्निग्ध दृष्टि । शिल्पी की सूक्ष्म तूलिका से लिची सी, सुदीर्घ भ्रू गुलाब की पखड़ी जैसे कपोल, सुदृढ नासिका, घने लम्बे हल्के केश, हाथ म काँच की लाल चूड़ियाँ, कान, गला, सूना सरस्वती प्रतिमा के अग प्रत्यग, आवृत्ति तो ठीक ऐसी ही ! बाणी भी, वीणा सी मीठी हुआ करती है ।'

'तो, वह थी जूही की एक पखुड़ी जसी निमल निष्पाप । ओस की एक नूँद जसा गुंथ शीतल । अगूर के रस जसी मीठी मधुर । जुगनूँ की दीवट जैसी, निरहकार निरामिमानी । निम्बर की गति जैसी सरल और बुलबुल की प्रभाती जैसी तद्रालस । भरवी की मूँछना जसी स्वप्नातुर साभ की पूरवी जैसा कुम्हलाई जैजै व ती जसी लचकती और राधिका के ध्यान जैसी अपनी सत्ता विखरी लुटी सी । कमलेश की माता पुत्र से कह रही थी -'कसी सुंदर लडकी है सुरमुती । ऐसी ही बहू मुझे चाहिए ।'

उडिया के वरिष्ठ उप-यामकार श्री फकीरमोहन सेनापति ने अपने एक उप यास ( लच्छमा ) की नायिका का रूप वणन भी नारी रूप की इसी उदात्तता को रूपायित करने के लिए किया है —

उसकी अवस्था के विषय में कोई प्रामाणिक बात नहीं कही जा सकती पर उसके चम्पक पुष्प के समान सुगीर वदन मण्डल अचंचल सुविशाल नेत्र आकण विस्तृत धनुषाकार मौँ सुंदर सुगठिन, उन्नत नासिका, जवाबुसुम से रविनम अधरो, और सुनिमल दणवत गण्डस्थल से, यौवन सुलभ सौंदर्य प्रगटित हो रहा था ।<sup>१</sup>

'उसका सुदिय मुखमण्डल यद्यपि विषाद कालिमा से मलीन हो गया था तथापि भ्रमरवृत्त चंद्रमण्डल की भांति उसकी कुछ अपूर्व ही छटा थी । उसका कद कुछ ऊँचा था, पर उसके सौंदर्य में उससे, कोई बाधा नहीं पहुँचती थी । उसके हाथ जीर पाव गाल गोल खिले हुए कमन के समान कोमल जीर लालिमा लिए हुए थे । वह एक सुन्दर घाघरा पहने हुए थी—वदन पर जरी की चोरी थी, जिस पर पष्ठ-यापी आनिनम्ब लम्बायमान वृष्णवण सुचिक्कन कशराशि अनियंत्रित भाव से

१ जीवन की मुस्कान (उपादेवी मित्रा) (प्रथम प्रकाशन १९३६ ई० । प्रस्तुत संस्करण १९५७ ई०—प्रकाशक नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली । अध्याय ४, पृष्ठ १५, १६ व ३७ ।

२ लच्छमा (फकीरमोहन सेनापति), प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ३ ।

फैती हुई थी। ऊपर से एक विग विचित्र, रत्नमी, चड़िया लोन्नी डान दी गई थी। उसके हाथ पाँव, नासिका, कण, गण्ड जादि म आको म्यण रोप्य निमित्त, रत्न सचिन्त, आभूषण शोभा पा रह थे, जो उसके ऐश्वर्यशालिनी होने के परिचायक थे। उसका घदन मण्डल उसकी वंशराशि, उसके वस्त्राभरण सभी घूलि घूसरित हो रहे थे। वषट्को ने भी उन्हें छिन्न विच्छिन्न कर लिया था।<sup>१</sup>

‘महादेवी, सौ दय और रूप लावण्य म भी, अपने वन और पद क योग्य ही थी। देखने से ऐसा जान पटना था माना थ मूर्तिमन्त साक्षात् देवी ही थी। जिस सौंदर्य का देयते ही मन म श्रद्धा और भक्ति का संचार होने लगता है जिस मी म्य के आगे मनुष्या की इच्छा दण्डायमान हाकर गिर पडने ला जाती है महादेवी के वदन मण्डल पर भी उसी सौंदर्य का विकास था। जिस प्रकार उनकी शारीरिक सुंदरता अनुपमेय थी उसी प्रकार उनके मानसिक विचार और कायकलाप भी अनुपमेय थे।’<sup>२</sup>

मराठी के भाव प्रधान उपासकवार श्री वोरकर ने अपने ‘भावीण नामक मराठी उपासक की गायिका गेयती का रूप वणन भी कुछ इसी प्रकार के दिव्य आभा के परिचायक रूप प्रतीको द्वारा किया है —

ऐसे पवित्र स्थान पर मूर्तिमान देवी के समान, एक शुभवसना सुवता पश्चिम की ओर मुँह करके, मूय को अध्व दे रही थी। मूय ने भी उसे, स्वर्ण किरणो का प्रतिदान दिया था, इसी कारण वह स्वर्णप्रतिमा की तरह चमक रही थी। उसके शरीर पर कोई अलंकार नहीं था। स्नातकेशा के नीचे खुले हुए कानो के आरक्त अप्रमाण वणफूल के अभाव में, बड़े सुंदर लिखाई दे रहे थे। अजलि उपर उठाते हुए नीचे उतर जाने वाली उसकी काँच की घारीक लाल चूड़ियाँ उसक हाथो की सुकुमारता को बढ़ा रही थी। माल पर उसने, सादा कुटुम ही लगाया था। घूप की किरण व कारण वह बड़ा जच्छा लग रहा था। कातो काली मौहो के नीचे अध निभोलित नेत्रो का वैभव जिस पर घणी पलको के मुख आवरण डाले हुए थे, अनावृत्त हाकर कब दिखाई देगा, यही विचार का ता सेठ क मन म चक्कर काट रहा था।<sup>३</sup>

चारुचंद्रलेख तथा पुतावा जैसे अगूठे उपासको के रचयिता जाचाय हजारिप्रसाद द्विवेदी ने अपने उपासक बाणभट्ट की आत्मकथा म सुअरमिलिद

१ ‘तच्छमा’ (फकीरमाहन शोनापति) प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ ३।

२ यही छठा परिच्छेद, पृष्ठ ३१।

३ ‘भावीण (श्री बालकृष्ण भगवान वोरकर) (हिंदी रूपांतर देवदासी, अनु० बाबूराव जोशी) अध्याय १ पृष्ठ १६। प्र० सस्ता साहित्य मण्डल नई दिल्ली, १९५६ ई०।

की कथा, चन्द्रदीप्ति (मट्टिनी) का रूपवर्णन इस प्रकार किया है, जो चित्रालेखन शैली का एक उत्कृष्ट उदाहरण है —

‘इसी समय उस राजकन्या ने बीणा बजाया शुरू किया। धीरे धीरे वह अत्यन्त तन्मय हो गई। मैंने इस बार स्वामाश्रित सकोच छोड़ कर इस कमनीयता की भूमि को देखा। उसको देख कर अत्यन्त पतित व्यक्ति के हृदय में भी मक्ति उत्पन्न हुए बिना नहीं रह सकती थी। उसके सारे शरीर से स्वच्छ काँति प्रवाहित हो रही थी। अत्यन्त घबरा प्रभापुत्र से उसका शरीर, एक प्रकार ढका हुआ सा ही जान पड़ता था। मानो वह स्पष्टिक ग्रह में आवद्ध हो या दुग्ध सलिल में निमग्न हो, या विमल चीनाशुक से समावृत हो, या दण्ड में प्रतिभिविभित न। या शरदकालीन भेषपुत्र में अंतरित, चन्द्रकला हा। उसकी घबरा काँति, दशक प नयन माग से, हृदय में प्रविष्ट होकर, समस्त बलुप को घबराित कर देती थी। माना स्वग में दा किनी की धवल धारा, समस्त बलुप कालिमा का क्षालन कर रही हो। निषधय ही यह, घम के हृदय से, निकली हुई है। माना विधाता ने, शस्त्र से एोद कर, मुक्ता से खींच कर, मणाल से मवार कर चन्द्रकिरणों के कूचक से प्रत्यालित कर सुधा चूण से घोकर, रजत रज से पोछ कर, कुटज, घुँद और सिंधुवा पुष्पों की धवल काँति से, सजा कर ही, उसका निर्माण किया था।’

इसी प्रकार बगला के प्रसिद्ध उपन्यासकार श्री विमल मित्र के उपन्यास ‘साहब, बीबी गुलाम’ की नायिका छाटी बहू का विचित्र रूप मानो एक कुशल विचित्र कार की तुलिका से अधिक है। वह रूप शक्तिदायी भी है और प्रसन्नतादायी भी —

आज सोचते हुए अचरज होता है कि उम रोज छोटी बहू का चेहरा उसे भूतनाथ को इतना अच्छा लगा था। मानो इतना रूप उसने किसी में, कभी नहीं देखा था। एक ऐसा रूप होता है जिस पर सब कर आँसे जुगती हैं। जो ठण्डा हाता है। बचनी नहीं होनी। यह बसा ही रूप था। किसी ने मानो उसके सारे बदन पर चदन चढ़ा दिया—आँन, नाक मुँह की ऐसी श्री तो शामद देवताओं में भी नहीं होती भूतनाथ को ऐसा लगा कि उन चार बीमारों में वह पड़ी है, माना कोटि कोटि मनुष्य की एकांत कल्पना। वह मानों देहगत रूप नहीं—उस मानों स्पष्ट नहीं किया जा सकता छूने पाने की दुनिया से पर का एक अत्यन्त बाणीमय रूपक हो मानो। शरीर को छूने से वह दूध के फेन से भी नम हुआ। शरीर जाने से लगेगा कि वर्षों में वह इन्द्रधनुष से भी घनी है। एनी प्रशान्ति ता प्रशान्त मन्सागर में भी नहीं। धोती के कोर के नीचे जगमा जा हिस्सा लीन रहा था, यह शरीर का निहायत ही मामूली सा हिस्सा नहीं उगलियाँ महावर में बन्द खूबमूरत लगी—दूध से सफेद नाखून महावर से धिरे। वेर से रस भर पतने होठ, दोनों से

छिटकती हुई ललाई, कानों में हीरे के फूल। कपाल पर उडत हुए, दो एक वेवस बाल। उसके ठीक नीचे, दो काली आवा की सहज, लकिन गहरी निगाह। काजल से आँखें तो नहीं अजी हैं? माँग में सि दूर मानो अभी अभी माँग भरी हो। बालों पर पानी की बूँदें, ओठों में मुस्कान।<sup>१</sup>

उपयुक्त शरीर साज सज्जा और रूखवि का आलेखन, श्री विमल मिश्र ने, एक कुशल चित्रकार की भाँति किया है। वह रूप वणन, छाटी बहू के पूव जन्म के प्रसंग के भी अनुरूप बन पडा है। छाटी बहू का घर का नाम 'पट्ट' था—वह एक देवसोक से आई हुई अप्सरा थी, जिसने देवताओं के दरवार में, एक ब्राह्मण का अपमान किया था और उसी से शापित होकर उसको पृथ्वी पर जन्म लेना पडा था।<sup>२</sup>

आचार्य चतुरसेन शास्त्री के उप-यास 'वशाली की नगरवधू' में पात्र पात्रों के रूप-वणन बड़े सागोपाग, चाक्षुष छविपुक्त और कलात्मक हैं। उप-यास की नायिका शम्भाली के लक्षशिव और रूप को, ललक इन अनूठे शब्दों में यक्त करता है—

'अम्बपाली ने शुभ्र कोणय धारण किया था। उसका जूडाप्रयित केश-कुणल ताजे फूलों से गूँथे गए थे। उपरिवधा खुला हुआ था। देख पट्टि जैसे किसी दिव्य कारीगर ने हीरे के समूचे टुकड़े अखण्ड से, यत्नपूर्वक खोद कर गढ़ी थी। उसमें आभा प्रकाश माधुर्य, कोमलता और सौरभ का, अद्भूत भरना क्षर रहा था रूप। इतना सौष्ठव! इतनी अपूर्वता! कभी किसी ने, एक स्थान पर नहीं थी। उसने कण्ठ में, बड़-बड़े मिहलीमातियों की माला धारण की थी। की हीरे जड़ी करधनी उसकी धीण कटि को, पुष्ट नितंबों से ढिँकी रही थी। उसके मुहौल गुल्फ मणिखचित उपानत से, जिनके ऊपर, चमक रही थीं, अपूर्व शोभा का विस्तार कर रहे थे। मानो वह यौवन, मद और सौरभ विखरती चली आई थी।'<sup>३</sup>

कविवर श्री सूरदास त्रिपाठी 'निराला सिद्धहस्त कवि अतिरिक्त एक सफल एवं कलाभिमुख उप-यासकार भी थे। उप-यासों में साज सज्जा एवं नायिकाओं के रूप वणन के बड़े शब्द चित्र प्रस्तुत किए हैं। यहाँ उनके परवर्ती उप-यास १०० एक चिरस्मणीय एवं कलाभिराम साज सज्जा वणन **वडाहरनाथ**

१ साहब, बोबो गुलाम' (पृ. १२५)

२ वही, पृष्ठ ११४।

३ वशाली की नगरवधू (श्री)

'दासियाँ प्रभावती को सजाने लगीं । प्रति अग नीलमा, हीरों और मोतियों से जगमग हो गया । वसन्ती रंग की सच्चे काम वाली रत्नजटित साडी तथा आभरणों की चूलसती स्निग्ध छुति के बीच पथवी की प्रभावती आकाश की शक्ति कला से अधिक सुन्दरी, अधिक शोमना हो गई । मरतक पर अद्भुत चन्द्राकृति, सोने के लता भुजों से आयत, ललित चूड़ामणि ऊपर श्वेत कोमल पक्ष, मध्य में नीलम, दोनों ओर कनिया पत्तों के पत्ता में बड़े से छोटे क्रमानुसार हीरे ताक में एक ओर मणि-बिन्दु पद्मराग की कण्ठी ऊच पुष्ट वक्ष पर शुभ्र मुक्ताओं की हारावलि हाथों में मणि युक्त विविध भुज बंध बङ्गुणादि कटि में रिणिनमारिका, सतावत्ति श्लय किङ्कणी, पदों में नूपुर, पायल आदि मुक्त बन्ध, वासित्त अघरो में ताम्बूल रक्तराग, आयत सलज्ज आँखों में क्षीण प्रलम्ब काजल देखाएँ । पुतलियों में चपल रहस्य हास्य, प्राणों में मधु मधु प्रणय स्पन्द ।'

कुछ क्षमिन्व विशिष्ट हिन्दी उपन्यासकारों ने अपने पात्रों के रूपवर्णन में, अनेक नूतन शक्तियाँ का अनुसरण किया है । प्रत्यक्षन के परम्परागत भारतीय वर्णनात्मक सरणी में तो नहीं बढने किन्तु फिर भी उनकी कलात्मकता एवं शब्द चित्रवत्ता से कोई इन्कार नहीं कर सकता । उदाहरणार्थ सन् १९६० ई० में प्रकाशित अजय की डायरी' की एक पात्रा विशेष 'हेम' का रूपवर्णन अवलोकनीय है । इसमें उपन्यासकार डॉ० देवराज ने, अपनी नायिका की छवि के, बस एक पक्ष का लेकर ही, उसका व्यक्तित्व निरूपण किया है —

हेम की आँखें वे आँखें, जिनकी श्रुति, स्वच्छ निगाह इधर दो बार भेरी दृष्टि से टकरा गई थी, विनोद बढी नहीं हैं । उनके देखने में भी कोई असाधारणता नहीं है । कुछ विस्तृत सपेक्षी में तरती सावली बननीकाए । वहाँ कहीं लाली, लाल डोर, लिवाई नहीं पडते । वहाँ किसी तरह की शोभी या मादकता भी नहीं है । वह दृष्टि, एकदम सहज और स्वच्छ है किन्तु उस सहजता के भीतर एक खास तरह का निजत्व है, अथवा निजत्व का आश्वासन, एक प्रकार का विश्रान्तिपूण टहराव । वह दृष्टि, जिसमें किसी तरह की चपलता या आह्वान नहीं है, मानों अपनी स्थिर गहराई और निमल शालीनता के कारण ही, अपने, रुचिपूण अवधान की माँग करती हो । किसी स्वाध या प्रयाजन की चेतना के बिना, मन चाहता है कि उस दृष्टि के सफल स्वच्छ द्रव्य में मिश्रित होकर उससे तादात्म्य स्थापित करें ।'

सन् १९६१ में रच गये अपने नगर जीवन से सम्बन्धित महा उपन्यास 'अंधरे, बस कमर के लेपक स्वथी माहून राशेय ने अपनी एक पात्रा 'नीलिमा का वर्णन भी,

१ 'प्रभावती', (सूयकान्ति त्रिपाठी निराला) अध्याय ८ पृ० २७

२ अजय की डायरी (डॉ० देवराज) पृष्ठ ७०-७१ प्रकाशन लि० राजकमल (दिल्ली) ।



कुछ वैसी ही शायी में किया है। जब क्रि डॉ० देवराज हेम की आँखा को अपने रूपवर्णन का केंद्र बिंदु बनाते हैं श्री माहन राकेश नीलिमा की हसी को हा, उसके समग्र व्यक्तित्व का परिचायक बना देना चाहते हैं —

‘नीलिमा की हसी के सम्बन्ध में, इतना ही कह सकता हूँ कि वह लडकियों की तरह न हँस कर लडकी की तरह हसती थी। हँसते समय उसका मुँह पूरा खुल जाता था और वह अपनी गरदन को थोड़ा झुक लेती थी। उसकी आवाज काफी वारीक थी, मगर हँसने में उसकी आवाज कुछ मारी हो जाती थी और उसके छोटे छोटे दाँत पूरे बाहर दिखाई दे जाते थे। उसकी हसी में ही नहीं—बातचीत और चलने के ढंग में भी, एक उच्च मुक्तता थी, जो उम्र व्यक्ति को काफी चौका सकती थी, जिसका उससे, नया नया ही परिचय हुआ हो। वह हर समय इतनी अस्थिर रहती थी कि लगता था जैसे उसके शरीर में एक बिजली सी कौंधती रहती हो। जब वह मुँह से बात नहीं करती थी तब भी उसकी आँखें और मौँह, कुछ-कुछ बात करती, प्रतीत होती थी।’

पात्र पात्राओं के आवृत्ति निदान एवं रूपवर्णन के कुछ सनात्मक उदाहरणों के पर्यवेक्षण के पर्याप्त, हिन्दी तथा अन्य भारतीय मापात्रों में रचित उपायासों की वणनकला सम्बन्धी भारतीय प्रवृत्ति अभिरचि एवं कलाभिमुखता का, यत्किंचित् अनुमान किया जा सकता है।

प्रस्तुत परिच्छेद के हिन्दी एवं अन्य प्रादेशिक मापात्रों में रचित कुछ ऐसी सनात्मक उपायासिक वृत्तियों के पात्रगत रूपवर्णन का यहाँ केवल उल्लेख ही किया जा रहा है यथा—श्री वृंदावनलाल वर्मा के उपायास विराटा की पद्मिनी में विभिन्न कुमुद का रूपवर्णन श्री भगवतीचरण वर्मा की उपायास नायिका चित्रलखा की रूपछवि, राजा राघविकारमणप्रसाद सिंह कृत ‘रामरहीम’ की पात्रा बिजली का रूपवर्णन, गोदान की पात्रा धनिया का रूपचित्रण परती परिकया (श्री फणीश्वरनाथ रेणु) की नायिका ताजमनी का सरल सौंदर्य चित्रण, सागर लहरें और मनुष्य की पात्राओं रत्ना और बशी की विभिन्न रूप भंगिमाएँ, (बगला मापा के) श्री बंकिम चटर्जी के उपायास दुर्गेशनदिनी की आयेशा, तथा कपालकुण्डला नाम की मुरय पात्राओं की रूपछवियाँ, श्री शरत् चटर्जी कृत ‘देवदास’ की ‘पारो’ का रूपवर्णन, श्री ताराशंकर वद्योपाध्याय के उपायास ‘कवि’ की पात्रा, ठाकुरजी का कलसीघारी मुखमण्डल रूप, तथा सप्तपत्नी की नायिका ‘रीता’ की रूपछवियाँ वास्तव में अविस्मरणीय बन पड़ी हैं। उनके अतिरिक्त दक्षिणात्य उपायासों में ब्रह्म उपायास ‘शांतला’ (श्री के० बी० अय्यर) में लक्ष्मी और शांतला का दिव्य रूप

का मानयातृत्वक चित्रित किया गया है। उसी उपन्यास के नायक विष्णुवर्धन की स्मृति के वर्णन में 'सौभाग्य-पुरुष' के लक्षणों का उल्लेख किया गया है (शांतता' पृष्ठ ३३)। 'संध्याराग (अ० कृष्णराव) में (अध्याय १ पृष्ठ ६ पर) रावसाहब के व्यक्तित्व का परिचायक अनूठा शस्त्र चित्र अंकित किया गया है तथा (अध्याय १ पृष्ठ १२ पर) मीनाक्षम्मा की स्मृति का बालेखन भी अनूठा धन पडा है। सद्येपि म उत्तरविशेषित उपन्यासों की पात्र नियोजना एवं रूप-वर्णन की इस अनुपम सतरंगिणी आभा को देख कर मता कीन सहृदय पाठक भारतीय उपन्यासों की कलात्मक गरिमा का सराहक नहीं हो जाएगा ?

कुछ बसी हो जाती है। जब कि डॉ० देवराज, हेम की आँसुओं को अपने रूपवर्णन का केन्द्र बिन्दु बनाते हैं, श्री मोहन राकेश नीलिमा की हँसी को है, उसके समग्र व्यक्तित्व का परिचायक बना देना चाहते हैं —

‘नीलिमा की हँसी के सम्बन्ध में, इतना ही कह सकता हूँ कि वह लडकियों की तरह न हँस कर, लडका की तरह हँसती थी। हँसते समय उसका मुँह पुरा खुल जाता था और वह अपनी गरदन को थोड़ा झुक लेती थी। उसका आवाज काफी धीमी थी, मगर हँसने में उसकी आवाज कुछ भारी हो जाती थी और उसके छोटे छोटे दाँत पूरे बाहर दिखाई दे जाते थे। उसकी हँसी में ही नहीं—बातचीत और चलने के ढंग में भी, एक उच्चतमता थी, जो उस व्यक्ति को काफी चौंका सकती थी, जिसका उससे, नया नया ही परिचय हुआ हो। वह हर समय इतनी अस्थिर रहती थी कि लगता था जैसे उसके शरीर में एक बिजली सी बौधती रहती हो। जब वह मुँह से बात नहीं करती थी, तब भी उसकी आँखें और मोह, कुछ-कुछ बात करती, प्रतीत होती थी।’

पात्र पात्रों के जादृति निदान एवं रूपवर्णन के कुछ सनात्मक उदाहरणों के पथवेक्षण के पश्चात् हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं में रचित उपन्यासों की वणनकला सम्बन्धी भारतीय प्रवृत्ति अभिरुचि एवं कलाभिमुखता का, यत्किंचित् अनुमान किया जा सकता है।

प्रस्तुत परिच्छेद के हिंदी एवं अन्य प्रादेशिक भाषाओं में रचित कुछ ऐसी सनात्मक औपन्यासिक कृतियों के पात्रगत रूपवर्णन का यहाँ केवल उल्लेख ही किया जा रहा है यथा—श्री वृंदावनलाल वर्मा के उपन्यास ‘विराटा की पद्मिनी’ में वर्णित कुमुद का रूपवर्णन, श्री भगवतीचरण वर्मा की उपन्यास नायिका ‘चित्रलेखा की रूपछवि’, राजा राधिकारमणप्रसाद सिंह कृत ‘रामरहीम’ की पात्रा बिजली का रूपवर्णन, गोदान की पात्रा धनिया का रूपचित्रण परती परिकथा (श्री फणीश्वरनाथ रेणु) की नायिका ताजमनी का सरल सौंदर्य चित्रण सागर लहरों और मनुष्यों की पात्राओं रत्ना और बशी की विभिन्न रूप भंगिमाएँ (बगला भाषा के) श्री बंकिम चटर्जी के उपन्यास ‘दुर्गेशनदिनी की आयेशा, तथा कपालकुण्डला नाम की मुख्य पात्राओं की रूपछवियाँ, श्री शरत चटर्जी कृत ‘देवदास की पारो का रूपवर्णन, श्री ताराशंकर बसोपाध्याय के उपन्यास ‘कवि’ की पात्रा, ‘ठाकुरजी’ का कलसीधारी मुखमण्डल रूप, तथा सप्तपत्नी की नायिका ‘रीता की रूपछवियाँ वास्तव में अविस्मरणीय बन पड़ी हैं। उनके अनिरिक्त वाक्षिणात्म्य उपन्यासों में कलकत्ता उपन्यास शांतला (श्री के० बी० अय्यर) में लक्ष्मी और शांतला का दिव्य रूप

वहे मोनयोगबुवक चित्रित किया गया है। उमी उपन्यास के नायक विष्णुवधन की रूपछबि के बणन मे 'सौभाग्य-भुरूप' के लक्षणो का उल्लेख किया गया है (शांतला' पृष्ठ ३३)। 'सध्याराग (अ० कृष्णराव) मे (अध्याय १ पृष्ठ ६ पर) रावसाहब के व्यक्तित्व का परिखापक अनूठा शब्द चित्र अंकित किया गया है तथा (अध्याय १ पृष्ठ १२ पर) मीनाक्षरमा की रूपछबि का बालेखन भी अनूठा बन पढा है। संक्षेप में उपरिबिबेचिन उपन्यासों की पात्र नियोजना एव रूप बणन की इस अनुपम सतरगिणी आमा को देल कर भता कौन सहस्य पाठक भारतीय उपन्यासो की कलात्मक गरिमा का सराहक नहीं हो जाएगा ?

## भारतीय उपन्यासों में, वर्णन-कला की, सांस्कृतिक, दार्शनिक एवं जीवन-विषयक पृष्ठभूमि

प्रस्तुत अध्याय की विस्तृत एवं व्यापक विवेचन भूमि को देखते हुए एक प्रकार से, इसे, इन समग्र वर्णन कला परक कला अनुशोधना का निष्कल्प सार भी माना जा सकता है। वस्तुतः शोध यात्रा की इस व्यापक नियोजना के विगत सातों अध्यायों में उसके किसी न किसी अंग उपांग का, सविवरण एवं सोदाहरण निरूपण किया गया है। फिर भी उसमें फटे हुए सहस्रावधि सूक्ष्म वर्णन कला सूत्रों को एक के द्रिद्विदु विनोद की जोर मोड़ देना अत्यंत आवश्यक है। साहित्य विधा एवं साहित्य सजना राष्ट्र के सांस्कृतिक जीवन की एक रमणीय वीथी मान है। उसकी अथ अनेक बीधियाँ और भी विचित्र और भी अदभुत तथा और भी कलामिराम हैं। फिर भी उन सभी में साहित्य सजना की सर्वोत्कृष्ट सामर्थ्य को युगयुग से विद्वद्गण ने स्वीकार किया है। साहित्योत्तर अथ सभी रूप कलाओं एवं नाद-कलाओं की अपनी अपनी माध्यमगत परिसीमाएँ हैं। साहित्य सजना की वर्णनात्मक क्षमताएँ शब्द माध्यम आधारित होने के कारण, असीम और अनंत हैं। इसीलिए साहित्य की भव्य रस सृष्टि में, मानव की समग्र कलात्मक अभिव्यञ्जना की शोचक अथ ललित कलाओं को भी आत्मसात कर लेने की क्षमता विद्यमान है। साहित्य की अथ सभी विधाओं की तुलना में भी उपयास विधा में वर्णन की अक्षय सिद्धियाँ, किस भाँति उपलब्ध हैं इस विषय का सागोपाग निरूपण द्वितीय अध्याय में विस्तार-पूर्वक व्याख्यीकृत है ही। इसलिए उभयास विद्या में हम ललितकलाओं की सभी सुललित लीलाओं के उमुक्त विलास के दर्शन पाते हैं।

‘संस्कृति’ एवं ‘दर्शन’ इन दो पदों को असंख्य धार एवं अनगिनत शक्तियों में विवेचित होने का सौभाग्य मिला है। फिर भी ये दोनों शब्द आज भी पर्याप्त जटिल एवं रहस्यगूढ बने हुए हैं। ‘संस्कृति’ तथा दर्शन ये दोनों सीधे सादे शब्द, मानव जीवन के दो विभिन्न उदात्त पक्षों के प्रतीक हैं। मानव ने किस भाँति अपनी सभ्यता

के आद्य, प्राकृत, अनलकृत एवं निरावरण रूप से ऊँचे उठ कर, अपने निजी एवं सामूहिक जीवन में 'रस' धारा का समावेश किया इसकी कहानी युग में फैली हुई है। उसने अपने जीवन के हर व्यापार में, अपने चारों ओर फैले हुए हर पदार्थ में, सुन्दरता एवं रमणीयता लाने का सतत एवं अथक यत्न किया है। इस रमणीयता शोध के सहस्र सहस्र वर्षों के, मानव अधवसाय एवं मानव माधना ने समयांतर में, विविध ललितकलाओं का रूप धारण किया। सरल कुटीरो की भस्म से 'स्थापत्य' के सभी उच्चतम लक्षणों से युक्त, प्रासादों मीलों एवं मन्दिरों की सृष्टि हुई। साधारण उल्लास के सूचक लोकनृत्यों ने नृत्यकला की चरम ऊँचाइयाँ छुद तथा आदिम मानव द्वारा गुहाओं में गरिकरेखाओं में अंकित, टढ़ी मेढी लकीरों ने, समयांतर में चित्रकला का मध्य वेध धारण किया।

जीवन व्यापार के चलाने के लिए प्रस्तर युग में हमारे आदिम पूर्व पुरखाओं ने पत्थर पर, छिनी का जिस क्षण में आदि प्रहार किया था, उसी दिन मूर्तिकला एवं तक्षण कला ने जन्म लिया था। लोक उल्लास की सूचक सरल जनपद वधुओं के कण्ठों के मादय ने समयांतर में संगीत कला के मध्य परिधान पहने, और हरित बांस की बांसुरी ने, समयांतर में हमारी अनेकानेक सूक्ष्म एवं जटिल वाद्य तंत्रियों का रूप ले लिया। इस भाँति अपने विविध कला विलासों से उल्लसित, सस्कृति एवं कला की देवी ने इस ताप सतापयुक्त मानव जीवन के विश्रान्त, श्रमशिथिल, जीवन सघप के बीच जन्म लिया। महान प्राकृतिक बाधाओं से निरंतर जूझने वाले कठोर रसहीन जीवन, जग में, कला समुच्चय धारा के इस सासकृतिक सगम से साहित्य संगीत एवं रूपकलाओं की विविध पावन धाराओं की एक समन्वित अमृत में दाकिनी प्रवाहित हो उठी।

और 'दशन' क्या है? 'दशन' केवल देखने के दृष्टिकोण विशेष का नाम है। यह तुलसीदास की उस चौगाई की ही चेतना अथवा चिंतन सरणी का नाम है कि 'जाकी रही भावना जैसी। प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' हम भारतवासी जीवन एवं उसके सभी व्यापार को एक दृष्टिकोण विशेष से देखते हैं। मोटे तौर पर हमारा जातीय अथवा राष्ट्रीय दशन आनन्दवादी है—आनन्दमूलक है। इसमें शाश्वत सत्य, 'आनन्द' को माना है दुःख को नहीं। हम मरने से इसनिए नहीं डरते कि हम पुनर्जन्म अथवा पुनर्जन्म में दृढ़ निष्ठा हैं। हम जीने में निमग्न रहते हैं तथा जीवन सघप में विश्वास करते हैं क्योंकि उसके मूल में लोकमंगल की भावना है। हम विश्ववधुत्व में विश्वास रखते हैं और हम में छुद जातीयता अथवा साप्रदायिकता कभी फल फल नहीं सकती। क्योंकि दुःख, द्वेष का जन्मदाता है और आनन्द जीश और जीने दो! का समर्थक। मूलतः सभी भारतवासी रमणीय के साधक अथवा कलाप्रेमी हैं। हमने ईश्वर अथवा भगवान को, ईश्वरीय शक्ति की मनोहरतम प्रतिमा,

अथवा देवी को, रूप की पराकाष्ठा की विग्रह मान कर ही, उनकी उपासना की है। हम ध्रुव स्वाधमय सपनता में विश्वासी न होकर सामाजिक सुख समृद्धि में विश्वासी हैं। क्योंकि दुःख एकांतवादी है और आनंद समाज मूलक है। जीवन के प्रति इसी दृष्टिकोण ने हमारी कलात्मक चेतनाओं को रूपायित किया है और दृष्टिकाण (अथवा दशन) तथा साहित्य साधना दोनों ने मिल कर, हमारे जातीय जीवन का रूप विधान किया है।

भारतीय जीवन के इसी दिव्य भव्य एवं विगट रूप के हम भारतीय, उप-यास साहित्य में दशन करते हैं। उसमें हमारे आनंदवादी जीवन दशन एवं रमणीयता-अनुरक्त कला चेतना ने सहस्र सहस्र छवियाँ धारण की हैं। इसी तथ्यकी एक विहंगम झाँकी, इन शत शत पृष्ठा में अपने निजी रूप वशिष्टय में प्रतिच्छायायित है। स्थानवर्णन एवं प्रकृतिवर्णन, इस उप-यास विधागत कलात्मक चेतना का पृष्ठभूमि बनाते हैं। पात्र पात्राएँ, अपनी विलक्षण एवं दिव्य छवियों द्वारा, उसको व्यक्तित्व अथवा रूप प्रदान करते हैं। उन्हीं रूपों को हमारे तक्षकों ने प्रस्तर के अंतर में से निकाल कर, उकर झाला है। चित्रकारों ने उन्हें रेखाओं और रंगों में उभारा है और उप-यासकारों ने उन्हें शब्दरूप देकर 'अक्षरता (शाश्वतता) प्रदान की है।

जब अजना अलोरा ताज सजुराहो सभी काल के गाल में चले जायेंगे, तब भी हमारे भारतीय उप-यासों का रूपसियों की मुलच्छवि म्लान न होने पायेगी। उसकी वादम्बरी और वामवल्ता, सहस्र सहस्र पुनज में धारणा करेंगी और अपने किसी भी सास विलास या भ्रूयिनास से इस रगान धरती और रगीन आकाशों वाले देश की क्षितिजों की इद्रघनुपी आभाओं को भर भर जायेंगी। भारतीय उप-यासों में कला और ससृष्टि की अनंत तरंग लीलाओं का दिव्य दिग्दर्शन है। इनमें अतीत जीवन का पुनरुज्जीवित चित्रण है जिसके अनंतपदार्थों की रमणीयता एवं विचिनता से, हम चकित रह जाते हैं। उस अतीत के रगबिरगे जीवन की आखों देखी भावियाँ, हमें बाण और दण्डी की वृत्तियों में मिलती हैं। वतमान में श्री बदावनलाल वर्मा, राहुल साहूत्यायन तथा आचार्य घनुरसेन शास्त्री ने, हिंदी उप-यास विधा में अतीत की जो नूतन पुनः मृष्टि की है, वह सचमुच ही अपूर्व एवं अविस्मरणीय है। श्री राखालदास वद्योपाध्याय ने 'पापाण कथा' जैसे उप-यासों में स्थापत्य कला को ही कथा रूप दे दिया है और उन्होंने, पत्थर के मुँह से साँची के स्तूप निर्माण की पूरी कहानी कहलवा दी है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने नारी के देवी रूप को रूपायित करने के अतिरिक्त नृत्यकला के कुछ ऐसे साक्षुप एवं सम्पूर्ण शब्द चित्र प्रस्तुत किए हैं जो स्मृति पटल से, मिटन का नाम नहीं लेते।

आघात हजारीप्रमाद द्विवेदी केवल उप-यासकार ही नहीं हैं। वे दाश निर एव रमणीयताशास्त्र ममज्ञ भी हैं। भारतीय दशन के विविध पक्षों का गहन मयन करके उहोने उसे, प्राचीन साहित्य के आन-दवादी कला रस से समचित किया है। उहोने अपने शतावधि सलित निबन्धों द्वारा उसे अमिव्यजना प्रदान करनी चाही किंतु जद वे निबन्धों के सीमित माध्यम द्वारा अपने दाशनिक आन दवाद एव कलानुरक्त रमणीयतावाद को, उमुक्त प्रवाह न प्रदान कर पाये तो उहोने बाकी देर से, उप-यास का प्रवहमान माध्यम अपनाया। उनका 'चारु चन्द्रलेख' उप-यास उनकी उपयुक्त दशनचित कलानुरक्ति का प्राय सम्पूण रूप से प्रतिनिधित्व करता है। 'चारु चन्द्रलेख' म नृत्य, सगीन एव चित्रकला के कितने ही विलक्षण चमत्कारों को विस्मयजनक सुचयित शब्दावली में अक्षरबद्ध कर डाला गया है। उप-यास के उत्तराध म कथाकार ने नाटी माता की माधुरी भक्ति साधना का जो कलात्मक शब्द चित्रण किया है वह किसी भी कुशल चित्रकार की तूलिका को चुनौती सा देता जान पडता है। इसी माति भक्ति विमोर नृत्य (नत्तन कीत्तन) को अक्षरों की स्वरलिपि में मानसिक श्रवणों के लिए श्राय, एव मानसिक नयनों द्वारा दृश्य, बनाने का विलक्षण वणन प्रयाग भी किया गया है। निम्न अश भारतीय भक्ति साधना, (कृष्णभक्ति धारा अथवा भधुरोपासना, परम रमणीय की आसक्ति में परमान द अनुभव की उदात्त भावना) भारतीय नृत्यकला की दिव्य प्रवृत्ति तथा भारतीय नारी की रूपरूपि के सात्त्विक कलात्मक रमणीयत्व के पर्याप्त अशो म परिचायक हैं। वे उप-यास विधागत वणनात्मक कला की गहन दाशनिक एव सास्कृतिक चेतना के भी परिचायक हैं —

'दीपक के क्षीण प्रकाश में, मैंने नाटी माता को भाव विह्वल मुद्रा में गाते देखा। सामने वही पटु-नट कला वाले नटवर नागर की मनोहारिणी मूर्ति थी। नाटी माता, घुटनों के बल खड़ी थी। उनके घुँघराते केश, पीठ पर छिनराये हुए थे। अभी भी वे भीले लग रहे थे। कंधे से नीचे सारा शरीर, हलके गुलाबी रंग के कौशेय वस्त्र से आच्छादित था। कंधे पर दाए हाथ में धीणा थी व बहुत हलके कण्ठ से गारही थी। धीरे धीरे परतु बहुत मगोहर भाव गदगद स्वर में, वे बार-बार इही पक्तिया की गुनगुना रहीं थी। गाते गाते वे विह्वल से विह्वल तर होगई अत्यंत असहाय भाव से फिर मा सतकता के साथ उहोंने गाया। सा तिरह तव दीना।' अंतिम पद रुक रुक कर निकला और वे धीणा सटिन नटवर-नागर के धरणों में झुक गई।

'वे हम गार अपने को भूल गई। द्रुतचारी से धिरक उठीं ताली बजा चला कर व नाचन लगीं। हाथ और पैर से ताल देती हुई, वे गा उठीं 'सचरदधर मधुर ध्वनि, मुपरित मोहन वशम् नृत्य म विह्वल होकर नाटी माता, उस छोटे



से घर में, एक कोने से दूसरे कोने तक, मत्तमयूर की भाँति नाच उठी। मावादेग के साथ साथ नृत्य के वेग में भी तेजी, आती गई नाटी माता के पर, सधे हुए थे विविध चारिया के उद्गम और बहुविचित्र आवृत्त में भी वे सम पर ही, आकर पड़ते थे। नृत्य मैंने बहुत देखे थे, पर ऐसा तालानुग संचार, मेरी कल्पना के बाहर की बात थी। उनके प्रत्येक अंग में तालानुग छंद धिरक रहे थे। एक एक पेशी, ताल पर झूम रही थी अगयष्टि से चिपका हुआ अरुण कौशेय कई कई बार तो इस प्रकार मडलित हो उठता था कि सचमुच ही लगता था कि लाल आँखों वाला मोर नाच रहा हो। उल्लास चंचल साड़ी जब मडलित हो उठती थी तो भीतर की नीली अगिया, शतशत बलियों में तरंगित 'याकुलित' होकर उसे पकड़ने का प्रयत्न करती थी यह विचित्र नृत्य केवल ताल मात्र था—अंग अंग से स्फुरित वितत सन्तत ताल मात्र। यह लाल साड़ी और नीली अगिया राधा भाव की अंग मात्र थी। नाटी माता भाव मंदिर थी। ”

नृत्यकला साधना का भारतीय उपन्यासकारों का समकालीन सबसे प्रिय, 'वर्णन' विनोद रहा है। नृत्यकला के माध्यम द्वारा वे, अपनी रूपात्मक एवं गत्यात्मक शब्द चित्रण कला की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति कर पाते थे। महान संस्कृत उपन्यासकार रण्डी ने, अपने समय की एक नृत्यविद्या विशारदा राजकुमारी के कदुक-नृत्य का बिनक्षण एवं कलाभिराम वर्णन किया है। यह वर्णन उनके महाउपन्यास दशकुमार चरित में लगभग चार पृष्ठों में, निम्न भाँति वर्णित है —

‘मैंने इतना सुडौल शरीर कभी नहीं देखा था। उसमें कहीं भी, तनिक भी, कोर कसर नहीं दिखाई देती थी। राजकुमारी की काली घुँघराली लट्टें इधर उधर लटक रही थीं। वहाँ आकर उसने, अपने कोपलों जैसे कोमल हाथों को धाने बढायी—आगे की अंगुलियों से घरती को छुआ और फिर निराली अदा के साथ, तनिक झुक कर, उसमें भगवती विध्यवासिनी को प्रणाम किया।

‘इसके बाद उसमें एक गेंद उठा ली। मुझे अच्छी तरह याद है कि वह गेंद ऊपर नीचे, तरह-तरह के चक्कीले रंगों से रंगी हुई थी। उसने बड़ी तमयता के साथ, डील देकर उसे जमीन पर छोड़ दिया। जब गेंद गड़ा खाकर थोड़ा उछली, तो झट उसने उस अपने कोमल हाथों में पकड़ लिया। इस समय उसकी सुडौल हथेली देखते ही बनती थी। ऊपर की उछलती हुई गेंद को लते समय इस हथेली का अँगूठा तनिक मुड़ा हुआ था और अँगुलियाँ फँसी हुई थीं। उनमें गेंद को पाम कर, हथेली से ही उसने उसे, फिर ऊपर उछाल दिया। उस उछली हुई गेंद के साथ साथ देवने वाली की सक्ड़ो चंचल आँखें भी उसी गेंद पर आ लगीं। उस समय

ऐसा प्रतीत आ माना आकाश मे गेंद के रूप मे, रगविरगे फूनों का एक गुलदस्ता परिभ्रमिन है और उस पर गिरती हुई चंचल आलें, मानो वहन मे मीरे हैं, जो उस पर टूटे पड रहे हैं। उस उछली हुई गेंद को राजक्या ने बीच अधर मे ही पकड लिया और फिर छोड दिया।

“यह गेंद का खेल, मात्र खेल नही था—यह एक सच्चा कला प्रदशन था। इसको दिखलाने वाली यह सुदरी राजक्या, अपनी कला के अनुरूप ही, साज शृंगार, वश भूषा और वस्त्र आभूषण धारण करके कला मंदिर मे उपस्थित हुई थी। गेंद खेलते समय उसके कदम, जिस अदाज से पडते थे, उसी के अनुरूप एक खास लय मे, उसके गहना मे लटकी हुई मणियाँ भी बज उठती थी।

“वह जब किसी ब्याज से मुस्कराती थी तो उस मुस्कान की चमक से, उसके लाल-लाल बिवाफल जसे आठ और भी खिल उठते थे। खेल के बीच बीच मे, उसके कंधो पर पडी हुई काली घुँघराली लटें, जब इधर उधर खिसक जानी थी तो वह, निराली अदा के साथ फिर उन्हें अपनी जगह पर ले आती थी। उछलते और दीडते समय उसकी करधनी कमर पर उछट कर, बार बार टकराती जिससे उसमे लगी हुई मणियाँ, करधनी की जजोर का भी बजाती थी तथा स्वयं भी वजती थीं।”

विश्व के सवप्रथम महान यथाधवादी उपयासकार महाकवि दण्डी की यह औपयासिक वृति सातवीं शती ईसवी की रचना है। उसके बारह-तेरह सौ वष परचात् आचाय हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत, कला सस्कृति सम्पन्न उपयास ‘पुननवा’ मे मजुला का नृत्य वणन बडा ही मनोमिराम बन पडा है और वह दण्डी के उपयुक्त चित्रण से तुलनीय है —

“मजुला ने उस दिन, बडा ही मनोहर नृत्य बिधा था। उस दिन उसकी सम्पूण देहलता, किसी निपुण कवि द्वारा निबड छंदोपारा की भांति लहरा रही थी। द्रुत मधर गति, अनायास, विविध भावा को, इस प्रकार अभियक्त कर रही थी माना, किसी कुशल चित्रकार द्वारा चित्रित, कल्पवल्ली ही सजीव होकर धिरक उठी हो। उसकी बडी बडी काली आलें, कटाक्ष विक्षेप की घूणमान परम्पराका का, इस प्रकार निमाण कर रही थी, जस नील कमला का चन्द्रवाल ही, चंचल हा उठा हा। शरत-यातीन चन्द्रमा के समान, उसका मुसमहल चारिया से इस प्रकार घूम रहा था, कि जान पडता था शतशत चन्द्रमण्डल ही आरात्रिक प्रदीपा की, अराल माला मे गुद कर जगरमगर दीर्घित, उत्पन्न कर रहे थे। उसकी नृत्य मणिमा से, नाना रियाँ की भाव मुद्राएँ अनायास निपर उठीं थी। उसने कंध के नीचे, मृणाल-कोमल भुन पुगा सुकुमार, सप्रथित द्विवेदी-खण्ड के समान, नाव-परम्परा मे चलवितहा उठ था। वस्तुतः पूव निल के भागा से ज्मनी हुई शनावरी लता के समान, उसकी

सम्पूर्ण देहबल्लरी ही, भावोल्लास में तरगलोल हो उठी थी। ऐसा लगता था, वह छ दो से ही बनी है, रागा से ही पल्लवित हुई है, तानो से ही सवारी गई है और ताला से कसी गई है।”

कला की परिकल्पना के सम्बन्ध में हम भारतीयों का अपना जो निजी दृष्टि कोण है उसे समझने के लिए किसी भी विदेशी कला ममज्ञ को, वहाँ इस सुप्राचीन देश की धूल से अनुरजित होना पड़ेगा और तदर्थ काशी, प्रयाग तथा मयुरा वृन्दावन की गतिया भी छाननी हागी। पश्चिमी कलाविदो ने भारतीय जन जीवन के कला पक्ष को खण्ड खण्ड करके देखा है और इसीलिए वे भारतीय कला को मो खण्ड खण्ड में विभाजित करके आंकने के अम्पासी हैं। भारतीय चित्तन धारा में सस्कार युता कला साधना को, मानव जीवन की विशिष्ट चेतना मान कर, उसे समग्र जन जीवन के सामजस्य में ही प्रकल्पित किया गया है।

भारतभूमि में उत्तर से दक्षिण एवं पूव से पश्चिम तक के विशाल भू भाग में फली हुई प्राकृतिक चित्रपटियाँ, इतनी चित्रविचित्र तथा रगविरगी हैं कि वाणी का, उनके रूपरग वणन में विभोर हो जाना, सहज बात है। हमारे राष्ट्र में इतनी कुछ वणनीय सम्पदा—(धरती और आकाश के रगो की, फलपूल और पखेरुआ के रगो की इद्रघनुषो, चाँदनियो, आकाश गगाओ तथा सागर की तरग लेखाआ की, नर नारियो के असरय रूप वणों और भगिमाओ की, साज सज्जाआ की वाणी विलास और कला विलास की, नव नव सस्कारयुता, जीवन की स्वस्थ आनन्द मूल एवं कलामिमुख ऊम्मियो की,)—है—फिर भी वणन कला को यदि भारत में चरमोत्कप प्राप्त न होता तो विश्व के किस देश में उसे ऐसा मान सम्मान प्राप्त होता ?

हमारी पूजा उपासना धार्मिक चर्या तथा आध्यात्मिक उद्भावनाएँ वणन के बिना, पल भर जीवित नहीं रह सकती। हमारा प्रत्येक साहित्यकार दाशनिक है और प्रत्येक दाशनिक साहित्यप्रेमी। जब विदेशी पयटक कमी भूल से हमारे ग्रामीण वातावरण में जा खड होत हैं तो हमारे किसान मजदूरो की दाशनिक उत्तियो को सुन कर वे हैरान रह जाते हैं। जिन प्रीतिस्निग्धा जनपदवधुआ को कविकुलगुरु कालिदास ने, मेघो को एक टक निहारते अकित किया है—उनकी भ्रू विलास अनभिज्ञता से समवित, अकृत्रिम माधुरी की गहराइया में प्रवाहित होने वाले उस अतल विश्वास और आस्था के स्रात पर भी ध्यान दें, जिससे प्रेरित होकर, वे सूने आकाश को भी अनवरत निष्ठा से, युगो युगो निहारती रही हैं। आपाठ के प्रथम मेघ की रगीनी एवं छलछलाती रसाक्तता में सिक्त मेघदूत की सावन के भूलो जसी दोला

यमान यतिगति वाली गीतात्मक वणनकला को, कोई भारत भूमि से अपरिचित व्यक्ति भला, क्या और कैसे समझ पाएगा ?

युगा एक शताब्दियों के अनवरत प्रवाह में, विविध ललितकलाएँ हमारे देश में उतनी ही सहज सरलता से फलती फूलती रहीं हैं, जितनी कि हिमालय की उपत्यकाओं में ठसाठस भरे, रगविरगे नन्हें फूलों की, नसर्गिक वागबानी । हमारे युग के श्रेष्ठ कलागुरु स्वर्गीय श्री नन्दलाल बंसु ने इसीलिए कला के अनुसरण, अनुसंधान एवं अनुशीलन को 'साधना' बताया है—उसे अध्यवसाय, अभ्यास, अभ्ययन, पठन पाठन अथवा विमाज्जन सत्ता उठोने जानबूझ कर ही दी है । 'साधना' अर्थात् वह समय आनन्द अवस्था, जिसमें कलाकार का कष्ट या असुविधा का भी परिज्ञान नहीं रहता । बिना इस साधना की सिद्धावस्था प्राप्त किए किसी भी उत्कृष्ट कला द्वारा रूप ग्रहण सम्भव नहीं है । उपन्यासगत वणनात्मक कला को भी उसी की एक प्रशंसा मात्र माना जाना चाहिए ।

भारतभूमि में, कलात्मक साधना की ऊँची से ऊँची उपलब्धियों के श्रेष्ठतम उदाहरण प्राप्य हैं । स्वर एवं नाद की दिव्य संगीत में परिणत कर देने वाली और कायगत लय और यति को नृत्यरास में चिरलावण्य प्रदान करने वाली साधना, हमारे विशाल देवालियों की दनिकचर्या रही है । चित्रकार की तूलिका की कला हमारे राजप्रासादों में ही नहीं देवालियों में भी अबलोकनीय है । रूप रस, गंध नाद एवं स्पर्श के सभी सूक्ष्म संकेतों के जिस समान शब्द माध्यम वाले रस विश्व को, हम वाङ्मय सत्ता देते हैं—उसका आदि उद्भव एवं विकास हम उन महाकाव्यों में ही पाते हैं जिन्हें समयांतर में, अपनी साधना की सुदृढ़ आधार भूमि (नींव) के नाते, धार्मिक वाक्या अथवा शास्त्रों में परिगणित कर लिया गया था ।

हमारे सृष्टत उपन्यास-साहित्य की महानतम उपलब्धियों (कादम्बरी और 'हृष चरित' आदि) के चमत्कारी स्रष्टा सभी चौसठ कलाओं में पारंगत थे । 'कादम्बरी' उपन्यास में धाण के स्थापत्यकला-प्रादित्य का भी नय दशन मिलता है । उन्होंने अपने इस महा-उपन्यास में मवन निर्माण कलाशली व विविध अंग यथा, राजप्रासाद के जनिदो कम्पाओं मन्मो आस्त्राण मण्डप, धवलगृह देहली चतुशाल वीथिया, अगणवदिका सापानो प्रशोवक वासगृह सीर, प्रामाद कुक्षियों दायामगला चन्द्र शालिका बज्रमन्दिर, भव्याद्यान, दीपिका वापियों आहार मण्डप हिमगृह कुमारी मण्डप, श्रीमण्डप, श्रीडा पवत आदि को मूढमातिमूढम अलङ्करणों व समान गध्य एवं चित्र विचित्र वणना द्वारा, विभूषित किया है । इन चित्रों में भारतीय सृष्टि के समृद्ध एवं नय रूप के दशन होते हैं ।

इन वणना की सूक्ष्म निरीक्षण रति विवरण यद्दन्ता, चित्र विचित्रता रमणी

यता, रसात्मक एव कलात्मक नियोजना, तथा रूप और रंग के असह्य उपभेदा से समीकृत अनन्त दृश्यात्मकता अद्वितीय है—

“जैसे कोई रसानुभवो बलावत, सम्पूर्ण तमयता में डूब कर, अपने बाह्य से स्वर निकालते हुए कोमल एव गम्भीर सभी स्वरों पर, एकसी ही तल्लीनता से बढ़ता हुआ, ध्वनि द्वारा रसचित्र बनाता है, कुछ वसी ही ध्वनि, बाण वृत्त कादम्बरी को है। किसी समाधिजय तमयता से लालित्य के सागर में डूब कर, उन्होंने ‘कादम्बरी’ में, वणना की लहरें उठायी थी। हम लोगों के सामने उस युग के महान उत्तराधिकार का रूप सड़ा करने वाल चित्रा में अजंता आदि के कुछ ही वणचित्र बचे हैं। उही असामान्य रूपाङ्कनियों के प्रतीक बाण के शब्द चित्र हैं।”

भारतवर्ष के सभी प्रदेशों में रचे जाने वाले उप-यासों में, जन्म जन्मांतर की प्रेमसाधना को लेकर, उदात्त एव महान उप-यासों की रचनाएँ हुई हैं जिन्हें हम ‘कादम्बरी’ शब्दों की सना दे सकते हैं। बंगला के उप-यास साहब बीबी गुलाम व प्रेमचन्द के उप-यास ‘कायाकल्प’ में यही जन्तुचैतना काय करती है। इसी प्रकार श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी वृत्त चारु चन्द्रलेख’ और रायबहादुर गोबधनराम माधवराम निपाठी वृत्त उप-यास सरस्वती चन्द्र की अन्तर्चैतना भी, पूर्वजन्म से सम्बन्धित है। अधम एव अयाय के प्रतिकार एव घम और याय की पुन स्थापना—ये दो सूत्र, भारतीय उप-यास साहित्य में सर्वत्र प्रतिध्वनित हैं। बकिम के उप-यास की कथानायिका देवी चौघरानी जलदस्युओं का संगठन कर, ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अत्याचारों के विरुद्ध युद्ध लड़ती है। इसी भाँति श्री भूवेरचन्द मेघाणी वृत्त सोरठ तारा बहता पाणी में दोनमा डाकू के उपनाम से सिपारण नामक पात्रा डाकुआ का दल संगठित करती है और अंग्रेज रेजिडेंट की हत्या कर डालती है। श्री देवेन्द्र सत्यार्थी ने ‘ब्रह्मपुत्र उप-यास में, नागाआ की कातिकारी नेत्री रानी गुड्डालो के रोमांचक प्रसंग को भी समाविष्ट किया है।

श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने अपने कृष्णावनार’ नामक उप-यास में ब्रजभूमि का पृष्ठभूमि बनाया है। इसी भाँति श्री वृ दावनलाल वमाने अपने उप-यास ‘दूटे काटे’ की कथा की पृष्ठभूमि भी ब्रज प्रदेश को ही बनाया है। प्रेमचन्द ने ‘प्रेमाश्रम’ और कायाकल्प में इसी पृष्ठभूमि को अपने उप-यासों में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है। अर्थात् इन चारों ही उप-यासों की वण्यवस्तु में एक प्रकार का साम्य पाया जाता है। सभी, एक समान, वृष्ण भक्ति द्वारा की शक्ति भारतीय चैतना के प्रतिबिम्ब हैं।

१ ‘कादम्बरी’—एक सांस्कृतिक अध्ययन (बामुदेवशरण अग्रवाल), प्रस्तावना भाग।

प्राचीन स्मारक म पाई जाने वाली स्थापत्य-कला एव मूर्तिकला से प्रेरित होकर अनक भारतीय उप-यासकारों ने उप-यास रचना की है जिनमें श्री राखालदास वचापाध्याय कृत 'पाषाणर इतिकथा', श्री चतुरसेन शास्त्री कृत 'पत्थर युग के दो बुत', श्री देवेन्द्र सार्थी कृत 'कथा कहा उवशी और श्री रामेय राधव कृत मुर्दों का टीला विशिष्ट रचाए है। कहन की आवश्यकता नहीं है कि इन उप-यासों की वष्यवस्तु नियाजन अन्तर्चेतना समान ही है।

'गुजरात ना नाय' (क० मा० मु०शी) का नायक कीर्तिदेव (पद्याय ११, पृष्ठ २३६) हिंगलाज देवी के महाशमशान म आकर ठिठर जाता है। ऐस ही एक शमशान क मययुक्त वातावरण का, श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी के उप-यास 'वाण भट्ट की आत्मकथा' में चित्रण किया गया है। श्री बकिम बटर्जी-कृत 'कपाल कुण्डला' तथा श्री राखालदास वचोपाध्याय क 'करण, शशाक' आदि उप-यासों में भी बौद्ध तांत्रिक और कापालिक लोगो की तांत्रिक क्रियाशा से समन्वित शमशान के वातावरण भी, कुछ ऐसी ही रहस्यमय शैली म चित्रित किय गए हैं। तांत्रिका का प्रभाव एक युग में सारे दश में ही रहा था, अत अखिल भारतीय उप यासों म उसकी छाया मिलना स्वामाबिक ही था।

भारत की महान ऐतिहासिक घटनाएँ और उनसे सम्बद्ध राष्ट्रीय वीर गुणशील म समानवर्मी थे। इसीलिए भारतके सभी प्रदेशों की भाषाभा के ऐतिहासिक उप-यासों म एक समान राष्ट्रीय एव सासृष्टिक अन्तर्चेतना पाई जाती है। घटनाएँ घटना स्थल, प्राथेनिक पृष्ठभूमि तथा प्रादेशिक जीवन की दृष्टि से, ये सभी उप-यास एक ही समान अन्तर्चेतना की आधार भूमि पर खड़े किये गए हैं। उदाहरणार्थ बंगला भाषा क वरिष्ठ उप-यासकार श्री रामेशचन्द्र दत्त ने 'राजपूत जीवन सध्या' तथा 'महाराष्ट्र जीवन प्रमात' नामक उप-यासों की रचना की और श्री कृष्णबनलाल बमान अहिल्या बाई नामक ऐतिहासिक उप-यास की रचना की। दोनों ही लेखक उप-यासों की मूल रगस्थली क निवासी नहीं हैं। श्री गंगाप्रसाद गुप्त ने कुँवरनिह सनापनि नामक उप-यास लिखा जिसम कोकण (महाराष्ट्र) की भूमि उप यास की रगस्थली बनाई गई है। यह 'उप काल' में आष्टे द्वारा वर्णित पृष्ठभूमि से साम्य रखती है। दोनों ही उप-यासकारों ने प्राय एक ही प्रदश को चित्रित किया है। मराठी उप यास कार हरि नारायण आष्ट के उप-यास चाणक्य आणि चन्द्रगुप्त म, हिमाचल प्रदेश का विशाल वणन पाया जाता है। इसी दृतिदृष्टात्मक पृष्ठभूमि परश्रा क० मा० मु०शी ने 'मगवान कीर्तिलय' की रचना की। इस भाँति जब भारत भूमि क विविध भाषाभा के उप-यासकार, ऐतिहासिक उप-यास रचत हैं तो उन सभी म वष्यवस्तु का नियाजना स्वभावतः समान ही उठती है।

विशेषतया हिंदीभाषा के उपन्यासकार तो सदैव ही प्रकृत्या, अखिल भारतीय स्तर पर ही सोचते और लिखते रहे हैं। श्री प्रेमचन्द और श्री वृन्दावनलाल वर्मा इसके साक्षात् उदाहरण हैं। होरी भारत के किमी भी किसान का प्रतिरूप हो सकता है। और स्व० श्री वर्माजी के द्वारा, उत्तरा सण्ड में पली हुई भासी की रानी लक्ष्मीबाई और महाराष्ट्र में पली हुई अहिल्याबाई दोनों ही समानरूप से, बहुजन हिताय—बहुजन सुखाय के आदेश में प्रवृत्त, भारतीय रमणीयता के रूप में चित्रित की गई हैं। हिंदी भाषा एवं साहित्य की यही उदार भावना आज भी अखिल भारतीय उपन्यास, साहित्य की मौलिक अन्तर्चेतना एवं विशिष्टता बनी हुई है।

भारतवर्ष की सांस्कृतिक एकरूपता की एक निश्चित रूपरेखा, हमारे उत्कृष्ट साहित्यकारों तथा काव्यशास्त्रियों के समक्ष लगभग दो ढाई सहस्र वर्षों से अविरल रूप में सतत अवस्थित रही है। इस रूपरेखा में सूक्ष्म सांस्कृतिक चेतना तथा स्थूल नैसर्गिक एवं भौगोलिक मानचित्र रेखाएँ, ताने बाने के समान मिली जुली रही हैं। कालिदास ने जिस भारत का चित्रण प्रस्तुत किया है, वह भारतभूमि की एक संपूर्ण कलात्मक एवं सुयुक्त चेतना की प्रतिमा मानी जा सकती है। इसी को 'द्वितीय कालिदास' कहाने वाले महाकवि एवं उपन्यासकार, बाण ने, अपने गद्य महाकाव्यों में अवतरित किया है। जब तक भारत भूमि की एक समान राष्ट्रभाषा के रूप में संस्कृत का व्यवहार होता रहा, सभी समर्थ उपन्यासकारों अथवा गद्य महाकवियों ने, उसी सांस्कृतिक एकरूपता को अपना समान लक्ष्य बनाए रखा। इतिवत्त के योगायोग से ब्रिटिश सत्ता के द्वारा, सुनियोजित दुरभिसिद्धियों का जाल फलाया गया और संस्कृत भाषा को भारतीय जनसाधारण के बीच से निष्कासित अथवा निर्वासित करने का गृहित एवं सुसंगठित उद्योग किया गया। ता इतिवत्त की घटनाओं के उत्तार चढ़ाव के कारण ही समयांतर में हिंदी भाषा का संस्कृत के इस गुरुतर भार को ग्रहण करना पड़ा और दृष्टी काय को अद्यावधि हिंदी उपन्यास पर्याप्त उत्तरदायित्व एवं गौरव के साथ निभाया चला जा रहा है।

भारत की सांस्कृतिक एकरूपता के समर्थक हमारे महानतम प्रादेशिक उपन्यासकारों के समर्थ, विशाल भारत की वही समान महान एवं नव्य मूर्ति प्रतिष्ठित रही है जिसकी कि एक स्परक्षा राजनेतृत्व में जन्मे देशकाल विभाजनगत वणन सिद्धांत में प्रस्तुत की थी। हमारे सभी अखिल भारतीय स्थानिक उपन्यासकारों (यथा—सर्वश्री प्रेमचन्द वृन्दावनलाल वर्मा, बकिम चट्टोपाध्याय शरत चट्टोपाध्याय, फकीरमोहन सेनापति कमा मुशी हरिनारायण आष्टे तथा शिवराम फारत आदि) ने, समान भक्तिभाव पूर्वक भारतभूमि का साव्येशिक चित्रण किया है और उन सभी ने एक समान संस्कृति को ही अपने कथा प्रवाह में तरंगयित किया है। यही भारतीय उपन्यास का मौलिक रूप है अतः उसमें अनेकानेक स्थलों पर स्थान,

प्रकृति, यात्रा, पात्र आदि से सम्बन्धित वणनो में, जो साम्य निहित है, वह सहज और स्वामाबिक है। यह समग्र लोक चित्रण, विश्व की उस महानतम सांस्कृतिक एवं दार्शनिक जीवन सरणी का परिचायक-मात्र है, जिसकी पाताल गामिनी जहो की, सहस्रों वर्षों में होने वाले, शतशत मनीषियों ऋषियों दृष्टात्मा, अवतारी पुरुषों, कलाकारों तथा साहित्यकारों की अक्षय साधना ने, अपन जीवन रस से अभिसिन्धित किया है।

उत्तर भारतीय भाषाओं में रचित एवं दक्षिणात्य भाषाओं में प्रणीत उपन्यास-साहित्य के बीच का सांस्कृतिक अन्तराल, प्रायः नगण्य ही है। उदाहरणार्थ दक्षिणात्य भाषा के उपन्यासों में आत्मापण, सती आदि की प्रथाओं का यथाकदा दशन होते हैं, वे उत्तर की भाषाओं के उपन्यासों में नहीं पाए जाते। इसी प्रकार दक्षिणात्य भाषाओं के उपन्यासों में सपत्नी की भी पर्याप्त महत्व और गौरवपूर्ण स्थान दिया जाता है और यह भी प्रशंसित किया जाता है कि दोनों ही सपत्नियों वडे प्रेमपूर्वक भगिनी भाव से रहती हैं। यह बात आयभाषाओं के उपन्यासों में दृष्टिगोचर नहीं होती। सध्या राग' (अ० ना० वृष्णराव) तथा 'शातला' (के० बी० अय्यर) इन दोनों ही सृष्टि प्रदान उपन्यासों में, सपत्नी कथा दी गई है। सीमावर्ती प्रदेशों का सांस्कृतिक प्रभाव निकटस्थ प्रदेशों पर भी पड़ता है। इसीलिए उडिया के उपन्यास 'का' (काहूचरण महानि) में भी सपत्नी प्रेम दिखाया गया है। आय भाषाओं के उपन्यासों में 'सपत्नी डाह' एक सर्वविदित कथा सूत्र है। इसी प्रकार सती होने आदि के बीमत्स दृश्य भी केवल दक्षिणात्य उपन्यासों में ही परिलक्षित होते हैं। 'माडिउ उण्णो महाराया' (के० बी० पुटप्प) उपन्यास में इस प्रकार के दृश्य दिखाए गए हैं। दक्षिण का प्रभाव महाराष्ट्र के जनजीवन पर भी काफी पड़ा है। 'मंगल सूत्र' आदि धारण करने की प्रथा महाराष्ट्र का दक्षिण की देन है, जबकि इस प्रकार की प्रथा अथवा आय भाषाओं के उपन्यासों में नहीं पायी जाती है।

भारतीय उपन्यासों में इसी भाँति की कुछ अन्य प्रादेशिक विभिन्नताएँ भी कहीं कहीं देखी पड़ती हैं यथा मलयालम उपन्यास 'चेम्मीन' (तत्कालीन शिव शंकर पिल्लै) में सागर को 'माता' रूप में माना गया है। यह करल की प्रदेशीय मान्यता है जहाँ की सृष्टि 'मातृप्रधान' है पितृप्रधान नहीं। मलयालम के 'केरलसिंहम' (सरदार क० म० पणिस्कर) उपन्यास में, मानवी क वरण का सर्वप्रथम 'याय्य अधिकारी' उसका मामा का माना गया है जो उत्तर भारत में सामाजिक दृष्टि से एक घोर अधम माना जाया। इसी भाँति की सामाजिक प्रथाएँ जन हमार प्रादेशिक उपन्यासों में यत्रतत्र पढ़ने में आती हैं तो हम पता चलता है कि हमारा यह देश कितना 'याय्य' एवं कितना महान है जहाँ विविध जनमूह अपनी अपनी निजी सामाजिक विशिष्टताओं के साथ जीवन विताते हुए भी अपना को एक महान् राष्ट्र की इकाई मानने में ही अपना मोभाग्य मानते हैं।



भारतीय उप-यास साहित्य वस्तुतः भारतीय जीवन का निष्कटतम चित्रण एवं वणन है। यह, विशाल भूभाग में फैल हुए, विविध जनपदों के, लगभग डेढ़ सहस्र वर्ष के, सस्कार युत, कलाभिमुख, दार्शनिक प्रवृत्ति परक, जीवन का कथात्मक लेखा जोखा है जिसके मूलभूत सूत्रों की विशद व्याख्या तो वस्तुतः एक स्वतंत्र ग्रन्थ की ही अपेक्षा रखती है। इस महान सांस्कृतिक दार्शनिक एवं कलात्मक मानव उपलब्धि समुच्चय के सभी भौतिक सूत्र हमारे इस प्रभूत राशि राशि उप-यास साहित्य में ताने बाने की तरह परिचायन हैं। उनमें से कुछ ही पक्षों एवं अंगों की, इस महाकाय ग्रन्थ के इन जाठ अध्यायों में, सण्ड खण्डश विवेचना करने का, मनोयोग पूर्वक प्रयत्न गौरव किया गया है। यहाँ एक बार फिर से उपयुक्त विविध दार्शनिक, सांस्कृतिक एवं कलाभिमुख चेतना व प्रमुख तत्त्वों को सारोक्त किया जा रहा है। इससे भारतीय उप-यास की, वास्तविक गौरवास्पद स्थिति के बारे में, हमारी आस्था पुनः दृढ़ हो पायेगी।

भारतवासी, अपनी प्रवृत्ति से न तो इस जीवन को मिथ्या एवं निःसार मानते रहे हैं और न इसे क्षणमद्भूर, स्थूल एवं भौतिक साधना का माध्यम ही समझते रहे हैं। वे जीवन के अमरत्व में विश्वास रखते हैं एवं आत्मा शरीर के अन्त होने पर, पुनः अभिनव शरीर धारण कर लेती है, इसी आस्था के बल पर वे अपने वर्तमान जीवन को, मृत्युमय से उन्मुक्त होकर, अधिक से अधिक जानमय, सस्कारमय एवं कलामय बनाने में सतत यत्नशील रहे हैं। दार्शनिक दृष्टि से वे 'आनन्दवादी' रहे हैं और आचार की दृष्टि से वे एक सम्पूर्ण, स्वस्थ, प्रसन्न एवं सुखी सुसंस्कृत जीवन बिताने के विश्वासी रहे हैं। इसीलिए भारतीय उप-यास साहित्य में हमें उपयुक्त सभी सूक्ष्म अन्तर्चर्चनाएँ आद्यापात प्रतिविम्बित दिखाई देती हैं। दार्शनात्मक उप-यासों में यत्र-तत्र दुःखात् आत्मापण के तत्त्व अवश्य मिलते हैं फिर भी उनकी उदात्तता, कलाप्रियता एवं दार्शनिक दृष्टि से सस्कारयुक्त उच्चस्तरता, सबत्र ही बनी रही है।

भारतीय सदा से ही—'जिओ ! और जीन दो !' के पक्के अनुयायी रहे हैं। युद्ध को उन्होंने मूलतः गहित माना है किन्तु जब भी भी व युद्ध में रत हुए भी हैं तो उसे केवल उस घम युद्ध मान कर। शघम के विनाश एवं घम के पुनः स्थापन को, प्रत्येक भारतीय अपना नैतिक कर्त्तव्य मानता रहा है। इसीलिए हमारे उप-यासों में शीघ्र एवं बलिदान के उज्ज्वल प्रसंग सबत्र वर्णित हैं, किन्तु उनका मूल उद्देश्य लोकमंगल एवं 'सर्वभूतहित' ही रहा है। इस दृष्टि से सम्पूर्ण भारतीय उप-यास की, अपनी एक विशिष्ट दार्शनिक, धार्मिक एवं नैतिक समान भूमि रही है।

आनन्दवादी होने के कारण भारतीय स्वभाव से कलाप्रेमी हैं, एवं सुन्दरतम देश के रहने वाले होने के नाते, वे सौन्दर्य' अथवा 'रूप' का भी सर्वाधिक सुसंस्कृत

एव परिष्कृत रूप देखना चाहते हैं। हमारे उपन्यासों के पात्र एव पात्राण, इसी समान उद्देश्य की समझ रख कर, ढाल गये हैं।

साहित्य सगीत-कला, भारतीय जीवन को, कठोर अध्यवसाय से विधाम देने वाले महान परिष्कृत मनोविनाद रहे हैं। पुराने से पुराने भारतीय उपन्यासों के पात्र एव पात्राण चित्रकला से भली भाँति परिचित थे। विजन में भी, गुरु बादि प्राकृतिक रंगों से ब, चटपट मानव रूप का चित्रण (पोट्रेचर) आलेखित कर ढालते थे। हमारे विरक्त साधुभा एव स्यासिया ने भी पहलाड को खोद कर गुफाओं में मन्व्य रंगीन चित्र विश्व एव प्रस्तर प्रतिमा ससार सज ढाला है। स्थापत्य एव भवन निर्माण-कला की अतर्चेंतना पर अनेक श्रेष्ठ भारतीय उपन्यास रचे गये हैं। सगीत-सहरी एव नृत्य कलरी, हमारे सामाजिक जीवन का सदैव ही ताजगी और प्रसन्नता प्रदान करती रही है। उ ही के बणनो से हमारे श्रेष्ठ उपन्यास सबन समृद्ध हैं।

भारतीयों की इसी उच्च स्तरीय सदाचरणयुत संस्कारमय एव कलामय आनन्दवादी प्रकृति को सतत ध्यान में रख कर ही, हम भारतीय उपन्यास साहित्य की आन्तरिक एव सूक्ष्म पृष्ठभूमि को भलीभाँति समझ सकते हैं। भारतीय उपन्यास की इस बणनारमक समीक्षा का वस्तुतः यही बीजमंत्र रहा है। एवमस्तु !

## परिशिष्ट १

आद्य एव दुष्प्राप्य प्रेमचन्द-पूर्वकालीन (१८०१ ई० से १९०३ ई० तक के) हिन्दी उपन्यासों के, कुछ सञ्जात्मक एव कलात्मक वर्णन

उपन्यास सख्या १ वर्णन सख्या १ कोई क्या कह सके, जितने घाट दोनो राज की नदियो म थे, पक्के प्वादी के थक्के से होकर, लोगो का हक्का बक्का कर रहे थे । निवाडे भौलिय बजर, लचके मोरपखी, स्याम सुन्दर, रामसुन्दर और जितनी ढब की नावें थी, सुनहरी, रुपहरी सजी-सजाई, बसी कसाई, और सी सी लचके खातिया आतिया जातिया, ठहरातिया फिरातिया थीं । और कोई नाव ऐसी न थी, जो साने रूपे के पत्तरो से मढी हुई, और सवारी से भरी हुई न हो और बहुत सी नावो पर हिंडोले भी उसी ढब के थे । उन पर गायने बैठी, भूलती हुई, सोहनी बेदारा बागेसरी का हडो मे गा रही थी । दल बादल ऐसे नेवाडो के, सब झीलो मे छा रहे थे ।

(अच्छापन धाटो का पृष्ठ २८)

उदैमान चरित' या रानी केतकी की कहानी [श्री इशा अल्लाह खा इशा ] (रचनाकाल १८०१ इ , काशी नागरी प्रचारिणी समा, काशी) (नागरी प्रचारिणी प्रथमाला स० ३४), प्रस्तुत संस्करण पाचवा, (१९५० ई )

२२ महाराज ! ऐसे कह सुन जब रुक्मिणीजी ने, उस ब्राह्मण को, बिदा किया तब वह, प्रभु का ध्यान कर, नाम लेता, द्वारका को चला और वहा जाय देखे तो समुद्र के बीच, वह पुरी है जिम्के चट्टों ओर, बग बटे पवत भी धन उपवन, शोभा दे रहे हैं, तिनमे माति माति के पशु पक्षी बोल रहे हैं और निमल तल मरे सुधर सरोवर, उनम कवल डहडहाय रहे, विन पर, भीरो के चुण्ड के भुण्ड गूज रहे और तीर पे हंस, सारस आदि पक्षी फूलों कर रहे । कासो तक अनेक अनेक प्रकार के फल फूला की बाडिया चली गई हैं, तिनकी बाडो पर पनवाडिया लहलहा रही हैं । बावडी, इ दारो पे खडे, मीठे सुरा से गाय गाय, माली, रहट परोहे चलाय,

चलाय, ऊँचे नीचे नीर सींच रहे हैं, और पनघटो पर पतिहारियों के ठठठ के ठठठ सगे हुए हैं ।  
(अध्याय ५३, पृष्ठ १५७-५८)

२३ यह छवि निरख हरप, वह ब्राह्मण जो आगे बढ़ा तो देवता क्या है कि नगर के चारो ओर, अनि ऊँचा कोट उमम चार पाटक, तिनमें कचन खचित षष्ठाक किवाड लगे हुए हैं औ पुरो के भीतर, चांगी सोने के मनिमय, पचखने, सतखने मन्दिर, ऊँचे ऐसे कि आकाश से बार्से करें, जगमगाय रहे हैं । तिनके कलस कलसियाँ विजली सो चमकती हैं, बरन-बरन की ध्वजा पताका पहराय रही हैं । झिडकी, झरोखो, मोखो, जालियो से, सुगन्ध की लपटें आय रही हैं, द्वार द्वार सपल्लव केले के खम्भ औ कचन कलस, भरे घरे हैं, तोरुन घदनवारें बधी हुई हैं, औ घर घर आनन्द के वजान बाज रहे हैं, ठौर ठौर कथा पुरान औ हरिचरचा हो रही है । अठारह बरन, सुख चन से बास करते हैं, सुन्दरसन चक्र, पुरी की रक्षा करता है ।

(द्वारिकापुरी वणन, अध्याय ५३, पृष्ठ १५८)

[प्रेम सागर', (प० लल्लूजी लाल,) प्रथम प्रकाशन कलकत्ता, १८०२ ई० । प्रस्तुत संस्करण १९२६ ई० प्र०—हिंदी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता]

३४ लगन के समय, सबका साथ ले, मण्डप में, कि जहा सोन-हू के थम्ब पर, मानिक दीप बरते थे, जा पहुँचे । मोति हू से पूरा हुआ चौक में, रतन जडा पीठा रखवा, उस पर, बरक्या दोना को, पटम्बर व गलो म हीरे की माला पहरा, बैठाय भाति भाति के बाजन, लगे बाजने, वो बथक गाने ।

(चन्द्रावती के विवाह का वणन, पृ० २०)

३५ सोना दिये से सूर्यलोक, वस्त्र दिये चन्द्रलोक, जहाँ धर्मात्मा लोग रहते हैं । उस पुण्यस्थान के निकट सुख देी वाली पुष्पोत्क नामक ऐसी नदी बहती है, जिसमें सुवर्ण की बालू, वो दूध सा स्वच्छ अमृत समान स्वाद जल व शल पत्त हैं । और तीर पर कल्पद्रुम लगे हैं । देवक्यायें गाती हैं तिस नदी के तट में एक से एक लाल, पीत, नील, श्वेत, हरित, सुन्दर दीप्त रत्नो की, ऐसी खानि मँने (कथा नायक नासिकेत या नचिकेता न) देखी । नद्य-तट पर, मणि, मोती, मूँगे, हीरो और सोन हू के, सहस्रन मन्दिर, मँने देखे ।

(चन्द्रलोक की पुष्पोत्क नदी प्रदेश का वणन, पृष्ठ ३६)

[चन्द्रावती की कथा' या नासिकेतोरयान—(प० सद्दल मिश्र) प्रथम प्रकाशन, १८०३ ई०, (कलकत्ता ।) प्रस्तुत संस्करण (काशी नागरी प्रचारिणी सभा) पृष्ठ संस्करण १९५० ई०]

४६ कितनेक वर्ष पाछे एक समय माधव तरपति बहुतेक लोग साथ ले, आखेट की गयी। बन में जाय बाघ, चीता, अरना, बराह हरिन, चीतल, साबर, आदि जीव अनेक अहेर किये, अरु जिन जिनने जो जो चाहे सो सो लिये ।’

४७ ‘जब अहेर करि, वहा ते बगयी, तब नगर के निकट आय, कहा देखतु है कि एक स्त्री, पद्म-सोलह बरख की। श्याम घटा से केस। पाटी, मानी मरकत मणि की टाटी। चोटी लाबी, कारी सटकारी जसे पानग की नारी। माँग मीतियन ते सवारी। भालचन्द की सी भाग। तिलक लाल, जानी पीतम की सुहाग। माँहें बाकी, मन मोहें। श्रवण दोऊ सीप से सोहें। दृगन के आगे, कवल, मीन, मृग खजन कहा ? नासिका को देखि, तिलपूल की बीर, लज्जित महा। बाके मुखचन्द्र की देखि, पुणिमा की चन्द्र, कलकी मयी। दात की पात तखि, दाडिम की हियी दरकि, शीषा की सुदरता निरखि, कपोत कुलमुलाय। कुचन की कठोरता हेरि सरोज कली सरोवर में गिरी जाय। कटि की कपता देखि, बेहरी ने वनवास लियो। जाघ की चिकनाई लखि, कदलि ने कपूर खालियो। जाके कर पद की कोमलता के आगे पदम की पदवी कुछु नहीं। ऐसी चंदाबरी विक्रवनी, गजगनी घूँघट कियो, कचन की बलसी लियो, एकली, जल भरण जाति है।’

(मुलोचना का रूप वणन, पृष्ठ ४४-४५)

[‘माधव विलास — (लल्लुजीलाल) प्रथम प्रकाशन, बलकता, १८१७ ई०। प्रस्तुत अवतरण, ‘आधुनिक हिन्दी साहित्य की भूमिका (डा० लक्ष्मीसागर बाण्येय) में पृष्ठ २६५ पर उद्धृत।]

५८ मेरठ में सबसुख नाम एक अग्रवाला बनिया था। मण्डी में बाइत की दुकान थी। आसपास के गाँवों के लोग सोदा लाते इसकी दुकान पर बेच जाते। पसा रुपया तुलाई का, इसके भी हाथ लग जाता। जब कभी भाव चढा देखता, हजार, दो हजार का नाज पात दुकान में डाल देता। फायदा देख, उसे बेच डालता। ब्याज-बट्टे और गिरवी पाने की भी उसे, बहुतरी आमदनी थी। हाट हवेली, धन दौलत दूध पूठ, परमेश्वर का दिया उसके सब कुछ था और यह उसने अपने ही पुरुष पाय से किया था। माँ बाप तो पिछले हैजे में, पाँच वर्ष का छोड़ कर मर गये थे। चाचा ने पाला था। थोड़े ही दिन हुए होने जब तो, कुकड़ियाँ बेचा करै था। चना चबेना करता। खाँचा सिर में लिए, गलियों में फिर था।’

—(प्रारम्भ से)

[ देवरानी जेठानी की कहानी’ ( ५० गौरीदत्त शर्मा, )  
रचनावाल सन् १८७० ई०, प्रकाशक मोहम्मद हफात, मेरठ । ]

६६ इन सबों में, एक मनुष्य को आप लोग पहचान देखिए। इससे बहुत काम पड़ेगा। यह नाटा, खोटा, अच्छे हाथ पर बा, सावले रंग का आदमी है—बड़ी भौंहें। छोटी आँखें। कधड़ा कसे, लाल पगड़ी बांधे, हरा दुपट्टा कमर में लपेटे, सफेद दुपट्टा ओढ़े जात का कुनबी है। इसका नाम हाती है।

—(दृष्ट पात्र वणन)

['एक कहानी कुछ आपबीती, कुछ जग बीती' (भारते-दु बाबू हरिश्चन्द्र), रचना बाल १९७६ ई०, भारते दु प्रकाशनी भाग ३ पृष्ठ ८१५ (काशी नागरी प्रचारणी समा, काशी)।]

७१० [नासिक से दस कोस पर,] यह भूभाग, अनेक सुरम्यलता और प्राकृतिक कुजों की प्रसव भूमि थी। क्योंकि वन, जो यहाँ थे, वे इतने सघन थे, कि उनमें पठते ही बटोही भूलभुलया के चक्कर में पड़, कोसों तक भटकना फिरे। इस वन के वृक्ष भी इतने गहिरन न थे कि सूर्यदेव की किरणें बाहर हो सँ झाँक कर रह जायँ, पेड़ा के एकाके के कारण भीतर न घँम सबँ। सट्टाशु की सहस्र-सहस्र किरणें, उदय होने के साथ ही, एक बारगी आकर इन वृक्षों के कोमल प्रवाल सदृश फल्लवों पर जो टूट पड़ती थी। जहाँ एका है वहाँ यह वन सम्भव है कि कोई बाहरी आकर अपना प्रभुत्व जमा सके। अवयत्ता इस ठौर यह वान न देखी जाती थी कि कोसों तक, सुस्वादु मीठे फलों से लदे हुए वृक्ष पथिकों को आतिथ्य के लिए अपनी लम्बी लम्बी और विस्तृत डाली रूप भुजाओं से, हवा में चकोरा सा खाकर, गुला रहे हैं। इसी जगल के एक आर एक और प्रात व समान, न यहाँ कोसों तक वेवडे के वृक्ष ही थे, जो अपनी सुर्गाँध से उदाहरण वनते हुए सबसाधारण को यह उत्तम शिक्षा दे रहे हो कि मलाई और अच्छा काम, तुमसे जहाँ तक वन पड़े, करो। पर उस मलाई का प्रतिफल पान की आशा मत रखो। सापा स गुथ हुए व दन के पेड़ा की जो कक्षानियाँ प्रसिद्ध हैं, वे इन्हीं विकट कानन की क्याएँ हैं। पर तु खेद का विषय है कि यह खूबी भी, जिस स्थान का हम वणन कर रहे हैं उसमें न थी।

—(वन वणन) (परिच्छेद २ पृष्ठ ४)

७११ अमी माझ न हाने पायी थी। सूर्यदेव भी अपना प्रकाश, जगत से खींचते हुए (जहाँ ठाकुर साहब उतरे थे) उसी पहाड़ के पीछे अस्त हुआ चाहते थे। शिखर इस पहाड़ का इस कारण माना सुवर्ण रजित सा हो रहा था। ऐसा ज्ञात होता था कि नीचे की वनभूमि से शोभा सिमट कर इसी एक शिखर पर पुजित सी हो रही है। इतना सुन्दर वह नीचे से लगता था, यद्यपि जाड़े का अवसान था, तथापि अमी से हवा में कुछ-कुछ ठण्डक आ चली थी।

—(सध्या-वणन) (परिच्छेद ८, पृष्ठ ३८)

७१२ विनायक सैर के वास्ते, इम टीले पर चढ गया। वहा विचित्र ही दृश्य देखा—नीचे हो गोदावरी की चट्टर का निमन जल, अति वेग से, एक पहाडी पर नीचे गिरता था—और सायकाल की लालिमा मे इस जल के शुभ्र रग की मोटी धारा की कुछ अद्भुत ही शोभा थी। वहाँ के वायु म जो जलकणों की ठण्डक भर रही थी उसे राह के यके विनायक को, अत्यन्त सुख मिला।

(प्रपात वणन) (परिच्छेद ८, पृष्ठ ३८)

[ 'नूतन ब्रह्मचारी'—श्री बालकृष्ण मट्ट, (प्रकाशक महादेव भट्ट, अहियापुर, प्रयाग) रचनाकाल १८७७ ई०, द्वितीय संस्करण सन १९११ ई० से। चिरजीव पुस्तकालय, वेलनगज आगरा, के सौजन्य से प्राप्त ]

८१३ तीन दिन बरात वहा रही। चौथे दिन शास्त्रीजी ने, चाँदी की खाट बिछाई। दान दहेज का क्या ठिकाना था। बड़े बड़े इकावन बरतन, और एक सी ग्यारह, सूती और रेशमी वस्त्र, इक्कीस गऊ ग्यारह घोडे और साने चादी के दुहरे गहने, और सीतापुर नामक एक गाँव, जो जयपुर के राजा ने शास्त्रीजी को दिया था, यह सब पदाथ नो लडकी के लिए निकाला और सोने के कडे, मोतियो की माला, पाचो वस्त्र लटके के लिए धरे। एक दुशाला और एकावन मोहर, श्री पंडित उमादत्त जी के लिए रख के शास्त्रीजी ने हाथ जोडे और कहा कि यह पुष्प पत्र आपकी भेंट हैं।

—(विवाह रीति वणन, पृष्ठ ३६)

[ माम्यवती—(श्रद्धाराम फिलौरी) प्रकाशक हिंदी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, रचनाकाल, १८७७ ई०, प्रस्तुत संकरण १९६० ई० से]

९१४ गरमी की श्रुतु थी। सायकाल का समय। सुय अस्ताचल चले गये थे। पहाड से मकान ज्वालामुखी हो रहे थे अर्थात् उनके पर्यर ऐसे तप गये थे, कि उसमे लवर निकलती थी और गरमी का अन्त न था। उस समय मदनमोहन, अपने मित्र माधव को साथ लेकर हवा खाने निकला। —(श्रीधर वणन परिच्छेद १, पृष्ठ १)

९१५ अहा! हा! आज तो बडी ही बहार का दिन है। देखो पानी बरसा है। ठडक छा रही है। सुंदर ठडी ठडी हवा चित्त की मोह लेती है। इस समय अश्रेजी प्रान्त म बडी ही बहार है। चलो आज हम अपने पाठको की बही का तमाशा दिखलायें। हाय! हाय! यहा की सडक कैसी विगड रही है जिसमें एक एक बिस्ता गाडी का पहिया, धस जाना है। अच्छा देखिए। यह नई सडक आ पहुँची। अजी यहाँ भी कीचट हो रही है। यह बाग है। वाह! यह भी कसा अच्छा स्थान है। नि सदेह यह स्थान विचार शहर वालो का बडा ही उपकार करता है।

—(प्रात भ्रमण वणन, परिच्छेद ६ पृष्ठ ५३ ५४)

[ नि पहाय हि दू एक वियोगात्त उपयास (श्री राधाकृष्णदास,) प्र० विक्टो रिया प्रस, बनारस । प्रथम संस्करण १८८१ ई०, प्रस्तुत संस्करण सन १८९० ई० । चिरजीव पुस्तकालय वेलनगज, आगरा के सौजन्य से ।]

१० १६ जब बग्गी, कम्पनी बाग में पहुँची तो सरेरे का सुहावना समय देख कर, सब का जी, हुरा हो गया । उस समय की शीतल मद, सुगन्धित हवा, बहुत प्यारी लगती थी । वृक्षों पर हर तरह क पक्षी, मीठे-मीठे स्वरो में चह चहा रहे थे ।

नहर के पानी की धीरी धीरी आवाज, कान को बहुत अच्छी मालूम दती थी । पत्ते सी, हरी घास की भूमि पर मोती सी ओस की बूँदें बिखर रही थीं और तरह-तरह की फुलवाडी हरी मखमल में रग रग के बूटो की तरह, बडी बहार दिखा रही थी । इस स्वामाविक शोभा को देख कर, लाला ब्रजकिशोर ने, मदनमोहन से, थोडी देर वहाँ ठरने के वास्ते कहा ।

—(उद्यान वणन, प्रकरण १, पृष्ठ १६)

१० १७ हुजूर ! आज कल कुतब में बडी बहार आ रही है । थोडे तिन पहले एक छीटा हो गया था इस्से चारो तरफ हरियाली छा गई है । इस समय भरने की शोभा देखने लायक है ' मुशी चुनीलाल कहने लगे । वहाँ की शोभा का क्या पूछना है ? आम के मोर की सुगन्धि से, सब अमराग्यें महक रही हैं । उनकी लटलही लताओ पर बठ कर, कोयल कुहकनी रहती है । घनघोर वृक्षों की घटा सी छटा देख कर मार नाचा करते हैं । नीचे भरना शरता है । ऊपर बेल और लताओ के मिलने से तरह-तरह की रमणीक कुजें और लतामडप बन गए हैं । रग रग के फूलों की बहार जुदी ही, मन को लुभाती है । फूलों पर मदमाते मीरो की गुजार और भी आनंद बढ़ाती है । शीतल मद सुगन्धित हवा से मन अपने आप ही, खिला जाता है । निमल सरोवरो के बीच, बारहत्तरी में बैठ कर, चहुर जोर फुहारों की शोभा देखने से जी कसा हुरा हो जाता है । वृक्षों की गहरी छाया में पत्थर की चट्टानों पर बैठ कर, यह बहार देखने में, कसा आनंद आता है ?' पंडित पुरुषोत्तमदाम ने कहा ।

(उद्यान—वणन) (प्रकरण १६, पृष्ठ ११६)

१० १८ पहाड की ऊंची चाटियों पर जाने से कुछ और विनोप चमत्कार दिगर्ग दता है । जब वहा से नीच की तरफ देवते हैं कही बफ कहीं पत्थर की चट्टानें कही बडी बडी कदराएँ कहीं पानी बहने के घाटो में कोसो तक वृक्षों की लगनार कही सूजर रीछ और हिरणों के झुण्ड, कही जोरसे पानी का टकरा कर छाट छोट हो जाना, और उनमें सूय की किरणों के पडने से, रग रग के प्रतिबिंबों का



दिलवाई देना कही बादलों का पहाड़ से टकरा कर, अपने आप बरस जाना, बरसा की जड़, अपने आसपास, बादलों का झूम झूम कर, घिर आना, अति मनोहर दिखाई देता है।”

(पावत्य—शोभा वणन) (प्रकरण १६, पृष्ठ ११६-११७)

१० १६ “रात को चाँद, अपनी चाँदनी से, सब जगत् को रुपहरी बना देता है। उस समय दरया किनारे हरियाली के बीच, मीठी तान, कँसो प्यारी लगती, है ?” हकीम अहमद हुसैन ने कहा “पानी के झरने की झनझनाहट, पक्षियों की चहचहाहट, हवा की सनहनाहट, बाजे के सुरो से मिला कर, गाने वाले की लय को चौगुना बढ़ा देते हैं। जिस समय यह सभा आँख के सामने हो, स्वर्ग का सुख सुच्छ मान्म देता है।”

(चाँदनी रात्रि वणन) (प्रकरण १६, पृष्ठ ११७)

(परीक्षा गुरु—(बाला श्रानिवासदास,) प्रकाशक ज्ञान प्रकाशन, चावडी राजार, दिल्ली। रचनाकाल १८८२ ई०। प्रस्तुत संस्करण १९५८ ई०।

११ २० मैं एक अपूर्व मनोहर भूमि पर विचरता हूँ। आसने सामने पवत, उत्तर भाग में एक बड़ी भारी नदी—कमल पूने है, कोकनद की पारि, शोक को हटाती है। कुमुद भी एक ओर मुदमुक्त होकर, एक आर देख रहे हैं। इधर चालक, ‘पी पी’ रट कर अपने पुराने पापा का प्रायश्चित्त करता है, उधर काली कायल भी, अमराइयो में पचम स्वर से गा रही है। आम की मजरी, सभी को, सकाम करती है। वज्र और अधबुले पलास अपने पनासो के गम म टड़े हो रहे हैं। मालती की लता, चमेली, पाटल, चम्पा इत्यादि, सबके सब अपने राव चाव म मगन हो रहे हैं—पवत की अनुपम शोभा कही नहीं जाती। सरिता उसी की नववधू सी हो उसकी गोद से निकल कर, जीर भी प्रमोद को बढ़ाती है। पवत की बदरा, सिं के नाद से प्रतिध्वनित हो रही है। इधर, उस नाद को सुन, गवय और गज भी, भीत हो कर, पलीत की भाँति, चिक्कार मार कर भागते हैं। हरिण, अपनी प्यारी हरणी के साथ वृत्ते आते हैं। मयूरो के जूथ का, बह्य उठा जाता है। बादल छा गए, चन्द्रमा छिप गए, पर बीच बीच में, उधर जाने से कभी कभी प्रकाश भी करते हैं।

(कव्य शोभा वणन) (पृष्ठ ६)

११ २१ इस प्रकार क्षण भर में, हेमन्त म भी, पावस का समाप्त हो गया था। पर अन्त को अकाल ही के मेघ तो थे। क्षण भर म प्रवात से बियुर गए। आकाश तुल गया।

यह हेमन्त का समय था। गुलाब से कर वाली उपा में, चित्रोत्पला के उर

से, अघकार के मेघ दूर किये और उदय होते हुए मानु की किरणा का प्रतिबिम्ब, लहरों में लहराने लगा । इस पुराने ग्राम के एक ओर, नदी के तीर से, पलाश, आम, ताल और खजूर के महावन पथ, प्रचुर शालि की भाँति, अपने सुनहले सिर कँपाती थी । दूसरी ओर, सम्पन्न गोचारण भूमि, ब्रजाङ्ग की गाय-गोरुओं से आच्छादित थी ।

(हेमांत में ग्राम परिसर वणन) (पृष्ठ ७)

११ २२ ऐसे सुन्दर ग्राम, जिसमें श्याम सुन्दर, स्वयं विराजमान हैं मेरा जन्म स्थान था । बाग भी राग और विराग, दोनों देता है । देवालयो की अबली, नदी के तीर में, नीर पर परछाई फँकती है । ऐसा जान पड़ता है कि जितने ऊँचे कगूरों से, वह अम्बर को छूती है, उसी भाँति पाताल की गहराई भी नापती है—जहाँ विचित्र पाथशाला, पाठशाला, न्यायाधीश और प्रबन्धकों के आगार बनियों का व्यापार जिनके द्वारे फूलों के हार टंगे हैं, जहाँ के राजपथा पर व्योपारियों की भीड़, गभीर सागर सी बनी रहती है, चित्त पर ऐसा असर करती है जो लिखने के बाहर है ।

(ग्राम वणन) (पृष्ठ ४३)

११ २३ चौड़े चौड़े राजपथ, सकीण वीथी अमराइया और नदी के तट सभी अमिसारिका और नागरिकों के सहायक हैं । पुराने टूटे फूटे दिवाल इस ग्राम की प्राचीनता के साक्षी हैं । ग्राम के सीमान्त के झाड़ जहाँ झुण्ड के झुण्ड कीण और बकुले बसेरा लेने हैं गर्वों की शोभा बढ़ाते हैं । पौ फटते और गोघूलि के समय गयो के खिरके की शोभा जिनके खुरों से उड़ी घूल ऐसी गलियों में छा जाती है, मानों कुहरा गिरता हो ।

(ग्रामीण शोभा-वणन) (पृष्ठ ४४)

‘श्यामा स्वप्न — (ठाकुर जगमोहन सिंह), रचनाकाल सन १८८५ ई०, सपादक डा० श्रीवृष्णलाल, (प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी,) १९५४ ई० के संस्करण से ।

१२ २४ तेजसिंह दरवाजा खोलने लगे, दरवाजे के ऊपर एक बड़ा सा चेहरा, शेर का बना हुआ था जिसके मुँह में हाथ बसूबी जा सकता था । तेजसिंह ने देवीसिंह से कहा इस चेहरे के मुँह में हाथ डाल कर इसकी जवान बाहर खींचो’ देवीसिंह ने वसा ही किया, और हाथ भर के करीब, जवान खँच लिया । उसके खँचते ही, एक आवाज हुई और दरवाजा खुल गया । अहमद की गठरी लिये हुए दोनों अन्दर गये । देवीसिंह ने देखा कि मूँब खुलासी जगह बल्कि कोस मर का साफ मगान है । चारों तरफ ऊँची ऊँची पहाडियाँ, जिन पर किसी तरह आदमी चढ़ नहीं सकता । बीच में एक छोटा सा क्षरता पानी का बह रहा है और बहुत से जगली मेवों के दरख्तों से अबजसोहावनी जगह मानुम होती है । चारों तरफ पहाडियाँ, नीचे से ऊपर

तक छोटे छोटे करजनी, गुमची, घेर, मकोईचे, चिरोजी, वगरह के घने दरस्तों और लताओं से भरी हुई हैं। बड़े बड़े पत्थर के ढाके, मस्त हाथी की तरह दिखाई देते हैं। ऊपर से पानी गिर रहा है, जिसकी आवाज बहुत भली मानूम होती है। हवा चलने से पेड़ों की घनघनाहट, और पानी की आवाज तथा बीच बीच में, मोरो का शोर और भी दिल को खींच लेता है। नीचे जो चश्मा पानी का, पश्चिम से पूरब की तरफ घूमता हुआ बह रहा है, उसके दोनों तरफ जामुन के पेड़ लगे हुए हैं और, पक्के जामुन उस चश्मे के पानी में गिर रहे हैं। पानी भी चश्मे का इतना साफ है, कि जमीन दिखाई देती है। कहीं हाथ भर, कहीं कमर बराबर, कहीं उससे भी ज्यादा होगा। पहाड़ों में कुदरती खोह बने हैं, जिनके देखने से मालूम होता है मानो ईश्वर ने यहाँ सैलानियों के रहने के लिये, कोठरिया बना दी हैं। चारों तरफ की पहाड़ियाँ, ढालवी और बनिस्बत, नीचे के ऊपर से ज्यादा खुलासी थी। और उन पर बादल के टुकड़े, छोटे छोटे शामियानों का, मजा द रहे थे। यह जगह ऐसी सुहावनी थी, कि वर्षों रहने पर भी, किसी की तबियत न खबडाए बल्कि खुशी हो।

सुबह हो गई। सूरज निकल आया जत्र अहमद होश में आया और उसने अपने को इस अजीब दिलचस्प मदान में, देखा तो यकीन हो गया कि मैं मर गया हूँ और फरिश्ते मुझको यहाँ ले आए हैं। लगा कलमा पढ़ने। — (तिलस्म वणन)

(पहिला हिस्सा, छठवा बयान, पृ० २४ २५)

१२ २५ नौगड और विजयगढ़ का राज पहाड़ी है। जगल भी बहुत भारी और घना है। नदिया चन्द्रप्रभा और करमनासा, घूमती हुई इन पहाड़ों पर बहती है। जाबजा खोह और दरें, पहाड़ों में बड़े खूबसूरती से कुदरती बने हुए हैं। पेड़ों में साखू तेंदू, विजयसार, कुरया धौ राजा पेयार जिगना आसन, सानन, वगरह और सिवाय इनके जगली पहाड़ों में पारिजात के पेड़ भी बहुत है। यह पहाड़ी अजब दिलचस्प है। अभी ता आप नांव में पड़े हैं, मील भर इधर उधर जाइये घने जगल में फस जाइयेगा। कहीं रास्ता न मालूम होगा कि कहीं से आए और विधर जाएंगे। बरसात के मौसिम में तो अजब ही कफियत रहती है। कोस भर जाइये रास्ते में, दस नाले मिलेंगे। जगली जानवरों में साबर वारहसिधा, चीता, मालू तेंदुआ, चिक्कारा, लंगूर, बल्तर वगरह के अलावे कभी कभी शेर भी दिखाई देते हैं। मगर बरसात में नहीं, क्योंकि, नदी नालों में पानी ज्यादा हो जाने से उनके रहने की जगह खराब हो जाती है और तब वे, ऊँची पहाड़िया, पर चले जाते हैं। इन पहाड़ों पर हरिन नहीं होते, मगर पहाड़ के नीचे, बहुत से देख पड़ते हैं। परिंदों में, सिवाय तीतर, बटेर, जिनिक वगरह के, मार ज्यादा होत हैं। गरज कि ये सुहावने पहाड़, अभी तक लिखे मुताबिक मौजूद हैं और हर तरह से देखने काबिल हैं।

उन ऐयारा ने, जो चुनार से क्रूर और नाजिम के सग आए थे, शहर में न जाकर, इसी स्थितचरण जगल में, डरा बनाया ।

—(धन-वणन) (पहिना हिस्सा, चौहवाँ वयान, पृ० ५० ५१)

१२२६ एक औरत (चपला) निहायत हसीन, रग गारा, सुरमई रग की साडी और घानी, बूटीदार चोली, दक्षिणी ढग पर पहिने, पोछे से लाग बांध, खुलासा गढाडीदार जूडा, बाँट से बांध, जिस पर एक छोटा सा साने का पूर, माथ पर एक बडा सा राली का टीका लगाए, काना में साने की निहायत खूबसूरत जडाऊ बालियाँ पहरे नाक में सरजा की नथ, एक टीका सोने का, घुँघरूदार, पट्टी मूषन की गले में पहिरे, हाथ में बिना घुडो का बडा, वो छदेली, जिसके ऊपर वाली छुडियाँ, कमर में लच्छरदार बघनी, पैर में साबडा पहिरे, अजब आनवान से सामने खडी है । गहना तो मुतस्सर है, मगर बदन की गटाई और सुडोनी पर इतना ही आफन हो रहा है । गौर से निगाह करने पर एक छोटा सा तिल टुडडी के बगल में देखा, जो चेहरे को ओर भी रोक दे रहा है ।

—(ऐयारा का रूप वणन) (पहिना हिस्सा सत्रहवाँ वयान, पृष्ठ ७१)

१२२७ जब कुमार की नींद खुली, अपने को उस खेमे में न पाया, जिसमें सोए थे । बल्कि उसकी जगह एक बहुत ही सजे हुए कमरे को देखा, जिसकी छत में कोई बशकीमती झाड और शीशे लटक रहे थे । तीन तरफ सगमरमर की दीवार, और चौथी तरफ बड़े बड़े खूबसूरत दर्वाजे हैं । दीवारों पर कई दीवार गीरें लगी हुई हैं, जिनमें अभी तक मोमबत्तिया जल रही हैं । ऊपर उसके चारों तरफ बडी बडी खूबसूरत और हसीन औरतों की तस्वीरें लगी हुई हैं । लम्बी दीवार के बीच बीच में एक तस्वीर, आदमी के कर्क बराबर सोने के चौखटे में जडी, दीवार के साथ लगी हुई थी ।

—(राजमवन वणन) (तीसरा हिस्सा, ग्यारहवा वयान, पृ० ४६ ४७)

१२२८ आप उसी बाग में पहुँच गए । दक्खिने अस्त हान हुए मूय मगवान अपनी सुन्दर लाल किरणों से उस मनोर बाग के, कुछ ऊँचे ऊँचे पेडा के ऊपर हिस्सों को, चमका रहे हैं । कुछ कुछ ठण्डी हवा, बाग के खूबसूरत नाजुक और खुशबूदार फूलों की महक, चारों तरफ फला रही है । देखिय इस बाग के बीच वाले, सगमरमर के, चबूतरे पर तीन पलग रखे हुए हैं । जिनके ऊपर खूबसूरत खूबसूरत लीडियाँ अच्छे बिद्धोने बिछा रहीं हैं खास करके बीच वाले जडाऊ पलग की सजावट पर लम्बो का सबसे ज्यादा ध्यान है । उधर देखिये वह छोटा सा घास का रमना कमा खुशनुमा बना हुआ है । उसमें की हरी-हरी दूब, कमी खूबसूरती से कटी हुई है । यकायक सज मलमली फर्श में, और इममें कुछ भेग मालूम

नहीं होता। और देखिये, उसी सब्ज दूब के, रमने के चारों तरफ रंग विरग के फूला से, खूब गुये हुए, सीधे साधे, गुलमेहदी के पेड़ों की बतार पल्टनों की तरह कंसी शोभा दे रही है।

—(राजमहल वणन) (चौथा हिस्सा, सोलहवा बयान, पृष्ठ ६०)

['चन्द्रवाता' (देवकीनन्दन खत्री,) प्रथम प्रकाशन १८८६ ई०, (लहरी बुक डिपो, वाराणसी,) प्रस्तुत संस्करण तीसवा, १९५८ ई०]

१३ २६ सचमुच बसंतकुमार, बहुत सुन्दर और सुदौल आदमी था। उसकी सु दरता, रूपगविता तरुणी के मानभजन करने की मानों दिय औषधि थी।

उसका सुन्दर रंग, प्रफुल्ल मल्लिका सा गौर, शरीर बलिष्ठ कोमल और अनति-स्थूल, ललाट प्रशस्त।

—(नायक का रूप-वणन) (बयालीसवा परिच्छेद, पृष्ठ १७६)

१३ ३० इसी जगह हम कुसुम के नखशिल का वणन करना उचित समझते हैं। सुनिए—वह एक स्वच्छ कुसुमी रंग की बनारसी साड़ी पहिरे थी। साड़ी का एक कोना, कमर के दोनों भुजाओं के नीचे तक फला था। पीठ खुली, पर कसीली चोली कसी थी। साड़ी के भीतर से चपक समान, अंग के रूप लावण्य की विभा, फूट-फूट कर बाहर निकलती तथा अपूर्व रस का स्वाद चलाती थी। केशवियास, सोलह शृंगार, अंग परिष्कार और बसन की बहार।

—(नायिका का रूप-वणन) (बयालीसवा परिच्छेद, पृष्ठ १७६)

१३ ३१ वह बसन्तकुमार की विवाहिता स्त्री गुलाबदेई थी। वह गुलाब विनिदित गुलाब होने पर भी गुलाब के सगी काँटे से कँटील स्वभाव को न छोड़ सकी थी। जब वह एनमन गुलाब ही थी, तो फिर उसके रूप का क्या कहना! तथापि रूपामिमानीनों सुन्दरिया के परखने के लिये, हम गुलाब की छवि कलम से खींच देते हैं।

वह कोमल नाजुक छोटा सा बदन वह चपक समान गौर वण। वह शशधर विनिदित, मुखमण्डल, वह आगुल्फ प्रलम्ब कुचित केश वह तिल पुष्पाम नासिका, वह सीप से सुहावने वणकुहर वह गुलाब की पत्ती परिष्कृत सुवासित, कुचित, कृष्णकेश, जाल से मण्डित, झूलता युगल सूक्ष्म घन कार्मुकाकार और दूरायत तथा निविड कृष्ण, नासिका उन्नत और नुकीली, बिधाधर रत्न-वण पतले और सुकोमल, नेत्र आकषणावलम्बी, नुकीले तथा स्निग्ध, कटाक्षमय, श्रोत्रा दीध और पुष्ट, तथा अन्याय अंग, पारिपाटयमय और सचि क ढले से, सुदौल गोलमटोल थे।

—(पात्रा रूप वणन) (बयालीसवा परिच्छेद, पृष्ठ १७४)

१३ ३२ आरामगृह, सुन्दरता से सजा था। बड़ी-बड़ी तस्वीरें शीशे, आइने, भाङ, फानूस, हाडी, दीवारगीर आदि, आराइशो से, चारो ओर, कमरा, मरा-पूरा था। जमीन में ऊनी कार्पेट और गलीचे का फश, और ही शोभा देता था। उस पर उत्तमता से, इधर उधर टेस्क, मेज कुर्सी, मूढ़े, टेबल, अलमारी, और पलंग, और ही छटा झलका रहे थे। घर खूब ऊँचा सम्बा चौड़ा और प्रशस्त तथा सुहावना था। चाँदी के पाए के मखमली गद्दी तकिये, जरदोजी काम के, रसिको के चित्त को उधर ही खींच लेते थे।

(रगमहल की सजावट-वर्णन) (बयालीसवा परिच्छेद, पृष्ठ १७४)

[‘स्वर्गीय कुसुम वा कुसुमकुमारी, (किशोरीलाल गोस्वामी,) प्रथम प्रकाशन १८८६, द्वितीय संस्करण १९६० ई० से। (नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा, के सौजन्य से)]

१४ ३३ बरसात का अंत है। दुःखी के घन के समान, मेघ, आकाश में सिमिट सिमिट, लोप होने लगे हैं। शरत् का आरम्भ हो गया। शीत अपना सामान धीरे धीरे इकट्ठा करने लगी। कुआर का महीना है। उजाली रात है। ग्यारह बजे का समय है। सन्तहटा छाया हुआ है, मानो प्रकृति देवी, दिन भर की दौड़घूप के उपरांत, थकी थकी, विश्राम के लिये छुट्टी लिया चाहती है। चंद्रमा, सोलहों कला से पूण होने में, कुछ ऐसा ही नाममात्र का अन्तर रखता हुआ, अपनी प्रेयसी निशा की मुखच्छवि पर निहाल हो, माना हँस सा रहा है, जिसकी सब ओर छिटकी हुई चादनी, सम विपम, भू भाग को, एक आकार दरसाती हुई, चन्द्रवर्ती राजा की आज्ञा समान, सबत्र व्याप रही है, मानो वितान रूप नीले नीले आकाश शामियाने के नीचे सुषेद फश बिछा दिया गया हो। मालूम होता है। शरत् की सहायता पाय, धरती, आकाश के साथ होड़ लगाए हुए है। वहाँ निमल आनाश मे मोती से चमकते हुए तारे अपने स्वामी निशानाय के प्रस्तन करने को, निशा बघूटी के लिये उपहार बन रहे हैं यहाँ कन्या के सूप के प्रचण्ड आतप में कीचड़ पानी सूख जाने से, स्वच्छ हो, छिटकी हुई चाँदनी के मिस हँसती सी धरती, फूले हुए कल्हार गुलनार, कुई कुद आदि भाति भाति के फूलों का गहना सजे उसी निशा नई दुलहिन को मुँह दिखाई देने को प्रस्तुत है। वहाँ एक चंद्रमा है। यहाँ ठौर ठौर, नव युवतियों के अनेक धाद से मुँहले की चादनी, कामियों के मन में, मनसिज का विकास कर रही है। ऐसे समय में अरबी घोड़े पर सवार एक आदमी देख पडा।

(शरद ऋतु में चादनी वर्णन) (पहला प्रस्ताव, पृष्ठ १२)

१४ ३४ भेख इसका सिपाहियाना था। उमर में यद्यपि ५० के ऊपर था गया था। पर डीलडौल से ४० के भीतर मानूम होता था। बाल उसके दो एक,

कहीं कहीं पक गए थे सही, किन्तु उसने स यह किसी को नहीं बोध होता था कि यह तरुणाई से बुलक चला है । स्वामिभक्ति, इसके चेहरे से भलक रही थी । चौड़ी छाती और वदन की मजबूती से यह क्षत्री मालूम होता था । और डील का न बहुत नाटा, न बहुत लम्बा था । कुछ ऊधता, अलसाना सा, कागज का एक पुलि दा हाथ म लिय, लम्बे चौड पक्के मकान के फाटक पर आकर यह सटखटाने लगा ।

(पात्र-वणन) (पहला प्रस्ताव, पृष्ठ २)

१४ ३५ ग्रीष्म की ऋतु है । जेठ का महीना है । दोपहर का समय है । सब ओर सनहटा छा रहा है । तिमशाशु की तीखी खरतर किरणा से, समस्त ब्रह्माण्ड, तपे लोहपिण्ड का अनुहार कर रहा है । क्या स्थावर क्या जगम यावत् पदार्थ सब पानी ही पानी रट रहे हैं । जिसे छुओ वही अगारे सा गरम बोध होना है, मानो त्वगिन्द्रिय शीत स्पर्श से निराश हो जल म शत्य गुण का निर्देश करने वाले कणाद महामुनि की बुद्धि का भ्रम मान बँठी है । एक तो अत्यन्त दण्डायमान दिन, उसमे ललाट तप चण्डाशु के प्रचण्ड आतप के ताप से सतप्त, शीतलच्छाया का सहारा किए हुए, यह जगम जगत भी, इस मौन दशा म, कभी कभी पुराने खण्डहरो पर बटी चील का भयकर फिक्रियाना जो कानो को व्यथा पहुँच रहा है, सा माना बीच-बीच मे, उच्चाटन म त्र की सुमरनी पूरी होने का पता देता है ।

(ग्रीष्म ऋतु वणन) (प्रस्ताव ६, प० २० २१)

[‘सो अजान एक मुजान’—(प० बालकृष्ण मट्ट, प्रथम सस्करण १८६०, तीसरे सस्करण १९१८ ई० से, प्रकाशक महादेव मट्ट, यहियापुर, प्रयाग) । चिरजीव पुस्तकालय, बलनगज आगरा, के सौज य से ।]

१५ ३६ उस बालिका के मुखडे स, सीघापन, पहिनावे मे दरिद्रता रूप रग से, उत्तम बुल की महिमा और चाल से, घबराहट टपकी पडती थी । उसने नीले रग की दसी साडी स भली भाँति अपना शरीर ढक लिया था और उस पर से एक मली चादर ओढ़ ली थी । इतना हाने पर भी उसकी अलौकिक सुन्दरता, उसी भाँति देखने वालो की आँखों म, चकाचौधी लाने के लिये काफी थी जसे काले मेघो की ओट मे छिपा हुआ, पूनो का चाद रह रह कर, बादल से बाहर निकल, लोगो की आँखें, चौधिया देता है ।

(पात्रा रूप वणन) (पहिला परिच्छेद पृ० २३)

१५ ३७ अत्त पुर के एक विशाल शीशमहल मे पहुँचे जो बहुत ही सुहावना और बहुमूल्य वस्तुओ से, भलीभाँति, सजा हुआ था । वह गृह काच के असबाबो के अलावे, सोने चादी और जडाऊ खिलौनो, तथा गुलदस्तो से, भली भाँति सजा हुआ था और दलदार मत्वमली गद्दा जिसम जरदोजी का काम किया हुआ था, कमरे में

बिछा था। उस कमरे के बीचोंबीच, एक सोने का जडाऊ सिंहासन बिछा हुआ था, जिस पर, जर्जोजी काम के गद्दी तबिए रखे हुए थे और जडाऊ चौडडियो पर, मोतियों की झालर वाला चन्द्रातप लगा हुआ था।

(भवन की आ तरिक सजावट वगन) (नवा परिच्छेद, पृ० ६६)

१५ ३८ यदि कोई चतुर चितेरा, उस चित्त क चचल कर देन वाली कुसुम कुमारी की, अनुपम रूपराशि के चित्र उतारन के लिये हाथ उठाता, तो निश्चय है कि उसे पहले मूर्च्छा घर दवाती और उमका सारा सयानापन भूल जाता। फिर अन्त को उसे अपनी उस दिठाई के लिये, बहुत ही पछताना पडता। और हार मान हाथ से यों कूची रख देनी पडती—देवी ! तुलसा तू ही है !

१५ ३९ सोचने की बात है कि चम्पा, चमेली, गुलाब, और जपाकुसुम के रंग क समान, पीले, सफेद गुलाबी और लाल रंग के मेल स बना हुआ, कुसुम के सुकुमार शरीर का सा अलीकिक रंग, वह यामुरा चितेरा, कहाँ से लाता ? फिर उस माग्यवती के विशाल माल के लिखने के समय यदि उस (चितर) को, कुसुमायुध की रंगस्थली का, ध्यान आ जाता, तो वह अनाडी, अनमना सा हो रेखागणित क साध्यो की भाँति, न जाने, क्या का क्या, लिख भारतता !

१५ ४० भला लाख चतुराई खच करन पर भी, क्या किसी चतुर चित्रकार का मजा हुआ हाथ, उस समय काँप कर येहोश न हो जाता, जब कि वह, उस आदश रमणी की अलकावली के, दोनो हिस्सा को आग से, कुछ अद्ध चन्द्राकार, घुमा कर कानो के ऊपर से, बराबर ले आकर के, जूडे मे बाँधने का मनसूबा बाँधता !

१५ ४१ भला यह भी कभी सम्भव था, कि चतुराई का दम भरने वाला, चतुराननचेला चितेरा प्रलय पयन, सिंग पटकत रहने पर भी, कभी अमल मन्दाकिनी की, पीयूषधारा के उत्पत्ति स्थान से कुछ दूर हट कर, धू शैवालरेखा के नीचे, पलक पीजरे के भीतर, मनोल्लास से खेलती हुई, मतवाली मीन की जोड़ी का चित्र अकित कर सकता !

१५ ४२ और यह भी उमसे कब बन सकता कि वह चितेरे का उचार, लडती हुई दो मछलियों के नीचे, सुआ का चित्र लिखता, जो बिम्बफल के ऊपर बठा हुआ कबूतर की पीठ पर केलि कर रहा हो, जिसके दोनो ओर, दो मतवाली नागिनेँ भचल भचल कर बार बार, चन्द्रबिम्ब से, अमृत घूस घूस, विप का उद्गार उगल उगल कर देखन वाली के हिये मे डस डस लेती हो।

(१५ ३८ से १५ ४२ तक—नायिका का, नख शिष्य रूप वगन, परिच्छेद दसवा, पृष्ठ ७५ ७६)



— [‘हृदय हारिणी वा आदश रमणी’—(श्री किशोरीलाल गोस्वामी,) प्रथम संस्करण १८६० ई०, प्रस्तुत संस्करण १ मार्च सन् १९०४ ई०, काशी नागरी प्रचारिणी समा, वाराणसी । क० मा० मुंशी हिंदी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय के सौजन्य से]

१६४३ वर्षों का दिन है। आधी रात हो गई है। घनघोर मेघ पटा पिर कर, जोर शोर से, छहर छहर बरस रही है। पेड़ों के पत्ते, वायु के भ्रुको से, हहर हहर हहराने लगे हैं। उमड़ धुमड़ कर, मेघगन, गगन में, घहराने लगे हैं। तीनों लोक का चिह्न कुछ भी, अब वही बाकी नहीं है। सबके स्थान में केवल, अघकार ही अघकार, दोष रहा है। जब तब विजली चमक कर, सुनसान में, सासारिक जीवमात्र को, निश्चल और मनोरम प्रकृति शोभा दिखला कर, मानो मन में यह विश्वास उत्पन्न कराती है, कि जिस प्रकार मेरी क्षणमगुर दीप्ति है उसी प्रकार यह ससार का सुख भी, क्षण मात्र, विलक्षण रीति से, चमक दमक कर, चल देता है। उसी के प्रकाश से उगते और नष्ट होत हुए बबूल (बुछट) दृष्ट होकर, मानो इस बात का बोध कराते हैं, कि इसी भांति, ससारी प्राणी इस ससार में, तुरंत ही उत्पन्न हो हो कर, मरते रहते हैं। घोर अघकार महाप्रलय का दृश्य दिखलाता है। इस अघकार में यदि कुछ इधर उधर से इस भयावनी और गभीर रात में लिखने वाला भूलोक के चिह्न को पाता है तो केवल यही कि सामने एक अंग्रेजी चाल के बगले के किवाड़ों के क्षिप्तमिलियों के अंदर से बाहर, कुछ प्रकाश निकल रहा है।

(समुद्रतट पर तूफान-वणन) (प्रथम परिच्छेद, पृष्ठ १२)

१६४४ प्रातः मयकर नीलाम्बु दीख पड़ा। इसी बीच में कई बार लहरें, बड़े जोर शोर से उठीं। मानो प्रलय के पहाड़ उड़े आते हैं। कई बार जहाज के ऊपर होकर लहरें चली गईं और लहरों के बीच जहाज पड़ गया। पर कुशल इतनी ही थी कि लहरों के नीचे पड़ने से जहाज, एकदम डूब नहीं जाता था। लहरों में की बहुत सी बड़ी बड़ी मछलियाँ, जहाज ही पर रह गईं। कई बार, पहाड़ सी ऊँची लहर पर, जहाज जाकर जहाजी पथिकों के कलेजे के सदृश धर धर काँपने लगा। कई बार पहाड़ सी तरंगों के बीच में, जहाज नीचे पड़ जाता था। अब अधिक उपद्रव और सध्या का समय देख, चतुर कप्तान ने दो तीन मन तेल, जहाज के चारों ओर छोड़ दिया, जिससे शीतल जल के पड़ने से खोलते दूध के उफान के समान, सब तरंगमाला का तूफान, समुद्र में, आश्चर्यरूप से लीन हो गया। चारों ओर लहरें उठती थी, पर जहाज की ओर आने का साहस नहीं करती थी।

जल घोर कृष्ण वण। कहीं-कहीं बड़े बड़े कच्छप और उन पर पक्षधर मछलियाँ छलकती और उछलती थीं। उड़ती हुई मछलियों की लीला देख कर,

ईश्वर की विचित्र गति पर, नवपात्री माश्रचय हुए । ये मछलियाँ बहुधा सीपी ही रेखा में उडती हैं और पालिश की हुई चाँदी के समान, मूष की किरणों से अधिक, 'चमचम' चमकती हुई, हृदय में एक विचित्र आनन्द का अनुभव कराती हैं ।

(तूफानी सागर का वणन) (परिच्छेद २, पृष्ठ २७ २८)

['सुन्दर सरोजिनी'—(प० देवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय, प्रथम संस्करण १८६३ ई०, द्वितीय, संस्करण सन् १९०७ ई०, चिरजीव पुस्तकालय, बेलनगज, आगरा के सौजन्य से)]

१७ ४५ वहाँ से घाडागाढी में आरूढ होकर बहुत दूर न जा पाये थे कि पूव दिशा में रक्तिमाभरण धारण कर, प्रमाकर के आगमन की सूचना दी और कुछ काल में, प्रचण्ड मात्तण्ड उदय होकर, अपने असह्य उत्ताप से, प्राणीमात्र को सन्तापित करने लगा, जिससे मनुष्य, पशु पक्षी, समी, सघा वृक्षों की शीतल छाया का आश्रय लेने को उत्कण्ठित हुए ग्रीष्मकाल की कडी धूप से व्यथित होकर और त्निमर की घाना से थकित रजनी के शीतल समीर लगते ही, निद्रा क वश वर्ती हो अचेत हो गये ।

(यात्रा वणन) (परिच्छेद ३, पृष्ठ २१)

१७ ४६ अशुमाली भगवान, अस्ताचल धूढावलम्बी हो गये और रात्रि का गम्भीर अघकार, त्तुदिक विस्तृत होने लगा, जिससे गाडी की गति रुकने लगी । परन्तु मघाच्छादित आकाश में, दामिनी, कमी-कमी दमक जाती थी और उसी के क्षणस्थायी आलोक में, माग ईशत् दृष्टिगत होता था, जिससे कि पयटन बन्द न हुआ । इस सुनसान प्रा तर में कोई स्थान ऐसा न दीखता था, जहाँ जाकर आश्रय लेन इतने में, कवश स्वर से, जजर गाडीवान बोला—“ओह ! कसा भयानक समय है ! कसा गम्भीर अघकार है कि हाथ को, हाथ नहीं दीखता ! अब तो आगे चलने का असमथ हैं क्याकि, न तो मनुष्यों के गमनागमन का चिह्न लक्षित होता है और न किसी जन का कण्ठरव ही सुनाई पडता है, जिसका लक्ष्य कर, आगे बढें ।’

(रात्रि कालीन यात्रा वणन) (परिच्छेद ३, पृष्ठ २३)

['चन्द्रकला'— ठाकुर हनुव तसिह रघुवशी, एजेन्ट, भिनगा राज्य (राजस्थान), भारत भौवन प्रेस वाशी में मुद्रित प्रथम प्रकाशन १८६६ ई० । लेखक द्वारा स्वयं प्रकाशित प्रथम संस्करण (१८६६ ई०) से । चिरजीव पुस्तकालय, बेलनगज, आगरा के सौजन्य से प्राप्त]

१८ ४७ भारतवप क मध्य प्रांत में, रूपावती नाम की एक परम रमणीय नगरी थी, जो अपनी अनुपम शोभा के सामने, भारत-सरीखे प्रधान देश की प्राय समस्त

नगरियों को लज्जित करती थी। उस नगरी के निवासी, अत्यन्त ही, रूपवान, गुणवान और शीलवान प्रसिद्ध थे। धन और लक्ष्मी की भी, उस नगर में, किसी प्रकार की श्रुति न थी। प्रत्येक निवासी उस नगर के, सम्पन्न और महापरिश्रमी थे। धन की तो माना यह पुरी सदन ही थी। जिधर देखिये, परम सुन्दर रमणियों के झुण्ड के झुण्ड, अपनी अलौकिक शोभा से चन्द्रमा की उजियाली की भी मद करत थे। उधर परम रूपवान नवयुवकों की छटा ही निराली थी। प्रत्येक माग म नृत्य गान और नाना प्रकार के उत्सवों से, प्रत्येक अवसर पर, नगर में कोलाहल सा मचा रहता था। घर घर में पूजापाठ हवन इत्यादि, अनेक भाति की धर्म चर्या होने से मानो काशी नगरी का, अनुभव होता था ।

(नगरी वणन) (परिच्छेद १, पृष्ठ १२)

१८४८ राजकुमारी (चन्द्रमुखी) ऐसी स्वरूपवान थी कि यदि उसे सुन्दरता की सीमा कह, तो भी अनुचित नहीं। चन्द्रमा के प्रकाश को मद करने वाला मुख, कमल को लज्जित करने वाले विशाल नेत्र, सुवर्ण की दमक को परास्त करने वाली देह भ्रमरो का विजय करन वाले केश तथा कोकिल को लजाने वाली प्रेममय, मधुर वाणी, साधारणतः उसकी शोभा के प्रकाश चिह्न थे। मदभाव से मुस्कराना, वार्ता करने में, मुख फेर लेना और लज्जित होना आधे कटाक्ष से देखना, अमृतमय वचनों का उच्चारण करना, उसकी अद्वितीय छवि को और भी अधिक प्रशंसनीय बनाने वाले थे। राजकुमारी चन्द्रमुखी के केशों की शोभा प्रथम श्रेणी की आमायुक्त श्यामता के अतिरिक्त उसके केश उसकी कटि का स्पष्ट करते थे। ललाट चौड़ा और दाप्तिमान था। नेत्र वास्तविक कमल को लज्जित और मृग के गव को ध्रुव करने वाले थे। उधर पल्लव की ललाई तथा कपाला के मुडौलपन ने यथाथ म राजकुमारी को, 'यथानाम तथा गुण चन्द्रमुखी बना रक्सा था। ।

(नायिका रूप वणन) (परिच्छेद १, पृष्ठ ४२)

१८४९ वाराणसी के साथ जाने का हाथी घोड़े, उट रथ इत्यादि कितने थे उनका सख्या लिखना बहुत कठिन है। प्रस्थान करने के दिन, मधुपुरी नगरी की वह सुहावनी शोभा थी जिसे अवलोकन कर, इन्द्रपुरी का पूण अनुभव होता था रूपावती नगरी का चमत्कार और शोभा भी ऐसी विलक्षण थी मानो पुरी मूर्तिमान शृंगार कर, राजकुमारी के विवाहोत्सव में सम्मिलित होने के अर्थ, आकर उपस्थित हुई है। उत्सव के दिवस, उत्तम मण्डप, इस रीति पर सजाया गया था कि जिसको देखते ही दशकों का चित्त मोहित होना था। दीपावली के प्रकाश से नगर दीप्तिमान हो रहा था। मण्डप के नीचे, सुवर्ण की चौकियाँ पर, अनेक सस्थानों के सम्राट बहुमूल्य आभूषण और वस्त्र धारण किये, बठे थे ।

(विवाहोत्सव वणन) (परिच्छेद ३, पृष्ठ ६७-६६)

[‘श्री राजकुमारी चन्द्रमुखी (श्रु गार, बीर, कर्ण तथा वैराग्यरस से पूरित, एक प्रभावोत्पादक उपन्यास) लेखक बाबू रामदास वर्मा, सम्पादक वेङ्कटेश्वर समाचार’, प्र० वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई प्रथम संस्करण सन १८९८ ई० (संवत् १९५५ वि०) प्रथम संस्करण से—क० भा० मुंशी हिन्दी विद्यापीठ आगरा विश्व विद्यालय के सौजन्य से]

१९५० एक ग्यारह बरसकी लडकी, अपने घर के पासकी फुलवारी में खडी हुई, किसी की वाट देख रही है। सूरज डूबने पर है। बादल में लाली छाई हुई है बयार, जो को ठण्डा करती हुई धीरे धीरे चल रही है। थोड़ी देर में सूरज डूबा, कुछ झुटपुटा सा हो गया, फुलवारी के एक आर से कोई उसी जोर आता दीख पडा लडकी ने दल कर कहा देवनन्दन अब तक कहाँ थे।

(संन्या वणन) (पहला ठाठ, पृष्ठ, १)

१९५१ देवनन्दन, चौदह पन्द्रह बरसका लडका है। उसके सुडौल गोरे मुण्डे, अच्छे हाथ-पाव, छरहरी डील, ऊँच और चौड़े माथे, लम्बी बाँहें और जो लुमाने वाली बड़ी बड़ी आँखों के देखने से जान पडता है, जयन्त सरग छाड कर धरती पर उतरा है।

(नायक का रूप-वणन) (पहला ठाठ प० २)

१९५२ आधी रात का समा बडी अधियाली रात सब ओर सनाटा, इस पर बादल की घेरघार। पसारने पर हाथ भी न सूखता। किसी पेड का एक पत्ता तक न हिलता। बान काले बादल, चुपचाप पूरब से पच्छिम की जा रहे थे। बयार, दने पावो, उँहीं का पीछा किय, बहुत ही धीरे धीरे चलती थी और कहीं कोई आता जाता न था। पक्षेण पक्ष तक न हिलात थ। सब साँस धीचे, चुप साध डरावनी रात के सप्नाटे को और डरावना बना रह थ। पर तनक धिर हाकर सुनने से, ऐसे सुनसान और सनाट म भी, किसी की दु खमरी रनाई मुनाई पडती है। औरइसी रलाई को सुन कर ऐसे कठिन बल म भी, एक मानुख बान उटाय, लम्बी डगा, उसी ओर जा रहा है।

धीरे धीरे काले बादल और बाने हुए। अधियाली और गहरी हुई, बिजली कौंपने लगी, धीमी धीमी गरज होने लगी सन-सन बयार चलने लगी। पहले, नहीं नहीं धूँदे पड़ो पीछे बडी बडी बूँदों से भिप भिप पानी बरसने लगा।

(वर्षा ऋतु म अधियाली रात्रि वणन) (छठवा ठाठ प० २७)

१९५३ यह देखो, सामने, रामपुर गाँव गिरसाई पडना है। धारों ओर, हरे मरे बाँस के पेड लहरा रहे हैं। उनक पास ही दो एक पङ्, भाम जामुन महुवा

और बटहल के दिव्यलाई देने हैं। पास ही, एक बहुत बड़ा ताल है। ताल के ऊपर गाँव से थोड़ा हट कर, एक बड़ा भारी, बड़ का पेड़ है। धीमी बयार लगने से उसके पत्ते धीरे धीरे हिल रहे हैं। उस पर एक झण्डी सी फहरा रही है, वहाँ काली का धान है।  
(ग्राम परिसर वणन) (नवा ठाठ, प० ४४)

१६५४ धीरे धीरे गगा बह रही है। घाट पर कोई नहाता है, कोई जल भरता है कोई उतरता है कोई चढ़ना है। कोई खड़ा, निकलते हुए सूरज को जल चढाता है। वही दो जन और बठे हैं एक देवनन्दन दूसरा रमानाथ

(गगातट वणन) (भ्यारहवाँ ठाठ, प० ५१)

(‘ठैठ हिंदी का ठाठ’ अयोध्यासिंह उपाध्याय ‘हरिऔध’) प्रथम सस्करण १८६६ ई० (नया ससार प्रेस, मदैनी) (चिरजीव पुस्तकालय, आगरा, के सौजन्य से)

२०५५ प्रफुल्ल हृदया यामिनी, हसती है। प्रफुल्ल हृदय निशानाथ, उज्ज्वल चन्द्र हँसते हैं। युगल रम्पति का हास्य देख कर फुलवाडी में कलियाँ हस पड़ी। कुसुम-कलिका हसी, नवपल्लवहसे लतिका दल ने ठहाका मारा। मागीरयी की छाती पर काचन मुकुट मस्तक धरे उमिमालाओ का हसना भी विचित्र शोभा देने लगा। सरोवरों की कुमोदिनी खिलखिला उठी। सुनील नममण्डल म शुभ्र श्वेत मेघमालाएँ हँसी। चारा ओर हसी की हाट लग गयी। जिघर देखो उघर ही हसी, जिघर कान दो उघर हसी की ध्वनि।

(चादनी में गगातट वणन) (छब्बीसवाँ बयान भाग १, पृ० ७६)

(‘जादूगरनी मनोरमा’—श्री गोपालराम गहमरी प्रथम सस्करण सन् १९०१ से, भरत जीवन प्रेस काशी, आगरा विश्वविद्यालय क० मा० मुशी हिंदी एव भाषा विज्ञान विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय के सौजन्य से।)

२१५६ बिहार प्रदेश के अन्तगत मुजफ्फरपुर जिले में, एक विस्तृत मदान के बीच में, एक बहुत बड़ा तालाब है। अनाज के हरे भरे खेत, सुन्दर सुहावने, रक्षों के कुज छोटे अनगढ़े मिट्टी के ढेर आदि, यहाँ बहा रहने के कारण, जैसे निघन होने पर भी वह मैदान शोभायमान मालूम होता है। वैसे ही बड़े ऊँचे मिण्डो से घिरा, स्वच्छ निमल जल से भरा और अनेक जल जानुओं से पूरा रहने के कारण, कबल और हस से रहित होने पर भी वह तालाब अति मनोहर मालूम होता है। इसकी अपुव शोभा की रयाति सुन कर भगवान गिरिराज सुना पति, कलाव का परित्याग कर, श्वेतलिंगाकार धारण कर, तालाब के पश्चिम किनारे, स्वयं आ पहुँचे हैं, और किसी मक्त के बनवाए पुराने मन्दिर में बठ कर इस अनुपम दृश्य से अलौकिक तृप्ति पा रहे हैं।  
(ग्राम-परिसर वणन) (प० १२)

(बलवन्त भूमिहार—भुवनेश्वर मिश्र, प्रथम सस्करण १९०१)

२२५७ सध्या का सुहावना समय। सूरज जो अभी-अभी आसमान के पश्चिमी कोने की तरफ, करीब करीब झुक कर नजरो से छिप चुका है, काले काले बादलो को, जो पहाडो की तरह, दूर से दिखाई दे रहे हैं अपनी किरनो की हल्की हल्की, रोशनी से जगमगाये हुए हैं। ऊँचे ऊँचे पेडो पर, चिड़ियाओ की झुण्ड की झुण्ड, झुरमुट मारे हुए बठी हुई हैं। गाय और भैंस, जो सूरज निकलने से पहले, अपने-अपने घरों से निकले, और जगलों में फल गए थे सिमट सिमट कर, एक जगह हो गए, और अपनी अपनी झुण्ड के साथ, खुशी से झूमने वामने अपने अपने ठिकानो को, सीध बाँध, जा रहे हैं—उनका चरवाहा लाठी कंधे पर रखे कम्बल बगल में दबाए, मोठी मोठी रागिनी अलापता हुआ, सबसे पिछले भैंस की पीठ पर हाथ रखे धीरे धीरे आ रहा है। (म ध्या वणन) (पहला भाग, पहिला वयान, प० १)

२२५८ इनके आगे आगे दो जवान हैं, जिनमें एक जो स्याह घोडे पर सवार है, बहुत ही शिलावर और मनचला मालूम होता है, इसका कद लाबा, हाथ पाव मरे मरे, चेहरे पर हलकी हलकी सीतला के दाग, डाढी मुडी हुई, मगर मूँछें जरा बढी हैं। इसकी पोशाक और चालढाल से पाया जाता है कि यह उन सवारा का अफसर है। और बातों से पता लगता है कि कु वर्सह इसी का नाम है।

(नायक का रूप वणन) (पहला भाग पहिला वयान, प० १-२)

२२५९ दो जवान, कमसिन, बला की हसीन औरतें आपस में मुस्करा मुस्करा कर मरहटी बोली में कुछ बातें करती हुई आ रही हैं। दोनों, उम्र में, कुछ बराबरही बराबर हैं। लेकिन एक जो पीली रंगमी साडी पहने है उसकी सादगी क्या मत ढा रही है, लम्बे लम्बे बालो की खजूरी चोटी, जिसके सिरों में हरे फीते में दो एक पेश देकर, गिरह लगा दी गई है, कुछ अजब तरह से पीठ पर पढी हुई है। किसी धानी धारीदार, अतलसनुमा कपडे की, शोली नाजुक माथे के बीचो-बीच में, घदन का हल्का सा टीका और भी आपत ढाह रहा है। मगर नाजुक प्यारों पार्वी पर बढा ही, जुसुम हो रहा है अर्थात् रास्ते के पत्थरो और काटों से बचाने के लिये, उनमें न जूते हैं, न भोजे। (पात्रा-रूप वणन) (पहला भाग, पहिला वयान, पृ० ३)

२२६० चिरागो की तबों जो सध्या समय से घकाघक जल रही थीं, इस सबन से टिमटिमा रही हैं कि उनमें पढा हुआ तेल, अब लतम होने की आया। यद्यपि आसमान के पूरब तरफ से, अभी तब उस सफेदी ने अच्छी तरह से सिर नहीं उठाया है, जो झिलमिलाते हुए तारों या चाँद की चान्नी को त्रिभुज कीका कर देती है, तो भी आसमान से दवे पाँव, झुक झुक कर जमीन की ओर आने वाली, धोस में इतना असर जमा रखा है कि चारों तरफ, एक उदास रंग धाया हुआ, दिखाई देता है। (भोर-वणन) (दूसरा भाग, छठा वयान, प० ५८)

२२ ६१ वह रात की मयानक अधियारी, जो तमाम दुनिया पर अपना असर जमाए हुए थी, काफूर की तरह उड़ी जाती है। ठण्डी ठण्डी हवा चल रही है। बेचारे तारों में सुनह के हरकारो के खबर देते ही वेतौर खलवली पड गई है, जिसे देख कर, मुँह-बद कलिया खिलखिला बिलखिला कर, हस रही हैं। उधर तिलजादेवी के मन्दिर से टनाटन घण्टो की आवाजें आ रही हैं।

(रात्रि वणन) (दूसरा भाग, नवा बयान, प० ७२)

२२ ६२ सुबह का सुहावना समय है और कोसो तक लहलहाते हुए जगल की बहार का हाल, कुछ उन दिला से पूछिए जो प्रकृति की इस नियामत का मजा उठा चुके हैं। रात ढल गई है। खूबसूरत चिड़ियों ने, जो पेडा के पत्तो में, छिपी हुई, गरदनझुकाएबैठी थीं—सुबह की ठण्डी ठण्डी हवा की तासीरसे, खुदब खुद चहक चहक कर, गरदनें उठाइ। चाद का उगस चेहरा बता रहा है कि वह इस समय, डाह और हसरत भरी निगाहा से पृथ्वी की ओर देख कर, मन ही मन कह रहा है कि ओफ ओह! मेरे तारो से मरे आसमान पर भी, इतनी कैफियत न थी जो इस एक रग, हरे हरे घास से छिपी हुई धरती पर बरस रही है। तिलजापुर के पूर्वी घाटी में रहने वाले हरिनो ने भी अगडाइया ले लेकर गरदनें उठाई और झड झडाकर, उठ बठे तिलजापुर के भीतर वाले बडे मन्दिर में मे घण्टो के साथ मिनो हुई, पुजारी ब्राह्मणो को आवाजें पश्चिमी हवा के भोको के साथ दूर दूर तक जा रही हैं।

(प्रात शोमा वणन) (पहना भाग, बाग्हवा बयान, पृष्ठ ७३)

२२ ६३ लेकिन देहाती हसीनो के इस जमघटे में एक नौजवान औरत के लम्बे-लम्बे घूघर वाले बाल उसका चौडा माथा, नुकीली नाक नाजुक नाजुक होठ, फून से गाल, चम्पई खिला हुआ रग, य सब ऐसी चीजें हैं जिनमें से एक दो का, एक जगह होना भी अवसर कोमलागिया में वह चाल पदा कर देता है जो खूबसूरती के नाम से प्रसिद्ध है।

(पात्रा रूप वणन) (दूसरा भाग, चौथा बयान पृष्ठ ३१)

२२ ६४ दक्खिन में शोलापुर के उत्तर, बारह कोस के फासिले पर एक छोटा सा कस्बा बालाघाट के दक्खिन किनारे पर, बसा है। इसकी आबादी कुछ इस तरह पर है कि बहुत से मकानात, पहाड के डालुवा किनारो पर फले हुए सपाट मदानों तक पहुँच गये हैं। इससे उत्तर में एक घाटी है, जिस की झाडियों में खरगोश वगैरह जानवर बहुत पाये जाते हैं। उस रास्ते में सिलसिले में, जो शोलापुर से धारा सिउन होता हुआ दूसरे भग्गर जगहो का जाता है कस्ब में जाने के लिए एक ऊँची चढाई, जो बालाघाट के एक किनार की काट कर बनाई गई है, खास रास्ता है। यहाँ सबसे ज्यादा दिलचस्पी की चीज एक देवी का मन्दिर है जो तिलजाबाई के

नाम से दक्षिण में प्रसिद्ध है। इस कस्बे की आवादी इसी मन्दिर की धजह से, ज्यादा है, क्योंकि दक्षिण में यह एक बहुत बड़ी तीर्थ की जगह है।

[पहाड़ी कस्बे का वणन], (प्रस्तावना भाग, पृष्ठ १२)

२२६५ मन्दिर पहाड़ के किनारे को काट कर बनाया गया है जिसमें आने के लिये कस्बे वालों को एक बड़े फाटव में घुसने के बाद, पक्की सीढ़ियों का सिलसिला मिलता है, इन सीढ़ियों के चारों हाथ एक कुण्ड बना हुआ है। इस हीज के आगे, एक गाय का मुँह पहाड़ काट कर बनाया गया है, जिसमें से, किसी सोते के सबब से हरदम पानी निकलता है। उससे आगे चल कर एक बहुत चौड़ी जगह है, जहाँ इतने रुपये, अठस्रिया और चर्वा नया गडे हुए हैं कि जिनकी गिनती नहीं की जा सकती और उनमें से बहुत से, इतने पुराने हो गए हैं कि आगे के करीब घिस गये हैं। इस चौड़ी जगह के बीच में, तिलजादेवी का मन्दिर है। दमहरे में तिलजादेवी की पालकी, बड़े धूम से उठ कर, गयत करती है। महीने में दो बार पूनमासी और अभावस के रोज, मेला होना है, जिसमें दूर दूर के लोग देखने आते हैं।

[तिलजादेवी के देवालय का सविवरण वणन]

(प्रस्तावनात्मक परिच्छेद, 'पाठक', पृष्ठ १२)

[कुँवरसिंह सेनापति]—ऐतिहासिक उपन्यास (बनारस निवासी बाबू गंगा गुप्त लिखित) जिसे काशी, 'उपन्यास दण और 'उपन्यास नाटिका के सपादक और प्रकाशक, बाबू विश्वेश्वरप्रसाद वर्मा ने उपन्यास प्रेमियों के चित्त विनोदाय छपवा कर, प्रकाशित किया—काशी यन्त्रेश्वर प्रेस में मुद्रित, जनवरी १९०३ प्रथम संस्करण से। (चिरजीव पुस्तकालय, बेलनगज, आगरा, के सौजन्य से प्राप्त।]



## परिशिष्ट २

### हिन्दी का पहला उपन्यास कौन-सा है ? अद्यावधि प्रचलित, विविध अभिमतों की, तुलनात्मक एवं निणयात्मक समीक्षा'

हिन्दी उपन्यास के किसी भी समीक्षात्मक पक्ष पर विचार विमर्श करने से पूर्व, हिन्दी उपन्यास के प्रथम प्रवृत्त की तिथि एवं उसकी सवप्रथम मौलिक वृत्ति के निर्धारण की आवश्यकता अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में संयोगवश किसी भी आद्य इतिवृत्तकार ने, कोई निणयात्मक मत नहीं निर्धारित किया। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रायः सभी परवर्तीकालीन समीक्षकों ने भी इस सम्बन्ध में, उसी अनिश्चयात्मक दुविधा को स्वीकार कर लिया। परिणामतः हिन्दी उपन्यास का प्रवृत्त, उन्नीसवीं शती ईस्वी के अन्त में माना जाने लगा और उसका नाता रिश्ता पाश्चात्य उपन्यास से जोड़ा जाने लगा। इस भ्रातृघारणा से हिन्दी उपन्यास की निरपेक्ष समीक्षा को, अपार हानि पहुँची है। एक दर्जन से अधिक शीघ्र समीक्षकों ने समय-समय पर, अपने-अपने विभिन्न अभिमतों की अभिनियोजना की है। वे प्रायः एक-दूसरे से भेद नहीं खाते। यह अनिश्चयात्मक प्रवृत्ति अभी कुछ वर्ष पूर्व के इतिवृत्तात्मक प्रकाशनों तक ही दृष्टिगोचर होती है।

हिन्दी साहित्य का वनानित इतिहास नामक एक वृहद् ग्रन्थ सन् १९६२ ई० में प्रकाशित हुआ। उसके विद्वान् प्रणेता हैं डा० गणपतिचन्द्र गुप्त। अपने उक्त ग्रन्थ में उन्होंने हिन्दी उपन्यास के उदभव पर जो विचार प्रकट किए हैं—वे द्योतक

१ क० मा० मुंशी हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में लेखिका द्वारा प्रस्तुत, तथा पी एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबंध—हिन्दी उपन्यासों में लोकतत्त्व का एक अंश विशेष (किञ्चित्तः सशोधन सहित उदघन)।

है—उस अनिश्चितता एवं अस्पष्टता के, जो आज [हिंदी उपन्यास व उदभव के, लगभग १७० वर्ष के पश्चात् भी,] हिंदी के विद्वान समीक्षकों में परिणामित है —

“हिंदी में उपन्यास का सूत्रपात—कब स हुआ ? इस प्रश्न का निश्चित उत्तर देने के लिए हम यह देखना होगा कि पहला उपन्यास कौन सा है ? आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इन सम्बन्ध में परस्पर विरोधी बातें कही हैं ?

“हाँ श्रीकृष्णलाल ने ‘चन्द्रकांता को श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने ‘रानी केतकी की कहानी’ को तथा डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भारते दु हरिश्चन्द्र के ‘पूण प्रकाश और चन्द्रप्रभा’ को, हिंदी के प्रथम उपन्यास के रूप में स्वीकार किया है।’

“इनमें से ‘रानी केतकी की कहानी’ आधुनिक उपन्यास की श्रेणी में नहीं आती। तथा भारते दु हरिश्चन्द्र का उक्त उपन्यास मौलिकनहाकर मराठी से अनूदिन है। गेव कृतियों में से श्रद्धाराम किल्लोरी की ‘भाग्यवती’ ही, कालक्रम के अनुसार, सबसे पहले आती है। अब हम इसे ही, हिंदी का पहला उपन्यास, मान सकते हैं।’

जहाँ तक डा० गुप्त के इस अभिमत का प्रश्न है कि ‘रानी केतकी की कहानी’ आधुनिक उपन्यास की श्रेणी में नहीं आती वे स्वयं ही आगे चल कर ‘भाग्यवती’ के सम्बन्ध में, इससे ठीक विरोधी बात लिखते हैं—

‘पहली रचना के लिए यह आवश्यक नहीं कि उसमें विकास की सभी परवर्ती मजिलों के दर्शन हों। ऐसा होना सम्भव भी नहीं। अतः इसमें उपन्यास कला का विकसित रूप दृष्टिगोचर न हो तो कोई बात नहीं। इसमें इसकी (भाग्यवती की) प्राथमिकता का दावा, खंडित नहीं हो पाना।’<sup>१</sup>

यदि वस्तुतः डा० गुप्त का यह अंतिम मत ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया जाय, तो फिर मला, ‘रानी केतकी की कहानी’ की प्राथमिकता का दावा कस खंडित होगा ? ऐसी ‘वैज्ञानिक’ इतिवृत्त पद्धति, न जाने, हिंदी उपन्यास समीक्षा को, किस ओर ले जायेगी ? इसकी भविष्यवाणी कौन कर सकता है ?

डा० लक्ष्मीसागर चार्णोष, हिंदी के आदि गद्यकारों के शोचकताओं में अग्रगण्य माने जाते हैं। उन्होंने विवेकतया फोटो विनियम कालिज के हिंदी प्रकाशना एवं तत्कालीन परिस्थितियों का, तलरपशी अध्ययन अनुसंधान भी किया है। अतः हम उनसे भी हिंदी उपन्यास के उदभव के बारे में किसी निश्चिन्न धारणा को आशा रख सकते हैं। अपने माध्यम में आधुनिक हिंदी साहित्य के, उपन्यास सम्बन्धा प्रकरण में वे लिखते हैं—

उन्नीसवीं शती में गद्य का प्रचार हो जाने से हिंदी में कथा साहित्य

१ हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास (डा० गणपतिचंद्र गुप्त) (प्र०—भारते दु-भजन चण्डीगढ़ प्रथम प्रकाशन १९६५ ई०, अध्याय ५ पृष्ठ ६१०)

२ वही अध्याय ५ पृ० ६१०

का प्रथम आभास, हमें इशावहला साँ की 'रानी बेतकी की कहानी' (१८०० ई०) में मिलता है। उसमें उप-यास-कला का अभाव है। हिन्दी के नाटक और उप-यास इसी युग की देन हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने 'पूष प्रकाश और चन्द्र प्रभा' नामक हिन्दी का सबसे प्रथम सामाजिक उप-यास प्रकाशित किया।<sup>१</sup>

यह सत्य है कि भारतेन्दु के व्यक्तित्व एवं तत्कालीन राज्य-सम्बन्धी स्थिरता के समन्वित प्रभाव से, इस युग में, हिन्दी साहित्य में एक अविस्मरणीय नवजागरण का सूत्रपात हुआ। यह भी सत्य है कि स्वयं भारतेन्दु ने, साहित्य की सभी लोचरजक विधायी एवं शलियो पर, सश्रिय एवं सफल प्रयोग किये, एवं अपनी साहित्यिक मडली को भी तन्मय प्रेरित किया।<sup>२</sup> भारतेन्दु ने 'नई सुपरी हुई हिन्दी का उदय' इसी समय से माना है।<sup>३</sup> किन्तु बिना समाधानकारी तथ्यों के, यह मायता समीचीन नहीं है, कि हिन्दी उप-यास का श्रौगणेश भी, स्वयं भारतेन्दु, अथवा उनकी मडली के साहित्यकारों में से ही किसी एक या अनेक के द्वारा किया गया होवे।

भारतेन्दु के समकालीन तथा हिन्दी गद्य के सबसे प्रथम सर्वेक्षक पंडित अम्बिकादत्त व्यास<sup>४</sup> (१८५८-१९०० ई०) से लेकर, सन १९६५ तक के जिन एक दर्जन से अधिक शोध हिन्दी समीक्षकों ने—हिन्दी उप-यास साहित्य की पहली प्रामाणिक कृति किस मानें इस प्रश्न पर अपनी जो समीक्षाएँ एवं धारणाएँ यक्त की हैं उन सभी की एक स्थान पर तुलनात्मक विवेचना किए बिना, इस चिन्तन का निपटारा सम्भव नहीं है। उपर्युक्त विभिन्न आलोचना के नाम एवं उनके धर्मिता की एक तिथि श्रमानुसार जम्बित तालिका यहाँ दी जा रही है जिसके द्वारा हिन्दी की प्रथम औप-यासिक कृति के संबंध में उनकी क्या-क्या रायें हैं, यह, स्पष्ट रूप से जाना जा सकेगा —

- १ 'आधुनिक हिन्दी साहित्य (डा० लक्ष्मीसागर वाष्ण्य डी० फिल०) (प्रकाशक हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय प्रथम प्रकाशन १९४१ ई०, अध्याय ५, 'उप-यास' पृष्ठ ६२-१०५।
- २ 'भारतेन्दु के समय में ही देश के कोने कोने में हिन्दी लेखक तयार हुए जो उनके निबन्ध के उपरान्त भी बराबर साहित्य सेवा में लगे रहे। अपने अपने विषय क्षेत्र के अनुसार, रूप, हिन्दी को देने में सब का हाथ रहा। (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास—आधुनिक काल, गद्यखण्ड प्रकरण २ 'आधुनिक गद्य साहित्य परंपरा का प्रवर्तन, प्रथम उत्थान (१८६८-१८९३) सामान्य परिचय, पृष्ठ ४५२।)
- ३ 'हिन्दी नई चाल में डली' सन १८८३ ई०, (भारतेन्दु हरिश्चन्द्र) ('कालचक्र' नामक उनका पुस्तक पर अंकित उल्लेख)
- ४ 'प० अम्बिकादत्त व्यास (सन १८५८-१९०० ई०) संस्कृत के प्रतिभाशाली विद्वान थे। 'इन्द्रान गद्य काव्य मीमांसा' आदि अनेक ग्रंथों की पुस्तकों भी लिखी। 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ४७७-४७८।

# हिंदी की प्रथम औपन्यासिक कृति सम्बन्धी अभिमत तालिका

अभिमत दाता नाम	प्रथम हिं । औपन्यासिक कृति	उपन्यासकार का नाम एवं काल	आलाचक का निजी अभिमत एवं तत्सम्बन्धी युक्ति तर्क आदि का उल्लेख	तिथि क्रमानुसार, अभिमत वा सदन
-------------------	-------------------------------------	------------------------------	---	-------------------------------

५

४

३

१

२

प० अम्रिका  
दत्त यास

'परीक्षागुरु  
(१८८२ ई०)

सा० श्रीनिवास  
दास [१८५१  
१८८७ ई०]

हिंदी के आद्य उपन्यासों की सूची में, आलोचक द्वारा 'परीक्षागुरु' का सर्वप्रथम उल्लेख (व्यासजी कृत 'गद्य काय मोमासा' एक प्रकार से, आद्य हिंदी गद्य सम्बन्धी प्रथम आलोचनात्मक सर्वेक्षण माना जा सकता है।)

प० रामचंद्र  
शुक्ल

'परीक्षागुरु'  
(१८८२ ई०)

सा० श्रीनिवास  
दास [१८५१  
१८८७ ई०]

अंग्रेजी ढंग का, मौलिक उपन्यास, पहले पहल हिंदी में सा० श्रीनिवासदास का, परीक्षागुरु ही निकला था।

श्री  
गारायण  
श्रीवास्तव

'रानी वेतकी संघद  
इशा  
की कहानी'  
अथवा  
'उदमानचरित'  
(१८०१ ई०)

इशा  
'अल्लाह खाँ  
'इशा' (१७३८  
'१८१८ ई०)

'हिंदी का पहला औपन्यासिक होने का श्रेय, संघद इशा अल्लाह खाँ को ही दिया जा सकता है। उनकी 'रानी वेतकी की कहानी' एवं छोटा सा उपन्यास है यद्यपि लेखक ने इसे 'कहानी' घोषित कर दिया है।

१८८७ ई०— गद्य काय मोमासा' नामक  
सम्बन्धे निबंध के अंत में दी हुई, उपन्यासों  
की सूची [प्रथम प्रकाशन काशी नगरी  
प्रचारिणी पत्रिका] वर्षिकाक सन् १८८७  
ई०। पुन पुस्तक रूप में भी प्रकाशित।

१८२६ ई०— हिंदी साहित्य का इतिहास'  
(रामचंद्र शुक्ल) पृ० ४५५

१८४० ई०— ('हिंदी उपन्यास') (पृष्ठ ६१-  
६२)

डा० गंधी सागर वाल्येय	पुणप्रकाश और चंद्रप्रभा' (१८८१ ई०) १८८५ ई०)	भारत-दु हरिश्चन्द्र (१८५०) १८८५ ई०)	'भारते दु हरिश्चन्द्र ने 'पुणप्रकाश और चंद्र-प्रभा' नामक हिंदी का सवप्रथम सामाजिक उपयास प्रकाशित किया।	१९४१ ई०—आधुनिक हिंदी साहित्य, अध्याय ५ पृ० ९३ ९४
डा० श्रीकृष्ण लाल	चंद्रकाता' (१८८६ ई०) १८९३ ई०)	देवकीनन्दन लखी (१८६१ ई०) १९१३ ई०)	हिंदी का प्रथम साहित्यिक उपयास देवकी नन्दन लखी का चंद्रकाता है।'	१९४२ ई०—'आधुनिक हिंदी साहित्य का विवास, पृ० २७५
डा० माताप्रसाद गुप्त	'मनोहर उपयास (१८७१?) मिश्र)	अनात (सं सदा नन्द जम्भूनाथ मिश्र)	आलाध्यकाल (१८६७ से १९०९) में उपयास का जम एक महान घटना थी। लाला श्रीनिवासदास इसके जन्मदाता माने जाते हैं पर यह धारणा ठीक नहीं, क्योंकि इससे भी पूर्व उपयास रचना के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार का पहला उपयास 'मनोहर-उपयास' है।	१९४५ ई०—हिंदी पुस्तक साहित्य, पृष्ठ २५
डा० राम विलास शर्मा	'परीक्षागुरु' (१८८२ ई०) १८८७ ई०)	श्रीनिवासदास (१८५१ ई०) १८८७ ई०)	'हिंदी उपयासकारों में पहला महत्वपूर्ण नाम श्रीनिवासदास का है। 'परीक्षागुरु' ने हिंदी में, एक विशेष प्रकार के, कथा साहित्य को जन्म दिया।'	१९५१ ई०—'भारत-दु युग, पृ० १२६

१	२	३	४	५
प० गंगा प्रसाद पाण्डेय	रानी केसकी की कपानी (१८०१ ई०)	सयद इशा अरलाह इशा' (१७०८ १८१८ ई०)	इशा अरलाह रानी केतकी की कहानी से, हिंदी उपन्यास साहित्य का प्रारम्भ होता है।	ई०—आधुनिक कथा साहित्य' १९५४ पृष्ठ २४
स्व० श्री ब्रज रत्ना दाग	'गानी केतकी की कहानी' १८०१ ई०	इशा अरलाह माँ (१७३८ १८१८ ई०)	उदू म इन (इशा) की बहुत सी रचनाएँ हैं पर यहाँ हम केवल, ठेठ हिंदी में लिखे गये इनके एक उपन्यास से काम है जिसका नाम 'उदमान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी है।'	१९५६ ई०—'हिंदी उपन्यास साहित्य' पृष्ठ १२२
श्री राजेन्द्र शर्मा	'रहस्य कथा उपन्यास' (१८७६ ई०)	प० बालकृष्ण मट्ट (१८४४ १९१४ ई०)	('रहस्य कथा उपन्यास' वास्तव से यह मट्ट जी का सर्वप्रथम उपन्यास है। नवम्बर सन १८७६ ई० के 'हिंदी प्रदीप' से इसका प्रकाशित होना प्रारम्भ हुआ था। लाला श्रीनिवासदास का 'परीक्षागुरु' उपन्यास १८८२ ई० में प्रकाशित हुआ और आज वही हिंदी का प्रथम उपन्यास माना जाता है। विधि की दृष्टि से, यह गोरब, मट्ट जी का मिलना चाहिये।'	१९५८ ई०—हिंदी गद्य के निर्माता—१० बालकृष्ण मट्ट, पृष्ठ ३६७।
श्री० महेन्द्र टागोर	'मायवती' (१८७७ ई०)	प० श्रद्धाराम फिल्तोरी (१८३० (?) १८८१ ई०)	'सवत १९३४ (सन् १८७७) में 'मायवती' नामक एक उपन्यास प० श्रद्धाराम ने लिखा हिंदी उपन्यासों में मायवती प्रथम भारतीय टग का उपन्यास है।	१९५९ ई०—'द विक्रम (विन्सम विभव विद्यालय, उज्जैन का मुखपत्र) जिल्द ३, सन् १९५६।

डा० वलाश प्रकाश	परीक्षागुरु' सा० श्रीनिवास (१८८२ ई०) दास (१८५१ ई०) दास (१८७७ ई०)	“हिंदी के प्रथम मौलिक उपयासकार ‘भार ततु है—पर तु प्रथम मौलिकता पुण उप यास ‘परीक्षागुरु’ है।’	१९६२ ई०—‘प्रेमचंद पूव हिंदी उपयास’, अध्याय २ पृष्ठ ६७
श्री० मट्ट चतुर्वेदी	‘भाग्यवती’ (१८७७ ई०) प० श्रद्धाराम फिल्लोरी (१८३० ई०) १८८१ ई०)	‘अधिकतर विद्वाना ने सा० श्रीनिवासदास के ‘परीक्षागुरु (१८८२ ई०) को ही हिंदी का सर्वप्रथम मौलिक उपयास माना है। किंतु मौलिक उपयास के नाम पर केवल एक कृति का उल्लेख किया जा सकता है प० श्रद्धाराम फिल्लोरी कृत ‘भाग्यवती जिसका प्रणयन १८७७ ई० मे ही हुआ था।	१९६२ ई०—‘हिंदी उपयास एक सर्वेक्षण अध्याय २ प० १७।
डा० गणपति चन्द्र	‘भाग्यवती’ (१८७७ ई०) प० श्रद्धाराम फिल्लोरी (१८३० ई०) १८८१ ई०)	‘श्रद्धाराम फिल्लोरी की ‘भाग्यवती ही कालजमानुसार, सबसे पहले आती है। अत हम इसे ही हिंदी का पहला उपयास मान सकते हैं।	१९६५ ई०—‘हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास’, अध्याय ५, पृष्ठ ६१०।

हिंदी की प्रथम औपन्यासिक कृति एव तत्सम्य वी इस अभिमत तालिका से यह प्रगट है कि विभिन्न विद्वानों ने इन सारे उपयासों को अपनी अपनी राय के अनुसार 'हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास' सिद्ध किया है। कहना न होगा कि ये सभी तो 'सर्वप्रथम उपन्यास' माने नहीं जा सकते। इसका निणय उपयुक्त तालिका के सम्यक् अध्ययन द्वारा ही कोई निष्पक्ष समीक्षक कर सकता है —

प्रस्तुत तालिका में, उल्लिखित अभिमतों में से अधिकांश विज्ञ आलोचक, इस बारे में एकमत जान पड़ते हैं कि हिंदी उपयास का प्रारम्भ भारतेन्दु युग से ही हुआ। ऐसी धारणा, जिसके सम्बन्ध में ऊपर उल्लेख किया ही जा चुका है, मूलतः, प० अम्बिकादत्त व्यास के उक्त सर्वेक्षण द्वारा ही उद्भूत हुई, जान पड़ती है। श्री व्यास जी ने, सन् १८८७ ई० में, काशी की नागरी प्रचारिणी समाज की मुखपत्रिका 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' के सर्वप्रथम अंक में (जो कि वस्तुतः उस वर्ष का वार्षिकांक था), 'गद्य का यमीमासा' नामक, (हिंदी के आद्य गद्य-साहित्य के सम्बन्ध में), एक लम्बा लेख, प्रकाशित किया था, जिसे हिंदी साहित्य की प्रथम आलोचना या सर्वेक्षण कहा जा सकता है। इसके अंत में उन्होंने, तब तक के प्रकाशित हिंदी उपयासों के नामों और उनकी प्रकाशन तिथियों की एक सूची भी दी है। उस सूची में उन्होंने सर्वप्रथम स्थान 'परीक्षागुरु' का दिया था।

हिंदी साहित्य के प्रथम प्रामाणिक इतिहास लेखक श्री रामचंद्र शुक्ल ने श्री व्यासजी की उक्त सूची का प्रामाणिक माना ही होगा। स्वयं व्यासजी पर भी, स्वाभाविक रूप से अपने युग एव समकालीन लेखकों का अधिक प्रभाव रहा ही होगा। हिंदी गद्य का जाविर्भाव लिखत समय शुक्लजी के सामने, अधिकांश गद्य रचनाएँ भारत दुयुग की ही रही होंगी। एक प्रकार से हिंदी आलोचना का श्रीगणेश 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' से ही हुआ था। स्वयं शुक्लजी भी समाज एव पत्रिका के घनिष्ठ एव निजी सम्पर्क में रहे थे। इसलिये उनकी दृष्टि में, हिंदी की आद्य औपन्यासिक कृतियों की खोज में 'सर्वप्रथम परीक्षागुरु' पर ही टिकी होगी। उनकी दृष्टि में, 'इशा की रानी केतकी की कहानी' आ चुकी थी। किन्तु शुक्लजी का आलोचनात्मक दृष्टिकोण आधुनिक था। इसीलिये उन्होंने उपन्यासों की समीक्षा करते समय उनका तत्कालीन प्रचलित एव माय आधुनिक अर्थों को ही अपने समझ रखा होगा। उन्हें परीक्षागुरु के आधुनिक रूप एव उसकी मौलिक बचावस्तु पर सन्तोष था किन्तु फिर भी उपन्यास की अंग्रेजी बगलूपा एव बनावट से उन्हें नाराजगी भी थी। इसीलिये उन्होंने उसे हिंदी का प्रथम मौलिक उपन्यास न बता कर जान बूझ कर उसे 'अंग्रेजी ढंग का पहला मौलिक उपन्यास' बताया है। शुक्लजी के हिंदी साहित्य के इतिहास से पूर्व भी हिंदी साहित्य के इतिहास लिख जाने के कतिपय प्रारम्भिक प्रयत्न हुए थे। किन्तु प्रायः सभी इतिहास लेखकों एव



आलोचकों का ध्यान, अधिकांशतः हिंदी काव्य की ओर ही जा पाया था। हिंदी उपन्यास की ओर से तो तत्कालीन विज्ञ आलोचकों की प्रायः पूर्ण उदासीनता ही पायी जाती थी। अतः शुक्लजी को ही इस बात का श्रेय है कि उन्होंने सबसे प्रथम, आधुनिक युग की सर्वप्रधान साहित्यिक विधा 'उपन्यास' की ओर, ध्यान दिया। वास्तव में शुक्लजी स्वयं इस सम्बन्ध में अपनी कोई सुनिश्चित धारणा नहीं बना पाए थे कि हिंदी का सर्वप्रथम उपन्यास किसे माना जाय। यही नहीं 'परीक्षा गुरु' की प्रकट और मौलिक 'यूनताओं' से भी वे मली भाँति अवगत थे। उन्होंने शब्दों में उसकी शैली मापा एवं उपन्यास के अंग्रेजी ढंग के वाक्य विन्यास एवं संभाषणों आदि की, सारी आलोचना भी की है और उन्हें उपन्यास से उद्धरणों द्वारा स्पष्ट भी किया है —

“मुझे आपकी यह बात बिल्कुल अनाखी मालूम होती है। मला परोपकारादि शुभ कार्यों का परिणाम कैसे बुरा हो सकता है?” पंडित पुरुषोत्तमदास ने कहा।

‘जैसे न प्राणाधार है परंतु अति भोजन से रोग उत्पन्न हो जाता है’  
ला० ब्रजकिशोर कहने लगे ।

उपयुक्त उद्धरणों के पश्चात् आचार्य शुक्ल ने इस बात पर सतोष प्रकट किया है कि अंग्रेजी उपन्यासों के ढंग पर, भाषण के बीच में या अंत में, अमुक ने कहा या अमुक कहने लगें इस पंथा का अनुसरण, हिंदी के उपन्यासों में नहीं हुआ।<sup>१</sup>

उपयुक्त तालिका के अनुसार एक अर्थ विचारणीय एवं महत्वपूर्ण मत है स्व० डा० श्रीकृष्णनाल का। उनकी दृष्टि में, श्री देवकीनंदन खत्री द्वारा लिखित 'चंद्रकांता' ही हिंदी का प्रथम साहित्यिक उपन्यास है। यह उपन्यास 'भारते दुःख निघन के आसपास ही रचा गया था, अतएव यह भी एक प्रकार से 'भारते दुःख युग' की ही रचना मानी जा सकती है।

'चंद्रकांता' उपन्यास के सम्बन्ध में, यहाँ तो केवल इतना भर उल्लेख पर्याप्त है कि 'चंद्रकांता', आद्य हिंदी उपन्यास की मौलिक एवं सनातनक प्रवृत्ति के विकसित रूप की एक प्रतिनिधि औपन्यासिक कृति है। किंतु हिंदी उपन्यास का साहित्यिक समारम्भ 'चंद्रकांता' से ही हुआ, ऐसा अभिमत प्रस्तुत तुलनात्मक

१ हिंदी साहित्य का इतिहास (१० रामचंद्र शुक्ल), प्रथम प्रकाशन सन् १९२६, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, काशी (पृष्ठ ४७३-४७४)

२ वही, पृष्ठ ४७४।

३ हिंदी उपन्यास साहित्य में श्री ब्रजरत्नदास ने, 'भारते दुःख युग' (संवत् १९२५ से १९५० तक या ई.स. १८६८ से १८९३ तक) माना है। पृष्ठ १२७।

सर्वेक्षण को दृष्टि में रखते हुए स्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रथम आद्य हिन्दी औपन्यासिक कृति, एव 'चन्द्रकाता के बीच, हिन्दी उपन्यास को विकसित होने के लिये, लगभग एक शती की अवधि में से, गुजरना पड़ा था—इस तथ्य की भला बैसे अवहेलना की जा सकती है ?

यद्यपि डॉ० माताप्रसाद गुप्त द्वारा व्यक्त किये गये अभिमत के अनुसार हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास 'मनोहर उपन्यास' (१८७१ ई०) भी, भारतेन्दु काल में ही आ जाता है फिर भी वह 'परीक्षागुरु' से ग्यारह वर्ष पूर्व लिखा गया था। ऐसे उल्लेख के आधार पर हाँ विन आलोचक ने उसे प्रथम उपन्यास माना है। इस सम्बन्ध में विन आलोचक का मूल मत ही उद्धृत किया जाना पर्याप्त होगा —

'आलोच्यकाल (१८६७-१९०६ ई०) में उपन्यास का जन्म, एक महान घटना थी। श्रीनिवासदास इसके जन्मदाता माने जाते हैं। उनका 'परीक्षागुरु', हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास माना जाता है। पर यह धारणा ठीक नहीं है क्योंकि इसके भी पूर्व उपन्यास रचना का प्रमाण मिलने हैं। इस प्रकार का पहला उपन्यास जिसका उल्लेख मिलता है, 'मनोहर उपन्यास' (१८७१ ई०) है जिसके सम्पादक हैं सदानन्द मिश्र तथा शम्भूनाथ मिश्र। लेखक का नाम नहीं दिया हुआ है। किन्तु यह अनुवाद नहीं पाता होता। क्योंकि यह सम्पादकों द्वारा केवल संप्रहीत और सशायित कहा गया है। इनकी क्यावस्तु का सम्बन्ध में भी कोई संकेत नहीं है।'

विन आलोचक के अनुसार, मनोहर उपन्यास की प्रकाशन तिथि १८७१ ई० है। यदि यह मान लिया जाय कि 'मनोहर उपन्यास परीक्षागुरु का पूर्ववर्ती है तो भी उसे हिन्दी का पहला मौलिक उपन्यास बैसे कहा जा सकता है जब कि उसके पूर्ववर्तित अनेक हिन्दी उपन्यास उपलब्ध हैं ?

इस बारे में अधिक अनुसंधान करने पर पाता हुआ कि सन १८७७ में, कलकत्ते से पहला उल्लेखनीय साप्ताहिक पत्र भारत मित्र निकला जिसकी सम्पादक समिति में श्री दुर्गाप्रसाद मिश्र, एव सदानन्द मिश्र भी थे। किन्तु वे दोनों एक वर्ष में ही भारत मित्र से अलग हो गये और श्री सदानन्द मिश्र के सम्पादकत्व में एक श्रेष्ठ साप्ताहिक पत्र निकला जिसका नाम सार सुधा निधि था। भारत-दु युग के अनेक उपन्यास इसी पत्र-पत्रिकाओं में धारावाहिक रूप से निपल गये। अतः जिस 'मनोहर उपन्यास' के सम्बन्ध में श्री गुप्तजी ने 'सन १८७१ में कलकत्ता से प्रकाशित,

१ 'हिन्दी पुरतक साहित्य' (१८६७-१९४२ ई०) — डॉ० माताप्रसाद गुप्त, (प्रथम प्रकाशन १९४४ ई०) हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश इलाहाबाद (पृ० २५)

२ ३ हिन्दी साहित्य का इतिहास, श्री रामचन्द्र शुक्ल, (पृष्ठ ४५८) तथा डॉ० रामविलास शर्मा कृत 'भारतेन्दु युग', (पृष्ठ १२५)।

सम्पादक सदानंद शम्भूनाथ मिश्र" मात्र लिख कर छोड़ दिया है वह भी सम्भवतया इससे काफी पहले किसी अन्य पत्रिका में, धारावाहिक रूप से प्रकाशित हुआ होगा।

डॉ० रामविलास शर्मा ने अपने 'भारते-दु युग' में, 'परीक्षागुरु' ने हिंदी में, एक विशेष प्रकार के कथा साहित्य को जन्म दिया" ऐसा उल्लेख किया है। साथ ही उनकी दृष्टि में, हिंदी उपन्यासकारों में पहला महत्वपूर्ण नाम श्रीनिवासदास का है।<sup>१</sup>

जहाँ तक डॉ० रामविलास शर्मा का 'परीक्षागुरु' के सम्बन्ध में अभिमत है, वह एक विरोध दृष्टिकोण को सामन रख कर लिखा गया है। उन्होंने अपने उपन्यास सम्बन्धी अध्याय का नाम 'उपन्यास और यथायवादी परम्परा' रखा है। डॉ० श्रीनिवास दास एवं 'परीक्षागुरु' के सम्बन्ध में उक्त उल्लेख के पश्चात् ही उन्होंने यह भी लिखा है कि कथावस्तु एक अमीर के बिगड़न और अपने एक सच्चे मित्र की सहायता से सुधरने को लेकर, रची गई है। उपन्यासों में इस ढर्रे का श्रीगणेश करन वाले श्रीनिवासदास थे। सेठी के जीवन से उनका निकट का परिचय था। इसलिए तत्सम्बन्धी वणन और वार्तालाप की भाषा में, स्वाभाविकता है, जो पुरानी आलंकारिक शैली के स्थान में इस उपन्यास की नई देन है।<sup>२</sup>

परीक्षा गुरु के सम्बन्ध में श्री रामचन्द्र गुजल का अभिमत उक्त अभिमत से तुलनीय है। दोनों ही विषय आलोचना में, दो विभिन्न दृष्टिकोणों से परीक्षागुरु को विशिष्ट माना है, एवं दोनों ही मन सापेक्ष हैं विरपेक्ष नहीं।

हिंदी की आद्य औपन्यासिक कृति के सम्बन्ध में डॉ० राजेन्द्र शर्मा का अभिमत यह है कि 'रहस्यकथा उपन्यास (सन १८७६ ई०) ही श्री बालकृष्ण भट्ट जी का सर्वप्रथम उपन्यास है और वह परीक्षा गुरु से तीन वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। इसलिए डॉ० शर्मा की राय में यही हिंदी का पहला उपन्यास माना जाना चाहिये।

डॉ० शर्मा, 'परीक्षागुरु' को हिंदी के प्रथम उपन्यास माने जाने वाली रूढ़िगत परम्परा से सहमत नहीं है और उनकी राय में हिंदी के प्रथम उपन्यासकार होने का गौरव श्री बालकृष्ण भट्ट को ही मिलना चाहिए। उन्होंने परिश्रमपूर्वक अपने प्रबंध 'हिंदी गद्य के निर्माता, प० बालकृष्ण भट्ट में, यह सिद्ध किया है कि 'रहस्य कथा उपन्यास, 'परीक्षागुरु' से, तीन वर्ष पूर्व प्रकाश में आ चुका था।'<sup>३</sup>

१ 'भारते-दु युग' (डॉ० रामविलास शर्मा), पृष्ठ १२६

२ वही, पृष्ठ १२५।

३ 'हिंदी गद्य के निर्माता—प० बालकृष्ण भट्ट' (डॉ० राजेन्द्र शर्मा), पृ० ३६७

प्रथम तो विन आलोचको मे बहुधा यह प्रवृत्ति पाई जाती है कि जिस लेखक विषय पर वे ग्रन्थ रचना करते हैं जाने या अनजाने, वे उसी को सर्वाधिक महत्त्व देने की चिन्ता मे रहते हैं जो कि मानव स्वभाव के विपरीत नहीं है। दूसरे डा० शर्मा के अभिमत के बारे मे, यह भी विस्मय है कि 'रहस्य क्या उपयास' नामक अपूर्ण कृति की अपेक्षा, उससे भी पूव प्रकाशित सम्पूर्ण एव विशिष्ट उपयास 'नूतन ग्रहणकारी' (प० बालकृष्ण भट्ट) को, उन्होंने हिन्दी का सर्वप्रथम उपयास क्यों नहीं बताया ? जिस पर कि श्री भट्टजी की रयानि बहुत कुछ टिपी हुई है। तीसरे, अपूर्ण कृति की, पूण कृति से तुलना करके, तिविक्रमानुसार उसे येन केन प्रकारेण, महत्त्व दिया जाना, आलोचना सिद्धांत मे उचित नहीं माना जा सकता।

विज्ञ आलोचको ने भारतेन्दु कालीन औपयासिक कृतियो मे से एक और उपयाम का भी उल्लेख किया है जिसका नाम 'भाग्यवती' है और जिसकी रचना, श्री रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार, सा १८७७ मे हुई। स्वयं श्री शुक्लजी ने इस उपयास का, 'हिन्दी की एक आद्य भारतेन्दु कालीन औपयासिक कृति' के रूप मे उल्लेख किया ही है। उन्होंने इसे एक सामाजिक उपयास बताया है और इसके लेखक श्री श्रद्धाराम फुल्लोरी (फिल्लोरी) के सम्बन्ध मे लगभग डेढ़ पृष्ठ का परिचय भी दिया है जिसमे फिल्लोरीजी को 'भारतेन्दु युग मे, पंजाब प्रदेश मे, सबसे प्रबल हिन्दी के प्रचारक एव समयक के रूप मे, चित्रित किया गया है। प० श्रद्धाराम एक प्रतिभाशाली वक्ता एव प्राचीन वर्णाश्रम धर्म तथा हिन्दू मन्त्रि के प्रभावशाली प्रचारक बताए गए हैं। अपनी विचारधारा मे वे, मुधारवादी कहे गए हैं तथा अनेक ग्रन्थों के रचयिता भी माने गए हैं। किन्तु श्री शुक्लजी ने 'भाग्यवती' उपयास की क्यावस्तु के सम्बन्ध मे सामाजिक' विषेण के अतिरिक्त रचना मे अय उल्लेख नहीं किया था। 'भाग्यवती के सम्बन्ध मे स्मरणीय तो यह है कि अद्यावधि एक दो विन आलोचकों के अतिरिक्त, शुक्लजी के पश्चान किसी ने भी उसकी क ई चर्चा अथवा उल्लेख तक करना उचित नहीं माना। यहाँ तक कि 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास', (सन १९००-१९२५ ई०) के लेखक एन प्रख्यात आलोचक स्व० डा० श्रीकृष्णलाल ने भी 'भाग्यवती का उल्लेख केवल प्रसंगवश (श्रीनिवास क्यावली की अपनी प्रस्तावना मे) ही किया है जो कि इस भाँति है—

इससे (परीक्षा गुरु से) पूव, दो उपयाम ग्रन्थों की रचना का उल्लेख प्राप्त होता है। एक पंजाब के श्रद्धाराम फुल्लोरी का 'भाग्यवती और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र कृत पूणप्रकाश और चन्द्रप्रभा है। परन्तु पिछली कृति को वे

१ भारतेन्दु युग — डा० रामविलास शर्मा, पृष्ठ १२६।

२ 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (श्री रामचन्द्र शुक्ल) पृष्ठ ४४५-४४७

गुजराती से अनुवाद मानते हैं 'भाग्यवती' यदि मौलिक रचना है, तो निश्चय ही, उसे हिन्दी का सबसे प्रथम उपन्यास माना जा सकता है।<sup>१</sup>

'भाग्यवती' के सम्बन्ध में श्री शुक्लजी के पश्चात् विज्ञ आलोचकों की इस रहस्यमय चुप्पी से सबसे प्रथम आकर्षित होने वाले आलोचक डा० महेन्द्र मटनागर हैं जिन्होंने कि पर्याप्त दृढ़ता के साथ 'भाग्यवती' को प्रथम भारतीय ढंग का हिन्दी उपन्यास बताया था। श्री मटनागर को इसका भी पर्याप्त खेद है कि हिन्दी आलोचका को दृष्टि इसकी ओर विशेष नहीं गई।<sup>२</sup>

'भाग्यवती' उपन्यास, विधिक्रम के अनुसार निश्चय ही 'परीक्षागुरु' का पूर्ववर्ती है। और आज यह मानने का कोई कारण नहीं जान पड़ता कि 'भाग्यवती', 'परीक्षागुरु' के अग्रेजी ढंग की तुलना में भारतीय ढंग का एक आद्य हिन्दी उपन्यास नहीं है। क्योंकि प० श्रद्धाराम वृत्त विवेचित उपन्यास 'भाग्यवती' आज पुस्तक रूप में सबसे प्राप्य है। प० श्रद्धाराम ने भारतीय ढंग को छोड़ कर, पारश्वात्य ढंग में उपन्यास रचना करना उचित नहीं माना था या यह उन जैसे व्यक्ति के लिए असंभव नहीं था। 'भाग्यवती' का भारतेन्दु काल की प्रथम औपन्यासिक कृति भी माना जाना कठिन है। क्योंकि उससे भी पूर्व सन १८७० में प्रकाशित देवरानी जैठानी की कहानी' (लेखक प० गौरीदत्त शर्मा) तथा सन १८७७ में ही प्रकाशित श्री बालकृष्ण मट्ट के विशिष्ट उपन्यास 'नूतन ब्रह्मचारी' आदि भी प्रकाश में आ चुके थे। इसके अतिरिक्त 'नलप्रसंग' (सन १८६०) से लेकर 'परीक्षागुरु' (सन १८८२) तक अनेक अन्य औपन्यासिक कृतियाँ भी भारतेन्दु काल की ही उपलब्ध हैं।

हिन्दी की प्रथम औपन्यासिक कृति सम्बन्धी उक्त अभिमत तालिका एवं तरसम्बन्धी सक्षिप्त टिप्पणियों के पश्चात् यह तथ्य सामने आता है कि उक्त विज्ञ आलोचकों के चौदह अभिमतों में से ग्यारह अभिमत यह हैं कि उपन्यास का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में ही हुआ और उनमें से भी पचास प्रतिशत महानुभाव इस बात से सहमत हैं कि श्रीनिवासदास वृत्त 'परीक्षागुरु' ही हिन्दी का प्रथम मौलिक उपन्यास है।

उपर्युक्त आलोचक वर्ग में से ही एक की धारणा के अनुसार हिन्दी उपन्यास सन १८७० ई० के पश्चात् ही प्रारम्भ हुआ। दूसरे महानुभावों की दृष्टि में, हिन्दी उपन्यास का श्रीगणेश १८७६ ई० के पश्चात् हुआ जान पड़ता है तथा तीसरे आलोचकों की दृष्टि में यह समय, १८७८ ई० के पश्चात् माना जाना उचित है।

- १ 'श्रीनिवास प्रयावली प्रस्तावना भाग, संपादक डा० श्रीकृष्णलाल, पृ० ११
- २ 'द्विध्रम (विश्वविद्यालय उज्जैन की मूल पत्रिका) मई सन १९५६ का अंक (माधव कालिज उज्जैन से प्रकाशित), प्रसंग पूर्व की औपन्यासिक परम्परा', नामक लेख (डा० महेन्द्र मटनागर), पृष्ठ ६०, जिह्वा १, संख्या २।

तथा अथ आलोचको के मत से, हिन्दी साहित्य म १८८१ ई० से पहले, उप-यास रचना हुई ही नहीं, ऐसा प्रकट होता है ।

डॉ० लक्ष्मीसागर वाण्ये ने श्री भारते-दु को हिन्दी का सर्वप्रथम उप-यास-कार माना है और उनके ग्रंथ 'पूण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' को, हिन्दी का पहला उप-यास बताया है । किन्तु डॉ० वाण्ये की उक्त सम्मति काफी पुरानी है और अब तक उनकी दृष्टि में यह बात आ ही गई होगी कि 'पूण प्रकाश और चन्द्रप्रभा' श्री भारते-दु की अपनी मौलिक कृति नहीं थी । क्योंकि कुछ विद्वान उसे मराठी से अनूदित बताते हैं और कुछ गुजराती से ।

स्व० डॉ० श्रीकृष्णलाल का अभिमत, उपयुक्त तथ्यों की दृष्टि में रखने हुए विशेष विचारोत्तेजक एवं इगितमय है । उनके अभिमत के अनुसार हिन्दी का प्रथम साहित्यिक उप-यास श्री दक्खीन-दन खन्ना का चन्द्रका ना है । वस्तुतः डॉ० लाल ने 'चन्द्रकाना' म हिन्दी उप-यास की विलक्षण वणनात्मक प्रकृति के दर्शन किए और वे उससे अभिभूत हुए बिना न रह सक । किन्तु चन्द्रकाना हिन्दी उप-यास का पूण विकसित रूप है, कोई प्रारम्भिक प्रयोग नहीं इससे भी इन्कार नहीं किया जा सकता ।

उपर्युक्त अभिमत-तालिका में उल्लिखित केवल तीन विन आलोचका का ध्यान हिन्दी उप-यास की आद्य कृति के अनुसंधान के लिये, भारते-दु युग से भी पहले के अतीत में गया है ।

उपर्युक्त विन आलोचको की यह धारणा कि सयद इशाअत्लाह या द्वारा रचित 'उदमान चरित अथवा 'केतकी की कहानी' ही हिन्दी उप-यास की पहली आद्य कृति है, वस्तुतः एक अल्पमत-व्यपूण एवं ऐतिहासिक, साहित्यिक अनुसंधान है । फिर भी अद्यावधि भी वैज्ञानिक सांख्यिक आलाचना सरणी के अनुसार इस समस्या का निर्णायक समाधान नहीं हो पाया है ।

'रानी केतकी की कहानी' का रचनाकाल सन् १८०१ ई० है । और यदि स्व० डा० माताप्रसाद गुप्त के मत को ज्यों का त्यों ही स्वीकार कर लिया जाय तो 'मनोहर उप-यास नामक कृति का रचना-काल सन् १८०१ ई० है । प्रश्न उठता है कि क्या इन ८० वर्षों के अन्तराय में एक भी हिन्दी उप-यास नहीं रचा गया ?'

१ इस प्रसंग को लेकर प्रस्तुत ग्रंथ के अध्याय चतुर्थ के, पञ्चम प्रकरण के अन्त में पृष्ठ ३८८ से पृष्ठ ३९८ तक पर्याप्त विवरण सहित विवेचना की गई है । वस्तुतः सन् १८१७ ई० में रचित, जल्लूमीलाल जून माघो विलास से जेफर, सन् १९५६ ई० में लिखित 'दाऊजी अग्नि-पीठ' के अन्त में प्रसंग' के बीच का अन्तराय, लगभग चार दशकों का हो रहा जाता है । इस अन्तराय के कारणों पर भी उपर्युक्त एवम में प्रकाश डाला ही जा चुका है ।

वस्तुतः हिन्दी की प्रथम और शक्तिशाली कृति को भारतेन्दु काल में न खोजा जाकर उसे १९वीं शती ई० के प्रारम्भ में ही खोजा जाय तो शक्तिशाली युक्तियुक्त होगा। 'इशा' कृत 'रानी केतकी की कहानी' में, हिन्दी की आद्य और वासिक कृति होने की सभी क्षमताएँ पाई जाती हैं। इस सम्बन्ध में यह भी विशेषतया विचारणीय है कि 'रानी केतकी की कहानी' (उदमान चरित) में, भारतीय उपन्यास की मौलिक प्रकृति किन्तु अधिक परिष्कार है? तथा उसकी जननात्मक कला, किन्तु रमणीय एवं सहज स्वाभाविक है? यही बात वस्तुतः अत्यन्त महत्व की है। 'रानी केतकी की कहानी' को हम हिन्दी उपन्यास साहित्य का ऐसा प्रथम विमुक्तकारी उभयमान मान सकते हैं जिसका कि सम्पूर्ण विकास एवं विलास, हम श्री देवकीनन्दन खत्री की औपन्यासिक सृष्टि में अधिक व्यापक एवं प्रस्फुटित रूप में दृष्टिगोचर होता है।

हिन्दी उपन्यास का उद्भव एवं विकास के सम्बन्ध में, वस्तुतः, पहले पहल तत्सिद्ध अनुमथान प्रणाली का प्रारम्भ श्री रामचन्द्र शुक्ल के 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' (सन १९२९ ई०) से ही माना जा सकता है। १९वीं शती के अन्त में तथा २०वीं शती के प्रारम्भ में साहित्य के शोधकाय के लिये अनुकूल परिस्थितियों का अभाव पाया जाता था। हिन्दी उपन्यास की ओर, इसीलिये, सर्वप्रथम हिन्दी आलोचकों का ध्यान आकर्षित करने का श्रेय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल को ही दिया जाना चाहिये। किन्तु जसा कि पहले ही कहा जा चुका है शुक्लजी का इस सम्बन्ध में किया गया कार्य कथन अनुमथान की स्थिति में ही रहा। उसमें निणयनात्मकता नहीं आ पाई। लगभग दस ग्यारह वर्ष तक इस सम्बन्ध में भारतेन्दु युग के आसपास ही हिन्दी उपन्यास के प्रारम्भ होने की परम्परागत धारणा, हिन्दी के आलोचना-क्षेत्र में, यत्र तत्र दिखाई देती रही। यही नहीं इसके भी १० वर्ष आगे तक, 'यूनाधिक' रूप में, विज्ञ आलोचक परीक्षागुरु' अथवा अथ भारतेन्दु-कालीन उपन्यासों को ही, हिन्दी के आदि उपन्यास मानते रहे यथा डा० रामविलास शर्मा (भारतेन्दु युग सन् १९५१ ई०)। यही नहीं यह भी स्मरणीय है कि अद्यावधि भी, हिन्दी उपन्यास का प्रारम्भ भारतेन्दु युग में ही हुआ यह धारणा, पूर्ववत् जीवित है और कुछ अंशों में उसे मायता भी मिलती चली जाती है।

जिन कतिपय विद्वान् आलोचकों ने भारतेन्दु युग की सुदृढ मर्यादाओं को लांघ कर उन्नीसवीं शती के प्रारम्भ से हिन्दी उपन्यास के उद्भव एवं विकास की सहज अनुभूतिमय धारणा को व्यक्त किया उनके आलोचना साहित्य का कम महत्व नहीं है। किन्तु स्वर्गीय श्री ब्रजरत्नदास (सन १९५६ ई०) से पूर्व किसी भी विद्वान् आलोचक ने बिना विशेषण एवं हिचकिचाहट के, 'रानी केतकी की कहानी' को उपन्यास की सजा नहीं दी। इस दृष्टि से सर्वप्रथम जिन विद्वान् आलोचकों ने 'रानी केतकी की कहानी' को उपन्यास के परिवार में सम्मिलित किया जाने योग्य माना है, जब, उनके अभिमतों पर भी सक्षिप्त विचार किया जाना उचित होगा।

श्री शिवनारायण श्रीवास्तव ने, आज से लगभग तीस वर्ष पूर्व अपनी कृति 'हिंदी उपन्यास प्रकाशित की जिसे कि एक प्रकार से हिंदी उपन्यास के इतिहास के क्षेत्र में झांकने का, पहला प्रयत्न, माना जा सकता है। उन्हीं रानी केतकी की कहानी एक छोटा सा उपन्यास लगा। साथ ही उन्हीं यह बात भी पसंद नहीं आई कि लेखक ने उसे कहानी' घोषित कर दिया है।

जान पड़ना है श्री श्रीवास्तव ने आगे चल कर अपनी उपयुक्त राय बदल डाली (कि रानी केतकी की कहानी, एक छोटा सा उपन्यास है।) उन्होंने इशा' द्वारा अपनी औपन्यासिक कृति के प्रथम शीर्षक अर्थात् 'उदमान चरित' पर भी ध्यान नहीं दिया। हिंदी उपन्यास का प्रथम सस्करण सन् १९९६ (१९३६ ई०) में प्रकाशित हुआ था। द्वितीय सस्करण (सन् १९५० ई०)की प्रस्तावना में श्री श्रीवास्तव लिखते हैं —

'प्रायः बीस वर्ष पूर्व 'हिंदी उपन्यास' नाम से प्रकाशित मेरी पुस्तक सम्वन् इस विषय पर प्रथम आलोचनात्मक कृति थी। पुनः प्रकाशन के सिलसिले में जब नये पुराने उपन्यासों को देखने पढ़ने का अवसर मिला तो पहले की सम्पूर्ण पुस्तक को मैंने पुनः लिख डालने का संकल्प किया। प्रस्तुत पुस्तक की अधिकांश सामग्री नवीन एवं पुनर्लिखित है।' उक्त सस्करण में प्रकरण द्वितीय, पृष्ठ २७ पर डॉ० शिवनारायण श्रीवास्तव स्वयं ही फिर इस भांति लिखत हैं —

भारते-हु मण्डल के प्रतिभाशाली लेखकों में ला० श्रीनिवासदास का प्रमुख स्थान है। उनका परीक्षागुरु (१८८२ ई०) हिंदी का प्रथम उपन्यास माना जाता है।

परीक्षागुरु की मौलिक विशेषता यही है कि इसमें सर्वप्रथम, यथाय जीवन व्यापारों की, यथा का विषय बनाया गया है। न तो उसमें परम्परित ढंग की कोई प्रेम कहानी है और न विस्मयकारक घटना विधान। सामाजिक यथाय की ओर उन्मुख परीक्षागुरु द्वारा प्रवर्तित परम्परा का उस समय वास्तविक विकास न हो सका। अनुभव समृद्ध समर्थ लेखक भी जनरल एव द्रव्यलाभ की प्रमुखता देव कर विस्मयकारक उपन्यास लिखने में ही जुट गए।<sup>१</sup>

उपयुक्त अवतरण से प्रकट है कि समयान्तर में डॉ० श्रीवास्तव के मन में 'परीक्षागुरु के लिए पर्याप्त कोमलता का विकास हुआ है। श्री श्रीनिवासदास की यथायवादी विचारधारा की तुलना में वे, हिंदी के शीर्ष उपन्यासकारों यथा मवश्री

१ हिंदी उपन्यास (१९९६ सस्करण)—श्री शिवनारायण श्रीवास्तव। (सरस्वती मन्दिर वाराणसी) निवेदन, पृ० २।

२ वही, प्रकरण २, पृष्ठ ३१-३५।



विशोरीलाल गास्वामी देवकीनन्दन खत्री, गापालराम गहमरी मेहता लज्जाराम शर्मा जादि सभी को हेय मानने लगे क्योंकि वे जनरुचि एवं द्रव्यलाम को प्रमुखता देकर, विस्मयकारक उपन्यास लिखने में जुट गए थे।

इस प्रकार की समीक्षा सरणी से उत्तम उपन्यासों एवं उत्तम उपन्यासकारों के साथ सदैव ही अग्रगण्य बरता जायेगा। उपन्यास की मौलिक विशेषता उसकी वणनात्मक कला की अवहेलना करके जो जिसके मन में आए परम्परा के अनुसार, उपन्यास मूल्यांकन की प्रणाली का जितनी जल्दी अन्त होगा, उतनी ही जल्दी हिन्दी उपन्यास को ऊपरी एवं वनावटी तत्वा से छुटकारा मिलेगा और वस्तुतः उत्तमोत्तम उपन्यासों की रचना सम्भव हो पाएगी।

हिन्दी उपन्यासों विशेषतया आद्य हिन्दी उपन्यासों के सम्बन्ध में, कभी कभी गण्यमाय एवं साहित्य मग्न समीक्षक भी, गम्भीरतापूर्वक विचार नहीं करते जान पड़ते। उदाहरणार्थ 'आलोचना (त्रमासिक)' के अक्टूबर (१९५४) के अंक में उदयकाल शीपक लेख में श्री विजयशंकर मल्ल ने श्री श्रद्धाराम फिल्लोरी द्वारा उपन्यास 'भाग्यवती' के बारे में यह लिखा था —

'आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपन इतिहास में श्रद्धाराम फिल्लोरी के सबसे १९३४ में प्रकाशित 'भाग्यवती' नामक सामाजिक उपन्यास का उल्लेख किया है। मुझे यह उपन्यास देखने को नहीं मिला पर शुक्लजी ने भी पहला अंग्रेजी 'ग' का मौलिक उपन्यास परीक्षागुरु को ही माना है।'

सयोगवश श्री मल्लजी ने भाग्यवती के प्रचारक पाकेट बुक्स पुस्तक माला में प्रकाशित होने पर उसके संपादक के रूप में (केवल छ वर्ष के पश्चात ही) १५ १० १९६० ई० को निम्न टिप्पणी भी लिखी थी —

'भाग्यवती' हिन्दी का पहला आधुनिक उपन्यास है। इसकी विषय वस्तु और कला—दोनों में ही नये जमान की घडकन है— उसका ख्याल आलोचकों ने नहीं किया। यह उपन्यास सन १८७७ में लिखा गया था लेकिन दस वर्ष बाद, सन १८८७ में इसका प्रकाशन हो सका। उस समय इसकी बड़ी सराहना हुई थी। प्रायः सभी प्रमुख पत्र-पत्रिकाओं ने उसकी प्रशंसा में टिप्पणियाँ लिखीं।'

विश्व पंडितजनों द्वारा इस भाँति की 'आए' न्ति की उदभावनाओं से उपन्यास-साहित्य के साधारण विद्यार्थी की क्या दशा होती होगी यह तो अनुमान ही

१ 'आलोचना' त्रमासिक (वर्ष ४ अंक १ पूर्णाङ्क १३) अक्टूबर १९५४ ई० ('उपन्यास विशेषांक') पृष्ठ ६६—पाद टिप्पणी।

२ भाग्यवती (श्री श्रद्धाराम फिल्लोरी) पृष्ठ ५७ हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, (रचनातिथि १८७७ ई०) १९६० ई० के संस्करण से।

किया जा सकता है। जब तक हिंदी उपन्यास के सम्बन्ध में, प्रारम्भिक एवं मूलभूत तथ्या के बारे में भी, हमारे विद्वान समीक्षक गम्भीरतापूर्वक तथ्य निर्धारण नहीं कर पाते, इस भांति की समीक्षात्मक अस्थिरताएँ एवं भ्रांतिपूर्ण, हमारी उपन्यास साहित्य समीक्षा की प्रगति में सदैव बाधा पहुँचाती ही रहगी।

श्री गंगाप्रसाद पाण्डेय के 'इशा' की इस औपन्यासिक कृति के सम्बन्ध में अभिमत की एक विशिष्टता तो यह है कि उन्होंने, कृति के मूलनाम 'उदमान चरित' का उल्लेख तो पहले किया है और उसके उपनाम ('रानी केतकी की कहानी') का उसके पश्चान। यद्यपि श्री पाण्डेय ने अपनी सहज आलोचनात्मक सूक्ष्मबुद्धि से 'उदमान चरित' से हिंदी उपन्यास-साहित्य का प्रारम्भ माना है फिर भी 'चरित' शब्द में निहित, उपन्यास-तत्त्व के दूसरे महत्वपूर्ण तथ्य पर भी उनका ध्यान जा पाया था अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में उनकी कृति ('आधुनिक कथा साहित्य') से कोई स्पष्ट इंगित प्राप्त नहीं होता।

यह भी स्मरण रखना चाहिये कि 'रानी केतकी की कहानी' 'इशा' की सुप्रसिद्ध औपन्यासिक कृति 'उदमान चरित' का केवल उपनाम है जो कि 'चरित' शब्द के द्वन्द्व अर्थ को स्पष्ट करने के लिये ही, रखा गया था। प्राचीन संस्कृत साहित्य में भी 'चरित' शब्द का प्रयोग उपन्यास के पर्याय रूप में किया जाता था। यथा दशकुमार चरित' 'हृष चरित' आदि। ये चरित नामधारी कथा-कृतियाँ, एक समान क्रम-स्तोरी (कथा-माला) में ग्रथित, विविध कथाओं के समुच्चय न होकर, हृष चरित, विजय चरित' आदि विशिष्ट लोकप्रसिद्ध नायकों के जीवन के विविध प्रसंगों को लेकर, रचे गये, कथा-काव्य थे। उदमान चरित, नाम भी, कथा के इसी औपन्यासिक रूप को व्यक्त करने के लिये रखा गया था।

मद्रास स्थित पंचयिप्पा कॉलेज के प्रख्यात संस्कृत पंडित श्री वे० अनन्ताचार्य ने अपनी कादम्बरी की सहायिणी का नाम 'चन्द्रापीड-चरितम्' रख कर प्रकाशित कराया है। उन्होंने उसकी प्रस्तावना में यह भी स्पष्ट किया है कि वाणमट्ट ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास का नाम मूलतः 'चन्द्रापीड चरितम्' ही रखा था। किन्तु समयान्तर में साक-कल्पना ने उसकी प्रधान नायिका, कादम्बरी के चरित्र में प्रभावित होकर, उस उसी नाम से ग्रहण किया। 'इशा' की कृति का 'उदमान चरित' के नाम का साथ भी वही इतिवृत्तात्मक ध्वनि-आत्मक व्यंग्य, घटित हुआ तथा उनकी कृति 'रानी केतकी की कहानी' के नाम से ही प्रसिद्ध हुई, क्योंकि कथा की नायिका 'रानी केतकी' है।

इस सम्बन्ध में अब यहाँ केवल इतना उल्लेख करना और आवश्यक रह जाता है कि जब भी शुक्लजी ने परीक्षागुह का हिंदी का पहला अंग्रेजी ढग का उपन्यास

१ श्री वे० अनन्ताचार्य कृत वाणमट्ट की कादम्बरी की सहायिणी — चन्द्रापीड चरितम् (प्रस्तावना भाग)।

समझा, उस समय भी उनके ध्यान में, 'ईशा' की 'रानी केतकी की कहानी' की भारतीय ढंग की वणनात्मक विशेषता थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने स्वयं कहा है -- इन विचित्रताओं के होते हुए भी 'ईशा' ने जगह-जगह, बड़ी प्यारी ठेठ घरेलू भाषा का प्रयोग किया है और वणन भी सबथा भारतीय रखे हैं।<sup>१</sup>

निश्चय ही 'उदमान चरित' या 'रानी केतकी की कहानी' हिंदी उपन्यास साहित्य की आद्य औपन्यासिक कृति है और वही हिंदी उपन्यास के प्रारम्भ की प्रतिनिधि एवं मौलिक रचना मानी जानी चाहिये।

## लेखक-अनुक्रमणिका

अ

अगस्त्य ३५४  
 अनताचाय, वे० ६२७  
 अनातोले फ्रांस १२६, १६८, २४१ ४४५  
 अनुरूपा देवी ४५६  
 अप्पा शास्त्री ३६७  
 अप्पु नेडुझाडी टी० एम० ४५३  
 अब्दुल्ला, सय्यद [सम्पादक] ३६६  
 अभिनव गुप्त १८८, १६३, १६४, १६६  
 २०१ २०३ २१०  
 अमरसिंह ६३  
 अमृतराय [सम्पादक] ५६५  
 अमृतलाल नागर ४३६, ४५०  
 अम्बिवादत्त व्यास ३५५ ३६२ ३६५,  
 ३६६, ५६३ ५६४, ६१२, ६१३  
 ६१७  
 अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध' ७  
 ३५ ४० ११८, २२४, ३०० ६०६  
 ४१२ ४२६-४२८ ४४० ४४४  
 ५३६, ५३७, ६०६  
 अय्यर वे० वी० ३२० ६८४, ४८१,  
 ५७२, ५८५  
 अरविन्द पोय १८५, १८६, १९० १९६  
 अग्निस्तातलेस (अरस्तू) १०८  
 अर्नेस्ट हेमिंग्स्व १५६ १६० १ ८  
 अन्ट वसिरेर १८५

आ

आनन्द वे० कुमारस्वामी ४ १७६,  
 १८५ २३४ २३५  
 आनन्दप्रकाश दीक्षित [अनुवादक] २०६,  
 २५४  
 आनन्दवधन २०० २०३ २१० २६५  
 ऑथर शोपिनहार १८५  
 ऑलपोर्ट जी० डब्ल्यू० ५५५  
 इ  
 आशा अल्लाह खाँ इशा ७५ ८६, ३७१  
 ३७५ ३८०, ३८२ ३६६, ४१२,  
 ४४३, ४४५, ४५३ ५४६ ५४७,  
 ५५८, ५८८ ६१२ ६१३, ६१५,  
 ६१७, ६२३ ६२५, ६२७,  
 ६२८  
 इनामदार ना० स० ४७०  
 इन्दिरा जोशी ७२  
 इन्दिरा देवी ४५६  
 इन्द्रनाथ वटोपाध्याय ३६८  
 इन्द्र नसावडा ६७६  
 इन्डियन क्वार्ट २१३  
 इलाचन्द्र जोशी ११६ ३१० ४३६  
 ४४६, ५३४  
 ई  
 ईश्वर पटलीकर ५७६  
 ईश्वरी प्रसाद (मुभी) ३६६

उ

उदयशङ्कर भट्ट ११६, १६३, २७७  
३१७, ४३६, ४३७, ४३६, ४४३

उदमट २००, २०२, २०६

उद्योतन सूरि ८३, ८४, ३५८ ३६०

उपेद्रनाथ अश्व ३०१, ३१२

उपेद्रनाथ सेन ३६७

उपादेवी मिश्रा ११८, ४२८, ४४४,

५२३ ५६६ ५६७

ऋ

ऋषीश्वरनाथ भट्ट [सम्पादक] २३२

ए

एडमण्ड बक २१६ २२३

एडवड इस्टविक [सम्पादक] ३६५

एडवड मागन फास्टर १६५, २३६ २४२

एथानी एशले कूपर (यड अल आफ  
शफटसबरी) २१७ २१८, २०३

एरिस्तोक्लीज [प्लटो] १८३ २३५

२३६

एलेक्सी भविसमाविच पीश्वोव गोर्की

१२४ ४८६

एलेक्सेडर ड्यूमा १२६

ओ

ओडमदेव बादीमसिह ३५४

क

कडाबुल मामुनिवार १७६

कहैय्यालाल माणिकलाल मुशी ४७६,

४७८ ५८२ ५८४

कल्याणराय (मुशी) ३६६

कल्याणराय शास्त्री ३६८

कल्हण ३५५

काउचमन [अनुवादक] ४८१

कातिचद्र पाण्डेय १६८ १६६

काहुचरण महाति ४८८, ४६४, ५८५

काफका ४५०

काल गुस्ताव जुङ्ग ११६, ४५०

कालिदास ३, १७ २५, २७, ३० ३१

४०, ४२, ४५ ५० ५१, ५५, ६६,

८०, १००, १०१ १६६, २०६

२५४—२६०, २६३, २६५, ३५२

४५१, ४५२ ५०७ ५०८, ५१३

५१८ ५५०, ५५६ ५८०, ५८४

कालिदीचरण पाणिग्राही ४६३, ५४२

कालिस एम० ३५२

विशोरीलाल गोस्वामी ६२ ६३, ८७

१६६, १६८, ३७३ ४१८, ४२५

४२७, ४४८ ५५० ५५८ ५६६

६०२, ६२६

कुतक ५ २०३

कुलकर्णी, वि० ह० ४६३

कुसुमावती देशपाण्डे ४६३

कृष्णगोपाल तिवारी ५५३

कृष्णमाचारियार आर० ३६८

कृष्णमाचाय के० ३६८

कृष्णमूर्ति के० २००

कृष्णमूर्ति रा० कल्कि ३२२

कृष्णराव, अ० न० ४८४ ५७३ ५८५

कृष्णलाल माहनलाल भवेरी ४७३

कृष्णलाल सरशोदे हर्ष ४६३

केम्पु नारायण ४८०

केरूर बामुदेवाचाय ४८३

केशवदास ५२

केशवप्रसाद मिश्र ३१६

कलाश प्रकाश ३७३ ६१६

कलरा रीव १४१

कवात्रिभर दे विवसी ए० सी० २१४

क्षितीश्वर प्रसाद सिंह ३२५

क्षमेद्र २०३ ३२०, ३२४, ३२५

ख

खाण्डेकर वि० स० ४७१

खुसरो (अमीर) ३८२

ग

गङ्गाधर बालकृष्ण सरदार ८६३

गङ्गाप्रसाद गुप्त ४०८, ४११, ४१२

५५८, ५८३, ६०६

गङ्गाप्रसाद पाण्डेय ६१५, ६२७

गङ्गासागर राय (सम्पादक) ३, ४

१८१ १८३, ४६७

गङ्गापाध्याय ३६८

गणपतिचन्द्र गुप्त ६१० ६११, ६१६

गणपति शास्त्री 'नायकाण्डम' ३६८

गासाँ द तासी ३८६

गुणवत्तराय आचार्य ४७६ ४७८

गुणाढ्य ८१, १२१, ३२२-३२७ ३२१,

३४१, ३४७, ३५३, ३५८ ३७०

गुरुनाथ जोशी ४८० ४८१

गुलाडी वेङ्कटराव ४५३ ४८१

गुलाबराय १०२ १०४, २०८

गोकुलदास रायधुरा ४७३ ४७६

गोडवोल ६४, ४६४

गोपाल नीलकण्ठ दाण्डेकर ८७२

गोपालराम महमरी ४२५ ४४८, ५४१

६०६, ६२६

गोपालराय ३७७ ३८७ ३८८

गोपाल शास्त्री ३६८

गोपीकृष्ण गोपेश [अनुवाक] १६१

गोपीनाथ महाती ४६३ ४६४ ५२८,

५२५

गावधनराम माधवराम त्रिपाठी ४७५

५८२

गोविंद त्रिगुणायत ७१

गोविन्दनास, सेठ ३०८

गौरीदत्त शर्मा ६४, ३६६, ४००, ५६०

६२२

गौरीशंकर गोवधन जोशी 'धूमनेतु' ४७८

च

चण्डीप्रसाद हृदयश ११८, ४२८

४२० ४४४, ५२१, ५२२ ५३६,

५४०

चतुरसेन शास्त्री १२५, १३२ १३४

१३६ ३०४ ४३६, ४४४ ४४५,

८४८ १०६ १०८, ५७०, ५७६,

५८३

चंद बरदाई ३७१ ४४५

चंदुलाल जे० व्यास ४७६

चंद्रधर शर्मा गुलेरी ५४

चाल्स डिकेस १२१ १२२, १४२ १४३

चाल्स ब्लॉ २१४ २२२

चिंतामणि गणेश मानु' ४६६

चिंतामणि विनायक बघ ३७२, ४६६

चुन्नीलाल वधमान शाह ४७६, ४७८

चोणरस ८८०

ज

जगदीश गुप्त १२६

जगदीशचंद्र घोष ८५४ ८५५

जगदीशचंद्र जन ८४, ३५८ ३६१

जगनिक ४४५

जगन्नाथ [पण्डितराज] ५ २०४ २०८

२११, २१२ २१६, २२१ २२४

४४७

जगमोहनसिंह ६४, ८०८, ४४३, ५६५

जटमल ३८२

जयंतकुमार दासगुप्ता ८७

'जयभिवस्तु' ४७८

जयरामदास गुप्त ४०८

जयशकर जोशी [सम्पादक] ६  
जयशकर 'प्रसाद' ३५ ४० ४४, ५४ ५६,  
१२५, १२७ २३१ ३०१ ३०३,  
४३३, ४३४ ४४४ ४४७, ५४१,  
५६५, ५६६

जॉन फास्टर १४३  
जान मिल्टन १८८  
जाज प्रियसन ४१२  
जार्ज विल्हम फ्रीड्रिख हीगल २१४  
जॉज सातायन २३५  
जॉज सण्ड १४६  
जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य ७४,  
२००

जूल्स वन ५१४  
जेठालाल त्रिवेदी ४७६  
जेम्स जायस ४५०  
जनेद्रकुमार ४३५ ४३६, ६५०  
जोसेफ एडीसन २१८ २१६  
जोसेफ कम्पबेल [सम्पादक] १७८  
जोहान निस्टाल्फ फ्रीड्रिख गिलर १८५,  
२१४ २३५, २३६  
जोहान वुल्फगंग वान गट १८५ २१३,  
२१४, २२१

झ

भवरचन्द मेघाणी १६४, ३२५, ४७३  
४७६, ४७७ ५८२

ट

टानी सी० एन० ३२४

त

तत्वापि शिवशङ्कर पिल्लै १६४ ५८५  
ताराशङ्कर बघोपाध्याय ४५६, ५२६  
५३०, ५३५ ५४२ ५७२  
तुलसीदास (गोस्वामी) २२१ ३७२, ५०५  
५५६

तूर्मारि ४८०

'तोप' (कवि) ६३  
त्रलोक्यनाथ मुखर्जी ४५७  
न्यम्बक देशपाण्डे २०४

थ

थामस मन १३१  
थामस हार्डी १३१ १४३-से १४७  
४६२, ५३२

द

दण्डवत ४६३  
दण्डी २५ ७५ ८० १०४, १४६  
१६३, १६६, २०६ २१०, ३२३  
३२७, ३४७ ३५४ ३७०,  
४८०, ५१३, ५६२ ५६३, ५७६,  
५७८ ५७६

दत्तो वामन पातदार ४६४  
दशरथ ओभा १०४ १०५  
दाऊजी अग्निहोत्री ३६८ ३६६, ६२३  
दिघे, २० वा० ४७१

दिदेरो २१४

देवकवि ४८०

देवकीनन्दन खत्री ३०० ४०७ ४०६  
४२५ ४२६ ४४७ ४८७ ५६८,  
६१४ ६१८ ६२३ ६२४, ६२६

देवदत्त (देव) ५२

देवराज ११६ ४३६, ५३४ ५३५  
५४४, ५७१ ५७२

देवी प्रसन्न पटनायक ४६२

देवीप्रसाद मुशी ४०८

दवीप्रसाद शर्मा उपाध्याय ४१०, ४११  
४४२, ६०३

देवद्रनाथ चट्टोपाध्याय ३६८

देवद्र मयार्या ११६, १६३, ४२६  
५४३, ५८२, ५८३

देवदत्त मूरि ८४, ८५  
 देवदास, जं० गा० [सम्पादन] ४६५  
 ४६७  
 दारदासाय माधवराय लिज्जे  
 नाथ माधव ४६६  
 दि.जे.नाथ राय ४६४  
 घ  
 धनन्तर ७१ ७२, ७९ ७०३  
 धनराज ३५४ ३५५ ४५८  
 धनराज ४७६  
 धनराज ७४, २०३  
 धनराज नाथ ६७८  
 न  
 नमः ६४, ७ ८६ ३०३  
  
 नट हैममन १२६ १३०  
 नटभार वाजपयी १८६  
 नटभार ६ १३३  
 नटभार बसु १७७ २२५ २३६ २३८  
 ५८३  
 नटभार मुननामभार ४७३ ६७४  
 नटभार १६२, २०४ २०८  
 नटभार भाई पटल ३५६  
 नटभारपारी, एम० ३६८  
 नटभारपाय ३६८  
 नटभारपाय, रा० ४७६  
 नटभारपाय मिश्र ४६०  
 नाथवमन ४८०  
 नाथवमन ६५  
 नाथ, जं० पी० [सम्पादन] ३६३  
 नारायण दामादर सावरकर ४७०  
 नारायण राव सदाशिव लिज्जे ४६४  
 नारायण शास्त्री ३६८  
 नाथन ब्राउन [सम्पादन] १७५

निगम, ग० ना० ६६४  
 निगमा देवी ६५६  
 निगमा, मन्वद [सम्पादन] ३६३  
 निगम (भाषण) ३२८ ३५६  
 निगम (बाण) ४८०  
 निगम गांधी ५५५  
 निगम वी० (रविवर) ३६२  
 प  
 पन्थर ४० म० ५८५  
 पन्थर पुष्पातन बग्गी ६०६ ६१०  
 पन्थर देवी ४५३  
 पन्थर पटल १६४ ४७६ ५२७ ५६३  
 पन्थर भर्मा ३६८  
 पन्थर निगमिन्तर वर १५७ १५६ १५८  
 ६८६  
 पन्थर ७४३  
 पन्थर बघन भर्मा उप ३१३ ६५३  
 पन्थरनाथ मूरि ३७६ ३५८  
 पीटरगा ७१ ३५९  
 पीताम्बर पन्थर ४७६  
 पीथर सी० एम० ५५६  
 पुष्प, एम० एम० ४८२, ५६३  
 पुष्प, ए० वी० ५८५  
 पुष्पातन बघन देवदास ४७०  
 पुष्प ए० एम० [सम्पादन] ३२४  
 पुष्प, ना० ४७३  
 प्यारपीट मित्र [ देवदास ठाकुर ] ४५३,  
 ४५५ ४५६  
 प्रभाकरद गुप्त २०७ २२८, ६३३  
 प्रभाकररायण टण्ण ११२ ११४  
 ११६  
 प्रभाकररायण श्रीवास्तव ४३६  
 प्रभुल राय ४६०  
 प्रभाकराचार्य मन्मथदास (अनुवादक) ५३०



'प्रेमचन्द' (धनपतराय) ६५, १२०  
 १२४ १२७, १२९, १५७,  
 १६३ १७१, ३२२, ३७५, ३९२,  
 ४१२ ४२१ ४२३ ४२७ ४३०  
 ४३१ ४३३ ४३५ ४३६  
 ४४८ ४५१ ४८९ ४९२, ४९८  
 ५३८, ५३९ ५४२, ५६४ ५८२  
 ५८४

फ

फकीरमोहन सेनापति ४८९, ४९०  
 ४९२ ५६७, ५६८, ५८४  
 फडके ना० सि० ४७०, ४७१  
 फणीश्वरनाथ 'रेणु' ११९, १६३, १६८  
 ३१०, ४३६ ४३७ ४३९ ४४०  
 ४४२, ४४३, ५७२

फिलिप बटले १४७

ब

बङ्किमचन्द्र चट्टोपाध्याय ५४ १३०  
 ३६३ ३६७ ४१९ ४५ ४५७  
 ४९२ ५७२ ५८२ ५८४

बद्रीनाथ भट्ट ४३०

बलदेवप्रसाद मिश्र ४०८

बलभद्रसिंह ४०८

बसु मेजर बी० डी० ३९७

बाणभट्ट ३४ ७९ ८१ ८९, ९१, ९२  
 १०४, १४९, १६९, ३२१, ३२७,  
 ३३५, ३३६ ३४३ ३४५ ३४८  
 ३६४, ३७० ४२९, ४४५, ४५१  
 ४५२ ४८० ४९९ ५१३, ५२६  
 ५२९ ५३१, ५४३ ५६२ ५६३  
 ५७६, ५८१, ५८२, ५८४, ६२७

बापट ६४ ४६४

बाबा पदमनजी (स्वरण्ड) ४६३ ४६४

बाबूराव जोशी (अनुवादक) ५६८

बामगाँवो २१२ २१३

बालकृष्ण भगवत बोरकर ४७२ ५६८

बालकृष्ण भट्ट ३६२ ३९९ ४०१ ४०३,

४१३ ५९२, ६०० ६१५ ६२०

६२१ ६२२

बाल गङ्गाधर तिलक १९६ १९७ ४६८

बटगेरी कृष्ण शर्मा 'आनन्द' ४८३

वत्सा २१४

ब्रजलाली त्रिभुवन २१५ २१७ २२३

२३५

बल्लोरी २१५

ब्रजलाल सहाय ११८, ४२८ ४४८

ब्रजरत्ननाथ ३७६, ३७७ ४५२, ६१५,

६१८ ६२४

ब्रूनो एक० १४८ १६५ २४२

ब्रैट, आर० एल० २१७

भ

भगवतशरण उपाध्याय २२६

भगवतीचरण वर्मा ३१५ ४३६, ४५१

५०५ ५७२

भट्टतीत २०३

भट्ट नायक २०३

भरतमुनि ७० ७२ ७४ १८० १८८

१९२ १९४, १९७ १९९ २०७

२०८

भट्ट हरि २

भवदत्त शास्त्री [टीकाकार] ३५४ ३५५

भवभूति १००, ३५४, ४१८ ५०५

भामह २ ३, ७४, ७५ १९३, १९९

२०२ २०८, २०९, ३२३

भारवि २५, ३० ३३, ५०

भुवनचन्द्र ८८

भुवनेश्वर मिश्र ४११ ४१२, ६०६

भूदेव मुखर्जी ८७, ४५६  
 भरवप्रसाद गुप्त ४३६  
 भोज २०३  
 भोलाशङ्कर यास [सम्पादक] ७१  
 म  
 मदन द्विवेदी गजपुरी ३०१, ४२०  
 ४२३ तक, ४३०, ४४८  
 ममथनाथ गुप्त [अनुवादक] ५३३  
 मम्मट २०३, ४४७  
 महादेवी वर्मा ५४, २३१  
 महिम भट्ट २०३  
 महीपतराम रूपराम रावसाहेब ८५३  
 ४७३ ४७५,  
 महेंद्र चतुर्वेदी ३६४, ६१६  
 महेंद्र भटनागर ६१५, ६२२  
 माघ २५ ३०, ३३, ३४ २२१ २४६  
 ५०६ ५१३  
 माडखीलकर ४७०, ४७१  
 माणिक वद्योपाध्याय १६४, ४५६, ४६०  
 ५४३  
 माताप्रसाद गुप्त ६१४ ६१६, ६२३,  
 मायावरम एस० वेदनायकम् पिल्ल ४५३  
 मास्ति वेङ्कटेश अय्यङ्गार 'श्रीनिवास'  
 ४८३  
 मिखाइल शोलोखोव ६३, १६० १६३  
 मिरियम एलाट १४२, १४३  
 मिश्रबन्धु ६३, ६४  
 मीर ३८२  
 मुकुटधर शर्मा [अनुवादक] ८६२  
 मुकुल भट्ट २०३  
 मुरलीधर पाण्डेय [अनुवादक] ४६२  
 मुरामाकी शिवावू १४६ १५१  
 मूलजी मनुज शास्त्री [अनुवादक] ३६५

मण्डल साठ २१३  
 मेघाव्रत ३६८  
 मैक्समूलर १६०  
 मैथिलीशरण गुप्त ४२८  
 मरी ऐन ईवास जॉज इलियट १२२  
 मोतीचन्द्र [सम्पादक] ३५०, ५६२  
 मोनियर विलियम्स १० ५५६  
 मोरोवा काहोवा ४६८  
 मोहन राकेश ११६, १६७, ४३६ ५७१  
 ५७२  
 मोहनलाल भट्ट [अनुवादक] ४७७  
 मोहनलाल मेहता 'सापान' ४७६  
 य  
 यशपाल ३०७, ४३६  
 यामिनी भान ३६६  
 युगजीत तवलपुरी [अनुवादक] ८६१  
 ४६४  
 र  
 रङ्गस्वामी एच० आर०, [सम्पादक]  
 १७५  
 रणजीत राय ४७२  
 रणवीर राया ४३७  
 रत्नचन्द्र प्लीडर ४०७  
 रमशचन्द्र दत्त ४५७ ५४० ५६१ ५८३  
 रमशचन्द्र सरकार ४५३, ४८७ ४८८  
 रवीन्द्रनाथ ठाकुर २१ ५५, ५६ १८६,  
 १८७, १६० १६१, २५३ ३३७  
 ४५७, ५३१, ५३२  
 राखालदाम वद्योपाध्याय १०१, १३०  
 ४५७ ४५८, ५७६, ५८३  
 राघवन वे० ३६७ ३६८ ३६६  
 राज्ञेय राघव ३०७ ३११, ४३६  
 ६५० ५८३  
 राजगोपाल शास्त्री, ग० ३६७

राजवली पाण्ड्य १६१, १६० ०१०  
२२५, २०६

राजगेर ३, १८० १८३ ००३  
२०६ २१० ०३२ २३० ०३७  
००८ २६५ ०६६, ६६६ ५००  
५११, ५१० ५१५ ५१८ ५०१  
५८६

राजद्र शिवजी [गम्पाण्ड] ०३१  
राजद्रमोहन नाम [गम्पाण्ड] ८७  
राजद्र शर्मा ११५, ६०० ६०१  
राधाकृष्णनाथ ३६६ ४०६ ४०१  
५६०

राधाकरण गाम्बामी ६०७ ६०८ ६११  
राधिकात्मन प्रमाण मि ५७०  
राम अवध द्विपदी १०६ सा १०८ तर  
११० १११ ६४६ ४६७ ६५०

रामकुमार वर्मा २३१  
रामकृष्ण राय ४८७  
रामचन्द्र आचार्य ४६२  
रामचन्द्र भीमजी गुञ्जारा ४६६  
४६७, ६६८

रामचन्द्र वमा [गम्पाण्ड] ७७ २२८  
रामचन्द्र शुक्ल [आचार्य] ६३ ६८  
१०२ २२४, २६३, २६४  
३६६, ४०३ ६०८, ४०६, ४५२  
५५२ ५५३, ५६० ५६२ ६११  
६१३ ६१७ ६२२ ६२४ ६२७  
६२८

रामचन्द्र शुकन [चित्रकलाविद्] २४३  
२४७

रामदरश मिश्र ३१४ ३१५  
रामदास गौड ३८२  
रामदास वर्मा ६०५  
राममूर्ति, आर० ३६८

रामगन मटागर २६४  
रामविनायक शर्मा ४०८, ६१४, ६१६,  
६२० ६०१ ६०४

रामस्वामी शास्त्री व० एम० १७७  
१८१ १८६  
राहुल माधुसूदन ११८ १२५, १३०  
१३४ १३६, ३०४ ३०५, ४३९  
१०७ ५१३ ५४१ ५४० ५७६

राट्ट ००० ६४७

रघुश्या ३६८

राम्या रोनी १७६

स

सहज माधुकर शास्त्री हज्ज ४५३  
६०० ४६७

समीगागर वाल्मीय ३८७ ३६२,  
३६५ ५६० ६११ ६१० ६१४  
६२३

सज्जारा शमा महता ०६६ ४१६  
४१८ ६२६

सल्लूजीवान ३७५ ३७७, ३८१, ३८३  
३८८ ३६० ३८१ ३६५  
३६२, ३६८ ३६६ १८६ ५६०  
६२३

सायमन (अनुवाण्ड) ३५८ ३५६  
साि निरालायाविच तास्ताय १२१  
१२२, २३६

सीलायर गुप्त २५१, २५२  
लङ्का, व० २३५

व

वराहमिहिर ५०५  
वर्गीनिया घूफ १६७, ४५०  
वर्नोन ली २३५  
वास्तवति गरोला ३५५, ३५६

वाचस्पति मिश्र १६५  
 वामन २००, २०२  
 वामन भट्ट 'बाण' ३५४  
 वामन मल्हार जाशी ४७०  
 वामन शिवराम आष्टे ५५६  
 वाल्टर स्काट १२६ १३१, १४२ ७७४  
 वाल्मीकि १४ १५ १७ १८ २४  
 २७, ३४, ६० ६६ ५१ १००  
 २६५ ३२४ ३५२, ४५१ ५०५  
 ५५३  
 वामुदेवशरण अयवाल ६१ ६२, ३३७  
 ३३६, ३४१ ३४२ ५२७ ५२६  
 ५३१, ५६३ ५८२  
 विकटर वजिन २१४, २२२  
 विकटर ह्यूगा १२१ १२२ १२६ १३१  
 १४६  
 विक्रमलमन २१३  
 विजयशङ्कर मल्ल ४०३ ६२६  
 विठ्ठल वामन हृष्य ४६६  
 विधुशंकर ३६८  
 विनायक दामोदर मावरकर ३६७  
 विटरनिज, एम० ३४७  
 विभावरी शिखरकर ४७१  
 विभूतिभूषण वसोपाध्याय १६८ १७१  
 ३२२ ४१६ ४६८ ५३०, ५३३  
 विमल मिश्र ४६१ ४६०, ५६६ ५७०  
 विलियम ब्लेक १८५  
 विलियम नाट [अनुवादक] १६०  
 विलियम वडम्व ४४७  
 विवलकर ७७१  
 विश्वनाथ (आचार्य) ६ ७८ ७६ ८०  
 २०४, २६२, ४६६  
 विश्वनाथ गौड [सम्पादक] १४ १५

विश्वनाथप्रसाद मिश्र [सम्पादक] ६८,  
 ५५२  
 विष्णु शास्त्री त्रिपलूणकर ४६३ ४६६  
 वीरशालिङ्गम ४५३  
 वूल्फ, ए० ११  
 वदावनलाल वर्मा १०१, १२५ १२७  
 १३१ १३६ १६३ १६६,  
 २१८ २२३ २५०, २५६ २७५  
 २७७ २८२ २८८, २६४ २६६,  
 ३२२ ४३० ४३१ ६३५ ४४८,  
 ४४६, ४६१, ४६२ ५०७ ५७२,  
 ५७६ ५८२ ५८४  
 वेङ्कटेश तिरको कुतकर्णी गळगनाथ  
 ६८० ४८२  
 वदयास १७ ७८ ३२४ ४५१  
 वलेट २१५ २२३  
 वद्यनाथ पाण्डे नागाजुन १६३, ४३६,  
 ५८२  
 श  
 शङ्करदत्त शास्त्री [अनुवादक] ३२८  
 ३३३  
 शङ्कराचार्य १७४ १७६, २०५  
 शम्भूनाथ मिश्र [सम्पादक] ३६६, ६१४,  
 ८१६ ६२०  
 शरतचंद्र चन्टोपाध्याय २८० ३८१  
 ६५८ ४५६ ४७८ ५७२, ५८४  
 शशिभूषण मिहल १०८, १३० १०१  
 शान्तिदाम मिश्र ३६६  
 शिवनाथ शास्त्री ४५७  
 शिवनारायण श्रीवास्तव १०५ १०६,  
 ४२६ ६१० ६११, ६१३, ६२५  
 शिवपूजनसहाय ६२४ ४२५  
 शिवप्रसाद मिश्र एड नाशिकेय ३०६  
 ४३६

शिवप्रसाद 'सितारेहिन्द' ३६२ २७६  
 शिवराम कारन्त ४८१, ४८६ ५२३  
 ५२४, ५४३, ५८४  
 शिवशङ्कर शुक्ल ४७६  
 शीलाचाम ३६१  
 शुभकार कपूर १३६  
 शैतानियान १८८ २८२  
 शलजानन्द मुन्गोपाध्याय ४१६  
 श्यामलान श्यामल २६६  
 श्यामसुन्दरदास ६४ ६७ ११४ ११६  
 १२७ १७० २०८  
 श्रद्धाराम फिन्नीरी ३६६ ४०३ ५६२  
 ६११ ६१५ ६१६, ६२१ ६२२  
 ६२६  
 श्रीकृष्णलाल ८०६ ५६५ ६११ ६१८  
 ६१८ ६२१ ६२२ ६२३  
 श्रीधर पाठक २४६ ४२२  
 श्रीधर 'यकटश क्तकर' ८६ ४७०  
 श्रीनिवास अग्र्यङ्गर के० आर० २००  
 २०१  
 श्रीनिवासदास (लाला) ६३ ६४ ३६८  
 ३६६ ४०६ ५६८ ६१३ ६१६,  
 ६१६ ६२० ६२२, ६२५  
 श्रीशचन्द्र मजूमदार ४५७  
 श्रीहृष ३२ ३४, ५५२, ५५३  
 स  
 सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन अज्ञेय  
 ११८ ३०३ ३०८, ३०६ ४३६  
 ४४६  
 सदन मिश्र ३७५ ३७७ ३८५ ३८८  
 ३६० ३६६ ५८६  
 सदानन्द मिश्र [सम्पादक] ८७, ३६६  
 ६१४, ६१६, ६२०  
 सन्तानुलाल नियाज (मुशी) ३८२

समरेश वसु १६४, ४३७, ४६०, ४६१  
 सरस्वती पाणिग्राही [अनुवादिका] ४६३  
 सयट ४६३  
 मविता वच्चापाध्याय [अनुवादिका]  
 ४६०  
 सिगमण्ड फ्रायड ११६ १२८, ४५०  
 सिद्धादि ८१ ३५३ ३५४  
 सिंघ हो १८५  
 सीताराम चतुर्वेदी [सम्पादन] १६  
 सुकुमार सन ८७ ८८ ४५६  
 सुन्दरलाल (पंडित) ३६७  
 सुन्दरु १४६ ३२७ ३३३ ३३५ ३३६  
 ३४१ ३४७ ३५५ ३७० ४२६  
 ८८० ५१३ ५२० ५२२, ५२४  
 ५४६ ५४७  
 सुन्दाराव ए० एम० ४८४  
 सुन्दाराव न० रा० ४८३  
 सुमित्रानन्दन पंत ३५ ४० ४४ ५०,  
 ६४ ६५ १०२  
 सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त २०५ २०६, २०८  
 २११ २५४ २६१ २६२  
 सुरेन्द्रपाल सिंह [अनुवादक] ५३०  
 सूरदास ३७२  
 सूयकांत त्रिपाठी निराला ४५ ३०२  
 ४४४, ५७० ५७१  
 सम्युअल जानसन ४६३  
 सोडल्ल ३५४  
 सोमदेव ३२४ ३२५  
 सोमरसेट माम ३१८  
 सौदा ३८२  
 स्टीनबेक ४५०  
 स्टीफेन उलमन १८८ १४६, २४२  
 २४३  
 स्टीफेन स्पेणर १४२

ह

हसकुमार निवारी [अनुवादक] ४६१  
 ४६२  
 हजारीप्रसाद द्विवेदी ३, ५, १७ १८,  
 ५४, ६०, ८३, ९६ ९७, १०१  
 १३४ १६३, १६६, २३८ २४७  
 २५८ २६० २७६, ३०६ ३१८  
 ३२०, ३२२ ३२३ ३२६ ३३६  
 ३३७, ३५८ ३७१ ३७२ ४२८  
 ४३८ ४४१, ४४२ ४४६ ४४७  
 ५४३ ५४७ ५५० ५५१ ५५५  
 ५५८, ५६८ ५६९ ५७६ ५८०  
 तक ५८२ ५८३ ६११  
 हनुवतसिंह रघुवशी ६०३  
 हर्प्रसाद शास्त्री महामहोपाध्याय ७१  
 ३१८ ४५७  
 हरबट जाज वेल्स ५१८  
 हरमन जेवोनी ५०, ८२ ८७  
 हरमन लोजे २१८  
 हरिदास, मिद्धात बाराण ३६७  
 हरि नारायण आपट ४६७ ४६९ ६७१  
 ५०७ ५८३, ५८६  
 हरिभद्र सूरि ८२ ८४

हरिश्चन्द्र 'भारत'दु ३६३ ३६६, ४०१,  
 ४११, ४१४, ५५८ ५६१ ६११  
 ६१२ ८१४ ६१६ ६१८ ६२१,  
 ६२३  
 हरकृष्ण मेहताच ८८८  
 हडर २३५  
 हसन निजामी ग्वाजा ३६७  
 हाराणचंद्र राहा ४५७  
 हान ३२६  
 हिप्पालाइट टन २१८, २२२  
 हिमाशु श्रीवास्तव ३१३, ३१४  
 हिग्णमय ४८० ६८५  
 हिरियाना एम० १६५  
 हितिसद १८४  
 हीगरिख जिमर १७८  
 हुडिकवि वी० जा० ४८३  
 हूपीवेश भट्टाचाय ३५५  
 हेनरी फील्डिंग १३७ १४१ १६५  
 हनरी तुड वगसन १३१  
 हमचंद्र ३५८  
 हमचंद्र सूरि ८५  
 हैरल्ड आस्वान २१० २१३  
 हामरम (हामर) १८४ २१५

## ग्रन्थ-अनुक्रमणिका

अ				अमर कोष ६३, ८१ ६० ३३५
अधर वन् वमर ११६	१६७	५७१		अमृत और विष ४५०
१७२				अमृतर सत्तान ८६५ ८६४ ५२४
अग्निपुराण ७८ ७६				५२५
अङ्गुरोय विनिमय ४५६				अरण्य बाला ४२८, ४४८
अजन्ता ३६६				अर्वाचीन मराठी गद्याची पूर्व-पीठिका ४६३
अजय की डायरी ११६, १३४	१३५			अर्वाचीन मराठी साहित्य ४६३
१४४ ५७१				अलका ४४६
अण्डर द ग्रीनवुड ट्रा १४५				अवदान-कल्पलता ३२०
अतिरूप ३६८				अवदान शतक ३२०
अथर्ववेद महिता ३१८				अवतीनाय ४७६
अधखिना फूल ३०० ८७७	४४३			अवनोक ७४, २०३
१३६ ५३७				अशांति-पत्र ४८३
अनन्तर ४३५				असीम ४५८
अनामस्वामी ८३१				अहिल्याबाई १३० १८३
अतिम आकाशा १२३				आ
अन्नपूणार मन्दि ४५६				आचाय चतुरसरे का कथा साहित्य १३६
अप्सरा ४४४				आज का भारतीय साहित्य ३६७
अभिधान शानुत्तल ५५ ५६ ६६				आज का हिन्दी साहित्य २२७ २२८
२०६ २१३ २५६ २५८ ५५०				४३३
५१६				आजक या वमयोग ४७१
अभिधान वस्तिमात्रिका २०३				आदश दम्पति २६६ ४१७
अभिनव दशकुमार चरित ४८०				आदश हिन्दू ४१७
अभिनव भारती १८८, १६३	२०२			आधुनिक कथा साहित्य ६१५
२०३				आधुनिक कवि—मुमित्रानन्दन पत्र ४७
जभेदी ८५६				आधुनिक सस्कृत हिन्दी कोष २३१, २३७

आधुनिक हिंदी साहित्य ६११, ६१२,  
६१४

आधुनिक हिंदी साहित्य का विकास ६१४  
६२१,

आधुनिक हिंदी साहित्य की भूमिका  
३८७, ३९२, ५९०

ऑन आट २२५ २३७ २३८

आनंद मठ ३६३, ४१९ ४५६

आम्ही भागीरथाचे पुत्र ४७२

आर्तोमोनोवज ४८६

आन मेन जार प्रदस १५२ १५६

आलालेर घरर दुलाल ४१३ ४५५  
४५६ ४६५

इ

इशा, उनका काव्य तथा रानी केतकी  
की कहानी ३७६ ३७७

इङ्गलण्ड एण्ड इण्डिया ३९२

इतिनेसारे र पारी ए जेरुसलम १४८  
२४२

इन्दिरा ४५३ ४८१

इन्दुमती ८२ ३०८

इरावती १२७ ३०३ ४२३ ५४१,  
५६६

इलिअद १८४

इस्तुआर द ला लितग्योर गन्दुइ एदु  
स्तानी ३८६

ई

ईश उपनिषद ३१८

उ

उत्तर रामचरित ५०५

उदयभान चरित अथवा रानी केतकी की  
कहानी ७५ ८६, १६९ ३७१  
३७५ ३८० ३८२ ३८७  
३९९, ४१२ ४४३, ४४५, ४५३

४६५ ५४६ ५४७, ५५५, ५८८

६११ ६१३ ६१५, ६१७ ६२३

६२५ ६२७, ६२८

उदय रात्रि ४८४

उदयशङ्कर भट्ट—यक्ति और साहित्यकार  
४३८

उदय सुंदरी-कथा ३५४

उदासी ४८७

उमयी विलवकम १८०

उपयासकार, वृन्दावनलाल वर्मा १३१

उपमिति भाव प्रपञ्चकथा ८५ ३५३  
३५४

उमा सहस्र ३६८

उल्का ४७१

उपकाल ४६८ ५८३

ऊ

ऊजड गाँव ४२२

ऋ

ऋग्वेद ५०२, ५०४

ऋग्वेद संहिता ३१८

ऋतु वणन राममुच्य १४ १५

ए

एक कहानी कुछ आप बीती, कुछ जग-  
बीती ३९९, ४०१ ५५८ ५९१

एकल वीर ४७८

एफ्रास द ग्विर एण्ड इण्टु द ट्रीज १५९

ए थ्रिटिवल स्टडी आफ द लाइफ एण्ड  
नविल्म ऑफ ब्रिड्जमचंद्र ८७

एनमाइवलोपीडिया ब्रिटेनिका ११ ९०,  
२३५ २३६

ए पेथर आफ ब्ल्यू आइज १४५

ए फिर्नामाफिकल गन्ववाइरी इण्टु द  
ओरिजिन आफ अवर आइरियाज



आफ द मब्लादम एण्ड द व्यूटीफुन  
२१६

एरजीशन ड मनशेन २३६

एलगार ६७१

एसेशल्स आफ साइटिफिक मेथड ११

एस्थेटिक २१५ २१७

ए हिस्टरी आफ इण्डियन लिटरेचर ३४७

ए हिस्टरी आफ बेंगाली लिटरेचर ८७

ऐ

एत्तरय उपनिषद ३१८

ऐतिहासिक उपयास ८७ ४१६

ऐतिहासिक नवयास ८८

ओ

ओद्युसइया (आडीसी) १८४

ओल्डमैन एण्ड द सी १५६ १६० १६८

औ

औचित्य विचार चर्चा २०३

औरगजेव ४८३

क

कङ्काल १२७ ३०१ ४३३ ५४१

५६५

कङ्कावती ४१७

कचनार ४३२

कठ उपनिषद ३१८

कथा वही उवशी १ ५८३

कथा सरित सागर १५१ ३२३, ५२४

कनकलता ३६८

कनड कवि चरित ४७६

कपाल कुण्डला ४५६ ५७२, ५८३

कव तक पुकारें ? ३११

कमलाकातेर दपतर ५४

कमला कुमारी ३६८

कम्पेरिटिव एस्थेटिक्स १६८, १६६, २०२

कम्बनीय कुइलु ४८३

करणधेलो ४७३, ४७४

कम्पणा १०१ ४५८, ५८३

कमभूमि ६१४ ६१६

कमयोगी राजेश्वर ४७६

कला और आधुनिक प्रवृत्तियाँ २४३

कल्याणी ३०१

कवि ४५६, ५३५ ५७२

कवि कल्पलता ८

का ४६४ ५८५

कादम्बरी ६३ ८१ ८६ ६१ १०४

१४६ १६६ ३२१ ३३६, ३४०

३६२ ३६४ ३४६ ४८० ४६६

५२६, ५६२ ५६३ ५८१ ५८७

६२७

कादम्बरी—एक सांस्कृतिक अध्ययन ६२

५८२

कादम्बरी की गाण्ड ४६३

कामशास्त्र २३१

कामायनी ३५ ४० ४४

कायाकल्प १७१ ३२२ ४१४, ४१६

४२० ४२६ ४६८ ५३६ ५८२

काल चक्र ६१२

काला पहाड ४६२

कालिदास की लालित्य योजना ३ ५

१८, २४७ २५४ २५५ २५८

कालिदास प्रायावली १६ २० २२ २४

कालिन्ती ५०६ ५३०

काय कला तथा अय निबन्ध १२५,

१२६

काय के रूप १०२, १०३

काव्य-कौतुक २०३

काय प्रकाण २०३ ६४७

काय मीमासा ४ १८० १८३ २०३,

२०६, २१०, २३०, २३२, २६५,

२६६, ४६६ ४६७, ४६६ ५०१  
 ५१६, ५२०  
 काव्यादश ७५, १६६, २०२, ३१३  
 काव्यानुशासन ८५  
 काव्यानुशासन ३ ७४, ७५ १६६, २०८  
 २३०  
 काव्यालङ्कार-सूत्रवृत्ति २००  
 किराताजुनीय ३० ३२  
 विशना ४१६, ४१७  
 किस्सा मृगावती ३६६  
 कीचड और कमल २१८  
 कीर्तिलता ५०  
 कीर्तिसेन ३६८  
 कवरसिंह सनापति ४११ ४१२ ५५८,  
 १८३, ६०६  
 कुछ विचार १२० १२३  
 कुडियर वसु ४८६  
 कुन्दमाला ३६७  
 कुन्दलता ४५३  
 कुमार सम्भव २१ २३ ४० ४२ ४५,  
 १६६, २६० ५०७ १०८  
 कुमुदिनी ४८१, ६८२  
 कुमुदिनी चन्द्र ३६८  
 कुवलयमाला ८३ ८६ ३५८, ३६०  
 कुसुमकुमारी वा स्वर्गीय कुसुम ५५८  
 ५६६  
 कुसुमावली ४८०  
 कृष्ण चरित ३५४  
 कृष्णावनार (वशी की धुन) ४७६, ५८०  
 क्रेटर्नाग आफ गस्तूत मेनम्क्रिष्टम २५०  
 कन उपनिषद् ३१८  
 केरनागिहम ५८१  
 कीरी न्यि विन साम ४६०  
 कीरीतरी उपनिषद् २१८

कोहवर की शत ३१६  
 कौञ्च-वध ४७१  
 ग  
 गङ्गा १६४ ४३७ ४६०, ६६१  
 गङ्गासहरी २०५  
 गड आला पण मिह गला ४६८  
 गद्य-वाच्य भीमासा २१२ ६१३ ६१७  
 गद्य चिन्तामणि ३५४  
 गवन ४१८  
 गाथा सप्तशती [गाहा सप्तसई] २१८  
 गारम्बीचा वापू ४७१  
 गिरती नीवारें ३०५  
 गीता रहस्य अथवा कमयोग शास्त्र १६६  
 १६७  
 गुजरात नो नाथ ४७८ ५८०  
 गुड अथ १५७ १६६ १६८ ४८६  
 गुप्त बरी ३६६ ४०१  
 गुजरेश्वर ४७८  
 गेञ्जी मोनोगातारा [गेञ्जी की कहानी]  
 १४६ १५१  
 गोदान ६५, १५७, १६३ १६८ ४१४  
 ६१६ ४०१ ५३८ ५४० ५७०  
 गारा ६५७  
 गौड-वध २५४  
 गौरीचन्द्र २६८  
 ग्रहराज ४७२  
 ग्राम-देवता ४५६  
 घ  
 घरक घटना ६११  
 घागीराम मोनवाल ४६८  
 घ  
 गउपन मन्त्रपुरि गत्रि ३६१  
 चतुरङ्ग ४५७

चदनवाडी ४७१  
 चद हसीना क रातून ४५१  
 चद्रकला ६०३  
 चद्रकाता ८२, ४०७, ४०६ ४४७,  
 ४४८, ४८७ ५५८, ५६८, ६११,  
 ६१४ ६१८, ६१६ ६२३  
 चद्रकाता-सातति ८२ १६६ ६१०  
 चद्रगुप्त ५६  
 चद्र प्रभा ३६८  
 चद्रापीठ चरितम ६२७  
 चाणक्य आणि चद्रगुप्त ४६८ ५०७  
 ५८०  
 चान चद्रसख १०१, १३४, १६३ १६६,  
 २५६ २७६, २२२ ३५८, ४२८  
 ४३६, ४४१ ४४२ ४४५, ५४३,  
 ५४७, ५४८, ५५० ५५२  
 ५५७ ५६६ १६८ १७७ १७८  
 ५८०  
 चित्रकला का रसास्वादन २४३-  
 २४७  
 चित्रलेखा ५७२  
 चित्राङ्गदा ५६  
 चित्रावदान ३२०  
 चेल्ल वसव-नायक ४८३  
 चेम्मीन १६४ ५८५  
 चौखेर वाली ४५७  
 चौमन दुडी ४८६  
 चौरासी वणवो की वार्ता ३८२  
 छ  
 छ माण आठ गुण्ट ४८६, ४६१  
 छादाय उपनिषद ३१८  
 ज  
 जय योधय ३०४ ३०५ ५४१, ५४०

जय सोमनाथ ४७६  
 जहाज का पछी ११६, ३१०  
 जागता रहेजा ४७६  
 जादूगर ४७०  
 जादूगरनी मनोरमा ६०६  
 जीवन की मुस्कान ११८ ४२८, ४४४,  
 ५२३, ५६६, ५६७  
 जुड द ऑप्सक्योर १४५  
 झ  
 झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ३२२ ४२२  
 भेप ४७०  
 ट  
 टाइम मैशीन ५१४  
 टूटे कांटे २७७, ४३०, ५८०  
 टेस आफ द डबरविने १४५  
 ट्रासफार्मेशन ऑफ नचर इन आट २३४  
 ठ  
 ठठ हिंदी का ठाठ ४१२ ४२७ ४४३,  
 ६०६  
 त  
 तपस्विनी ६७६  
 तरंगलोला ३५८ २५६  
 तरंगवई कहा (तरङ्गवती कथा) ३२६  
 ३५८ ३५६  
 तरुण राजपूत सरदार ४६६  
 ताया २४१  
 तितली १०७, ३०२, ४३३ ४३४  
 ४४४, ५४१, ५६५, ५६६  
 तिस्वतावरार पुराणम १७६  
 तिलक मजरी ३५४ ३५५  
 तत्तरीय उपनिषद ३१८  
 थ  
 थियरी आफ न्यूटी २१२, २१३

द

३४७ ३५४, ४८०, ५६२, ५७८  
५७६, ६२७

द आस्पेक्ट्स आफ द नॉवेल २३६  
२४१ तक

दशरूपक ७१, ७२, ७६, २०३

द सन आल्सो राइजेज १५६

द इन्डिगो रीजनल नावेल १४७

द सिग्निफिकेन्स ऑफ इण्डियन जाट  
१८५

द इण्डियन कॉन्सेप्ट ऑफ द व्यूटीफुल  
१८६

द से टर ऑफ इण्डियन कल्चर १६१

द एसेशल्स ऑफ इण्डियन फिलासाफी  
१६५

द हिस्टरी ऑफ टॉमजोम ए फाउण्डेन्टिङ्ग  
१३७१ ४०

द ओशन आफ स्टोरी ३२४

दानी दिनेश ३६६

दग्निष्ठा ८०२

दिल्ली के लाल दिन ३६७

द जियोग्राफिकल टेटा आफ रघुवश एण्ड  
दशकुमार चरित ३५२

दिव्या ३०७

द ट्रांसफार्मेशन ऑफ नेचर इन जाट ४

दुर्गावती २१८, ४३५

द टास आफ शिव १७६ १८०

दुर्गेशनन्ती ४५७ ५७२

द थड अत आफ शैफेस्वरी २१७

दुर्वीर रम ४६६

द नॉमिनिस्ट्स ऑन द नॉवेल १४२ १४३

देवनास ५७२

द फिलासाफी आफ द व्यूटीफुल १६०

देवयान १७१ ३२२ ४५६ ८६८

द फिलासाफी आफ द मिम्ब्रालिक फाम्म  
१८५

देवरानी जिठानी की कहानी ६८ ३६६-  
४०१, ५६०, ६२२

द मयर ऑफ वस्टरन्रिज १४५

देवी चौधरानी ४५६ ५८२

द राइज आफ किश्चियन पॉवर इन  
इण्डिया ३६७

दश त्रिवान ८७६

द राइज एण्ड ग्राय आफ हिन्दी जरन  
निज्म [१८२७ १६४५ ई०] ३६४

देहाती दुनिया ४२४, ४०५

द राजस एज ३१८

द्विराश्वमध याजि ३६६

द रिटम आफ द नटिव १४५  
१४७

घ

दरियाताल ४७६

घरती नु अवतार ४७६

द लाइफ आफ चाम त्रिनेस १४०

घरती नो खोले ४७६

द वार आफ इण्डियन स ३६७

घमपाल ४५८

द वार आफ द वॉरस ५१४

घात-देवता १६४, ४५६ ५४२

द बुद्धनम्म १४५

घोरे वऱ दोन र ६३, १६०  
१६२

दशकुमार चरित ६३, ७५, १०४, ३२७,

घ्वयालो २०० २०३ २१०,  
२६५

घ्वयालोक एण्ड वियरी आफ सजेसान  
२०१

न

नगाधिराज ४७६  
 नट सावभौम ४८४  
 नदी के द्वीप ३०८ ३०९  
 नदी फिर वह चली ३१३ ३१४  
 नया साहित्य नव प्रश्न १८९  
 नर केसरी ४७८  
 नरगुद बण्टाय ४८३  
 नल चम्पू ४८०  
 नल चरितामृत ३९९  
 नल प्रसङ्ग ३८७, ४८८ ३९८ ४००  
 ६२२, ६२३  
 नव्यास-कल्पलता ४०८  
 नाट्य शास्त्र ७१ ७२, १८० १८८,  
 १९३, १९४ १९७, १९८, २३०  
 नाट्याम द पारी १४९  
 नासिकतापाय्यान या चन्द्रावती की कथा  
 ८२ ३७५, ३७७ ३८५ ३९९,  
 ४९९ ५८९  
 निव न माला ८६६  
 निमला ४१८  
 निस्सहाय हिन्दू ४०४, ५९३  
 नूतन चरित्र ४०७  
 नूतन बांगला अभिधान ८८  
 नूता ब्रह्मचारी ३९९, ४०१ ४०३  
 ५९२ ६२१, ६२२  
 नपतुङ्ग ४८३  
 नपव चरित ३२, ३३, ५५२, ५५३  
 नौका हूवी ४१७

प

पउम चरिज [पञ्च चरित] ३६१  
 पञ्चभूत १८७  
 पत्थर अल पत्थर ३१२  
 पत्थर-युग के दो बुत ५८३

पथेर दावी ४५९  
 पथर पाञ्चाली ८५९, ५३०  
 ५३४  
 पथ पुराण ३८७  
 पथ माली ४५३, ४८६ ४८८  
 पथानदीर मभि १६४, ४५९, ४६०,  
 ५४३  
 पथावत ५२  
 परती परिकथा ११९ १६३, १६८,  
 ४३७ ४४० ४४१ ५४२, ५४३,  
 ५७२  
 परिणय ३६९  
 परीक्षा गुह ६३ ६४, ६६, ३९८ ३९९,  
 ४०५ ४०७ ५९४, ६१३ ६२२,  
 ६२४ ६२७  
 पर्मेनलिट्टी गप्पीयेरेस एण् स्पीच ५५६  
 पर्सेनलिट्टी—ए साइकोलाजिकल इण्टर  
 प्रिटेसन ५५५  
 पल्लि छत्रि ३६७  
 पवना काँठा चा घाडी ४७२  
 पाटणनी प्रभुता ४७८  
 पाटण नो उद्धार ४७६  
 पानी के प्राचीर ३१४ ३१५  
 पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धांत  
 २५२  
 पापाण कथा ४५८ ५७, ५८३  
 पिकविक पेपम १२२  
 पिया ४४४, ५२३  
 पीरम नो बादशाह ४७६  
 पुत्तुल नाचेर वृत्तिका ४५९ ५३०  
 पुननवा २५९ ४२८, ४३६ ५५५, ५६८  
 ५७९, ५८०

पूण प्रकाश और चन्द्रप्रभा ६११, ६१२,  
६१४ ६२१, ६२३

पूर्णा ३६८

पूर्वा पावती ४६०

पृथ्वी-वल्लभ ४७६

पैरेडाइस लास्ट १८४

प्रणयिनी-परिणय ६२, ३७३

प्रताप मुदालियर-चरितम ४५३

प्रबन्ध मञ्जरी ३५५

प्रभावनी चरित ३५८

प्रभावती ३०२, ४४४, ५७०, ५७१

प्रश्न-उपनिषद ३१८

प्राकृत साहित्य का इतिहास ८४ ३५८,  
३५९

प्राचीन काव्य २१

प्रिय प्रवास ७ ३५ ४०

प्रेमचन्द-पूर्व हिन्दी उपयाम ३७३  
६१६

प्रेमचन्द-स्मृति ५६५

प्रममागर ३७५ ३७७, ३८३, ३८५  
३९९ ५८९

प्रेमा ३७५, ४१२, ४१५ ४१९

५३८

प्रेमाश्रम ४१८, ४१९ ४२१, ५८२

प्रोफेस आफ रोमास १४१

फ

फणामेटल प्रिमिपल्म् ऑफ इण्डियन  
आट २०८

फागुन के दिन चार ३१३

फार फॉम द मडिङ्ग ब्राउड १४४,  
१४५

फॉर हूम द वेल् टाम १५९

फेडुम १८३

फोट विलियम कालिज ३६५

फलड आफ ब्यूटी १७५

ब

बङ्ग विजेता ४५७

बङ्गवीर प्रतापादित्य ३६८

बङ्गीय शान्-कोप ८८

बलचनमा ५४२

बलवत्त भूमिहार ४११ ४१२ ६०६

बळी ४७१

बहनी गङ्गा ३०९

बहुरानीर हाट ४५७

बागला भाषार अभिधान ८७

बांगला साहित्ये इतिहास ८८

बाइबिल १८४

बाईसवी सदी ५१३

बाणभट्ट की आत्मकथा १०१ २५८,

२५९ ३०६ ३३६ ४२८, ४३६

४४१ ५४३ ५६८ ५६९ ५८३

बाल विषया ४०८

बिन्दोर छेने ३८०, ३८१

बहतकथा ८१ १२५, १२६ ३२३-

३२७, ३३१ ३४१, ३४७ ३५३ ३५८

बहतकथा मञ्जरी ३२३ ३२८

बहतकथा श्लोक-संग्रह ३२३

बहत-सहिता ५०५

बहदारप्यव उपनिषद ३१८

बेङ्गाली लिटरेचर ४५४, ४५५

बेन भूपाल चरित ३५४

बेनेर मेय ४५७

बलि त्रिमन रामणी री ५२

बरनी बमुलान ४७९

बहापुत्र ११९ १६३ ५४३ ५८२

बहापुत्र पुराण १७६

ब्राह्मण-कथा ४७०

ब्रीफे उंबर डे एस्वटिसे २३६

भ

भगवान कौटिल्य ५८३

भगवान परशुराम ४७६

भद्र कल्पावदान ३२०

भागवत ६

भाग्यवती ३६६, ४०३ ५६२, ६११

६१५, ६१६, ६२१ ६२२ ६२६

भारत का इतिहास ३२५

भारत मे अंग्रेजी राज ३६७

भारतीय चित्रकला पद्धति २६१ २६२

भारतीय ज्योतिष ५५५

भारतीय साहित्य शास्त्र १८८, २०४

भारतेन्दु ग्रन्थावली ४०१ ५६१

भारतेन्दु युग ६१४, ६१६, ६२० ६२१

६२४

भावीण [देवदामी] ४७२ ५६८

भुवन कोश ५०५

भूतनाथ ३००

म

मकरदिका ३६७

मङ्गल प्रभात ११८, ४२८, ४२६ ४३०,

४४४ ५२२, ५३६, ५४०

मङ्गल-सून ४१६, ४३३, ४८४, ५६४

५६५

मञ्जुघोषा ४६४

मनुस्मृति २८

मनोरमा ४२६

मनाहर उपन्यास ८७ ३६६ ६१४,

६१६ ६२३

मन्तरवती २६८

मधुसूत ४५८

मरणाची सग्न ४७०

मरलि मण्णिगे ४८६, ५४३

मराठी कादम्बरी—तत्र आणि त्रिशास

६४, ४६४

मराठी कादम्बरी—पहिले शतक ४६३

मराठी साहित्य का इतिहास ४६३

मराठी साहित्य समालोचन ४६३

मलेला जीव १६४, ४७६, ५४३

महाभारत ३० ३२४

महाराष्ट्र जीवन प्रभात ४५७ ५८३

महाराष्ट्रीय तानकोश ८६

महावस्तु अवदान ३२०

महीपाल दव ४७६

माइलस्टोस इन गुजराती लिटरेचर ४७३

माटीर माणिस ४६३ ५४२

माडिडु उण्णो महाराय ४८२ ५४३,

५८५

माण्ण्य उपनिषद् ३१८

माधव विलास ३८६ ३८८, ३६१, ३६८,

३६६ ५६०, ६२३,

माधवी कङ्कण ४५७ ५४० ५४१

माधवी करुण विलास ४८० ४८२

मानक हिंदी कोश १० ५३ ७७

८० २२८ ५५६

मानिकी पारिभाषित कोश ७ ३५

८६ ८८, ३८१

मानवीनी भवाई ४७६ ५२७ ५२८

मालती और माधव की कथा ३६६

मालविनाग्निमित्र २५५ २५८

मिथम एण्ण मिम्बल्म इन इण्डियन आण्ण

एण्ण मिविलिजशन १७८

मिथमधु तिनोण्ण ६३, ६४

मिपट्टि शलाना पुम्प ३५४

मिसज डलान १६७

मुक्तात्मा ४७१

मुक्तामाला ४५३, ४६३ ४६७  
 मुक्तिबाघ ४३५  
 मुस्ताकति विनान ५५३  
 मुण्डक उपनिषद् ३१८  
 मुद्रा मञ्जूषा ४८०  
 मुदों का टीला ३०७, ५८३  
 मृगनयनी १६३, २५०, २५६, २८२-  
 २८४, २६४, २६८, ४३२  
 मघदूत २३, २४ १००, १०१, २५६  
 २५८, ५८०  
 मेजावऊ ४५७  
 मन्वायण-उपनिषद् ३१८  
 मला आंचल ११६, १६३ १६८, ३१०,  
 ४३७, ४४०, ५४३  
 मोगा पण्डेद मन ५२३, ५२४  
 मोचनगड ४६४, ४६७, ४६८  
 मोनास्टरी १४२

घ

यजुर्वेद-संहिता ३१८  
 यदु महारान ४८३  
 यमुना पयटण ४६३-४६५  
 ययाति ४७१  
 योग प्रदीप १६६

र

रत्न रात्रि ४८३  
 रघुवंश ३, १८ २१ ५१, ३५२, ३५३,  
 १०८  
 रङ्गभूमि १०३ १२२ ३६२ ४१४,  
 ४१६ ४२१, ४२६, ५३६, ५६४  
 रणचण्डी ४५७  
 रत्नप्रभा ४६५  
 रस गंगाधर ६, २०४, २०५, २११,  
 २१२

रम मीमांसा ६६ १०१, २६३, २६४,  
 ५५२, ५५३ ५६० ५६२

रस शास्त्र २०४  
 रसातल-यात्रा ४०२  
 रहस्य कथा उपन्यास ३६६, ४०१ ६१५,  
 ६२० ६२१  
 रागजात जलियो ४७६  
 रागिणी ४७०  
 राजकुमारी चन्द्रमुखी ६०५  
 राजतरंगिणी ३५५  
 राजपूत जीवन मन्त्र्या ४७७ ५८३  
 राजयागो ४८३  
 राजपि ८५७ ५३१, ५३७  
 राजशखर चरितम ४५३  
 राधा ३६८  
 राधाकांत ४७८  
 रानी वतकी की कहाना [दृष्टि लिए अन्य  
 भान चरित ]  
 रामचरित मानस ५२ ५६  
 राम रहीम ५७२  
 रामलाल ४२०, ४४८  
 रामायण [वाल्मीकि] १४ १८ १००  
 ३२६, ३५२ ५०३, ५५३ ५५४

रासलम ४६३  
 रिपानिक २३६  
 रूठी रानी ४१७—४१६, ४२६  
 रूपनगर की राजकन्या ४६८  
 रूपमती ४७६  
 रूपादर्शी ४८४  
 रोमन पित्रचस २४१  
 ल  
 लगन १२६ ४३१



लच्छमा ४६१ ४६२ ५६७ ५६८  
 ललिता-सहस्र नाम १७६  
 लाइटस आन योग १६६  
 लाट नो दण्डनायक ४७८  
 ला मारे आ डायेन्ले १४६  
 ला मिजरेब्ले १२१  
 ला मेथोडे एन लेक्सिकोलाजी २८३  
 लावण्यमयी ३६७  
 लीलावती ४८०  
 लोक साहित्य नु समालोचन ३२५  
 लोकायतन ३५, ४०, ४४ १० ५२  
 ६४ ६५, १०२  
 लाचन २०१ २०३, २१०  
 व  
 वनात्ति जीवित २०३  
 वज्राघात ४६८  
 वनराज चावडा ४७४  
 वरदान ४१७ ४२०, ५३८  
 वरुण के वेटे १६३  
 वलमणा ४७६  
 वसुदेव हिण्डी ३६१  
 वाग्दत्ता ४५६  
 वामाशिक्षक (गौरीदत्त शर्मा) ३६६,  
 ४००, ४०१  
 वामा शिक्षक [म० ईश्वरीप्रसाद तथा  
 मु० कल्याणराय] ३६६  
 वासवदत्ता ६३ १०४, १४६, ३२७  
 ३३३, ३३५ ३४१, ४८०, ५२०  
 ५२४ ५४६, ५४७  
 विश्रम चरित ६२७  
 विश्रमादित्य ४७८  
 विजयिनी ३६८  
 विधवा विपत्ति ४०८  
 विनय पिटक ३२०

विराटा की पद्मिनी ३२२, ४३१, ४३०,  
 ५७२  
 विलासकुमारी सगर ३६७  
 विवासिनी ४८७  
 विविधाय सग्रह ८७  
 विष्णु पुराण ५५४  
 विस्मृत यात्री ११८, ५०७  
 वीर उडिया ४६२  
 वीरमती ३६६  
 वीरवाला ४०८  
 वीरल ध पारितोषिकम ३६८  
 वन्स्टस डिक्शनरी २३३  
 वशाली की नगर चधू १३४ १३५ ३०४  
 ४४४ ४४८ ५०६, ५०८ ५७०  
 व्यक्ति विवक २०३  
 श  
 शक्ति कानन ४५७  
 शनि-सतान ४८४  
 शब्द कल्पद्रुम ८ ६, ४६६  
 शशाङ्क १०१ ४५८, ५८३  
 शाङ्कर भाग्य [ब्रह्म-सूत्र पर] १७४  
 शा तला ३२२, ४८४ ४८६ ५७२  
 ५७३, ५८५  
 शास्त्रीय समीक्षा के सिद्धांत ७१  
 शिवराज विजय ३५५ ३६३ ३६७,  
 ३६६ ५६३ ५६४  
 शिवाजी चरित्र ४६६  
 शिशुपाल-वध २५ स २६ तक, ३३  
 २४६, ५०६  
 शुई हु चुआन [भील तराई उपयास]  
 १५१ १७७, १७१ ३४८  
 शेखर एक जीवनी ११६, ३०३  
 शेष आफ थिग्स टु कम ५१४  
 शेष अशेष २७७, ३१२

भव-तन्त्र २३१  
 भोमा ४७६  
 श्यामा स्वप्न ६४, ४०८, ४४३, ५६५  
 श्रीवान्तेर भ्रमण-वाहिनी ४५६  
 श्रीनिवाम प्रयावनी ६२१, ६२२  
 शृंगार प्रवान २०३  
 शृंगरी की लक्ष्मी ८६६  
 श्वंताश्वतर उपनिषद् ३१८  
 सस्मृत दग्निग द्विग्नरी १०, ५५६  
 सस्मृत मान्दित्य का दत्तिहास ३५५, ३५६  
 सती ममला ३६८  
 सपरा जगिग ८७५  
 सध्या राग ४८४, ५७३, ५८५  
 सयासी ५३८  
 सप्तपत्नी ५७२  
 समराइच्च-वहा [समरादित्य-वया] ८२,  
 ३६१  
 समरागणा ४७६  
 समीपा शास्त्र भारतीय और पाश्चात्य  
 १०४, १०५  
 सरल वांगना अभिधान ८८  
 सरला ३६७  
 सरस्वती कण्ठाभरण २०३  
 सरस्वती चन्द्र ८७१ ५८२  
 सरिता अन मागर ४७६  
 सवनाश ४०८  
 साय्य तत्त्व-बीमुनी १६५  
 साय्य शास्त्र १६४, १६५  
 साइनस मानर १२२  
 सागर लहरें और मनुष्य ११६, १६३,  
 ४३७ ४३६, ५४३ ५७२  
 सामध्य और सीमा ३१५, ४५१, ५०५  
 सामवत ३६४  
 सामवेद-सहिता ३१८

सागु बहुनी सडाई ४१३ ४७३ ४७४  
 साहब, बीरो, गुलाम १६६, ४६१,  
 ४६२ ५६६ १७० ५८२  
 साहित्य का मम ६६, ६७  
 साहित्य दपण ६, ७४, ७६ २०४,  
 २६२ ४६६  
 साहित्य रूप १०६, १०७, ११०  
 साहित्य शास्त्र का पारिभाषिा शब्द-वाग  
 २३० २३१  
 साहित्य-साहचर ६०  
 साहित्य सिद्धांत ८४६ ४४७ ८५०  
 साहित्यालाचन ६४ ६६, ११५, १२७,  
 १७०  
 मिहामन-यत्तीसी ३६६  
 सीमा-समस्या ३६८  
 सुल-सु ना सायी ४७६  
 सुल-सागर ३८२  
 सुदसणा चरित्र ८४  
 सुधमर उपाख्यान ४५३  
 मुनीता ४७१  
 मुन्तर-सरोजिनी ४१०, ४४३ ६०३  
 मुशीला ३६८  
 मुशीला विधवा ४१७  
 सूर्यास्त ४६८  
 सूर्योदय ४६८  
 सवा-सन्त ४१४, ४१५ ४१७, ४१८,  
 ४२०, ४२१, ४२३, ४२४ ५३८  
 ५३६  
 साजे वतन ४१८  
 सोती जाग ४२५  
 सोना १६६  
 सारठ<sup>१</sup> तारा वहना पाणी १६४, ४७६,  
 ४७७, ५८२  
 सोरठ ना सितारा ४७६

मोरठ नो मुमद्दी वीर ४७६  
 सोरठाणी ४७६  
 सोलमल इकवरमी [शोलमल की  
 राजकुमारी] ३२२  
 सौ अजान, एव मुजान ४०१ ६००  
 सौदामिनी [मस्त्रुत भाषा में लिखित]  
 ३६८  
 सौदामिनी [हिंदी] ४०८  
 सौदय तत्व २०५ २०६ २५४ २६२  
 सौदय-लहरी १७४ १७६ २०५  
 सौ न्योपागव ११८ ४२८  
 स्टाल इन द प्रञ्च नविल १४८ १६६  
 २६२, २४३  
 स्पशमणि ४५६  
 स्वतंत्र रमा और परतन लक्ष्मी ४१७  
 स्वप्न द्रष्टा ४७६  
 स्वप्न या सत्य ४८८  
 स्वराज्याचा राज्य नारभार ४६६  
 स्वराज्याचा विनाश ४६६  
 स्वराज्याचा श्रीगणेश ४६६  
 स्वराज्याची घटना ४६६  
 स्वराज्याची स्थापना ४६६  
 स्वराज्यावरील सन्नट ४६६  
 स्वामी ४७२

ह

हंसुली बाकेर उपन्यास ४५६  
 हंस गत ४८४  
 हद्दपार ४७१  
 हम्मीर हठ ४११  
 हरिवंश चरित्र ३६१  
 हृष चरित ६३, ७६, ३३५ ३३८,  
 ३४०, ३४१ ५२६ ५२८, ५२६,  
 ५३१, ५६२, ५६३ ५८१, ६२७

हृष चरित एक सांस्कृतिक अध्ययन  
 ३३७ ३६०, ५२७ ५२६ ५३१,  
 ५६३  
 हनायुध कोश ६, ३५५  
 हा अन ! ४८८  
 हिंदी उपन्यास एन सर्वेक्षण ३७४  
 ६१६  
 हिन्दी उपन्यास एतिहासिक अध्ययन १०५,  
 १०६ ४२६ ४५७ ६१३ ६२५  
 हिन्दी उपन्यास कला ११२, ११३ ११४  
 हिन्दी उपन्यास साहित्य ६१५, ६१८  
 हिन्दी उपन्यासों में लक्ष्यत्व ७२, ६१०  
 हिंदी कथा-साहित्य ४०६ ४१० ४५२  
 हिंदी कथा-साहित्य और उसके विकास  
 पर पाठकों की रचि का प्रभाव ३७७,  
 ३८७  
 हिंदी काव्य मीमांसा ३ ४ ४८७ ५०१  
 हिंदी की पाठ्य पुस्तक [गुटका] ३७६  
 हिंदी गद्य के निर्माता प० बालकृष्ण मट्ट  
 ६१५ ६२०  
 हिंदी पुस्तक साहित्य ६१४ ६१६  
 हिंदी भाषा और साहित्य का विकास  
 ४०६, ४१२, ४२७  
 हिंदी साहित्य का इतिहास ६३ ३६४  
 ४०६ ४५२ ६१२, ६१३ ६१७,  
 ६१८ ६१६, ६२१ ६२४ ६२८  
 हिंदी साहित्य का वर्तमान इतिहास  
 [भाग १] १६१, १६२, २२६,  
 ४५२, ५०२ ५०३ ५०५ ५१०  
 हिंदी साहित्य का वनानिक इतिहास  
 ६१० ६११ ६१६  
 हिंदी साहित्य की भूमिका ८३ ३१८  
 ३२० ३२३ ३५८ ३७१, ३७२

हिन्दी साहित्य कोश [भाग १] २, ६८,  
 ८०-८२, २२६, २३०, ३२४,  
 ३८०, ३८१  
 हिन्दू गृहस्थ ४१७  
 हिस्टरी ऑफ उड़ीसा ४८८  
 हिस्टरी ऑफ एजुकेशन इन इण्डिया  
 ३६३, ३६४

हिस्टरी ऑफ बंगाली लिटरेचर ४५६  
 हिस्तोरी द ला लैंग्वे फ्रेञ्चाए १४८, २४२,  
 हीरू ३६६  
 हृत्पद-दपण २०३  
 हृदय-हारिणी वा आदम रमणी ६०२  
 हमु ४७८

## पत्र-पत्रिकाएँ

- 'आय [बंगला] १६०  
 आलोचना [हिं दी] १२६, १३२ १३३  
 १३४ ६२६  
 इण्डियन कल्चर [अंग्रेजी] ३५५  
 इण्डियन लिटरचर [अंग्रेजी] ३७७  
 इन्दु प्रकाश' [मराठी] ४६६  
 'ईस्ट एण्ड वेस्ट' [अंग्रेजी] ४७३  
 'उत्कल साहित्य [उडिया] ४८६  
 उदय [संस्कृत] ३६७  
 उद्यान [संस्कृत] ३६८  
 'उपयास दपण [हिं दी] ६०६  
 उपयास वाटिका' [हिं दी] ६०६  
 कलकत्ता रिव्यू' [अंग्रेजी] ४५५  
 कल्पना' [हिं दी] २५६  
 'कवि वचन सुधा [हिं दी] ४०१  
 'काशी नागरी प्रचारिणी सभा पत्रिका  
 [हिं दी] ४८०, ४६०, ६१३, ६१७  
 'केसरी [मराठी] ४६८  
 'चन्द्रिका [मराठी] ४६५  
 'चित्र गोष्ठी' [संस्कृत] ३६८  
 'जमाना [उर्दू] ४१६  
 'जनल आफ रायल एशियाटिक सोसाइटी  
 [अंग्रेजी] ७१  
 'जन-साहित्य सप्ताहक [गुजराती] ३५६  
 'द विक्रम [अंग्रेजी] ६१५, ६२२  
 नये पत्र [हिं दी] १२८  
 'यू राइटिंग [अंग्रेजी] १४३  
 'भारत' [कन्नड] ४८३  
 भारतजीवन' [हिं दी] ४१०  
 भारतमित्र [हिं दी] ६१६  
 भारतीय साहित्य [हिं दी] ४८१,  
 ४६२  
 भारत-दु' [हिं दी] ४०७  
 'मञ्जूषा' [संस्कृत] ३६८  
 मरहठा [अंग्रेजी] ४६८  
 महाराजा संस्कृत कालिज पत्रिका  
 [संस्कृत] ३६८  
 'मासिक पत्रिका' [बंगला] ४५५  
 मुकुट [उडिया] ४८८  
 'लाकमिन [हिं दी] ३६१  
 संस्कृत चन्द्रिका [संस्कृत] ३६७  
 संस्कृत रत्नाकर [संस्कृत] ३६६  
 'संस्कृत साहित्य परिषद पत्रिका [संस्कृत]  
 ३६८  
 सदयोध चन्द्रिका' [कन्नड] ४८२  
 सबुजे पत्र [बंगला] ४५७  
 सरस्वती' [हिं दी] ४२८  
 'सहृदय' [संस्कृत] ३६८  
 'साकेत [संस्कृत] ३६६  
 साप्ताहिक हिं दुस्तान [हिं दी] १३५

'सार-मुघा निधि' [हिन्दी] ८७, ६१६

'हिन्दी प्रदीप' [हिन्दी] ३६२, ६१५

'सुप्रभात' [हिन्दी] १३६

हिन्दी वङ्गवासी' [हिन्दी] ४१०

'सौराष्ट्र' [गुजराती] ४७७

'हिन्दोस्तान' [हिन्दी] ४१०

'स्पेक्टेटर' [अंग्रेजी] २१६

## त्रुटि-सम्मार्जन

मुद्रित जश	पृष्ठ एव पक्ति	सशोधित रूप
१८०५ ई०	८८/१	१८७५ ई०
ई० पू० २०० ३००	१८०/६ तथा १८३/२	ईसवी प्रथम शती
१८५७ ई०	२१६/फुटनोट २/२	१७५७ ई०
१६१७ ई०	३१४/फुटनोट २/२	१६६१ ई०
उदय सुदरी कथा (१४०० ई०)	३५४/२३	उदय सुदरीकथा(११०० ई०)
ईसवी १७०० के आसपास	३५४/२३	इसवी १४०० के आसपास
१८४० ई०	३५५/२३	१८८३ ई०
१८१० ई०	३८६/२ ३८७/१८ ३८८/७ ३६६/१४ }	१८१७ ई०
संवत् १८६७	३८६/६	संवत् १८७४
१८७३	३८६/फुटनोट/२	१८४३
१८७६	३८६/फुटनोट/४	१८४६
४८ वष	३८८/२०	४१ वष
४६ वष	३६८/२१	४२ वष
१६२६ ई०	४३३/२	१६१६ ई०
१६६८ ई०	४३६/३२	१६६६ ई०
१६६६ ई०	४३७/२१	१६६४ ई०
१८२२ ई०	४५६/२६	१८८२ ई०
सवुज पत्र (सन् १६१५ ई०)	४५८/२८	'सवुज पत्र' मे (१६१५ ई०म) प्रकाशित
'मयूख' [१६१० ई०]	४५७/१६	मयूख' (१६१७ ई०)
'असीम (१६१४ ई०) (१६६७ ई०)	४५८/१६ ४६२/४	असीम [१६२४ ई०] (१६६१ ई०)
१६७१ ई०	४६४/३१	१८७१ ई०
उपयास-नाटिका	६०६/१७	उपयास-नाटिका'

